Saraswati
1935-I.

सरस्वती

सचित्र

मासिक पत्रिका

भाग ३६, खण्ड १

जनवरी-जून

१९३५

सम्पादक

देवीदत्त शुक्ल

श्रीनाथसिंह

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

वार्षिक मूल्य साढ़े छः रुपये

Contributed by:
Prabhat Kumar

सरस्वती

सचित्र

मासिक पत्रिका

भाग ३६, खण्ड १

जनवरी-जून

१९३५

सम्पादक

देवीदत्त शुक्ल

श्रीनाथसिंह

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

वार्षिक मूल्य साढ़े छः रुपये

लेख-सूची

चित्र-सूची

रङ्गीन चित्र

सादे-चित्र

तकली

[चित्रकार—श्रीयुत मनोहरलाल

सचित्र मासिक पत्रिका

सम्पादक
देवीदत्त शुक्ल श्रीनाथसिंह

जनवरी १९३५ | भाग ३६, खंड १ संख्या १, पूर्ण संख्या ४२१ | पौष १९९१

सौंदर्य और प्रेम
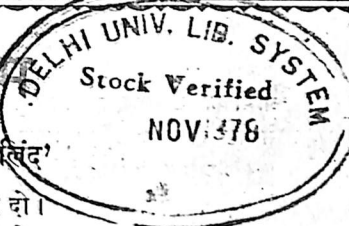
लेखक, श्रीयुत जगन्नाथप्रसाद 'मिलिंद'

प्रेयसि, इन प्यासी पलकों में मंदाकिनी प्रवाहित कर दो।
इन निःस्वन जीवन-छिद्रों को अपनी सुधा-श्वास से भर दो।
मेरी चंचल रूप-तृषा को ढँक लो स्नेहाञ्चल-छाया में।
अमर-लोक की करो प्रतिष्ठा मेरी इस नश्वर काया में।

यह अनिंद्य सौंदर्य ! आह, इस पर मर्त्यों का क्या अधिकार ?
यह चिर-यौवन ! इसे चाहिए अथक प्यार, अमरों का प्यार !

आओ, जग के कुश-काँटों को पारिजात के पुष्प बनावें।
जन्म-मरण की धूप-छाँह में चिर-शिशु-से खेलें, सुख पावें।
तुम अंतर की रूप-सुधा से मधुर करो त्रिभुवन का जीवन।
मैं प्राणों की प्रेम-ज्योति से जगमग कर दूँ जग का आँगन।

'अशिव, असुंदर' की समाधि पर 'चिर, सुंदर, शिव' का उत्थान !
एक साधना मानवता की !—शत-शत स्वर्गों का निर्माण !

लेखक, पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी

ग्रामों का उद्धार इस समय राष्ट्र का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। वे क़र्ज़, बेकारी, बीमारी और अज्ञानता से नष्ट होते जा रहे हैं। भारत को जीवित रखने के लिए उसके लाखों गाँवों का उद्धार आवश्यक है। महात्मा गांधी की विशेष प्रेरणा से इसके लिए ग्राम-व्यवसाय-संघ की स्थापना हो चुकी है। हिन्दी के यशस्वी पत्रकार पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी ने इसी दृष्टि-कोण से ग्रामों के भावी संगठन और उद्धार के सम्बन्ध में अपने व्यक्तिगत अनुभव से इस लेख में कुछ विचार-सामग्री उपस्थित की है।

पचास वर्ष पहले हमारे गाँवों की यह दशा नहीं थी, जो आज है। गाँवों के पुरुष ही नहीं, बल्कि स्त्रियाँ भी बराबर किसी न किसी उद्योग-धंधे में लगी रहती थीं। देश की उत्पादक-शक्ति में स्त्रियों का काफ़ी हाथ था। जो स्त्रियाँ खेत पर जाकर काम नहीं कर सकती थीं और घर में रह कर ही काम करती थीं, उनमें अधिकांश चर्खे पर सूत निकालती थीं, घर में चक्की पीस लेती थीं, धान कूट लेती थीं; और चर्खी पर कपास ओटकर रुई और बिनौले अलग अलग करती थीं। रुई कातने के काम में आती थी; और बिनौला गौ-भैंस को खिलाया जाता था, जिससे घी बहुत होता था। यह नहीं कि ग़रीब घरों की स्त्रियों के ही ये काम हों; बल्कि जो कुटुम्ब सब प्रकार से सम्पन्न रहते थे उनके घरों की स्त्रियाँ भी इस प्रकार के उद्योग-धंधे घर में बैठे बैठे किया करती थीं। इससे उनकी गृहस्थी की आमदनी बढ़ती थी और वे प्रसन्न रहती थीं। पुरुष लोग खेतों और खलियानों में काम करते, अथवा बाहर बाज़ारों में कोई व्यवसाय करते, अथवा

अपनी ज़मींदारी के काम करते थे। घर में स्त्री और पुरुषों का ऐसा कोई भाव नहीं था कि पुरुष लोग रुपया कमाकर लावें; और स्त्रियाँ घर में रहकर केवल रोटी-पानी के सम्बन्ध से ही घर-गृहस्थी का प्रबन्ध करती रहें; और गृहस्थी की उत्पादक-शक्ति में कोई भी भाग न लें। यह भाव पहले-पहल शहरों में फैला; और अब तो देहातों में भी फैल गया है।

इसका यह कारण नहीं है कि हमारे देश की स्त्रियाँ मेहनत से जी चुराने लगी हैं; बल्कि कल-कारख़ानों का अधिकाधिक प्रचार हो जाने से स्त्रियों के उक्त सब काम उनके हाथ से स्वाभाविक ही निकल गये हैं। अब छोटे से छोटा काम भी मशीन पर होने लगा है। प्रतिदिन की रोटी का आटा अब देहातों में भी कल से ही पिसवाया जाता है। बड़े बड़े गाँवों में, एक केन्द्रस्थान बनाकर, आटा-चक्कियाँ खोल दी गई हैं। धान भी मशीन से कूटा जाता है, दाल मशीन से दली जाती है, तिलहन से तेल भी मशीनों से ही निकाला जाता है। ईख मशीन से पेरी जाती है; और गुड़ से शक्कर भी मशीन से ही बनाई जाती है। देहातों में लाख और नील का बहुत काम होता था। लाख से रंग और चूड़ियाँ बनती थीं। पर यह काम भी अब देहात में नहीं होता। देखा जाय तो ज़मीन जोतने-बोने को छोड़कर ग्रामीण स्त्री-पुरुषों के लिए अब और कोई धंधा ही नहीं रह गया है। इधर शहरों से हेल-मेल होने के कारण उन लोगों की आवश्यकतायें बढ़ गई हैं। एक तरफ़ बेकारी और दूसरी तरफ़ आवश्यकताओं की वृद्धि! इससे हमारे ग्राम जो किसी समय सम्पन्न और सब प्रकार से सुखी थे, अब दुख-दर्द और दीनता के केन्द्र बन गये हैं। सोने और चाँदी के ज़ेवर तो बहुत-से देहातों में पहले ही ख़त्म हो गये थे; और जो कुछ बाक़ी थे, पिछले दो-तीन सालों में सब निकल गये। किसानों और ज़मींदारों तक को लगान-मालगुज़ारी चुकाने में पिछले दो-तीन सालों में प्रायः अपने अधिकांश ज़ेवर बेच देने पड़े हैं। स्त्रियों की नाक की नथें और कानों की बालियाँ तक बिक गई हैं।

[ऊपर ग्रामीण बहन-भाई। नीचे पहाड़ी गाँवों की दस्तकारी का एक नमूना। बाँस और बेत के टोकरे।]

इस पर भी, बहुत ही कम किसान या ज़मींदार ऐसे मिलेंगे जिनके ऊपर क़र्ज़ न लदा हुआ हो।

गाँवों की जब यह हालत है तब शहरों का यह अमन-चैन और कितने दिन चल सकता है! यही सोचकर महात्मा गान्धी और देश के अन्य कई विचारशील नेताओं ने राजनीति के अन्य सब कार्यों को छोड़कर गाँवों की ओर चलने का निश्चय किया है। स्वयं हमारी अँगरेज़ सरकार, लिबरल नेता और सच्चे राष्ट्रीय नेता, सभी ग्रामों के उद्धार के लिए इस समय चिन्तित दिखाई

[ऊपर, पश्चिमोत्तर-भारत में धान कूटने का एक दृश्य। नीचे मध्य-भारत में खेत सींचने की एक पुराने ढँग की कल।]

देते हैं; और सचमुच है भी यह सबकी चिन्ता का कारण। क्योंकि जब गाँवों में कुछ भी नहीं रहेगा, ज़मीन के जोतने-बोने वाले कृषक-कुल ही जब नष्ट हो जायँगे, तब हमारी सरकार लगान-मालगुज़ारी आदि किससे वसूल करेगी। जो हालत आज ज़मींदारों की है, कल सरकार की भी वही हालत होगी।

खैर, सरकार को किसानों के विषय में चिन्ता हो या न हो; परन्तु देश के प्रत्येक शुभचिन्तक को अब देहातों की चिन्ता अवश्य है। हमारे लिबरल भाई भी इस विषय में राष्ट्रीय नेताओं के सुर में सुर मिला रहे हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि "मेंवँ का ठौर कौन पकड़ेगा ?" यह तो सब एक-स्वर से चिल्ला रहे हैं कि 'गाँव में चलो'; पर शहरों की सड़कों पर मोटरों पर चलनेवाले और आराम-चैन की ज़िन्दगी बसर करनेवाले और बहुत हुआ तो कौंसिलों में देशसेवा की स्पीचें झाड़नेवाले कितने लिबरल अथवा अन्य आरामतलब नेता गाँवों में जाने को तैयार हैं? यह प्रश्न अभी अलग है। महाकवि अकबर के शब्दों में इन लीडरों को देश के लिए चिन्ता तो ज़रूर है, पर आराम के साथ! गाँवों में काम करने के लिए तो सब प्रकार का आराम छोड़ना पड़ेगा। अब अख़बारों में लेख लिखने, सभाओं में अथवा कौंसिलों में व्याख्यान झाड़ने का समय चला गया। यदि गाँवों की दशा सुधारनी है तो ग्रामीणों के साथ ग्रामीण जीवन को ही स्वीकार करना पड़ेगा।

सम्पूर्ण भारत में लगभग सात लाख साठ हज़ार ग्राम बतलाये जाते हैं; और कुल आबादी की नब्बे फ़ी सदी संख्या ग्रामों में ही रहती है। इसलिए भारतीय ग्रामों के संगठन और उद्धार का कार्य करने के लिए बहुत बड़ी सामूहिक शक्ति की आवश्यकता है। हमारी तो यह सम्मति है कि प्रत्येक ज़िले की ज़िला और तहसील कांग्रेस-कमिटियों को अपने अपने ज़िले का काम अपने हाथ में उठा लेना चाहिए। कांग्रेस का पिछले वर्षों में जो स्थानिक संगठन हुआ है, उसका सच्चा उपयोग कर लेने के लिए यही उपयुक्त समय है। जो कार्यकर्त्ता ग्रामों में रहते हैं, अथवा जो शहरों को छोड़कर ग्रामों में काम करने के लिए समय और शक्ति लगा सकते हैं, उनका संगठन प्रत्येक ज़िले और तहसील में अलग अलग होना चाहिए; और सम्पूर्ण ज़िले का एक केन्द्रीय ग्राम-कार्य-कर्त्ता-संगठन अलग होना चाहिए। बिना पैसे के ग्रामों में कार्य नहीं हो सकेगा, क्योंकि ग्रामों की अधिकांश जनता ग़रीब है। वह कार्यकर्त्ता को मोटा अन्न और मोटा वस्त्र ज़रूर दे सकती है, परन्तु ग्रामों के उद्धार में जो द्रव्य खर्च होगा वह तो पूंजीपति शहरवालों को ही देना होगा। क्योंकि ग्रामों में कोई भी कार्य चलाने के लिए

पहले धन की आवश्यकता होगी। ग्रामोद्धार का कार्य करनेवाले देशभक्तों को पहले-पहल निम्नलिखित कुछ बातों पर ध्यान देना होगा।

(१) प्रत्येक गाँव में जो बेकार ग़रीब और अनाथ विधवायें रहती हैं उनको पहले काम में लगाना होगा। ये अनाथ विधवायें कूटने-पीसने और कपास ओटने तथा सूत कातने का काम बड़े मज़े से कर सकती हैं। इनको कूटने-पीसने का काम दिलाने के लिए तो सिर्फ़ समझाने-बुझाने से काम चल सकता है; परन्तु इनसे ओटने और कातने का काम लेने के लिए कुछ द्रव्य प्रत्येक गाँव में खर्च करना पड़ेगा। अर्थात् इन अनाथ विधवाओं को सूत कातने का चर्खा और कपास ओटने की चर्खी अवश्य पहुँचानी पड़ेगी; और यदि ऐसा प्रबन्ध हो जाय कि इनको कपास और रुई देकर सूत कतवा लें और कताई का पैसा दे दें तो ये खुशी से काम करने लगेंगी।

(२) ग्रामों में कोरी और जुलाहे बहुत रहते हैं, परन्तु अधिकांश ग्रामों में अब ये अपना बुनाई का पेशा छोड़ चुके हैं, और मज़दूरी या खेती करने लगे हैं, अथवा शहरों में जाकर कुली का काम करने लगे हैं। जो लोग बुनाई का काम देहातों में करते भी हैं वे मिलों का सूत बुनते हैं। चर्खे का सूत बुनने का उनका अभ्यास छूट चुका है; और मिल का सूत बुनने में उनको जो सुविधा रहती है वह चर्खे का सूत बुनने में नहीं मालूम होती। इसलिए बहुत समझाने-बुझाने पर भी वे चर्खे का सूत नहीं बुनते हैं। प्रत्येक ग्राम में जो सूत कतकर तैयार हो वह उसी ग्राम के कोरियों और जुलाहों के द्वारा बुना जाना चाहिए; और यह उचित होगा कि उस ग्राम के लोग अपने ही घर या ग्राम के कते और बुने हुए सूत का कपड़ा इस्तेमाल करें।

(३) ग्रामों में रंगों की तैयारी का काम भी अच्छा हो सकता है। कई स्थानों पर हड़, आँवला, हल्दी, कत्था और लाख तथा नील, टेसू, हरसिंगार और कुसुम इत्यादि वनस्पतियों से रंग तैयार किये जा सकते हैं। प्रत्येक ज़िले में ये वनस्पतियाँ किस क़दर कहाँ होती हैं; और इनके सिवा और किन साधनों से रंग तैयार हो सकते हैं, इसकी जाँच और प्रयोग कार्यकर्त्ताओं को करने पड़ेंगे।

[गहना बनाना, चटाई बुनना, ईख से रस निकाल कर गुड़ बनाना ये कुछ व्यवसाय हैं जो अभी तक गाँवों में जीवित हैं।]

(४) पहले देहातों में सब स्त्रियाँ काँच की काली चूड़ियाँ और लाख की चूड़ियाँ पहनती थीं; और ये चूड़ियाँ ग्राम में ही तैयार होती थीं। अब भी शायद कहीं कहीं तैयार होती हैं; पर अब अधिकांश में विलायती काँच की चूड़ियों का व्यवहार ग्रामीण स्त्रियाँ भी करने लगी हैं; और जो मनिहार लोग चूड़ियाँ देहात में बनाते थे उनका धंधा बैठ गया है। इस व्यवसाय को चेताने के लिए मनिहारों को फिर उत्साहित करना पड़ेगा।

[एक ग्रामीण नृत्य-विनोद जो भीषण ग़रीबी और मनहूसियत के होते हुए भी अभी ग्रामों में जीवित है।]

(५) ग्रामों में भ्रमण करते हुए मुझको यह भी अनुभव हुआ है कि कई जगह के लोहार और बढ़ई लोहे का टेकुवा और चर्खा बनाना तक भूल गये हैं। नवीन पीढ़ी के नवयुवक लुहार-बढ़ई इस काम को नहीं जानते। बहुत पुराने बुड्ढे जो रह गये हैं वे निराश हैं। इस काम के लिए तथा उनके अन्य व्यवसायों के लिए उनको संगठित करना होगा।

(६) संयुक्त प्रान्त के कई ज़िलों में भ्रमण करके मैंने देखा है कि वहाँ कपास की खेती बिलकुल नहीं होती। बुड्ढे लोग बतलाते हैं कि पहले उन ज़िलों में कपास की खेती होती थी, पर इधर पचीसों वर्ष से कपास का उनको दर्शन भी नहीं होता। रुई ज़रूर वे दूर दूर के शहरों से अपने लिहाफ़ आदि भरने को लाते हैं, पर कपास के बीज (बिनौले) वहाँ के नवयुवक किसानों ने कभी देखा भी नहीं। बिनौला उन ज़िलों में ओषधि के लिए भी नहीं मिलता। एक जगह मैंने किसानों से पूछा कि तुम कपास की फ़सल क्यों नहीं बोते। किसानों

ने बतलाया कि यहाँ कोई नहीं बोता। अगर हम बोवें तो हमारे कपास के खेत को लोग जानवरों से चरा लें। एक किसान ने कहा कि एक साल थोड़ी सी कपास बोई थी, पर अहीर इत्यादि चरवाहों ने सब चरा ली। बात यह है कि जब सभी किसान बोने लगें तब ऐसी शिकायत न रहे। इनको समझाने और उत्साहित करने की ज़रूरत है।

(७) इन प्रान्तों के कई ज़िलों में ईख बहुत कसरत से होती है। इन ज़िलों में घूमते हुए मैंने कई साल पहले गाँव गाँव में देशी तरीक़े से (यानी सेवार से) चीनी बनाने के कारखाने देखे थे; और अब देखते हैं तो उन ज़िलों में कई शुगरमिलें खुल गई हैं; और वे देशी कारखाने प्रायः बिलकुल बन्द हो गये हैं। अब इन शकरमिलों में ज़िले भर का गन्ना, और गन्ने की फ़सल के बाद गुड़ भी, तमाम शकर बनाने के काम में खर्च हो जाता है! यह मिल की शकर गुड़ और देशी शकर का मुक़ाबला किसी हालत में भी नहीं कर सकती। ग़रीब

ग्रामीण जनता को जो गुड़ खाने को मिलता था, वह भी अब इन मिलों के कारण प्रायः नहीं मिल सकता है। चीनी की जगह गुड़ का इस्तेमाल शहरवालों को भी विशेष करना चाहिए। गुड़ चीनी की अपेक्षा मीठा भी अधिक होता है; और स्वास्थ्यवर्द्धक भी होता है।

(८) देहात में किसानों को खेतों में डालने के लिए अब पहले की तरह खाद भी नहीं मिलती है। जानवरों का गोबर पहले केवल खाद के ही काम में आता था, अब लकड़ी के अभाव में वह कंडे बनाकर रसोई इत्यादि में जलाने के काम में लाया जाता है। जंगल एक तो यों ही कम हो गये हैं; और जो हैं भी उन पर सरकार का और ज़मींदारों का कड़ा पहरा है। इस कारण ग्रामीण जनता को लकड़ी जलाने को नहीं मिलती है। उसकी जगह वे उपली और कंडों से ही ज़्यादातर काम लेते हैं। अतएव खाद की कमी रहने से उनके खेतों की शक्ति मारी गई है। उपज पर इसका बहुत ही बुरा परिणाम हुआ है। कई जगह जहाँ नहर से सिँचाई होती है, खेतों में रेत बढ़ रहा है; और खाद उनको मिलती नहीं। इससे भूमि की उर्वराशक्ति क्षीण हो गई है। अतएव किसानों को नवीन प्रकार की खाद बनाने और उसका इस्तेमाल करने के तरीक़े बतलाने की बड़ी आवश्यकता है।

(९) भारतवर्ष के ग्रामों में पहले सरसों, राई, सेहुँआ, रेंड़ी, तिल, कुसुम, इत्यादि का तेल दीपकों में घर घर जलाया जाता था। परन्तु अब तो गाँवों की ग़रीबी यहाँ तक बढ़ गई है कि कई घरों में शायद ही चिराग़ जलने की नौबत आती हो; और जिन घरों में चिराग़ जलता है, प्रायः मिट्टी के तेल की डिब्बी ही जलती है। सो भी बहुत थोड़ी देर; और सिर्फ़ घर के अन्दर। बाहर दरवाज़ों पर दीपक अब नहीं दिखाई देते। ग्रामीणों को अब ऐसा उत्साहित करना चाहिए जिससे वे अपने खेतों का सब तेलहन बाज़ार में न बेच दिया करें। मिट्टी का तेल जलाना बन्द करके रेंड़ी, सरसों, कुसुम इत्यादि का तेल अपने ग्रामों में ही तैयार करवा कर जलाया करें। कई ज़िलों में भ्रमण करते हुए तो मैंने नीम के गल्ले का तेल दीपकों में जलता हुआ देखा। वहाँ फ़सल के वक़्त में घर घर में नीम के गल्ले इकट्ठे करके सुखा लेते हैं; और फिर उन्हीं का तेल निकाल कर दीपकों में जलाते हैं। यह परिपाटी हमको बहुत अच्छी जान पड़ी। नीम के गल्ले का तेल रोग-कीटाणु-नाशक होता है। मिट्टी के तेल से यह भी बहुत अच्छा है। जहाँ नीम के गल्ले बहुतायत से मिल सकते हों, वहाँ इनका तेल अवश्य निकालना चाहिए। यह तेल खुजली इत्यादि चर्मरोगों की दवा में भी काम आता है।

(१०) निरक्षर ग्रामीण स्त्री-पुरुषों को साक्षर बनाने के लिए कार्यकर्त्ताओं को ईसाई मिशनरियों की तरह काम करना पड़ेगा। घंटे दो घंटे उनके बीच में बैठकर उनको हिन्दी-अक्षर सिखा देना ही पर्याप्त होगा, इससे वे चिट्ठी-पत्री लिखने लगेंगे; और फ़ुर्सत के समय अख़बार पढ़कर दुनिया के समाचार भी जान लिया करेंगे। कृषि-विज्ञान की नवीन नवीन उपयोगी बातों का भी वे ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। देहाती स्त्रियों को भी अक्षर-ज्ञान कराना होगा। इसके लिए कोई स्कूल या पाठशाला खोलकर बैठने की आवश्यकता नहीं; बल्कि उनमें हिल-मिल जाने से ही यह कार्य अच्छा हो सकेगा।

(११) प्रत्येक गाँव में जो सज्जन और प्रभावशाली दो-चार व्यक्ति हों, उनको संगठित करके ग्राम-पंचायत की स्थापना करनी होगी। सभी तरह के मामले आपस में ही समझौता द्वारा निपटा देने का प्रयत्न करना चाहिए। उदार-चरित के सच्चे प्रभावशाली व्यक्ति ही यह कार्य कर सकेंगे। अपने अपने ग्राम की रक्षा करने के लिए स्वयंसेवक, चौकीदार और कानिस्टेबिल भी संगठित करने होंगे। चोरी, ख़ून, डाका के समान गहरे मामले न होने पावें, इसके लिए शूर-वीर और सदाचारी जवानों को तत्पर रहना पड़ेगा।

(१२) विवाह, यज्ञोपवीत, मृतकसंस्कार के उत्सव इत्यादि पर ग्रामीणों में विशेष व्यय करने की पुरानी परि पाटी चली आती है; और ऐसे अवसरों पर ऋण लेक भी लोग खर्च किया करते हैं। इस विषय में उनके सचेत करने की बड़ी आवश्यकता है। सादी और क खर्च की रहन-सहन का अभ्यास उनको करान

होगा; और झूठी मान-मर्यादा के भाव उनसे दूर करने होंगे।

(१३) किसानों पर जो ऋण-भार लदा है उसको दूर करने का प्रयत्न करना होगा। गाँव में जो महाजन लोग रहते हैं उनसे मिल-जुल कर इसके लिए संगठन करना होगा। किसानों के उद्धार के लिए इन महाजनों का सहयोग आवश्यक है। लगान और आबपाशी के कर में सरकार जब तक स्वयं काफ़ी कमी न करेगी, तब तक महाजनों का सहयोग भी उतना प्रभाव न डाल सकेगा। हाँ, किसानों में स्वावलम्बन के धन्धों का पुनरुद्धार होना चाहिए; और उनके खर्चों में कमी होनी चाहिए। यह हमारे हाथ की बात है।

(१४) ग्रामों में डाक्टरों का तो नाम भी नहीं है और दुर्भाग्यवश पुराने वैद्य भी नहीं रह गये हैं। इसलिए ग़रीब ग्रामवासी बुरी तरह से बीमारी के शिकार बनते हैं। ग्रामों में काम करनेवाले लोगों को वैद्यक का साधारण ज्ञान होना बहुत आवश्यक है। जड़ी-बूटी और काष्ठ ओषधियों से कठिन से कठिन रोग दूर हो जाते हैं। इसलिए जड़ी-बूटियों के संग्रह करने का व्यवसाय भी ग्रामीण उद्योग-धंधों में एक बहुत ही उपयोगी कार्य है।

(१५) लुहार, बढ़ई, बँसफोर, धुनिया, मनिहार, कोली-जुलाहा, रँगरेज़, चर्मकार, स्वर्णकार, मीमार, तेली, जर्राह, वैद्य इत्यादि धंधे वंश-परम्परा से करनेवाले लोग अभी तक गाँवों में बसे हुए हैं; देहातों में इनका पुनरुद्धार करने की ज़रूरत है; परन्तु केवल मौखिक उपदेश या व्याख्यान-बाज़ी से ही काम न चलेगा। राष्ट्र के पुनरुद्धार के कार्य में त्याग और तपस्या, प्रेम और सहृदयता के मूर्तिमान पुरुष ही कृत-कार्य हो सकेंगे।

[कुछ ग्रामीण व्यवसाय जो अभी पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हुए हैं। सिलाई, चर्खा, मिट्टी की मूर्तियाँ।]

गीत

लेखिका, श्रीमती महादेवी वर्मा, एम० ए०

मेरे हँसते अधर नहीं जग
की आँसू-लड़ियाँ देखो!
मेरे गीले पलक छुओ मत,
मुर्झाई कलियाँ देखो!

हँस देता नव इन्द्रधनुष की,
स्मित में घन मिटता मिटता;
रँग जाता है विश्व राग से,
निष्फल दिन ढलता ढलता॥
कर देता संसार सुरभिमय,
एक सुमन झरता झरता;
भर जाता आलोक तिमिर में,
लघु दीपक बुझता बुझता॥

मिटनेवालों की हे निष्ठुर!
बेसुध रँगरलियाँ देखो!
मेरे गीले पलक छुओ मत,
मुर्झाई कलियाँ देखो!

गल जाता लघु बीज असंख्यक,
नश्वर बीज बनाने को;
तजता पल्लव वृन्त पतन के,
हेतु नये विकसाने को॥
मिटता लघु पल प्रिय देखो,
कितने युग कल्प मिटाने को;
भूल गया जग भूल विपुल,
भूलोंमय सृष्टि रचाने को॥

मेरे बन्धन आज नहीं प्रिय,
संसृति की कड़ियाँ देखो!
मेरे गीले पलक छुओ मत,
मुर्झाई कलियाँ देखो!

श्वासें कहतीं 'आता प्रिय'
निश्वास बताते वह जाता;
आँखों ने समझा अनजाना,
उर कहता चिर यह नाता॥
सुधि से सुन वह स्वप्न सजीला,
क्षण क्षण नूतन बन आता;
दुख उलझन में राह न पाता,
सुख दृगजल में बह जाता॥

मुझमें हो तो आज तुम्हीं 'मैं',
बन दुख की घड़ियाँ देखो!
मेरे गीले पलक छुओ मत,
बिखरी पंखुरियाँ देखो!

लेखक, कर्मवीर पण्डित सुन्दरलाल

ष्टि से लेकर छोटी से छोटी वस्तु तक प्रत्येक पदार्थ की रचना और उसकी स्थिरता के लिए विभिन्नता और एकता दोनों आवश्यक गुण हैं, अथवा अस्तित्व के ये दोनों दो पहलू हैं। महामाया प्रकृति से लेकर सौर जगत्, पृथिवी, राष्ट्र, प्राणी, जड़ अथवा चेतन किसी भी छोटे से छोटे पदार्थ तक किसी के भी अस्तित्व का प्रतिपादन केवल उस समय तक ही किया जा सकता है जिस समय तक उसके विविध भागों, अंशों अथवा अङ्गों में एक दूसरे की अपेक्षा से अथवा उसमें शेष अस्तित्व की अपेक्षा से विभिन्नता मौजूद हो। दूसरी ओर इनमें से किसी का भी अस्तित्व केवल उस समय तक क़ायम रह सकता है जब तक उसके समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्ग किसी न किसी व्यापक एकता के सूत्र में बँधे हैं। यही कारण है कि सृष्टि से पूर्व और सृष्टि की उत्पत्ति के लिए जो सबसे पहली भावना अव्यक्त में पैदा हुई वह 'एकोऽहम् बहु स्याम्' थी। किन्तु फिर भी यह समस्त 'जगत्याम् जगत्' एक 'ईश' से 'आवास्य' है और 'सर्वम् खलु इदम् ब्रह्म' अनन्त काल के लिए एक है।

संसार की अन्य विभिन्नताओं के समान मनुष्यों के धार्मिक विचारों और विश्वासों में विभिन्नता भी स्वाभाविक और अनिवार्य है। जिस प्रकार सब मनुष्यों का रूप-रंग अलग अलग होता है, उसी प्रकार उनके स्वभाव अलग अलग होते हैं, और ठीक उसी प्रकार उनके विचार और उनकी धारणायें भी अलग अलग होती हैं। यदि ध्यान से देखा जाय तो जिस प्रकार दो मनुष्यों का रूप-रंग सर्वथा एक समान नहीं होता, उसी प्रकार दो मनुष्यों के विचार भी सर्वथा एक जैसे नहीं होते। इन भेदों को मिटा देने का प्रयत्न करना बहुत दर्जे तक व्यर्थ है और यदि उस प्रयत्न में कुछ अंश भी ज़बर्दस्ती का है तो कम से कम उस दर्जे तक मानव-उन्नति और मानव-विकास के लिए हानिकर है।

ऐसी हालत में मनुष्यों के बीच प्रेम और ऐक्य क़ायम रखने और किसी देश अथवा समाज को सँभाले और संगठित रखने के दो ही मुख्य उपाय हैं।

एक यह कि देश अथवा समाज के विचारवान् नेता इस समस्त विभिन्नता के अन्तर्व्यापी एकता का साक्षात् करने का प्रयत्न करें और यथाशक्ति अपने समस्त व्यवहारों और विचारों को उसी एकता के साँचे में ढालें। जीवन एक है। प्राणी-मात्र का अन्तिम हित केवल परस्पर प्रेम और सहकारिता में है। ऊपर से दिखाई

देनेवाले विरोध और संघर्ष अज्ञानता से उत्पन्न होते हैं और अस्थायी बुराइयाँ हैं जिनमें से जितने शीघ्र हम बाहर निकल सकें उतना ही अच्छा है। सब धर्मों के मूलतत्त्व एक हैं। मनुष्य-मात्र आपस में भाई भाई हैं। हम सब एक महान् लक्ष्य की ओर जानेवाले एक जीवन-पथ के सहयात्री हैं। ये सब इस प्रकार के मौलिक सत्य हैं, जिनका जन-सामान्य में जितना अधिक प्रचार हो उतना ही थोड़ा, और जिन्हें प्रत्येक मनुष्य के हृदय और मस्तिष्क में थोड़ा बहुत स्थान अवश्य प्राप्त हो सकता है। सब मनुष्यों का इन तत्त्वों को पूरी तरह समझ सकना अथवा अपने आचार-व्यवहार को पूरी तरह इनके अनुसार ढाल सकना शायद दुःसाध्य है, किन्तु यह अवश्य सम्भव है कि समाज के शासन करनेवाले, क़ानून बनानेवाले, अध्यापक, उपदेशक और नेता केवल वही हों जो इन तत्त्वों के अनुसार अपने आचार-व्यवहार को ढाल चुके हों। बिना इसके समाज का किसी प्रकार की सुव्यवस्था के सूत्र में बँधा रह सकना सर्वथा असम्भव है।

किन्तु इस पर भी, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, जन-सामान्य में तरह तरह के मतभेद सदा बने ही रहेंगे। यदि कोई एक मनुष्य ऐसा है जो क़ुरान के—

"वलिल्लाहिल् मश्रिको वल् मग़्रिब फ़ऐनमा
नोवल्लू फ़सम्मा वजहुल्लाह इन्नल्लाह वासेउन अलीम।"

(अर्थात् पूर्व और पश्चिम दोनों अल्लाह के हैं, पस जिधर तुम मुँह करो उधर ही अल्लाह है, निस्सन्देह अल्लाह सर्वव्यापी और सर्वज्ञ है।) इस वाक्य के अनुसार जिधर चाहे मुँह करके अपने इष्टदेव की उपासना कर सकता है तो सैकड़ों ही ऐसे होंगे जो उपासना के समय पूर्व की ओर मुँह करना आवश्यक समझते हैं और सैकड़ों ही ऐसे जिनकी उपासना पश्चिम की ओर मुँह किये बिना नहीं हो सकती। ऐसे ही यदि कोई एक मनुष्य केवल अपनी आन्तरिक निर्बलताओं की बलि चढ़ाकर सन्तोष मान सकता है तो सैकड़ों ही ऐसे रहेंगे जिनकी ठाकुर जी को मिष्टान्न का भोग लगाये बिना अथवा अपने उपास्य के नाम पर किसी पशु की बलि चढ़ाये बिना तृप्ति नहीं हो सकती।

> हिन्दू मुसलमानों में जब तक मेल-मिलाप न होगा तब तक भारत की राष्ट्रीय भावना पुष्ट नहीं हो सकती। इस बात को मुग़ल सम्राट् अकबर के समय में भी शेख़ अबुलफ़ज़ल जैसे विद्वानों ने समझा था और इसका प्रयत्न किया था। इस दिशा में हमारे सबसे अधिक प्रयत्नशील नेता कर्मवीर पंडित सुन्दरलाल जी ने इस लेख में शेख़ अबुलफ़ज़ल के ऐसे ही दार्शनिक विचारों और प्रयत्नों का वर्णन किया है।

इसके लिए एक दूसरा उपाय भी उतना ही आवश्यक है जितना कि पूर्वोक्त उपाय। वह यह है कि एक ओर तो समाज के वास्तविक नेता पूर्व की ओर मुँह करनेवालों अथवा पश्चिम की ओर मुँह करनेवालों दोनों के साथ एक समान प्रेम, सहानुभूति और आदर का व्यवहार करें और दूसरी ओर पूर्व की ओर मुँह करनेवाले पश्चिम की ओर मुँह करनेवालों से अथवा पश्चिम की ओर मुँह करनेवाले पूर्व की ओर मुँह करनेवालों से न किसी प्रकार की घृणा करें, न उनके मार्ग में बाधक हों और न इस प्रकार की भिन्नताओं के कारण अपने मनुष्योचित व्यवहारों में उनसे किसी प्रकार का अन्तर पड़ने दें।

संक्षेप में शासकों और नेताओं में संकलनात्मक, समन्वयात्मक, दार्शनिक दृष्टि तथा जन-सामान्य में एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता, उदारता और प्रेम ये दो ही मनुष्य-समाज को एकता और विभिन्नता के इस भयंकर द्वन्द्व में से अपने लक्ष्य तक सुरक्षित निकाल ले जाने के वास्तविक उपाय हैं।

इन दोनों उपायों को काम में लाने के कई प्रयोग संसार में हो चुके हैं, जिनमें अपने अपने समय में यथायोग्य सफलता भी प्राप्त हुई। इनमें सबसे हाल का महान् प्रयोग भारत में सम्राट् अकबर के समय का था, जिसका चमत्कार दीर्घ काल तक इतिहास के विद्यार्थियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता रहेगा।

सम्राट् अकबर के इस प्रयोग में स्वयं अकबर को

छोड़ कर सबसे ज़बर्दस्त भाग उसके प्रधान मंत्री शेख़ अबुलफ़ज़ल का था। इसलिए अबुलफ़ज़ल के चरित्र और उसके विचारों पर एक दृष्टि डालना हमारे लिए अवश्य शिक्षाप्रद होगा, और सम्भव है, हमें अपनी वर्तमान समस्याओं के हल करने में उससे थोड़ी-बहुत मदद भी मिले।

अबुलफ़ज़ल एक साधारण किन्तु विद्याप्रेमी घराने में पैदा हुआ था। उसके पूर्वज अधिकतर सूफ़ी विचारों के माननेवाले थे, जिन्हें अपने इन विचारों के कारण ही अपने संकीर्ण किन्तु अधिक शक्तिशाली सहधर्मियों के हाथों अनेक तरह की यातनायें भोगनी पड़ी थीं। अबुलफ़ज़ल के पिता का नाम शेख़ मुबारक था। उसके बड़े भाई अबुलफ़ैज़ का नाम जिसे आम तौर पर फ़ैज़ी कहते हैं, भगवद्गीता के फ़ारसी पद्यानुवाद के लिए इतिहास में सदा के लिए प्रसिद्ध रहेगा। शेख़ मुबारक के विचारों के विषय में अबुलफ़ज़ल के प्रसिद्ध फ़ारसी-ग्रन्थ 'आईने अकबरी' का अँगरेज़ी अनुवादकर्त्ता ब्लाकमैन लिखता है—

"मुबारक के हृदय की विशालता ने ही अबुलफ़ैज़ (जो फ़ैज़ी के नाम से अधिक प्रसिद्ध है) और अबुलफ़ज़ल में विश्वबन्धुत्व के उन विचारों और एक दर्जे तक उन इस्लाम-विरुद्ध विचारों की बुनियाद डाली जिनके कारण मुसलमान लेखकों ने इन दोनों भाइयों को नास्तिक अथवा हिन्दू अथवा सूर्य के उपासक कहा है और अकबर के इस्लाम से फिर जाने का उन्हें ही मुख्य कारण बताया है।"

अबुलफ़ज़ल को बचपन से विद्याभ्यास का बड़ा शौक़ था। उसकी बुद्धि और स्मरण-शक्ति भी असाधारण थी। इसके अतिरिक्त शुरू उम्र में ही उसे एकान्तवास, साधु महात्माओं की संगत और सत्य की खोज का शौक़ हुआ। अपने उन दिनों का ज़िक्र करते हुए वह लिखता है—

"मैं निर्जन स्थानों में, सत्य की सच्ची खोज करनेवालों के साथ रातें गुज़ार देता था, और उन लोगों के सत्संग का आनन्द उठाता था जिनके हाथ ख़ाली थे किन्तु जो दिल और दिमाग़ के धनी थे। मेरी आँखें खुल गईं और मैंने उन लोगों के स्वार्थ और उनके लोभ को देख लिया जो (आम तौर पर) 'आलिम' कहलाते हैं... मेरे मन को चैन न था। मेरा हृदय मँगोलिया के फ़क़ीरों अथवा लैबेनौन पर्वत के ऊपर रहनेवाले तपस्वियों की ओर खिंचा जाता था। मैं तिब्बत के लामाओं से अथवा पुर्तगाल के पादरियों से भेंट करने के लिए उत्कण्ठित था। मैं पारसियों के पुरोहितों और ज़िन्देवस्ता के विद्वानों का सहवास लाभ करने का इच्छुक था। स्वयं अपने देश के आलिमों से मेरा दिल ऊब चुका था।"

सम्राट् अकबर स्वयं इस तरह के आदमियों की खोज में रहता था। उसने ढूँढ़कर शेख़ मुबारक और उसके दोनों लड़कों को अपने दरबार में बुला लिया। सम्राट् और उसकी समस्त शासन-नीति पर इन तीनों का बाद को जो गहरा प्रभाव पड़ा वह इतिहास से स्पष्ट है। स्वयं अबुलफ़ज़ल के दिल के अन्दर दरबार की ज़िन्दगी और सूफ़ी तबीयत इन दोनों के बीच जिस प्रकार का संघर्ष एक अर्से तक जारी रहा और जिस प्रकार अकबर के सत्संग और उसके विचारों की सहायता से उसने इन दोनों में समन्वय और सामंजस्य उत्पन्न किया, इस सबका मनोरञ्जक वृत्तान्त अबुल फ़ज़ल के ग्रन्थ 'आईने अकबरी' में दिया हुआ है।

अबुलफ़ज़ल के धार्मिक विचारों के विषय में 'मआसिर-उल्ल-उमरा' का मुसलमान रचयिता लिखता है—

"बहुत-से लोग कहते हैं कि अबुलफ़ज़ल क़ाफ़िर था। कुछ लोग कहते हैं, वह हिन्दू था। कुछ कहते हैं, वह अग्नि का उपासक था। कुछ कहते हैं, आज़ाद ख़याल था। और कुछ लोग इससे भी बढ़कर उसे नास्तिक बतलाते हैं। किन्तु और कुछ लोग इन सबकी अपेक्षा ज़्यादा इन्साफ़ का फ़ैसला देते हैं और कहते हैं कि अबुलफ़ज़ल 'सर्व खलु इदम् ब्रह्म' (वहदतुलवजूद) का माननेवाला था, और अन्य सूफ़ियों के समान रसूल-अल्लाह की शरीअत का अपने को पाबन्द न मानता था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अबुलफ़ज़ल बड़े ऊँचे चरित्र का आदमी था। वह मनुष्य-मात्र के साथ सुलह से रहना चाहता था। उसके मुँह से कभी कोई बात बेजा नहीं निकली।"

निस्सन्देह अपने समय के विचारों और साम्राज्य की नीति पर अबुलफ़ज़ल का बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ा।

बोखारा के बादशाह अब्दुल्लाह ने जब सुना कि भारत के सम्राट् अकबर ने इस्लाम-धर्म को छोड़ दिया है तब उसने इस बात का पता लगाने के लिए अकबर को एक पत्र लिखा। सम्राट् की ओर से अबुलफ़ज़ल ने उस पत्र का विस्तृत उत्तर दिया, जिसे पढ़कर बादशाह अब्दुल्लाह ने कहा—'मुझे अकबर के तीरों से इतना भय नहीं है जितना अबुलफ़ज़ल के क़लम से।'

अकबर के 'इबादतख़ाने' में हर बृहस्पतिवार की रात को समस्त धर्मों के विद्वानों और आचार्यों का दरबार लगा करता था, जिसमें सब धर्मों की चर्चा होती थी। उन जलसों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग अबुलफ़ज़ल का होता था। अधिकतर अबुलफ़ज़ल के ही प्रभाव से—अबुल फ़ज़ल ही के शब्दों में—

"दरबार के अन्दर सब धर्मों के सन्त और विद्वान् आ-आकर जमा होने लगे, सब धर्मों और सम्प्रदायों के अच्छे अच्छे असूल स्वीकार किये गये, और उनकी त्रुटियों के कारण उनके उत्तम गुणों को नज़र अन्दाज़ नहीं किया जाता था; सबके एक दूसरे के साथ मिलकर सुलह और रवादारी से रहने का मार्ग क़ायम हुआ।"

१६ वीं शताब्दी का वह नया संकलनात्मक पन्थ—अकबर का 'दीन इलाही' जिसके अनुसार अकबर और उसके अनुयायियों की पूजाविधि मुस्लिम, हिन्दू और पारसी पूजाविधियों का एक विचित्र सम्मिश्रण हो गई थी अधिकतर अबुलफ़ज़ल, उसके भाई फ़ैज़ी और उसके पिता शेख़ मुबारक के ही प्रयत्नों का फल था।

अकबर ने कश्मीर में एक हिन्दू-मन्दिर बनवाया था, जिसके ऊपर अबुलफ़ज़ल के लिखे हुए कतबे* से अबुलफ़ज़ल के विचारों का ख़ासा पता चलता है। उस कतबे का अनुवाद इस प्रकार है—

"हे परमात्मा! जिस मन्दिर में मैं देखता हूँ, तेरे ही खोजनेवाले मिलते हैं और जिस भाषा में मैं सुनता हूँ, लोग तेरा ही ज़िक्र करते हैं।

"कुफ़्र और इस्लाम दोनों तेरे ही मार्ग पर दौड़ रहे हैं, दोनों यही कहते हैं—'तू एक है, तेरा कोई शरीक नहीं।'

[शेख़ अबुलफ़ज़ल]

"अगर मस्जिद है तो लोग तेरी याद में पाक नारा लगाते हैं, और अगर मन्दिर है तो तेरे ही प्रेम में लोग शंख बजाते हैं।

"मैं कभी मन्दिर में जाकर बैठ जाता हूँ और कभी मस्जिद में। अर्थात् घर घर में तुझे ढूँढ़ता फिरता हूँ।

"तेरे जो ख़ास बन्दे हैं उन्हें कुफ़्र और इस्लाम दोनों से कोई क़ाम नहीं, क्योंकि तेरा जो असली इस्लाम है उसके पर्दे के अन्दर इन दोनों में से किसी की पहुँच नहीं।

कुफ़्र क़ाफ़िर के लिए है और दीन दीनदार के लिए, किन्तु अत्तार (सूफ़ी) के दिल के लिए गुलाब का एक कण बस है।

"यह मन्दिर हिन्दुस्तान में रहनेवाले एक परमात्मा के समस्त उपासकों और विशेषकर कश्मीर-प्रदेश के समस्त ईश्वर-भक्तों के दिलों को एक-दूसरे से मिलाने के उद्देश से बनाया गया है।

"जो कोई, सत्य से अपनी आँख फिरा कर इस मन्दिर को ख़राब करेगा उसे चाहिए कि पहले अपने उपासना के

*शिलालेख

गृह को जाकर गिरा दे; क्योंकि यदि मनुष्य की दृष्टि भीतर दिल की ओर है तो वह सबके साथ मिलकर रह सकता है, और यदि उसकी दृष्टि बाहरी पानी और मिट्टी की ओर है तो उसे सबको गिरा देना चाहिए।"

अबुलफ़ज़ल सच्चा अद्वैतवादी था और सर्वधर्म-समन्वय अथवा सब धर्मों की मौलिक एकता में विश्वास रखता था। एक स्थान पर वह लिखता है—

"...दीन क्या और दुनिया क्या! केवल एक व्यापक और मनोहर सौन्दर्य है जो इन समस्त सहस्त्रों पर्दों के अन्दर से अपनी चमक दिखा रहा है। इधर से उधर तक एक लम्बा चौड़ा क़ालीन बिछा हुआ है, जिस पर कारीगर ने रंगबिरंगी सुन्दर नक़्क़ाशियाँ कर रक्खी हैं।

"वास्तव में प्रेमी और उसका प्रियतम दोनों एक हैं; अनजान लोग ब्राह्मण और उसकी पूज्य प्रतिमा को एक दूसरे से पृथक् समझते हैं।

"इस मन्दिर में केवल एक चिराग़ है और जहाँ कहीं मैं देखता हूँ उसी की रोशनी में लोग अलग अलग सभायें लगाये बैठे हैं।

"कोई अपने नफ़्स (वासनाओं) को वश में करने को ही ईश्वर की पूजा समझता है, कोई जागरूकता के साथ अपनी क़ौम अथवा मानव-समाज की सेवा और रक्षा करने को ही अपने लिए उपासना मानता है। इसी प्रकार मनुष्यों के अनेकानेक समुदाय अपने एक विचार पर विश्वास के साथ जमे हुए हैं और सब अपने अपने ख्वाबो ख़याल में सुखी हैं। किन्तु जिस समय मानव-परिमितताओं को पार कर मनुष्य के ज्ञानचक्षु खुल जाते हैं, उस समय उसके समस्त कर्मकाण्डों और अन्ध-विश्वासों का ताना-बाना टूट जाता है और पर्दे के हट जाने से उसे चारों ओर एकरंगी ही एकरंगी दिखाई देने लगती है।"

इस्लाम-धर्म के अनुसार एक ईश्वर के साथ किसी दूसरे को शरीक करना अर्थात् अनेकेश्वर पूजा सबसे बड़ा गुनाह है। अधिकांश शिक्षित मुसलमान अपने को मुवहहिद अर्थात् एकेश्वरवादी और हिन्दुओं को मुशरिक अर्थात् अनेकेश्वरवादी समझते हैं। पढ़े-लिखे मुसलमानों के दिलों में हिन्दुओं से ग़ैरियत का यह भी एक कारण है। अबुलफ़ज़ल ने हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य का अच्छी तरह अध्ययन करने के बाद इस विषय पर अपने विचारों को इस प्रकार प्रकट किया है—

"मुझ पर यह बात रोशन हो गई है कि आम तौर पर लोगों का यह कहना कि हिन्दू लोग उस अद्वितीय परमेश्वर के साथ औरों को भी शरीक करते हैं, सत्य के अनुकूल नहीं है। यद्यपि किसी किसी बात की व्याख्या और उसकी युक्तियों के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है, तथापि हिन्दुओं की ईश्वर-भक्ति और उनका एकेश्वर-वाद दोनों मेरे हृदय में निर्विवाद जम गये। तब मेरे लिए यह आवश्यक हो गया कि मैं इन लोगों की अध्यात्मविद्या, उनके दर्शन-शास्त्र, आत्मसंयम की उत्तरोत्तर अवस्थायें और उनके अनेकानेक रस्मो-रवाज पर खुले प्रकाश डालूँ, ताकि उनके विरुद्ध द्वेष के भाव कम हों और सांसारिक लोगों की तलवारें ख़ून बहाने से रुकें, भीतरी और बाहरी झगड़े शान्त हो जायँ, और विरोध और शत्रुता के कण्टकों की जगह परस्पर मित्रता का हरा-भरा उद्यान दिखाई देने लगे; ताकि सच्चे शास्त्रार्थ और धर्मचर्चा के लिए जलसे हो सकें और ज्ञान-विज्ञान की खोज के लिए सभायें क़ायम की जा सकें।"

इसी के बाद अबुलफ़ज़ल लिखता है—

"जब दुरुस्त इरादों और नेक नीयतवाले मनुष्य हर ज़माने में होते हैं और यह विशाल संसार अनुभवी और बुद्धिमान् लोगों से कभी ख़ाली नहीं होता तब फिर ग़लत-फ़हमियाँ क्यों होती हैं और परस्पर झगड़े कहाँ से पैदा हो जाते हैं?"

अबुलफ़ज़ल इसके सात कारण बताता है जो संक्षेप में ये हैं—

(१) भाषाओं की भिन्नता और एक दूसरे के इरादों से नावाकफ़ियत।

(२) विविध देशों और सम्प्रदायों के विद्वानों का एक-दूसरे से दूर दूर रहना और आपस में न मिलना।

(३) संसार के लोगों का शारीरिक भोग-विलासों में लिप्त रहना।
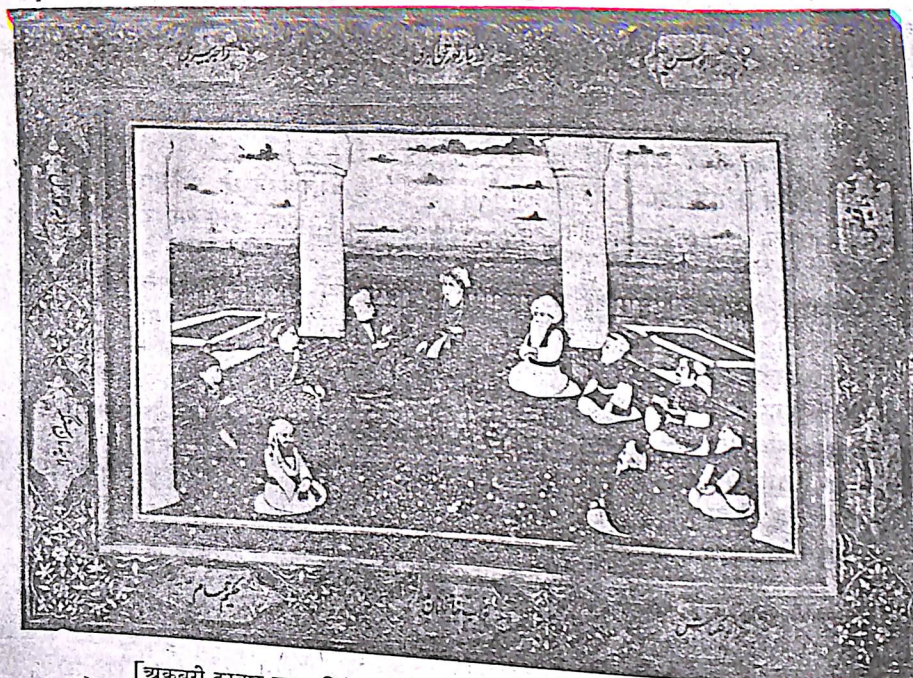
[अकबरी दरबार का अति प्राचीन चित्र। नव रत्नों के नाम चारों ओर फ़ारसी में लिखे हैं]

(४) परिश्रमशीलता की कमी।

(५) अंध अनुकरण की आँधी का बहना और बुद्धि-मानी के चिराग़ का उसमें टिमटिमाना। दीर्घकाल से चूँ व चरा (शंका-निवारण) का दरवाज़ा बन्द कर दिया गया है और जिज्ञासा और पूछ-ताछ को कुफ़्र का अग्रगामी समझा जाता है। बाप या उस्ताद या सम्बन्धी या मित्र या पड़ोसी से जो कुछ प्राप्त हो गया उसे ही लोग ईश्वर की इच्छा की धरोहर मानते हैं और उसके विपरीत विचार रखनेवाले को बेदीन और क़ाफ़िर कह कर पुकारा जाता है।

(६)......हर मनुष्य केवल अपने ही धर्म को सच्चा मानकर अल्लाह के दूसरे बन्दों का दिल दुखाने पर तुला हुआ है और ख़ून बहाना और दूसरे की आबरू लेना दीनदारी के आभूषण समझे जाते हैं। यदि हृदय के नेत्र कुछ भी खुले होते तो प्रत्येक मनुष्य इस तूफ़ाने बेतमीज़ी से अपने को पृथक् रखता और दूसरे के कामों में दख़ल देने के स्थान पर स्वयं अपने ऊपर आँसू बहाता। इस तरह के झगड़ों में जीवन के असली उद्देश भुला दिये जाते हैं और सच्ची युक्तियाँ छिप जाती हैं। यदि विपक्षी का मार्ग स्वयं ठीक है तो उस मार्ग पर चलनेवालों के रक्त से अपने हाथ क्यों रँगे जायँ, और यदि ऐसा नहीं है तो भी अज्ञानता के रोग में ग्रसित मनुष्य दया का पात्र है, द्वेष और रक्तपात का नहीं।

(७) स्याह दिल और बद असल लोगों का प्रभाव, जो स्वयं अपने गुण बखान कर अपने विचारों और कृत्यों को भला दिखाने का प्रयत्न करते हैं।......"

इसके पश्चात् अबुलफ़ज़ल दूसरों के दोष बयान करने के इस कार्य से अपने को डाटते हुए लिखता है—

"ऐ अबुलफ़ज़ल बस कर, बस कर, ... सबकी ओर मित्रभाव रखने के उस रिश्ते (डोरी) को हाथ से मत छोड़ जिसे शुभ संकल्प के साथ एक बार तूने ग्रहण किया है।"

'आईने अकबरी' की जिस चौथी जिल्द के शुरू से हमने ऊपर के वाक्य उद्धृत किये हैं उसमें अबुलफ़ज़ल ने हिन्दू-धर्म, हिन्दू-साहित्य, हिन्दू-षट्दर्शन, जैन और बौद्ध-मतों के मूल सिद्धान्तों को बड़ी योग्यता, प्रेम और विस्तार के साथ वर्णन किया है और अन्त में 'यह आशा' प्रकट की है कि "हृदयों को घायल कर देनेवाले आपसी वैमनस्य के कण्टकों से निकल कर हम सब सुख के साथ एकता के उद्यान में पहुँच सकें।" और लिखा है कि— "सुलह कुल (अर्थात् सबके साथ प्रेम से रहने) की हरी-भरी चरागाहों में ही मुझे शान्ति मिल सकी।"

किसी भी जीव को दुःख देने वा उसकी हिंसा करने का अबुलफ़ज़ल विरोधी था। 'आईने अकबरी' में लिखा है—

"जब तरह तरह के भोजन मनुष्य के लिए मौजूद हैं, केवल अज्ञानता और क्रूरता के कारण मनुष्य पशुओं को कष्ट देने पर तुले हुए हैं और उनको मार कर खा जाने से अपने हाथों को नहीं रोकते। मालूम होता है अहिंसा के सौन्दर्य को किसी के भी नेत्र नहीं देख पाते। सबने अपने को पशुओं के लिए क़ब्रिस्तान बना रक्खा है।"

अबुलफ़ज़ल प्राण-दण्ड की प्रथा के विरुद्ध था। वह लिखता है—

"सत्य की खोज करनेवाले महात्माओं ने मनुष्य के शरीर को ईश्वर का बनाया हुआ मन्दिर माना है, इसी लिए वे किसी को उसके नाश की इजाज़त नहीं देते।"

निस्सन्देह जो लोग सर्वधर्म-समन्वय में विश्वास रखते हों, जो भारत के साम्प्रदायिक प्रश्न को हल करने के लिए उत्सुक हों और उसे हल करने के अब तक के प्रयत्नों का अध्ययन करना चाहते हों, जो सम्राट् अकबर की नीति और उस समय के भारतीय जीवन का सच्चा और सर्वाङ्गीण चित्र निष्पक्ष होकर देखना चाहते हों, जो भाषा, सम्प्रदाय, जाति इत्यादि के भेदों से ऊपर उठकर विभिन्नता में एकता को साक्षात् करना चाहते हों और शुद्ध तथा उदार हृदय से वसुधैव कुटुम्बकम् के पथ पर चलना चाहते हों, उनके लिए शेख अबुलफ़ज़ल के विचार और उनकी रचनायें अवश्य मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद सिद्ध होंगी।

लेखक, श्रीयुत बालकृष्ण राव

प्रिय, मैं भी सुन सकता हूँ अब नीरवता का गान;
कर सकता हूँ अब असीम का कण कण में अनुमान।
देख रहा हूँ तारों की द्युति में तम की मुस्कान;
स्मृति की सरिता का स्वप्नों के सागर में अवसान॥

अनुभव ही था रहा आज तक आशा का आधार;
और कल्पना ही करती थी भावों का व्यापार।
प्राप्ति-परिधि से सीमित था अभिलाषा का संसार;
कर सकती थी कभी न करुणा सुख से चिर अभिसार॥

कलियों में कोमलता, सौरभ, सुन्दरता का भान;
अलि में केवल गुञ्जन की ही होती थी पहचान।
तिमिरावृत था दुःख, हर्ष था ज्योतिर्मय, छविमान;
अश्रुबिन्दु ही व्यथा, वेदना के थे अब तक परिधान॥

किन्तु आज स्वर्गिक स्पर्शों से सहसा शान्त समीर;
स्पन्दित करने लगा विकलता का सुकुमार शरीर।
दूर, वियत् के किसी प्रान्त से कोई ध्वनि गम्भीर;
"शान्ति, शान्ति" के संदेशों से करने लगी अधीर॥

अद्भुत शक्ति-ज्योति-संयुत यह जीवन का क्षण एक,
आज अमरता के पद पर करता मेरा अभिषेक॥

लेखक, श्रीयुत रामरखसिंह सहगल

स्त्रियों की स्वाधीनता के लिए इन प्रान्तों में जिन लोगों ने आन्दोलन किया है उनमें श्रीयुत रामरखसिंह सहगल प्रमुख हैं। आपके तर्क अकाट्य होते हैं क्योंकि आप व्यक्तिगत अनुभव और आन्तरिक प्रेरणा से लिखते हैं। इस लेख में आपने अपनी जोरदार स्वाभाविक शैली में स्त्रियों के लिए तलाक़ के अधिकार का समर्थन किया है। 'चाँद' के संस्थापक के रूप में आप यथेष्ट यश का अर्जन कर चुके हैं। उस पत्र का सम्पादन-कार्य्य छोड़ने के कई वर्ष बाद आपने यह पहला लेख लिखा है। आगे भी 'सरस्वती' में आप बराबर लिखेंगे।

पने जीवन का एक सुदीर्घ भाग मैंने एक तुच्छ पत्रकार की हैसियत से व्यतीत किया है और पिछले १५ वर्षों का सञ्चित अनुभव मुझे बतलाता है कि हिन्दू समाज ने स्त्री-जाति पर अब तक जो भी अन्याय और अत्याचार किये हैं उनमें स्त्रियों को तलाक़ (विवाह-विच्छेद) का अधिकार न देना, उसका सबसे अक्षम्य अपराध है।

सौभाग्य से हमारे कुछ सुधार-प्रिय व्यवस्थापकों की दृष्टि इस अभाव एवं क़ानूनी त्रुटि की ओर आकर्षित हुई है और फल-स्वरूप सुप्रसिद्ध समाज-सुधारक सर हरिसिंह गौड़ ने विवाह-विच्छेद-बिल (हिन्दू मैरेजेज़ डेज़ॉल्यूशन बिल) ऐसेम्बली के विगत अधिवेशन में उपस्थित किया था, जो जनता का रुख देखने के अभिप्राय से एक सेलेक्ट कमिटी के हवाले कर दिया गया था। इसका निर्णय होने के पूर्व ही ऐसेम्बली का निर्धारित जीवन-काल समाप्त होने के कारण वह भङ्ग कर दी गई। फलतः इस बिल का निर्णय नई ऐसेम्बली-द्वारा होगा। अतएव इसके पूर्व, कि यह बिल ऐसेम्बली में पेश हो, लोकमत को इस सम्बन्ध में शिक्षित करना प्रत्येक विचारशील व्यक्ति का कर्त्तव्य होना चाहिए।

यों तो भारतीय हिन्दू-महिलाओं पर होने वाले अत्याचारों की कहानियाँ बड़ी ही दारुण एवं मर्मस्पर्शी हैं पर इन अत्याचारों का बीभत्स स्वरूप उस समय और भं

नक प्रतीत होता है, जब हम देखते हैं कि पति- अनुचित रूप से सताये जाने, पति-देवता तथा वार के अन्य व्यक्तियों-द्वारा अपमानित किये जाने, ने स्वामी-द्वारा त्याग दिये जाने, उसके नपुंसक अथवा समर्थ होने पर भी हिन्दू-महिलायें पति-नामधारी इस पदार्थ का परित्याग नहीं कर सकतीं! हिन्दू-धर्म के नुसार विवाह-सम्बन्ध एक आजीवन न टूटनेवाला ऐसा ठोर शिकञ्जा है जिसमें जकड़ कर, आज न जाने कितनी कुल-ललनाओं की नैसर्गिक आकांक्षायें निर्दयता-पूर्वक कुचली जा रही हैं! परिस्थिति की दारुणता उस समय और भी बढ़ जाती है जब हम देखते हैं कि निर्बलों का सहायक समझा जानेवाला क़ानून उन्हें मार कर भी रोने नहीं देता! इस दक़ियानूसी हिन्दू-लॉ* की निस्सारता आप इसी से समझ लें कि पति अथवा पत्नी दोनों में से किसी एक के अन्य धर्म स्वीकार कर लेने अथवा जाति-च्युत हो जाने पर भी उनका पारस्परिक सम्बन्ध ज्यों का त्यों बना रहता है, यहाँ तक कि यदि पति-पत्नी दोनों ही एक दूसरे से स्वतंत्र होकर आकण्ठ व्यभिचार में लीन हो जायँ। यदि पत्नी प्रतिक्रिया की उग्र, किन्तु स्वाभाविक भावनाओं से उन्मत्त होकर वेश्या का गर्हित जीवन भी व्यतीत करने लगे तो भी क़ानून की दृष्टि में पति-पत्नी का वैवाहिक सम्बन्ध पूर्ववत् अक्षुण्ण बना रहेगा अर्थात् उस समय भी क़ानून की दृष्टि में वे पति-पत्नी ही बने रहेंगे!

न्याय की कितनी दयनीय विडम्बना है—मनुष्यता का कैसा निर्मम अपमान है! और किसी दृष्टिकोण से न सही; कम से कम धर्म की ही रक्षा के लिए, वैवाहिक क़ानून तथा धर्म के बीच सामञ्जस्य स्थापित होना परमावश्यक है। हिन्दू-क़ानून का जो वर्तमान स्वरूप है उसके अनुसार पति-देवता एक-साथ चाहे जितनी भी पत्नियों के 'स्वामी' बनना चाहें, अनायास ही बन सकते हैं। और इन 'पत्नी' नाम-धारिणी स्त्रियों के अतिरिक्त चाहे जितनी रखेलियों को रख लें; इनसे भी जी ऊबने पर वेश्याओं के साथ आमोद-प्रमोद करें—उनकी ये सारी कृतियाँ 'धर्म' तथा 'क़ानून'-द्वारा अनुमोदित समझी जायँगी। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो स्त्रियों के हक़ में इस्लाम-धर्म अपेक्षाकृत अधिक उदार प्रतीत होगा। मुस्लिम धर्म-ग्रन्थों के अनुसार कोई मुसलमान एक-साथ चार पत्नियों से अधिक का 'स्वामी' नहीं बन सकता। उप-पत्नियों के सम्बन्ध में हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही स्वच्छन्द हैं। बौद्धों को भी एक से अधिक पत्नी रखने का अधिकार ज़रूर है, पर ऐसा वह उसी हालत में कर सकता है जब उसकी प्रथम विवाहिता पत्नी बाँझ हो, झगड़ालू हो, अथवा मनु महाराज के शब्दों में अन्य कारणों से 'अयोग्य' हो। इस दृष्टि से विचार किया जाय तो भी हिन्दुओं का वर्तमान वैवाहिक क़ानून सबसे निकृष्ट सिद्ध होगा।

इन कुरीतियों के फल-स्वरूप अभागे हिन्दू-समाज ने अपने भीतर ऐसी स्त्रियों के एक विशाल समूह की सृष्टि कर रक्खी है जो वास्तव में न तो अविवाहिता हैं, न विवाहिता और जो विधवायें भी नहीं हैं! नीच कही जानेवाली महिलायें इस दृष्टि से उच्चकुल नाम-धारिणी महिलाओं की अपेक्षा अधिक भाग्यशालिनी समझी जानी चाहिए; क्योंकि उन्हें विवाह-विच्छेद का अधिकार प्राप्त है और यह प्रथा प्रचलित भी है। मेरा अनुभव मुझे बतलाता है कि नीच कहे जाने वाले प्राणियों का दाम्पत्य जीवन उच्चकुलोत्पन्न प्राणियों की अपेक्षा कहीं सफल सिद्ध होता है। एक हद तक पत्नी और पति-देवता, दोनों ही अपनी ज़िम्मेदारियों का अनुभव करते हैं। बड़े-बड़े प्रतिष्ठित

*357. DIVORCE. (1) Divorce is not known to the general Hindu Law. The reason is that a marriage, from the Hindu point of view, creates an indissoluble tie between the husband and the wife. Neither party, therefore, to a marriage, can divorce the other unless divorce is allowed by custom. (2) Change of religion or loss of caste does not operate as a dissolution of marriage, nor does the adultery of either party, nor even the fact that the wife has deserted her husband and become a prostitute. Principles of Hindu Law, by D. F. Mul

परिवारों की बहू-बेटियों का जीवन अपेक्षाकृत मुझे दुःखपूर्ण मिला है। स्त्रियों के कष्ट प्रायः गूँगे होते हैं, अतएव समाचार-पत्रों में उनकी कष्ट-गाथायें भले ही न छपती हों, पर वस्तुतः उनका दाम्पत्य जीवन कम से कम ७५ फ़ी सदी असफल सिद्ध होता है, इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं। इनके कारण भी बहुत ही प्रत्यक्ष एवं व्यापक हैं। कुछ उदाहरण लीजिए—

(क) बाल-विवाह-रूपी पिशाच का इस देश में बोलबाला है। बालक-बालिका 'अटूट' विवाह-सम्बन्ध में उस समय ही बाँध दिये जाते हैं जब वे सांसारिक बातों से सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं, जब वे जानते ही नहीं कि विवाह किस चिड़िया का नाम है।

(ख) स्त्री-शिक्षा का जो सर्व-विदित अभाव है उसके सम्बन्ध में कुछ न कहकर मैं केवल इस त्रुटि के एक विशेष पहलू की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। विवाह के बाद बालक को प्रायः उच्च से उच्च शिक्षा दिलाकर विलायत आदि पढ़ने के लिए भेज देते हैं और बालिका को हिन्दी की एक-दो पुस्तकें पढ़ाकर १० वर्ष की अवस्था होते ही पर्दे की चहारदीवारी में क़ैद कर देते हैं, उसकी शारीरिक तथा मानसिक उन्नति की ओर ज़रा भी ध्यान नहीं दिया जाता। परिणाम वही होता है जो होना चाहिए। पति-देवता पी० एच-डी०, डॉक्टरी, बैरिस्टरी अथवा आई० सी० एस० आदि की परीक्षा पास कर तथा स्वतन्त्र देशों में सालों विचर कर बड़ी-बड़ी लालसायें हृदय के प्रत्येक कोने में छिपाकर घर लौटते हैं और यहाँ उन्हें मिलती है गन्दे वायु-मण्डल तथा निरन्तर कुसंस्कारों की गोद में पली हुई 'पूतदेइया'। ऐसी हालत में 'प्रेम' नामक जन्तु उदय हो ही कैसे सकता है?

(ग) दहेज की कुप्रथा कोढ़ में खाज का काम करती है। मैंने कई उदाहरण वास्तव में बड़े दयनीय देखे हैं। मैंने एक से एक सुशिक्षिता तथा पूर्ण-यौवना बालिका का विवाह निरक्षर भट्टाचार्य से केवल इसलिए होते देखा है, क्योंकि लड़की के पिता निर्धन होने के कारण अच्छे वरों का मुँह-माँगा मूल्य चुकाने में असमर्थ थे।

[ब्याह को मानव जीवन की सबसे सुखद घटना कहा गया है परन्तु तलाक़ की व्यवस्था न होने के कारण कभी कभी वही सूली में परिणत हो सकता है।]

मैंने ऐसे भी अनेक उदाहरण देखे हैं जिनमें ८ वर्ष से १४ वर्ष की बालिकायें ४० से ६० वर्ष के बूढ़ों के गले में, ऊँट के गले में घण्टी की भाँति, केवल निर्धनता के कारण बाँध दी गई हैं। ऐसी परिस्थिति में जकड़ी हुई महिलायें यदि सदाचार-पूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर सकें तो उसे अपवाद ही समझना चाहिए; नहीं तो सुमार्ग के पथ से उनका विचलित हो जाना स्वाभाविक ही है—एक सीमा तक ही प्रकृति से युद्ध ठाना जा सकता है।

(घ) जात-पाँत का ढकोसला भी वैवाहिक सम्बन्धों में कम घातक सिद्ध नहीं होता। इस अभागे देश में ऐसी जातियों की कमी नहीं है जिनमें विवाह-सम्बन्ध एक सङ्कुचित दायरे के भीतर ही किये जाते हैं। यदि सौभाग्य से कोई वर अच्छा मिल गया तो इसे लड़की की अच्छी क़िस्मत का फल समझना चाहिए—माता-पिता की दृष्टि बालक के स्वास्थ्य अथवा योग्यता पर नहीं रहती—उनकी पक्षपातपूर्ण दृष्टि रहती है जाति की उच्चता पर। मैंने ऐसे प्रत्यक्ष उदाहरण देखे हैं जिनमें एक से एक करुणापूर्ण बेमेल विवाह केवल इसलिए हुए हैं कि परिवार के अभिभावकों

नैतिक बल का अभाव था अथवा उनमें रूढ़ियों के
क पर पाद-प्रहार करने का साहस नहीं था। ऐसे
ल विवाह समाज की दृष्टि में भले ही 'अटूट' समझे
यँ, पर व्यवहार की दृष्टि से वे हद दर्जे के घृणित
बन्ध हैं। कुत्तों तथा घोड़ों के जोड़े मिलाने के पूर्व तो
नकी नस्ल, क़द तथा गुणों की जाँच की जाय और
पनी प्रिय सन्तान के विवाह के समय में इन सारी बातों
ी उपेक्षा! ऐसे बेमेल विवाहों का परिणाम क्या कभी
न्तोषजनक हो सकता है?

(छ) आज-कल लिखी-पढ़ी लड़कियों में जो आजीवन अविवाहिता रहने की स्वाभाविक प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है उसका कारण इतना प्रत्यक्ष होते हुए भी समाज के कर्णधारों को दिखाई नहीं देता। असल बात यह है कि एक ओर स्त्री-शिक्षा का दिनों दिन प्रचार बढ़ रहा है और दूसरी ओर स्थिति-पालकता की उपासना की जाती है। जिन कतिपय समस्याओं का उल्लेख ऊपर किया गया है उनकी आड़ में अपनी अन्य बहनों को पिसती हुई देखकर वे इस प्रकार के विवाहों को दूर से नमस्कार करने में ही अपना कल्याण समझती हैं। वे प्रायः अपने इच्छानुकूल किसी मनचाहे नवयुवक को अपना आराध्य-देव बना तो लेती हैं, पर पारिवारिक विशृङ्खलताओं एवं कुसंस्कारों के कारण उनसे विवाह-सूत्र में नहीं बँध सकतीं। इस श्रेणी की नवयुवतियों के प्रति जितनी भी सहानुभूति प्रदर्शित की जाय, थोड़ी है।

ऊपर संक्षेप में जिन सामाजिक कुरीतियों की ओर सङ्केत-मात्र किया गया है उनके फल-स्वरूप, मेरी तो धारणा है कि कुमारिकाओं तथा विधवाओं की अपेक्षा आज-कल विवाहित स्त्री-पुरुषों की प्रवृत्ति व्यभिचार की ओर बड़े वेग से बढ़ रही है और मैं इसे स्वाभाविक समझता हूँ। यदि उनका यह आचरण 'व्यभिचार' कहा जायगा तो ऐसे स्त्री-पुरुषों का पारस्परिक सम्बन्ध जो आपस में प्रेम न होते हुए भी, क़ानून अथवा धर्म की दृष्टि में पति-पत्नी का-सा जीवन व्यतीत करने को बाध्य हैं, क्या कहा जायगा?

सौभाग्य से मैं अनेक प्रतिष्ठित परिवारों का विश्वास-पात्र रहा हूँ। मेरे सम्पादन-काल में 'चाँद' में प्रकाशनार्थ स्त्रियों के जो पत्र आते थे वे तो छपा ही करते थे, पर कुछ ऐसे व्यक्तिगत पत्र भी होते थे जिनका प्रकाशन उस समय वाञ्छनीय नहीं समझा गया। कुछ बहनें तो वास्तव में अपना हृदय खोल कर मेरे सामने रख दिया करती थीं। इस प्रकार के पत्र मुझे देहरादून से भी मिलते रहे हैं और कुछ यहाँ (चुनार) में भी प्रायः मिला करते हैं। इन पत्रों में से कुछ का निचोड़-मात्र मैं नीचे दे रहा हूँ और इस सिलसिले में मैं उन अनुभवों का सार भी देने का प्रयत्न करूँगा जो मुझे समय समय पर प्राप्त होते रहे हैं। ये सारी समस्यायें ऐसी हैं जिनका एक मात्र इलाज विवाह-विच्छेद ही है। 'अटूट' कहे जाने वाले विवाह-सम्बन्ध के कुछ उदाहरण लीजिए—

(१)

एक बार कुछ कार्यवश मैं × × × गया। ठहरा तो मैं एक दूसरे मित्र के यहाँ था, पर वहीं के एक प्रतिष्ठित एडवोकेट महोदय ने मुझे शाम के खाने के लिए साग्रह आमंत्रित किया। खाना खाकर मैं गुसलखाने में हाथ धो रहा था। इतने में एकाएक, शायद फ़्यूज़ जल जाने के कारण, बिजली फेल हो गई। नौकर हाथ धुला रहा था और मेरे एडवोकेट मित्र तौलिया ढूँढ़ रहे थे। इतने में ही एक भारी-सी चीज़ मेरे खद्दर के कोट की जेब में घुसी और निकलना ही चाहती थी कि मैंने जेब टटोली। मैं अवाक् रह गया, जब मेरे हाथ में चूड़ियों से भरा एक कोमल हाथ आया। इतने में ही बिजली का प्रकाश हो गया। मैंने देखा वह मेरे एडवोकेट मित्र की सर्वाङ्ग-सुन्दरी सगी भार्या का हाथ था! देवी जी झपटकर चली गईं। कनखियों से मैंने देखा, मेरी जेब में एक बन्द लिफ़ाफ़ा पड़ा था। जेब को ज़रा झुकाकर मैंने ऊपर से ही देखा। उस लिफ़ाफ़े पर आदर-सूचक विशेषणों-सहित मेरा नाम लिखा था। कौतूहल-वश मुझे पान तक खाने की सुध न रही। साधारण शिष्टाचार की रक्षा न करना होता तो शायद मैं उसी दम मोटर में जा बैठता, पर बाध्य था, कुछ देर मुझे वहाँ ठहरना ही पड़ा, यद्यपि अपने निवासस्थान जाने के

लिए प्रतिक्षण मैं व्यग्र था। आखिर लौटा। मेरे मित्र महोदय जो मेरे साथ ही भोजन करने गये थे, कपड़े उतारने चले गये और मैं सीधा अपने गुसलखाने में। लिफ़ाफ़ा खोलकर एक साँस में मैं पूरा पत्र पढ़ गया।

मेरे एडवोकेट मित्र की धर्म्म-पत्नी ने मेरी बहुत कुछ प्रशंसा करने के बाद उस पत्र में लिखा था, कि इस समय उनकी उम्र १९ वर्ष की है। विवाह हुए ३ वर्ष हुए हैं। इन तीन वर्षों के सुदीर्घ काल में शायद ३ ही बार उन्हें वैवाहिक जीवन का वास्तविक सुख मिल पाया है। कारण यह था कि उनके पति-देवता एक दूसरी रमणी पर जी-जान से आसक्त थे और साथ ही साथ एक वेश्या के प्रेम-जाल में भी फँसे हुए थे। उस देवी ने ५½ पृष्ठों के बारीक अक्षरों में लिखे हुए उस पत्र में इन सारी बातों का विस्तृत उल्लेख करने के बाद लिखा था कि उसे अपने इस वैवाहिक जीवन से घृणा उत्पन्न हो गई है। अपनी स्वाभाविक कमज़ोरियों की चर्चा करते हुए उसने लिखा था—"मैंने विगत मास तक अपने आदर्शों की रक्षा की, पर देखती हूँ, अधिक काल तक न कर सकूँगी। यह मेरी कमज़ोरी भले ही हो, पर इसे आप अस्वाभाविक कदापि नहीं कह सकते। मैं भी एक लॉ स्टूडेण्ट से प्रेम करने लगी हूँ। वे अभी अविवाहित हैं। मुझे वे इतना चाहते हैं कि जिसकी कोई हद नहीं। मुझे पत्नी-रूप में पाकर वे निहाल हो जायँगे और मैं उन्हें पाकर; पर रूढ़ियों की, क़ानून की और अपनी रक्षा एक साथ करने का कोई मार्ग, ढूँढ़ने पर भी, मुझे दिखलाई नहीं देता। क्या कृपया आप बतलायेंगे कि ऐसी परिस्थिति में मुझे क्या करना चाहिए?"

(२)

इसी प्रान्त के एक डिप्टी-कलक्टर महोदय मेरे मित्र हैं। गोरे-चिट्टे, बड़ी-बड़ी कटीली आँखों-वाले, बड़े मिलनसार—कमाऊपूत। कचहरी में जब मिलिए बड़े प्रसन्न, अपने को भूले हुए—बात-बात में चुहुल। चाहे जिस विषय पर उनसे बहस कर लीजिए।

घर पर जब देखिए, सुस्त, कुम्हलाये हुए, उद्विग्न, किसी भी बात का उत्तर बहुत सोच कर देंगे, जैसे कुछ

[विवाहिता स्त्री का जीवन बाड़े में घिरी एक भैंस के समान है। यह घेरा तलाक़ की कुल्हाड़ी से ही काटा जा सकता है।]

जानते ही न हों। जब देखिए बरामदे में ही पड़ी हुई आरामकुर्सी पर पड़े ठण्डी साँसें लेते करवटें बदल रहे हैं।

मैंने खोद-खोद कर उनसे एक दिन उनके इस विचित्र परिवर्तन का कारण पूछा। बहुत टाल-मटोल के बाद बड़ी-बड़ी आँखों में आँसू भर कर वे अपने वैवाहिक जीवन की असफलता की कहानी मुझे सुनाने लगे। वास्तव में उनके लिए उनका घर धधकते हुए नरक से कम न था। वे अपनी सहधर्मिणी के फूहड़पन से बड़े बेज़ार थे। पत्नी में उनके प्रति प्रेम का अभाव नहीं था, पर कोरे प्रेम-द्वारा तो जीवन-नौका पार नहीं हुआ करती। खाने में भी मिर्च-मसाले के बिना वास्तविक स्वाद नहीं मिलता। ठीक इसी प्रकार स्त्री-सुलभ गुणों का अभाव पत्नीत्व के गौरवपूर्ण जीवन को साक्षात् रौरव में ढकेल देता है। यही डिप्टी साहब की उदासी का कारण था। उन्होंने मुझे बतलाया कि पिछले १० वर्षों के वैवाहिक जीवन-काल में दो घण्टे प्रतिदिन, औसत के हिसाब से, उन्होंने अपनी धर्मपत्नी को समझाने-बुझाने में अवश्य खर्च किये होंगे—अच्छी से अच्छी पुस्तकें पढ़कर उनका सार देवी

जी को समझाया होगा, पर चिकने घड़े पर पानी की भाँति उन पर इसका कोई भी व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा। अपने को सुधारने की अपेक्षा बिगाड़ की ओर ही उनकी प्रवृत्ति अधिक बढ़ती गई। "कहीं आने-जाने की मुझे आदत नहीं, कोई आ गया तो मिल लिया, नहीं तो कुछ पढ़ा करता हूँ। शाम को यदि बहुत जी घबराया तो थोड़ी-सी शराब पी लेता हूँ। बहुत ढूँढ़ने के बाद यह मुजर्रब नुस्खा हाथ लगा है। दो-तीन घण्टे अच्छे कट जाते हैं। कभी-कभी एक दूसरा विवाह या "ऐसा ही कुछ" करने की इच्छा प्रबल हो उठती है, पर ज़रा बदनामी का खयाल है। शायद कुछ दिनों की रगड़-झगड़ से यह व्यर्थ का सङ्कोच भी जाता रहे।"

(३)

बिहार के एक प्रतिष्ठित और विख्यात घर की एक महिला ने मेरे पास एक पत्र १००) के बीमे-द्वारा (ताकि पत्र सुरक्षित पहुँच जाय) भेज कर अपनी कष्ट-कहानियों का जो करुणा-पूर्ण उल्लेख किया था उसका प्रत्येक अक्षर इस समय भी मेरी आँखों के सामने है। उनका विवाह हुए १० वर्ष बीते थे और इस बीच में उन्हें तीन नई-नई सौतों का स्वागत सत्कार करना पड़ा। बात यह थी कि पति-देवता नपुंसक थे, अतएव मातृत्व के प्रतिष्ठित पद पर सुशोभित होना इन देवी के वश की बात नहीं थी। उधर बड़ी-बूढ़ियों के तक़ाज़ों को टालना पति-देवता के सामर्थ्य के बाहर की बात थी। सन्तान की लालसा प्रायः घर की बड़ी-बूढ़ियों में बड़ी प्रबल देखी गई है। फलतः प्रत्येक स्त्री को एक दूसरे के बाद 'बाँझ' समझकर शादियाँ होती गईं; पर सभों का सन्तानहीन रहना अनिवार्य था। उन्होंने लिखा था—"मेरी सौतों की अवस्था क्रमशः १८, १६ और १५ है। तीनों ही बड़ी सुन्दरी हैं, बड़ी सरल और सहनशील भी, पर इन सारे दैवी गुणों का उन्हें बहुत अधिक मूल्य चुकाना पड़ा है। हम लोगों में एक-दूसरे में पारस्परिक प्रेम का अभाव नहीं है। ऐसी परिस्थिति में एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति हो ही जाती है। इसी लिए जीवन के दिन कटे जाते हैं। हम प्रकृति से कब तक युद्ध ठान सकेंगी, सो नहीं कहा जा सकता। अखबारों में सारी बातें खोलकर छपवा देने से क्या मेरी सौतों को पुनर्विवाह की अनुमति मिल जायगी?"

(४)

एक प्रसिद्धि-प्राप्त बैरिस्टर साहब का दाम्पत्य जीवन वास्तव में मुझे हद दर्जे का करुण प्रतीत हुआ है। विलायत से लौटने पर अपनी 'पूतदेइआ' से उनकी नहीं पटी, उसे तुरन्त मायके भिजवा दिया। आपकी लालसा किसी 'लिखी-पढ़ी' अप-टु-डेट बालिका का पाणिग्रहण करने को लालायित हो उठी। उनकी जाति में लड़कियों की कमी नहीं थी। बहुत थोड़े ही प्रयत्न से उन्हें मैट्रिक पास, चश्मा लगानेवाली तथा ऊँची एड़ी की जूती पहननेवाली—जैसी बैरिस्टर साहब चाहते थे—भार्या मिल गई। मुझे याद है, ख़ूब दावतें उड़ी थीं। आतशबाज़ी की प्रशंसा तो इन पंक्तियों के लेखक ने भी की थी। एक दिन बहुत सुस्त थे। पूछताछ करने पर अँगरेज़ी के बहुत ही चुने हुए शब्दों में देवी जी की तारीफ़ें करने लगे—"जब मैं कोर्ट जाने के लिए स्नान करने जाता हूँ तब देवी जी सोकर उठती हैं, जब मैं रसोइया-द्वारा बनाया हुआ जला-कटा भोजन करने बैठता हूँ तब देवी जी बाथरूम में होती हैं, जब मैं कपड़े पहन कर बाहर निकलता हूँ तब देवी जी ड्रेसिङ्ग-रूम में अपनी रूप-राशि की मरम्मत में लगी होती हैं। दिन भर क्या करती हैं सो पता नहीं—शायद नाविल पढ़ती हैं और ग्रामोफोन सुनती हैं—पर शाम को जब मैं कचहरी से लौटता हूँ तब वह देवी जी के टेनिस का समय होता है। नौकर-द्वारा दी गई चाय पीकर ज़रा आराम करने बैठता हूँ तब देवी जी प्रायः सिनेमा में होती हैं। सारांश यह कि एक ही घर में रहते हुए कभी-कभी हफ़्तों मुलाक़ात नहीं होती! अपनी पसन्द की शादी करके सचमुच ही फँस गया हूँ।"

कुछ इसी प्रकार के भाग्यहीन मित्रों के उद्योग से एक 'नाइटक्लब' की स्थापना हो गई है, जिसमें कई फ़ैशनों की पुतलियाँ भी मनोरञ्जनार्थ आती हैं। आज-कल बैरिस्टर साहब के सारे सञ्चित अरमान वहीं निकलते हैं। मुझसे कई बार तलाक़ के पक्ष में धारावाही रूप से लिखने

को कह चुके हैं। शायद मेरी इन पंक्तियों से उन्हें कुछ सन्तोष हो।

(५)

मेरी एक सुपरिचिता तरुणी की करुण-कहानी ने मेरे हृदय पर जो भीषण आघात किया है उसे शब्दों-द्वारा मैं कैसे व्यक्त करूँ? मेरे लिए वास्तव में यह एक समस्या हो गई है; फिर भी मैं चेष्टा करूँगा। अस्तु

५ वर्ष के नन्हें से जीवन में उनका 'अटूट सम्बन्ध' स्थापित कर दिया गया, जब उन्हें पण्डित जी के द्वारा क, ख, ग, पढ़वाया जा रहा था। दहेज-रूपी राक्षस से त्राण पाने के लिए उनके सम्पन्न और सुशिक्षित पिता ने एक निर्धन तथा भोंदू बालक से उनका विवाह कर दिया। पिता ने शुभ सोचा था। उनकी धारणा थी कि १०-१५ हज़ार एक मुश्त दहेज न देकर यदि यही रक़म धीरे-धीरे बालक की पढ़ाई में व्यय की जाय तो एक निर्धन परिवार का भविष्य भी उज्ज्वल हो सकता है और उनकी कन्या का भी—वास्तव में उन्होंने दहेज का सदुपयोग करना चाहा था। उनकी इच्छा एक हद तक ज़रूर पूर्ण हुई, पर देवी जी के लिए यह सम्बन्ध घातक सिद्ध हुआ।

स्त्री-शिक्षा के पक्षपाती होने के कारण पिता ने लड़की को भी ख़ूब पढ़ाया। देवी जी इस समय बी० ए० करने के बाद एक ट्रेनिङ्ग कॉलेज में शिक्षा पा रही हैं और पति-देवता × × × में वकालत कर रहे हैं। देवी जी उच्च शिक्षा प्राप्त करने की लालसा से शीघ्र ही योरप के लिए प्रस्थान करने की बात सोच रही हैं। इस परिवार से विशेष घनिष्ठता होने के कारण मैं ख़ूब जानता हूँ कि "अटूट सम्बन्ध" में जकड़ी रहने पर भी पति-पत्नी में भाई और बहन जैसा पवित्र सम्बन्ध है। पति-देवता देवी जी से प्रेम करते हैं और देवी जी घृणा! उनका कहना है कि "बाल्यकाल से ही जब हम एक-दूसरे के साथ खेला करते थे, मुझे उनके प्रति घृणा रही है और मैंने उन्हें भाई की दृष्टि से ही सदा देखा है।" देवी जी का प्रेम किसी दूसरे से रहा है। जो व्यक्ति देवी जी का प्रेम-पात्र है वह विवाहित होते हुए भी एक ऐसे अभाव का पग-पग पर अनुभव करता है जिसे देवी जी ही पूर्ण कर सकती हैं। यदि ऐसा न हुआ तो उस कर्मशील व्यक्ति के जीवन का बड़ा ही दुःखद अन्त निश्चित है। देवी जी भी अपने जीवन को इतना ही अपूर्ण समझती हैं या नहीं, यह बतलाना मेरे लिए कठिन है।

एक बात और। देवी जी के पति-देवता पर एक ऐसी बालिका आसक्त है जो बी० ए० क्लास में उनकी सह-पाठिनी थी। उसने इन्हीं के वियोग में आजीवन अविवाहिता रहने का निश्चित संकल्प कर लिया है। पर हिन्दू-धर्म की संकीर्णता एवं क़ानूनी विडम्बनाओं के कारण चार प्राणियों की चिर-संचित आकांक्षाओं का प्रत्यक्ष ख़ून हो रहा है!

मेरे पास इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण सुरक्षित हैं। मैंने ऊपर के ५ रोमाञ्चकारी उदाहरण हिन्दू-समाज के विभिन्न पहलुओं पर केवल थोड़ा-सा प्रकाश-मात्र डालने को दिये हैं, अतएव मेरी इन पंक्तियों को विषय-प्रवेश-मात्र समझना चाहिए। जीवन की इन जटिल समस्याओं को सुलझाने का एक-मात्र उपाय यही है कि केवल विवाह-विच्छेद-बिल को ऐसेम्बली के अगले अधिवेशन में क़ानूनी जामा पहनाने का ही प्रयत्न न होना चाहिए, बल्कि ऐसे दुखी प्राणियों को, पति-पत्नी की पारस्परिक इच्छा और अनुमति से, विवाह-विच्छेद करने के लिए प्रोत्साहित भी किया जाना चाहिए।

मेरी इन पंक्तियों पर जितने तरह के भी आक्षेप हो सकते हैं, मैं उनसे पूर्णतया परिचित हूँ, पर इस परिमित स्थान पर उन सारी बातों पर प्रकाश डालना 'सरस्वती' पर अत्याचार करना होगा! मैं इस महत्त्वपूर्ण विषय पर, फिर लिखने की चेष्टा करूँगा।

बुद्धिवाद का प्रशस्त मार्ग

लेखक, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

स्वामी सत्यदेव जी ने योरप जाकर जिन विषयों पर लिखने का वादा किया था, यह उस ढङ्ग का पहला लेख है। इसमें आपने यह सिद्ध किया है कि यदि हम धर्म-शास्त्रों की गुलामी छोड़ कर अपनी स्वतंत्र बुद्धि से विचार करें तो हमारा समाज कैसा सुखी हो जाय। आपका अगला लेख होगा यूनानियों की जीवन-फ़िलासफ़ी।

स दिन उन्टर मौबाख के पहाड़ी स्टेशन पर काफ़ी भीड़ थी। रविवार के सैलानी जीव प्रातः-काल की गाड़ी से ही पहाड़ियों का आनन्द लेने के लिए अपना ब्यालू साथ लेकर आये थे। मैं कोलोन से आ रहा था—अपने पुराने मित्र डाक्टर हास से मिलने। वे आज-कल पेन्शन लेकर इन पहाड़ियों में स्वास्थ्य सुधारने के लिए आये हुए थे।

जब गाड़ी स्टेशन पर पहुँची और बहुत-से लोग उतरे तब मैं अजनबी सबसे अलग अपने दोनों सूटकेस हाथ में लिये इधर उधर अपने मित्र को खोज रहा था।

कुछ मिनटों बाद—"हैलो, स्वामी देवा!" के शब्दों ने मुझे अपने मित्र का आगमन बतला दिया। वे खिले चेहरे से हाथ मिलाकर बोले—

"आखिर आप आ गये?"

"हाँ भाई, आ गया।"

डाक्टर जी ने मेरे दोनों सूटकेस ले लिये और हम लोग टिकट दिखला कर स्टेशन से बाहर निकले।

दोनों सूटकेसों को अपनी मोटर साइकिल पर लाद कर डाक्टर जी उसे ढकेलते हुए, मेरे साथ बातें करते हुए घर की ओर चले। वे बोले—

"सचमुच मैं आपकी हिम्मत की प्रशंसा करता हूँ। ऐसी खराब आँखें होते अकेले यात्रा करते हैं। भारतवर्ष से इतनी दूर यहाँ अकेले आना और यहाँ आकर भी

[ऐफ़ल वनस्थली। नीचे झील का दृश्य है]

बराबर अकेले ही घूमना असाधारण बात है। मैंने आपके टिकट से देख लिया है कि आप कनष्टेडेन से आ रहे हैं। वहाँ भी आप अकेले ही गये थे क्या?"

मैंने मुस्कराकर उत्तर दिया—"हाँ मेरे प्यारे, अकेला ही गया था।" सामने चढ़ाई थी सुस्ताने के लिए हम लोग ठहर गये। मुझे सम्बोधित कर डाक्टर जी ने कहा—

"मित्रवर, सन् १९३० का वह जर्मनी अब नहीं है। उस समय मैं आपकी मिन्नतें करता था कि आप यहाँ रह कर हिन्दू-संस्कृति का प्रचार करें। आपको पैसे भी मिलते थे। वे बातें अब दूर चली गईं।"

मैं क्या कहता। मुझे इसका अनुभव पूरी तरह हो चुका था। मैंने धीरे से कहा—"मैं तो ज्ञान का भिखारी हूँ। ज्ञान-प्राप्ति मेरे जीवन का ध्येय है। जान जोखिम में डाल कर भी मैं ज्ञान के लिए भटकता फिरता हूँ। दूसरे लोग ज्ञान के लिए इलहामी पुस्तकें चाटते हैं, लाखों पीरों-पैग़म्बरों की ग़ुलामी करते हैं और शास्त्रों के पन्ने उलटते रहते हैं, पर मैं प्रकृति-माता से ज्ञान की भिक्षा माँगता हुआ उसकी नैसर्गिक छटा का आनन्द लेता फिरता हूँ।"

हमने पहाड़ी पर चढ़ना प्रारम्भ किया। चढ़ाई कठिन होने के कारण धीरे धीरे आगे बढ़ रहे थे। एक स्थान पर फिर आराम लेने के लिए ठहर गये। डाक्टर जी ने फिर कहा—

"मैं पेन्शन लेकर बर्लिन जा रहा हूँ। वहाँ मैं आर्य्य-संस्कृति-केन्द्र स्थापित करूँगा। आप क्या कहते हैं?"

अत्यन्त प्रसन्न होकर मैंने उत्तर दिया—"वाह! इससे अच्छा काम और कौन-सा हो सकता है?"

डाक्टर—"हाँ, आप कनष्टेडेन क्यों गये थे?"

मैं (हँसकर)—"बर्लिन से आते हुए एक पादरी मिल गया था। उसने आग्रह किया कि मैं कनष्टेडेन ज़रूर
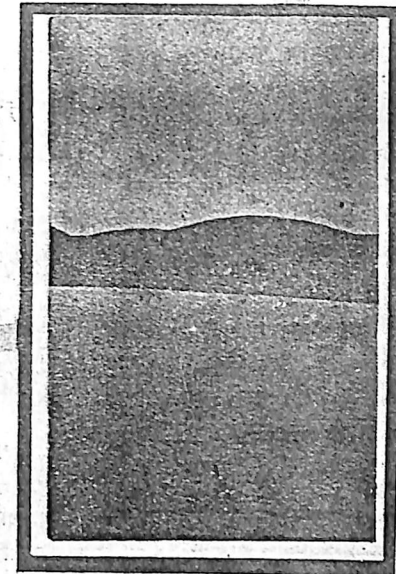
[एक और प्राकृतिक दृश्य]

आऊँ। सो मैं वहाँ चला गया था। वहाँ से कोलोन होकर आ रहा हूँ। सच मानिए—मित्रवर, वहाँ बड़ा मौक़ा मिला प्रमाणवाद की पोल परखने का—बहुत अच्छा अवसर मिला।"

हम लोग धीरे धीरे पहाड़ी पर चढ़ रहे थे। सफ़ेद सीमेन्ट का दोतल्ला छोटा-सा मकान सामने चमक रहा था। वहीं हमें जाना था। डाक्टर महोदय थक कर फिर रुक गये और कहने लगे—"वहाँ की बातें तो सचमुच अत्यन्त मनोरंजक और शिक्षाप्रद होंगी। आपको सब बतलानी पड़ेंगी।"

चढ़ाई खत्म हो गई, सड़क आ गई। मकान अभी उँचाई पर था। डाक्टर जी ने सीटी बजा कर घर में रहने वाली मिस लोटस को मेरे और अपने आने की सूचना दी।

× × × ×

जर्मनी की पश्चिमी सीमा जहाँ पूरी होती है और बेलजियम की सुरम्य सीमा का जहाँ प्रारम्भ है, वहाँ ऐफ़ल की पहाड़ियाँ साँपों की तरह बल खाती हुई सुन्दर सुहावने दृश्य दिखलाती हैं। इन्हीं पहाड़ियों में रूर नदी बहती है, जिसके जल में अत्युत्तम काग़ज़ तैयार करने की करामात है। इसी लिए इसके किनारे किनारे काग़ज़ की मिलों का सिलसिला चला गया है। परिश्रमी जर्मन लोग प्रकृति की बरकतों का यहाँ पूरा लाभ उठाते हैं।

यहीं सन् १९३४ के सितम्बर और अक्टूबर में मैं कुछ दिन धूनी रमाकर बैठा था। परिव्राजक होने का यही फ़ायदा है—इच्छानुसार विचरिए। डाक्टर हास के उस सफ़ेद मकान की ऊपर की छत पर एक बड़ा हवादार छोटा-सा कमरा मुझे मिल गया था। साफ़-सुथरा अप-टु-डेट नया मकान, वह भी पहाड़ी पर! वहाँ से सामने ऐफ़ल का दृश्य जब मैं अपनी खिड़की में बैठकर दूरबीन से देखता तब प्रभु को बार बार धन्यवाद देता कि जिसने मुझे ज्ञान-प्राप्ति के ऐसे अच्छे अवसर दिये हैं। किसानों के पशु—गाय, भेड़ और बकरी स्वर्णमयी घास पर चरते कैसे भले जान पड़ते थे और बीच बीच में गाय का रँभाना मेरी शताब्दियों की संस्कृति को चैतन्य करता था। कैसी है यह गौ माता! इसके जीवन में मानव-सभ्यता का इतिहास छिपा हुआ है।

× × × ×

नीले आकाश में भगवान् भास्कर मेरे सामने हँस रहे थे और मैं था मस्त प्राकृतिक सौन्दर्य के आनन्द में।

था वह सुहावना समय प्रभात का और था भी अनोखा दिन, जब वृक्ष नये वस्त्र पहन कर प्रचण्ड पवन में मतवाले होकर झूमते हैं। मैंने अपनी खिड़की खोली और लगा वन की शोभा देखने। अपनी मुरली उठाकर मैं बजाने लगा। वही गीत—

बीत गये दिन भजन बिना रे।
बालकपन गया खेल-कूद में,
जब जवानी तब मान किया रे।
जाहे कारण मूल गँवायो,
अभी भी न मिटी तेरी मन तृष्णा रे।
कहत कबीर सुनो भाई साधो,
पार उतर गये सन्त जना रे।

क्या मज़ा आता है निस्तब्धता में गाने का!

× × × ×

धक! धक!! की ध्वनि ने मेरा ध्यान भंग किया। यह आवाज़ मकान के नीचे से आ रही थी। मैं चुपचाप सुनने लगा। सीढ़ियों पर से कोई आने लगा। मेरा द्वार खटखटाया। "भीतर आइए!" के साथ ही डाक्टर जी ने भीतर प्रवेश कर कहा—

"आ हा मुरली बजा रहे हैं आप!"

मैंने मुस्कराकर उत्तर दिया—"आपके घर के नीचे से भी तो ढोल की ध्वनि आ रही है।"

डाक्टर जी (हँसकर)—"अरे भाई, यह तो हमारा स्वकर्मा पम्प है।"

मैं (आश्चर्य से)—"क्या आप ही आप पानी खींचता है?"

डाक्टर—"हाँ आप ही आप। जब टंकी में दो तिहाई पानी रह जाता है तब पम्प को खबर हो जाती है और वह आप ही आप उसे भरने लग जाता है।"

वाह रे मनुष्य की बुद्धि! बुद्धि के अद्भुत चमत्कार हैं, पर क्यों फिर मनुष्य अपनी इस अलौकिक बुद्धि को मज़हबी मामलों में काम में नहीं लाता—वहाँ वह इसमें ताला क्यों लगा देता है? डाक्टर जी तो कुछ ज़रूरी बात कहकर नीचे चले गये। किन्तु मैं गहरे विचार में पड़ गया।

पंडित वेंकटेश नारायण तिवारी जी ने ब्रह्मवैवर्त-पुराण की गन्दगी हिन्दू-जनता को बतलाई है। सदियों से हिन्दू ऐसी भ्रष्ट बातों को कैसे मान रहे हैं? केवल प्रमाणवाद के मायाजाल के कारण ही तो। एक ओर सतीत्व धर्म की डींग और दूसरी ओर परकीया राधा और स्वयं भगवान् व्यभिचारी! ऐसी कितनी अश्लील और दुराचार की बातें पुराणों तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों में भरी हुई हैं। तभी तो हिन्दुओं का बेड़ा डूबा है। तभी तो मन्दिरों और तीर्थों पर ऐसा व्यभिचार और अनाचार है। धर्म में बुद्धि को स्थान न देने से ही तो ऐसी बातें सम्भव हुई हैं। यह प्रमाणवाद का भूत ही सारे पापों का मूल है। क्योंकि यह ऋषि-प्रणीत ग्रन्थ है, क्योंकि यह बात मनु जी ने लिखी है, क्योंकि यह गीता का वचन है, क्योंकि यह क़ुरान की आयत है या वेद का वाक्य है, इसी लिए यह प्रमाण है। ऐसी ही मानसिक दासता ने स्वर्गरूपी संसार को नरक-तुल्य बना रक्खा है। कैसे सुन्दर घरों का निर्माण लोग करने लगे हैं, सभ्यता के प्रत्येक विभाग में मनुष्य कितना आगे बढ़ रहा है? पर यह पिशाच प्रमाणवाद उसे मज़हबी ढकोसलों में किस बेरहमी से जकड़े हुए है? यदि धर्म में भी मनुष्य विवेकिनी बुद्धि को काम में लाता तो हृदय और मस्तिष्क का कैसा अनुपम विकास हो जाता!

[जंगल में मंगल। एक घर जहाँ लेखक कुछ दिन रहा था]

में विचार करने लगा। निस्सन्देह मनन और तर्क मानव-विकास के सबसे बड़े स्तम्भ हैं। भावुकता क्षणिक और आकस्मिक है। वह आँधी की तरह आती है और गोले की तरह चली जाती है। वह आत्मा की वस्तु नहीं, वह केवल भाव-कम्पनाओं का वेगमात्र है। पर तर्क और मनन-द्वारा निश्चित की हुई बात या संकल्प कैसा दृढ़, कैसा सुखद, कैसा उन्नत और शान्तिदायक होता है? तर्क ऋषि है। वह शत्रु है रूढ़िवाद और मिथ्याचार का। यदि हम इल-हामी पुस्तकों का सहारा छोड़कर, मौलवी-मुल्लाओं और पंडितों को प्रमाण न मानकर तथा पीर-पैग़म्बरों का आश्रय न लेकर स्वतन्त्र अपनी बुद्धि से विचार कर अपना कर्तव्य निश्चित किया करें तो हमारा समाज कैसा सुखी हो जाय! अफ़सोस हम रूढ़ियों और लोकमत के गुलाम बनकर अपनी आत्मा के विरुद्ध चलते हैं और इस प्रकार अपने व्यक्तित्व का नाश कर रहे हैं! "लोग हमें क्या कहेंगे?"—यही भय हमें खा रहा है और हमें प्रमाणवाद के गढ़े में ढकेले हुए है।

हमारी आत्मा में स्वयं ज्योति का प्रकाश है। वह प्रकाश हमारा सच्चा पथ-प्रदर्शक है। जैसे अन्धकार में बिजली का तेज़ लेम्प बटन दबाने से सामने की वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप बोध कराता है, ऐसे ही बुद्धि-रूपी बटन दबाने से स्वयं ज्योति बुराई-भलाई का नग्न चित्र हमारे सामने लाती है। यदि हम उस प्रकाश को काम में लाने का अभ्यास बुद्धि-द्वारा निरन्तर करते जायँ तो हमें अपनी आत्मा का दर्शन हो जाय। आत्म-महत्ता के अनुभव का श्रेष्ठतम साधन बुद्धि ही है। अन्धकार को भगाने, पक्षपात को मिटाने, भेदभाव को हटाने और आत्म-परीक्षा का अभ्यासी बनानेवाला यदि कोई साधन है तो वह बुद्धि का सदुपयोग है। सदा तर्क और विचार से काम लेनेवाला अपनी भूलों को सुधारता चला जाता है। उसकी आत्मा की आवाज़ सदा दृढ़, ऊँची और स्पष्ट होती जाती है। चारों ओर की कठिनाइयाँ सरल और साफ़ हो जाती हैं और धर्म का यथार्थ स्वरूप हृदयंगम होने लगता है। धर्म के जानने का यही सत्य मार्ग है।
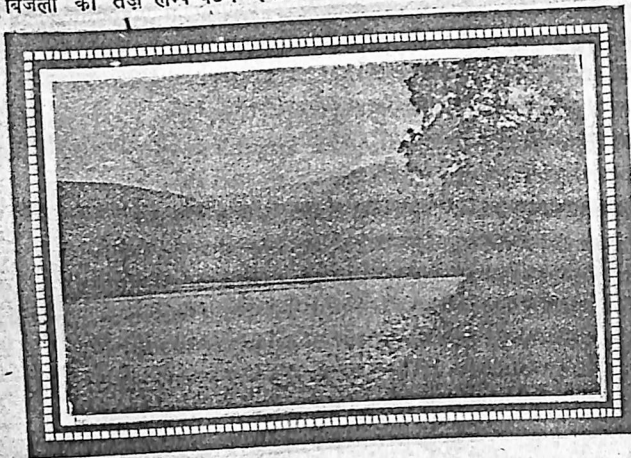
यहाँ प्रश्न यह उठता है कि प्रमाणवाद के जाल में सारा संसार क्यों फँसा हुआ है। इसका उत्तर स्पष्ट है। १६०० वर्षों से सारी ईसाई दुनिया प्रमाणवाद का प्रचार कर रही है, १३०० वर्षों से इस्लाम की सारी शक्ति प्रमाणवाद के फैलाने में लगी हुई है, हज़ारों वर्षों से हिन्दू विद्वान् प्रमाणवाद की दुहाई दे रहे हैं और सैकड़ों वर्षों से छायावादी और रहस्यवादी कवि हृदय की अनुभूति की आड़ में जन साधारण को बहका रहे हैं, तो क्या यह कोई आश्चर्य की बात है कि संसार में अभी तक भेड़ें ही अधिक हैं और मनुष्य बहुत थोड़े हैं। बुद्धिवाद का प्रचार करना गुरुडम का नाश करना है। फिर कोई विद्वान् क्यों बुद्धिवाद को फैलाएगा, जब वह देखता है कि इससे उसकी भेड़ें भाग जायँगी और उसका मठ बन्द हो जायगा। जितने ये प्रमाण-वादी हैं, सब अध्यात्मवाद के जंगल में छिपकर शिकार खेलते हैं और कहते हैं कि सूर्य्य के प्रकाश में देखनेवाले केवल बाहर की आँखों से देखते हैं,

[झील का एक और दृश्य]

परन्तु ये प्रमाणवादी सज्जन जंगल के अन्धकार में हृदय की आँखों से सच्चा ज्ञान प्राप्त करते हैं। ये क्या देखते हैं—

कौन भेद सका अगम आकाश को,
कौन समझ सका उदधि का गान है।—पन्त

यह विचार जो हमारे प्यारे कवि पन्त जी ने अपनी कविता में प्रकट किया है, हज़ारों वर्षों का पुराना विचार है। खोज का रास्ता बन्द करने के लिए, जन-साधारण को अज्ञान का नशा पिलाने के लिए इस भाव का प्रचार बराबर गुरु लोग करते आये हैं। और जब वे अपनी मंडली में बैठकर अपनी कविता को पढ़ते और वाह! वाह!! करते हैं तो मूर्ख जनता भी इन विद्वानों के पीछे झूमझूम कर इस विचार की तारीफ़ करने लगती है। इस प्रकार हज़ारों वर्षों से बुद्धिवाद के विरुद्ध भयंकर प्रोपेगेण्डा किया गया है। फलस्वरूप हम आज तक यह न जान सके कि भूकम्प कैसे आता है और आकाश की दूधधारा क्या है।

[डाक्टर आटोहास पी० एच० डी० जो पेंशन लेकर बर्लिन में आर्य्य-संस्कृति-केन्द्र खोलने जा रहे हैं]

अगम, अगोचर और अनन्त पदार्थों के विषय में जब कोई पैग़म्बर, कोई अवतार, कोई मसीहा, कोई साधु-सन्त अंटसंट बातें कह देता है तब जनता उस पर पूर्ण श्रद्धावश विश्वास कर लेती है और उस व्यक्ति के वचन प्रमाण माने जाते हैं। जब पंडित वेंकटेश नारायण जी तिवारी जैसा जिज्ञासु उन थोथी बातों की पोल दिखलाता है तब प्रमाणवादी विद्वान बुद्धि तो लड़ाते नहीं, उलटा यह कहने लगते हैं—"अजी ये बातें पते की हैं, हृदय की अनुभूति से आ सकती हैं। तुम स्थूल आँखों से देखने-वाले इन्हें क्या समझो?"

क्या प्रमाणवादी और रहस्यवादी इन लेखकों और कवियों ने सम्प्रदाय स्थापित करने के अतिरिक्त संसार को कुछ आगे बढ़ाया है? क्या ज्ञान के किसी भी विभाग में इन्होंने कुछ वृद्धि की है? सैकड़ों प्रकार के रंग-बिरंगे शब्दों-द्वारा यही अगम-अगोचर का भाव इनके ग्रन्थों में पाया जाता है। ईश्वर, आत्मा और प्रकृति—इन पर ज़ भी प्रकाश इन्होंने नहीं डाला। केवल विलाप!

देखिए, मैं आँखों से लाचार यहाँ पहाड़ियों में बैठ हूँ। ओह, कोई ग्रन्थ पढ़ नहीं सकता! मेरी तरह लाख ऐसे लोग हैं जो आँखों के ख़राब होने की वजह से ग्रन्थाव लोकन नहीं कर सकते। हज़ारों सालों से ये प्रमाणवा ख़ुदा की पूजा कर रहे हैं, वेदों की ऋचायें गा रहे अगम अगोचर के अनहद शब्द की महिमा बखान रहे हैं क्या इनके पास कोई साधन था जिसके द्वारा ग्रामों बसनेवाले साधनहीन लोग तथा आँखों से लाचार व्यवि ज्ञान प्राप्त करते हुए आगे बढ़ सकते? ये केवल 'नेति नेति' कहकर हमें सन्तुष्ट कर देते हैं, पर मेरे कमरे में यह रेडियो पड़ा है, जो हज़ारों मील के आकाश का भेद मुझे विद्वानों के उपदेश सुनाता है, अच्छे से अच्छे रा का राग अलाप कर मेरा जी बहलाता है, नाटकों के द

सुनाकर मेरा ज्ञान बढ़ाता है—सबसे बढ़कर मुझमें उदासी नहीं आने देता। मेरे लिए रेडियो का आविष्कारक सच्चा रहस्यवादी ऋषि है, जिसने शब्द-कल्पनाओं का अध्ययन कर मुझे ये बरकतें दी हैं। यदि वह भी अगम-अगोचर कह कर बैठ रहती तो संसार की कितनी हानि होती?

महात्मा गान्धी अछूतोद्धार में लगे हैं, उसके लिए लाखों रुपये खर्च कर रहे हैं। क्या वे इसमें सफल-मनोरथ होंगे? कदापि नहीं। गुरु नानक, भक्त कबीर, स्वामी रामानन्द, स्वामी दयानन्द सभी ने अस्पृश्यता हटाने का प्रयत्न किया, पर सब हार गये।

कारण क्या है? कारण भारतवर्ष के ग्राम ग्राम और क़स्बे क़स्बे में प्रमाणवादी अपनी प्रामाणिक पोथियाँ लिये घूम रहे हैं। उन ग्रन्थों में अस्पृश्यता धर्म माना गया है। आप किस किस ग्रन्थ को शोधते फिरेंगे, कहाँ कहाँ मन्दिर खुलवाते रहेंगे? महात्मा जी के स्वर्गारोहण के बाद ये मन्दिर फिर बन्द हो जायँगे, जैसे पहले हो चुके हैं। असली दवा, इस व्याधि का सच्चा इलाज बुद्धिवाद का प्रचार करना है ताकि लोग स्वयं-सोचना सीखें। बुद्धिवाद का प्रशस्त मार्ग ही विकास का पथ है।

अभी हाल की बात तो है। एक जर्मन युवा लड़की मुझसे मिलने के लिए आई। उसने कहीं से सुन लिया कि ये महाशय हिन्दुस्तानी हैं। वह रोमन कैथोलिक थी। आयु होगी १९-२० वर्ष की। मेरे कमरे में आकर बैठ गई और बड़े मधुर स्वर में कहने लगी—

"आप इन्डिया के रहनेवाले हैं?"

मैंने धीरे से उत्तर दिया—"हाँ; देवी।"

बड़ी प्रसन्न होकर उसने कहा—

"बहुत अच्छा। आप कृपा कर मेरा भविष्य बतलाइए। हिन्दुस्तानी लोग तो दूसरों का भविष्य बतलाने में बड़े प्रवीण होते हैं।"

यह कहकर उसने अपना गोरा छोटा सा दाहना हाथ मेरी ओर बढ़ाया। मैं उसके मुख की ओर देखने लगा। फिर मैं खिड़की की ओर देखने लगा। दो-तीन मिनट तक बोला नहीं। मैंने सोचा—

"हिन्दुस्तानी दूसरों का ही भविष्य देखना जानते हैं, अपना नहीं। यदि अपना भविष्य देख सकते तो तुर्कों और अँगरेज़ों के ग़ुलाम क्यों बनते।"

उस अबोध बालिका ने मुझे मौन देखकर फिर विनीत भाव से कहा—"मैं बड़ी आशा से आपके पास आई हूँ। आप ज़रूर मेरे लिए कष्ट करें"।

उसके सिर पर अपना दाहना हाथ रखकर मैं बोला—"मेरी बच्ची, परिस्थितियाँ समझ कर मनुष्य भविष्य के सम्बन्ध में अटकल लगा सकता है। सच्ची बात कोई भी नहीं कह सकता।"

मैंने देखा कि उसने मेरा विश्वास नहीं किया। उसने समझा, मैं बतलाना नहीं चाहता। सो वह उठकर चली गई और मैं विचार-तरंगों में डूब गया।

बुद्धिवाद का प्रचार करना कितना कठिन है? कैसी प्रलोभनाओं का सामना इसके लिए करना पड़ता है! इसमें कैसे स्वार्थ-त्याग की ज़रूरत है? तभी तो प्रमाणवादी बुद्धिवाद के शत्रु हैं। वे कामिनी और काञ्चन मुफ़्त में पा जाते हैं। प्रमाणवाद के कारण ही तो आग़ाख़ाँ चैन कर रहे हैं और राधास्वामी की जय हो रही है।

ये सब मठ टूट जायँ, सम्प्रदाय नष्ट हों, जनता चैतन्य हो जाय और पोलिटिकल गद्दियाँ मिट जायँ, यदि बुद्धिवाद का प्रचार जोर-शोर से किया जाय। जब तक हमारा मस्तिष्क स्वाधीन नहीं होता तब तक हम सदा दास बने रहेंगे। बाहर की आज़ादी केवल देखने-मात्र की चीज़ है। हमारा स्वतंत्र व्यक्तित्व ही हमारी असली पूँजी है।

× × × ×

"स्वामी! स्वामी!!" पुकारते हुए डाक्टर हास ऊपर आये और बड़े उत्साह से बोले—"खिड़की में से जुलूस देखिए।"

नाज़ी बच्चों का जुलूस झण्डे लिये हुए पहाड़ की चौड़ी पगडण्डी पर से नीचे उन्टर मौबाख ग्राम में जा रहा था। वे गा रहे थे वही अपना मस्ताना गाना—

'हम जाते हैं युद्ध-क्षेत्र में,
विजय-ध्वजा फहरावेंगे।
पितृ-भूमि के रिपुओं को अब,
निज पौरुष दिखलावेंगे।

सारे जर्मनी का यही राग है—ग्रामों, जंगलों, क़स्बों और नगरों में। जीवित जाति केवल स्वप्न नहीं देखती, रहस्यवाद में गोते नहीं खाती। वह अपनी समस्याओं का इलाज करती है, उनके लिए जी-जान लड़ाती है, केवल शब्दाडम्बर से जी खुश नहीं कर लेती।

डाक्टर हास मेरे पास कुर्सी पर बैठ गये। उनका संक्षेप में परिचय यह है कि आप फ़िलासोफ़ी और क़ानून के पी० एच० डी० हैं। यहाँ अदालत के जज थे। इतने विद्वान् होने पर आप बढ़ई, फोटोग्राफर, मोटर ड्राइवर और उसके कुशल कारीगर सभी कुछ हैं। ऐसे विनयी, ऐसे कुशल, ऐसे सहनशील मैंने तो थोड़े ही व्यक्ति देखे हैं। आप मेरे व्याख्यानों में आया करते थे। तभी से हमारा सौहार्द्र-भाव है।

डाक्टर जी के घर का काम करने वाली हिन्दू-संस्कृति की प्रचण्ड प्रचारिका—लेडी लोटस—भी ऊपर आ गई। सो हमारी बातें होने लगीं। डाक्टर जी ने पूछा—

"आपने कनष्टेडेन में क्या देखा"?

"निस्सन्देह रोमनकैथोलिक धर्म ने लाखों स्त्री-पुरुषों में बलिदान की भावना भरी है, मगर उनका व्यक्तित्व नष्ट कर महान् हानि भी की है।"

"आपने उन लोगों को समझाया नहीं?"

"मैं भला कब टलनेवाला था। जब हम लोग घूमने निकले तब मैंने कहना प्रारम्भ किया। जैसे निरंकुश राज्य व्यक्ति की आज़ादी छीन लेता है, वैसे ही निरंकुश मज़हब व्यक्ति की मानसिक स्वतंत्रता का अपहरण कर लेता है। बाइबल के विरुद्ध सोचना उनके लिए हराम है। यदि उनकी बुद्धि में कोई विरुद्ध तर्क उठे तो उन्हें फ़ौरन उसे दबाना पड़ता है। ईसा तथा अन्य पैग़म्बरों ने जो कुछ कहा है, बस उसके आगे वे जा नहीं सकते। इलहामी पुस्तकों के माननेवालों की ऐसी ही दयनीय दशा है"।

लेडी लोटस ने पूछा—"वेदों के विषय में आप क्या कहते हैं?"

मैंने हँसकर उत्तर दिया—"वेदों में मंत्र हैं। प्रत्येक मंत्र का एक ऋषि है। वह मंत्र उसके जीवन की अनुभूति है। प्राचीन काल के आर्य्य वेद शब्द से केवल 'ज्ञान' का अर्थ लेते थे। ईश्वरीय ज्ञान का ढकोसला बाद के ब्राह्मणों का चलाया हुआ है। वेदों में ईश्वरवाद विकास की वस्तु है। पहले आर्य्य लोग बहुत देवताओं और ईश्वर को भिन्न भिन्न रूपों में मानते थे। बाद में अनुभव से उन्होंने सीखा कि ईश्वर एक ही है।

"वे बड़े विचार-स्वतंत्रवादी थे। उनके काल में उनके ऋषि उनके वैज्ञानिक थे जो निर्लेप होकर जंगलों में रहकर सत्य की खोज करते थे और सदा यही कहते थे—

यस्या मतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः।

"यूनान के ऋषि सुक़रात की तरह वे भी अत्यन्त विनयी होकर सदा जिज्ञासु-भाव से संसार को देखते रहे और सत्य ज्ञान की खोज करते रहे।"

लेडी लोटस—"वे ऋषि-महात्मा आज-कल भी तिब्बत में रहते हैं क्या?"

मैं—"नहीं, आज-कल ऐसे महात्मा कहाँ?"

लेडी लोटस—"नहीं, ज़रूर हैं। उन्होंने मेडम ब्लेवेटस्की को स्वप्न में ज्ञान-पुस्तक दी थी और मुझे भी देने की कृपा की है।"

मैं बड़ी मुश्किल से अपनी हँसी रोक सका। मैंने समझ लिया कि लेडी रात को इन्द्रजाल का तमाशा देखती है। पर मैं क्या कहता? मैं खिड़की की ओर देखने लगा। दूर दूर मनु महाराज के वे स्वर्ण शब्द मेरा उत्साह बढ़ाने लगे। वे प्यारे शब्द जो अनादिकाल तक मानव-समाज के पथ-प्रदर्शक बने रहेंगे—

नास्ति सत्यात्परो धर्मः
नानृतात्पातकं परम्।

मैंने गम्भीर होकर लेडी लोटस से कहा—"देवी, मुझे खेद है कि मैं आपके साथ मतभेद रखता हूँ। आपका वह मिथ्या भ्रम है। आप ऐसी ऊल-जलूल बातें कदापि न मानिए।"

डाक्टर हास मुस्कराने लगे, मगर लेडी लोटस पर मानो वज्र गिर पड़ा। एक हिन्दुस्तानी से उसने ऐसी आशा नहीं की थी। लेकिन मैं तो वैसा जल्दी बहकनेवाला हिन्दुस्तानी नहीं हूँ।

डाक्टर हास ने पूछा—

"आप अपने बुद्धिवाद के अनुसार पूर्व पश्चिम को मिलायँगे ?"

यह मेरे मन के अनुकूल प्रश्न था। मैंने सन्तुष्ट होकर उत्तर दिया—

"डाक्टर जी, मैंने पश्चिम से व्यवहारवाद सीखा है और पूर्व से आदर्शवाद। मैं निकम्मी भावुकता का विरोधी हूँ और शब्दाडम्बरी कवियों और लेखकों को ऐयाश साहित्यिक मानता हूँ। नंगा पर्वत पर चढ़नेवाले जर्मन और अमरीकन मेरे पूजापात्र हैं—मेरे लिए वे कवि हैं। उन्होंने अपने गुदगुदे बिछौनों पर बैठकर पर्वतों और वनों के गीत नहीं गाये, बल्कि सत्य-ज्ञान की खोज की और प्राण दे दिये।

"मेरे लिए समुद्र की तह में पनडुब्बी-द्वारा जानेवाला तथा समुद्र में ग़ोता लगाकर उसके रत्नों की तलाश करनेवाला अधिक आदरणीय है, क्योंकि वे लोग संसार के ज्ञान को आगे बढ़ाते हैं। मगर रहस्यवादी और प्रमाणवादी उन्नति के चक्र को रोकनेवाले हैं। मेरे आदर्श वे ऋषि हैं जिन्होंने पातंजलि के योगदर्शन को मस्तक पर चढ़ाकर यम-नियमों का पालन कर समाधि को सिद्ध किया था। उन्होंने सच्चे अध्यात्मवाद-द्वारा सत्य-ज्ञान की तलाश की थी। मैं महात्मा सुक़रात पर आशिक हूँ, क्योंकि उसने बुद्धिवाद के प्रशस्त मार्ग को दिखलाया और उसके लिए विष का प्याला पी लिया। मैं भगवान् बुद्ध का प्रशंसक हूँ, क्योंकि उन्होंने प्रमाणवाद का गला घोंट कर सच्चे व्यावहारिक धर्म को फैलाया।

"मेरा बुद्धिवाद यूनान की जीवन-फ़िलासोफ़ी को ग्रहण करता है, भगवान् बुद्ध की सच्चरित्रता को लेता है और प्राचीन काल के आर्य्यों का अध्यात्मवाद मस्तक पर चढ़ाता है।

"यदि किसी प्रकार बुद्धिवाद द्वारा इन तीनों धाराओं का संगम हो जाय तो संसार का भारी कल्याण हो। अकेला बौद्ध-धर्म हमारा विकास नहीं कर सकता और न यूनानियों की जीवन-फ़िलासोफ़ी हमें सन्तुष्ट कर सकती है। बेचारा अध्यात्मवाद बिना सुन्दर शरीर के क्या काम आ सकता है? इसी लिए साम्प्रदायिक न बनकर विवेकिनी बुद्धि-द्वारा सत्य वस्तु ग्रहण करने का अभ्यास हममें होना चाहिए। दुःख यह है कि साधारण मनुष्य में खोज करने की आदत नहीं—उसे यह सिखलाया ही नहीं गया। हम मानसिक दासता की जंज़ीरों से जकड़े हुए हैं। अध्यात्मवाद में वैज्ञानिक ढङ्ग से खोज करनेवाले आचार्य्य पातंजलि संसार का भारी उपकार कर गये हैं। उन्होंने अत्यन्त रहस्यपूर्ण, गुप्त और दुरूह विषय को शीशे की तरह स्पष्ट कर मृत्यु को जीतने की कुंजी हमें दे दी है। तीस वर्षों तक निरन्तर भटकने के बाद स्वतंत्रता की खोज में तल्लीन रहने पर मुझे यह वस्तु प्राप्त हुई है। यह द्वेषरहित, निर्मल, शान्तिप्रद और विकास का पथ है। इसमें हिन्दू-मुसलमान का झगड़ा नहीं और न झूठी राष्ट्रीयता के लिए कोई स्थान है। यदि हम जन-साधारण को अपने पीछे न लगाकर उसे स्वावलम्बी बना दें, उन्हें स्वयं सोचने की आदत डलवा दें, तो वे स्वार्थी नेताओं-द्वारा क्यों लूटे जायँ।

"अतएव, डाक्टर महोदय, हमें अपनी सारी शक्ति लगाकर जनता में बुद्धिवाद का प्रचार करना चाहिए और प्रमाणवाद के विषैले प्रभाव को हटाना चाहिए।"

लेडी लोटस—"तब आपके प्रोग्राम में सेवा-धर्म करनेवाले की कोई महत्ता नहीं?"

मैं (हँसकर)—"वाह! क्यों नहीं? बुद्धिद्वारा समझ-विचार कर की हुई सेवा और बलिदान व्यक्ति को बहुत ऊँचा उठाता है, इसके विपरीत अन्धविश्वासी सेवा व्यक्ति को जड़ बना देती है। उन व्यक्तियों की सेवा और उनके बलिदान का ऐसा ही महत्त्व है, जैसे ईंटों और पत्थरों को हम किसी परोपकार के काम में लगा देते हैं। वही ईंटें और पत्थर सिर भी फोड़ देंगे। ऐसे ही अन्धविश्वासी भक्त और सेवक हत्यारे और बलिदान के बकरे भी बन जाते हैं। जागरूक बलिदान सच्चा बलिदान है। वह आत्मा को चैतन्य करता है और ज्ञान का प्रकाश देता है।"

× × × ×

डाक्टर हास और लेडी लोटस दोनों नीचे चले गये। उस सुधारस-पूर्ण एकान्त में मैंने नत-मस्तक होकर विनीत भाव से कहा—

"यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते;
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु।"

हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में भीषण भ्रान्ति और अनाचार फैलानेवाली पुस्तक—मिश्रबन्धु-विनोद (चौथा भाग) की समालोचना

मिश्रबन्धुओं की भद्दी भूलें

लेखक, देवीदत्त शुक्ल

(१)

गत पन्द्रह वर्षों के भीतर हिन्दी की अभूतपूर्व उन्नति हुई है। यहाँ तक कि वह बँगला और मराठी जैसी उच्च भाषाओं से स्पर्धा करने लगी है। वास्तव में हिन्दी में संस्कृत सुरुचि का प्रकाश और प्राञ्जल भावों का काफ़ी विकास हो गया है। फलतः उसके साहित्य में मौलिकता आ गई है। इसी से यदि कोई आदर्श और स्टैंडर्ड के विपरीत कार्य कर बैठता है तो यह आवश्यक हो जाता है कि उसका परिहार किया जाय, फिर वह 'कोई' कोई क्यों न हो। इस बार ऐसा 'अशोभन' कार्य लखनऊ के प्रसिद्ध मिश्रबन्धुओं ने कर डाला है। उन्होंने अपने 'विनोद' का जो चौथा भाग अभी हाल में छपवाया है वह भ्रान्तियों का भाण्डार है और उससे राष्ट्रभाषा हिन्दी का अपमान हुआ है।

इस समय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की अर्द्धशताब्दी मनाने का उपक्रम बड़े आयोजन के साथ हो रहा है। उसके उत्सव के अवसर पर हिन्दी के सूत्रधार हिन्दी की उन्नति के उज्ज्वल इतिहास का भी वर्णन करेंगे। काशी की 'सभा' के संस्थापकों तथा भारतेन्दुकालीन लेखकों के प्रयत्न से हिन्दी का जो यह इतना भव्य अभ्युदय हुआ है उसकी कथा उस समारोह के अवसर पर कही जायगी। परन्तु जहाँ यह सब होने की आशा की जा रही है, वहाँ मिश्रबन्धुओं ने अपने 'विनोद' का बंब चला कर एक अमंगल कार्य करने का श्रेय लूटा है। यद्यपि मिश्रबन्धुओं की किसी रचना की प्रतिकूल आलोचना करना जोखिम का काम है, उनके कोपानल में आलोचक को जीवन-पर्यन्त जलते रहने का भारी डर है, तो भी कर्तव्य की प्रेरणा से हम उनकी उस अकीर्ति-कर रचना का भण्डाफोड़ करने के कार्य से विरत नहीं हो सकते।

विनोद का यह चौथा भाग खासा बड़ा पोथा है। इसकी रचना भी विचित्र ढंग से की गई है। इसकी पृष्ठ-संख्या ६६० है। प्रारम्भ के १३६ पृष्ठों में आदिकाल के 'शेष कविगण', 'प्राचीन कविगण' और 'अज्ञातकाल' नाम के तीन प्रकरण दिये गये हैं। इनके बाद आधुनिक हिन्दी का वर्णन आता है, जो शेष ५२४ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। पुस्तक का यह अंश दो प्रकरणों में विभक्त है। एक का नाम 'पूर्व नूतन परिपाटी' और दूसरे का 'उत्तर नूतन परिपाटी' है। फिर उत्तर नूतन परिपाटी के भीतर 'आज-कल' शीर्षक एक भिन्न प्रकरण तैयार किया गया है। इस प्रकार इस विलक्षण ग्रन्थ की रचना की गई है।

उपर्युक्त प्रकरणों में तत्कालीन कवियों एवं लेखकों के साथ तत्काल की देश की राजनैतिक अवस्था का भी वर्णन किया गया है, परन्तु उसका सामञ्जस्य तत्काल की हिन्दी की प्रगति से नहीं किया गया है। इसके सिवा हिन्दी के लेखक जिस क्रम से 'उत्कृष्ट' या 'निकृष्ट' कहे गये हैं उसमें तत्सम्बन्धी कथनों के 'दृढ़ आधारों' का कहीं उल्लेख नहीं किया गया है, केवल जो मन में आया वही अंट-संट लिख दिया गया है। ऐसी दशा में उनके निराधार 'कथनों' के सम्बन्ध में कोई कुछ कहे भी

तो क्या कहे ? तो भी यहाँ हम थोड़े में उनकी कुछ भद्दी भूलों का वर्णन करेंगे, जिससे अपने आप प्रकट हो जायगा कि यह पुस्तक इतिहास की दृष्टि से कितनी अप्रामाणिक और निन्द्य है एवं इसमें 'आरोचन' का कितना अभाव है।

हम यहाँ उक्त पुस्तक के आधुनिक काल-सम्बन्धी अंश के विषय में ही अपने विचार प्रकट करेंगे। अतएव यहाँ हम पहले 'पूर्व नूतन परिपाटी' के प्रकरण को लेते हैं। इसका समय संवत् १६४५ से १६६० तक माना गया है—अर्थात् सन् १८८८ से सन् १६०३ तक। इन पन्द्रह वर्षों में हिन्दी की कैसी गति-विधि रही, इसका विवेचन पंडित रामचन्द्र शुक्ल बी० ए०, बाबू श्यामसुन्दरदास, पंडित रामशंकर शुक्ल 'रसाल', एम० ए०, पण्डित रमाकान्त त्रिपाठी एम० ए० आदि विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में बहुत कुछ किया है। परन्तु इसका जो वर्णन मिश्रबन्धुओं ने इस ग्रन्थ में किया है वह भ्रान्त, ऊल-जलूल और क्रम-रहित है। आप लिखते हैं कि स्वामी दयानन्द सरस्वती के 'ग्रन्थ-रत्न प्रलय-पर्यन्त समाज के प्रभावित करने में सक्षम रहेंगे।' (१३७ पृ०) ऐसे ही 'कथनों' से यह इतिहास मंडित किया गया है! ऊपर से भूमिका में यह दावा किया गया है कि 'इस भाग के कथनों के आधार दृढ़ हैं।' खैर, यहाँ हम उनके इस दृढ़ आधार पर स्थित 'कथन' को अतिशयोक्ति-अलंकार का एक उदाहरण माने लेते हैं।

लेखक महोदयों ने अपने ग्रन्थ में लेखकों का विवरण एक विशेष नियम के अनुसार दिया है। जब जिसका रचना-काल उन्होंने माना है, वहीं उसका उल्लेख कर दिया है, पर अपना वर्णन वे सभी जगह करते चले गये हैं। इस नियम से उनका यह फ़ायदा ज़रूर हुआ है कि 'सबल' और 'प्रवीण' लेखक पीछे पड़ गये हैं और आधुनिक सभी 'प्रकरण-कालों' में मिश्रबन्धु ही चमकते-दमकते दिखाई देते हैं।

परन्तु उक्त नियम का प्रयोग करके मिश्रबन्धुओं का चाहे जो लाभ हुआ हो, उससे हिन्दी की हानि हुई है। क्योंकि उन्होंने उसकी प्रगति का जो रूप अंकित किया है वह विकृत और अप्रामाणिक हो गया है। उदाहरण के लिए हम आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी का उल्लेख करते हैं। यह सभी लोग जानते और मानते हैं कि द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के सम्पादक रह कर लगातार अठारह वर्ष तक हिन्दी के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और उनका यह समय मिश्रबन्धुओं के 'उत्तर नूतन परिपाटी' के काल में पड़ता है। परन्तु मिश्रबन्धुओं ने इस काल के वर्णन में उनकी वास्तविक साहित्यिक 'सबलता' का भूल कर भी उल्लेख नहीं किया है। इसी प्रकार उन्होंने हिन्दी के इस अभ्युदय-काल के सभी महारथियों का विवरण यथास्थान न देकर इधर-उधर कर दिया है, जिससे हिन्दी की प्रगति के क्रम-विकास का सिलसिला ही नहीं बैठ पाता है। १४६ वें पृष्ठ में वे लिखते हैं—"रामनारायण मिश्र ने दो अन्य महाशयों के साथ योरप-यात्रा लिखी है। हम (शुकदेवविहारी मिश्र) ने भी प्रायः सवा सौ पृष्ठों की योरप-नीरोग-यात्रा प्रकाशित की है।" ये दोनों ग्रन्थ पिछले चार-पाँच वर्षों के भीतर ही प्रकाशित हुए हैं। परन्तु बुद्धिमान् लेखकों ने इनका वर्णन सन् १६०३ में समाप्त होनेवाले प्रकरण में किया है। इसी तरह इसी प्रकार पृष्ठ १६६ में लिख दिया है कि "गद्य-साहित्य के विषय में ····· श्यामसुन्दरदास ने··· ····· साहित्यालोचन में अच्छे प्रकार से प्रकाश डाला।" यह ग्रन्थ 'आजकल' के काल के प्रारम्भ में प्रकाशित हुआ था, परन्तु उसका वर्णन किया गया है 'पूर्व नूतन परिपाटी' के काल में! परन्तु ऐसी बातों की लेखकों ने कहाँ कब परवा की है।

मिश्रबन्धुओं ने लिखा है कि 'पूर्व नूतन परिपाटी'-काल के साहित्य पर राजनैतिक आन्दोलन का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। तब उस पर किस वस्तु का प्रभाव पड़ा है, इसकी उन्होंने चर्चा ही नहीं की है। चर्चा करें भी तो कैसे करें ? कल्पना कहाँ तक साथ दे ? खैर, इस काल के मुख्य साहित्य-सेवियों में 'अयोध्यासिंह उपाध्याय, जगन्नाथदास रत्नाकर, अजमेरी जी, गयाप्रसाद (सनेही), राय देवीप्रसाद (पूर्ण), देवकीनन्दन खत्री, ठाकुर गदाधरसिंह (सचेंड़ी-वाले), श्यामसुन्दरदास, व्रजनन्दनसहाय, कन्नोमल, रूपनारायण पांडेय तथा बालमुकुन्द गुप्त' का, साथ ही अपना भी उल्लेख किया है।

इस काल के सम्बन्ध में लेखकों ने लिखा है कि "सबसे बड़ी बात यह हुई कि प्राचीन प्रथावाली शृंगार-कविता का बल बहुत क्षीण पड़ गया और विविध विषयों के वर्णन अधिकता से होने लगे।" (पृ० १४०) परन्तु यह बताने की कृपा नहीं की कि किसके द्वारा यह सब सम्भव हुआ। इसके आगे उन्होंने लिखा है—"प्राचीन समय के भी कवियों में कितनों ही ने अनेकानेक ऐसे ग्रन्थ बनाये, किन्तु समय ने उत्कृष्ट रचनाओं को छोड़ शेष को अपनी उदरदरी में रख लिया है।" (पृ० १४०) यह लिखकर लेखकों को सलाह दी है—"रचयिताओं को उचित है कि बहुत-से ग्रन्थ बनाने की चेष्टा छोड़ कर विशेष परिश्रम-द्वारा थोड़े ही से ऐसे विषयों पर अच्छी पुस्तकें बनावें, जिनमें उन्हें···पात्रता हो।" (पृष्ठ १४१) यदि लेखक महोदय इस सत्परामर्श के अनुसार स्वयं कार्य करते तो आज वे कम से कम इस सम्बन्ध में हमारे अवश्य आदर्श होते। खेद है, इसका कटु अनुभव उन्हें अब इतने दिनों के बाद हुआ है। तो भी उनका यह उपदेश उपेक्षणीय नहीं है।

मिश्रबन्धुओं ने यह भी लिखा है—"मित्रों की झूठी प्रशंसा तथा शत्रुओं की ईर्ष्यापूर्ण निन्दा का प्रभाव कुछ ही काल रह सकता है।...। आज-कल दो चार स्थानों पर प्रशंसा और निन्दा के बैने-से बँटते हैं।" (पृ० १४२) इस सम्बन्ध में हम अपनी ओर से कुछ भी नहीं कहना चाहते, यद्यपि लेखक महोदयों ने यह बड़ी भेदभरी बात कही है। परन्तु यहाँ हम उनसे यह विनम्रता-पूर्वक पूछना चाहते हैं कि जिन व्यक्तियों ने हिन्दी में नाम गिनाने को कभी कोई साधारण पुस्तक तक लिखने का कष्ट नहीं किया उन्हें एक 'उत्कृष्ट लेखक' किस दृढ़ आधार पर लिख दिया है ? खैर, हम यहाँ ऐसे व्यक्तियों के नाम नहीं उल्लेख करना चाहते, क्योंकि स्वयं ग्रन्थकारों ने ही लिखा है कि झूठी प्रशंसा या निन्दा का प्रभाव स्थायी नहीं होता। और प्रशंसा सो उन्होंने अपनी तथा अपने लोगों की शतमुख से की है! जैसे श्री दुलारेलाल भार्गव को दूसरा 'भारतेन्दु' बना दिया है। कौन हिन्दी-प्रेमी यह बात नहीं जानता कि काशी के बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने हिन्दी के लिए अपना सर्वस्व दे दिया है ? और जब हमारे लेखक महोदयों को उक्त बाबू साहब जैसी हिन्दी-प्रेमी की हिन्दी-सेवा उतने महत्त्व की नहीं जान पड़ी तब 'चाँद' के प्रवर्तक श्री रामरखसिंह सहगल जिन्होंने हिन्दी में क्रान्तिकारी साहित्य के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया, किस गिनती में हो सकते हैं। यह हिन्दी का दुर्भाग्य है कि ऐसी मनोवृत्ति के लोग ही उसके अगुआ बने हुए हैं!

निबन्धकारों की चर्चा करते हुए लिखा है—"हमने आत्मशिक्षण नामक दो ढाई सै (?) पृष्ठों का निबन्ध लिखा जो द्वितीयावृत्ति को पहुँच चुका है। हिन्दू-धर्म पर हमारे निबन्ध सुमनाञ्जलि तथा भारतवर्ष के इतिहास के प्रायः चार सै (?) पृष्ठों पर विस्तृत हैं। हम . ने हिन्दी-साहित्य का भारतीय इतिहास पर प्रभाव नामक एक और निबन्ध पटना-विश्वविद्यालय के लिए लिखकर वहीं व्याख्यानों के रूप में पढ़ा।" ऐसी दशा में यदि बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र के निबन्ध 'उत्कर्ष'-हीन माने जायँ तो क्या आश्चर्य! वे बेचारे इतने बड़े बड़े निबन्ध किस बलबूते पर लिखते? ठीक है महाराज! सचमुच 'महावीरप्रसाद द्विवेदी' और 'गंगाप्रसाद अग्निहोत्री' के निबन्ध 'अनुवाद'मात्र हैं। 'कन्नोमल' के निबन्धों में मौलिकता की कमी है। शेष लोगों ने कुछ लेख जैसे ही निबन्ध लिखे हैं। और ये आपकी रचनाओं के आगे कहाँ ठहर सकते हैं? तब निबन्धकारों में भी आप लोग ही सर्वेसर्वा हैं।

और भी देखिए। आप लोग लिखते हैं—

"महावीरप्रसाद द्विवेदी ने लाला सीताराम की एक पुस्तिका की समालोचना लिखी, किन्तु वह वास्तव में समालोचना न होकर व्याकरण-सम्बन्धी दोष-प्रदर्शन मात्र था,......कालिदास की निरंकुशता .. प्रयोगों पर विचार का निबन्ध-मात्र है। ... नैषधचरितचर्चा में समालोचना का कुछ रूप आया है, किन्तु वह भी सर्वाङ्ग-पूर्ण नहीं है।... भाव तक नहीं पहुँचता। हम लोगों ने हिन्दी नवरत्न तथा मिश्रबन्धुविनोद में...समालोचनायें कुछ विस्तृत रूप में लिखीं, तथा केवल सम्मति न देकर कवियों की रचनाओं से.. अपने कथनों को पुष्ट करने का प्रयत्न किया।" (पृष्ठ १६४)

मतलब स्पष्ट है, क्योंकि आगे खोलकर लिख दिया है कि 'पद्मसिंह' 'पक्षपातपूर्ण', 'लाला भगवानदीन' 'दुराग्रही' हैं और 'श्यामसुन्दरदास' के विचार निराधार हैं। तब कौन रह गया ? इस क्षेत्र में भी आप लोग 'सिरमौर' हो गये। पौरुष हो तो ऐसा हो !

'सबसे प्राचीन इतिहास-लेखक' म० महो० राय बहादुर पण्डित गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा के सम्बन्ध में लिखते हुए लेखकों ने अपने सौहार्द्र और शिष्टता का बड़े सुन्दर ढंग से परिचय दिया है। आप लोगों ने लिखा है—

"अजमेरवाले अजायबघर के क्यूरेटर हैं। इतिहास ......जीविका का साधन है। आपने कई अच्छे इतिहास-ग्रन्थ रचे हैं।...अँगरेज़ों की भाँति भारतीय गण्यमान्य महाशयों अथवा ग्रन्थों को कल्पित प्रमाणित करने में आपको कुछ आनन्द-सा आता है।" और उनकी उपपत्तियों का खण्डन न कर सकने पर आप लोगों को क्या आता है ? आप लोग भी इतिहासकार होने का दावा करते हैं ! लिखते हैं—"हम...ने दो भागों में इतिहास रचा। पहले खण्ड में प्रायः ५०० पृष्ठों में ६,००० सं० पूर्व से ६०० सं० पूर्व तक विवरण तथा दूसरे में ६०० सं० पूर्व से मुसलमान-विजय तक का।...इनके अतिरिक्त दो और छोटे छोटे इतिहास-ग्रन्थ हम...ने लिखे, तथा कई का सम्पादन किया।"

सचमुच ओझा जी ने भारत के एक प्रान्त का इतिहास लिखा है ! तब वे आप लोगों के आगे कहाँ ठहर सकते हैं ?

(३)

'उत्तर नूतन परिपाटी'-काल संवत् १९६१ से संवत् १९७५ तक अर्थात् सन् १९०४ से सन् १९१८ तक माना गया है। और यही हिन्दी में 'द्विवेदी-युग' कहलाता है। परन्तु इस ग्रन्थ के रचयिताओं ने इस काल के वर्णन में उनका उल्लेख केवल एक स्थान पर और सो भी उन्हें 'अदूरदर्शी' ठहराने के लिए किया है। साहित्य की प्रगति के बारे में उनका कहीं नाम तक नहीं लिया है। नाम कैसे लें ? द्विवेदी जी न निबन्धकार हैं, न अनुवादक हैं, न कवि हैं, न ग्रन्थकार हैं, न सम्पादक हैं। तब उल्लेख करें तो कैसे करें ? झूठी प्रशंसा या निन्दा का मूल्य उन्हें मालूम ही है। वे किसी की झूठी प्रशंसा या निन्दा कैसे कर सकते हैं ? उनके यहाँ उनका 'बैना' भी नहीं बाँटा जाता। तब यदि 'उत्तर नूतन परिपाटी' के असली निर्माता का उसके वर्णन में उल्लेख न हो तो यह किसी तरह का अभाव न होगा। बहुत ठीक है !

लखनऊ के ये शिष्ट लेखक अपने गुरुजनों के सम्बन्ध में कितना मुँहफट हैं, इसका एक नमूना और देखिए। उत्तर नूतन काल में भी भारतेन्दुकालीन लेखकों की मौजूदगी का उल्लेख करते हुए आप लोगों ने लिखा है—"चाहे उनमें उतनी कवित्व-शक्ति न हो, तो भी प्राचीनता के कारण उनकी मर्यादा विशेष है, और स्वयं वे तथा अन्य साहित्यानुरागी उनकी महिमा कभी कभी उचित से अधिक कहते हैं।"

भारतेन्दुकालीन उन लेखकों को हम नहीं जानते। हाँ, मिश्रबन्धुओं को जानते हैं। वे हमारे लिए उन्हीं की तरह प्राचीन लेखक भी हैं। अतएव भारतेन्दुकालीन लेखकों के सम्बन्ध में उन्होंने जो यह सब लिखा है वह हमारे विचार में तो वस्तुतः उन्हीं पर घटित होता दिखाई देता है। और हमारे इस 'कथन' का 'दृढ़ आधार' स्वयं उनका यह भव्य ग्रन्थ है।

इस प्रकरण में भी पूर्व-प्रकरण की तरह देश की राजनैतिक अवस्था तथा किसी दूसरी बात का परिचय देते हुए साहित्य का प्रसंग उठाया गया है। परन्तु इस प्रकार के वर्णन में अनेक स्थानों में विशृंखलता आ गई है। जैसे—

"खड़ी बोली में इस काल मैथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानन्दन पंत, रामनरेश त्रिपाठी, लोचनप्रसाद, गोविन्दवल्लभ पंत, चतुरसेन शास्त्री, वियोगी हरि आदि उत्कृष्ट लेखक हैं। अंतिम दो महाशय गद्य-काव्य के भी भारी रचयिता माने जा सकते हैं। छायावाद का कथन पहले अलंकार-द्वारा होता था। इसे अन्योक्ति कहते हैं। कई कवियों ने अन्योक्ति पर कविता की है। व्यंग्य का विषय भी इसी से मिलता है। प्रतापसाहि ने व्यंग्यार्थ-कौमुदी नामक ग्रन्थ ही बनाया था,

और बाबा दीनदयाल गिरि ने अन्योक्ति-कल्पद्रुम रचा। कबीरदास ने उल्टबाँसी आदि में बहुत कुछ अन्योक्ति-गर्भित रचना की। जायसी, कुतबन शेख़ आदि अनेकानेक सूफ़ी कवियों ने अपने कथा-प्रासंगिक ग्रन्थों का कथा-विभाग छायावाद-गर्भित रक्खा। ब्लेक, उमर-ख़ैयाम आदि भी ऐसे ही कवि हैं। वर्ड्सवर्थ, शेली आदि ने भी कुछ इसी प्रकार के कथन किये। कीट्स ने प्रकृति और सौन्दर्य का अच्छा अवलोकन किया। महाकवि रवीन्द्र महाशय भी कुछ ऐसी ही रचना करते हैं। उत्तर नूतन परिपाटी-काल में ही वर्तमान छायावाद का प्रचार हिन्दी में हुआ। जयशङ्करप्रसाद, मोहनलाल महतो तथा सुमित्रानन्दन पन्त इस काल के मुख्य छायावादी कवि हैं। निराला जी भी ऐसी ही रचना करते हैं, किन्तु केवल एक साल के अन्तर के कारण इनका विवरण आगे के अध्याय में आवेगा। रहस्यवादी कवियों में कुछ कुछ आध्यात्मिकता, साम्प्रदायिकता आदि प्रायः रहती हैं, यद्यपि अन्योक्ति के लिए किसी विशिष्ट विषय की आवश्यकता नहीं है। सबसे प्राचीन छायावादी साहित्य स्वयं वेद भगवान् में है।" (पृष्ठ ३३१)

यह लम्बा अवतरण हमने जानबूझ कर उद्धृत किया है। इससे यह भी अन्दाज़ लग जायगा कि इस ग्रन्थ में किस तरह की बे-सिर-पैर की बातें लिखी गई हैं।

लेखक महोदयों ने संस्कृत-बहुल हिन्दी की बार बार निन्दा की है। एक जगह वे लिखते हैं—"किन्तु पीछे से कुछ कवियों आदि ने इसमें अधिकाधिक संस्कृत-शब्दों का प्रयोग बढ़ाया, सो हमारी उच्च श्रेणी की समझी जानेवाली हिन्दी लोक-भाषा से दिनों दिन अधिकाधिक दूर होती जाती है, जिससे इसकी प्रतियोगिनी उर्दू का प्रभाव नगर-निवासी हिन्दुओं पर से शिथिल होने के स्थान पर दृढ़ हो रहा है।"

पर-उपदेश-कुशलता का यह एक सुन्दर नमूना है। एक ओर निन्दा तो करते हैं संस्कृत हिन्दी की, पर लिखते हैं ख़ुद वैसे ही। इसी वाक्य में आधे के लगभग संस्कृत-शब्द हैं। बलिहारी है इस 'आरोचन' की!

(४)

'उत्तर नूतन परिपाटी' के काल में 'आज-कल' के एक नये शीर्षक के साथ पिछले १५ वर्ष की प्रगति का वर्णन किया गया है। इस 'आज-कल' की विवेचना में ८ पृष्ठ खर्च किये गये हैं। इनमें तीन पृष्ठों में महात्मा जी की प्रशंसा और कांग्रेस के आन्दोलन का वर्णन किया गया है। परन्तु यह नहीं बताया गया है कि उनका साहित्य पर कहाँ तक प्रभाव पड़ा है। इससे यह वर्णन भी अनुपयुक्त-सा लगता है। परन्तु इस पुस्तक की रचना में पूर्वापर का ध्यान ही कहाँ रक्खा गया है ? ख़ैर, शेष पाँच पृष्ठों में आज-कल के कोई ६५ लेखकों की नामावली गिनाई गई है और उनकी विशेषताओं का भी संकेत किया गया है।

अत्यन्त खेद की बात है कि यह नामावली अपूर्ण ही नहीं है, किन्तु इस बात का भी पता देती है कि मिश्रबन्धुओं का ज्ञान किस श्रेणी के लेखकों या कवियों तक सीमित है। इस प्रकरण को पढ़ने के बाद ही हमने अपनी याददाश्त से ५५ साहित्यकारों की एक सूची तैयार की जिनके नाम उक्त नामावली में क्या, इस पुस्तक में ही नहीं आये। लोग कह सकते हैं कि मिश्रबन्धुओं की निगाह में वे सुलेखक या कवि न होंगे। परन्तु जब उन्होंने उन लोगों के नाम प्रशंसा के साथ छापे हैं जिन्होंने हिन्दी में एक भी पोथी नहीं लिखी है तब यह उत्तर कैसे मान्य हो सकेगा ? फिर हमारी सूची के लोग वास्तव में हिन्दी के क्षेत्र में अपना विशेष स्थान रखते हैं। और हमारा यह कथन भी दृढ़ आधार पर स्थित है।

अच्छा तो अब मिश्रबन्धुओं की उस सूची का नमूना देखिए। उन्होंने 'देशभक्तों में महात्मा जी के पीछे गणेशदत्त शर्मा, वशिष्ठनारायण, मनोरञ्जनप्रसाद तथा श्री रत्न शुक्ल' का नाम दिया है। आश्चर्य की बात है कि गत १५ वर्षों के भीतर यही तीन उत्कृष्ट देशभक्त कवि या लेखक हुए जब कि इन १५ वर्षों में सारे देश में देशभक्ति का तूफ़ान आया हुआ था। परन्तु क़लम तो मिश्रबन्धुओं के हाथ में है। वे जहाँ चाहें जिसका नाम लिख दें। नहीं तो पण्डित गोकुलचन्द्र शर्मा ऐसे कौन बुरे थे जिन्होंने

देशभक्तिपूरित महाकाव्य तक लिख डाले और इस भव्य ग्रन्थ में उनका नाम तक न लिया गया। परन्तु यह छान-बीन करे कौन ? जो ध्यान में आया लिखा, हटाया।

व्याख्याताओं में लेखकों ने एक भी हिन्दी-भाषी को दाद नहीं दी। लिख दिया—'महात्मा जी से इतर कोई मुख्य नाम नहीं है।' बहुत ठीक फ़र्माया है !! सचमुच हिन्दी में कोई व्याख्याता नहीं है। कर्मवीर सुन्दरलाल, पण्डित कृष्णकान्त मालवीय, स्वर्गीय कालाकाँकर-नरेश अवधेशसिंह, देशरत्न राजेन्द्र बाबू, स्वामी सत्यदेव, भाई परमानन्द, पण्डित गौरीशङ्कर मिश्र, कुँवर रणञ्जयसिंह आदि प्रसिद्ध वक्ता क्या अँगरेज़ी के व्याख्याता होने के कारण समाज में समादृत होते हैं ? मिश्रबन्धुओं की यह निस्सन्देह अनोखी सूझ है।

हास्य-रस के लेखकों में पण्डित बदरीनाथ भट्ट को प्रधान स्थान दिया गया है, परन्तु 'आज-कल' के काल में जो व्यक्ति हास्य-रस का एक विशिष्ट लेखक माना जाता है उसका नाम उन्होंने अपनी पुस्तक के एक कोने में भी देना उचित नहीं समझा। जिसने बाबू अन्नपूर्णानन्द की रचनायें पढ़ी हैं उसे यदि 'विनोद' में वर्मा जी का उल्लेख न मिलेगा तो वह यही कहेगा कि लेखकों को साहित्य की वर्तमान प्रगति का ज़रा भी पता नहीं है। अन्नपूर्णानन्द जैसे उत्कृष्ट लेखक की चर्चा न करके लेखक महोदयों ने यही व्यक्त किया है कि उन्होंने यों ही यह किताब लिख डाली है, कोई जाँच-पड़ताल नहीं की है।

शास्त्रकारों में 'धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, प्रसिद्धनारायण सिंह, अवधकिशोर वर्मा तथा चन्द्रशेखर शास्त्री' के नाम गिनाये गये हैं। परन्तु जिन बाबू सम्पूर्णानन्द, बाबू मुकुन्दीलाल, डाक्टर प्राणनाथ विद्यालंकार, डाक्टर गोरखप्रसाद, डाक्टर त्रिलोकीनाथ वर्मा आदि महानुभावों ने वास्तव में आधुनिक शास्त्रों पर महत्त्वपूर्ण मौलिक ग्रन्थ लिखे हैं उनके नाम तक इस विशाल ग्रन्थ में निर्देश नहीं किये गये हैं। यह कितने परिताप की बात है !!

नाटककारों में 'मधुवनी, हरद्वारप्रसाद तथा बलदेवप्रसाद मिश्र' का तो उल्लेख हुआ है, पर पण्डित लक्ष्मीनारायण मिश्र का कहीं नाम भी नहीं आ पाया है। इनके सात नाटक अब तक निकल चुके हैं, जिनमें एक नाटक की भूमिका इलाहाबाद-यूनीवर्सिटी के अँगरेज़ी-विभाग के प्रधान अध्यापक पण्डित अमरनाथ झा ने लिखी है। पर मिश्रबन्धुओं को इस बात का कहाँ पता कि कौन कहाँ क्या लिख रहा है ? औपन्यासिकों में 'ईश्वरीप्रसाद शर्मा, निराला जी, मधुवनी, सूर्यानन्द, लक्ष्मीनारायणसिंह 'सुधांशु', के नाम हैं और आख्यायिकाकारों में 'जनार्दन झा एवं धन्यकुमार' हैं। परन्तु औपन्यासिकों में पण्डित भगवतीप्रसाद वाजपेयी, श्री शम्भूदयाल सक्सेना, पण्डित गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश', बाबू परिपूर्णानन्द वर्मा, बाबू ऋषभचरण जैन, श्री विश्वनाथसिंह शर्मा, श्रीमती ज्योतिर्मयी ठाकुर आदि की चर्चा तक नहीं की, यद्यपि इन सबने मौलिक उपन्यास लिखकर यश का अर्जन किया है। और कहानी-लेखकों में श्री विनोदशङ्कर व्यास, श्री अज्ञेय, श्री पदुमलाल बख्शी, पण्डित ज्वालादत्त शर्मा, श्री दुर्गानारायणसिंह, श्री श्रीगोपाल नेवटिया, श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, श्री विश्वम्भरनाथ जिज्जा, श्री सत्यजीवन वर्मा आदि को साफ़ उड़ा दिया है। सत्कवियों में 'निराला जी, रामलोचन शर्मा, गयाप्रसाद 'श्री हरि', रामाज्ञा द्विवेदी, पिंगलसिंह, काशीनाथ द्विवेदी, रामसहाय पाँड़े, रामशङ्कर 'रसाल', उदयशङ्कर, प्रफुल्लचन्द्र ओझा, उमाशङ्कर 'उमेश', वैद्यनाथ मिश्र, जगन्नाथ मिश्र गौड़, भुवनेश्वरसिंह, रामचन्द्र शर्मा, रामचन्द्र शुक्ल 'सरस', अनूप, रमाशङ्कर मिश्र, हृदयेश, अवधविहारी श्रीवास्तव, नन्दकिशोर झा, भगवतीचरण वर्मा' के नाम गिनाये हैं। परन्तु श्री आनन्दीप्रसाद श्रीवास्तव, पण्डित भगवानदीन पाठक, पण्डित ललिताप्रसाद सुकुल एम० ए०, श्री बलदेवप्रसाद खरे, पण्डित शान्तिप्रिय द्विवेदी, डाक्टर सत्यप्रकाश, श्री अज्ञेय, श्री नरेन्द्र आदि का कहीं उल्लेख नहीं हुआ है।

अनुवादकर्ताओं में 'इक़बाल वर्मा और धन्यकुमार जैन' का उल्लेख किया है, पर श्री सन्तराम बी० ए०, श्री राहुल सांकृत्यायन आदि का नाम तक नहीं लिया गया है।

समालोचकों में 'कृष्णविहारी मिश्र और सरस कथनीय' कहा है। इधर तुलसीदास पर आलोचना

लिखनेवाले कामदार महाशय, गद्य-मीमांसा लिखनेवाले पण्डित रमाकान्त त्रिपाठी एम० ए०, प्रसाद जी के नाटकों की आलोचना लिखनेवाले पण्डित रामकृष्ण शुक्ल एम० ए०, श्री कृष्णानन्द तथा पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी एम० ए० आदि का उल्लेख तक नहीं किया। और तो और विचारपूर्ण समालोचना लिखने की परिपाटी डालने वाले सरस्वती के भूतपूर्व सम्पादक श्री पदुमलाल बख्शी बी० ए० का तो नाम तक कहीं नहीं लिया गया है।

यही क्यों, भूगोल के सम्पादक प्रसिद्ध पर्यटक पण्डित रामनारायण मिश्र बी० ए०, आयुर्वेद-विषय के ग्रन्थकार पण्डित जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, श्री हरिदास वैद्य, पण्डित हनूमानप्रसाद वैद्य-शास्त्री, विज्ञान के सम्पादक और साहित्य-सम्मेलन के मुख्य कार्यकर्ता प्रोफ़ेसर ब्रजराज, विज्ञान के कई ग्रन्थों के लेखक डाक्टर सत्यप्रकाश एवं इतिहास-कार श्री हरविलास सारदा, महाराजकुमार रघुवीरसिंह एम० ए०, एल-एल० बी०, ग़दर के इतिहास के लेखक श्री शिवनारायण जी एवं पण्डित गंगाशंकर मिश्र एम० ए० तथा ईरान-यात्रा के लेखक श्री महेशप्रसाद, मौलवी आलिम फ़ाज़िल, श्रीराम वाजपेयी, 'अक्षर-विज्ञान' और 'वैदिक सम्पत्ति' के लेखक, पण्डित रघुनन्दन शर्मा, 'भगवान् कृष्ण' के लेखक पण्डित चमूपति एम० ए०, आचार्य देव शर्मा, श्री जयदयाल गोयन्दका, महात्मा भोले बाबा, श्री ज़हूरबख्श, श्री एन० सी० मेहता, पण्डित रामकिशोर मालवीय, श्री सत्यभक्त, श्री सत्यव्रत, श्री आनन्द भिक्षु, श्री राधामोहन गोकुलजी, श्री नारायणप्रसाद अरोड़ा, भाषा-विज्ञान के लेखक श्री नलिनीमोहन सान्याल एम० ए०, श्री पारसनाथसिंह, प्रसिद्ध लेखक श्रीराम शर्मा आदि लेखकों एवं ग्रन्थकारों का इस ग्रन्थ में उल्लेख न होने से इस पुस्तक में कितनी भारी कमी आ गई है, यह सोचने की बात है। ये जो थोड़े नाम हमने यहाँ गिनाये हैं, योंही अलल-टप्पू नहीं, ये सर्वविदित हैं। और यही नाम इस पुस्तक में नहीं दिये गये हैं। यह हाल है 'आज-कल' के प्रकरण का ! तब इसके पहले के प्रकरणों से सम्बन्ध रखनेवाले कवियों और लेखकों का नाम देने तथा उन्हें उत्कृष्ट या निकृष्ट बनाने में जो धींगा-धींगी हुई होगी, उसकी तो थाह न होगी। यह पुस्तक ऐसी ही अधूरी और असुन्दर पुस्तक है।

(६)

अब यहाँ हम कुछ फुटकर भ्रान्तियों का उल्लेख करेंगे। इनके देखने से मालूम हो जायगा कि हिन्दी के इन धुक्कड़ लिक्खाड़ों ने हिन्दी के क्षेत्र में कितनी ग़लत फ़हमी फैलाने की दुश्चेष्टा की है।

नं० ३५६४ में 'सुन्दरलाल जी कटरा, प्रयाग' का ज़िक्र है। इन्हें 'भारत में अँगरेज़ी राज्य' का कर्ता और देशभक्त राष्ट्रीय कार्य-कर्त्ता लिखा है। इस कथन का सम्बन्ध कर्मवीर सुन्दरलाल से है जिनकी वाग्मिता एवं साहित्य-सेवा पर इस पुस्तक में धूल डालने की ढिठाई की गई है। कौन नहीं जानता कि कर्मवीर सुन्दरलाल एक देश-भक्त संन्यासी हैं, हिन्दी के वक्ताओं में अद्वितीय हैं। साथ ही एक कुशल सम्पादक रहे हैं एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का भी प्रणयन किया है। परन्तु ग्रन्थकारों ने उन्हें बाल-साहित्य के पुराने लेखक पण्डित सुन्दरलाल द्विवेदी के नाम में निहित करके अपनी विमल बहुज्ञता का परिचय दिया है।

नं० ३५१४ में तथा नं० ३५७९ में दामोदरसहायसिंह 'कवि-किंकर' का दो बार उल्लेख किया गया है। और मज़ा यह कि विवरण भिन्न भिन्न दिया गया है।

नं० ३६२४ में (महाराज) जवानसिंह (जी) के परिचय में लिखा है—महाराज पृथ्वीसिंह के पुत्र तथा वर्तमान महाराजा के पिता थे। कहाँ के वर्तमान महाराज, यह लिखना शायद उचित नहीं समझा गया।

नं० ३६११ के 'चन्द्रशेखर शास्त्री प्रयागनिवासी ......दर्शन-शास्त्री हैं'। नहीं साहब केवल 'साहित्याचार्य' हैं।

नं० ३६१५ के 'रामचन्द्र शुक्ल, मिर्ज़ापुर,......कवि एवं लेखक हैं। मिश्रबन्धु नाम सुनते ही जामे बाहर हो जाते हैं। और बातों में उच्च कोटि के लेखक और समालोचक हैं।' हम शुक्ल जी को एक शान्त और गम्भीर व्यक्ति समझते थे। यह जानकर किसे आश्चर्य न होगा कि वे किसी का नाम भर सुनने से जामे से बाहर हो जाते

है। क्या खूब! वह भाषा का इतिहास किस काम का जिसमें व्यक्तिगत 'रँड़हाव-भतरहाव' की पुटें बीच बीच में चमकती-दमकती न दिखाई दें। शुक्ल जी ने हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखकर बुरा किया। यदि उसमें उन्होंने मिश्रबन्धुओं को उत्कृष्ट समालोचक नहीं स्वीकार किया तो यह केवल एक मतभेद भर ही हुआ। परन्तु मिश्रबन्धु उनकी इस 'कृतघ्नता' को कैसे क्षमा कर सकते हैं? इसी से इस स्थल पर हिन्दी के इस तपस्वी विद्वान् की शिष्टता का उपमर्दन किया गया है।

नं० ३६२६ में सूर्यप्रसाद जी त्रिपाठी नाम के बाराबंकी के देहात के एक कवि का कथन हुआ है। उनकी कविता के तीन नमूने दिये गये हैं। इनमें दो मिश्रबन्धुओं की प्रशंसा में हैं। उनमें एक इस प्रकार है —

कोई कहे हिन्दी की महानता के सागर में
ओज मुकुता की यह सीप शुभ्र साँची है।
कोई कहे कवियों की कल्पना में भारती के—
भावों की छिटक रही छटा जग जाँची है।
किन्तु मिश्रबन्धु जी कहेंगे हम भारत में
भ्रांति रजनी ने जहाँ श्याम रेख खाँची है।
प्रतिभा महान थे तुम्हारी लेखनी की वहाँ
गौरव दिनेश की किरण बन नाची है।

दोहाई कवि जी की! ऐसा नहीं है। इससे सरस्वती देवी का अपमान होता है। और नहीं, उनके इस विनोद का ही एक बार अवलोकन कर लीजिए। यह तो भ्रान्तियों का पिटारा है। इसमें तो उनकी प्रतिभा जुगनू की भी भाँति टिमटिमाती हुई नहीं देख पड़ती, 'दिनेश की किरण' होना तो दूर रहा।

नं० ३६४१ में 'गोविन्दवल्लभ पन्त' का उल्लेख है। पन्त जी वहीं लखनऊ में गंगा-पुस्तक-माला में बहुत दिन से काम करते हैं। परन्तु ग्रन्थकारों ने उन्हें इन प्रान्तों के सर्व-प्रधान लोकनेता पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्त के रूप में ही देखा-जाना है। इसी से उन्होंने साहित्यिक गोविन्द-वल्लभ पन्त जी को 'राजनैतिक कामों में बहुत व्यस्त' बताकर अमर कवि के पद से वञ्चित कर दिया है। मिश्र-बन्धुओं की तर्क-प्रणाली का यह एक अनोखा नमूना है।

नं० ३६५६ में 'रामचन्द्र टंडन' का कथन है। विवरण में लिखा है—'आप नागरी-प्रचारिणी सभा में अच्छा काम करते हैं'। यह कितना अनर्गल कथन है! काशी की सभा में रामचन्द्र वर्मा अच्छा काम करते हैं। रामचन्द्र टंडन तो हिन्दुस्तानी एकेडेमी में 'अच्छा' काम करते हैं जिससे मिश्रबन्धु सबसे अधिक परिचित भी हैं। 'दृढ़ आधार' के कथन का सचमुच यह एक सुन्दर नमूना है!

नं० ३६८४ में 'जगद्विहारी सेठ' के रचित ग्रन्थ इस प्रकार गिनाये गये हैं—(१) प्राचीन भारत के उपनिवेश, (२) वाटरलू का युद्ध, (३ प्राकृतिक दृश्य, (४) बंबई-प्रान्त का पर्यटन, (५) वसविहीन लंदन, (६) पदार्थ किस प्रकार बना है, (७) बिजली के लैम्प, (८) बिजली की चालक शक्ति। वास्तव में ये लेख हैं। परन्तु अपनी बहुज्ञता से मिश्रबन्धुओं ने इन्हें ग्रन्थ बना दिया है। इस पुस्तक में उन्होंने ऐसा ही गोरखधन्धा किया है।

नं० ३६६६ में 'राहुल सांकृत्यायन' का उल्लेख है। परिचय में लिखा है—आपका कोई ग्रन्थ हमारे देखने में नहीं आया। देखने में कैसे आवे? आप कभी कोई ग्रन्थ देखते भी हैं? यदि यही बात होती तो आपका यह ग्रन्थ इस तरह ऊल-जलूल क्यों लिखा जाता? राहुल जी ने बुद्धचर्या, मज्झिमनिकाय और तिब्बत-यात्रा जैसे विशाल-काय महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखकर हिन्दी की अपूर्व सेवा की है। परन्तु मिश्रबन्धु ऐसी आधुनिक रचनायें कहाँ पढ़ते हैं? वे तो पुराने ढंग की कविताओं, आख्यायिकाओं आदि के पढ़ने का ही प्रायः आनन्द लिया करते हैं। इसी से इस प्रकार के लेखकों की चर्चा भी उनके इस ग्रन्थ में ढूँढ़-ढूँढ़कर की गई है।

नं० ४००२ में 'सुमित्रानन्दन पन्त' का उल्लेख है। मिश्रबन्धु पन्त जी के कवित्व पर अत्यन्त मुग्ध हैं और उन्हें वर्तमान समय का सर्वोत्कृष्ट कवि समझते हैं। उन्होंने उनकी रचनाओं में 'वीणा', 'पल्लव' और 'गुञ्जन' का उल्लेख किया है और लिखा है कि ये 'तीनों ग्रन्थ हमारे देखे हुए हैं।' परन्तु उनका यह कथन भ्रान्त है, उन्होंने पन्त जी का कम से कम गुञ्जन नहीं देखा है। नहीं तो वे 'गुञ्जन' के 'नाटक' बताने की भूल न करते। पंत जी के

नाटक का नाम 'ज्योत्स्ना' है। परन्तु मिश्रबन्धु ऐसी क्षुद्र भूलों की कहाँ परवा करते हैं?

नं० ४०१७ में 'अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी' का ज़िक्र है। लिखा है—'नृसिंह, हिन्दीबंगवासी एवं हितवार्ता का सम्पादन किया'। वाजपेयी जी ने दैनिक भारतमित्र और बाद को दैनिक स्वतन्त्र भी निकाला। 'हिन्दीकौमुदी' नाम का एक उत्कृष्ट व्याकरण तथा 'शिक्षा' नाम की एक उत्तम पुस्तक बँगला से अनूदित की। परन्तु हिन्दी के ऐसे महारथी भी मिश्रबन्धुओं की दृष्टि में उपेक्षा के पात्र ही ठहरते हैं, क्योंकि वाजपेयी जी ने कभी उनकी हाँ में हाँ नहीं मिलाई।

नं० ४१०५ में 'भोलानाथ राधावल्लभी' का उल्लेख है। ग्रन्थ के नाम में 'स्फुट पद' हैं। विवरण में लिखा है—'हिन्दी-साहित्य को ऐसी ऐसी पुस्तकों की बड़ी ही आवश्यकता है। बाबू साहब ने एक बड़े अभाव की पूर्ति की है। आपने अमेरिका और जापान जाकर विद्या पढ़ी थी।' इस कथन को पढ़कर कौन नहीं कह उठेगा कि यह पुस्तक पीनक की झोंक में लिखी गई है।

नं० ४११२ में हिन्दी के प्रसिद्ध कवि 'रामचरित उपाध्याय' का उल्लेख हुआ है और उनका निवास-स्थान 'आज़मगढ़' के बजाय नरसिंहगढ़, मालवा, बताया गया है। जब हमारे बड़े बड़े साहित्यिकों के सम्बन्ध में इस तरह की ग़लत बातें लिखी गई हैं तब नगण्य और साधारण लेखकों के सम्बन्ध में तो और भी ऊटपटाँग लिखा गया होगा।

नं० ४२३८ में 'डाक्टर बेनीप्रसाद' का उल्लेख है। उनके सूरदास, जहाँगीरशाह (?) (अँगरेज़ी में) और हिन्दोस्तान की पुरानी सभ्यता नाम के ग्रन्थ बताये गये हैं। पर डाक्टर साहब ने सूरदास नाम का ग्रन्थ हिन्दी में नहीं लिखा है। 'संक्षिप्त सूरसागर' अलबत्ता संकलित किया है।

परन्तु किया क्या जाय? ग्रन्थप्रणेता बनने की हविस से मिश्रबन्धु लाचार हैं। न साहित्य का ज्ञान है, न उसकी वर्तमान अवस्था का ही उन्हें पता है, तो भी ग्रन्थ-प्रणेता बनने का लोभ संवरण नहीं कर सकते। तब तो उनसे

फा. ६

वैसी भयंकर भूलें होवेंगी ही जो थर्ड क्लास के भी लेखक न करेंगे।

नं० ४२८७ में गणेशदत्त शर्मा गौड़, उपनाम 'इन्द्र' का उल्लेख हुआ है। इन्हें लेखकों ने 'सफल सम्पादक' की उपाधि दे डाली है। जान पड़ता है, लेखक महोदय 'इन्द्र' उपनाम देखकर धोखा खा गये हैं। बलिहारी है इस साहित्य-विदग्धता की।

नं० ४३७५ में रामचन्द्र शुक्ल (सरस) का उल्लेख है। इनको लेखकों ने 'एम० ए०' लिख दिया है। न मालूम किस 'दृढ़ आधार' पर यह बात उन्होंने लिखी है? क्या सरस जी द्वारा सम्पादित उनके भाई के उस ग्रन्थ में जो रावराजा साहब को समर्पित किया गया है, उन्होंने अपने को एम० ए० लिखा है या यह लेखकों की उदारता का एक अभिनव नमूना है? इसका रहस्य भगवान् ही जानें।

नं० ४३७६ में कानपुर के 'हृदयेश' जी का उल्लेख किया है और उन्हें 'आज काल के परमोत्कृष्ट कवि' माना है। बहुत खूब! परन्तु मिश्रबन्धु अपने इस 'परमोत्कृष्ट' कवि से, जान पड़ता है, परिचित तक नहीं हैं। अन्यथा उन्हें 'त्रिपाठी' न लिखते। वे खरे 'पाण्डेय' हैं। यदि रचनायें पढ़ी होंगी तो उनके साथ 'त्रिपाठी' नहीं, 'पाण्डेय' ही पढ़ने को मिला होगा। पर यदि ये त्रिपाठी जी कोई दूसरे 'हृदयेश' हों तो हम अपना यह कथन वापस लेते हैं और हिन्दी में 'हृदयेश त्रिपाठी' नामक एक सर्वोत्कृष्ट कवि पैदा कर देने के लिए मिश्रबन्धुओं को धन्यवाद देते हैं।

नं० ४३८३ में 'लक्ष्मीनारायण गुप्त अमौलिक' का उल्लेख है। अमौलिक जी का नाम अभी हिन्दी में नहीं हुआ, पर मिश्रबन्धुओं ने उनकी अप्रकाशित पुस्तकें पढ़ कर उन्हें 'श्रेष्ठ समालोचक' लिख दिया है। पिछले वर्ष अमौलिक जी के हमें दर्शन हुए थे। आप मिश्रबन्धुओं के भक्त हैं। आप ने उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ अर्पित करने का एक उपयुक्त प्रस्ताव हमसे किया था। तब यदि वे इस तरह प्रसिद्ध किये गये हैं तो यह स्वाभाविक ही है।

नं० ४५०६ में 'जैनेन्द्रकिशोर' का उल्लेख हुआ है। इसी पुस्तक में इनका उल्लेख अन्यत्र दो स्थानों में हुआ है।

(७)

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से पाठकों को पता लग गया गा कि मिश्रबन्धुओं की यह रचना कितनी भ्रान्तिमूलक, नर्गल एवं पक्षपात-पूर्ण है। वास्तव में इसकी रचना न्थकारों ने इस मतलब से की है कि हिन्दी के क्षेत्र में ही लोग सब कुछ समझे जायँ। कदाचित् इसी लिए इस ग्रन्थ में उन्होंने अपना, अपने कुटुम्बियों का, अपने सम्बन्धियों का, अपने इष्ट-मित्रों का, अपने आश्रितजनों है। यदि उनमें से किसी ने जानबूझ कर या अनजान में एक भी पद्य लिख दिया है तो उसका भी, वर्णन विशेषता-पूर्वक किया है। परन्तु जिन हिन्दी-लेखकों ने या कवियों ने अपनी महत्त्वपूर्ण रचनाओं से हिन्दी के साहित्य को अलंकृत किया है उनकी जानबूझ कर उपेक्षा की गई है, यहाँ तक कि उनमें से कितनों का कहीं नाम तक उल्लेख नहीं किया गया है। और जिनका लाचार होकर या किसी कारणवश उल्लेख भी किया गया है उनका वर्णन ऊट-पटाँग लिखा गया है, जिससे उनके महत्त्व का बोध ही नहीं होता। यह कितना भारी अन्याय किया गया है ?

वास्तव में इस ग्रन्थ में जो कुछ लिखा गया है उसका अधिकांश कथन भ्रान्त, निर्मूल, ऊलजलूल और अपमानजनक, पक्षपातपूर्ण ही नहीं है, किन्तु उससे यह भी व्यक्त होता है कि इसके लेखक यद्यपि ३५-३६ वर्ष से हिन्दी के क्षेत्र में लगातार कार्य कर रहे हैं, तो भी उनको उसका या तो ज्ञान नहीं हुआ है या फिर जान-बूझकर भ्रम फैलाने का उन्होंने निन्द्य कार्य किया है।

मिश्र-बन्धुओं को जान लेना चाहिए कि अब हिन्दीवालों को काफ़ी तमीज़ हो गई है और वे जान सकते हैं कि कौन कैसा लिखता है ! कौन नहीं जानता कि महायुद्ध के बाद हिन्दी के क्षेत्र में उन्नति का बवंडर-सा आ गया है और गत १५-२० वर्षों में कोई सौ डेढ़ सौ नये प्रतिभावान् लेखकों ने अपनी मौलिक रचनाओं से हिन्दी को गौरवान्वित किया है। ऐसी दशा में उनका प्रामाणिक विवरण वही व्यक्ति दे सकता है जिसने या तो सब रचनायें पढ़ी हैं या उनके सम्बन्ध में प्रेम के साथ जाँच-पड़ताल की है। 'विनोद' की जो थोड़ी भूलें हमने ऊपर दिखाई हैं उनसे भले प्रकार प्रकट हो जाता है कि मिश्रबन्धुओं को हिन्दी के इस अभ्युदय-काल में ऐसी भोंड़ी पुस्तक नहीं लिखनी चाहिए थी, इसे लिखने में उन्होंने अनधिकारी का काम किया है, जिससे उल्टा उन्हीं की हानि हुई है, उनकी साहित्यिक प्रतिष्ठा में इस रचना से बट्टा लगा है।

मेरा मन्दिर

लेखक, श्रीयुत रुस्तम सैटिन

अलि, मेरे हृद आँगन में,
इक सूना-सा मन्दिर है।
उसमें पूजा करने को,
अपने ठाकुर की छवि है।
नित प्रभात मैं आती हूँ,
कुछ शंख बजाती गाती।
निज भाव-सुमन को उनके,
चरणों में बिखरा जाती।

संध्या के पागलपन में,
मैं प्रेमदीप ले आती।
गिर कर उनके चरणों में,
जीवन का भोग लगाती।
मेरे उस बेसुधपन में,
वह मौन स्वरों में गाते।
सस्मित मेरे अधरों को,
वह चुम्बित कर अपनाते।

एक सामाजिक कहानी

विधि-विधान

लेखक, श्रीयुत मङ्गलप्रसाद विश्वकर्मा

(१)

सन्ध्या के घनीभूत अन्धकार से, अँधेरे कमरे में, दीपक के प्रकाश की आभा पाकर, अन्धे पिता ने कहा—लालटेन कौन जला रहा है ?

"मैं जला रहा हूँ।"

"तुम हो कैलास ?"

"हाँ, पिता जी।"

"अच्छा, लालटेन को खूँटी पर टाँग कर मेरे पास ज़रा दो मिनिट आकर बैठो बेटा।"

कैलास पिता के समीप आकर बैठ गया। पिता ने कैलास के एक हाथ को अपने हाथ में लेकर और दूसरे हाथ से उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा—बेटा, मैं तो अब अन्धा हो गया। जब जवान था तब; जवान ही क्यों, अभी २-३ साल पहले तक, रातों-दिन दौड़-दौड़ कर, गृहस्थी के सारे काम सँभाला करता था। पर अब लाचार हो गया हूँ। कहीं चल-फिर नहीं सकता। इसलिए अब तुम्हारे ऊपर गृहस्थी का सारा भार आ गया है।

कैलास ने उच्छ्वसित आवेग से कहा—कहिए, कहिए पिता जी, मेरे लिए आपकी कौन-सी आज्ञा है ?

पिता ने उत्तर दिया—वही तो, वही तो मेरे बेटे, मैं अँधेरे कमरे में अकेला बैठा हुआ अभी तक वही सोच रहा था। बेटा, मैं तुमसे निश्चिन्त हो गया हूँ। तुम्हारा छोटा भाई किशोर अभी स्कूल में पढ़ता है। उसकी चिन्ता नहीं। पर गोमती सयानी हो रही है। उसके विवाह की चिन्ता मुझे है।

कैलास बोला—मैं स्वयं गोमती के लिए एक अच्छे लड़का की तलाश कर रहा हूँ। आप चिन्तित न हों।

पिता ने कैलास को अपनी छाती से चिपटा लिया और हृदय में आत्म-सुख से विभोर हुई निर्मल शान्ति का अनुभव किया।

इस बात-चीत के लगभग तीन महीने के बाद पिता-पुत्र में एक दिन सन्ध्या के समय इस प्रकार फिर वार्तालाप हुआ। कैलास बोला—मैंने एक लड़का देखा है।

पिता ने मानो एक इच्छित वस्तु को पाते हुए कहा—कहो बेटा, यह लड़का तुमने कहाँ देखा है।

कैलास ने उत्तर दिया—पिता जी, यहीं शहर में। पर है वह देहात का, पिपरिया गाँव का। वही पिपरिया जो यहाँ से ३६ मील है। पक्की सड़क सिगरामपुर तक ३० मील और वहाँ से फिर देहात केवल ६ मील।

"अच्छा, यह तो बताओ कि लड़का कैसा है।"

"लड़का २०-२१ वर्ष का है। साँवला, इकहरे बदन का, सुडौल, ऊँचा और तन्दुरुस्त।"

"तो कोई बुरा लड़का नहीं है। करता क्या है बेटा ?"

"सिगरामपुर में मास्टर है। उसके पिता भी पिपरिया में मास्टर हैं। पिता २४) और लड़का १२) मासिक पाता है।"

"इससे अच्छा लड़का और कहाँ मिलेगा कैलास ! अब तुम देरी न करो। जहाँ तक बने इस सम्बन्ध को तय करके शुभ मुहूर्त में विवाह रच दो।"

कैलास सोचता था कि देहात की बात सोच कर पिता जी एक-दम अस्वीकार कर देंगे। पर ऐसा जान

पड़ा, मानो उसके पिता ने बिना कुछ समझे जो राय क़ायम कर ली है वह उचित नहीं है। इसलिए उसने कहा—पिता जी, इस सम्बन्ध पर विचार करने के पहले और भी लड़के देखना उचित होगा।

पिता ने कहा—यदि तुम ऐसा करोगे तो पीछे पछताओगे। ऐसे पढ़े-लिखे लड़के नहीं मिलतें। बेटा, अब तुम्हें कहीं भटकने की ज़रूरत नहीं। तुम पिपरिया जाओ और लड़के के पिता से .खुद बात-चीत कर के सम्बन्ध ठीक कर आओ।

कैलास ने सोचा कि क्या यह उतावली नहीं है। अवश्य ही, यह उतावलापन अच्छा नहीं। खैर, विवाह तो अभी होता नहीं और देहात जाकर, इस बीच में लड़के के पिता से, इस सम्बन्ध में परामर्श करना अनुचित भी नहीं। उसने पिता से कहा—तो पिता जी, मैं कल ही पिपरिया जाऊँगा।

और दूसरे दिन दोपहर को कैलास ने अपने अन्धे पिता की चरण-धूलि लेकर, किराये से जानेवाली एक मोटरलारी में, पिपरिया का रास्ता लिया।

(२)

वर का नाम था श्रीधर। श्रीधर के बहनोई जबलपुर शहर में ही रहते थे। उन्हीं के घर कैलास ने श्रीधर को देखा था। श्रीधर के बहनोई कैलास के हितू थे और इसी नाते उन्होंने श्रीधर का विवाह करने का संकेत किया था और राय भी दी थी कि वर के पिता से परामर्श करना उचित होगा। इसलिए कैलास ने श्रीधर को अपने आने की चिट्ठी २-३ दिन पहले से ही डाल दी थी। जब वह सिगरामपुर पहुँचा तब उसे मालूम हुआ कि श्रीधर ने पिपरिया में २-३ दिन बिताने के लिए स्कूल से छुट्टी ली है।

कैलास को आशा नहीं थी कि एक अपरिचित व्यक्ति उससे इस प्रकार का सौजन्यपूर्ण व्यवहार करेगा। उसके चेहरे पर आनन्दोल्लास का एक तरङ्ग-हिल्लोल खेल गया। दोनों व्यक्ति पिपरिया की ओर पैदल चल पड़े।

प्रायः आधा मील पहुँचने पर दोनों ने देखा कि श्रीधर के पिता रामसरन अपने एक और छोटे लड़के हरी को लिए चले आ रहे हैं। सामना होते ही कैलास ने उन्हें प्रणाम किया और आश्चर्य से पूछा कि आप यहाँ कैसे आ रहे हैं।

श्रीधर के पिता ने कहा—सुना था कि आप आ रहे हैं, इसलिए चला आया।

श्रीधर के पिता ने अब ज़रा बात खोल कर कहा—हरी को भी लाना था। उसकी स्कूल की ग़ैरहाज़िरी बहुत हो चुकी है। आज ही रात को इसे शहर पहुँच जाना चाहिए।

श्रीधर के पिता के साथ एक और व्यक्ति था, वह भी मोटर से शहर जा रहा था। कैलास ने कहा—तो आप लौट चलिए। इस व्यक्ति के साथ ही हरी चला जायगा।

श्रीधर के पिता ने कहा—नहीं, अब आप लोग चलिए। आपको ५-६ मील चलना है। मैं तो देहाती हूँ। रात को भी चला आऊँगा तो कोई डर नहीं। मुझे यहाँ मोटर का इन्तज़ार करना पड़ेगा।

(३)

जब कैलास और श्रीधर गाँव पहुँचे तब .खूब अँधेरा हो गया था। जाड़े के दिन थे। श्रीधर की वृद्धा माता अँधेरी परछी में, गुरसी में कुछ लकड़ियाँ जलाये, अकेली बैठी हुई थी। लकड़ियों के जलने से होनेवाले मन्द प्रकाश से परछी में कुछ उजेला हो रहा था। श्रीधर की माता अपने लड़के को देखने के लिए आने-वाले अतिथि को देखते ही भीतर कोठे में चली गईं। श्रीधर भी भीतर चला गया। कैलास वहीं ज़मीन पर बिछी हुई दरी पर बैठ गया।

इसी बीच में श्रीधर एक लोटा पानी और एक थाल लेकर आया और बोला—अब अपने चरण पखार लेने दीजिए।

कैलास का हृदय नैसर्गिक उल्लास के आवेग-प्रवाह को न रोक सका। उसका मुख लज्जा और उल्लास दोनों के विचित्र सम्मिश्रण से अरुणवर्ण हो गया। उल्लास उसे इसलिए हुआ कि श्रीधर कितना विनयी, कितना नम्र और कितना सहृदय है। गोमती के लिए सर्वथा अनुरूप है। अहो, ऐसे ही दम्पति अपने जीवन को सुखी बना सकते हैं। लज्जा उसे इसलिए हुई कि श्रीधर मेरे पैर धोने के लिए उत्सुक हो रहा है। प्रथम आगमन के कारण उसका यह सत्कार सर्वथा वाञ्छनीय है। पर यह लड़का तो भविष्य में चलकर उसका बहनोई होने वाला है। उसके पैर उसे पूजना है। फलतः यह सोचते ही प्रकट में कैलास ने हँसते हुए कहा—श्रीमान् कृपा कीजिए। परिश्रम करके, कष्ट देकर, परदेशी को लज्जित करना ठीक नहीं।

घण्टे भर में ही श्रीधर की माता ने ब्यालू करने के लिए इशारा किया। श्रीधर और कैलास दोनों साथ ही साथ भोजन करने के लिए बैठे। कैलास ने देखा, सामने थाल में, श्रीधर की माता ने, पूरियाँ, पापड़, खीर और सूरन की कढ़ी बड़ी रुचि के साथ सँभाल कर रख दी है। कैलास ने कहा—भाई श्रीधर, आपकी माता के इस निर्मल एवं स्वर्गीय स्नेह को देखकर मेरा चित्त आनन्द से गद्गद हो गया है। श्रीधर ने उत्तर में कहा—देहात है। यहाँ तरकारी-भाजी का कोई समुचित प्रबन्ध नहीं। खैर, जो कुछ है, आपके सामने है।

दोनों भोजन करने लगे।

इसी समय बाहर अँगनाई में श्रीधर के पिता के आने की आहट मिली, श्रीधर के पिता ने बाहर से ही आवाज़ लगाई—क्या हो रहा है श्रीधर?

बेटे ने कहा—हम लोग भोजन कर रहे हैं।

"अच्छा अच्छा, तुम लोग भोजन करो। मैं दूर से थका-माँदा आया हूँ, तब तक कुछ देर परछी में ही बैठता हूँ?"

यह सुनते ही श्रीधर का मुख विवर्ण हो गया। वह अपने पिता के मनोभावों को अच्छी तरह जानता था। उसने सोचा, शायद पिता जी नाराज़ होकर बाहर परछी में बैठ रहे। कदाचित् सोचते हों कि इन लोगों ने भोजन करने के पहले घर के बड़े-बूढ़े का क्षण भर भी इन्तज़ार न किया। इसलिए उसने भीतर से ही पुकार कर कहा—नहीं नहीं, वहीं परछी में, आग पर, लोटे में पानी गरम हो रहा है। हाथ-मुँह धोकर, आप भी आकर भोजन कर लीजिए।

उत्तर में पिता ने उपेक्षा के भाव से कहा—मुझ बूढ़े आदमी की चिन्ता न करो। मुझे तो रात को भूख ही नहीं लगती। ज़रूरत होगी तो थोड़ा दूध पीकर पड़ रहूँगा।

श्रीधर और कैलास, बाहर आकर, परछी में जलती हुई गुरसी के पास बैठ गये।

श्रीधर के पिता यद्यपि देहाती स्कूल के मास्टर थे, पर थे तो शिक्षक—वयोवृद्ध और अनुभवी। उन्हें भी अपने मान और सम्भ्रम का ख़याल था। जिस समय उन्होंने सिगरामपुर के पास श्रीधर और कैलास को पिपरिया की ओर आते हुए देखा था उसी समय उनकी त्योरियाँ चढ़ गई थीं। उन्हें कैलास का व्यवहार अत्यन्त अप्रीति-कर प्रतीत हुआ।

उन्होंने सोचा, चाहे जो हो, यह व्यवहार मैं पसन्द नहीं कर सकता। क्या लड़का ही सब कुछ है? लड़के का पैदा करनेवाला बाप कुछ है ही नहीं। ओह, यह घोर अपमान! सोचते ही, मानो उनकी छाती पर किसी ने ज़ोर से एक लात मार दी हो।

उनकी वृद्धा पत्नी ने भोजन के लिए बड़ा ही आग्रह-अनुनय किया। पर बदले में उन्होंने रोष में आकर उत्तर दिया—तू भी आकर मेरा सिर चाट रही है। रहने दे, मैं भोजन न करूँगा।

"तो थोड़ा-सा गरम दूध पी लो।"

"अगर नहीं मानती तो जा, ढकोस लूँ।"

श्रीधर की माता ने दूध का कटोरा लाकर उनके हाथ में दे दिया। कटोरा ख़ाली करके वे चुप लेट गये।

कैलास और श्रीधर दोनों, ज़बान पर शिष्टाचार की मर्यादा का ताला डाले हुए आग तापते रहे।

(४)

दूसरे दिन बड़े तड़के कैलास श्रीधर के साथ हाथ-मुँह धोने के लिए नदी पर चला गया। जब वहाँ से वापस लौटा तब उसने देखा कि श्रीधर के पिता, आँगन में, धूप में बैठे, मिरज़ई पहने, आँख पर चश्मा चढ़ाये देहाती डाकिये से डॉक ले रहे हैं। देखते ही कैलास से बोले—"बाबू जी, शहराती लोगों की तरह यहाँ के गँवई-गाँव के लोगों में भी, सवेरे-सवेरे गरम पानी पीने की आदत पड़

गई है।" श्रीधर से बोले—"बेटा जाओ, ज़रा आपके लिए भी चाय का प्रबन्ध कर दो।"

"पर, मैं तो चाय नहीं पीता"। कैलास ने कहा।

"आश्चर्य, महान् आश्चर्य!"

श्रीधर ने उत्तर दिया—"अपनी अपनी आदत तो है।"

"तो क्यों बेटा श्रीधर, आपके लिए थोड़ा-सा दूध गरम करके ला दो।"—कहते-कहते उन्होंने अपने डॉक के काम पर फिर नज़र दौड़ाई।

श्रीधर की माता ने चाय के साथ ही साथ दूध भी पहले से गरम कर रक्खा था। उसने कटोरा भर दूध लाकर कैलास के हाथ में दे दिया और उत्सुकता के साथ पिता जी से बोला—"क्या बड़े भैया की कोई चिट्ठी आई है?"

पिता ने उत्तर दिया—वही तो बेटा। मैं भी उसी चिट्ठी की खोज कर रहा हूँ। पर चिट्ठी नहीं है। चार दिनों से राह देख रहा हूँ। चिट्ठी न जाने क्यों नहीं आई? मेरी चिट्ठी का उत्तर तो दो दिन पहले आ जाना चाहिए था। अभी तक क्यों नहीं आया?

श्रीधर और उसके पिता दोनों निराश हुए। बात यह थी कि श्रीधर के बड़े भाई प्रेमनाथ सिवनी-ज़िले में नौकरी करते थे और महीने भर से बीमार थे। इसी लिए घर भर के लोग उनकी चिट्ठी की ओर टकटकी बाँधे रहा करते थे। चिट्ठी न पाकर पिता-पुत्र हताश हुए और बड़े दुखी हो गये। पिता ने पुत्र से कहा—बेटा, जान पड़ता है, बड़े भैया फिर से बीमार हो गये, इसलिए वे चिट्ठी का उत्तर नहीं दे सके। मैंने यहाँ से दवाइयाँ भी भेजी थीं। पता नहीं, मिलीं या नहीं।

श्रीधर चुप रहा। उसके पिता ने कैलास से कहा—बाबू जी, प्रेमनाथ की बीमारी और चिन्ता के कारण हम लोगों को घर का कोई काम-काज नहीं सुहाता। हाय, पता नहीं, प्रेमनाथ पर क्या बीत रही है! यहाँ से ३०-३० मील की दूरी पर तार-घर है। तार भी न समय पर दिया जा सकता है और न उसका उत्तर ही पाया जा सकता है।

कैलास ने श्रीधर के पिता के साथ सहानुभूति दिखाते हुए एक ठंडी साँस ली और कहा—आपकी विवशता का अनुभव कर रहा हूँ।

श्रीधर के पिता ने कहा—तो इसी लिए बेटा कैलास, जिस इच्छा और प्रस्ताव को लेकर तुम आये हो, उस सम्बन्ध में, इस समय घबराहट, चिन्ता और दुख के कारण मैं तुम्हें कोई उत्तर नहीं दे रहा हूँ। इसके सिवा प्रेमनाथ घर का सयाना लड़का है। जब वह अच्छा हो जायगा तब सुविधानुसार उससे सम्मति लेकर तुम्हें पत्र लिखूँगा।

कैलास ने कहा—आपकी कृपा के लिए मैं सदैव कृतज्ञ रहूँगा।

कैलास ने शहर लौटने की तैयारी कर ली। श्रीधर की माता ने दरवाज़े की ओट में खड़े होकर कहा—"क्यों रे श्रीधर, तू ज़रा दो रोज़ के वास्ते इन्हें रुक रहने के लिए क्यों नहीं कहता?"

वे कैलास को सान्त्वना तथा आशामय निश्चित उत्तर देने के पक्ष में थीं। पर वे तो स्त्री थीं। उनकी कौन सुनता?

कैलास ने कहा—मा जी, अब न रोको। ईश्वर प्रेमनाथ को शीघ्र ही अच्छा करें। उनके अच्छे होने पर मैं फिर तुम्हारी सेवा में आकर उपस्थित होऊँगा। उसने आगे बढ़कर वहीं ज़मीन पर झुक कर अपना माथा टेक दिया।

(५)

कैलास के पिता ने कहा—"तो क्यों बेटा, लड़के के पिता मास्टर साहब ने कोई आशाजनक उत्तर नहीं दिया"?

"बड़े लड़के प्रेमनाथ की बीमारी के कारण उन्होंने ठीक जवाब नहीं दिया।"

"तब तो यह बिलकुल ठीक बात है बेटा! भला, ऐसे अवसर पर किसका जी ठिकाने रहता है! अच्छा हुआ, उन्होंने उतावली नहीं की। उतावली का काम ठीक नहीं।"

"पर पिता जी, उनकी बातों से जान पड़ता है कि शायद उन्हें यह सम्बन्ध पसन्द नहीं।"

"यह तुम्हारी बड़ी भूल है बेटा। वैसे तो निराशा में भी आशा का भरोसा बना रहता है। फिर बेटा, यह तो मास्टर साहब के बड़े लड़के प्रेमनाथ की बीमारी का कारण है। यह कोई उनका निश्चित उत्तर नहीं?"

इस बात-चीत के लगभग दो महीने के पश्चात् कैलास ने आकर अपने पिता को खबर दी—"पिता जी, लड़के की माता आज कन्या देखने के लिए आनेवाली हैं।"

पिता ने तृप्ति-सूचक हँसी हँसते हुए कहा—"मैंने कहा था न कि मास्टर साहब अपने बड़े लड़के की बीमारी के कारण ही निश्चित उत्तर नहीं दे रहे हैं। अब लड़का अच्छा हो गया होगा। इसलिए उन्होंने लड़के की माता को लड़की देखने के लिए भेज दिया। खैर बेटा, देखना, उनके आदर-सत्कार में कोई त्रुटि न रहने पावे।

कैलास के पिता वस्तुतः बड़े ही खुश हुए। इससे ज़्यादा वे तब खुश हुए जब उनकी लाड़ली बहू सरला ने आकर कहा कि लड़के की मा ने लड़की को पसन्द कर लिया है। पर वे कहती हैं—लड़की को कौन हमें मास्टरन बनाना है, इसलिए मैं ज़्यादा पढ़ाना उचित नहीं समझती।

कैलास के पिता ने कहा, बहू, हमें इसकी ज़रूरत भी नहीं है। लड़की छठी किताब पास हो गई है। बहुत पढ़ाई हो चुकी। अब लड़की को ज़्यादा पढ़ाने की ज़रूरत ही क्या है? उन्होंने आगे कहा—यह तो बता बहू कि क्या श्रीधर की माता चली गईं?

बहू ने कहा—"हाँ"।

"तो तूने उन्हें रोका क्यों नहीं? भला उन्हें भोजन तो कराना था। बार बार वे यहाँ क्यों आने लगीं? और जब सम्बन्ध हो जायगा तब तेरे घर का भोजन करने में उन्हें बड़ा संकोच होगा"।

बहू ने कहा—मैंने उन्हें बहुत रोका, पर वे नहीं रुकीं। बोलीं, शाम हो गई है। इसके अलावा साथ में कई स्त्रियाँ और छोटे छोटे बच्चे हैं?

"भला भला, इतने लोग थे! उनके साथ में और कौन कौन था बहू?"

"बहुत-सी स्त्रियाँ, लगभग १०-१२। लड़के की मँझली भावज। उसके दो बच्चे। लड़के की बहन और उसके तीन बच्चे और खुद लड़के की दो मौसियाँ। इसके सिवा पड़ोस की ५-६ स्त्रियाँ थीं"।

पास बैठे हुए कैलास से उसके पिता बोले—"देखा बेटा, धीरज से काम बनता है। तुम समझते थे, शायद तुम्हारा यह प्रयत्न व्यर्थ होगा।" बीच में बहू ने टोकते हुए कहा—"लड़के की माता एक और बात कह गई हैं। कहती थीं कि लड़के का पिता सठिया गया है। मैं उसे समझा-बुझा कर यहाँ ज़रूर भेजूँगी।"

पिता ने कहा—बहुत अच्छा बहू। कैलास से बोले—तो बेटा तुम ऐसा प्रबन्ध करो कि गोमती का विवाह वैशाख में ज़रूर हो जाय। यह फागुन चल रहा है। अभी दो महीने बाक़ी हैं। देखो, इन्तज़ाम में कोई कसर न रहने पावे।

(६)

इस घटना के लगभग एक ही महीने के भीतर कैलास के पिता तीन दिन की बीमारी के पश्चात् स्वर्ग सिधार गये। उनके गुज़रने के २०-२५ दिन बाद श्रीधर के पिता कैलास के इस आकस्मिक दुख में समवेदना प्रकट करने के लिए आये। बोले—क्या करूँ, हरी फिर से बहुत बीमार पड़ गया। मोतीझरा निकल आया, इसलिए इस मौक़े पर नहीं आ सका। ईश्वर ने यह जो विपत्ति का पहाड़ आपके सिर डाल दिया है उसके बारे में क्या कहूँ! आप खुद समझदार हैं।

कैलास ने कहा—हम लोग मातृ-पितृ-हीन हो गये हैं। अब इस असहायावस्था में निराशा—केवल निराशा ही दिखाई पड़ती है। अब पिता नहीं मिल सकते। पर ऐसा जान पड़ता है, पिता जी अपना समग्र उत्तरदायित्व आपके माथे रख गये हैं, मानो आज से आप ही हम लोगों के माता-पिता हैं। जैसी आज्ञा देंगे, सिर झुकाकर स्वीकार करेंगे।

श्रीधर के पिता बोले—बेटा, तुम्हारा सोचना अनुचित नहीं। जान पड़ता है, तुम छोटी बहन के विवाह की सबसे ज़्यादा चिन्ता कर रहे हो। पर चिन्ता न करो। उस दिन तुम घर में नहीं थे और मैं तुम्हारे पिता से मिलने आया था। तुम्हारे पिता ने मेरा हाथ पकड़

कर कहा था कि मुझ ग़रीब को भी निभा लेना मास्टर साहब। तब से मैं समझ रहा हूँ, इस काम-काज की सारी ज़िम्मेदारी मेरे ही ऊपर आ पड़ी है।

कैलास को इन बातों से बड़ा ही धैर्य हुआ।

श्रीधर के पिता ने कहा—हाँ, तो अब मैं जाता हूँ। एक बात कहे जाता हूँ कि बड़े भैया प्रेमनाथ छुट्टी पर आनेवाले हैं। अगर इस तरफ़ से आवें तो उनसे ज़रा मिल लेना।

(७)

इसके तीन-चार महीने के बाद श्रीधर के बड़े भाई प्रेमनाथ से कैलास की भेंट हुई। यहाँ-वहाँ की अनेक बातें होने के बाद कैलास ने पूछा—श्रीधर के साथ मेरी बहन के विवाह की जो बात चल रही है वह तो आप अच्छी तरह जानते ही हैं।

प्रेमनाथ ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—कहाँ, इस बारे में मुझे तो कुछ नहीं मालूम!

कैलास ने इससे कई गुने ज़्यादा आश्चर्य से पूछा—तो क्या आपको इस सम्बन्ध में कुछ नहीं मालूम?

"जी नहीं।"

"मैंने आपके पिता जी को कई पत्रों में लिखा था कि आप इस सम्बन्ध में अपने जेठे लड़के प्रेमनाथ जी से भी लिखा-पढ़ी कर लीजिए।"

"पर उन्होंने तो अभी तक मुझे कुछ नहीं लिखा। कहिए, यह बात कब से चल रही है?"

"लगभग डेढ़ वर्ष से।"

"आश्चर्य, मुझे कुछ भी पता नहीं।" प्रेमनाथ ने एक गुप्त अभिमान, ईर्ष्या, तिरस्कार और घृणा की भावभङ्गी को प्रकट करते हुए कहा—"तो आपने मुझे क्यों पत्र नहीं लिखा?"

"मुझे आपका पता नहीं मालूम था।"

"हाँ, ऐसी बात है!" उसने भीतर ही भीतर सोचा, शहर के आदमी हैं और ऐसे भोले बन रहे हैं। प्रकट में कहा—"ख़ैर कोई हर्ज नहीं। अब मैं गाँव जा रहा हूँ। सब लोगों को देखने।"

"तो कृपया इस सम्बन्ध में अपने पिता जी की राय लेकर लौटने पर मुझे ख़बर दीजिए। वे तो मुझे कभी पत्र ही नहीं लिखते, न पत्रों का उत्तर ही देते हैं। हाँ, श्रीधर के पत्रों से मुझे आपके घर के समाचार मिल जाया करते हैं।"

यह बात प्रेमनाथ को और भी ज़्यादा बुरी लगी। उन्होंने कहा—"ख़ैर, यदि सम्बन्ध आप जैसे प्रतिष्ठित और सम्पन्न व्यक्ति के यहाँ हो जायगा तो हम लोगों का इससे गौरव ही बढ़ेगा।"

कैलास ने नम्रता से कहा—इस अकिंचन को अ इस सम्मान के योग्य समझते हैं, यह आप जैसे सज पुरुषों के योग्य ही है।

इसके एक सप्ताह के पश्चात् प्रेमनाथ और कैला में इस प्रकार बातचीत हुई। कैलास ने पूछा—कहिए, मेरे लिए आपके परिवार की क्या आज्ञा है?

प्रेमनाथ बोले—और तो सब ठीक है, पर आपको कम से कम एक वर्ष ठहरना पड़ेगा।

प्रेमनाथ को आशा थी कि कैलास इस सम्बन्ध के लिए एक वर्ष ठहरना उचित न समझ कर इसे अस्वीकार कर देगा। पर कैलास ने कहा—इसमें बिलकुल आपत्ति नहीं। पर इतने दिन ठहरने का कारण?

"कारण और कुछ नहीं, हमारी आर्थिक अवस्था ठीक नहीं है। इस काम के लिए सात-आठ सौ की ज़रूरत पड़ेगी। उसी का प्रबन्ध करना होगा।"

"पर इतने रुपयों की ज़रूरत नहीं। यह काम बहुत क़िफ़ायत से—लगभग दो सौ में किया जा सकता है।"

"आप अभी ऐसा कह रहे हैं। पर, जब काम होने लगेगा तब आप ही कहेंगे कि देखिए, हम इज़्ज़तवाले आदमी हैं। बड़ों-बड़ों में हमारी प्रतिष्ठा है। इसलिए बरात इस ढङ्ग से लाइए, विवाह इस तरह सम्पन्न कीजिए, जिससे हमारी प्रतिष्ठा, प्रतिपत्ति आदि में बट्टा न लगे इत्यादि।"

"यह आपका नितान्त भ्रम है। मैं विश्वास दिलाता हूँ कि ऐसी कोई आपत्ति न होगी। मैं तो चाहता हूँ कि विवाह का प्रधान संस्कार—केवल पाणिग्रहण हो और उसमें जितनी भी सादगी रक्खी जा सके, रक्खी जाय।"

प्रेमनाथ ने उत्साह-सूचक शब्दों में कहा—तो बड़े हर्ष की बात है। मैं नौकरी पर जा रहा हूँ। वहाँ से सारी बातें पिता जी को लिखूँगा और उनके समुचित उत्तर से आपको सूचित करूँगा।

प्रेमनाथ ने अपने पिता से सुन रक्खा था कि कैलास श्रीधर को देहाती स्कूल से निकाल कर, शहर के स्कूल की मास्टरी दिलाकर, उसके भविष्य का पथ निष्कण्टक तथा उज्ज्वल करना चाहता है। इसलिए इस बात को सोच कर, सभी ओर से स्वार्थ—केवल स्वार्थ की ही सिद्धि देखकर, प्रेमनाथ ने कहा—मैं कहता हूँ, अब आप निश्चिन्त रहें। हम दोनों मिलकर इस कार्य को निर्विघ्न समाप्त करेंगे।

(८)

इसके पश्चात् और पाँच-छः महीने बीत गये। पर प्रेमनाथ का कोई पत्र न आया। श्रीधर के पिता को भी कैलास ने पत्र लिखे, पर उन्होंने भी एक भी पत्र न दिया। अन्ततः कैलास के धैर्य का भी बाँध टूटने लगा। उसने सोचा, लड़कीवाले लड़केवालों की निगाह में इतने अकिंचित्कर, उपेक्षणीय और हेय होते हैं!

कैलास का आत्माभिमानी दिल बैठ गया। पर नहीं, उसके मर्माहत हृदय में अब भी एक आशा शेष थी। वह आशा थी श्रीधर। वह जानता था कि श्रीधर की उसके साथ पूरी सहानुभूति है। श्रीधर भी सोचता था कि इस सम्बन्ध पर उसका भावी जीवन बहुत कुछ निर्भर है। वह जानता था कि सम्भव है, इस सम्बन्ध से मुझे नागरिक जीवन का सुख-सौभाग्य प्राप्त हो सके, इसलिए वह इस सम्बन्ध के सफल होने की आन्तरिक कामना कर रहा था। कैलास पारस्परिक कल्याण की भावना को जानता था। ऐसी परिस्थिति में जब उसका वेदना-कण्टकित हृदय फटने लगा तब उसने सोचा कि कम से कम श्रीधर के पास पहुँचा जाय और हृदय को शान्ति पहुँचाई जाय।

कैलास श्रीधर के पास पहुँचा। बड़े आदर-सत्कार के साथ दोनों मिले। श्रीधर के एक सहयोगी अध्यापक थे। वे भी आ पहुँचे। दूसरे दिन कैलास के वापस होने के समय इन्होंने कहा—श्रीधर, यह बात अच्छी नहीं कि तुम्हारे माता-पिता, भाई-बन्धु चुप बैठे हैं और इन्हें कोई निश्चित उत्तर नहीं देते। लगभग दो लम्बे वर्ष गुज़र गये, पर कोई निश्चित उत्तर नहीं मिला।

कैलास ने विस्मित होकर कहा—तो क्या अब भी कोई शङ्का है?

श्रीधर के मित्र ने कहा—मुझे तो ऐसा ही जान पड़ता है। इस उदासीनता से तो यही जान पड़ता है कि वे सम्बन्ध नहीं करना चाहते।

कैलास ने मोटरलारी पर बैठते हुए आश्चर्य से कहा—मैं क्या जानूँ? श्रीधर, भला आपका क्या कहना है?

श्रीधर सहसा गम्भीर हो गया। काटो तो ख़ून नहीं। वह न 'न' कह सकता था और न 'हाँ'। 'न' कहने से भविष्य की उसकी सारी महत्त्वाकांक्षाओं पर पानी फिर जाने की सम्भावना थी। और 'हाँ' कहने से अपने माता-पिता तथा भाइयों के सामने वह स्वेच्छाचारी और ग़ुलाम सिद्ध होता। वह कुछ भी उत्तर न देकर बोल उठा—मैं भी इस सम्बन्ध में कुछ नहीं जानता।

कैलास ने आवेश में आकर कहा—तो कौन जानता है? इसका उत्तर कौन देगा?

(९)

मोटरलारी चल पड़ी। कैलास ने पीछे लौटकर देखा कि श्रीधर और उसके मित्र, दोनों जो अब तक टकटकी बाँधे लारी की ओर देख रहे थे, लारी के पीछे उड़नेवाली धूल में विलुप्त हो गये। उसके हृदय में एक तूफ़ान ज़ोर से उठकर, उसके हृदय के भीतर के खिले हुए, भिन्न भिन्न महत्त्वाकांक्षाओं के फूलों और लहलहाते हुए नन्हें पौधों को उखाड़ता हुआ चला गया। अब मानों वही तूफ़ान मोटरलारी के पीछे रह जानेवाले दो व्यक्तियों की रूप-रेखा को, उसके विभ्रान्त विस्मृति-पट से मिटाकर, उसे सामने की ओर बरबस ढकेले लिये जा रहा है।

कैलास मानों मूर्च्छित-सा होकर, अपनी सीट से टिक कर बैठ रहा। पर उसके क्षत-विक्षत हृदय से टकराकर अब भी यह प्रतिध्वनि गूँज रही थी कि—'इसका उत्तर कौन देगा? इसका उत्तर कौन देगा?'

थी खिली पलास-द्रुमाली-सी,
सन्ध्या सुहासिनी की लाली।
मिल गई प्रभाली थी दोनों,
आनेवाली जानेवाली॥

हो गईं दिशायें रञ्जित-सी,
इस अरुण मनोज्ञ प्रभाली से।
पर निकल पड़ी काली रजनी,
सन्ध्या की सुन्दर लाली से॥

दिनमणि की जो किरणें दिन में,
थीं फैली जग के कण कण में।
वे ही जाकर निशि के नभ में,
मुसकाती थीं तारागण में॥

इस निभृत निशा की गोदी में,
सो रहे सृष्टि के कण कण थे।
बस तारागण ही आपस में,
कर रहे मौन सम्भाषण थे॥

क्या प्रसव-वेदना से प्राची—
रमणी का आनन लाल हुआ।
धीरे धीरे गगनस्थल में,
प्रकटित सुन्दर शशि-बाल हुआ॥

खेलने लगा सुन्दर शशि-शिशु,
मणि-जटित गगन के आँगन में।
तारावलि उसकी प्रभा देख,
खिल गई मुदित होकर मन में॥

उसने सारे जगतीतल पर,
निज कीर्ति-कौमुदी छिटकाई।
चढ़ किरण-जाल के वाहन पर,
वह हंसवाहिनी-सी आई॥

वसुधा से आकर लिपट गई,
वह बाल सखी-सी मनभाई।
मिल कर उससे पुलकित-सी हो,
वसुधा मन ही मन मुसकाई॥

अब प्रकृति-नटी की रङ्गभूमि,
सज गई खूब है मनभाई।
है शशि की किरणों ने उस पर,
चाँदनी-चाँदनी फैलाई॥

क्या शुभ्र-हासिनी शरद-घटा,
अवनी पर आकर है छाई।
अथवा गिरकर नभ से कोई,
सुर-बाला हुई धराशायी॥

सोती अबलाओं के समीप,
वह वातायन से जाती है।
प्रिय शशि-समान उनके सुन्दर,
मुख चूम चूम सुख पाती है॥

निर्जन विपिनों में घुस घुस कर,
किसकी तलाश वह करती है।
वह देश-देश में ग्राम-ग्राम में,
किसके लिए विचरती है॥

नभ से अवनी पर आने से,
मानो वह भी थक जाती है।
श्रम-स्वेद-कणों से ओस-बिन्दु,
धरणीतल पर टपकाती है॥

सागर-सरिता की लहरों से,
हिल-मिलकर क्रीड़ा करती है।
वन-उपवन और सरोवर में,
वह प्रभा-पुञ्ज-सी भरती है॥

शैलों के शिखरों पर बैठी,
वह मन्द मन्द मुसकाती है।
मृदु पवन विकम्पित द्रुमावली,
झुक झुक कर चमर डुलाती है॥

जिसके समीप वह जाती है,
उसका स्वरूप धर लेती है।
है बहुरूपिणी बाल-छवि-सी,
छवि-छवि में छवि भर देती है॥

लेटी सुमनों की शय्या पर,
वह है वियोगिनी बाला-सी।
वसुधा के वक्षःस्थल पर है,
वह श्वेत सुमन की माला-सी॥

प्रतिबिम्बित चञ्चल जल में हो,
शशि-प्रभा और भी खिलती है।
सागर की ऊँची लहरों पर,
चाँदनी चाँद से मिलती है॥

परबत की चोटी पर चढ़कर,
वह करती कौन इशारा है।
सन्देश भेजती क्या कुछ वह,
शशि की किरणों के द्वारा है॥

फूलों के मृदु उर में घुसकर,
निज जीवन भूला करती है।
हिलते कोमल किसलय-दल पर,
वह झूला झूला करती है॥

नक्षत्रों से ज्योतित नभ की,
वह है अति सुन्दर छाया-सी।
संसार अचेतन है जिसमें,
है परब्रह्म की माया-सी॥

लेखक,
ठाकुर गोपालशरणसिंह

...राणिक ढङ्ग की एक कहानी

बाहुबली

लेखक
श्रीयुत जैनेन्द्रकुमार

बहुत पहले की बात कहते हैं। तब दो युगों का संधिकाल था। भोगयुग के अस्त में कर्मयुग फूट रहा था। भोगकाल में जीवनमात्र भोग था। पाप-पुण्य की रेखा का उदय न हुआ था। कुछ निपिद्ध न था, न विधेय। अतः पाप असंभव था, पुण्य अनावश्यक। जीवन बस रहना था। मनुष्य इतर प्रकृति के प्रति अपने आपमें स्वत्व का अनुभव नहीं करने लगा था और प्रकृति भी उसके प्रति पूर्ण वदान्य थी। वृक्ष कल्पवृक्ष थे। पुरुष तन ढाँकने को वल्कल उनसे पा लेता, पेट भरने को फल। उसकी हर बात प्रकृति ओढ़ लेती। विवाह न था और परस्पर सम्बन्धों में नातों का आरोप न हुआ था। माता, बहन, पत्नी, पुत्री न थी; स्त्री-मात्र मादा थी और पुरुष नर। अनेक थलचर प्राणियों में मनुष्य भी एक था और उन्हीं की भाँति जीता था।

उस युग के तिरोभाव में से नवीन युग का आविर्भाव हो रहा था। प्रकृति की दानशीलता भी कम होती लगती थी। विवाह ढूँढ़ा गया। परिवार बनने लगे, और परिवारों से समाज। नियम-क़ानून भी उठे। 'चाहिए' का प्रादुर्भाव हुआ और मनुष्य को ज्ञात हुआ कि जीना रहना नहीं है, जीना करना है। भोग से अधिक जीवन कर्म है और प्रकृति को ज्यों का त्यों लेकर बैठने से नहीं चलेगा। कुछ उस पर संशोधन, परिवर्धन, कुछ उस पर अपनी इच्छा का आरोप भी आवश्यक है। बीज उगाना होगा, कपड़े बनाने होंगे, जीवन-संचालन के लिए नियम स्थिर करने होंगे और जीवन-संवृद्धि के निमित्त उपादानों का भी निर्माण और संग्रह कर लेना होगा। अकेला [illegible] असत्य है। सहयोग स्थापित करके परिवार, नगर, समाज बनाकर पूर्णता, क्षमता और सत्यता को पाना होगा।

ठीक जब की बात कहते हैं तब व्यक्ति व्यष्टि-सत्ता से समष्टि-सिद्धि की ओर बढ़ चला था। राजा जैसी वस्तु की आवश्यकता हो चली थी। पर राजा जो राजत्व की संस्था पर न खड़ा हो, प्रजा की मान्यता पर खड़ा हो। यह तो पीछे से हुआ कि राजत्व-संस्था बनी और शिक्षा और न्याय विभाग-रूप में शासन से पृथक् हुए। नगर बन चले थे और जीवन-यापन नितान्त स्वाभाविक कर्म न रह गया था। उसके लिए उद्यम की आवश्यकता थी।

× × ×

इस प्रकार श्री आदिनाथ आदि-राज्य पर बैठे। उनके दो पुत्र थे, दो पुत्रियाँ। पुत्र भरत और बाहुबली; पुत्रियाँ ब्राह्मी और सुन्दरी।

अवस्था के चतुर्थ खण्ड में ज्येष्ठ पुत्र को बुलाकर श्री आदिनाथ ने कहा—पुत्र, अब तुम यह पद लो। मुझे अब दीक्षा लेनी चाहिए।

भरत ने कहा—जो आज्ञा।

आदिनाथ ने कहा—तुमको पहला चक्रवर्ती होना है। इस राज्य से बाहर भी बहुत-से प्रान्त हैं, जिनको व्यवस्थित शासन तुम्हें देना है। मैं तो लोगों के मान लेने से उनका मुखिया हो गया था। उनको मुझे राजा कहने में सुख मिला। मैंने कहा अच्छा। लेकिन तुमको साम्राज्य बनाना है। अपने लिए नहीं, लोगों में एकत्रता लाने के लिए। तुमको विजय-प्रसार का कर्तव्य भी करना होगा।

भरत ने कहा—महाराज, आप दीक्षा क्यों लें? मैं विजयध्वज फहरा न आऊँ और अपने को समर्थ न

समझ लूँ तब तक आप अपना आशीर्वाद मुझ पर से न उठावें।

आदिनाथ ने कहा—पुत्र, अब समय आता जाता है कि राजा शासक अधिक हो, प्रजा का हमजोली उतना न हो। राजैश्वर्य से युक्त राजा को देखकर प्रजा समझती है कि उसने कुछ पाया है। तब तक उसका चित्त तुष्ट नहीं होता। मैं तो प्रजा के निम्नातिनिम्न जन से अपना हमजोलीपन नहीं तज सकता। किन्तु तुम्हारे लिए यह अनिवार्य नहीं है। तुम राजपुत्र हो। मैं तो साधारण पिता का पुत्र हूँ और जिस पद से शासन की आशा है उसके सर्वथा अयोग्य बन जाना चाहता हूँ। मुझे लोगों के दुःख में मिल जाना चाहिए और मुझे उस मार्ग में से चल कर अपना कैवल्य पा लेना चाहिए।

भरत ने निरुत्तर हो कर सिर झुका लिया।

अगले दिन आदिनाथ ने दीक्षा ले ली। समस्त वस्त्राभरण और नगर त्याग कर वे निर्ग्रन्थ विहार कर गये। और भरत, चुप मन, जय-यात्रा पर चल दिये।

पृथिवी के छहों खण्डों पर विजय स्थापित कर और बहुभाँति के मणि-मुक्ता, हय-गज और कन्या-सुन्दरियों की भेंट से युक्त भरत धूमधाम के साथ नगर को लौट कर आये।

किन्तु जब भरत नगर में प्रवेश करने लगे तब विचित्र घटना हुई। चक्रवर्ती का शासन-चक्र नगर के भीतर प्रविष्ट नहीं होता था। प्रत्येक द्वार से नगर में प्रवेश करने के यत्न किये गये, किन्तु शासन-चक्र ने न साथ दिया। इस पर लोगों को बहुत अचरज हुआ। तब राजगुरु की शरण में जाकर इसके कारण के विषय में जिज्ञासा की गई। उन्होंने बताया कि इस नगर में एक व्यक्ति है जो अविजित है। उस पर जब तक विजय न पा ली जाय तब तक चक्रवर्त्तित्व अखण्ड नहीं होता। और उस समय तक यह शासन-चक्र नगर में प्रवेश न करेगा। राजगुरु ने यह भी बताया कि अभी तक जिन पर किसी ने विजय नहीं पाई है ऐसे व्यक्ति राजकुमार बाहुबली हैं।

भरत ने पूछा—गुरुदेव, तब क्या बाहुबली से मुझे युद्ध करना होगा?

राजगुरु ने कहा—हाँ, तब तक चक्रवर्तित्व असिद्ध है।

भरत ने कहा—लेकिन मैं चक्रवर्ती नहीं होना चाहता।

राजगुरु ने कहा—राजर्षि, यह आपकी व्यक्तिगत इच्छा-अनिच्छा का प्रश्न नहीं है। यह राजकारण का प्रश्न है।

भरत ने कहा—गुरुदेव, क्या भाई से भाई को लड़ना होगा?

राजगुरु ने कहा—राजा, राजकारण गहन है। राजकारण-धर्मी का कौन भाई है, कौन भाई नहीं है?

भरत नतमस्तक हुए।

× × × ×

पाँच युद्धों-द्वारा शक्ति-परीक्षण का निश्चय हुआ। दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध आदि, और अन्त में मल्लयुद्ध।

आरम्भ के चारों युद्धों में बिना प्रयास बाहुबली ही जयी हुए। बाहुबली इस विजय से विशेष उल्लसित नहीं दिखाई देते थे, न भरत विशेष उदास। मल्लयुद्ध अन्तिम युद्ध था और उसके समय प्रजा की उत्सुकता इस भाई-भाई के द्वेषहीन युद्ध में बहुत बढ़ गई थी।

मल्लयुद्ध में कुछ देर के बाद बाहुबली ने भरत को दोनों हाथों पर ऊपर उठा लिया। इस समय दर्शकों के प्राण कण्ठ में आ बसे थे। वे प्रतिपल आशंका करने लगे कि चक्रवर्ती भरत अब धरती पर चित आ पड़ते हैं। किन्तु बाहुबली ने धीमे धीमे अपने हाथों को नीचे किया। और भरत पृथिवी पर सावधान खड़े दिखाई दिये। तदनन्तर नतशिर होकर बाहुबली ने दोनों हाथों से अपने बड़े भाई के चरण छुए।

भरत ने भी बाहुबली को अपनी छाती से लगा लिया, कहा—बाहुबली, विजयी होओ। मुझे तुम पर गर्व है और मैं तुम्हारी विजय पर हर्षित हूँ। तुम सामर्थ्यशाली बनो।

बाहुबली ने कहा—यह आप क्या कहते हैं? आप ज्येष्ठ हैं, योग्य हैं। और मैं एक क्षण के लिए भी राज्य नहीं चाहता।

भरत ने कहा—भाई बाहुबली, यह तुम्हारा है। तुम उसके विजेता हो, उसके पात्र हो। और मैं अपना

हृदय दिखा सकूँ तो तुम जानो, मैं कितना प्रसन्न हूँ। तुम राजा बनो, मुझे अमात्य बनाओ, सेनापति बनाओ, अथवा जो चाहो सेवा लो।

बाहुबली ने हाथ जोड़कर कहा—भाई, मुझे राज्य की इच्छा नहीं है। इस विषय में आप राज्य-पालन का कर्तव्य मुझ पर न डालें। मैं दीक्षा लेना चाहता हूँ। मुझे राज्य आदि नहीं चाहिए।

भरत ने बहुत कहा। परन्तु बाहुबली दीक्षा लेकर वन की ओर चले गये। भरत चुपचाप राज्यरक्षा और राजत्व-पालन में लग गये।

× × × ×

बाहुबली ने घोर तपश्चरण किया—अति दुर्द्धर्ष, अति कठोर, अति निर्मम! वर्षों वे एक पैर से खड़े रहे। महीनों निराहार ही पड़े रहे।

सुदीर्घ काल तक अखण्ड मौन साधे रक्खा। बरसों बाहर की ओर आँख खोलकर देखा तक नहीं।

उनकी इस तपस्या की कीर्ति दिग्दिगंत में फैल गई। देश देश से लोग उनके दर्शन को आने लगे। भक्तों की संख्या न थी! उनकी महिमा और पूजा का परिमाण न था!

किन्तु बाहुबली भक्तों और उनकी पूजा से विमुख होकर घोर से घोरतर निर्जन दुष्प्राप्य एकान्त में चले जाते थे। एक स्थान पर एक बार अडिग, एकस्थ, एकाकी इतने काल तक खड़े रहे कि उनके सहारे बल्मीक जम गये, बेलें उठकर शरीर को लपेटने लगीं। उन वल्मीकों में कीड़े-मकोड़ों ने घर बना लिये।

इस कामदेवोपम सर्वाङ्ग-सुन्दर बलिष्ठ पुरुष ने निदारुण कायक्लेश में वर्ष के वर्ष बिता डाले। लोग देखकर हा-हा खाते थे और निस्तब्ध रह जाते थे। उसकी स्पृहणीय काया मिट्टी बनी जा रही थी। स्त्रियाँ उस निमीलित-नेत्र, मग्न-मौन, शिला की भाँति खड़े हुए पुरुष-सिंह के चरणों को धो धो कर वह पानी आँखों लगाती थीं। उसके चरणों के पास की मिट्टी ओषधि समझी जाती थी। पर वह सब ओर से विलग, अनपेक्ष, बन्दआँख, बन्दमुख, मलिनदेह, कृषगात, तपस्या में लीन था।

यह था, पर कैवल्य उसे नहीं प्राप्त हुआ। ज्ञानी लोग इस पर किंकर्तव्यविमूढ़ थे।

× × × ×

जीवनमुक्त भगवान् आदिनाथ से लोगों ने पूछा—भगवान्; दीर्घकाल से कुमार बाहुबली अतिशय कठोर तपश्चर्या कर रहे हैं। आपको ज्ञात तो है?

उन्होंने कहा—हाँ, ज्ञात है।

"उससे हमारा हृदय काँपता है। आप उन्हें इससे विरक्त करेंगे?"

उन्होंने कहा—नहीं। एक निष्ठा के साथ जो किया जाता है उससे किसी का अपकार नहीं होता।

लोगों ने पूछा—किन्तु भगवान्, कुमार बाहुबली को अब तक कैवल्य-सिद्धि क्यों नहीं हो सकी?

भगवान् ने कहा—यह तुम पीछे जानोगे।

× × × ×

भरत राज्यशासन चला रहे थे। प्रथम चक्रवर्ती भरत के ऐश्वर्य्य का पार न था। मणि-माणिक-मुक्ता की दीप्ति से उनका परिच्छद जगमग रहता था। उनके नाम का आतङ्क दिग्दिगन्त में छाया था। सब प्रकार के सुख-विलास और आमोद-प्रमोद के साधन उनके संकेत पर प्रस्तुत थे। और वे अपने अखण्ड निष्कण्टक चक्रवर्तित्व का उपभोग कर रहे थे।

इसको भी वर्ष के वर्ष हो गये।

एक दिन भगवान् आदिनाथ के पास पहुँच कर भरत ने कहा—भगवान्, भाई बाहुबली को यह अधिकार मिल[illegible] कि वह मुझको छोड़कर और राज्य को छोड़कर स्वा[illegible] रहे और सत्य को पाये। जो मेरे अधिकार में नहीं आ[illegible] था, जो बाहुबली का हो गया था, उस राज्य को लेने [illegible] मैं रह गया। मेरे लिए अस्वीकार करने को तनिक [illegible] अवकाश नहीं छोड़ा गया। मुझे शिकायत नहीं [illegible] लेकिन मैं आपसे पूछता हूँ, क्या मैं अब दीक्षा नहीं [illegible] सकता।

भगवान् ने कहा—ले सकते हो। अगर सत्य [illegible] खोज और सत्य की उपलब्धि राजत्व के द्वारा तुम्हारे निकट अगम्य बन गई है तो तुम उसे अवश्य तज स[illegible]

हो। और मैं कह सकता हूँ—अगम्य बन जाना भी चाहिए। तुम पचास वर्ष से तो ऊपर के हुए न?

भरत संतुष्टचित्त महलों को लौट आये। और दो दिन बाद घोषणा हो गई कि चक्रवर्ती अब दीक्षा लेंगे।

नगरवासियों में विकलता छा गई। साम्राज्य के प्रान्त-प्रान्त से विरोध में अनुनय-प्रार्थनायें आईं। किंतु भरत ने एक प्रतिनिधि-सभा को अपना उत्तराधिकार देकर दीक्षा ले ली। और राज्याभरण उतारते उतारते मुहूर्त्त के अन्तर में उन्हें निर्मल कैवल्य की उपलब्धि हो गई।

× × × ×

लोगों ने क्लिष्ट भाव से भगवान आदिनाथ की शरण में जाकर पूछा—भगवान्, यह क्या बात है? कुमार बाहुबली ने कितना घोर कायोत्सर्ग झेला, कैसा दुर्द्धर्ष तपश्चरण किया। आरम्भ से ही उन्होंने सब सुखों का विसर्जन किया, किन्तु उनको कैवल्य प्राप्त नहीं हुआ। और चक्रवर्ती भरत ने जीवन के अधिक भाग में ऐश्वर्य ही भोगा, प्राचुर्य्य ही देखा, विलास ही पाया। उनको राज-चिह्न उतारते उतारते परम ज्ञान की प्राप्ति हो गई! भगवन्, बताइए, यह कैसे हुआ है?

भगवान् ने मुस्करा कर कहा—बाहुबली के मन में से एक फाँस नहीं निकली है, वही एक शल्य उसकी मुक्ति में काँटा है। उसके चित्त में यह खटक बनी हुई है कि जिस भूमि पर वह खड़ा है वह भरत के राज्यान्तर्गत है।

× × × ×

[illegible] वर्षों के उपरान्त भी [illegible] रहा है। यदि उससे जनता को वास्तविक [illegible] होता तो वह अवश्य फैलता। महाजन को सहकारी-[illegible] समितियों से तनिक भी भय नहीं होता, तथा साख-[illegible] समितियों से जनता इतना उदासीन है कि सार्वजनिक [illegible] जीवन में उनका कोई स्थान ही नहीं है। सेन्ट्रल बैंकों [illegible] इतने अधिकार दे दिये गये हैं कि साख-समितियों का [illegible] महत्त्व ही नहीं है और वे अपना प्रबन्ध करने में [illegible] हैं। ये समितियाँ वास्तव में सहकारी नहीं

बाहुबली के कानों में जब यह बात पहुँची, मन का काँटा एक-दम निकल गया, जैसे एक साथ ही वे स्वच्छ हो गये। आँखें खुल गईं, मौन मुख मुस्करा उठा। उस मुस्कराहट में मन की अवशिष्ट ग्रन्थि खुल कर बिखर गई और मन मुकुलित हो गया।

उनके चहुँ ओर वन में उस समय असंख्य भक्त नर-नारियों का मेला-सा लगा था। उन सबको अब उन्होंने अस्वीकार नहीं किया, उनका आवाहन किया। अपने आराध्य की यह प्रसन्न-वदन-मुद्रा देखकर लोगों के हर्ष का पारावार न था। बाहुबली ने अपने को उनके निकट हर तरह से सुगम बना लिया। कहा—भाइयो, तुमने इस बाहुबली को आराध्य माना। उसकी आराध्यता समाप्त होती है। तपस्या बन्द होती है। तुमने शायद मेरे कायक्लेश की पूजा की है। अब वह तुम मुझमें नहीं पाओगे। इस-लिए मुझे आशा है और उचित है कि तुम मुझे पूजा देना छोड़ दोगे। और यदि मेरी अप्राप्यता का तुम आदर करते थे तो वह भी नहीं पाओगे। मैं सबके प्रति सदा सुप्राप्त रहने की स्थिति में ही अब रहूँगा।

बाहुबली ने निर्मल कैवल्य पाया था। ग्रन्थियाँ सब खुल गई थीं। अब उन्हें किसकी ओर से बन्द रहने की आवश्यकता थी! वे चहुँ ओर खुले, सबके प्रति सुगम रहने लगे।

यह देख धीरे धीरे भक्तों की भीड़ उजड़ने लगी और, परम योगी बाहुबली की शरण में [illegible] कर रही हैं, तथापि विरल ज्ञानी और [illegible]-रहित है और सहकारिता की भावना का नितान्त अभाव है।"

यह तो हुई जाँच-कमेटी की रिपोर्ट। अब तनिक संयुक्तप्रान्त के सहकारिता-विभाग की वार्षिक रिपोर्ट का भी दिग्दर्शन कीजिए। प्रान्तीय सरकार को १९३१ में सहका-रिता-विभाग की वार्षिक रिपोर्ट भेजते हुए रजिस्ट्रार साहब लिखते हैं—"कृषि-साख-समितियों की संख्या ५,०४४ से घटकर ५,००९ हो गई, क्योंकि बहुत-सी समितियाँ दिवालिया हो गईं। यह संख्या तो और भी घट जाती यदि ३५० समितियाँ दिवालिया होने से बचा न ली जातीं और १८० नई समितियाँ स्थापित न की जातीं।" (पैरा १३)

संयुक्त-प्रान्त में सहकारिता-आन्दोलन

लेखक, प्रोफ़ेसर शंकरसहाय सकसेना, एम० ए० (इकान), एम० ए० (काम), बी० काम

आन्दोलन का आरम्भ

युक्त-प्रान्त में सहकारिता-आन्दोलन का श्रीगणेश सन् १९०० में हुआ जब प्रान्तीय सरकार ने श्री डूपरैन साहब को जो योरप में सहकारिता-आन्दोलन का अध्ययन कर चुके थे—इन प्रान्तों में इस आन्दोलन को फैलाने के लिए नियुक्त किया। श्री डूपरैन ने 'उत्तर-भारत के लिए बैंक' नामक एक पुस्तक लिखकर लोगों का ध्यान इस महत्त्वपूर्ण विषय की ओर आकर्षित किया और १९०१ में कुछ सहकारी बैंक खोले भी गये। इसके उपरान्त जब भारत-सरकार ने १९०४ में प्रथम सहकारिता-ऐक्ट

इतने काल तक खड़ ... गये, बेलें उठकर शरीर को लपटन ... में कीड़े-मकोड़ों ने घर बना लिये।

इस कामदेवोपम सर्वाङ्ग-सुन्दर बलिष्ठ पुरुष ने निदारुण कायक्लेश में वर्ष के वर्ष बिता डाले। लोग देखकर हा-हा खाते थे और निस्तब्ध रह जाते थे। उसकी स्पृहणीय काया मिट्टी बनी जा रही थी। स्त्रियाँ उस निमीलित-नेत्र, मग्न-मौन, शिला की भाँति खड़े हुए पुरुष-सिंह के चरणों को धो धो कर यह पानी आँखों लगाती थीं। उसके चरणों के पास की मिट्टी ओषधि समझी जाती थी। पर वह सब ओर से विलग, अनपेक्ष, बन्दआँख, बन्दमुख, ... तपस्या में लीन था।

जानना आवश्यक है कि आन्दोलन ने प्रान्त की कितनी जन-संख्या को अपनी ओर आकर्षित किया। यह इस लेख में दिये गये आँकड़ों से ज्ञात हो जायगा।

१९३२ की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार संयुक्त-प्रान्त में कुल ५,४१८ कृषि-सहकारी-समितियाँ हैं। इनमें साख, ग़ैर साख, तथा उत्पादक समितियाँ सभी सम्मिलित हैं। इनके सदस्यों की संख्या १,१७,१७६ है। इन सब समितियों की कार्यशील पूँजी १,०१,९४,२०९ रुपये तथा इनकी निजी पूँजी ५०,५४,५०२ रुपये है।

संयुक्त प्रान्तीय सरकार गत ३० वर्षों से सहकारिता आन्दोलन पर प्रति वर्ष लगभग पाँच लाख रुपये से ऊपर व्यय करती चली आ रही है फिर भी यह आन्दोलन सफल नहीं हुआ। यह इसलिए कि इसके अधिकांश संचालकों में निर्धन ग्रामीणों की सेवा की लगन नहीं है। यदि यह आन्दोलन ग़ैर सरकारी बना दिया जाय तो बहुत कुछ सफलता मिल सकती है। विद्वान् लेखक ने इस बात की आवश्यकता को अपने इस लेख में भले प्रकार सिद्ध कर दिया है।

रहे और सत्य को पाय ... है। समितियों की अथवा था, जो बाहुबली का हो गया था, ...सफलता नहीं निर्भर मैं रह गया। मेरे लिए अस्वीकार करने को ... जब अवकाश नहीं छोड़ा गया। मुझे शिकायत नहीं है लेकिन मैं आपसे पूछता हूँ, क्या मैं अब दीक्षा नहीं ले सकता।

भगवान् ने कहा—ले सकते हो। अगर सत्य की खोज और सत्य की उपलब्धि राजत्व के द्वारा तुम्हारे निकट अगम्य बन गई है तो तुम उसे अवश्य तज सकते

इन आँकड़ों को देखने से सम्भवतः पाठक यह समझें कि आन्दोलन सफल हो रहा है और अधिकाधिक जन-संख्या इस ओर आकर्षित हो रही है। किन्तु यह धारणा ठीक नहीं है। पिछले कुछ वर्षों में संयुक्त-प्रान्त में सहकारी-समितियों की संख्या और सदस्यों की भी संख्या घट गई है। इस सम्बन्ध

सिद्धान्त यह है कि जीवन की होड़ में वे ही रह सकते हैं जो सबल हैं और प्रतिस्पर्धा में टिक सकते हैं। निर्बलों के लिए संसार में कोई स्थान नहीं है। इस सिद्धान्त को माननेवालों का मत है कि यह समाज की उन्नति के लिए आवश्यक है कि सबल निर्बलों को पैरों तले रौंदते हुए आगे बढ़ जायँ और यदि वे निर्बलों को भी सहारा देने लगेंगे तो उनकी उन्नति रुक जायगी। किन्तु सहकारितावादी इस सिद्धान्त को नहीं मानते। उनका कथन है कि निर्बल पारस्परिक सहायता और सहानुभूति के सिद्धान्त को अपनाकर अपना संगठन करके सबलों की प्रतिद्वन्द्विता में टिक सकते हैं। अस्तु सहकारिता-आन्दोलन समाज के निर्बल-वर्ग को संगठित करके उसमें स्वावलम्बन तथा आत्म-निर्भरता के भाव भरता है और उस वर्ग को जीवन की होड़ में टिकने की क्षमता प्रदान करता है। जब तक सहकारी-समितियाँ इस लक्ष्य तक नहीं पहुँचतीं तब तक वे असफल ही समझी जानी चाहिए।

वर्ष	सहकारी समितियों तथा बैंकों की संख्या	सहकारी समितियों के सदस्यों की संख्या	आन्दोलन में लगी हुई कुल पूँजी	समितियों और बैंकों की निजी पूँजी
१९०४-०५ ...	१५९	१२,२१५	ज्ञात नहीं	ज्ञात नहीं
१९०५-०६ ...	१२३	१०,२३४	„ „	४७,०१८ रु०
१९१०-११ ...	१२५८	६३,०३५	„ „	७,६३,१८९ „
१९१५-१६ ...	३,१९०	१,१३,२५१	„ „	२८,४७,६९१ „
१९२०-२१ ...	४,४९३	१,१०,६२०	८०,८३,४३३	४६,०४,५४० „
१९२४-२५ ...	६,०००	१,५५,१४९	१,१२,५१,८६५	७२,०५,३१९ „
१९३२- ...	बैंक ७१ ग़ैर साख-समितियाँ ७७ साख-समितियाँ ५,०४५			

अब हमें देखना यह है कि संयुक्त-प्रान्त में सहकारिता-आन्दोलन की स्थिति क्या है। १९२६ में प्रान्तीय सरकार ने प्रान्त में आन्दोलन की जाँच करने के लिए एक कमिटी नियुक्त की थी। उक्त कमिटी ने आन्दोलन के विषय में निम्नलिखित सम्मति प्रकट की है—

"सहकारिता-आन्दोलन बीस वर्षों के उपरान्त भी स्वयं फैल नहीं रहा है। यदि उससे जनता को वास्तविक लाभ होता तो वह अवश्य फैलता। महाजन को सहकारी-साख-समितियों से तनिक भी भय नहीं होता, तथा साख-समितियों से जनता इतना उदासीन है कि सार्वजनिक जीवन में उनका कोई स्थान ही नहीं है। सेन्ट्रल बैंकों को इतने अधिकार दे दिये गये हैं कि साख-समितियों का कोई महत्त्व ही नहीं है और वे अपना प्रबन्ध करने में असमर्थ हैं। ये समितियाँ वास्तव में सहकारी नहीं हैं" (पैरा १०) इसी पैराग्राफ़ में दूसरे स्थान पर रिपोर्ट में लिखा है। "यद्यपि हम यह स्वीकार करते हैं कि कुछ सहकारी-साख-समितियाँ उपयोगी कार्य कर रही हैं, तथापि आन्दोलन जीवन-रहित है और सहकारिता की भावना का नितान्त अभाव है।"

यह तो हुई जाँच-कमेटी की रिपोर्ट। अब तनिक संयुक्तप्रान्त के सहकारिता-विभाग की वार्षिक रिपोर्ट का भी दिग्दर्शन कीजिए। प्रान्तीय सरकार को १९३१ में सहकारिता-विभाग की वार्षिक रिपोर्ट भेजते हुए रजिस्ट्रार साहब लिखते हैं—"कृषि-साख-समितियों की संख्या ५,०४४ से घटकर ५,००९ हो गई, क्योंकि बहुत-सी समितियाँ दिवालिया हो गईं। यह संख्या तो और भी घट जाती यदि ३५० समितियाँ दिवालिया होने से बचा न ली जातीं और १८० नई समितियाँ स्थापित न की जातीं।" (पैरा १३)

इसका अर्थ यह हुआ कि इस वर्ष २१५ समितियों का दिवाला निकला।

यद्यपि समितियों की संख्या घट गई और सदस्यों की भी संख्या घट गई, फिर भी सदस्यों पर बक़ाया क़र्ज़ ८०.८८ लाख रुपये से बढ़कर ८२.४८ लाख हो गया। इतना ही नहीं, चुकाये जाने का समय व्यतीत हो जाने पर भी जो ऋण नहीं चुकाया गया उसकी रक़म इस वर्ष में ३७.७६ लाख रुपये से ५३.७३ लाख रुपये हो गई (पैरा १५)। आगे चलकर रजिस्ट्रार महोदय लिखते हैं—"लगभग एक तिहाई समितियों का दिवालिया होना अवश्यम्भावी है। एक तिहाई ऐसी हैं जो दिवालिया होने के समीप हैं, किन्तु प्रयत्न करने पर सम्भव है कि बचाई जा सकें। तथा एक तिहाई ऐसी हैं जिनकी आर्थिक अवस्था अच्छी है।" यह तो हुई सहकारिता-विभाग के आन्दोलन के सम्बन्ध में निजी राय। जब स्वयं रजिस्ट्रार को ही आन्दोलन की इतनी कटु आलोचना करनी पड़ी तब यह समझने में कठिनता नहीं होगी कि आन्दोलन बहुत ही गिरी हुई दशा में है। अभी तक तो हमने साख-समितियों की दशा का ही दिग्दर्शन कराया। अब तनिक ग़ैर-साख-समितियों की दशा भी देख लीजिए। प्रान्त में १६ गन्ना बेचने की समितियाँ हैं जो साधारण रूप से सफल हुई हैं। आगरा-कमिश्नरी में ११ घी बेचनेवाली समितियाँ हैं, किन्तु वे अभी तक सफलता-पूर्वक कार्य न कर सकीं। प्रान्त में केवल एक ही सहकारी डेयरी है, किन्तु उसकी भी दशा अच्छी नहीं है। प्रान्त में केवल ४ अंडा बेचनेवाली समितियाँ हैं। ये अभी बिलकुल नई हैं, इस कारण इनके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। पाँच समितियाँ किसानों को बीज देने के लिए स्थापित की गई थीं, किन्तु दो टूट गईं, बची हुई तीन की भी दशा कुछ अच्छी नहीं है। उपभोक्ता स्टोरों की दशा तो और भी शोचनीय है। केवल चार स्टोर प्रान्त में कार्य कर रहे हैं, जिनमें फ़र्रुख़ाबाद का स्टोर सुप्तावस्था में है। बस्ती का स्टोर दिवालिया होनेवाला है, लखनऊ के स्टोर की दशा भी कुछ अच्छी [illegible] हैं। केवल ग़ाज़ीपुर के स्कूल का स्टोर अच्छी अवस्था में है। इसका कारण यह है कि उसके प्रधान कार्यकर्त्ता हेड मास्टर हैं। इसके अतिरिक्त बाराबंकी, आगरा, संडीला, बनारस में बुनकर-समितियाँ स्थापित की गई हैं जो साधारणतः सफल कही जा सकती हैं। प्रान्त में २६ सहकारी चकबंदी करनेवाली समितियाँ हैं, जिनमें बिजनौर-ज़िले की समितियाँ सफलता-पूर्वक कार्य कर रही हैं। प्रान्त में लगभग १,००० समितियाँ ऐसी हैं जो गाँवों की सफ़ाई का कार्य करती हैं। इनके द्वारा यद्यपि कुछ उपयोगी कार्य अवश्य हुआ है, तो भी इनका कार्य-क्षेत्र बहुत ही संकुचित है। अधिकतर समितियाँ सदस्यों को खाद के ढेर लगाने की हानियाँ समझाती हैं और गढ़ों में खाद रखने को कहती हैं। कुछ समितियों ने गाँवों की दाइयों को शिक्षा देने का प्रबन्ध किया है।

प्रान्त में ७१ सेन्ट्रल बैंक हैं जो सहकारी-साख-समितियों तथा अन्य समितियों को ऋण देते हैं। कुछ को छोड़ कर इन बैंकों की अवस्था अच्छी है। प्रान्त में एक भूमि-बंधक-बैंक भी है जो ग़ाज़ीपुर-ज़िले में सैदपुर नामक स्थान में कार्य कर रहा है। इसको कार्य करते हुए केवल दो वर्ष हुए हैं, इस कारण इसके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

कुछ सहकारी-समितियाँ ऐसी भी हैं जो ग्राम-सुधार कार्य के कुछ अंगों की पूर्ति कर रही हैं। ऐसी सब समितियों की संख्या ३६१ है। इनमें से २४३ समितियाँ रहन-सहन को सुधारने के लिए हैं। ३० मितव्ययिता-समितियाँ और २२ खेती की उन्नति के लिए हैं। १५ सिंचाई के लिए, १३ प्रौढ़ों की शिक्षा के लिए तथा १० गृह-निर्माण-समितियाँ हैं। बाक़ी अन्य प्रकार की समितियाँ हैं। ग्राम-सुधार का कार्य करनेवाली समितियाँ अधिकतर प्रतापगढ़, बनारस, गोरखपुर तथा ग़ाज़ीपुर ज़िलों में पाई जाती हैं। बनारस के ज़िलाधीश श्री मेहता ने बनारस में ग्राम-संगठन का आरम्भ किया था। वह कुछ दिनों तक तो बड़ी तेज़ी से बढ़ता गया, किन्तु अब उसमें भी अवनति के चिह्न दृष्टि-गोचर हो रहे हैं। रजिस्ट्रार ने इस विषय पर १९३३ की वार्षिक रिपोर्ट में लिखा है कि यदि शीघ्र ही इस ओर ध्यान नहीं दिया गया तो यह उपयोगी कार्य नष्ट हो जायगा।

ऊपर लिखे हुए संक्षिप्त विवरण से पाठकों को यह तो ज्ञात हो गया होगा कि आन्दोलन की दशा संतोषजनक नहीं है। किन्तु यह जानने के लिए कि आन्दोलन की इतनी शोचनीय दशा क्यों है, यह जानना आवश्यक है कि आन्दोलन किस प्रकार चलाया जा रहा है।

प्रारम्भिक सहकारी-समिति

आन्दोलन की जड़ तो प्रारम्भिक सहकारी-समितियाँ हैं। वे चाहे साख-समितियाँ हों, चाहे ग़ैर-साख-समितियाँ। (उत्पादक, उपभोक्ता तथा अन्य कार्यों के लिए जो समितियाँ होती हैं उन्हें ग़ैर-साख-समितियाँ कहते हैं)। जिन साख-समितियों के सदस्य अधिकतर किसान होते हैं वे अपरिमित दायित्ववाली होती हैं। अन्य साख-समितियाँ तथा ग़ैर-साख-समितियाँ यदि चाहें तो परिमित दायित्व के सिद्धान्त को अपना सकती हैं। इन समितियों का संगठन सहकारी सेंट्रल बैंक के मैनेजर करते हैं। समिति के सदस्य अपनी वार्षिक बैठक में एक पंचायत चुनते हैं, प्रत्येक सदस्य की हैसियत निश्चित करते हैं तथा सूद की दर निश्चित करते हैं। पंचायत समिति का कार्य करती है। जो सदस्य ऋण माँगता है उसको ऋण देती है और क़िस्तों में वसूल करती है।

सहकारी सेंट्रल बैंक

प्रत्येक ज़िले में और कहीं कहीं तहसीलों में सेंट्रल बैंक स्थापित किये गये हैं। इन सेंट्रल बैंकों का यह कार्य होता है कि सहकारी-समितियों को कार्यशील पूँजी उधार दें, जिससे वे अपने सदस्यों को ऋण दे सकें। साथ ही साथ सेंट्रल बैंकों के मैनेजर तथा कर्मचारियों का यह मुख्य कर्तव्य होता है कि वे अपने ज़िले में नई समितियाँ संगठित करें तथा जो स्थापित हो चुकी हैं उनकी देख-भाल करें। सेंट्रल बैंकों में समितियों को तो हिस्से लेने ही पड़ते हैं, परन्तु धनी व्यक्ति भी उसमें हिस्से लेते हैं। बैंक के बोर्ड आफ़ डायरेक्टर्स में कुछ डायरेक्टर तो समितियों के प्रतिनिधि होते हैं और कुछ हिस्सेदारों में से। ज़िलाधीश बैंक का चेयरमैन होता है। इस कारण सरकार की दृष्टि में राजभक्त बननेवाले आनरेरी मजिस्ट्रेट, राय साहब तथा सरकार की कृपादृष्टि के अभिलाषी सज्जनगण इन बैंकों के हिस्से ख़रीद लेते हैं और ये लोग ही अधिकतर इन बैंकों के कर्ता-धर्ता होते हैं। आप प्रान्त के बैंकों के डायरेक्टरों की सूची उठा कर देख जाइए। आपको ज्ञात हो जायगा कि अधिकतर वे ही लोग डायरेक्टर हैं जो ज़िलाधीश को प्रसन्न करना चाहते हैं। ऐसे सज्जन सहकारिता-आन्दोलन से सहानुभूति नहीं रखते। वे तो केवल सरकार को प्रसन्न रखने के लिए सेंट्रल बैंक के हिस्से ख़रीद लेते हैं।

संयुक्त-प्रान्त में प्रान्तीय सहकारी-बैंक अभी तक स्थापित नहीं हो सका है। भारतवर्ष के अन्य सब प्रान्तों में प्रान्तीय सहकारी-बैंक स्थापित हो गये हैं जो सेंट्रल बैंकों को कार्यशील पूँजी उधार देते हैं। १९३० में जो प्रान्तीय बैंकिंग इन्कायरी कमेटी बिठाई गई थी उसने आन्दोलन की सफलता के लिए एक प्रान्तीय सहकारी-बैंक की आवश्यकता बतलाई है। किन्तु अभी तक इसके लिए कोई प्रयत्न नहीं हुआ।

संयुक्त-प्रान्तीय सहकारी-यूनियन लगभग पाँच वर्षों से कार्य कर रहा है। यूनियन का चेयरमैन रजिस्ट्रार होता है। यूनियन के दो कार्य मुख्य हैं—प्रबन्ध तथा आय-व्यय-निरीक्षण। इन कार्यों को सुचारु रूप से करने के लिए यूनियन १११ तथा प्रबन्धक ११० आडीटर रखता है। किन्तु सेंट्रल-बैंक-यूनियन के बहुत-से सदस्य केवल इसलिए नहीं बने हैं कि उनके मैनेजरों के अधिकार कुछ कम हो जावेंगे। प्रान्तीय सरकार यूनियन को ६६,००० रुपया देती है तथा यूनियन को १,६७,००० रुपये के लगभग आडिट फ़ीस से प्राप्त होते हैं।

सबके ऊपर रजिस्ट्रार होता है। यदि देखा जाय तो रजिस्ट्रार ही इस आन्दोलन का सर्वेसर्वा होता है—वह आन्दोलन का सूत्रधार है। समितियों को रजिस्टर करना, उनका निरीक्षण करना, तथा स्थिति अधिक ख़राब हो जाय तो उनको तोड़ना, और उनका आडिट कराना, ये सब उसके मुख्य कार्य हैं। रजिस्ट्रार अधिकतर कोई सिविलियन होता है अथवा उसी ग्रेड का कोई सरकारी कर्मचारी। उसके नीचे डिप्टी रजिस्ट्रार तथा इंस्पेक्टर होते हैं जो उसकी अध्यक्षता में कार्य करते हैं। असिस्टेंट रजिस्ट्रार तथा डिप्टी रजिस्ट्रार प्रान्तीय सिविल सर्विस के होते हैं। कोई भी

सिविल सर्विस का सिविलियन अधिक दिनों रजिस्ट्रार नहीं रह पाता, क्योंकि वह अपनी उन्नति को आन्दोलन के लिए नहीं छोड़ सकता। फल यह होता है कि रजिस्ट्रार जल्दी जल्दी बदला करते हैं और कोई एक नीति स्थायी रूप से काम में नहीं लाई जाती। रजिस्ट्रार को नियुक्त होते समय सहकारिता का तनिक भी ज्ञान नहीं होता, वह तो रजिस्ट्रार बन कर ही इस विषय को सीखता है। डिप्टी रजिस्ट्रारों को आन्दोलन से कोई विशेष प्रेम अथवा सहानुभूति नहीं होती, क्योंकि वे भी दूसरे विभागों में जाने की चेष्टा करते रहते हैं। एक डिप्टी कलेक्टर डिप्टी रजिस्ट्रार बना दिये जाने पर प्रसन्न नहीं होता। किसी भी आन्दोलन की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उसके संचालक उत्साह और लगन के साथ उसमें जुटें। प्रान्तीय सहकारिता-विभाग के कार्यकर्ताओं में इस लगन का सर्वथा अभाव है। जो सज्जन इस आन्दोलन में अवैतनिक कार्य कर रहे हैं वे सेवा-भाव से प्रेरित होकर नहीं, वरन प्रान्तीय सरकार को प्रसन्न करने के लिए आन्दोलन से सम्बन्ध रखते हैं। प्रतिवर्ष जब रजिस्ट्रार प्रान्तीय सरकार को रिपोर्ट भेजता है तब ऐसे सज्जनों की प्रान्तीय सरकार से सिफ़ारिश करता है। कोई भी आन्दोलन इस प्रकार नहीं सफल होता। जर्मनी में सहकारिता-आन्दोलन के जन्मदाता श्री रैफ़ीसन तथा श्री स्कूलज़ ने किसी स्वार्थ-वश उसे नहीं चलाया था, वे अपने निर्धन भाइयों की सेवा के लिए सरकारी नौकरियों को ठुकरा कर उस के जन्मदाता बने थे। यह आन्दोलन के असफल होने का प्रथम कारण है।

दूसरा कारण यह है कि यह आन्दोलन सरकारी आन्दोलन बन गया है। सहकारी-समिति का सदस्य साख-समिति को अपनी संस्था नहीं समझता। वह तो समझता है कि सरकार जिस प्रकार तक़ावी बाँटती है, उसी प्रकार यह सरकारी बैंक ऋण देता है। चाहे जिस सदस्य से पूछिए। वह साख-समिति को सरकारी बैंक ही कहेगा। इसका अर्थ है कि सहकारी-समिति का सदस्य सहकारिता के मूल सिद्धान्त से अपरिचित है। वह यह नहीं समझता कि यह स्वावलंबन का सिद्धान्त है। हम लोग मिलकर अपने पैरों स्वयं खड़े हुए हैं और अपनी आर्थिक उन्नति का प्रयत्न कर रहे हैं। इस अनभिज्ञता का मुख्य कारण यह है कि सेन्ट्रल बैंक के कर्मचारी तथा अन्य संगठनकर्ता जब साख-समितियों का संगठन करते हैं तब सदस्यों को सहकारिता के सिद्धान्तों की शिक्षा नहीं देते, जो अत्यन्त आवश्यक है और जिस पर मैकलेगन-कमिटी* ने इतना ज़ोर दिया था। इसके अतिरिक्त प्रबन्धक सेन्ट्रल बैंक के मैनेजर तथा अन्य कर्मचारी सदस्यों को यह नहीं बतलाते कि यह समिति तुम्हारी है, तुम्हीं इसके मालिक हो और जिस प्रकार तुम चाहो इसका प्रबन्ध अपने लाभ के लिए कर सकते हो। एक सहकारी-सेन्ट्रल-बैंक के मैनेजर ने लेखक के पूछने पर कहा था कि यदि हम सदस्यों को ये बातें बतला दें तो उन पर हमारा रोब कुछ न रहे और हम बैंक का रुपया वसूल न कर पावें। ऐसी परिस्थिति में भला किसान यह कैसे समझ सकता है कि समिति का वही मालिक है और समिति उसी की चीज़ है। जब तक किसान ऐसा न समझने लगें और उनमें स्वावलम्बन के भाव जाग्रत न हो उठें तब तक यह आन्दोलन सहकारिता-आन्दोलन नहीं कहा जा सकता। यही कारण था कि श्री रैफ़ीसन ने यह एक सिद्धान्त बना दिया था कि यदि जर्मन-सरकार आन्दोलन को सहायता देना भी चाहे तो न ली जाय।

सहकारिता-आन्दोलन की असफलता का तीसरा मुख्य कारण सहकारी-समिति के सदस्यों के साथ असभ्य व्यवहार है। सहकारिता का सिद्धान्त तो यह है कि समिति के सदस्य अपनी आवश्यकताओं का अनुमान लगाकर अपने सम्मिलित अपरिमित दायित्व पर बैंक से क़र्ज़ ले लें और रुपये को आवश्यकतानुसार आपस में बाँट लें। और अदायगी के समय हर एक सदस्य अपनी क़िश्त दे दे और पंचायत समिति के ऋण की क़िश्त बैंक को चुका दे। क्योंकि सारे सदस्य समिति के ऋण के देनदार हैं, इस कारण यदि कोई सदस्य अपनी क़िश्त नहीं चुकाता तो अन्य सदस्य उस पर ज़ोर डालेंगे और उससे वसूल करेंगे। यदि वे वसूल न कर सकेंगे तो उन सबको मिल कर वह रुपया देना पड़ेगा और भविष्य में ऐसा सदस्य समिति में न रक्खा जायगा। किन्तु इसके विपरीत होता यह है कि बैंक के कर्मचारी गाँव में पहुँचते हैं। जिन जिन सदस्यों पर ऋण होता है उनको बुलाते हैं, बैंक के मैनेजर अथवा प्रबन्धक मालिक की भाँति बैठते हैं और आसामी हाथ बाँधे खड़े रहते हैं। जो उस समय रुपया अदा नहीं कर पाते उन पर डाट पड़ती है, गाली दी जाती है और कभी कभी मार भी पड़ जाती है। इससे दो बड़ी हानियाँ होती हैं। एक तो सदस्य की दृष्टि में गाँव की समिति का कोई महत्त्व नहीं रहता, दूसरे जो किसान यह सब देखते हैं वे समझते हैं कि इससे तो महाजन ही अच्छा। इस कारण भी गाँवों में इस आन्दोलन का प्रचार नहीं हो रहा है।

ऊपर लिखे हुए कारणों के अतिरिक्त और भी कतिपय कारण इस आन्दोलन की असफलता के अवश्य हैं, किन्तु वे अधिक महत्त्व नहीं रखते। वे अधिकतर दोषपूर्ण संगठन के कारण तथा कार्यकर्ताओं की अकर्मण्यता के कारण उपस्थित हैं। एक भयंकर दोष जो इस आन्दोलन के अन्दर घुस आया, वह है काग़ज़ी लेन-देन। जब समितियों के सदस्य अपना रुपया अदा नहीं करते तब उनसे कह दिया जाता है कि तुम उतना ही ऋण और ले लो और उससे अपनी क़िश्त चुका दो। बैंक के लेजर में पिछली क़िश्त चुकता दिखा दी जाती है और उतना ही रुपया नये ऋण के रूप में दिखा दिया जाता है। इसका अर्थ यह है कि रुपया वसूल नहीं होता, केवल लिखा-पढ़ी कर ली जाती है और अधिकारियों को धोखा दिया जाता है। इसका फल यह होता है कि समितियों की स्थिति डावाँडोल हो जाती है और वे दिवालिया हो जाती हैं। कहीं समिति के पंचायतदार समिति के नाम से रुपया लेकर अपना निजी लेन-देन करते हैं, कहीं महाजन ही समिति को हथियाने का प्रयत्न करता है। किन्तु भाग्यवश अब ये दोष कम दृष्टि-गोचर होते हैं।

लेखक ने बहुत दिनों तक प्रान्त के सहकारिता-आन्दोलन का अध्ययन करने के उपरान्त यह अनुभव किया है कि यदि आन्दोलन की गति-विधि यही रही तो आन्दोलन पूर्णतः असफल होगा। आवश्यकता तो इस बात की है कि आन्दोलन बिलकुल ग़ैर सरकारी बना दिया जाय और ऐसे लोगों के हाथों में सौंप दिया जाय जिन्होंने निर्धन ग्रामीणों की सेवा का व्रत लिया है और जो अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए केवल मौखिक सहानुभूति न दिखा कर सेवा-भाव से प्रेरित होकर इस आन्दोलन में आवें।

हमारे प्रान्त में यह आन्दोलन सफल नहीं हो रहा है। यही मत १९३० में नियुक्त की गई प्रान्तीय बैंकिंग इनक्वायरी कमिटी का भी है। कमिटी ने सहकारिता-आन्दोलन के सम्बन्ध में यह सम्मति दी है--"यह कहना पर्याप्त होगा कि भारतवर्ष के अन्य प्रान्तों की तुलना में हमारे प्रान्त का आन्दोलन अधिकतर असफल हुआ"। यही नहीं श्रीयुत खरेघाट ने (जो उस समय रजिस्ट्रार थे) तो यहाँ तक कहा है कि "सहकारिता-आन्दोलन केवल असफल ही नहीं हुआ, वरन निस्संदेह हानिकारक प्रमाणित हुआ"।*

× × × ×

संयुक्त-प्रान्त की सरकार प्रतिवर्ष लगभग पाँच लाख रुपये से कुछ अधिक ३० वर्षों से सहकारिता-आन्दोलन पर व्यय करती चली आ रही है, किन्तु आन्दोलन से विशेष लाभ नहीं दृष्टि-गोचर हो रहा है। यदि इतना रुपया किसी ग़ैर सरकारी संस्था को दिया गया होता जो उसका सदुपयोग कर सकती तो आज प्रान्त के गाँवों का कायापलट हो गया होता। क्या हम आशा करें कि प्रान्तीय सरकार इस ओर ध्यान देगी?

---

* १९१५ में भारत-सरकार ने मैकलेगन की अध्यक्षता में इस आन्दोलन की जाँच करने के लिए यह कमेटी बिठाई थी।

*देखो संयुक्त-प्रान्तीय बैंकिंग इनक्वायरी-कमेटी-रिपोर्ट पैराग्राफ़ १४१ पृष्ठ ६९।

भारतीय प्रवास के सौ साल

लेखक, श्रीयुत प्रेमनारायण अग्रवाल, बी० ए०

पिछले सौ वर्षों में संसार के किन किन भागों में कितने कितने भारतीय जाकर बसे। उनकी वर्तमान स्थिति क्या है और उनका भविष्य कैसा होगा आदि प्रश्नों का इस लेख में बड़े सुन्दर ढङ्ग से वर्णन किया गया है।

सम्बर १९३४ से भारतीय प्रवास के पूरे सौ साल समाप्त हो गये हैं। अब से ठीक सौ वर्ष पहले १८३४ के दिसम्बर मास में सबसे पहले भारतीय कुली बनाकर 'प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा' के अनुसार मारीशस भेजे गये थे। तब से सन् १९२० तक लाखों भारतीय उपनिवेशों में कुलियों का बाना पहना कर पहुँचाये गये। इस काल में वहाँ उन्हें अनेक प्रकार की अनेक यातनायें भोगनी पड़ीं, उनकी सामाजिक अवस्था अत्यन्त दयनीय बनी रही, गोरे प्लान्टरों के हाथों उन्हें कितने ही प्रकार के अपमान सहने पड़े। भारत से जाते समय भारत में ही डिपो में, मार्ग में जहाज़ों पर, उपनिवेश पहुँचने पर कुली लाइनों में (जहाँ ये रहते थे) और खेतों पर, तात्पर्य यह कि पग-पग पर उन्हें किसी न किसी प्रकार के कष्ट को झेलना ही पड़ता था।

प्रत्येक उन्नतिशील देश को उपनिवेश बसाने की जरूरत पड़ती है। विशेष कर उस समय जब उसकी जन-संख्या की अभिवृद्धि बड़ी तीव्र गति से हो रही हो। कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलेंड, दक्षिण-अफ़्रीका आदि के उपनिवेश इसी बढ़ती हुई आबादी को बसाने के लिए निर्मित हुए थे। प्राचीन काल में भी उपनिवेश बसाये गये हैं। जावा, सुमात्रा, कम्बोडिया, बाली आदि के उपनिवेशों को हमारे पूर्वजों ने प्रवास-गमन करके बसाया था! अब भी वहाँ भारतीय सभ्यता के परिचायक भिन्न-भिन्न प्रकार के चिह्न बहुतायत से पाये जाते हैं।

परन्तु सन् १८३३ की जुलाई में गुलामों का यह व्यापार बन्द हो गया। इसके पिछले साल की जुलाई में इँग्लेंड में दास-व्यापार की समाप्ति की प्रथम वर्षगाँठ बड़ी धूमधाम से मनाई गई थी। इन नये उपनिवेशों में काम करने के लिए अफ़्रीका के हबशियों का मिलना असम्भव हो गया था। अँगरेज़ स्वयं इतना कठिन परिश्रम कर नहीं सकते थे कि जंगलों से ढँकी हुई ज़मीन को साफ़ करके बंजर को उर्वर बनायें और ख़ूँख़्वार जंगली जानवरों के शिकार बनें। कुलियों की सख़्त ज़रूरत थी। और वे आयें कहाँ से? पाश्चात्य देश 'दास-व्यापार' के कारण सँभल चुके थे, अतः पूर्वीय देशों की ओर निगाह फेरी गई। जापान की सरकार ने अँगरेज़ों की इस माँग को बुरी तरह ठुकरा दिया। चीन की सरकार ने चीनी कुलियों को भेजा, क्योंकि वह इनकी झूठी-सच्ची बातों में फँस गई। परन्तु ये लोग चीनियों को न रख सके। चीन स्वतन्त्र देश था, चीनियों में जीवन-जागृति के चिह्न अवशेष थे। वे कम काम करते और खर्च अधिक कराते। अँगरेज़ों को तो सस्ते और मेहनती कुली चाहिए थे, जो भारत के अतिरिक्त और कहाँ से मिल सकते थे। आत्म-सम्मान-रहित भारत की सरकार ने उनके प्रस्ताव को मंज़ूर कर लिया और उनका सर्व-प्रथम जहाज़ भारतीय कुलियों को लेकर १५ जनवरी १८३५ को मारीशस पहुँचा!

सरकार ने तो आज्ञा दे दी, मगर वहाँ जाने को तैयार कौन हो। भारतीय स्वभावतः प्रवासभीरु होते हैं। कुलियों की भर्ती के वास्ते भारत के प्रमुख शहरों में एजेन्सियाँ खोली गईं और उनके एजेंट गाँव गाँव में

घूम कर वे पढ़े लिखे, सीधे-सादे ग्रामीण जनों को झूठे-सच्चे वादों में फँसाकर उपनिवेशों को भेजने लगे।

(२)

इस समय लगभग २५ लाख भारतीय उपनिवेशों में बसे हुए हैं। इनमें से अधिकांश हिन्दू हैं, जो प्रारम्भ में गुजरात, मदरास और युक्त-प्रान्त से वहाँ भेजे गये थे। अन्य प्रान्तों से गये हुए तथा अन्य जातियों के भारतीयों की संख्या बहुत कम है। मदरासी अधिकतर लंका और मलाया में हैं, गुजराती दक्षिण और पूर्वीय अफ़्रीका में और युक्त-प्रान्तीय अन्य उपनिवेशों में। इनकी संख्या नीचे लिखे अनुसार प्रत्येक जगह इस प्रकार है—

एशिया

	देश	संख्या	सन्
१	लंका	८,५५,०००	१९३१
२	मालदिव-द्वीपसमूह	५५०	१९३३
*३	ब्रिटिश मलाया	५,१७,०००	१९३२
*४	ब्रिटिश उत्तरी बोर्नियो	१,२९८	१९३१
५	डच ईस्ट इण्डीज़	२७,६३८	१९३०
६	स्याम	५,०००	१९३१
७	फ़्रांसीसी इण्डो चाइना	६,०००	१९३१
८	हांगकांग	४,७४५	"
९	चीन	प्राप्त नहीं	—
१०	जापान	३१९	१९३१
११	अफ़ग़ानिस्तान (अन्दाज़)	११३	१९३३
१२	फ़ारस (अन्दाज़)	५००	१९३३
१३	बहरीन	५००	१९३३
१४	इराक़	२,५९६	१९३२
१५	अदन	७,२८७	१९३२
१६	मस्कत	४४१	१९३३
१७	हेजाज़	हज़ारों भारतीय मुसल्मान बस गये हैं, मगर मर्दुमशुमारी कभी नहीं हुई	
१८	पेलेस्टाइन	६०	१९३१
१९	अन्दमन (क़ैदी बनकर)	७,५००	१९३०
२०	तुर्की	३७	१९३३

आस्ट्रेलिया

		संख्या	सन्
*१	फ़िजी	७८,९७५	१९३३
२	टुँगा-द्वीपसमूह	२३	१९३१
३	फ़ानिंग द्वीपसमूह	४	१९३१
४	आस्ट्रेलिया	२,०००	१९३१
५	न्यूज़ीलेंड	१,१९६	१९३२

अफ़्रीका

		संख्या	सन्
१	मिस्र	५११	१९३२
२	सूडान	५२५	१९३१
३	एबीसीनिया	२,०००	१९३२
४	ब्रिटिश सोमाली-लेंड	५२०	१९३१
५	इटेलियन सोमाली-लेंड	३२६	१९३२
*६	केनिया	३९,६४४	१९३१
*७	यूगण्डा	१३,०२६	१९३१
*८	ज़ंज़ीबार	१५,२४६	१९३१
*९	टेंगेनिका	२३,४२२	"
१०	न्यासालेंड	१,५०९	"
*११	पुर्तगाली पूर्वीय अफ़्रीका	५,०००	"
१२	उत्तरी रोडेशिया	१७१	१९३१
१३	दक्षिणी रोडेशिया	१,०००	१९३१
	दक्षिण-अफ़्रीका		
*	(अ) नेटाल	१,४६,९८३	१९३१
*	(ब) ट्रान्सवाल	१५,७४७	१९२६
*	(स) केप कोलोनी	६,६९५	१९२६
१४	बेलजियम कोंगो और रुअण्डा उरण्डी	३७२	१९३३
१५	स्पेनिश मोरोको	१३	१९३२
१६	ट्रिपोली	१२	"
१७	सिचेलीज़	५०३	१९३१
१८	मेडागास्कर	७,९४५	१९३१
१९	रियूनियन	१,५३३	१९३३
*२०	मारीशस	२,६५,७९६	१९३१
२१	गोल्डकोस्ट कोलोनी	५६	१९३१
२२	नाईगेरिया	३२	१९३१
२३	सीराल्पोना	२५	१९३१

श्री स॰ ध॰ महासम्मेलन फिजी का यज्ञ भवन

	उत्तरी अमेरिका	संख्या	सन्
१	कानाडा	१,१००	१९३२
२	संयुक्तराज्य	५,४५०	१९३०
	मध्य-अमेरिका		
१	मेक्सिको	२५०	१९२१
२	पानामा	३००	१९२१
३	ब्रिटिश होंडरस	४६७	१९३१
	दक्षिण-अमेरिका		
* १	ब्रिटिश गाइना	१,३१,९१६	१९३१
* २	डच गाइना	३७,९३३	१९३२
३	ब्रेज़िल	२,०००	१९३१
	वेस्ट इंडीज़		
* १	जमैका	१७,९५०	१९३२
* २	ट्रिनीडाड और ग्रेनेडा	१,४०,९८६	१९३२
३	ग्रेनेडा	५,०००	,,
४	सेंट लूसिया	२,१८६	१९२१
५	क्यूबा	१,०००	२९३१
	योरप		
१	इँग्लैंड और वेल्स	७,१२८	१९३२
२	फ्रांस	३५०	१९३२
३	जर्मनी	२००	,,
४	बेलजियम	१५	,,
५	इटली	३०	,,
६	आस्ट्रिया	३०	,,
७	जेको स्लेविया	१५	१९३०

		संख्या	सन्
८	स्विट्ज़रलैंड	२५	१९३२
९	स्पेन	२००	१९३२
१०	जिब्राल्टर	७९	,,
११	माल्टा	४१	१९३३

(३)

प्रवासी भारतीयों की वर्तमान दशा पहले की अपेक्षा अब बहुत अधिक सुन्दर तथा सन्तोषजनक है। किसी-किसी बात में तो वे हम भारतीयों से भी अधिक प्रगतिशील एवं सुखी हैं।

उनका सामाजिक जीवन प्रारम्भ में भले ही बुरा रहा हो, मगर अब वह क्रमशः पवित्र बन रहा है। धर्म के प्रति उनमें श्रद्धा के भाव उत्पन्न हो रहे हैं। उनके सामाजिक एवं धार्मिक जीवन को उन्नत बनाने का श्रेय ईसाई पादरियों तथा भारत से गये हुए 'कुछ'* ईमानदार सच्चे प्रचारकों का है। भारतीय प्रचारकों ने उनकी बिखरी हुई शक्तियों को संगठित करके उन्हें अधिक उपयोगी सार्वजनिक कार्यों में लगाया, उनको प्राचीन भारतीय सभ्यता, संस्कृति तथा प्रगाढ़ ज्ञान से परिचित कराया। प्रवासी भारतीयों को भारतीयता के निकट लाने में इनका कार्य बहुत प्रशंसनीय रहा है।

नोट—समस्त भारतीयों की संख्या जो भारत से बाहर संसार के विभिन्न देशों में हैं, लगभग ३० लाख है। उपर्युक्त आँकड़ों में कई पुराने हैं और कितने ही विश्वास पात्र नहीं हैं। इन सब देशों में भारतीय कुली बन कर नहीं गये थे। कुली उन्हीं में बसे हैं जिन पर यह* निशान लगा है। शेष भारतीय व्यापार करने, घूमने या कुछ सीखने आदि के इरादे से गये हैं।—लेखक

*कुछ इसलिए कि अधिकांश प्रचारकों ने जो भारत से उपनिवेशों को गये हैं, उनका बड़ा अहित भी किया है। इन जानेवालों में वास्तव में योग्य और परिश्रमी प्रचारक थोड़े ही हैं। ज्यादातर वे लोग हैं जो स्वयं अयोग्य हैं और जिन्होंने रुपया बटोरना या अपनी झूठी-सच्ची प्रतिष्ठा प्राप्त करना ही अपना ध्येय बनाया है।—लेखक

उनमें शिक्षा-प्रचार भी अब काफ़ी हो रहा है। हालाँ कि उपनिवेशों की सरकारें इस ओर से उदासीन हैं, पर वहाँ की भारतीय जनता स्वयं सचेत है। वहाँ कितने ही ऐसे स्कूल-कालेज हैं जिनमें भारतीय बालक-बालिकायें विद्यार्थी के रूप में प्रविष्ट नहीं हो सकतीं। रंग-भेद का प्रश्न शिक्षा-प्रचार जैसे पुण्य और पवित्र कार्य में भी घुसा हुआ है। हाल में ही दक्षिण-अफ़्रीका में कुँवर सर महाराज-सिंह (जो भारत सरकार की ओर से वहाँ एजेन्ट-जनरल हैं) के बड़े प्रयत्न से अँगरेज़ों की कन्याओं के स्कूलों में भारतीय कन्याओं को अलग सबसे पीछे बैठने की आज्ञा दी गई है। फ़िजी में कई स्कूल हैं, जिनमें भारतीय विद्यार्थियों को गोरे विद्यार्थियों के साथ पढ़ने की मनाही है। आश्चर्य की बात यह है कि उनमें भारतीयों-द्वारा कर-स्वरूप दिया हुआ धन तो व्यय होता है, मगर उनके बच्चे उनमें नहीं जा सकते। अतएव भारतीयों ने स्वयं अपने पैरों पर खड़े होकर कितने ही स्कूल-कालेज खोले हैं। प्रत्येक उपनिवेश में ऐसे अनेक विद्यालय मिलेंगे जिनको भारतीय ही चला रहे हैं। उन्होंने गुरुकुल, कन्या-गुरुकुल खोलकर प्राचीन शिक्षा-परिपाटी के क़ायम करने का भी प्रयत्न किया है। इनमें संस्कृत पढ़ाई जाती है। बहुत-से विद्यार्थी भारत के स्कूल-कालेजों में शिक्षा प्राप्त करने के लिए उपनिवेशों से भारत आये हुए हैं।

वहाँ अनाथों और अपाहिजों के लिए भी अनाथालय आदि खुले हुए हैं। सामाजिक कुरीतियाँ वहाँ पहले से ही बहुत कम थीं और जो कुछ थीं वे भी नष्टप्राय होती जा रही हैं। भारत के समान छुआ-छूत का प्रश्न वहाँ नहीं है।

उनकी आर्थिक परिस्थिति के सम्बन्ध में यदि हम कहें कि एक औसत दर्जे का प्रवासी एक औसत दर्जे के भारतीय से अधिक सम्पन्न और सुखी है तो कुछ अत्युक्ति न होगी। उनकी वर्तमान आर्थिक अवस्था काफ़ी अच्छी है। उनकी इस आर्थिक अवस्था को देखकर अँगरेज़ी जनता उनसे जलती है, अँगरेज़ फूटी आँखों से भी उनकी सुन्दर आर्थिक परिस्थिति को देखने को तैयार नहीं हैं। छोटे-मोटे गोरों की तो दाल नहीं गल पाती, क्योंकि वे प्रायः इनके क़र्ज़दार रहते हैं। इनके क़र्ज़ को हज़म करने के
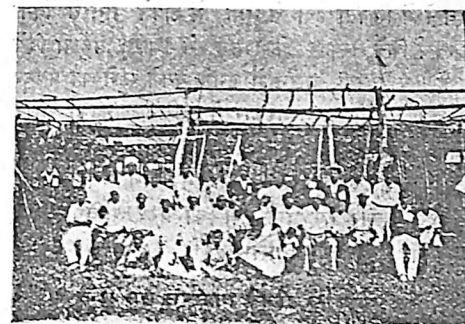
लिए और इनके माल-असबाब को कम दाम में ख़रीदने के वास्ते (क्योंकि वे जब भारत को रवाना होते हैं तब ठीक उसी प्रकार अपनी चीज़ों को कम-ज़्यादा क़ीमत में नीलाम कर देते हैं, जिस तरह इँग्लैंड वापस जानेवाला अँगरेज़ भारत में अपनी चीज़ों को पानी के मोल बेच जाता है) भारतीयों को उपनिवेशों से निकाल बाहर करने का प्रश्न उनके दिमाग़ में हर समय चक्कर काटा करता है। इसके लिए वे बहुत प्रयत्नशील हैं। कहीं-कहीं इस आन्दोलन ने उग्र रूप धारण कर लिया है। भारत-सरकार की बेपरवाही तथा हमारी कमज़ोरी से उन्हें इस प्रयत्न में बहुत कुछ सफलता भी मिली है। प्रवासी भारतीय भारत वापस जाने के लिए फ़ुसलाये जाते हैं, डराये जाते हैं और नये-नये कड़े क़ानूनों की रचना करके भारत आने के लिए विवश किये जाते हैं। दक्षिण-अफ़्रीका ही नहीं, प्रायः प्रत्येक उपनिवेश में जहाँ से भारतीयों को गोरे लोग खदेड़ना चाहते हैं, उन्होंने 'पोल टेक्स' नाम का विचित्र टैक्स ईजाद किया है, जो प्रत्येक भारतीय को देना पड़ता है। इससे मतलब नहीं कि वह अमीर है या भीख माँगनेवाला। यह प्रत्येक परिवार पर न लगकर प्रत्येक व्यक्ति के हिसाब से लिया जाता है। ग़रीब लोग इससे बुरी तरह पिस जाते हैं। भारत वापस आनेवाले भाई इससे मुक्त कर दिये जाते हैं और साथ ही इसके अतिरिक्त कुछ रुपया पुरस्कारस्वरूप अथवा यों कहिए कि अपने यहाँ बसने के 'नागरिक' के अधिकार को बेचने

के एवज़ में मिलता है। वे मुफ़्त में अपने पास से बिना
कुछ खर्च किये सरकार के भाड़े से भारत पहुँचा दिये
जाते हैं। यही नहीं, भारत में उनके बसने-रहने का प्रबन्ध
करने के लिए भी भारत-सरकार ने दक्षिण-अफ़्रीका आदि
उपनिवेशों की सलाह से 'सहायताप्राप्त प्रत्यागमन-योजना'
के अनुसार कलकत्ता और मदरास में अपने दफ़्तर खोल
रक्खे हैं, जो लौटे हुए प्रवासियों को अन्य सुविधायें देते
हैं। ग़रीब प्रवासी इन प्रलोभनों के कारण झूठी-सच्ची
आशाओं के बल पर मातृभूमि के दर्शन का लोभ
लेकर वापस आ जाते हैं। यहाँ आकर इनकी बड़ी
बुरी दशा होती है। उनका यह भारत-प्रत्यागमन
अब भी किसी न किसी रूप में जारी है। आवश्य-
कता इस बात की है कि वे यहाँ बसने के लिए न आवें।
यदि जन्मभूमि के दर्शन करने हों तो भले ही आवें।

उनके राजनैतिक अधिकारों के बारे में भी अनेक प्रकार
की अड़चनें डाली जा रही हैं। इसका मूल कारण है भारत
की पराधीनता! यदि भारत स्वतन्त्र होता तो कोई भी
भारतीय किसी भी उपनिवेश में किसी भी राजनैतिक
अधिकार से आज वञ्चित न होता, उसके साथ सर्वत्र
समानता और आदर का व्यवहार होता। रंग-भेद की
जड़ इसी राजनैतिक पराधीनता पर पनप रही है। भारत
की सिविल-सर्विस आदि की परीक्षाओं में सभी उपनिवेशों
के गोरे बैठते हैं और उत्तीर्ण होने पर हिन्दुस्तान
में हुकूमत करते हैं, मगर भारतीय उन्हीं उपनिवेशों
में प्रारम्भिक राजनैतिक अधिकारों से भी वंचित हैं।
अँगरेज़ी साम्राज्य के नागरिक होने के कारण अँगरेज़ी
उपनिवेशों में भारतीयों को अनेक कठिनाइयाँ झेलनी
पड़ती हैं, पर अन्य साम्राज्यों के उपनिवेशों में जो जा
बसे हैं जैसे डच गायना में, उनके साथ वहाँ अच्छा
व्यवहार होता है।

कई जगह भारतीयों को वोट देने तक का अधिकार
नहीं प्राप्त है। और जहाँ है वहाँ चुनाव के तरीक़े भारतीयों
के इच्छानुसार नहीं हैं। इस सम्बन्ध में उनकी माँगें बार
बार ठुकराई गई हैं। कौंसिलों में भारतीय मेम्बर हैं ही
नहीं, और जहाँ हैं वहाँ उनकी संख्या आबादी के हिसाब
से नहीं के बराबर है। प्रायः प्रत्येक उपनिवेश के भारतीय
इससे परेशान हैं कि अँगरेज़ों के प्रतिनिधि उनके
प्रतिनिधियों से ज़्यादा हैं जब अँगरेज़ों की आबादी
उनसे कम है। फ़िजी में ६००० अँगरेज़ ६ प्रतिनिधि
चुनकर भेजते हैं और ७५,००० भारतीय केवल ३!
वह भी सन् २९ के बाद से! पहले एक ही सदस्य
होता था और वह भी सरकार-द्वारा नामज़द। आदिम-
निवासियों के बारे में तो कहना ही क्या! एक लाख
से भी अधिक होने पर भी वे कोई प्रतिनिधि चुनकर
नहीं भेज सकते। केनिया आदि अन्य उपनिवेशों में भी
यही हालत है। भारतीय केवल ५ प्रतिनिधि भेज सकते हैं
जब कि अँगरेज़ ११, जिनकी आबादी भारतीयों से कम है।
इसके अतिरिक्त समान और सम्मिलित मताधिकार पर
कई जगह जैसे फ़िजी, केनिया में भारतीय लोग ज़ोरदार
आन्दोलन कर रहे हैं। इस माँग में सारे भारतीय-मात्र
एक-मत हैं और उनका कहना है कि वर्तमान साम्प्रदायिकता
के ऊपर निर्धारित मताधिकार भारतीय हितों के अनुकूल
नहीं है। वहाँ के भारतीय भारत के हिन्दुस्तानियों से इस
मामले में आगे बढ़े हुए हैं। यहाँ भारतीय अभी तक
एक-मत नहीं हो सके हैं, मगर उपनिवेशों के भारतीय इस
मामले में बहुत दिनों से आगे हैं। हमको इस में उनसे
शिक्षा लेनी चाहिए।

सरकारी नौकरियों में भी प्रवासियों का अनुपात नहीं के
बराबर है। छोटे-बड़े सभी स्थानों पर अँगरेज़ लोग हैं।
बहुत आन्दोलन के फलस्वरूप छोटी-छोटी नौकरियाँ
भारतीयों को मिलने लगी हैं, मगर उनकी संख्या अब
बहुत कम है। बड़े-बड़े स्थानों पर शायद ही किसी
उपनिवेश में कोई भाग्यशाली भारतीय पहुँचा हो।

कुछ उपनिवेशों में सुन्दर, स्वास्थ्यवर्द्धक, उत्तम
आबहवा के प्रान्तों में केवल अँगरेज़ी बस्ती बनाने का
घोर प्रयत्न जारी है। उन प्रदेशों में जो भारतीय पहले से
बसे हुए हैं उनको निकालने के लिए आये दिन नवीन
क़ानूनों की रचना की जाती है। तब नयों के बसने का
प्रश्न उठ कैसे सकता है? भारतीय प्रत्येक स्थान पर अपनी
दूकान नहीं खोल सकते, मकान नहीं बनवा सकते और

जहाँ बन चुके हैं वहाँ से उन्हें ख़ास छँटे हुए निर्धारित
स्थानों में जाकर बसना होगा। दक्षिण-अफ़्रीका का
सुप्रसिद्ध 'एशियाटिक लैंड टेन्योर एक्ट' इसी
आशय को दृष्टि में रखकर बनाया गया है। पूर्वीय
अफ़्रीका की उच्च भूमियाँ अँगरेज़ों के वास्ते सुरक्षित
रहें, इस पर आन्दोलन जारी है और शीघ्र ही कोई क़ानून
बन जायगा। अँगरेज़ों की न्यायप्रियता का नमूना यह है
कि जिस जगह को भारतीयों ने ही अपने पसीने से सुन्दर,
उपजाऊ, सुरम्य और रहने योग्य बनाया, वहीं से वे
आज क्रूरता-पूर्वक निकाले जा रहे हैं।

भारतीयों को राजनैतिक अधिकार देने के सम्बन्ध में
२४ मार्च १८७५ ईसवी के खरीते में ब्रिटिश सरकार के
भारत-सचिव लार्ड सेलिस्बरी ने ब्रिटिश सरकार की ओर
से स्पष्ट कहा था कि "उपनिवेशों के क़ानून और उनका
प्रबन्ध ऐसा होगा कि भारतीय प्रवासी सभी बातों में
स्वतंत्र रहेंगे और उनके अधिकार सम्राट् के उपनिवेश
प्रवासी दूसरे प्रजाजनों के अधिकारों से किसी तरह
कम न होंगे।"

यही नीति उस समय ब्रिटिश साम्राज्य के सारे
उपनिवेशों के सम्बन्ध में निश्चित हुई थी परन्तु कार्य में
परिणत कभी नहीं हुई। यही नहीं, प्रत्येक उपनिवेश के
सम्बन्ध में अलग अलग अनेक प्रकार के क़ायदे बनाये
गये, पर उनको भी कार्य का रूप देने का समय कभी नहीं
आया!

सरकारी रुख़ को ऐसा ही बने रहने देने पर उनकी
कितनी ही समस्यायें और कठिनाइयाँ आसानी से दूर
हो सकती हैं, यदि हम उनके मामलों में दिलचस्पी लें।
वास्तव में कई अंशों में उनकी वर्तमान सुधरी हुई दशा
के खराब होने के ज़िम्मेदार हम भी हैं। हम अपने घरेलू
मामलों में इतने जुटे रहते हैं कि इन २५ लाख प्रवासियों
की तनिक भी परवा नहीं करते।

कुछ लोगों का विश्वास है कि बिना भारत को
स्वराज्य प्राप्त हुए प्रवासियों के लिए कुछ नहीं किया जा
सकता। हम इस विचार से सहमत नहीं हैं। राजनैतिक
मामले में न सही, हमारा तो विश्वास है कि इसमें भी
कुछ न कुछ तो हो ही सकता है, सामाजिक, धार्मिक,
आदि प्रश्नों को तो हम सुलझा ही सकते हैं।

कितने ही ईमानदार भारतीय युवक उपनिवेशों में खप
सकते हैं जो वहाँ जाकर शिक्षा-प्रचार जैसे सुन्दर काम
करने के साथ साथ अपना भी कल्याण कर सकते हैं।

कुछ दिनों से प्रवासियों में भी साम्प्रदायिकता के चिह्न
दृष्टिगोचर होने लगे हैं। कहीं कहीं उसने भयंकर रूप धारण
कर लिया है। भारतीयों की माँगों में अब उतना वज़न नहीं
रहा जितना कुछ वर्ष पूर्व था, क्योंकि 'हिन्दुओं, मुसलमानों
आदि सभी की माँगें अलग अलग होने लगी हैं, कई
जगह तो साम्प्रदायिक दंगों के होने तक की नौबत आ
पहुँची थी। दर असल इस परिस्थिति के उत्तरदायी हमीं
हैं। हमारे संकुचित दृष्टिवाले साम्प्रदायिक नेताओं के
भाषण, उनकी माँगें और उपनिवेशों में गये हुए धर्म के
मद में अन्धे प्रचारक ही इस परिस्थिति के स्रष्टा हैं।

भारतीय कांग्रेस भी उनकी ओर से उदासीन-सी ही
है। कांग्रेस के सभापति तो अपने भाषणों में अवश्य
ही उनका स्मरण करके अपने कर्तव्य की इतिश्री
कर देते हैं, बाक़ी कांग्रेस में उनके लिए कुछ नहीं होता।
इस समय रचनात्मक कार्य का समय है। क्या ही
अच्छा हो यदि कांग्रेस उपनिवेशों से साम्प्रदायिकता
की जड़ उखाड़ फेंकने के लिए कुछ चुने हुए हिन्दू-
मुसलमान देश-भक्त वहाँ भेजे! उपनिवेश में जाकर
इसको उखाड़ फेंकने के अतिरिक्त अँगरेज़ों की नज़र में
प्रवासियों की इज़्ज़त भी बढ़ जायगी, जो अभी तक
भारतीयों को दिल-दिमाग़ आदि से हीन कुली ही
समझते हैं। कांग्रेस ने बड़ी व्यवस्थापिका सभा पर भी
अपना अधिकार-सा जमा लिया है। वह प्रवासी भारतीयों
के लिए उसके भी द्वारा बहुत कुछ कर सकती है।

संक्षेप में प्रवासी भारतीयों की प्रथम शताब्दी का
यही इतिहास है और यही उनकी वर्तमान प्रमुख समस्यायें
हैं, जिनका समझना प्रत्येक भारतीय का कर्तव्य होना
चाहिए। उनका भूत अत्यन्त विषम और भयानक था;
वर्तमान सुन्दर एवं उन्नतिशील है; और उनका भविष्य
भी अत्यन्त उज्ज्वल होगा!

'मेरी योरप-यात्रा' के पृष्ठों से

लेखक, डाक्टर हेमचन्द्र जोशी

डाक्टर हेमचन्द्र जोशी हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक हैं। 'विश्वमित्र' का इन्होंने सफलता-पूर्वक सम्पादन किया है। ये योरप में अधिक समय तक रहे हैं और वहाँ के सम्बन्ध में लेख लिखकर यश का अर्जन किया है। इस लेख में उन्होंने उस समय का वर्णन किया है जब जर्मनी में मार्क की दर एक रुपये के लाखों तक पहुँच गई थी। जर्मन भूखों मर रहे थे तथा विदेशी सस्ते में रह कर वहाँ नवाबी कर रहे थे। सरस्वती के अगले अङ्कों में हम जोशी जी के योरप-प्रवास के ऐसे ही रोचक अनुभव अपने पाठकों के मनोरञ्जन के लिए प्रस्तुत करेंगे।

ऐ 'दर्द' इस जहान में आकर सदाये गैब,
वे परदा होवे जिससे वह परदा है साज़ का।

फ़्रिडरिप स्ट्रासे के एक निरामिष भोजनालय में दो भारतीय मित्रों के साथ दिन के बारह बजे भोजन कर रहा हूँ। अधिकांश हिन्दुओं का यह अड्डा है। जो मांस खाते हैं वे भी एक बार यहाँ आते हैं कि प्रवासी भारतीय भाइयों से मिलें। मुझे आये अभी दो हफ़्ता भी नहीं हुआ। इसलिए कभी कभी यहाँ आ जाता हूँ कि अपने देश-बन्धुओं के दर्शन हों।

मेरे एक मित्र आज यहाँ इस निरामिष भोजनालय से बाहर आये। दरवाज़े पर ही एक गोरा मिला। उसने मेरे मित्र से दुआ-सलाम की। अब वे अपने गोरे मित्र के साथ हो गये। फ़्रीडरिप स्ट्रासे की जनाकुल सड़क में विलीन हो गया। एक क़दम भी आगे न बढ़ने पाया था कि 'हैलो' की आवाज़ सुनाई दी। देखता क्या हूँ कि मेरा पंजाबी मित्र अकेला सेण्ट्रल होटल के काफ़े में बैठा काफ़ी पी रहा है और उसके सामने मिठाइयों का ढेर लगा है। उसने मुझे बुलाया और हम दोनों काफ़ी पीने लगे।........उस समय हमने निश्चित किया कि आज रात को एक ऐसे नाचघर में जायँ जहाँ केवल जर्मन आते हैं।

× × ×

जर्मन पागल हो गये हैं। सब यह तत्त्व समझ गये हैं कि 'चार दिना की चाँदनी फेर अँधेरी रात।' पैसा किसी के साथ नहीं जाता और लक्ष्मी रण्डियों की तरह सदा किसी का साथ नहीं देती। हाल ही तक जो जर्मन करोड़पति थे वे धूल फाँकने लगे हैं। तब इसका क्या भरोसा? बस जाति की जाति का सर फिर गया है। जिसके पास कुछ भी सामान बेचने को है वह उसे बेचकर क्षण भर के लिए स्वर्ग सुख लूट रहा है और समझता है कि मैंने जीवन को सफल कर लिया। जर्मनी वीरान बनने की तैयारी में है, पर राग-रंग का समा सारे राष्ट्र में बँध गया है। सब क्या मज़दूर, क्या धनी, क्या चोर, क्या साहूकार इस नरक-कुण्ड में भूतों, प्रेतों, पिशाचों, शाकिनियों और डाकिनियों की भाँति अपने ही मुर्दों का रक्त पीकर ताण्डव-नृत्य कर रहे हैं। कल की परवा नहीं भविष्य की चिन्ता नहीं; केवल इस एक क्षण के आनन्द लूटने की फ़िक्र में अपना सर्वनाश कर रहे हैं। ठीक पतिङ्गे की तरह जो अपने जीवन का सार आनन्द बत्ती में जलकर मरने में लूटता है, ये जर्मन

रागरङ्ग, नाचकूद और शराब तथा बियर के मज़ों में अपनी पापी ज़िन्दगी का मज़ा लूट रहे हैं। ये बेसुध हैं और इस समय तो ऐसा मालूम होता है कि जो इनको इनकी मर्मभेदी दुखगाथा सुनायेगा उसे तो ये जीता ही खा जायँगे।

गिर पड़ा आग में परवाना दमे गरमिये शौक़,
समझा इतना भी न कम्बख़्त कि जल जाऊँगा।

इन मज़ों की ख़ातिर ये मकान पटील रहे हैं, जवाहिरात कौड़ी मोल फेंक रहे हैं और अपनी बहू-बेटियों का माल बेचने में भी नहीं समझ रहे हैं कि वे अपनी नाक कटा रहे हैं।

× × × ×

मैं इस समय एक ठेठ जर्मन नाचघर में हूँ। इस रंग-भवन में डेढ़ दो हज़ार आदमी होंगे। सिगरेटें उड़ रही हैं, हवा में धुएँ के बादल छा गये हैं। शराब और बियर का यह हाल है कि कमरे के अन्दर क़दम रखते ही सिर भन्नाने लगता है। प्यालों पर प्याले उड़ रहे हैं। और किसी को तब तक चैन नहीं जब तक उसके होश हवा न खाने लगें। क्या जवान और क्या बूढ़े, क्या सुकुमारियाँ और क्या ढढ्ढो सखियाँ सबका एक हाल है। सब गा रहे हैं—

सर पटकता हूँ पिला दे मये सरजोश मुझे,
साक़िया दौड़ कि आने लगे फिर होश मुझे।

इस नाचघर के बीच में रास्ता-सा है। काफ़ी चौड़ी जगह है और बहुत-से तमाशाई चहलक़दमी कर रहे हैं। पर देखिए, सबके पाँव टेढ़े पड़ते और आँखें मस्ती से झूमती हैं। इस रास्ते के अगल-बगल लोग नाच रहे हैं। इस नृत्य में बेशर्मी का यह दौर-दौरा कि साथ साथ कटाक्ष, चितवन, प्यार की मुसकराहट, जोर का आलिङ्गन, और प्रेम-भरा चुम्बन—सब खुले आम चल रहा है। मेरा मित्र भी एक ओर नाच रहा है और जर्मन ज़िन्दगी के पूरे मज़े लूट रहा है। मैं अकेला टहल रहा हूँ। मन में नाना विचार उठ रहे हैं, कई नाज़नियाँ मेरी ओर देख मुसकराकर चली जा रही हैं; कोई आँखें मटकाकर न मालूम किस अदृश्य भावजगत् की भाषा बोल रही हैं। मैं इस मजलिस में अपने को अनमेल-सा पा रहा हूँ क्योंकि न इशारेवालियों से इशारेबाज़ी कर सक रहा हूँ और मुसकरानेवालियों के साथ न मुसकरा सक रहा हूँ। यह इसलिए नहीं कि मुझे अपने चेहरे पर स्मितहास्य का रंग पोतना नहीं आता या मेरी आँखें इन लोललोचनाओं के कटाक्षों का उत्तर नहीं दे सकतीं, पर इस कारण कि जब कोई सौन्दर्य की खान जर्मन महाश्वेता मेरे ऊपर प्रेम की वर्षा करती है तब अगल-बग़ल के जर्मन नवयुवक त्योरी चढ़ाकर ऐसी तीव्र दृष्टि से मेरी ओर घूरते हैं कि मैं अनुभव करने लगता हूँ कि मेरी अन्तरात्मा में ज़हर की पिचकारियाँ मारी जा रही हैं। यदि भगवान् नीलकण्ठ की भाँति ये जर्मन त्रिलोचन होते तो अवश्य ही तीसरा नयन उघाड़कर मुझे भस्म कर देते। मैं भी मस्त होकर चहल-क़दमी कर रहा हूँ। उम्मीद है ही कि कभी न कभी दोस्त आकर मुझे घर का रास्ता बता ही देगा। अभी तो तमाशे देख रहा हूँ। एक जाति की जाति के उजड़ने और स्वयं अपने हाथों अपनी क़ब्र खोदने का दृश्य देख रहा हूँ।

× × ×

अरे यह क्या! एक ओर से शोर-गुल की आवाज़ आई। क्या कहीं दङ्गा तो नहीं होने लगा! सब दरवाज़े की तरफ़ भागे जा रहे हैं। मैंने भी 'महाजनो येन गतः स पन्था' पकड़ा। बाहर देखता क्या हूँ कि मेरे मित्र और एक जर्मन युवक के बीच गुत्थमगुत्था हो रही है। मेरे मित्र की तोंद थी कोई डेढ़ मन की और क़द था बहुत छोटा। जर्मन घूसेबाज़ी कर रहा था, लेकिन मेरे यार ने उसे वह लँगड़ी दी कि वह चारों ख़ाने चित हो गया। और तड़ से उसकी छाती पर चढ़ बैठा। यह देख जर्मन दर्शक आग-बबूला हो गये। पाँच-सात नवयुवक उसे घसीटने लगे, और कुछ ही देर में दृश्य उलट गया। जर्मन नवयुवक मित्र की छाती पर सवार हो गया। अब सब जर्मन तमाशा देखने लगे। इतने में मित्र ने जब तोंद

ऊँची की तब जर्मन ज़मीन में गिर गया। कुछ समय तक दोनों इसी प्रकार लोट-पोट करते रहे। इतने में जर्मन उठा और जेब से पिस्तौल निकालना चाहता था कि पीछे न मालूम किसने उसकी कलाई इस प्रकार पकड़ ली कि पिस्तौल हाथ से छूट गई और न मालूम कहाँ ग़ायब हो गई। भीड़ के भीतर देखा तो पुलिसवाला खड़ा है और यह सब करामात उसी की थी। मेरा मित्र उठा और जर्मन युवक भी बकता-झकता खड़ा हुआ। पुलिसमैन ने उसे गिरफ़्तार किया और मेरे मित्र समेत उसे थाने में पैदल ही ले गया, क्योंकि थह पास ही था। मेरे दोस्त के होश ठिकाने आये तब इधर-उधर देखने लगा। मैं ताड़ गया कि उसकी आँखें मुझे खोज रही हैं। भीड़ में से चिल्ला उठा—"हलो! मैं यहाँ हूँ।" मित्र किस गर्दिश में मुब्तिला है। मरते-मरते बचा, पर वाह रे मुहब्बत की आग कि उसके सीने में अब भी वैसी ही धधक रही थी। उसने अपनी प्यारी दिलरुबा 'मारी आइशनर' को अपने पास बुलाया और प्यार की बोली में मेरे सिपुर्द किया। हाय रे क़िस्मत! कि यह आफ़त की पुड़िया अब मेरे बग़ल में विराजमान है और मेरे साथ ऐसी चिपक गई गोया मेरी सगी औरत है। यह पहली बार है कि एक परमसुन्दरी युवती मेरे तनबदन से सारी खलकत के सामने लिपटती चली जा रही है। मैं शर्म के मारे ज़मीन में गड़ा जा रहा हूँ। और प्रयत्न कर रहा हूँ कि रास्ता पाऊँ तो भीड़ से पल्ला पाक करूँ। मैं कम्बल को छोड़ूँ पर जब कम्बल मुझे छोड़े! मित्र को मन ही मन कोस रहा था कि कहाँ की बला मेरे सिर मढ़ दी। इतने में लड़की मुझसे अलग हो गई और सीधे वहाँ गई जहाँ हमारे ओवरकोट और टोप रक्खे थे। मैं मतलब समझ गया और भीड़ छटते देख उसी ओर लपका। मैंने मर्दों के विभाग से अपना ओवरकोट, टोप और मफ़लर लिया और झट बाहर जाकर एक टैक्सी के पास खड़ा हो गया। मेरे पहुँचते न पहुँचते वह कमसिन भी मेरे पास आ खड़ी हुई। मुझे काठ मार गया। क्या यह बवाल मुझसे छूटने का नहीं? पर लाचार था। मैंने उससे टैक्सी पर सवार होने को कहा और हम दोनों वहाँ से परदेशियों के अड्डे 'कूरफ़्यूर्स्टनडाम' नामक मुहल्ले को गये। टैक्सी में मैं 'बहादुरशाह' बन गया था। मैंने लड़की से, कहा घबराओ मत, अब हम सकुशल हैं और मैं तुम्हें वहाँ पहुँचा दूँगा जहाँ तुम चाहोगी। इस पर लड़की बोली—"मैं जर्मन हूँ। मेरे लिए घबराने का एक विशेष कारण होने पर भी मैं नहीं घबराती। पर मुझे भय है कि कहीं मेरे साथ में आप ही न घबरा जायँ। यदि मेरा अनुमान ग़लत नहीं है तो आप कुछ ही समय पहले मुझसे भाग रहे थे। यह तो कोई वीरता का लक्षण नहीं है।" यह कहकर वह ठठाकर हँसी और हँसी के इस फ़ौवारे ने हमारे चारों ओर से भय की विभीषिका को भगा दिया। ऐसा मालूम होने लगा कि घनघमण्ड आकाश में उमड़ उमड़कर बिजली कड़काकर तथा वज्र की वर्षा करके किसी प्रचण्ड झंझावात के ज़ोर से भाग गये हैं और अब नभमण्डल में भगवान् सूर्य निखर कर सारी प्रकृति को प्रफुल्लित करने लगे हैं। हमारे दिलों से डर का भूत उतर गया और मारी आइशनर मोती की लड़ियों के समान अपने प्यारे प्यारे दाँतों से मुसकराकर मेरी ओर कोमल और सरस चितवन से देखने लगी। कभी बदन से चिपक जाती और कभी यह कह कर हट जाती कि 'छीः! मैं यह कैसा अपराध कर रही हूँ। आपके शरीर से चिपक कर आपको कष्ट और असमंजस में डाल रही हूँ।' इस प्रकार हँसते-बोलते हम 'काकाडू' पहुँचे। 'काकाडू' शराबघर है, नाटकशाला है और है सैलानी विदेशियों का अड्डा। यहाँ अजीब तमाशा है। बाहर के कमरे में छोटे छोटे गोलमेज़ पड़े हैं और आमने सामने दो स्प्रिङ्गदार कुर्सियों पर युवक और युवतियाँ शराब के प्यालों पर झूम रही हैं। एक मेज़ पर केवल दो सुन्दरियाँ हैं और एक पर दो नवयुवक। कमरा खचाखच भरा है। मैनेजर स्वयं हमारा स्वागत करने आया और भीतर ले गया। यहाँ विचित्र सजावट है। बड़े बड़े चित्रकारों की अश्लील तसवीरें दीवार पर बेशर्म होकर लटक रही हैं और उनके नीचे पर्देदार छोटे छोटे कमरे-से बने हैं। एक कमरा अभी ख़ाली हुआ था। वह हमें दिखाया गया। मैं मन ही मन घबरा रहा था और हृदय में भाँति भाँति के संदेह उत्पन्न हो रहे थे कि मैनेजर ने पर्दा हटाया और मुझे मालूम हुआ कि यह भयानक स्थान नहीं है। इस पर भी मैं यहाँ इस प्रकार अकेले में और बन्द होकर बैठना न चाहता था। इसलिए मैंने पूछा, कोई खुला स्थान नहीं है। यह सुनकर फिर मारी आइशनर खिल-खिला उठी और बोली, इसमें बैठने में क्या आपको आपत्ति है। मैंने कहा—"आपके साथ नरक में बैठने की भी कोई आपत्ति नहीं है, यहाँ तो स्वर्ग का नज़ारा है। पर हमारे देश में युवक-युवतियाँ शादी से पहले इस प्रकार अकेले में पर्दे के भीतर नहीं बैठते?" "यह आपका देश नहीं है। आइए बैठिए।" यह कहकर उस सुकुमार लड़की ने मुझे घसीट कर सोफ़े पर बिठा दिया और आप बग़ल में बैठ गई।

उसने अपनी टोपी उतारी, ओवर कोट एक तरफ़ फेंका; धप से टेबल पर बिजली जल उठी। उसका चेहरा दमक उठा। बिना मुझसे पूछे ही उसने 'शेम्पेन' का आर्डर दे दिया। बोली—"माफ़ करना इस समय मैं बेचैन हूँ. तबीयत को ठीक करने को 'शेम्पेन' पीऊँगी।" मैंने कहा—"जो तबीयत हो सो पियो, पर मैं आपका साथ न दे सकूँगा। मुझे तो लेमनेड की प्यास लगी है।" हमने घण्टी बजाई और खानसामा तुरन्त सब सामान दे गया। मैं लेमनेड पी रहा था और मारी आइशनर 'शेम्पेन'। अब उसने फ़ुर्सत से अपनी कथा आरम्भ की।—"मैं आज ही बर्लिन पहुँची हूँ। शाम को चार बजे मैं स्लेजिशर स्टेशन पर उतरी और सीधे उस नाचघर में गई जहाँ तुम्हारे दोस्त ने मुझसे मित्रता आरम्भ की। मेरे मा-बाप दोनों ज़िन्दा हैं और म्यूनिच में उनका बियर का कारखाना है। मैंने पहले म्यूनिच-विश्वविद्यालय में शिक्षा पाई, उसके बाद मैं हाइडलबर्ग गई। वहाँ मेरी जान-पहचान एक ऐसे नवयुवक से हुई जो युद्ध में लड़कर आया था। यद्यपि वह सब प्रकार स्वस्थ था और सरकार ने उसे लेफ़्टिनेंट बना दिया था, पर उसके कानों में सदा गोलों की आवाज़ सुनाई देती थी। उसने युद्धक्षेत्र में घायल सिपाहियों की ऐसी कराहट सुनी थी कि उसका कलेजा अब तक फटता था। उसने वहाँ तोप के गोलों की चोट से एक साथ सैकड़ों नवयुवकों को भुनते देखा था। उसने खेत में जो मर्मभेदी दृश्य देखे उनसे वह युद्ध का शत्रु बन गया। उसने हाइडलबर्ग के छात्रों से कहा कि युद्ध शैतान का काम है। कई छात्र उसकी मण्डली में शामिल हुए। पर मैं उस पर और उसके विचारों पर इतनी मुग्ध थी कि मैंने उससे शादी कर ली। हम दोनों ने अपने जीवन का यह उद्देश बनाया कि अब संसार में युद्ध न हो। इसके लिए हमने बहुत चेष्टा की। यह ख़बर अधिकारियों को लगी और रणमद में मत्त अधिकारियों ने मेरे पति को बहुत तंग किया। उसे जेल भेजा, फाँसी देने की धमकी दी और अन्त में पागल बनाकर पागलख़ाने भेज दिया। वहाँ उसे एक ऐसा डाक्टर मिला जो खुले आम लड़ाई की महत्ता का प्रचार करता था; पर दिल में युद्ध का शत्रु था। उसने कोशिश करके उसे पागलख़ाने से बाहर निकलवाया। इतने में युद्ध समाप्त हुआ और मेरा पति कम्यूनिस्ट बन गया, क्योंकि और किसी ने उसका स्वागत नहीं किया। एक रोज़ वह अकेले विजन-पथ में अपने एक मित्र से किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर परामर्श करने गया तो अन्यराष्ट्रीय दलवालों ने उसका क़त्ल कर दिया।

"ओह! आप नहीं जानते आज-कल जर्मनी में क़त्ल साधारण बात है। एक बर्लिन में ही इस समय चार सौ से ऊपर गुप्त समितियाँ हैं। इन समितियों में कई के पास दस दस हज़ार स्वयंसेवक हैं, जो लूटमार करके पेट भर रहे हैं। सब समितियाँ जर्मनी को हथियारों से भर देना चाहती

हैं। सब कट्टर देश-भक्त हैं और देशभक्ति का परिचय शान्ति और अहिंसा के भक्तों को मार कर देते हैं। बर्लिन में चार मास के भीतर चार सौ ऐसे ख़ून हो गये हैं। किसी को पता नहीं कि ये हत्यायें किसने कीं। पुलिस जानती भी है तो उनको छोड़ देती है। आप को पता नहीं होगा कि मध्ययुग में जर्मनी में अधि-कांश अदालतें ग़ैरक़ानूनी थीं; इनका नाम था 'फ़ेमे अदालत'। ये उनको दण्ड देने के लिए स्थापित की जाती थीं जिन्हें क़ानूनी अदालतें पूरी और कठोर सज़ा न देती थीं। उस समय जर्मनी में बीसियों छोटे छोटे राज थे और सबकी अपनी अपनी अदालतें थीं। लोग एक रियासत में ख़ून करके दूसरी में भाग आते थे कि दण्ड से बच जायँ। जब देश की सभी रियासतों में इस प्रकार अराजकता फैलने लगी और न्याय पाने का कोई उपाय न रह गया तब कुछ जर्मनों ने अपनी गुप्त और स्वतन्त्र अदालतें स्थापित कीं। इनके द्वारा ऐसे अपराधियों को मृत्युदण्ड मिलता था। कुछ स्वयंसेवक नवयुवक घात लगा कर ऐसे अपराधियों को अकेले-दुकेले पाकर भी मार डालते थे। अब ऐसी ही अदालतों का जर्मनी भर में दौरदौरा है और केवल अन्ध-राष्ट्रीय देशभक्त ही इनको प्रश्रय दे रहे हैं।"

उस परमसुन्दरी ललना का चेहरा 'शेम्पेन' पीने से लाल हुआ या क्रोध से रक्तरञ्जित हो गया, इसका अनुमान लगाना कठिन हो गया। पर वह तमतमा उठा और वह रमणी खिसकते खिसकते मेरे और भी पास आ गई, मैं समझा कि अब और निकट आई तो गोद में ही बैठ जायगी। उसकी कथा सुनकर मैं अवाक् और स्तम्भित हो गया था। मैं भूत की तरह केवल हाँ भर रहा था। दिल में धड़कन बढ़ती जा रही थी कि इससे परिचय होने के कारण कहीं मैं मौत की लपेट में न आ जाऊँ। बिना कुछ करे-धरे मर जाने की इच्छा मेरी नहीं थी। लड़की ने एक घूँट 'शेम्पेन' पीकर रूमाल से अपना चेहरा पोंछा, और वह फिर कहने लगी—"आप घबराइए मत। मैं ख़तरनाक हूँ, पर मेरे द्वारा आपका बाल भी बाँका न होगा। अब सुनिए। पहले 'फ़ेमे अदालतें' न्याय भी करती थीं, अब इनकी स्थापना केवल अन्याय के लिए की गई है। एक जर्मन शब्द है—'फ़ेमे मौर्ड' याने 'फ़ेमे ख़ून'। इसका असल अर्थ है राजनैतिक ख़ून। अपने विरोधी विचार रखनेवाले की हत्या का वर्तमान ख़ूनी जर्मनों ने यह नाम रख दिया है। ये ऐसे कृतघ्न हैं कि 'फ़ेमे ख़ून' के नाम पर अपने मित्रों को धोखा देकर मार डालते हैं। आप मेरी बातों से बेचैन तो नहीं हो रहे हैं?" मुझे वास्तव में इन बातों में आनन्द आ रहा था। इसलिए मैंने कहा—"नाममात्र को नहीं, मुझे तो ये सब बातें मालूम न थीं। अब यह सुनकर और अधिक सुनने को जी चाह रहा है।" यह सुन कर वह मुसकुराई और मेरी ठुड्डी पकड़कर कहने लगी—"आप तनिक भी अधीर न हों। मैं आपको बहुत पसन्द करती हूँ। आपको ज़रा-सी आँच भी न लगने दूँगी। पर यह तो बताइए कि कहीं आपके द्वारा मेरी बातें फूट तो न जायँगी। मेरे प्यारे, आपने ऐसा कर दिया तो मैं मिट्टी में मिल जाऊँगी। फिर सिर धुनने से क्या लाभ? आपकी सूरत देखकर मुझे पूरा विश्वास है कि आप मेरे मित्र रहेंगे, मुझे धोखा न दे सकेंगे। बताइए तो क्या मेरा अनुमान ठीक है?"

जब उसने यह कहा तब मेरे कानों में उस प्यारी सूरत के भीतर जो भयङ्कर आत्मा छिपी हुई थी उसका करुणापूर्ण क्रन्दन बजने लगा। इतना तो मैं समझ गया था कि वह रूपराशि बालिका किसी आदर्श के पीछे पागल है और किसी प्राणी को किसी भी रूप में हानिकर सिद्ध नहीं हो सकती। उसे धीरज बँधाने और अपने ऊपर उसका विश्वास कराने के लिए मैंने कहा—"मारी! विश्वास रक्खो कि मैं कितना ही पतित और चरित्रभ्रष्ट क्यों न होऊँ, पर तुम्हें मुझसे कोई भय न होना चाहिए। तुम्हें जो कहना हो मुझे अपना भाई समझ कर सब कह डालो। तुम्हारा भेद न खुलेगा।"

"मेरे बन्धु, मुझे भी इसका इतमीनान है। इस-लिए तुम्हारे सामने दिल खोलने में ज़रा भी अगर-मगर नहीं हो रही है।" यह कह कर उसने झट मेरा चुम्बन ले लिया। अरे! यह क्या! मेरे शरीर में आग लग गई और मैं अनजाने ही अपने आप खड़ा हो गया। उसे धक्का देकर भागने की फ़िक्र में था कि उसने मेरा हाथ पकड़कर ऐसा झटका दिया कि मैं फिर 'पिण्डस्थाने पिण्डः' हो गया। पर मेरा चेहरा क्रोध से लाल था और आकृति बदल गई थी। यह देखकर 'मारी' बोली—"ओहो! मेरे मित्र, थोड़ी-सी बात में यह तपाक। भला मैंने क्या क़सूर किया? क्या जिसे भाई कहने का दावा रखती हूँ उसे चुम्बन भी नहीं दे सकती? मेरे माता-पिता और भाई सदा मेरा चुम्बन लेते हैं? क्या इसमें कुछ बुराई है? मैंने जो अभी तुम्हारा चुम्बन लिया वह इसलिए कि तुम शराब नहीं पीते। तुम्हारे साथ भाईचारा स्थापित करने के लिए मैंने यह उपाय किया। अब मैं तुम्हें तू कहकर पुकार सकती हूँ और पक्का विश्वास भी कर सकती हूँ।" यह सुनकर मुझे अपनी मूर्खता का बोध हुआ, क्योंकि मैं देख चुका था कि जर्मनी में सगे-सम्बन्धी चुम्बन करके ही 'नमस्कार' करते हैं। जब यह इस देश का रवाज ही है तब मुझे यह पागलपन क्यों सवार हुआ, यह मैं नहीं जान सका। अस्तु, हम मित्र बन गये और 'मारी' ने कुछ ख़ूनों का रोमाञ्चकारी वर्णन किया, जो नात्सी अन्धराष्ट्रीय तथा ऐसे ही अन्य दल रातदिन कर रहे थे। ये गुप्त समितियाँ देश भर में फैल गई थीं और मित्र को मित्र का विश्वास नहीं था। सबके पास हथियार थे और किसी को पता नहीं था कि किस समय कौन मित्र बनकर किसको मार डालेगा।*

* इन लोमहर्षण हत्याओं और विश्वासघातों का कुछ वर्णन सम्भवतः अगले अङ्क में निकलेगा। इनसे पाठकों को पता चलेगा कि इस समय जर्मनी और आस्ट्रिया में हत्याओं का दौरदौरा क्यों है। इन अन्धराष्ट्रीयों के छल-छद्म नये नहीं हैं। ये १९२० से इसी भाँति चल रहे हैं।

सुख-दुख

लेखक, श्रीयुत राजाराम खरे

होते हैं सुख के द्वार बन्द? होने दो;
जाना है मुझको दुख के अन्तःपुर में।
मत पूछो मुझसे मेरा कुछ परिचय अब,
रहने दो यह सौगात छिपाये उर में॥

कितनों को सुना-सुना कर ऊब गया मैं,
वे समझ न पाये मेरी राम-कहानी।
लोगों ने मुझे कहा—"तुम पागल-से हो"
मैं जान गया दुनिया ही है दीवानी॥

बिक जाये सौ-सौ बार भले बिक जाये,
दुख के कण-कण में सुख की अतुलित माया।
जग का प्रसन्न होना क्या है? सन्ध्या है;
मैंने रोदन में ही अरुणोदय पाया॥

अब कोई कभी न कहना हित की बातें,
हित क्या है? वह है अनहित की परिभाषा।
सुख-लोलुपता में भूले समझ न पाये,
आशा न सरस—है नीरस नहीं निराशा॥

भारत में बीमा-व्यवसाय

लेखक, श्रीयुत बैजनाथ कपूर बी॰ ए॰

भारत में बीमा-व्यवसाय कैसे आरम्भ हुआ, उसकी वर्तमान स्थिति क्या है और भविष्य कैसा होगा आदि बातों का रोचक वर्णन।
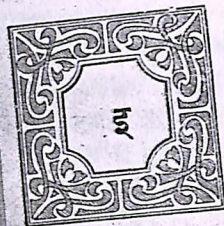
स बीसवीं सदी के प्रारम्भ से भारत में बीमा-व्यवसाय की चर्चा बहुत अधिक होने लगी है। किसी भी देश के उद्योग-धंधे और व्यवसाय को प्रोत्साहन देने में बीमा-व्यवसाय और बैंकिंग महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। बीमा-व्यवसाय के महत्त्व का अंदाज़ तो इसी से लग जाता है कि भारत की किसी भी भाषा के किसी भी समाचार-पत्र के पन्ने उलटिए, आप बीमा-कम्पनी की कुछ चर्चा किसी न किसी रूप में अवश्य पायेंगे! समाचार-पत्रों के अतिरिक्त भिन्न भिन्न बीमा-कम्पनियों के एजेंट देश में इतने फैले हुए हैं कि किसी सज्जन की जीवन-बीमा कराने की बात प्रकट करते ही ये एजेंट महोदय इतनी बुरी तरह पीछे पड़ जाते हैं कि इनसे अपना पीछा छुड़ाना मुश्किल हो जाता है। तात्पर्य यह कि हिन्दुस्तान में बीमा-व्यवसाय की बात अब लोगों से छिपी नहीं है और इस व्यवसाय के महत्त्व को लोग समझने लगे हैं, तो भी साधारण जनता और विशेषतया हिन्दी भाषी इंश्योरेन्स के इतिहास, स्वदेश और विदेशों में इसके विकास तथा इसके कार्य से अनभिज्ञ हैं।

बीमा-व्यवसाय के अन्तर्गत कई प्रकार के बीमा होते हैं, जिनमें जीवन-बीमा प्रमुख है। इसके अतिरिक्त अग्नि-बीमा, जहाज़ी बीमा, मोटर-बीमा, श्रमजीवी की क्षति-पूर्ति, चोरी, सेंध, वस्तुओं के आवागमन में होनेवाली क्षति तथा ... का बीमा।

जीवन-बीमा का क़ायदे से काम यद्यपि पिछली शताब्दी के अन्त में ही विलायत में प्रारम्भ हुआ है, तथापि यह २०० वर्ष पूर्व भी वहाँ ज्ञात था। संसार में सबसे पहले जीवन-बीमा का काम, २९ अप्रैल सन् १७२१ ई॰ के दिन विलायत की रायल एक्सचेंज कार्पोरेशन कम्पनी ने शुरू किया था। पर नया और अजूबा काम होने के कारण उस प्रगतिशील देश इँग्लैंड में भी प्रथम ४० वर्षों तक यह काम नहीं के बराबर था। कम्पनी अपने पहले ४० वर्षों में कुल मिलाकर डेढ़ लाख रुपये से अधिक काम नहीं कर सकी थी, अर्थात् ४,००० रुपया प्रतिवर्ष के औसत से काम हुआ था। जीवन-बीमा का काम उस समय यद्यपि बड़ी सुस्ती से हो रहा था, तो भी जहाज़ी बीमे का काम व्यवसायियों और व्यापारियों के कारण बराबर तेज़ी से होता रहा और यह काम पूर्व से भी जारी था।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम पद में इँग्लैंड में जीवन-बीमा का काम बड़ी तेज़ी से बढ़ा। इस काम में जिस समय इँग्लैंड तेज़ी से बढ़ रहा था, कनाडा और अमरीका भी बड़ी तेज़ रफ़्तार से इंश्योरेन्स के काम में आगे क़दम बढ़ा रहे थे और आज बीसवीं सदी के चौंतीसवें साल में सारे जगत् में कनाडा और अमरीका का इंश्योरेन्स का काम बहुत अधिक बढ़ा-चढ़ा है, यहाँ तक कि अमरीका में ४,५०० करोड़ रुपये का प्रतिवर्ष जीवन-बीमा का काम होता है। १९०६ ईसवी में अमरीका में कुल मिलाकर १,३०० करोड़ रुपये का जीवन-बीमा हुआ था। पर उसी देश में १९२६ ईसवी में २४,००० करोड़ और १९३३ ईसवी तक ३०,००० करोड़ रुपये का जीवन

बीमे का काम हो चुका था। जीवन-बीमे के विशेषज्ञों का कहना है कि संसार के बीमा हुए लोगों में ७५ फ़ी सदी लोग अमरीका के हैं और इंश्योरेन्स का ७५ फ़ी सदी से अधिक काम अमरीकन कम्पनियों के हाथ में है। सन् १९२६ में अमरीकन इंश्योरेन्स कम्पनी का फ़ंड ४,५०० करोड़ रुपया था, जिसमें से ३५ प्रतिशत रुपया रेलवे पर, ३० फ़ी सदी अचल सम्पत्ति पर, १६-६ फ़ी सदी खेती के क़र्ज़ पर, ९ फ़ी सदी सरकारी काग़ज़ों पर और बाक़ी ९·४ फ़ी सदी सार्वजनिक हित के कामों में लगा हुआ था। अमरीकन इंश्योरेन्स कम्पनियों ने मध्यम श्रेणी के लाखों आदमियों को रुपया क़र्ज़ देकर उनके रहने के वास्ते मकान बनवाये, तथा लाखों ही किसानों को क़र्ज़ देकर उनकी खेती-बारी के काम में सहायता दे कृषि की उन्नति की। अनेक ट्राम्वे कम्पनियाँ, बिजली-घर, गैस और वाटर-हाउस की स्थापना बीमा-कम्पनी की मदद से हुई। जिसके कारण अमरीका आज संसार के सभ्य और प्रगतिशील देशों में अपना स्थान सबसे ऊपर रखता है। रेलवे कम्पनी और स्थानीय बोर्ड को अपने रुपयों से मदद देकर इन इंश्योरेन्स कम्पनियों ने अमरीका की तिजारत बढ़ाई, वहाँ के निवासियों को सुख और आनन्द से रहने की व्यवस्था की और साथ ही अपने देश को सबसे अमीर देश बना दिया। कहा जाता है कि अमरीका में अधिकतर सार्वजनिक संस्थायें इंश्योरेन्स फ़ंड के रुपये की मदद से क़ायम की गई थीं।

जिस प्रकार अमरीका में इंश्योरेन्स की प्रगति बड़ी तेज़ी से हुई, उसी प्रकार कनाडा और दूसरे पाश्चात्य देशों में जीवन-बीमे का काम बढ़ता गया। इन पश्चिमी देशों को छोड़ कर जापान में भी १९ वीं सदी तक इंश्योरेन्स का कोई काम नहीं था और न जापानी लोग इस पद्धति की कुछ जानकारी ही रखते थे। पर १८८१ ईसवी में पहले-पहल जापानी इंश्योरेन्स कम्पनी की स्थापना हुई और तब से जापान ने अपने नाम के अनुसार ही इस काम में भी आशातीत सफलता प्राप्त की है। इस बीसवीं सदी में जापान में अनेक इंश्योरेन्स कम्पनियाँ खुलीं और १९२४ ईसवी तक जापानी कम्पनियों ने ६०० करोड़ रुपये का जीवन-बीमे का काम किया था।

पाठकों को यह जानकर कुछ कौतूहल उत्पन्न होगा कि अमरीका में बसनेवाले निग्रो जो संसार में असभ्य और पिछड़े हुए कहे जाते हैं, जीवन-बीमा कराने में कहीं आगे बढ़े हुए हैं। निग्रो लोगों का जीवन-बीमा ४२० करोड़ रुपये का हो चुका है, जिसमें से ५७ करोड़ रुपये का काम अकेले निग्रो लोगों की बीमा-कम्पनियों ने किया है और बाक़ी ३६३ करोड़ रुपये का काम अमरीकन कम्पनियों के हाथ में है।

यह तो हुआ विदेशी बीमा-व्यवसाय का वृत्तान्त, अब ज़रा अपने देश के बीमा-व्यवसाय का हाल भी जान लीजिए।

सन् १९३१ की सरकारी रिपोर्ट के अनुसार हिन्दुस्तान में २७७ इंश्योरेन्स कम्पनियाँ काम कर रही थीं, जिनमें १३० कम्पनियाँ स्वदेशी हैं और बाक़ी १४७ कम्पनियाँ विदेश में स्थापित हुई हैं। इन १३० स्वदेशी कम्पनियों में ५६ कम्पनियाँ बम्बई-प्रान्त में, २४ बंगाल में, २० मदरास में, १४ पंजाब में, ७ दिल्ली में और २ युक्त-प्रांत, मध्य-प्रांत, अजमेर और ब्रह्मदेश में और १ बड़ौदा में स्थापित हुई है। ३५ करोड़ जन-संख्या के बीच १३० कम्पनियाँ बहुत कम हैं। देश की दरिद्रावस्था और निर्धनता का पता तो इसी से लग जाता है कि अपने इस अभागे देश में १० लाख आदमी पीछे दो बैंक हैं, जहाँ इँग्लैंड में २८५, अमरीका में २५६, कनाडा में ४४८ और जापान में ९२ बैंक फ़ी १० लाख आदमियों पर हैं। इतने बड़े जन-समुदायवाले देश हिन्दुस्तान में फ़ी आदमी पीछे बैंक में ४) जमा हैं और वहाँ विलायत में ८००), अमरीका में १,२००), कनाडा में ७००) और जापान में २००) के लगभग हैं।

ऐसे निर्धन देश में यदि कुल मिलाकर अब तक १२५ करोड़ रुपये का जीवन-बीमा का काम हुआ हो तो आश्चर्य ही क्या है? जिस देश में औसतन ४ रुपये प्रति आदमी बैंक में जमा हों, वहाँ १२५ करोड़ रुपये का काम कुछ कम महत्त्व नहीं रखता। फिर अशिक्षित और रूढ़ियों से दबे हुए जैसे देश हिन्दुस्तान में जीवन-बीमा का काम जिस तेज़ी से हो रहा है वह भले ही बीमा-विशेषज्ञों की दृष्टि

से बहुत अच्छा न हो, पर एक साधारण मनुष्य के लिए भविष्य आशामय प्रतीत होता है।

भारत में पहले-पहल जीवन-बीमा का काम ईसाई पादरियों-द्वारा शुरू किया गया था और वह भी विधवाओं की सहायता के रूप में। आज से ठीक १०० वर्ष पूर्व सन् १८३४ ईसवी में ईसाई पादरियों ने मदरास में विधवा-सहायक-फ़ंड और अनाथ-फ़ंड खोले थे और इनका लाभ भी केवल ईसाइयों को ही प्राप्त था। इसके बाद जीवन-बीमा का कार्य करने के लिए 'मदरास इक्यूटेबिल-इन्शोरेन्स कम्पनी' की स्थापना मदरास में हुई जो पिछली लड़ाई के बाद फ़ेल हो गई।

बम्बई ने जीवन-बीमा के कार्य में मदरास का पदानुकरण किया और मदरास के बाद 'बम्बई म्यूचुअल कम्पनी' पहली कम्पनी थी, जिसने भारत में जीवन-बीमा का कार्य ठीक ढंग से शुरू किया और आज भी वह कम्पनी सुचारु रूप से अपना काम करती हुई भारत में सबसे पुरानी कम्पनी है। इसके बाद एक के बाद एक कर कितनी ही कम्पनियाँ स्थापित हुईं और उन सबों ने मिला कर १२५ करोड़ रुपये का काम अब तक किया है। पर दूसरे देशों के काम को देखते हुए यह रक़म कुछ भी नहीं है। अकेले अमरीका ने ३०,००० करोड़ रुपये का काम, कनाडा ने १,६५३ करोड़ का, इँग्लैंड ने ३,६०० करोड़ का, जापान ने १,१०० करोड़ का और आस्ट्रेलिया ने ७०० करोड़ रुपये का काम किया है। भारत की बृहत् जन-संख्या को देखते हुए १२५ करोड़ रुपये का काम कुछ भी नहीं है, पर इसका मुख्य कारण देश की दरिद्रावस्था और निर्धनता ही है। जहाँ रोटी के लाले पड़ते हों और क़र्ज़ के मारे जहाँ लोगों की कमर न सीधी होती हो, जीवन-बीमा में रुपये लगाना और बैंकों में रुपया जमा करने की बात वहाँ कहाँ से हो सकती है। जहाँ एक ओर अमरीका में औसतन २,००० रुपये प्रति आदमी जीवन-बीमा का है, वहाँ हिन्दुस्तान में जीवन-बीमा पर डेढ़ रुपया फ़ी आदमी पड़ता है।

१९३१ के इंडियन इंश्योरेन्स इयरबुक के अनुसार समचे भारतदेश में सन् १९.० में १,४५,००० आदमियों का जीवन-बीमा २७½ करोड़ रुपये में हुआ, जिससे १⅜ करोड़ रुपये का प्रीमियम मिला। पर इस २७½ करोड़ रुपये में केवल १५⅔ करोड़ रुपये का काम देशी कम्पनियों ने किया, जिसका प्रीमियम लगभग १ करोड़ रुपये के देशी कंपनियों को प्राप्त हुआ। बाक़ी लम्बी रक़म सब विदेशी कम्पनियों के हाथों में गई।

इसी प्रकार जीवन-बीमा के अलावा अग्नि, जहाज़ी और दूसरे भिन्न भिन्न बीमों का जो काम हिन्दुस्तान में हुआ उसके प्रीमियम की आमदनी २¾ करोड़ रुपया हुई। पर इस २¾ करोड़ रुपये में से देशी कम्पनियों के हिस्से में आनेवाली प्रीमियम की रक़म केवल ½ करोड़ थी और विदेशी कम्पनियों की २¼ करोड़।

सन् १९३० में इस प्रकार काम हुआ—

१४६ लाख रुपया का अग्नि-बीमा
५१ " " का जहाज़ी "
८७ " " का अन्य "

इसमें से देशी कम्पनियों को

२५ लाख रुपये आग के बीमे से
१० " " जहाज़ी " "
२६ " " अन्य फुटकर बीमों से मिले

और विदेशी कम्पनियों को

१२० लाख रुपये आग के बीमे में प्राप्त हुए
४१ " " जहाज़ी " " "
६२ " " अन्य फुटकर बीमों से मिले।

ऊपर की तालिका से यह स्पष्ट हो गया है कि प्रतिवर्ष इस देश से करोड़ों रुपये जीवन-बीमा और दूसरे बीमों के प्रीमियम के रूप में विदेश चले जाते हैं। विदेशों में प्रति-वर्ष पहुँचनेवाली यह भारी रक़म हमारे देश का साम्पत्तिक ह्रास है। स्वयं हमारी अपनी कम्पनियों के होते हुए इतनी भारी रक़म हर साल विदेशों में जाय, यह हम भारतवासियों के लिए बहुत हानिप्रद है। इस ह्रास को रोके बिना देशी कम्पनियाँ अधिक काम नहीं कर सकतीं और इस देश में बीमा-व्यवसाय अपनी जड़ नहीं जमा सकता। देश के औद्योगिक और व्यापारिक विकास में इंश्योरेन्स और बैंकिंग से प्राप्त होनेवाला लाभ बड़े महत्त्व

का लाभ है। दूसरे पाश्चात्य देशों में यह लाभ सर्व-साधारण के हित में आता है, पर अभी यहाँ उस दशा तक देशी कम्पनियाँ नहीं पहुँची हैं। अपने देश की बीमा-कम्पनियाँ किस प्रकार अपना रुपया लगावें, जिससे देश का हित हो, इसकी चर्चा हम फिर कभी करेंगे। पर सुचारु रूप से और जनता के हित को दृष्टि में रखकर काम करने-वाली बीमा-कम्पनियों के लिए क्षेत्र बहुत विस्तृत और आशामय है, किन्तु इनका विकास वास्तविक रूप में नहीं हो रहा है। देशी कम्पनियाँ अपना अधिकांश रुपया सरकारी काग़ज़ों पर लगाती हैं, पर यदि यही रक़म सार्वजनिक संस्थाओं के हित में लगाई जाय जिससे सर्व-साधारण जनता उन रुपयों से लाभ उठा सके तो ये कम्पनियाँ भारत का बहुत हित कर सकती हैं। हमारे देश-वासियों में बीमा-वृत्ति का अभाव-सा मालूम पड़ता है, पर यह बात अब अस्वीकार भी नहीं की जा सकती कि जीवन-बीमा और अन्य बीमा के सदुपयोग की सार्वभौमिकता मध्यम श्रेणी के मनुष्यों पर अपना प्रभाव दिन प्रतिदिन स्थापित कर रही है। मध्यम वर्ग के लिए बीमा की सहायता एक देन है और यह सन्तोषप्रद है कि लोग अब इस ओर ध्यान भी देने लगे हैं। अतएव इस समय देश के बीमा-व्यवसाय को प्रोत्साहित कर उसके विकास में सहायता पहुँचाना देश की और उसके साथ ग़रीबों की सेवा करना है।

विदा

लेखक, श्रीयुत भगवतीचरण वर्मा बी० ए०, एल-एल० बी०

(१)

हम दीवानों की क्या हस्ती?
हैं आज यहाँ, कल वहाँ चले!
मस्ती का आलम साथ चला,
हम धूल उड़ाते जहाँ चले।
आये बन कर उल्लास अभी;
आँसू बन कर वह चले अभी।
सब कहते ही रह गये 'अरे
तुम कैसे आये? कहाँ चले?'

(२)

किस ओर चले? यह मत पूछो!,
चलना है, बस इसलिए चले!
जग से कुछ उसका लिये चले!
जग को कुछ अपना दिये चले!
दो बात कहीं, दो बात सुनीं,
कुछ हँसे और फिर कुछ रोये।
छककर सुख-दुख के घूँटों को,
हम एक भाव से पिये चले!

(३)

हम भिखमंगों की दुनिया में!
स्वच्छन्द लुटा कर प्यार चले!
हम एक निशानी-सी उर पर
ले असफलता का भार चले!
हम मान-रहित, अपमान-रहित,
जी भरकर खुलकर खेल चुके।
हम विकट खिलाड़ी आज यहाँ,
प्राणों की बाज़ी हार चले!

(४)

हम बुरा-भला सब भूल चुके,
नत-मस्तक हो मुख मोड़ चले!
अभिशाप उठा कर होठों पर
बरदान दृगों से छोड़ चले!
अब अपना और पराया क्या?
आबाद रहें रुकनेवाले!
हम स्वयम् बँधे थे और स्वयम्।
हम अपने बंधन तोड़ चले।

बचोगे न तुम और न साथी तुम्हारे

लेखक, श्रीयुत भाई परमानन्दजी, एम० ए०, एप० एल० ए०

श्रीमान् भाई जी ने इस लेख में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि देश के हित की बात सोचने और उसके अनुसार कार्य्य करने का अधिकार जैसे कांग्रेसवालों को है वैसे ही दूसरों को भी है। इसलिए यदि कोई कांग्रेस से अपना मत-भेद प्रकट करे तो कांग्रेसवालों को उसे देश का शत्रु न कह बैठना चाहिए।

तीन बरस की बात है। मैं बंगाल का दौरा कर रहा था। वहाँ पर मैंने किसी दैनिक पत्र में एक घटना का उल्लेख पढ़ा। उसकी याद मेरे दिल में बार-बार ताज़ी हो जाती है। नदी में एक बड़ी लहर आई। उसके साथ एक बड़ा-सा साँप कश्ती में आ पड़ा। कश्ती में लगभग डेढ़ सौ यात्री थे। ज्यों ही यात्रियों की दृष्टि साँप पर पड़ी, त्यों ही भगदड़ मच गई, और सभी यात्री एक ही ओर एकत्र हो गये। सारा बोझ उसी ओर हो गया। कश्ती उलट गई और यात्री डूब गये।

मुझे इस दुःखांत घटना का ख़याल बार-बार क्यों आता है? सिर्फ़ इसलिए कि जब इन डेढ़ सौ मनुष्यों के सामने एक साँप का ख़तरा आया तब इनमें से हर एक ने अपनी जान बचाने की कोशिश की। साँप ज़हरीला था या मामूली, वह किसी को काटता या न काटता, एक मरता या दो की जान पर बनती, लेकिन उसकी मौजूदगी ने सभी के होश-हवास फ़ाख्ता कर दिये और सबके सब अपनी अपनी जान खो बैठे। इनमें से एक आदमी भी अगर साहसी होता और होश सँभाले रहता तो कहीं इधर-उधर से छोटी-मोटी लाठी लेकर साँप को मारने के लिए तैयार हो जाता। बहुत संभव है कि साहस करने से न सिर्फ़ वह ख़ुद बच जाता, बल्कि दूसरे भाइयों की भी जान बचा लेता। ख़तरे के वक़्त होश और दिलेरी की ज़रूरत होती है। इसके साथ ही किसी न किसी ऐसे नेता की भी जो दूसरों को बचाने के लिए अपनी जान जोखिम में डालने को तैयार हो।

इस शान के नेता सिर्फ़ उसी हालत में उत्पन्न हो सकते हैं जब हर एक मनुष्य के मन में यही विचार ज़ोर से काम करता हो कि अपना निज का बचाव सारी कश्ती के बचाव पर अवलंबित है। परंतु यदि हर एक मनुष्य अपने आपको ही बचाने का प्रयत्न करेगा तो निश्चय ही सारी कश्ती और उसके मुसाफ़िर मौत के मुँह में जायँगे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस जाति के व्यक्ति जाति के जीवन में ही अपना व्यक्तिगत जीवन समझते हैं उनकी जाति सदा जीवित रहती है। इसके उलटा अगर किसी जाति के व्यक्ति व्यक्तिगत जीवन को अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं तो न वे व्यक्ति बच सकते हैं और न उनकी जाति ही जीवित रह सकती है। जाति की कश्ती को पार लगाना या डुबो देना हममें से हर एक के अपने हाथ में है। इसी लिए कहा गया है—

> बचोगे न तुम और न साथी तुम्हारे।
> जो डूबेगी कश्ती तो डूबोगे सारे॥

जाति के अस्तित्व को नाव के साथ उपमा दी जाती है। जाति के व्यक्ति नाव के यात्रियों की हैसियत रखते हैं। हमने कई बार पढ़ा और सुना है कि हमारी जाति की नौका एक प्रकार के भँवर में पड़ी हुई है। सभी ओर अँधेरा दिखाई देता है। भँवर भी बहुत प्रबल है। लक्षण भयजनक हैं। इस ख़तरे में घिरी हुई कश्ती के मल्लाह ऐसे मतवाले पड़े हैं कि उन्हें अपनी जाति की कश्ती के बचाव के लिए गंभीरता-पूर्वक विचार करना ही दूभर मालूम होता है। किसी ने एक चाल बता दी। सब अंधाधुंध उसी ओर चले जा रहे हैं। उस चाल के भयानक परिणामों पर वे ज़रा विचार नहीं करते; अंत क्या होगा, इससे वे बिलकुल ग़ाफ़िल हैं। लोग मुझे बताते हैं कि पिछले कुछ वर्षों में देश के अंदर बहुत बड़ी जाग्रति उत्पन्न हो गई है; जनसाधारण में स्वतंत्रता का भाव आ गया है और वे स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए तड़प रहे हैं। मैं इस बात को मानता हूँ कि योरप के महा-युद्ध के समय में इस देश के अंदर भी ऐसी स्थिति हो गई थी जिसका परिणाम एक प्रकार की राजनैतिक जाग्रति हुआ। परंतु इसके मुक़ाबले पर जब मैं देश की राजनैतिक अवस्था पर नज़र डालता हूँ तब मुझे इसके विरुद्ध एक बहुत भद्दा और कुरूप चित्र दिखाई देता है। मुझे ही क्यों, स्वयं महात्मा गांधी जिन्हें इस राजनैतिक जाग्रति का बड़ा भारी आदर्श माना जाता है, आज हर शहर और क़स्बे में अपने राजनैतिक साथियों की अवस्था देखकर और पढ़-सुन कर इस क़द्र तंग आ गये हैं कि वे कांग्रेस से बिलकुल अलग हो गये हैं। स्वाभाविकतया हमारे सामने प्रश्न होता है कि यदि सचमुच हमारे मन में अपने देश के प्रेम का भाव है, ख़ुदग़र्ज़ी और ज़ाहिरदारी से हम ऊपर हो गये हैं, और हममें से हर एक देश-सेवा का पतंगा बनना चाहता है, तो इतनी पार्टियाँ क्यों हैं? गंदे शब्द किसलिए इस्तेमाल किये जाते हैं? कुर्सियों, घड़ियों और मुक्कों से लड़ाई क्यों की जाती है? प्रायः हर एक मनुष्य के दिमाग़ में नेतृत्व प्राप्त करने की इतनी इच्छा क्यों है? ये सब लक्षण एक प्रकार के रोग या पतन के हैं और इस बात का प्रमाण यह है कि हमारे मन में जाति के लिए त्याग के बजाय अपने आपको आगे बढ़ाने का भाव ज़ोर से पाया जाता है। चाहे इसका रूप रुपया जमा करना हो या नाम कमाना, शक्ति उत्पन्न करना या दूसरों को पछाड़ कर नेता बनना।

वर्तमान लहर ने एक सबसे बड़ा पतन और गंदा वातावरण पैदा किया है। क्योंकि जो लोग काम करने के लिए कार्यक्षेत्र में आये हैं उनमें से अक्सर के दिमाग़ में दुनियादारी और ख़ुदग़र्ज़ी काम करती थी, इसलिए उन्होंने समाज को बहुत गंदा बना दिया है। यहाँ तक कि कोई ईमानदार भला आदमी कीचड़ और गंदगी से बच नहीं सकता। क्योंकि एक बार देश के नाम पर कई लाख रुपया जमा किया गया जिसे कई मनुष्यों ने अनुचित उपयोग करके उड़ा दिया, इसलिए नये राजनैतिक समाज में अब एक बीमारी-सी पैदा हो गई है; अगर कोई मनुष्य ईमानदारी से मतभेद प्रकट करता है तो भी यह अफ़वाह उड़ा दी जाती है कि उसने रुपया खाया है। यह ठीक है कि इस आन्दोलन में कई अच्छे मनुष्य भी हैं। परंतु खेद की बात है कि अधिक संख्या ऐसे लोगों की है जो पहले निम्नश्रेणी के थे और अब अपने आपको उच्च श्रेणी के मनुष्य ज़ाहिर

करते हैं। क्योंकि ऐसे लोग स्वयं ऊपर से भूखे और सांसारिक मान के दास थे इसलिए उनकी समझ इससे आगे नहीं जा सकती। उन्हें यह ख़याल ही नहीं होता कि कुछ सत्यप्रिय मनुष्य भी हैं जो मत-भेद को प्रकट करते हैं किंतु रुपये के लोभ की परवा नहीं करते। ऐसे लोग उन दो मनुष्यों के बीच भेद करने का सामर्थ्य नहीं रखते जिनमें से एक का चरित्र बहुत बुरा है और जनसाधारण को ठग कर रुपया हासिल करता है और दूसरा बहुत ऊँचा चरित्र रखता है और किसी से एक पैसा लेना भी अपने लिए नैतिक मृत्यु समझता है। आज़ादी के ये दीवाने कुछ ऐसे तंगदिल बन गये हैं कि किसी सत्यप्रिय व्यक्ति को विचार-स्वातंत्र्य का उपयोग ही नहीं करने देते।

जहाँ एक ओर इन लोगों में नैतिक निर्बलता-सी आ गई है, वहाँ दूसरी ओर इनकी दिमाग़ी गुलामी की यह हालत है कि किसी प्रकार की विचार-विभिन्नता की क़द्र ही नहीं कर सकते। इनको इतनी समझ नहीं है कि जहाँ महात्मा गांधी सांप्रदायिक निर्णय (कास्युनल एवार्ड) को स्वीकार करने में कोई बहुत बड़ी बुराई नहीं समझते, वहाँ पंडित मदन-मोहन मालवीय और उनके साथी उसी निर्णय को देश के लिए घातक विष से कम नहीं समझते। इसी प्रकार मेरा भेद महात्मा गांधी जी से यों पैदा होता है। महात्मा जी इँग्लेंड गये। दूसरी गोलमेज़-कान्फ़रेंस में सम्मिलित हुए। वहाँ ब्रिटिश राजनीतिज्ञों या गवर्नमेंट से बातचीत करने के बजाय उन्होंने देश के लिए शासन-विधान तजवीज़ नहीं किया, बल्कि मुसलमानों से कान्फ़रेंसें जारी रक्खीं, उन्हें कोरे चेक दोबारा पेश करते रहे और भावी युद्ध में शामिल होने के लिए मुसलमानों को शर्तें बतलाते रहे। महात्मा जी ने वहाँ जो कुछ किया वह उनके अपने दृष्टिकोण में शायद ठीक होगा, परंतु मेरे जैसे मनुष्य की दृष्टि में वह हिन्दुओं के राजनैतिक विनाश के समान है। जो प्रोपेगंडा चाहे उसे कांग्रेस करे या कोई दूसरी संस्था, देश के नाम पर इस प्रकार की गंदी मनोवृत्ति उत्पन्न करे कि किसी संप्रदाय की राष्ट्र-विरोधी माँगों को भी स्वीकार कर लेना चाहिए, उससे देश के कल्याण की आशा करना ऐसा ही है जैसा बबूल के वृक्ष से आम की आशा करना। कहा जाता है कि मैं कांग्रेस का विरोधी हूँ। मैं इस बात के लिए तैयार हूँ कि कांग्रेस के अनुयायियों को मत और कार्यप्रणाली की स्वतंत्रता दे दूँ। इसी प्रकार मैं यह आशा करता हूँ कि कांग्रेसवाले उन लोगों को राय और कार्यप्रणाली की स्वतंत्रता देंगे जो उनसे मत-भेद रखते हैं। कांग्रेस के नेता यह दावा करते हैं कि उनके बराबर देश का हित चाहनेवाला अन्य कोई नहीं है या जो मनुष्य कांग्रेस की आलोचना करता है वह देश का शत्रु है। मेरी राय है कि ऐसी मनोवृत्ति हिंदुओं को नष्ट करनेवाली है, इसलिए इसे बदलने की सख़्त ज़रूरत है।

रैन बसेरा

लेखक, श्रीयुत व्यथितहृदय

मेरा है यह रैन-बसेरा,
नैश-निशा-संध्या उमड़ी है,
घोरघटा तम की घुमड़ी है,
ज्योति कहाँ, ? दुनिया उजड़ी है,
स्वर्ग बना है मरु-थल डेरा।
शांत उदधि-सा जीवन सोता,
लहरों का कुछ गान न होता,
स्वर-संबल पल-पल पर खोता,
सर्वनाश ने जादू फेरा ?
शक्ति, सृष्टि, शृंगार करेगी,
जीवन की नव ज्योति भरेगी,
जागृति उषा, पुनः विहँसेगी,
होगा फिर प्रिय स्वर्ण सबेरा।
मेरा है यह रैन-बसेरा

गानेवाला पत्थर

पियर्सन मैगज़ीन में प्रकाशित क्लाड लूक की एक कहानी के आधार पर लिखित

[१]

इन्द्रवन गाँव में यात्रियों के ठहरने के लिए दो अड्डे हैं। पहला रानीमहल जो श्रीनगर जानेवाली सड़क पर उससे थोड़ा हटकर है। यहाँ बड़े बड़े राजा-रईस और धनी-मानी व्यक्ति ठहरा करते हैं। सुन्दर इमारत, बड़े बड़े कमरे, नौकर-चाकर। बाहर से यह स्थान अत्यन्त आकर्षक है। दूसरा चौरङ्गी जो सड़क से बहुत हटकर गाँव के बीच में है। इमारत बाहर से टूटी-फूटी है, पर भीतर अच्छी चहल-पहल रहती है। इसमें सौदागर, किसान, विद्यार्थी और अन्य साधारण दर्जे के आदमी ठहरा करते हैं।

यदि थोड़े ही दिन के लिए आपका काश्मीर जाना हो तो निश्चय आप रानीमहल में ठहरेंगे। परन्तु यदि आप पूरा ग्रीष्म-काल वहाँ बिताना चाहें तो मैं आपसे निवेदन करूँगा कि आप इस प्रश्न पर गम्भीरता के साथ विचार करें। क्योंकि इन्द्रवन गाँव में दो दल हैं, एक दल के लोग रानीमहलवाले और दूसरे दल के चौरङ्गीवाले कहलाते हैं। और यदि आपका नाम किसी एक दल के साथ जुड़ गया तो वह हमेशा ही जुड़ा रहेगा।

यदि आप रानीमहल में ठहरेंगे तो आपकी गिनती बैरिस्टरों, वकीलों, सेठों और राजाओं में होगी। बड़े बड़े करोड़पतियों के साथ भी कन्धा भिड़ा कर खड़े होने का आपको अवसर मिल सकता है। परन्तु आपको वहाँ इन्द्रवन के वास्तविक जीवन का मज़ा नहीं मिल सकता। इसके विपरीत चौरङ्गी में आपको किसानों, मामूली सौदागरों, विद्यार्थियों, उस गाँव के स्कूल-मास्टर, पोस्ट-मास्टर और कतिपय अन्य व्यक्तियों से दिल खोल कर बातें करने का मौक़ा मिल सकता है।

असलियत यही है। इसको जानते हुए आप अपना चुनाव करें। जब मैं चौरङ्गी में पहुँचा, मुझे स्वयं इसका ज्ञान नहीं था।

लेखक—श्रीनाथसिंह

"इस पत्थर से वे गाने आज भी निकल रहे हैं।"

र मैं सोचता हूँ कि यदि मैं चौरङ्गी में न ठहरता तो वह रे जीवन की सबसे बड़ी भूल होती।

जिस घटना के आधार पर मैं यह बात कह रहा हूँ वह उन दिनों घटी जब मैं रानीमहल में स्थान खाली न पाने के कारण चौरङ्गी में ठहरने चला गया था। स्थान की चहल-पहल मुझे पसन्द आई।

जैसे ही मैं चौरङ्गी के अन्दर दाखिल हुआ, मैंने देखा कि कुछ आदमी कुर्सियों और मोढ़ों पर बैठे बातें कर रहे हैं। मुझे देखते ही सबों ने मुझे सलाम किया और इस प्रकार मेरा स्वागत किया मानो मेरी उनको हमेशा की जान पहचान हो। मैंने सिर हिलाकर उनके सलाम का उत्तर दिया और चुपचाप अपने ठहरने के कमरे में चला गया। जब जब मैं वहाँ आता-जाता, मुझे वे लोग बैठे मिलते और एक न एक बात छेड़े रहते। उनकी बातें कभी खत्म न होतीं। जब मैं रात में सोते से जाग पड़ता तब देखता कि अँगेठी के चारों ओर बैठे वे लोग बातें करते ही! ही! हँस रहे हैं।

परन्तु मैं अपने और उनके बीच में एक प्रकार के भेद की खाई खुदी हुई देखता। इच्छा होती, पर उनसे बातचीत न कर सकता। वे लोग मुझसे न बोलना चाहते सो बात नहीं थी। वे तो बात-चीत के लिए चौबीसों घंटे तैयार रहते थे। पर कदाचित् वे लोग इस बात की प्रतीक्षा कर रहे थे कि बात-चीत पहले मेरी ओर से आरम्भ हो।

मैं रानीमहल में कई बार ठहर चुका था। वे लोग इस बात को जानते थे। मुमकिन है, मेरे उनके बीच भेद-भाव का यह भी एक कारण हो। खैर, मैं इस प्रकार दो महीने वहाँ रहा और मुझसे कोई न बोला, न मैं ही किसी से बोला। अन्त में वह दिन भी आया जब मुझे अपना मौन भङ्ग करना पड़ा। वह घटना इस प्रकार है।

शाम का वक्त था। चौरङ्गी में सदा की भाँति भीड़ लगी थी। अधिकांश आदमियों को मैं पहचानता था और मुझे तो वे सभी जान गये थे।

पोस्ट-मास्टर साहब दूर दूर से आनेवाले पार्सलों का ज़िक्र कर रहे थे। स्कूल-मास्टर साहब अपना एक लेक्चर सबको सुना रहे थे, जो वे शीघ्र ही स्कूल के एक जलसे में देनेवाले थे। चौरङ्गी-सराय के मालिक, मालकिन, उनकी लड़कियाँ ध्यान से बैठे सब सुन रहे थे। कई किसान और विद्यार्थी भी बैठे थे, जो बीच बीच में टीका-टिप्पणी करते जाते थे। सराय के बुड्ढे मालिक खोजीराम बातों में तल्लीन थे। जैसे बगुला पानी में डुबकी लगा कर मछली पकड़ता है, वैसे ही उन्होंने एकाएक अपनी जेब में हाथ डालकर एक चौकोर पत्थर निकाला और सबको सुनाकर बोले—"क्या आप लोगों ने कभी गानेवाला पत्थर देखा है?"

सबने सिर हिलाकर इनकार किया।

बुड्ढा बोला—"प्राचीन वस्तुओं की खोज में मैंने अपनी ज़िन्दगी ही लगा दी। पर ऐसी वस्तु मुझे एक भी नहीं मिली जैसा यह पत्थर है। देखने में तो यह मामूली पत्थर है। पर इसके गुण अजीब हैं।"

[२]

इसमें सन्देह नहीं कि उस पत्थर के टुकड़े में कोई आश्चर्यजनक विशेषता नहीं प्रतीत होती थी। पुराने ढङ्ग की ईंट के समान वह ६ इञ्च लम्बा और ४ इञ्च चौड़ा पत्थर का टुकड़ा था। मोटाई उसकी क़रीब १ इञ्च थी। उसका रंग सफ़ेद था और काई की जैसी कुछ हरी हरी धारियाँ उस पर दिखाई पड़ रही थीं। उस पर कुछ नक़ाशी का काम भी था। पर समय पाकर वह घिस-सा गया था। जहाँ मैं बैठा हुआ था वहाँ से वह पत्थर साफ़ दिखाई पड़ रहा था।

स्कूल-मास्टर साहब ने कहा—"यह तो मेज़ पर रखने का, काग़ज़-पत्र दबाने का, पत्थर जान पड़ता है।"

"नहीं जनाब! यह ऐसा-वैसा पत्थर नहीं है। आपकी ख़ुशी, आप चाहें तो इससे काग़ज़ दबाने का काम भी ले सकते हैं। पर यदि आप संगीत के प्रेमी हैं तो इसकी पूजा करेंगे। यह राजा विक्रमादित्य के समय का गानेवाला पत्थर है और इसके समान विचित्र वस्तु समस्त संसार में कोई नहीं मिलेगी।"

वह उस उत्सुकता की परीक्षा करने के लिए रुका जो हमारे मस्तिष्क में शीघ्रता के साथ उत्पन्न हो रही थी। फिर बोला—"मुझे यह कल ही मिला है। एक

बनजारा जिसे यह मालूम है कि मैं ऐसी चीज़ों का प्रेमी हूँ, मेरे हाथ बड़े सस्ते दामों में बेच गया है। मुझे ऐसा जान पड़ा मानो वह इससे अपनी जान छुड़ाना चाहता हो। खैर, कुछ हो। पत्थर सैकड़ों वर्ष का पुराना है। बनजारे के कथनानुसार इस पत्थर को राजा विक्रमादित्य ने भारतवर्ष के उस समय के सर्वश्रेष्ठ कारीगर से बनवाया था। पत्थर पर आप लोग जो चिह्न देख रहे हैं वह असल में राजा विक्रमादित्य की एक परमसुन्दरी रानी का चित्र है। वह रानी संगीत-कला में बड़ी निपुण थी। राजा विक्रमादित्य ने अपनी रानी का सौंदर्य और स्वर युग-युग के लिए रक्षित रखने के लिए भारत के एक श्रेष्ठ कारीगर से रानी का यह चित्र अङ्कित कराया और पत्थर के भीतर उसका स्वर भरवाया। कारीगर ने इस संगमरमर के टुकड़े पर महीनों काम किया और जब तक वह चित्र अङ्कित करता रहा तब तक रानी उसके पास बैठकर गाती रही। राजा चाहते थे कि रानी का सौन्दर्य और उसकी आत्म-शक्ति कुछ न कुछ पत्थर में अवश्य आ जाय ताकि जब मृत्यु उसे दूसरे लोक में बुला ले तब उसके वियोग को वह इसके सहारे सहन कर सके।"

वृद्ध खोजीराम एकाएक चुप हो गये और पत्थर को मृदुता के साथ अँगुलियों से थपथपाया। फिर बोले—"कारीगर इस प्रयत्न में सफल हुआ। ओह! राजा को कितनी प्रसन्नता हुई होगी। इसका विश्वास करना कठिन है, पर उसने वास्तव में इस पत्थर में रानी के सौन्दर्य और उसके मधुर स्वर को बन्दी कर ही लिया था। शताब्दियाँ गुज़र गईं, पर रानी के गीत नहीं मरे। इस पत्थर में वे बराबर गूँजते रहे। आज भी गूँज रहे हैं।"

हमारी उत्सुकता बहुत अधिक बढ़ गई। सराय की मालकिन ने कहा—"क्या आपके कहने का यह तात्पर्य है कि जिस स्त्री को मरे सैकड़ों वर्ष हो गये उसकी आवाज़ इस ज़रा से पत्थर के टुकड़े में सुनाई पड़ती है?"

"और नहीं क्या? यदि यह बात न होती तो मैं इसे ख़रीदता क्यों? जब बनजारे ने मुझसे पहले-पहल यह बात कही तब मैंने समझा, वह मज़ाक करता है। मेरे जी में आया उसको मारकर भगा दूँ। पर जब उसने कहा—सरदार जी, हाथ कंगन को आरसी क्या? एक बार परीक्षा कर देखिए। तब मैंने पत्थर हाथ में लिया। उसके कहने के अनुसार तीन बार उसको सोने की अँगूठी से पीटा और कान के पास लगाया।"

एक विद्यार्थी ने पूछा—"और आपको गाना सुनाई पड़ा?"

"बेशक! बिलकुल वैसे ही जैसे एक विशेष प्रकार के घोंघे को कान के पास ले जाओ और ध्यान करो तो उसमें से समुद्र के गर्जन की ध्वनि निकलती है। बिलकुल उसी तरह और उससे भी सौगुना अधिक स्पष्ट। वह एक नवयुवती स्त्री की अति मनोहर आवाज़ थी। मंद पर स्पष्ट। मैं यह नहीं कह सकता कि वह गाना किस भाषा में था, क्योंकि मेरी समझ में नहीं आया। तब से अब भारतवर्ष की भाषा भी तो बदल गई है। जब मैंने प्रथम बार वह गाना सुना तब मुझे जान पड़ा कि मैं चौरङ्गी में नहीं हूँ। मेरे सामने राजा विक्रमादित्य के दरबार का चित्र खिंच गया। मैं अब से सैकड़ों वर्ष पूर्व के भारत में पहुँच गया। चार-पाँच मिनट तक मेरी यही अवस्था रही। जब मैंने पत्थर कान से हटाया तब मुझे वह फिर निर्जीव एक जड़ पदार्थ जान पड़ा और मैं फिर चौरङ्गी में आ गया। परन्तु तीन बार पत्थर ठोंक कर जब मैंने फिर उसे कान के पास लगाया तब फिर वह स्वर-लहरी निकल कर मेरे हृदय को विमुग्ध करने लगी।"

खोजीराम चुप हो गये। कुछ लोग चाय पी रहे थे, कुछ सिगरेट। चायवालों की चाय ठंडी पड़ गई। सिगरेटवालों के सिगरेट सुलग कर बुझ गये। सब लोग आँख फाड़ फाड़ कर उनकी खुली हथेली में रक्खे उस अजीब पत्थर के टुकड़े को देख रहे थे। एकाएक सराय की मालकिन ने चिल्लाकर कहा—"मैंने बहुत बार आपको समझाया कि इस प्रकार के जादू-टोनों के चक्कर में न पड़ा करिए। यह उम्र भगवद्भजन करने की है। अपने स्वजनों और पड़ोसियों पर जादू करने की नहीं। मालूम नहीं, इसका क्या बुरा परिणाम निकले।"

उस धर्मपरायणा वृद्धा ने इधर-उधर इस आशा से देखा कि कोई उसका समर्थन करे। पर खोजीराम की
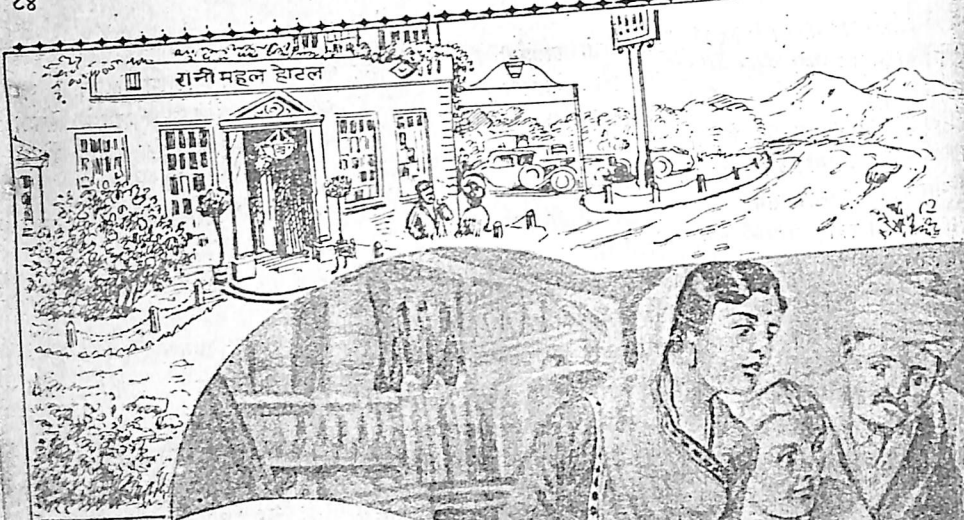
बात सबों को प्रभावित कर चुकी थी। अधिकांश लोग पूरा नहीं तो उनका कुछ कुछ विश्वास करने लगे थे।

अपनी विजय निश्चित जान कर वृद्ध खोजीराम मुस्कुराये और बोले—"मालकिन! विश्वास न हो तो लो स्वयं आज़मा कर देख लो। जादू की इसमें क्या बात है?" उन्होंने पत्थर अपनी स्त्री के हवाले कर दिया।

स्त्री ने संदेहयुक्त हाथों से पत्थर को लिया और बड़ी अनिच्छा के साथ उसे कान के पास ले जाकर लगाया। थोड़ी देर के बाद बड़ी दृढ़ता के साथ वह बोली—"बिलकुल वही बात जो मैंने सोची थी। धोखा, बिलकुल धोखा। मुझे तो कुछ भी सुनाई नहीं पड़ता।"

खोजीराम ने अपनी स्वाभाविक हँसी के साथ धीमे स्वर में कहा—"जब तक तुम सोने की अँगूठी से पत्थर पर तीन बार चोट नहीं करोगी तब तक तुम्हें कुछ नहीं सुनाई पड़ेगा।"

[३]

सराय की मालकिन की आँखों में विजय की जो ज्योति अस्फुटित हो रही थी वह जाती रही और कुछ झुँझलाहट के साथ उसने पत्थर पर अपनी अँगूठी से खट खट खट तीन बार

मैंने किसी की मुखाकृति में एकाएक इतना आश्चर्य-जनक परिवर्तन होते नहीं देखा था, जितना मुझे उस समय उस स्त्री की मुखाकृति में प्रतीत हुआ। संदेह और घृणा का पर्दा उठ गया था और एक विचित्र प्रकार के भय से वह वृद्धा त्रस्त हो उठी थी। कुछ क्षण वह इसी अवस्था में रही। फिर उसके अधरों पर एक ऐसी मुस्कराहट अंकित हो उठी जिसे वह, मुझे जान पड़ा, हम लोगों से छिपाना चाहती थी।

उसने पत्थर को आदर के साथ अपने पति के हाथ में रख दिया और कहा—"मालिक! यह सुन्दर वस्तु है। मैं इस रहस्य को नहीं समझ सकती, पर आपसे सख्त बातें कहने का मुझे दुःख है। इस पत्थर में तो स्वर्गीय संगीत भरा है। करुण! दुःखपूर्ण पर मधुर। जी चाहता है, यावज्जीवन सुनती रहूँ। जैसे कोई सुन्दरी स्त्री अपने प्यारे प्रेमी के विरह में दुःखी होकर गा रही हो।"

एकाएक उसने जेब से रूमाल निकाल कर अपने आँसू पोंछे। वह सचमुच रुआसी हो उठी थी। उसकी बरौनियाँ भीगी जा रही थीं।

इसी समय पोस्ट-मास्टर साहब ने पत्थर अपने हाथ में ले लिया और बोले—"सरदार, अगर बुरा न मानो तो मैं भी इसकी आज़माइश करूँ।"

"ज़रूर ! ज़रूर । आप सब लोग इसकी परीक्षा कर सकते हैं ।"

हमारी अधीरता इतनी बढ़ती जा रही थी कि अब उसका छिपाना मुश्किल हो रहा था । पोस्टमास्टर साहब पत्थर पर अँगूठी से चोटें कर रहे थे और हम सबका हृदय हाथ से निकला जा रहा था । एकाएक हमने देखा कि पोस्टमास्टर साहब की मुखाकृति बदल रही है । उनका चेहरा बिलकुल वैसा ही हो गया, जैसा किसी भोले-भाले सोते बच्चे का होता है । एक प्रकार का मूक आश्चर्य उनके चेहरे पर खेलने लगा । धीरे धीरे उन्होंने पत्थर को नीचे किया और स्वीकार किया कि मैंने जीवन में बड़े बड़े आश्चर्य देखे हैं, पर ऐसा चमत्कारपूर्ण पत्थर कभी नहीं देखा ।

खोजीराम की पुत्री ने भी पत्थर को अपने कान के पास लगाया और कहना शुरू किया—"हाय ! हाय ! बेचारी रानी कितनी दुःखी है । जान पड़ता है जब वह यह गीत गा रही थी तब उसकी आँखों में आँसू उमड़ रहे थे ।

स्कूल-मास्टर साहब ने लड़की से कहा—"पागल मत बनो । इसमें कुछ नहीं है ।" पर जब उन्होंने स्वयं पत्थर पर तीन बार चोट करके उसे कान से लगाया तब हक्का-बक्का रह गये । ज़ोर ज़ोर से जल्दी जल्दी कहने लगे—"आश्चर्य ! आश्चर्य ! रानी की आवाज़ इतनी स्पष्ट है कि मैंने ग्रामोफोन या रेडियो में भी ऐसा साफ़ गाना नहीं सुना । उनके बाद एक किसान ने पत्थर में हाथ लगाया । गाना सुनने के बाद वह चिल्लाया—"बात सच है ! बिलकुल सच ! पर इस कहानी पर मेरा विश्वास नहीं जमता । यह तो जादू है, साफ़ जादू ।"

उधर वे लोग एक एक करके उस पत्थर को कान से लगा रहे थे, इधर मेरा धैर्य छूटा जाता था । मैं अब भी एक प्रकार से अजनबी ही था, इसलिए मैं सोच रहा था कि मुझे तब तक रुकना चाहिए जब तक उन्हीं में से कोई मुझे भी उसकी परीक्षा करने के लिए निमंत्रित न करे । सब लोग उत्तेजित-से हो रहे थे । कोई कुछ कह रहा था [illegible] नहीं रहा था ।

वृद्ध खोजीराम अपनी विजय पर गर्व के साथ बैठे हुए मुस्करा रहे थे और यथाशक्ति उन सब सवालों का जवाब देने का प्रयत्न कर रहे थे जिनकी उन पर झड़ी लगी हुई थी ।

स्कूल-मास्टर ने चिल्लाकर कहना शुरू किया—भ्रम है ! भ्रम ! मन की कल्पना के अनुसार इसमें से वैसे ही गाना सुनाई पड़ता है, जैसे रात को वन में भय के अनुसार भूतों के कल्पित चित्र वास्तविक रूप धारण करके सामने आते हैं । पर उनके इस तर्क को सुनने के लिए कोई तैयार न था । एक विद्यार्थी ने कहा—"प्रेम की माया अपरम्पार होती है । वह पत्थर में भी जान डाल सकता है ।"

मैं अधिक समय तक इस सबका दर्शक न रह सका । मुझे किसी ने निमन्त्रित न किया था और वृद्ध खोजीराम पत्थर को फिर अपनी जेब में डालने का उपक्रम कर रहे थे । मैंने धैर्य खो दिया था । उनके पास जाकर खोजीराम को सम्बोधित करके मैं बोला—"क्या मैं भी इसे देख सकता हूँ ?"

बुड्ढे ने शर्माते हुए मेरे हाथों में पत्थर पकड़ा दिया और बड़े आदर के साथ कहा—"शौक़ से जनाब ! मैंने सोचा था, आप लोग बड़े आदमी हैं, ऐसी चीज़ों में समय नहीं नष्ट करते । इससे मैंने आपको इसे दिखाने का साहस नहीं किया ।"

सब लोगों ने मित्र-भाव से मेरी ओर देखा । उन लोगों के बीच में जाने का मेरा यह पहला ही अवसर था । उनके सहानुभूतिपूर्ण प्रेम-व्यवहार की सीमा नहीं थी ।

पत्थर के जिस वज़न की मैंने कल्पना कर रक्खी थी, उससे वह कुछ भारी था । सावधानी के साथ मैंने उस पर तीन बार अँगूठी से चोट की और उसे कान के पास लगाया । मुझे कुछ भी नहीं सुनाई पड़ा । मैंने पत्थर पर फिर चोटें कीं और उसे फिर कान से लगाया ।

वृद्धा ने अपनी लड़की को डाँटकर कहा—"बेटी ज़रा चुप रह । बाबू साहब को भी यह स्वर्गीय सङ्गीत सुनने दे ।"

मैंने फिर फिर कोशिश की, पर कुछ सुनाई न पड़ा ।

एक विद्यार्थी बोला—"दूसरे कान से तो परीक्षा कीजिए ।"

मैंने ऐसा ही किया । पर कुछ परिणाम न निकला । उन सहृदय व्यक्तियों में मेरे लिए चिन्ता के भाव दिखाई पड़ने लगे । वे मेरा समुचित सत्कार करना चाहते थे, पर जैसे नहीं कर सकते थे । सराय की मालकिन ने चिन्तायुक्त चेहरे से पूछा—"आपको कुछ ऊँचा तो नहीं सुनाई पड़ता ।" स्कूल-मास्टर ने कहा—"पत्थर पर चोट मैं करता हूँ तब आप सुनिए ।" एक किसान ने कहा—"कदाचित् आपकी अँगूठी शुद्ध सोने की नहीं है, मेरी लीजिए ।"

क़रीब तीन मिनट तक मैंने सबकी आज्ञाओं का पालन किया । जिसने जो कहा वही किया । बार बार पत्थर पर चोट की और सुनने की कोशिश की । दूसरों ने चोट की और मैंने सुनने की कोशिश की । पर सब बेकार । मैंने अपने कोट के भीतर सिर छिपाकर सुनने की कोशिश की । पर एक शब्द भी न सुन पड़ा ।

एकाएक मैंने उन सबकी ओर देखा । खोजीराम की लड़की अपने होंठों पर हाथ रखकर अपनी उमड़ती हुई हँसी को दबाने की चेष्टा कर रही थी । सराय की मालकिन अपने मुँह में रूमाल भरने में लगी थी । पोस्ट-मास्टर सिर नीचा किये बैठे थे और रह रह कर ऐसे हिल उठते थे, जैसे भूचाल आने पर ज़मीन हिलती है । वे फूट पड़ना चाहता था । स्कूल-मास्टर छत की ओर देख रहे थे और उनके चेहरे पर फूट पड़नेवाला हास्य प्रांकित हो रहा था । जैसे रेल का इंजन फ़क फ़क करके धुआँ फेंकता है, वैसे ही विद्यार्थी, किसान और अन्य लोग छत की ओर मुँह किये दबा हुआ हास्य फेंक रहे थे । वृद्ध खोजीराम शान्ति के साथ मुस्कुराने की चेष्टा कर रहे थे ।

मुझे जान पड़ा, मैं बेवक़ूफ़ बनाया जा रहा हूँ । मैंने प्रयत्न करके कहा—"आप लोग जीते, मैं हारा । अपने सम्पूर्ण जीवन में ऐसा बेवक़ूफ़ मैं कभी नहीं बना । यह सुन्दर नाटक करने के लिए मैं आप लोगों को बधाई देता हूँ । बदले में मैं आप लोगों को एक दावत देने को तैयार हूँ ।"

उन लोगों ने कुछ नहीं कहा । धीरे धीरे उमड़ता हुआ हास्य शान्त हो गया । कदाचित् मेरी बातों का उन पर समुचित प्रभाव पड़ा । सबने मेरी तारीफ़ की कि मैंने अपना पार्ट बड़ी सफलता के साथ अदा किया ।

दूसरे दिन मुझे दो खत मिले । एक में खोजीराम की ओर से उनके साथ भोजन करने का निमंत्रण था और दूसरा इस प्रकार था—

"प्रिय महोदय,

प्रसन्नता की बात है कि कलवाले पत्थर के मज़ाक को आपने बुरा नहीं माना । हमारा उद्देश आपके चित्त को दुखाना नहीं था । पर हम लोग प्रत्येक व्यक्ति के साथ जो रानीमहल में रह चुकता है, यह मज़ाक करते हैं । अब आप चिन्ता न करें, क्योंकि आप भी हममें से एक हो गये । अब मैं आपको यह सूचित करना चाहता हूँ कि हम लोगों ने आपको अपनी इस छोटी-सी मंडली का उपसभापति चुना है । ऐसी मंडली आपको कहीं न मिलेगी । कृपया यह ध्यान में रखिए कि रानीमहलवालों से हम लोग कोई ताल्लुक नहीं रखते ।

आपका
विनोदविहारी अवैतनिक
मंत्री चौरङ्गी मित्र-मंडली

इस प्रकार मैं चौरङ्गी मित्र-मंडली का सदस्य बना और वहाँ इस प्रकार रहने लगा मानो अपने घर में पहुँच गया हूँ ।

["सरस्वती" के नव वर्षाङ्क के लिए अरविन्द बाबू की जेल-डायरी से उनका पहली जनवरी का नोट पाठकों के मनोरञ्जनार्थ उपस्थित करता हूँ। कहने की आवश्यकता नहीं कि लेखक का अरविन्द बाबू से कोई सम्बन्ध नहीं है, और न देशपाँड़े जी के प्रति कोई पक्षपात। अरविन्द बाबू की संसार-यात्रा में जो लोग उनके संसर्ग में आये, उन्होंने उन सबका चित्रण किया। इसलिए यदि कोई कृपालु पाठक इस डायरी में वर्णित किसी व्यक्ति के किसी वाक्य से असन्तुष्ट होकर लेखक से नाराज़ होंगे तो उनकी ज़्यादती होगी। अगर वे हमारे हृदय-पटल को देख सकें तो सम्भव है, हमें को भी उस व्यक्ति के ख़िलाफ़ अपने से कम असन्तुष्ट कदापि न पायेंगे। —लेखक]

१-१-३—समय ८ बजे रात

ज "न्यू-इयर्स डे" था। इसलिए जेल बन्द था, अर्थात् जेल का काम बन्द था। न सुपरिंटेंडेंट साहब आये, न जेलर। दोनों शिकार पर गये थे।

सवेरे ६ बजे से ही मेरे यहाँ जमाव हो गया था। दिवाकर मिश्र थे, प्रेमी जी थे, मोहनलाल थे और देशपाँड़े तो थे ही। और भी दो-तीन मित्र आ गये थे। चबूतरे पर धूप में सब बैठे हुए थे।

"आज न्यू-इयर्स डे है।" एक सज्जन बोले।

"सबको बधाई!"

"आपको भी बधाई।" देशपाँड़े ने कहा।

"यह तो ईसाइयों का नव वर्षारम्भ है!" दिवाकर मिश्र ने कहा—

"हाँ, ईसाई लोग मनाते हैं, हालाँकि यह त्योहार वास्तव में रोमन लोगों का है और ईसा के जन्म से ७०० वर्ष पहले से उनके देवता जेनस की यादगार में मनाया जाता रहा है।" देशपाँड़े ने कहा।

"आज तो हज़रत ईसा के बारे में कुछ सुनना चाहिए।" दिवाकर मिश्र ने अपनी इच्छा प्रकट की।

"देशपाँड़े जी ही इस कार्य का सम्पादन कर सकेंगे।' प्रेमी जी ने कहा।

"ईसा के सम्बन्ध में आप लोग मेरे विचार जानते ही हैं।" देशपाँड़े बोले।

मैंने आग्रह किया—

"नहीं नहीं, अभी तक तो आपने ईसा के प्रतिपक्ष में जो कुछ सम्भव था, सुनाया है। आज उनके पक्ष में कहिए।"

देशपाँड़े अपने स्थान पर ज़रा अधिक आराम से बैठ गये और चबूतरे पर के नीम के पेड़ का तकिया लगा लिया। वे बोले—"ईसा निस्सन्देह किसी बौद्ध-साधु के यहूदी शिष्य थे, अन्यथा उनके उपदेशों में भारतीयता की सुगन्ध कहाँ से आ सकती थी। वास्तव में दया, क्षमा, परोपकार-सम्बन्धी उनके उपदेश बौद्ध-धर्म और हिन्दू-धर्म की अहिंसा की शिक्षाओं से निष्पन्न हुए हैं। यहूदी-जाति में वे नई जान डालना चाहते थे, लेकिन वे असफल रहे। हिन्दुस्तान से गई हुई क़लम अरब में नहीं लगी। उनके धर्मोपदेश को यहूदियों और अरबों ने नहीं ग्रहण किया और प्रचारक-सम्राट् सेंट पाल के अथक परिश्रम से ईसाइयत के नाम से जो धर्म संसार में फैला वह कुछ ही अंशों में ईसा के सिद्धान्तों का प्रतिरूप था। स्थानीय विचार-धारा और सामाजिक रस्मों का सर्वत्र इस धर्म पर गहरा प्रभाव पड़ा है।

"यहूदी जाति भी एक अभागी जाति है। यहूदी लोग बड़ी कुशाग्र-बुद्धि के होते हैं। व्यापार-कुशलता में संसार में अद्वितीय हैं और योरप में अपनी सम्पन्नता के लिए प्रसिद्ध हैं। किन्तु हज़रत दाऊद और हज़रत सुलेमान के बाद उनमें फिर कभी कोई प्रतापी स्वदेशी राजा नहीं हुआ। पैग़म्बर हर शताब्दी में उत्पन्न होते रहे, जिन्होंने अपने देशवासियों को मरने के बाद मिलनेवाली दोजख़ की आग से बचाने की नाना प्रकार की तरकीबें बताईं। लेकिन उनमें एक भी ऐसा आदमी नहीं पैदा हुआ जो मरने के पहले स्वाभिमान के साथ रह सकने की तदबीर बताता।

"परलोक की असाधारण रूप से विशेष चिन्ता और इहलोक की ओर से अद्भुत उदासीनता का लक्षण यहूदी-जाति और हिन्दू-जाति दोनों में समान रूप से पाया जाता है। संसार में यहूदी-जाति ने भी परजाति की दासता के लिए ही जन्म धारण किया है। जिस समय ईसा का जन्म हुआ था उस समय वह रोमन-जाति के शासनाधीन थी। अगस्टस सीज़र पैलस्टाइन का सम्राट् था।

"यहूदी-जाति उस समय कपट, क्रूरता, कायरता आदि दुर्गुणों से भीषण रूप से कलंकित थी और एक नैतिक और धार्मिक विप्लव हुए बिना उस जाति का अधोगति से उबर सकना कठिन था। ईसा इसी बात के प्रयत्न में थे।

'उन्होंने यहूदी जाति के सामने एक नया विधान रखना चाहा और मनुष्य-जीवन का एक नया आदर्श प्रस्तुत किया। यहूदी लोग क्रूर थे, वे दाँत के बदले दाँत उखाड़ लेते थे और आँख के बदले आँख फोड़ देते थे। लेकिन ईसा ने उन्हें यह सिखाया कि जो कोई अपने भाई के प्रति अपने हृदय में भी बुरे विचार लाता है वह ईश्वर के राज्य में पापात्मा है। ईसा ने इसी प्रकार यहूदी-जाति के प्रचलित नीति-शास्त्र में अनेक सुधार प्रस्तुत किये थे और एक नये तराज़ू से और नये बाँटों से सदसत् और दुष्टादुष्ट की नाप-तौल करना चाहते थे।"

प्रेमी जी बोल उठे। उन्होंने कहा—"महाराज, क्षमा कीजिए। हम लोग इस अवसर पर सदसत् और दुष्टादुष्ट पर भाषण सुनने को नहीं बैठे हैं। यह न्यू-इयर्स डे है। साल साल का दिन है। दस-पाँच मित्र इकट्ठा हैं। कुछ गम्मत होनी चाहिए।"

"तो गम्मत की बात तो आप ही कर सकते हैं।" देशपाँड़े ने हँस कर कहा।

"देशपाँड़े सच कहते हैं।" दिवाकर मित्र बोले।

"प्रेमी जी, अपनी कुछ रचना ही सुनाइए।"

मोहनलाल ने कहा—"रचना तो सुनाइए ही। सुना है, ईश्वर ने आपको कन्या-रत्न भी प्रदान किया है। उसकी ख़ुशी में कुछ संगीत अवश्य होना चाहिए।"

प्रेमी जी कुछ गाते भी थे।

प्रेमी जी लम्बी साँस लेकर बोले—"जो ख़ुशी है वह तो मेरा दिल जानता है। लेकिन आप लोगों का आग्रह है तब कुछ ज़रूर सुनाऊँगा। पर देशपाँड़े जी नाराज़ न हो जायँ।"

"नहीं नहीं"। सारा समुदाय एक-दम बोल उठा।

प्रेमी जी का मैं कुछ विशेष परिचय दे दूँ। प्रेमी जी असल में रहनेवाले हैं मैनपुरी-ज़िला के। जेल में आने के पहले हरगाँव में ये ठेकेदारी का काम करते थे। इनकी आयु इस समय ३५ वर्ष की थी। लेकिन आधे दर्जन से ज़्यादा सन्तानें थीं। जेल आने के एक वर्ष पहले इन्होंने अपना नया विवाह किया था। इनका यह चौथा विवाह था। इनकी पहली शादी जब

ये पन्द्रह वर्ष के थे तभी हो गई थी। इनकी उस स्त्री की उम्र उस समय केवल ११ वर्ष की थी। किन्तु अभाग्यवश या सौभाग्यवश दो वर्ष के अन्दर ही यह बेचारी स्त्री सौर में ही मर गई। इनका दूसरा विवाह जब ये बीस वर्ष के हुए तब हुआ। विवाह के बाद प्रेमी जी को मैनपुरी छोड़कर लाहौर धनोपार्जन के लिए जाना पड़ा। इनके लिए यह आर्थिक संकट का समय था। लाहौर से दो वर्ष तक इन्हें वापस आने का अवसर नहीं मिला और न ये अपने घर कुछ रुपया-पैसा ही भेज सके। इस दर्मियान में इनकी दूसरी स्त्री कभी ससुराल में और कभी मैके में रहती रही। किन्तु इन दोनों में किसी स्थान पर उन्हें चैन नहीं था। इनके लाहौर से लौटने के पहले ही उस स्त्री ने कुएँ में गिरकर अपनी तमाम समस्याओं को हल कर लिया। प्रेमी जी को इसका बहुत दुख नहीं हुआ था। २३-२४ वर्ष की अवस्था थी। इन्होंने अपने दिल में कहा—"अच्छा हुआ, मर गई। नई औरत मिलेगी" तुरन्त ही पंजाब में शादी कर ली। तीसरी शादी करके ये अपने गाँव मैनपुरी वापस आये और वहाँ एक मित्र की सहायता से इन्होंने ठेकेदारी का काम शुरू कर दिया। पिछले १० वर्ष से प्रेमी जी ठेकेदारी का ही काम करते थे और पत्नी के सहित हर गाँव में ही निवास करते थे। तीसरी स्त्री से उनके ७ बच्चे थे। ५ लड़कियाँ और दो लड़के। ईश्वर की कृपा से इस पंजाबी स्त्री से प्रतिवर्ष इन्हें एक सन्तान होती रहती थी। १० वर्ष में ६ बच्चे हुए। उनमें से एक लड़का दो वर्ष का होकर मर गया और अन्तिम बालक जब पेट में ही था उसी समय श्रीमती शन्नोदेवी का क्षय-रोग से स्वर्गवास हो गया। डाक्टरों का विश्वास था कि अगर समय के पूर्व ही बच्चा गर्भ से निकाल लिया जाय तो सम्भव है, शन्नोदेवी जी की जान बच जाय। डाक्टरों ने प्रयत्न भी किया। गर्भ में ही बच्चे के खोपड़े में बरमा चलाया गया। फिर तेज़ कैंची से इस बच्चे के अंग-प्रत्यङ्ग काट काट कर बाहर निकाल लिये गये, और आप्रेशन बिलकुल सफल रहा। किन्तु अभागी स्त्री नहीं बची और जेठ के महीने में [illegible] गया। दो-चार महीने तक प्रेमी जी घोर शोक-सागर में निमग्न रहे। उस ज़माने में इन्होंने वियोग और करुण-रस की अनेक कवितायें भी लिखीं! लेकिन चार महीने बीतने के बाद इन्होंने विवाह कर लिया। कारण यह बताया कि छोटे छोटे बच्चों को देखनेवाला कोई नहीं। ज़माना खराब है। मित्रों का आग्रह है।

"अच्छा तो कविता सुनाऊँ या गाना गाऊँ?" प्रेमी जी ने पूछा। किसी ने कहा कविता और किसी ने कहा गाना। अन्त में गाना के पक्ष में बहुमत था। निश्चय हुआ कि गाना हो।

"हाफ़िज़ की एक गज़ल सुनाता हूँ।" प्रेमी जी बड़े उत्साह के साथ बोले और अपनी जगह पर अकड़ कर बैठ गये। उन्होंने कहा—"गज़ब की गज़ल है। आप सब लोगों की भी समझ में आ जायगी।"

"अ अ अ अ"—प्रेमी जी ने शुरू किया।

न न न न!
दीई ईल बरे ए ए ए ऐ
जा आ ना आ ने म अ अ न। -इत्यादि
गाना था असल में—
'दिलबरे जानाने मन,
बुर्द दिलो जानेमन।
बुर्द दिलो जानेमन;
दिलबरे जाना ने मन॥

एक गज़ल और एक ठुमरी और हुई। और १०½ ब[illegible] गया। स्नानादि से निवृत्त होकर भोजन के लिए तैयार [illegible] जाने के लिए पंडित उमाशंकर प्रेमी चले गये और उन[illegible] साथ यह मजलिस खत्म हो गई। केवल देशपाँड़े रह गये।

"सुना आपने प्रेमी जी का गान?" मैंने देशपाँ[ड़े] जी से कहा।

उन्होंने कहा—"हाँ, लेकिन इनका विशेष परिच[य] तो दीजिए"।

हम लोग अपनी जगह से उठकर खड़े हो गये [और] नीम के नीचे खड़े खड़े बातें करने लगे। मैंने प्रेमी जी [का] पूरा पूरा परिचय देशपाँड़े जी को दे दिया और उन[का] उनका संक्षिप्त वृत्तान्त भी सुना दिया।

देशपाँड़े आग-बबूला हो गये। वे बोले मैं तो उसी समय समझ गया था। ... .. और यह आदमी समाज में सिर उठा कर चलता है और लोग इसे सज्जन कहते हैं। इसे यह पता नहीं कि नैतिक क्षेत्र में इसका स्थान किसी भी हत्यारे से रंच-मात्र भी कम नहीं है। हत्यारा केवल वही नहीं जो छुरे-चाकू से किसी का गला काट दे या जो बम से किसी को उड़ा दे, या ज़हर देकर किसी को मार डाले। जो आदमी हैज़े या प्लेग के कीटाणु किसी व्यक्ति के शरीर में पहुँचा देता है वह भी क़ानून की नज़र में हत्यारा माना जाता है। फिर क्षय से रुग्ण स्त्री से सन्तानोत्पत्ति करनेवाला व्यक्ति हत्यारा क्यों नहीं जब कि गर्भ के कारण ही इस स्त्री की मृत्यु ठीक उसी प्रकार हो जाती है जैसे प्लेग के कीड़ों को खून में पहुँचा देने से किसी की होती है। दुबले-पतले आदमी को अगर कोई ज़ोर से तमाचा मार दे और मर जाय तो क़ानून उसे सज़ा देता है और पंडित उमाशंकर प्रेमी प्रतिवर्ष अपनी दुर्बल स्त्री से एक बच्चा पैदा करें और वह मर जाय तो समाज पंडित उमाशंकर से सहानुभूति प्रकट करे। मेरे मतानुसार प्रेमी स्वार्थ की मूर्ति, कामासक्त, पिशाच और भयंकर दुष्ट पापात्मा है, जिसे अज्ञानवश या कामातुरतावश इस बात का खयाल नहीं कि मैं एक असहाय को अपने आनन्द के लिए एक ऐसे खतरे में डाल रहा हूँ जिससे जीवित उबरना असम्भव-सी बात होगी। उसे दुष्ट न कहा जाय तो क्या कहा जाय? जिस उदासीनता और उदारता की दृष्टि से समाज प्रेमी जी ऐसे पुरुषों को तौलती है उसी उदारता और उदासीनता की दृष्टि से अगर चोरी, डाका और क़त्ल के अपराधों को देखे तो शायद ५० प्रतिशत हत्यारे निरपराधी साबित हों। जो समाज १३ वर्ष की बालिका से सन्तानोत्पत्ति की इजाज़त देता है, जिसके कारण १०० में ५० कन्याओं का सौर में ही देहान्त हो जाता है, (जैसे प्रेमी जी की पहली स्त्री का हो गया, उस समाज में, अरविन्द बाबू! निस्सन्देह नैतिक विप्लव की आवश्यकता है। इस समाज के मौलिक नैतिक सिद्धान्तों का काफ़ी उच्छेदन होना चाहिए। अगर प्रेमी जी को आर्थिक संकट था तो उन्होंने दूसरा विवाह क्यों किया था? अगर प्रेमी जी के कुटुम्बियों को नववधू को आदरपूर्वक रखने की शक्ति नहीं थी तो उसे क्यों ब्याह लाये थे? मैं मानता हूँ कि प्रेमी जी ने अपनी दूसरी वधू को ज़हर नहीं दिया, लेकिन ऐसी चीज़ निस्सन्देह दी जो ज़हर से कटु और बर्छी से भी तीक्ष्ण थी। लाठी व डंडा और कुल्हाड़ी गँवार दुष्टों के हत्या के यन्त्र हैं। बम-पिस्तौल सैनिक और राजनैतिक हत्यारों के, बिजली का करन्ट, प्लेग के कीड़े और हैज़े के कीटाणु वैज्ञानिक दुष्ट आत्माओं के हत्या के साधन हैं और पंडित उमाशङ्कर ऐसे समाज को मूलोच्छेदन करनेवाले दुष्टात्मा पापियों के हत्या-साधन हैं; ऐसी स्थिति में स्त्री को डाल देना जिसमें पड़ कर वह ज़िन्दा बच ही नहीं सकती। प्रेमी जी ने अपनी स्त्री को संखिया नहीं खिलाई, लेकिन ऐसी स्थिति ज़रूर पैदा कर दी जिसमें पड़कर उनकी तीन की तीनों स्त्रियों ने अत्यन्त यातनापूर्ण परिस्थिति में प्राण दिये। अरविन्द बाबू! अब मुझसे ज़्यादा न कहलाइए। एक ओर जब मैं आप्रेशन-टेबिल पर लेटी हुई शन्नोदेवी की अन्तिम अवस्था की कल्पना करता हूँ, पेट में बच्चे के सिर में बरमा करने और छोटे छोटे हाथ पैर आदि काट काट कर बाहर निकालने की प्रत्येक क्रिया का खयाल आता है और दूसरी ओर प्रेमी जी की कविता, ललितकला, बिहारी और केशव आदि पर इनका भाषण और इनका आज का संगीत और इनका तान खींच खींच कर—

"दिल बरे जानाने मन, बुरद दिले जान मन" वाली गज़ल का गाना सुनता हूँ तब मैं मनुष्य-शरीर में एक वास्तविक पिशाच के दर्शन कर लेता हूँ"।

देशपाँड़े भावुक पुरुष थे। अपनी कल्पना और अपने नैतिक भावों का सम्मिश्रण करके इन्होंने अपने मानस-क्षेत्र में प्रेमी जी के जीवन का एक ऐसा बीभत्स और भयंकर चित्र खींच लिया था कि उसका प्रभाव हम इनके चेहरे के ऊपर अच्छी तरह देख सकते थे। इन्होंने अत्यन्त घृणा और अत्यन्त आग्रह के साथ मुझसे कहा—"अरविन्द बाबू! इस बदमाश का नाम अब मेरे सामने कभी न लीजियेगा।" देशपाँड़े पौने ग्यारह बजे कहीं टहल गये।

नोट—देशपाँड़े के विचारों में हिंसात्मक उग्रता है और बड़ी तीक्ष्णता भी पाई जाती है। ऐसा व्यक्ति सम्भव है, सच कहता हो, लेकिन इनके विचारों को कोई कदापि नहीं मान सकता है। देशपाँड़े को अपने जीवन में दस-पाँच भक्त ज़रूर मिल सकते हैं, जो इनके विचारों की मौलिकता, इनकी बुद्धि की कुशाग्रता और इनके निःस्वार्थ देश-प्रेम को देखकर पत्रों में और प्लेटफ़ार्म पर इनकी प्रशंसा करते रहेंगे। लेकिन साधारण जनता पर इनका प्रभाव नहीं पड़ सकता और सर्वप्रिय नहीं हो सकते। अगर मैं यह मान भी लूँ कि देशपाँड़े ने किसी महत्त्वपूर्ण विषय में सत्य की मछली पकड़ भी पाई है तो इसके कारण इन्हें यह हक़ कदापि नहीं मिल जाता कि जिसको चाहे दुष्टात्मा, पिशाच और पशु की उपाधि से विभूषित कर दिया करें। सम्भव है, विवाह के विषय में उमाशंकर ने ग़लती की, लेकिन देशपाँड़े को क्या हक़ कि अनुचित शब्दों का प्रयोग करें। जब हमें पाप में लिप्त जनता से ही काम लेना है और उसी को सुधारना है तब तो हमें विशेषरूप से ऐसी भाषा को त्यागना पड़ेगा। यहाँ पर अब यह प्रश्न उठता है कि सुधारक के मुख्य गुण क्या होने चाहिए? मेरे मतानुसार सुधारक को कदापि उतावला न होना चाहिए। और न उसे अपने समाज के दोष और पापाचार की कल्पना से पैदा होनेवाले क्रोध के वश में ही इतना बेसुध हो जाना चाहिए कि वाक्य-माधुर्य और सुष्टता की मर्यादा का उल्लंघन कर दें। सुधारक वह नहीं है जो सच्ची सच्ची खरी खरी बातें दो टूक करके जनता के सामने रख दे। समाज को ऊँचा उठा ले जाने की तरकीब और राष्ट्र को उन्नति के शिखर पर पहुँचा देने की योजना साधारण मस्तिष्क भी साधारण परिश्रम से खोज निकालते हैं। कौन नहीं जानता कि अगर हिन्दुस्तान में एका हो जाय तो स्वराज्य हो जाय? कौन नहीं जानता कि अगर हरिजनों को समता का अधिकार दे दिया जाय तो हिन्दू-समाज दृढ़तर हो जाय? कौन नहीं जानता कि अगर गाँवों में उद्योग-धन्धों का संगठन किया जाय तो गाँवों में सम्पन्नता का प्रवेश हो सकता है? हम लोग सभी इन निर्विवाद सत्यों से तथा इसी प्रकार के अन्य अद्‌भुत और चमत्कारिक सत्यों से अच्छी तरह परिचित हैं। लेकिन कोरे सत्य भाषण से सुधार थोड़े ही हो जाता है। अभाग्यवश शब्दों में बम की ताक़त नहीं होती, नहीं तो अभी तक वाक्-शूर सुधारकों ने न जाने कितने गढ़ ढहा दिये होते। सुधारक का असली गुण यह है कि वह दुष्टाचार में फँसे हुए समाज को अपना सुधार करने के लिए उद्यत कर दे। सुधरनेवाले लोगों में सुधरने की बेताबी पैदा कर दे। निष्कपट और शुद्ध साधनों को काम में लाते हुए ऐसी स्थिति पैदा कर दे जिससे जनता अपनी चिरकालीन दूषित रूढ़ियों को छोड़कर नये मार्ग को प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण कर ले।

अमीर अमानुल्लाखाँ अपने सुधार में क्यों असफल रहे? इसलिए कि उन्होंने केवल अपने मतानुसार सत्य को पकड़ा और अफ़ग़ानों को उस सत्य पर ज़बर्दस्ती चलाना चाहा। अफ़ग़ानी जनता अमानुल्लाखाँ के निश्चित किये हुए सत्य को स्वयं सत्य नहीं मानती थी। लेकिन अमानुल्लाखाँ ने उस सत्य पर अमल करने के लिए उन्हें मजबूर किया। अफ़ग़ानी जनता दाढ़ी और क़ुरान की बड़ी भक्त है। अमानुल्लाखाँ के मतानुसार ये दोनों चीज़ें बेकार थीं। इन्होंने एक को मुड़वाना और दूसरे का निरादर करना खुल्लमखुल्ला शुरू कर दिया। सरकारी पैसे से बेचारे हज़ारों अफ़ग़ानियों की दाढ़ियाँ चन्द हफ़्तों में मुड़ गईं। उन्होंने शायद अपने दिलों में समझा होगा कि इन्होंने अफ़ग़ानिस्तान में दाढ़ी और क़ुरान दोनों को मिटा दिया। लेकिन ये न दाढ़ी को न क़ुरान को मिटा सके, स्वयं ही मिट गये। असफल सुधारक इसी प्रकार के होते हैं। देशपाँड़े भी अमानुल्ला के सदृश हैं।

११ बजे भोजन आया। आज शाक कुम्हड़े का बना था—बिलकुल पीला और जिसमें अनेक ढेपियाँ भी मौजूद थीं। १२ बजे से २½ बजे तक टालस्टाय की बनाई हुई "तीन प्रश्न" नाम की पुस्तक पढ़ी। उसका सारांश यह है—

"याद रखो। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समय केवल एक है। वर्तमान क्षण! यही एक क्षण है जिस पर हमारा अधिकार है और यह भी याद रखो कि सबसे महत्त्वपूर्ण पुरुष वह है जिससे तुम इस क्षण बातचीत कर रहे हो। क्योंकि कोई आदमी यह नहीं जान सकता कि उसे किसी दूसरे आदमी से इसके बाद व्यवहार करने का दूसरा भी अवसर कभी मिल सकता है या नहीं। और सबसे महत्त्वपूर्ण कर्म है उस व्यक्ति के साथ उपकार करना, क्योंकि केवल उपकार करने के लिए ही मनुष्य ने शरीर धारण किया है।"

चार बजे अँगरेज़ी बाबू ख़त दे गये। इसमें बाहरी संसार का सब हाल था। अफ़सोस आज इसी पत्र से मुंशी तजम्मुल हुसेन खाँ के और पंडित राममोहन शुक्ल के मरने की भी ख़बर मिली। आठ दिन हुए, हरगाँव के थानेदार मुंशी तजम्मुल हुसेन खाँ का देहान्त हो गया। मेरे मिलनेवालों में से थे। यद्यपि मुझमें और उनमें कोई बात कामन नहीं थी, तथापि हम लोग अपने सम्बन्ध में माधुर्य को अन्तिम दिन तक (अर्थात् जिस दिन वे मुझे गिरफ़्तार करने आये थे) बनाये रहे। जब पहले-पहल हरगाँव थाने में नये थानेदार के आने की ख़बर मिली और लोगों ने मुझसे कहा कि तजम्मुल हुसेन खाँ आ रहे थे तब मुझे यह शेर याद पड़ा था—

दिया है औरों को ताकि उसे नज़र न लगे।
बना है ऐश तजम्मुल हुसेन खाँ के लिये॥

आज जब उनके मरने की ख़बर सुनी तब भी मुझे यही शेर याद आ गया। निस्सन्देह ऐश तजम्मुल हुसेन खाँ के लिए ही बना था।

इनका वेतन १००) प्रतिमास था। ऊपर की भी कुछ आमदनी थी। लेकिन रहते थे ऐसे ठाठ में कि ७००) पानेवाला कोई डिप्टी कलक्टर क्या रहेगा। इनके वाङ्मय में आनन्द और सुख की कुछ दूसरी ही परिभाषा थी। जीवन के प्याले से सारे रस को एक-दम घुट कर जाने के लिए ये बेताब रहते थे। इन्होंने प्रकृति से सहज-प्राप्त आनन्द-पात्र से इतना ज़्यादा रस पी लेना चाहा, जितना उसमें था ही नहीं। इसी प्रयत्न में इनको शरीर त्याग देना पड़ा। सुखोपभोग की एक मर्यादा प्रकृति देवी ने बाँध दी है, सुखोपभोग की एक मात्रा भी उसने प्रत्येक के लिए निश्चित कर दी है। जो उस मर्यादा का व्यतिक्रम नहीं करता और मात्रा के परिमाण के भीतर रहता है वह तो संसार-यात्रा साधारण तौर पर निर्विघ्न कर लेता है। लेकिन जिसने एक महीने के लिए निश्चित सुख की मात्रा को एक दिन में ही आस्वादन करने का यत्न किया वह गया।

मुंशी तजम्मुल हुसेन खाँ ललित कलाओं के अच्छे समझनेवाले थे, खाने-पीने का इन्हें शौक़ था और खिलाने-पिलाने का भी। नफ़ीस पसन्द आदमी थे। गाने-बजाने के भी शौक़ीन थे, लेकिन पुराने ढंग के अर्थात् वेश्याओं का नाच पसन्द करते थे। हरगाँव की कोतवाली में महीने में दो दफ़ा इलाक़े की तमाम वारांगनायें बारी बारी से आकर थानेदार साहब के यहाँ मुजरा कर जाती थीं। ब्रिटिश-राज्य में अमन और क़ानून स्थापित रखने की यह संस्था अर्थात् हरगाँव की कोतवाली प्रति पक्ष राजा इन्दर का अखाड़ा हो जाया करती थी।

बेचारे तजम्मुल हुसेन खाँ ने बुरी मौत पाई। चार महीने तक बीमार रहे और हरगाँव के हकीम साहब के इलाज में रहे। पहले इन्हें "डायबटीज़" का रोग हुआ, फिर फोड़ा निकल आया। फोड़ा अच्छा नहीं हुआ और उसी में ये ख़त्म हो गये। इनकी चार बीवियाँ और अनेक बच्चे क्या करेंगे!

पंडित राममोहन शुक्ल संस्कृतज्ञ थे। लेकिन ब्रिटिश-राज्य में संस्कृत-विद्या की अधिक क़द्र न होने की वजह से इनकी आमदनी साल में १००) से अधिक नहीं थी। राजा दलथम्भनसिंह के यहाँ से इन्हें १०) प्रतिमास नित्य पार्थिव-पूजन और दुर्गापाठ के लिए दिया जाता था। २ बीघा खेत इनके पूर्वजों ने संकल्प में प्राप्त किया था, जिससे कुछ अन्न इनको प्रतिवर्ष मिल जाया करता था। इनकी आयु क़रीब ५५ वर्ष के थी और इनके छोटे लड़के की उम्र ३ वर्ष और बड़े लड़के की उम्र २५ के होगी। इनके १५ लड़के-लड़कियाँ थीं। भगवान् ने इनके ऊपर कन्या-रत्न देने की विशेषकर कृपा की थी। ९ लड़कियाँ थीं और ६ लड़के। ज़ाहिर है कि बहुत सन्तान होने की वजह से और आमदनी की कमी के कारण इन १७ ब्राह्मण शरीरधारी व्यक्तियों का जीवन सुखमय नहीं था।

इनका वेतन २५ वर्ष की अवस्था से दस ही रुपये निश्चित हुआ और वही आज तक बना रहा।

५॥ बजे जेल बन्द हो गया।

६ बजे सन्ध्या की।

आज निम्नलिखित भजन गाया—

मेरो मन हरि ! हठ न तजै।
निसदिन नाथ ! देऊ सिख बहु विधि करत सुभाव निजै ॥
ज्यों युवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै।
ह्वै अनुकूल बिसारि शूल सठ पुनि खल पतिहिं भजै ॥
लोलुप भ्रम ग्रह पसु ज्यों जहँ तहँ सिर पद त्रान बजै।
तदपि अधम विचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै ॥
हौं हारयो करि जतन विविध विधि अतिसय प्रवल अजै।
तुलसिदास वस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै ॥

नोट—देशपाँड़े ने प्रेमी जी के बारे में जो कुछ राय क़ायम की है, सबकी तो मैं नहीं मानता, लेकिन इतना तो मैं ज़रूर कहूँगा कि हमारे देशवासियों को विवाह और सन्तानोत्पत्ति के प्रश्नों में ज़रा विशेष सूक्ष्म दृष्टि से देखना चाहिए। कहते देशपाँड़े सच हैं। लेकिन कहने का ढंग ठीक नहीं। सन्तानोत्पत्ति के सम्बन्ध में चाहे अपने समाज के कृत्यों को हम उपयोगिता के बाँट से तोलें या अर्थशास्त्र की कसौटी पर कसें या सूक्ष्म नीति की दृष्टि से परखें, हर हालत में हमारा समाज और समाज के बड़े से बड़े और छोटे से छोटे आदमी इस नाप-तोल से कम उतरते हैं। मैं पूछता हूँ, भारतीय किसान को विवाह करने की क्या आवश्यकता है जिस आदमी की आमदनी साधारणतः दिन में =) से ज़्यादा नहीं वह गृहस्थी का भार क्यों उठाये ? जिस आदमी की आर्थिक आय ४ रुपया ५ रुपया से ज़्यादा कभी भी नहीं हो सकती वह आधे दर्जन बच्चे क्यों पैदा करे ? जिस आदमी का जीवन स्वयं दुखमय है यदि उस जीवन में शामिल होने के लिए वह छोटे छोटे बच्चों को भी निमन्त्रित कर लेता है तो अदूरदर्शिता और स्वार्थ-परायणता का निस्सन्देह वह दोषी है। ऐसे आदमियों की उन्नति का क्या उपाय। या संसार से सहानुभूति पा सकने की क्या आशा ! जो दो आना रोज़ की आमदनी पर १६ वर्ष की अवस्था से ही गृहस्थी में प्रवेश कर जाय और जब तक शरीर न छूट जाय इस आश्रम में दृढ़ निष्ठा बनाये रखे उसकी अगर कोई भलाई भी करना चाहे तो क्या कर सकता है ? उसका कुटुम्ब यदि रोग, दरिद्रता और संसार की समस्त यातनाओं से बराबर परिपूर्ण रहता है तो किसका दोष ? इस दृष्टि से मुंशी तजम्मुल हुसेन और पंडित राममोहन शुक्ल भी खरे नहीं उतरते। तजम्मुल हुसेन की चार बीवियाँ हैं और १२ बच्चे। न तो इन्होंने अपनी ज़िन्दगी का बीमा कराया था और न इन्होंने कुछ रुपया ही छोड़ा है। यह असहाय कुटुम्ब अब क्या करेगा ? क्या यह अत्यन्त निर्दयता और घोर स्वार्थ का अकाट्य प्रमाण नहीं कि विवाह तो करते जाओ, लेकिन स्त्री के लिए समुचित प्रबन्ध न करो। और पंडित राममोहन शुक्ल तो इस दृष्टि से कठोरता की मूर्ति थे। जब ये जानते थे कि इनकी आमदनी १०) प्रतिमास से ज़्यादा नहीं बैठेगी तब यदि नये बालक अपने कुटुम्ब में बढ़ते थे तो वास्तव में उनके लिए भोजन का प्रबन्ध ये बाहर से नहीं करते थे, पुराने बालकों के सामने से ही उठाकर नये के सामने थाली रख देते थे। बड़े लड़के-लड़कियों के मुँह से छीन कर ही नये आनेवाले बच्चों को खिलाते थे। मान लीजिए, ये अपनी आर्थिक स्थिति में केवल आध सेर दूध मँगा सकते थे। अगर इनके कुटुम्ब में केवल दो बच्चे होते तो प्रत्येक बच्चे को पाव पाव भर दूध प्रति दिन मिल सकता था। ८ बच्चों में प्रतिबच्चे को छटाँक भर ही मिलेगा। पंडित राममोहन शुक्ल ने इस तरह अ बड़े दो लड़कों का पे नये ६ बच्चों का पालन-पोषण काटकर ही किया। पंडित राममोहन कहा करते थे कि मुझे बड़े दो लड़के बहुत प्यारे हैं। अपनी जान में वे यह बात सच्चे दिल से कहते थे, किन्तु वास्तविक बात यह थी कि उन्हें न बच्चे प्यारे थे न स्त्री, उन्हें सब ज़्यादा प्रिय था काम। उनके ऐसे आदमी के लि सन्तान वृद्धि के काम में ही, बड़े दो लड़कों के प्र शत्रुता का भाव छिपा था। जो बात भोजन के सम्ब में कही गई है वही कपड़े के बारे में कही जा सकती है संसार-सुख-संग्रह की शक्ति शुक्ल जी में निश्चित रूप

परिमित रही, लेकिन भागीदार उसमें बढ़ते रहे। बच्चों को न जाड़े में ठीक तौर से कुर्ते बनवा सकते थे, न दुलाइयाँ। जब तक नग्न रहना सम्भव था, लड़के और लड़कियाँ नंगे नंगे घूरों पर खेला करते थे। पढ़ने-लिखने की बात तो जाने ही दीजिए। यह भी इस बात का उदाहरण है कि स्वार्थवश आदमी अपने बच्चों को भी सारे जीवन यातना में डालने से संकोच नहीं करता। आश्चर्य की बात तो यह है कि समाज ने साधारण बात के लिए बड़े बड़े दण्ड रखे हैं और इस प्रकार के बड़े बड़े अपराधों के लिए कोई दण्ड नहीं रखा। अगर कोई भूखा आदमी किसी हलवाई की दूकान से छटाँक भर गट्टे चुरा कर खा ले तो उसे चार महीने की सज़ा होगी, नहीं तो ११ बेंत तो ज़रूर लगेंगे। लेकिन अगर कोई आदमी प्रतिवर्ष बच्चा पैदा करके पाँच-सात वर्ष के अन्दर अपनी स्त्री को मार डाले तो लोग उससे सहानुभूति करेंगे। अपने स्वार्थ और कामातुरता के वश जो व्यक्ति एक जीवित-जाग्रत प्राणी के भविष्य को खतरे में डालता है उसे लोग ज़रा भी घृणा की दृष्टि से नहीं देखते। अपने काम के नतीजे को पहले से न सोच सकना, किसी भावना के आवेश में सब कुछ भूल जाना और दूसरे के हित-अहित का बिलकुल विचार न करके स्वार्थरत या आवेशग्रस्त होकर काम कर बैठना, अपराध इसी का ही तो नाम है। चोर क्या करता है ? डाकू क्या करता है ? ये सब मनोभाव के आवेश के शिकार होते हैं; जब समाज ने इन दुष्टों को दण्ड देने का विधान बना रखा है तब उससे बड़े अपराधी को दण्ड क्यों न दें। जो आदमी अपनी आमदनी बढ़ाने के प्रयत्नों में सफल नहीं होता और सन्तानोत्पत्ति के प्रयत्न में सफल होता रहता है वह अत्यन्त स्वार्थी और निर्दयी है। मेरे मतानुसार जो व्यक्ति अपने बच्चों को अपने पेट के लिए बेच लेते हैं या जो पराये बच्चों को उनके आभूषणों के लिए मार डालते हैं, इसी प्रकार के मनोभाव के होते हैं। एक उदर के लिए अपराध करता है, दूसरा शिशु के लिए। पूर्वोक्त के लिए कुछ युक्तता नहीं तो अपरोक्त के लिए तो कभी हो ही नहीं सकती। हिन्दुस्तान के मध्य-वर्ग के लोगों के ६० प्रतिशत कौटुम्बिक दुख इसी स्वार्थ-परायणता और निर्दयता से पैदा होते हैं और हिन्दुस्तान की शिशु-मृत्यु की इतनी वृहद् संख्या भी इसी कारण है। ईश्वर देशवासियों को शुद्ध बुद्धि दे।

८ बजे डायरी लिखी

नोट—बाबू सीतलासहाय जी की यह डायरी सर्वथा मौलिक ढङ्ग से लिखी गई है। इसका एक अंश दिसम्बर की 'सरस्वती' में निकल चुका है, जिसमें साहित्यिक प्रश्नों पर प्रकाश डाला गया है और यह बताया गया है कि शृंगार-रस का प्रचार राष्ट्रीय साहित्य की उन्नति का बाधक है। इस लेख के इस अंश में लेखक महोदय ने सामाजिक प्रश्न पर विचार करने का प्रयत्न किया है और यह बताया है कि हमारा जीवन कितना दम्भपूर्ण है। यह स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है कि इस लेख में जो नाम आये हैं वे सब कल्पित हैं।

—सम्पादक

ज्वाइंट सेलेक्ट कमिटी की रिपोर्ट

लेखक, आनरेबुल पंडित प्रकाशनारायण सप्रू
एम० ए०, एल-एल० बी०, बार-एट-ला
मेम्बर कौंसिल आफ़ स्टेट

आनरेबुल पंडित प्रकाशनारायण सप्रू राजनीति के विशेषज्ञ हैं। कौंसिल आफ़ स्टेट की पिछली बैठकों में आप अपनी योग्यता का अच्छे प्रकार परिचय दे चुके हैं। इस लेख में आपने सेलेक्ट कमेटी की रिपोर्ट पर संक्षेप में अपने विचार प्रकट किये हैं।

बाईस नवम्बर को क़रीब १३ साल के बाद ज्वाइंट सेलेक्ट कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। लोगों का पहले जो ख़याल था वही हुआ। रिपोर्ट ह्वाइट पेपर से भी ज़्यादा ख़राब है। लोगों ने ह्वाइट पेपर के ऊपर अपनी सम्मति इस चुनाव में दे दी है और यह बात साफ़ ज़ाहिर है कि जब यह चीज़ ह्वाइट पेपर से भी ख़राब है तब हम उस राय को क्यों बदलें। सन् १९२४ से हिन्दुस्तान के विधान के विषय में कमिटियाँ और कान्फ़रेंसें हो रही हैं। जिन लोगों ने भारत की समस्याओं पर विचार किया है उनको तो यह मालूम ही है कि ब्रिटेन और भारत में इस समय समझौता नहीं हो रहा है। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का प्रयत्न यही रहा है कि भारत को ऐसा विधान दे दिया जाय जो प्रत्यक्ष रूप से सब कुछ देता हो, परन्तु वास्तव में कुछ भी नहीं हो। अतएव मुझे तो ज़रा भी आश्चर्य्य नहीं कि रिपोर्ट इतनी ख़राब निकली है। साफ़ बात यह है कि इस समय हमारी राजनैतिक अवस्था निर्बल हो गई है और हमारी उस निर्बलता का ब्रिटिश राजनीतिज्ञ पूरा पूरा लाभ उठा रहे हैं। किसी देश को स्वराज्य सरलता से न कभी मिला है, न मिल सकता है। स्वराज्य के लिए हमने अभी यथेष्ट प्रयत्न भी नहीं किया है। और अब तो ऐसा मालूम होता है कि अभी हमें स्वराज्य प्राप्त करने में कुछ समय लगेगा।

रिपोर्ट के पढ़ने से साफ़ ज़ाहिर है कि ज्वाइंट सेलेक्ट कमिटी के मेम्बरों को हिन्दुस्तान में जो प्रजातन्त्रात्मक शक्तियाँ हैं उनका बहुत अविश्वास है। इस नये शासन-विधान में हर प्रकार से प्रयत्न किया गया है कि प्रगतिशील लोग कभी केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में यथेष्ट संख्या में न पहुँच सकें। केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में अब सीधा चुनाव नहीं रहेगा। प्रान्तों के लोअर हाउस चुनाव करेंगे। और पृथक् और साम्प्रदायिक निर्वाचन बना रहेगा। फ़ेडरल असेम्बली में ३७५ मेम्बर रहेंगे और फ़ेडरल अपर हाउस में २६० मेम्बर रहेंगे। इन २६० में से १०

मेम्बर भारतीय राज्यों के होंगे। इन भारतीय राज्यों के ऊपर ब्रिटिश क्राउन का आधिपत्य रहेगा। शेष मेम्बर प्रान्तीय अपर हाउस से भेजेंगे। प्रान्तीय अपर हाउस का निर्वाचन-क्षेत्र बहुत संकुचित होगा। अर्थात् आज-कल कौंसिल आफ़ स्टेट ही जैसा होगा। फ़ेडरल लोअर हाउस भी अप्रत्यक्ष रूप से चुना जायगा। परिणाम यह होगा कि जहाँ तक कि केन्द्र का प्रश्न है उसमें शक्ति यदि कुछ है तो ऐसे लोगों के हाथ में रहेगी जो अपने स्वार्थ के लिए उसका उपयोग करेंगे। मामूली ग़रीब भाइयों को इससे लाभ न होगा। लोअर और अपर दोनों हाउसों की शक्ति एक-सी रहेगी और—मेरे ख़याल में प्रत्यक्ष चुनाव का सवाल और सवालों से भी ज़रूरी है और केन्द्रीय व्यवस्थापिका का चुनाव इस वक़्त के चुनाव से भी ज़्यादा ख़राब होगा। भारतीयों को कह देना चाहिए कि उन्हें यह कदापि स्वीकार नहीं हो सकता।

गवर्नर जेनरल को इतने अधिक अख़्तियार रहेंगे कि वे एक प्रकार के डिक्टेटर हो जायँगे। हर मामले के ऊपर चाहे तिजारत हो, चाहे अर्थ-व्यवस्था हो, चाहे पुलिस हो, इन हर मामलों में मिनिस्टरों के निर्णयों को रद करने का उन्हें पूरा अख़्तियार रहेगा। जो क़ानून वे चाहेंगे, पास कर सकते हैं। जहाँ तक देश-रक्षा का प्रश्न है उस सम्बन्ध में किसी प्रकार का अधिकार व्यवस्थापिका सभाओं को नहीं होगा। और वर्तमान गति से १२० वर्ष से कम समय में सेना का भारतीयकरण नहीं हो सकता। मेरी समझ में नहीं आता कि नये शासन-विधान के भारी ख़र्च से जब लोगों को कोई अधिकार नहीं प्राप्त हो रहा है, क्या लाभ होगा।

प्रान्तों में सरकारी सदस्य नहीं रहेंगे। और सब मेम्बर चुनाव के द्वारा ही भेजे जायँगे। मगर जहाँ तक शक्ति के हस्तान्तरित करने का प्रश्न है, वह नाममात्र को भी नहीं है। गवर्नर के बड़े विस्तृत अधिकार रहेंगे। बङ्गाल में पुलिस का वह विभाग जो आतङ्कवादियों से सम्बन्ध रखता है, गवर्नर के हाथ में रहेगा। अन्य प्रान्तों में भी जहाँ गवर्नर चाहेंगे उसे अपने हाथ में ले सकेंगे। जिस मिनिस्टर के चार्ज में पुलिस रहेगी उसको यह भी अधिकार नहीं होगा कि वह पुलिस से काग़ज़ माँग सकेगा, जिसके ऊपर उसको आर्डर पास करना है। यह कहना कि पुलिस दत्त विभाग है, बिलकुल ग़लत है। मिनिस्टर बिना गवर्नर की आज्ञा लिये पुलिस-ऐक्ट में भी कोई परिवर्तन नहीं करा सकते।

रिपोर्ट को ग़ौर से पढ़ने के बाद यह साफ़ प्रकट हो जाता है कि कोई वास्तविक अधिकार चाहे प्रान्तों में हो, चाहे केन्द्र में, भारतीयों को नहीं दिया गया है। इसका यही परिणाम होगा कि जिन वर्गों की सहायता सरकार के लिए अपेक्षित है उनकी शक्ति और बढ़ जायगी और आगे के लिए स्वराज्य असम्भव हो जायगा। भारतीय राजनैतिक दलों को चाहिए कि इन सुधारों को वे न स्वीकार करें। यदि ये सुधार हो गये तो हम क्या करेंगे, इस बात में जाने की इस समय आवश्यकता नहीं है। यह साफ़ ज़ाहिर है कि स्वराज्य-आन्दोलन इन सुधारों के बाद और भी अधिक शक्ति से जारी रहेगा। मुझको अफ़सोस है कि हमारे लायक़ लीडर पंडित हृदयनाथ कुंजरू और चिन्तामणि असेम्बली में नहीं होंगे। मुझे पूरी उम्मीद है कि हमारे कांग्रेसी भाई इतनी बड़ी संख्या में होंगे और इस हिम्मत और इस बुद्धिमानी से काम करेंगे कि उस शक्ति को पैदा करने में देश की सहायता करेंगे। पुरानी असेम्बली का रेकार्ड इतना ख़राब रहा है कि बहुत से मेम्बरों की हार पर किसी को अफ़सोस नहीं हो सकता। अब तो इस असेम्बली के ऊपर ही देश को आशा है।

दयनीय

लेखक, श्रीयुत सियारामशरण गुप्त

(बाहर)

रंगभूमि के राज-भवन में राज-विभव में लीन;
उच्च अलंकृत सिंहासन पर नृपवर थे आसीन।
झलमल-झलमल वस्त्राभूषण, गौर-कान्ति अवदात;
दीपों के उज्ज्वल प्रकाश में दमक रहा था गात।
देख रहा था मैं शिशु दर्शक, विस्मय-मुग्ध, विमूढ़;
निखिल दृश्य मेरे समक्ष था चिर-रहस्य-मय, गूढ़।
सहसा एक भृत्य के ऊपर बिगड़ पड़े भूपाल;
रंगमंच पर उत्थित होकर प्रकट हुआ भूचाल।
काँप उठा वह भृत्य मंच पर, मैं भी उसके साथ;
मूँद लिये मैंने दृग अपने, झुका लिया निज माथ।
सारे के सारे दर्शक जन,—हुआ मुझे यह बोध,—
स्तब्ध रह गये, सह न सके हैं नृपवर का वह क्रोध।
आह ! कहीं पा सकता मैं भी नरपति का पद-मान;
डरते सब मन-ही-मन मुझको, मुझे श्रेष्ठजन जान।

(भीतर)

अभिनय पूरा हुआ, गये सब दर्शक निज निज ठौर;
दीप बुझ गये, अन्धकार में रह न गया कुछ और।
मैं बालक चढ़ गया मंच पर, सोचा,—यह नेपथ्य:
देखूँ तो इसके भीतर है क्या रहस्य, क्या तथ्य।
कौतूहल-वश झाँका मैंने खिसका कर पट-छोर
थी विशृङ्खला ही विशृङ्खला इधर-उधर सब ओर।
बाहर बना हुआ था गर्वित जो सबका अधिराज,
भीतर उस पर मुकुट न था अब, और न था वह साज।
बैठा था नीचे धरती पर उसी भृत्य के पास;
न थी वहाँ वह पद-मर्यादा, न था विभव का हास।
एक तीसरा स्वामि-भाव से खड़ा हुआ कुछ दूर;
डाँट रहा था किसी भूल पर उस 'नृप' को भरपूर।
भय से उतर गया मुख उसका, था पर 'भृत्य' प्रसन्न;
विस्मित मेरे मन में नृप पर हुई दया उत्पन्न !

——
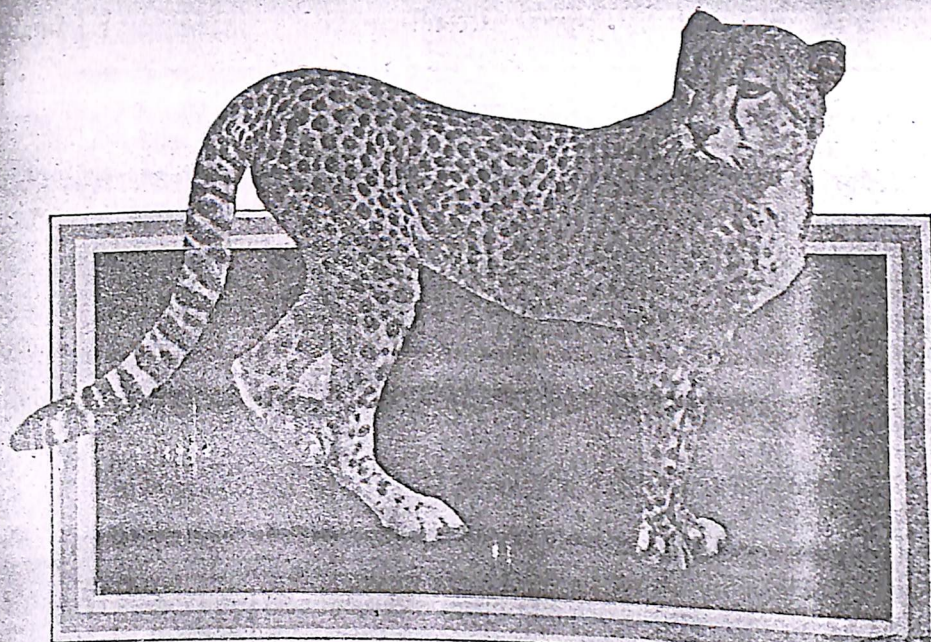
जंगली जन्तुओं की रक्षा

लेखक—श्रीयुत मुकन्दीलाल बी० ए० (आक्सन), बार-एट-ला

प्रकृति के सुन्दर बनाने में जंगली जन्तुओं का भी स्थान है। अब वह समय आ गया है जब विनोद के लिए उनका वध करना या शिकार खेलना वर्जित होना चाहिए। कम से कम ऐसे स्थान अवश्य होने चाहिएँ जहाँ उन्हें कोई न बोल सके। योरप और अमरीका आदि देशों में सरकार की ओर से ऐसे स्थान नियुक्त क दिये गये हैं। हमारे देश में भी इसकी आवश्यकता है क्योंकि शिकारियों के कारण बहुत-से वन-पशुओं का वंश ही नष्ट हो जाना चाहता है। श्रीयुत मुकन्दीलाल बैरिस्टर इस दिशा में कुछ वर्षों से आन्दोलन कर रहे हैं और प्रान्तीय सरकार का ध्यान भी उन्होंने इस ओर आकृष्ट किया है। अपने ढङ्ग का हिन्दी में यह पहला ही लेख है। आशा है शिकार के सम्बन्ध में नये एक दृष्टिकोण का निर्माण करने में यह सहायक होगा।

जगत् में जन्तुओं का स्थान

जितने जन्तु जगत् में जन्मे हैं वे किसी न किसी उद्देश, अभिप्राय, से जगत् के जन्मदाता ने जगत् में जन्माये हैं। अनुभव से यह देखने में आया है कि हिंसक जन्तु और जहरीले जानवर भी प्रत्यक्ष य अप्रत्यक्ष रूप से सृष्टि में किसी न किसी निर्दिष्ट काम के लिए हैं या वे कोई न कोई विशेष कार्य करते हैं। एक गढ़वाली वीर बद्री महाराज* ने जो फीजी द्वीप में जा बसे थे, मुझसे कहा था कि

* बद्री महाराज का संक्षिप्त जीवन-चरित लेखक ने सरस्वती में प्रकाशित किया था।

फ़ौजी में [illegible] और कौए नहीं होते थे। अतएव खेती का नुक़सान करनेवाले कीड़े-मकोड़ों को मारने के हेतु भारतवर्ष से चूहे और कौए पकड़कर ले जाये गये थे। यहाँ हम उनको हानिकारक जन्तु समझकर मार डालने की कोशिश करते हैं। इस सृष्टि में जितने जानवर तथा कीड़े-मकोड़े हैं वे किसी न किसी काम के हैं और कुछ न कुछ अर्थ-साधन करते हैं। यदि हमें किसी जन्तु की उपयोगिता प्रत्यक्ष रूप से मालूम न हो तो कम से कम यह तो हमको स्वीकार ही करना होगा कि इस जगत् के सौन्दर्य को प्रत्येक जन्तु बढ़ाता है। उदाहरण के लिए हिंसक जन्तुओं में शेर, सिंह, गुल्दार, भालू, अहिंसक जन्तुओं में चीतल, बारहसिंगा, हिरन, थार, जंगली मेढ़ा, पक्षियों में मोर, मुनाल, चकोर, तीतर, फँकरास, चेड़ इत्यादि अपने अपने विचित्र अकथनीय सौंदर्य से संसार को रमणीय और मनोरंजक बनाते हैं।

प्रत्येक देश में विशेष प्रकार के जानवर होते हैं। एक समय था जब कोई भी देश अपने वन-पशुओं के बिना नहीं था। किन्तु आज बहुत-से देश व प्रदेश जन्तुविहीन हो गये हैं। प्रत्येक देश को अपने विशेष वन-पशुओं का गौरव है। यथा अफ़्रीका को अपने शेर बबर (सिंह), कूदू, ज़ेब्रा और जिराफ़ का गौरव है। भारतवर्ष का शेर, बारहसिंगा, चीतल, हिरन, मोर, मुनाल, जंगली मेढ़ा, मारखोर, बरल, थार और जंगली बकरी जगत् में विख्यात हैं। ये जानवर इन देशों के अतिरिक्त अन्य देशों में नहीं मिलते हैं।

प्राचीन काल में पशुओं की रक्षा का उद्योग—अपने देश के विशेष जन्तुओं की रक्षा करना प्रत्येक देश का धर्म है। इसी लिए प्रत्येक देश में जंगली जन्तुओं की रक्षा करने का प्रयत्न किया जाता है। भारतवर्ष में प्राचीन काल से जानवरों की रक्षा का प्रयत्न किया गया है। यहाँ तक कि यह धर्म में स्वीकार किया गया है कि किसी भी जीव की हत्या न की जाय। इसलिए "अहिंसा परमो धर्मः" माना गया है। ख़ास कर जैनमत और बौद्धधर्म में अहिंसा (हत्या न करना) को सबसे बड़ा स्थान दिया गया है। जैन-मतावलम्बी, तो इस मामले में यहाँ तक बढ़ गये कि अदृश्य कीड़े-मकोड़े के मुँह में अनायास चले जाने के भय से दिन में खाना तक खाने लगे और स्वयं उनका रुधिर-पान करनेवाले जूएँ और खटमलों को हटाना और मारना तक महापाप समझने लगे। कालांतर में खाद्य जन्तु और अखाद्य जानवरों के बीच भेद किया जाने लगा। बौद्ध सम्राट् अशोक ने अपने पाँचवें धर्मादेश (शिलालेख) में समस्त भारतवर्ष के लिए एक नियम बना दिया कि कोई व्यक्ति किसी ऐसे चतुष्पद जन्तु को न मारे जिसका मांस खाद्य नहीं। खाद्य जन्तुओं में भी गैंडा और बारहसिंगा मारने की मुमानियत थी।

हिन्दुओं की तरह मुसलमान बादशाहों को भी जंगली जानवरों से बड़ा प्रेम था। ईरान में ख़ास ख़ास बड़े जङ्गली जानवरों के मारने की मुमानियत थी। बाबर, जहाँगीर और हुमायूँ को जंगली जानवरों से बड़ी मुहब्बत थी। उन्होंने बड़े जंगली जानवरों के विषय में लेख तक लिखे हैं।

इसी तरह पाश्चात्य देशों में १३वीं सदी से बनैले पशुओं की रक्षा के लिए क़ानून बनाये गये। विलायत (इँग्लेंड) में तृतीय हेनरी ने सन् १२१७ में जंगली जानवरों और जंगलों की रक्षा के लिए नियम बनाये। और तब से किसी न किसी रूप में, और किसी न किसी जानवर की रक्षा के निमित्त समय समय पर विलायत में नियम बराबर बनते रहे। इँग्लेंड एक छोटा सा द्वीप होने के कारण वहाँ इतने कड़े नियम बनने पर भी इस समय सिवा चिड़ियाघर और रीचमंड पार्क सरीखे संरक्षित उद्यानों के जंगली जानवर और कहीं नज़र नहीं आते हैं। केवल स्काटलेंड में इने-गिने एक क़िस्म के जड़ाव (साँभर) व लाल मृग हैं।

इस तरह जंतु-जगत् की रक्षा के हेतु योरप के कतिपय देशों में समय समय पर जानवरों को शिकारियों से बचाने के लिए क़ानून बनते रहे। पहले-पहल
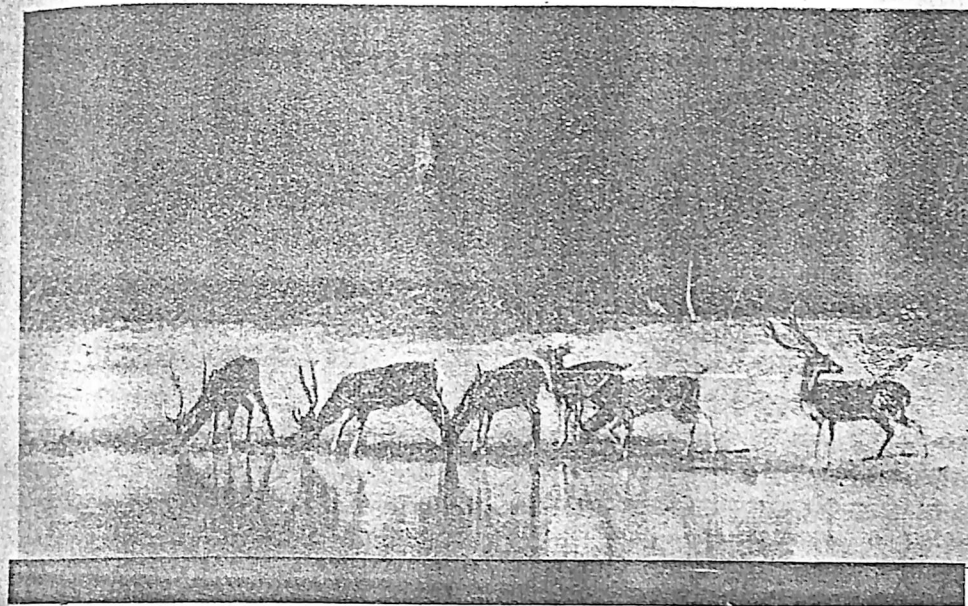
[एक वन का दृश्य जहाँ कम शिकारी पहुँचते हैं।]

फ़्रांस में सन् १८४४ में जंगली जानवरों की हिफ़ाज़त के लिए क़ानून बनाया गया।

जंगली जानवरों का शिकार निर्दिष्ट समय पर खेलने और साल में कई महीनों तक उनका शिकार न करने की प्रथा बहुत पुरानी है। चीनी दार्शनिक ऋषि कानफ़ूशियस ने अपनी नीति में लिखा है—"पुलवाले पहाड़ पर एक एक पक्षी रहता है। उस पक्षी को (निर्दिष्ट) मौसम में मारना।" एक समय किसी ने मौसम के बाहर उस पक्षी को मारा और मेज़ पर तैयार कर खाने के लिए परोसा। किन्तु उस महात्मा (कानफ़ूशियस) ने उसे सूँघ कर छोड़ दिया और खाना भी नहीं खाया। वह मेज़ छोड़ कर चला गया। इससे शिकार के लिए वर्जित ऋतु की प्रथा का संकेत होता है।

आधुनिक समय में बनैले पशुओं की रक्षा के लिए और उद्यानों की स्थापना की चेष्टा—आजकल प्रत्येक क़िस्म के पक्षी व बनैले जन्तुओं को ख़ास ख़ास महीनों में मारने का निषेध है। किन्तु देखा गया है कि वर्जित मौसम के भीतर भी बड़े बड़े होटलों में सैकड़ों परिन्दे और चौपाये जंगली जानवर पकाकर परोसे जाते हैं। बड़े हाकिम व राजे-महाराजे उनका मज़ा हर मौसम में चखते हैं।

ख़ास ख़ास जानवरों को किसी ख़ास मौसम में मारना मना है, इसलिए कि उनके बच्चे हों और उनकी संख्या-वृद्धि हो। किन्तु इन नियमों को हम सदैव भंग होते ही देखते हैं। चोरी से वा छिपकर शिकार करने वा जाल तथा पास इत्यादि से मारनेवाले बड़े आदमियों और धनियों के खाने के लिए

लाखों जानवरों की हत्या करके अपनी उदरपूर्ति करते हैं। कई देशों में कुछ जंगल सदैव के लिए शिकार के लिए बन्द कर दिये गये हैं, ताकि उनमें कोई शिकार न खेलने पाये, जानवरों की रक्षा व वृद्धि हो और उन संरक्षित वनों में लोग वनैले पशुओं को देखने के लिए जाया करें।

अमेरिका में जंगली जन्तुओं के लिए ४० संरक्षित उद्यान हैं। इस प्रकार का 'क्रूगर राष्ट्रीय उद्यान' दक्षिण-अफ़्रीका में है। उसका रक़बा आठ हज़ार वर्ग मील है। बेल्जियम के कैंगो में ५,००,००० वर्ग मील बंद जंगल है। कनाडा, न्यूज़ीलेंड और आस्ट्रेलिया में भी इस प्रकार के रक्षित वन छोड़ रक्खे गये हैं, जहाँ मनुष्य जीवों की हत्या नहीं कर सकता। यह तो नई दुनिया का हाल है। पुरानी दुनिया अर्थात् स्विट्ज़लेंड, इटली, स्पेन, फ़िनलेंड, आस्ट्रिया, पोलेंड, ज़ेकोस्लोविकिया और स्वीडन में भी जीव-जन्तुओं की रक्षा के लिए पशुपालक उपवन बन गये हैं। स्वीडन एक छोटा-सा देश है, पर वहाँ जन्तुओं की रक्षा के लिए १४ राष्ट्रीय उद्यान बनाये गये हैं।

क्रूगर राष्ट्रीय उद्यान—दक्षिण-अफ़्रीका के 'क्रूगर राष्ट्रीय उद्यान' को कुछ विवरण यहाँ देने से इस बात का पता लगेगा कि किस तरह उद्यानों का प्रबन्ध होता है और कैसे और क्या उपयोग उन उपवनों का किया जाता है।

बुअरों के राष्ट्रपति क्रूगर ने पहले-पहल इस राष्ट्रीय उद्यान की स्थापना की थी। इस उद्यान की स्थापना का उद्देश यह था—

ख़ूँख़ार जानवरों की गति को परिमित करना। हिरनों की संख्या-वृद्धि करना। चोर शिकारियों को रोकना और जानवरों तथा जंगलों को आग से बचाना।

सन् १९२५ में इस राष्ट्रीय उद्यान का पुनर्निर्माण हुआ, और अब वह २०० मील लम्बा और ४० मील चौड़ा उपवन हो गया है। यह उद्यान चार विभागों में विभक्त है, और प्रत्येक की रक्षा व देखरेख के लिए एक रेंजर नियत कर दिया गया है। उद्यान के अन्दर कच्ची सड़कें निकाल दी गई हैं। दर्शक लोग जब उद्यान के अन्दर जाते हैं तब उनके मोटरों को देखकर जानवर भागते नहीं, क्योंकि उनको मारने की कोई कोशिश नहीं करता। इसलिए मनुष्य को वे अपना शत्रु नहीं समझते और उससे भयभीत होकर भागते नहीं। दर्शक लोग नज़दीक से जानवरों के चित्र बड़ी आसानी से ले सकते हैं। दर्शकों के लिए कई जगह छोटे छोटे पक्के निवास-स्थान बने हुए हैं। कई स्थानों पर स्नानगृह और [illegible] लगे रहते हैं। कहीं कहीं छोटी छोटी दूकानें, जलपान के अड्डे, मोटरों के दराज़ बने हुए हैं। एक डाकख़ाना भी बना हुआ है। छः फाटक बने हुए हैं। इन फाटकों पर दर्शकों की बंदूक़ों पर लाख की मुहर लगा दी जाती है, ताकि कोई रक्षित जंगल के अन्दर उनका इस्तेमाल न कर सके। दर्शकों को केवल मोटरों से ही सफ़र करना होता है, और जंगल में उन्हें मोटर से उतरने की इजाज़त नहीं। पाँच वर्ष की वनपशु दर्शन-यात्रा में अब तक किसी भी दर्शक को अपनी रक्षा के लिए शस्त्र की शरण नहीं लेनी पड़ी।

जहाँ पानी नहीं वहाँ जानवरों के लिए पानी का प्रबन्ध नहर निकालकर किया गया है।

पाँच वर्ष के अन्दर अफ़्रीका के 'क्रूगर राष्ट्रीय उद्यान' में बड़ी बड़ी दूर से, हज़ारों मील का सफ़र तय करके, अफ़्रीका के विशेष जानवर, ख़ास कर शेर बबर, ज़ेब्रा, जिराफ़, कुदू, और कई प्रकार के [illegible] को देखने के लिए यात्री सहस्रों की संख्या में आने लगे हैं।

हमारे संयुक्त-प्रान्त में एक समय था जब गैंडे और सिंह सरीखे जानवर लखनऊ और दिल्ली के आस-पास देखे गये, और मारे गये थे। अब शेर बबर और गैंड़े का भारतवर्ष से लोप हो गया है। गैंडा केवल नेपाल की तराई के सघन जंगलों में और इक्का दुक्का शेर बबर काठियावाड़ में देखने में आता है। भारतवर्ष को अपने शेर, साँभर, बारहसिंगा, चीता, हाथी, नील मृग और हिरन को समभूमि में और पार, घुरड़, बरड़, सरौ को पर्वत-श्रेणियों में शरण देने का सौभाग्य प्राप्त है। किन्तु इनकी संख्या दिन दिन कम होती जा रही है।
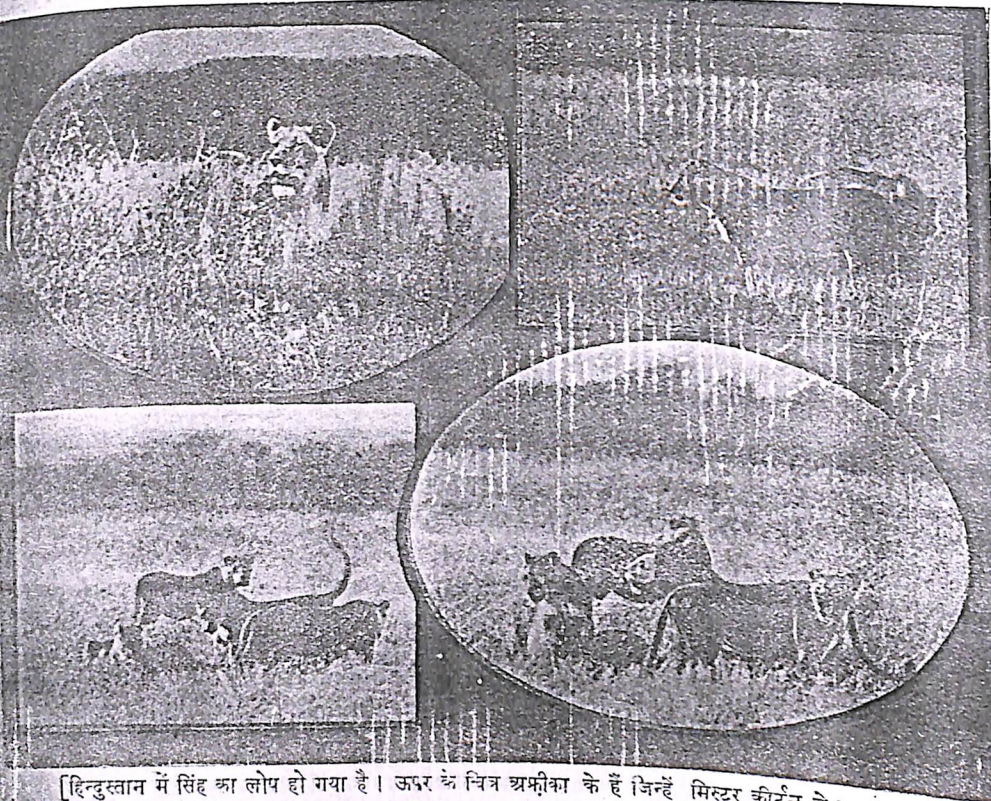
[हिन्दुस्तान में सिंह का लोप हो गया है। ऊपर के चित्र अफ़्रीका के हैं जिन्हें मिस्टर कीर्टन ने एक सघन वन में १२००० मील चलने के बाद एक फ़िल्म के लिए खींचे थे।]

वनैले पशुओं के लिए उद्यान का उद्योग—भारत में अब तक कोई जंगल या भारत की भूमि का कोई भाग जानवरों को जीवदान के हेतु संरक्षित नहीं। हमारे संयुक्त-प्रान्त में कई ऐसे स्थान हैं जहाँ जानवरों को शरण दी जा सकती है। अर्थात् उनके लिए 'संरक्षित जंगल' बन सकते हैं। कुछ वर्षों से मैं इस बात की चर्चा समाचार-पत्रों व कौंसिल-द्वारा कर रहा हूँ।

मैंने स्वयं कालागढ़ डिवीज़न के सरकारी रक्षित जंगल के एक भाग का नाम लिया था कि वह इसके लिए उपयुक्त स्थान होगा। हर्ष का विषय है कि प्रान्तीय सरकार इसके पक्ष में है कि वहाँ एक संरक्षित जंगल क़ायम किया जाय। इसलिए यहाँ की कौंसिल में एक बिल तैयार हो रहा है, जिसके अनुसार कोसी

और रामगंगा के बीच का कालागढ़-डिवीज़न का एक भाग जिसका रक़बा १६५ वर्ग मील है, शिकार के लिए वर्जित क्षेत्र घोषित कर दिया जायगा। इसके चारों तरफ़ मोटर की कच्ची सड़क निकाल दी जायगी। कुछ हद तक वहाँ अब भी जंगल-विभाग की मोटर-सड़क मौजूद है। मेरी राय में यह जंगल का प्रायः डेढ़ सौ वर्ग मील का एक टुकड़ा काफ़ी नहीं होगा। दर्शक लोग भी इससे काफ़ी फ़ायदा नहीं उठा सकेंगे। इससे अच्छा भाग, हमारे रक्षित जंगलों के लिए, देहरादून-डिवीज़न और सहारनपुर-डिवीज़न के वे हिस्से हैं जो हरद्वार व देहरादून के बीच और देहरादून व सहारनपुर के बीच में हैं। इन दो विभागों से होकर मोटर की सड़क भी गुज़रती है। यहाँ पर्वतीय और समभूमि के जंगलों के अलौकिक दृश्य भी मौजूद हैं। इन दो विभागों की देख-रेख, प्रबन्ध व नियम-पालन में सुभीता भी है। किन्तु शायद गवर्नमेंट इन दो उपर्युक्त जंगलों को रक्षित घोषित करने के लिए सहमत न होगी, क्योंकि यहाँ उच्च अधिकारियों के लिए शेर का शिकार करने में बड़ी सुविधा है।

सरकारी रक्षित जंगलों में शिकार खेलने की लीला को नियमबद्ध करने के लिए समय समय पर गवर्नमेंट नियम बनाती रहती है और प्रत्येक क़िस्म के जो जन्तु रक्षित जंगलों में पाये जाते हैं उनके शिकार का समय और संख्या नियत कर दी गई है। किन्तु इन नियमों के होते हुए भी जानवर बहुत मारे जा रहे हैं। चोरी-छिपा मारे जानेवाले जानवरों की संख्या मिल ही कैसे सकती है? किन्तु सरकारी इजाज़त से, नियमों के अनुसार, जो जानवर सरकारी रक्षित जंगलों में मारे जाते हैं उनकी ८-१० वर्ष की संख्या मैंने सरकारी रिपोर्टों से ढूँढ़ निकाली है।

सरकारी रक्षित जंगलों में सरकारी इजाज़त से मारे गये कुछ जंगली जानवरों की दस वर्ष की संख्या—दस वर्ष की अर्थात् सन् १९२२ से सन् १९३२ तक की संख्या नीचे दी जाती है, जिससे विदित होगा कि इन दस वर्षों में प्रतिवर्ष कितने जानवर सरकार की इजाज़त से सरकारी रक्षित जंगलों में मारे गये—

साल	शेर	गुलदार	भालू	गैंड़ा	साँभर	चीतल	नील मृग	हिरन	पाड़ा	काकड़	सरौ	घुरड़
१९२२	५६											
१९२३	८०											
१९२४	१०२											
१९२५	९३	१०७	९१	२२	२२	११८	१९		१०१	१०		
१९२६	१०१	१०४	५१	२५	८५	१४६	८१	३२	८१	३६		
१९२७	७६	१०४	७५	२५	१६७	३०८	९५	९६	१०५	६५	८	७१
१९२८	९०	१०५	७२	२७	१५५	१९१	९८	४७	९८	३७	३	२४
१९२९	७१	८५	५७	२३	१५२	३४१	७२	२६	७२	९४	११	७६
१९३०	८९	९८	७५	१७	१८२	३१७	८१	३४	८१	७२	५	८
१९३१	१०४	११५	५९	२२	१७५	२९३	६१	३९	६१	७९	७	७८
१९३२	११२	१००	५४	१९	१५२	२५२	६५	१	६५	६१	३	५७
मीज़ान											३८	३०५
दश वर्ष का वार्षिक औसत	८७	५८	६८	२७	१८२	३०२	५४	३५	१५	५२	५	७२

सन् १९२२ में सरकार ने शेरों की 'रक्षा' के लिए यह नया नियम बनाया कि प्रत्येक शिकारी साल भर में कुल ४ शेर मार सकता है। और शिकारियों का कोई भी समूह, इसी हिसाब से, जितने चाहे शेर मार ले। मगर रात में शेर मारने की मुमानियत कर दी गई है। इसका नतीजा यह हुआ कि शेरों की मृत्यु-संख्या बजाय कम होने के, दस वर्ष में, दुगुनी हो गई है। यदि यही सिलसिला जारी रहा तो कालांतर में हमारे प्रांत से शेर उसी तरह लोप हो जायगा जिस तरह हिन्दुस्तान से सिंह का लोप हो गया है।

कई ऐसे अहिंसक जन्तु हैं जिनकी संख्या इतनी कम हो गई है कि उनका प्रायः लोप ही समझिए। सरौ अब कहीं देखने में नहीं आता। साँभर और बड़े सींगवाले बारहसिंगे कहीं देखने में नहीं आते। हिमालय के घुरल और थार भी अब न होने के बराबर हैं। बरल (बरड़) और मारखोर भी अब प्रायः लोप ही हो रहा है। हिरन जहाँ हज़ारों की संख्या में दिखाई देते थे, अब इने-गिने रह गये हैं। वही हाल चीतल इत्यादि का भी है।

१९२२ के नये नियमों के बनने के पहले १९१९ से १९२२ तक पाँच वर्षों में इस प्रांत में ३११ शेर सरकारी रक्षित जंगलों में मारे गये थे। और १९२३ से १९२८ तक—पाँच साल में शिकारियों ने सरकार की इजाज़त से ४६६ शेर मारे। नये नियमों का असर १९२५ से हुआ। १९२५ से १९३२ तक विगत ८ वर्षों में ७५६ शेर, ४१७ गुलदार (बाघ), ५३४ भालू, १९० गोंड, ११२१ साँभर, १९६५ चीतल, ८९ पाड़े, ४४३ काकड़, ६७२ नील मृग, २९८ हिरन, ३०५ घुरड़, ३८ सरौ, १० चौसिंगे हिरन क़ानून के अनुसार सरकार की इजाज़त से सरकारी रक्षित जंगलों में मारे गये। जो जानवर ज़मींदारी जंगलों में और चोरी-छिप कर मारे गये या जिनका पता नहीं लगा उनकी संख्या अहिंसक जन्तुओं में तो कम से कम हज़ार गुनी ज़्यादा होगी। इससे पता लगेगा कि प्रतिवर्ष कितने जानवर इस प्रान्त में मारे जाते हैं।

असंख्य पक्षी प्रतिवर्ष मारे जाते हैं—पक्षियों की मृत्यु का शुमार नहीं। करोड़ों की तादाद में ये बेचारे परिन्दे मारे जाते हैं। इनके मारनेवाले सरकारी नौकर अर्थात् बड़े से बड़े आला हाकिम से लेकर छोटे छोटे पटवारी या कानिस्टेबल व सिपाही एवं अदना से अदना आदमी तक हैं इनके सिवा पाश या जाल से पकड़ने व मारनेवालों की भी संख्या बेशुमार है। दिल्ली में बड़े बड़े आला अफ़सरों और अमीरों एवं राजों-महाराजों के खाने की मेज़ों पर औसतन ५०० जंगली परिन्दे रोज़मर्रा रक्खे जाते हैं। एक ठेकेदार ने एक साहब से अभी हाल में कहा था कि वह दिल्ली में ३६ घंटे के अन्दर २,००० तीतर अमीरों के भोजन के लिए ला सकता है। यह तो हमारे यहाँ से तीतर, चकोर, जंगली मुर्ग़ी, कालेज, चेड़, कँकरास, मुनाल इत्यादि पक्षियों का हाल है। हमारे अतिथि बत्तख़ों को जो रूस, मध्य-एशिया और तिब्बत से जाड़ों में हज़ारों मील का सफ़र तय करके आते हैं, यहाँ की झीलों में बड़े बड़े हाकिम एक एक दिन में हज़ारों की संख्या में मारते हैं। दृष्टान्त के लिए मैं केवल भरतपुर का ज़िक्र करूँगा। वहाँ की झील के किनारे पर एक स्मारक बना हुआ है। इसमें २५ साल के बत्तख़ों के शिकार की संख्या और उनके मारनेवालों के नाम लिखे हैं। १२ जनवरी १९१८ को जब मिस्टर मान्टेगू और उनके साथ भारत के गवर्नर-जनरल इत्यादि बड़े बड़े ४८ हाकिम गये थे तब उन सबने मिलकर एक दिन में २,६६१ बत्तख़ें मारी थीं। उसी भरतपुर की झील में लार्ड कर्ज़न के समय से औसतन २,००० बत्तख़ें प्रतिवर्ष मारी गईं। हमारे प्रांत के ज़मींदार अपनी झीलों में बड़े गर्व के साथ प्रतिवर्ष गवर्नर तथा अन्य आला अफ़सरों से लाखों बत्तख़ें मरवाते हैं।

जन्तुओं के प्रति हमारा दायित्व—जन्तुओं के प्रति हमारा दायित्व है! एक तो इसलिए कि जब हम जीवदान नहीं दे सकते तब अपने मनोरञ्जन के

लिए कहाँ तक हम उनके प्राण हरण कर सकते हैं। यह कहा जा सकता है कि मनुष्य उनकी मौत के कारण हैं। इसी लिए सृष्टि के नियमों के अनुसार वे घातक हैं। किन्तु यह हमारा हक़ कहाँ है कि हम बिना कारण असंख्य जन्तु अपने लाभ के लिए मार डालें। आखेट पुरानी प्रथा है। किन्तु यह प्रथा मनोरंजन व वीरत्व के लिए या घातक खूँख़ार जानवरों के मारने या कभी कभी भोजन के लिए नियमबद्ध होनी चाहिए। बहुत-से पशु मनुष्य को दुःख देने व नुक़सान पहुँचाने या उसको मारनेवाले भी हैं। ऐसे पशुओं को मारना असंगत नहीं। कुछ जन्तु ऐसे हैं जो केवल खेती का नुक़सान करते हैं। अस्तु, इन सब बातों की ओर ध्यान रखते हुए और मनुष्य के मनोरंजन की कामना का भी ख़याल करते हुए उपयुक्त यही है कि जीव-जन्तुओं की रक्षा के लिए नियम बनने चाहिए और जानवरों की हिफ़ाज़त का हमें प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि अगर ऐसा नहीं किया जायगा तो थोड़े ही समय में हमारे भारत के कई जन्तुओं का जिनका हमको गौरव होना चाहिए और जिनको देखने से मनोरंजन भी होता है और शिक्षा भी मिलती है, सदा के लिए लोप हो जायगा। जैसे हमको अपने भारत की चित्र-कला, भवन-निर्माण-कला, और सभ्यता बनाये रखने की कोशिश करनी चाहिए, उसी तरह भारतीय जन्तुओं की भी रक्षा करना हमारा राष्ट्रीय कर्तव्य है।

जन्तुओं की रक्षा का उपयोग—यह ख़ुशी की बात है कि २-३ वर्ष से हमारे देश में लोकमत जन्तुओं की रक्षा के लिए प्रबल होने लगा है। सबसे पहले हमारे ही प्रान्त में सन् १९३१ में जानवरों की रक्षा के लिए मेरे मित्र मिस्टर हसन आबिद जाफ़री और मेजर कौरबेट के उद्योग से एक समिति क़ायम हुई है। हमारे प्रान्त के भूतपूर्व गवर्नर सर मालकम हेली ने भी इसमें बड़ी दिलचस्पी दिखाई थी। इस प्रकार की संस्थायें क्रमशः सारे भारतवर्ष में स्थापित हो रही हैं। भारत-सरकार का भी ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है। जब तक सरकार कड़े नियम बना कर उनका पालन नहीं कराएगी तब तक जानवरों की रक्षा करने की सब कोशिशें बेकार होंगी।

नवीन नीति, नियम और क़ानून की ज़रूरत—इस समय ख़ास कर इस प्रकार के नियमों के बनने व उनकी पाबन्दी की सख़्त ज़रूरत है—

(१) जंगली जानवरों की खाल, पर, सींग, हड्डी और मांस बेचनेवालों को सज़ा दी जाय।

(२) जिन लोगों के पास सड़क पर या रेलगाड़ी में कहीं भी जंगली जानवरों की खाल, पर, सींग या उनका मांस हो उनको अपनी बंदूक़ का लायसेंस और शिकार खेलने का पट्टा दिखाना होगा और जिनके पास ये न हों उनको सज़ा दी जाय।

(३) बिना शिकारी लायसेंस के शिकार खेलनेवालों को सज़ा देना।

(४) जहाँ कहीं कोई जाल या फाँस से जानवरों को पकड़े या मारे उसको सज़ा दी जाय।

(५) शिकार के लिए कड़े नियम बनाये जायँ। नियम भंग करनेवालों की पुलिस या कोई भी व्यक्ति रिपोर्ट करे तो उन पर मुक़द्दमा सरकार चलाये।

(६) सरकारी कर्मचारियों को ख़ास हिदायतें भेजी जायँ कि वे स्वयं मौसम के बाहर और नियमों के विरुद्ध जानवर न मारें। यहाँ मैं यह कह देना चाहता हूँ कि छोटे छोटे सरकारी नौकर जैसे पहाड़ में पटवारी, क़ानूनगो, व पल्टन के सिपाही, और देश में ऐसे ही छोटे छोटे सरकारी नौकर देहात में मौसिम के बाहर और क़ानून के ख़िलाफ़ पक्षी और मृग मारते रहते हैं।

(७) कोई भी शिकारी-संघ १०० पक्षी, १० अहिंसक जन्तु और ४ शेर से अधिक न मारे।

(८) प्रत्येक व्यक्ति साल भर में पाँच अहिंसक जन्तु, १० पक्षी और एक शेर से अधिक न मारे।

(९) रात में शेर का मारना जो आज-कल मना है, मना न रहे। आज-कल हर एक आदमी ४ शेर तक मार सकता है। यह नियम अमीर व बड़े अफ़सरों के हित के लिए है, न कि ग़रीब शिकारी के लिए। यह नियम ज़रूर बदलना चाहिए। किसी को एक से अधिक शेर मारने की इजाज़त न मिलनी चाहिए।

(१०) हिंसक पक्षी, सियार और जंगली बिल्ली इत्यादि ऐसे जानवरों के मारनेवालों को इनाम दिया जाय जो पक्षी व उनके अंडों को नष्ट करते हैं।

जब संरक्षित जंगल क़ायम हो जायँ, उनका उचित प्रबन्ध किया जाय और उनमें मोटर की सड़कें बनाई जायँ। उनके अंदर जानेवालों के हथियारों पर लाख-मोहर लगा दी जाया करे और क्रूगरपार्क के नियमों का अनुकरण किया जाय।

सबसे बड़ी ज़रूरत जनता में जन्तुओं के लिए प्रेम और उसके राष्ट्रीय महत्त्व की महिमा फैलाने की है। यह कार्य, लेख, व्याख्यान, सिनेमा और पारस्परिक चर्चा के द्वारा हो सकता है।

यह लेख 'सरस्वती' के सम्पादकों के आग्रह पर इसी उद्देश से लिखा गया है। हमारे प्रान्त के दैनिक अँगरेज़ी-पत्र 'पायनियर' और 'लीडर' में मैं समय समय पर सन् १९३० से इस प्रकार के लेख जन्तुओं की रक्षा के हेतु लिखता आ रहा हूँ। अगर हिन्दी-प्रेमी मेरी जन्तु-जगत्-रक्षा की गाथा सुनने को तैयार हैं तो उनकी सेवा में भी समय समय पर लिखता रहूँगा।

प्रतीक्षा

लेखक, श्रीयुत नरेन्द्र

बस एक बार साकार बनो,
मेरे युग युग के आकर्षण!
अब मूर्तिमान बन जाओ प्रिय,
कब से उत्सुक प्यासे लोचन!
सोओगे अन्तर में कब तक?
जागो, अन्तर्यामी प्रियतम!
जागो, उत्कंठित जीवन में,
जागो, अब क्षण क्षण में, निर्मम!
सोओगे कब तक, प्राणाधिक,
आकुल प्राणों में पीड़ा बन?
प्रिय, पुलकित कम्पित बाँह लिये
मैं नयन मूँद, बन लोल लहर
विह्वल-तन, पागल मन लेकर
सरिता में या सरिता-तट पर।
तुमको ही खोजा करती हूँ
फैलाये सूने आलिङ्गन!
मैं चपल वात-सी, वासर भर
फिरती हूँ प्रिय की आशा से,
फिर म्लान-मना गोधूली बन
आ जाती हूँ अभिलाषा से।
फिर बाट जोहती हूँ निशि में,
मैं दीन वियोगिन तारा बन!
निशि भर नभ में शशि-दीप बार
पथ जोह जोह थक जाती हूँ,
फिर भी निज निष्प्रभ दीप लिये
प्रिय-दर्शन को आ जाती हूँ,—
ऊषा से पहले, धुँधले में,
मैं आती हूँ नित द्वाभा बन!
निर्मम! मैं तुम्हें कहाँ पाऊँ?
तुम ही साकार बनो, मोहन!
इस अपलक सतत प्रतीक्षा में
आ जाओ बन कर एक किरन।
मैं पथ में सो जाऊँ बनकर
नन्ही-सी तुहिन-बिन्दु मृदु-तन!
जागो, प्रभात प्रिय, कन कन से
उतरो सुवर्ण बन कन कन में,
जागो, सङ्गीत अमर बन कर
प्राणों के तारों में, मन में।
विश्वास-स्नेह से गूँज उठे
यह सुख का अभिलाषी जीवन!
रम जाये रोओं में, उर में,
सङ्गीत तुम्हारा, जीवन-धन!!

अहिंसा का विश्वशान्ति में स्थान

लेखक, पंडित मोहनलाल नेहरू

विश्व की वर्तमान अशान्ति का मुख्य कारण यह है कि ऊपर से तो सभी राष्ट्र अहिंसा की दुहाई देते हैं, परन्तु भीतर से सभी हिंसक मनोवृत्ति रखते हैं। यदि यह बात न होती तो लीग आफ़ नेशन्स की निःशस्त्रीकरण की आवाज़ के सामने प्राणघातक यन्त्रों का आविष्कार रुक जाता। संसार में वास्तविक शान्ति तभी हो सकती है जब कोई महात्मा संसार को वास्तविक अहिंसा के रस से बोर दे या संसार के सब शक्तिशाली राष्ट्र आपस में लड़कर इतने निर्बल पड़ जायँ कि किसी को शस्त्र उठाने की आवश्यकता ही न पड़े। इस बात को पंडित मोहनलाल नेहरू ने इस लेख में बड़े सुन्दर ढङ्ग से समझाया है।

विश्व-शांति के वास्ते बड़ी बड़ी ताक़तों या राज्यों ने निःशस्त्रीकरण-सभा बिठाई थी, जो यदि पूरे तौर पर ख़त्म नहीं हुई तो सिसक रही है और निश्चय ही मर जायगी। इसमें ज़रा भी संदेह नहीं कि इसके जन्मदाताओं ने शुद्ध हृदय से शान्ति स्थापित करने की तरफ़ कभी ध्यान ही नहीं दिया। वास्तव में वे यह चाहते थे कि जो वे हड़प चुके हैं उसे पचा जायँ, जिसमें न तो दूसरी शक्तियाँ ही उनसे उसे उगलवा सकें और न ख़ुद पेट में पड़ी वस्तुएँ उन्हें कष्ट दे सकें। ऐसी सभा के उद्देशों से नई स्वतंत्र जातियाँ या परतंत्र जातियाँ कब सहमत हो सकती हैं?

इस सभा के सदस्य इधर बैठे शस्त्रों, सेनाओं, हवाई या समुद्री जहाज़ों आदि की कमी पर विचार कर रहे थे, उधर उन्हीं के विद्वान् लोग ऐसी ऐसी गैसों की खोज कर रहे थे जो सेना की सेना को दम भर में नष्ट-भ्रष्ट कर सकें। एक साहब ने यदि ऐसा गोला निकाला जो शहर भर को पल मारते मारते हमेशा के वास्ते सुला दे तो दूसरे साहब ने एक 'मौत की किरण' निकाल दी जो सारी सेना को तो नष्ट कर ही देगी, हवाई जहाज़ों को भी आकाश से उतार लावेगी और मज़ा तो यह है कि सब भोले ही बने जाते हैं, क्योंकि इन सभों ने ऐसी ऐसी घातक वस्तुएँ दूसरों को हानि पहुँचाने को नहीं निकाली हैं, किन्तु केवल अपने बचाव के लिए निकाली हैं!

सभी शक्तिशाली जातियों ने ग़ुलामी की खेती कर रक्खी है। उन्हें वश में रखने को तो शस्त्रों, गैसों, बमों, हवाई जहाज़ों इत्यादि की आवश्यकता है ही; इस बहाने से सभी सशस्त्र रहना चाहते हैं। एक-दूसरे की चालें समझना कोई मुश्किल बात न थी, फिर भी दिखावे को यह सभा बैठी ही रही, और जब दिल एक दूसरे की तरफ़ से साफ़ नहीं है तब सभा का भंग हो जाना निश्चित ही है।

अहिंसावादी कई तरह के होते हैं। एक तो स्वभाव से ही अहिंसावादी होते हैं। वे मन, वाणी या कर्म से किसी को दुख या पीड़ा नहीं पहुँचाना चाहते। महात्मा गांधी उसकी जीती-जागती मूर्ति हैं या ईसामसीह अपने काल में थे। दूसरे अहिंसावादी वे हैं जो किसी कारणवश अहिंसा के उपासक हो जाते हैं, जैसे निःशस्त्रीकरण-सभा के जन्म-दाता। तीसरे वे लोग हैं जो कमज़ोरी या डर से उसके उपासक हो जाते हैं। नंबर तीन का स्थान कहीं भी नहीं है। नंबर दो असल में हिंसावादी हैं पर अपनी गर्ज़ से अहिंसा के उपासक बनना चाहते हैं। अहिंसा की दोहाई देते समय वे घातक गैसें और बम ईजाद कर रहे हैं। कोई ईमानदार आदमी नहीं कह सकता कि उन्हें विश्व-शांति की चिंता है या असल में वे हिंसा का ही ख़ातमा कर देना चाहते हैं। जिस दिन विश्वशांति की चिंता उनमें उत्पन्न होगी, संसार में एक भी परतंत्र जाति दिखाई न देगी।

हमारे धर्म-ग्रंथों में कहीं कहीं यह लिखा है कि हिंसा से ऊब कर प्राचीन लोग अहिंसा की बड़ाई कर गये हैं। ठीक है, वह बड़ाई योग्य है, किंतु बड़ाई करने और अपने कहे पर अमल करने में बड़ा भेद है। हम जब दुखी होते हैं तब हमारा ऊब जाना स्वाभाविक है। किंतु जब हम दूसरों को दुख देते हैं तब ऊबने का कहीं पता भी नहीं रहता। इतना ही नहीं, अपने हिंसा करने को हम या तो अहिंसा या आवश्यक हिंसा कहने लगते हैं।

अहिंसा है क्या? मन, वाणी या कर्म से किसी को दुख और पीड़ा न पहुँचाना अहिंसा कहा गया है। परन्तु एक वक़्त ऐसा आता है जब एक व्यक्ति को थोड़ा दुख पहुँचाने से अधिक लोगों को आराम मिलता है। मान लीजिए कि एक शेर गाय के झुंड में आ कूदा है। उसे आप अवश्य मारेंगे और गायों को बचावेंगे। इसे क्या हिंसा कहिएगा? उसी तरह अगर एक बदमाश मुहल्ले भर को सता रहा है तो आपका क्या धर्म होगा? उसे पकड़ कर बंद कर देना जिससे मुहल्ला भर सुखी रहे। जब आप किसी व्यक्ति का फोड़ा चीरेंगे या उसका कोई सड़ा अंग काटेंगे तब उसे दुख अवश्य देंगे, किंतु उसे सुखी बनाने के वास्ते।

आदमी हिंसक पशु है और तमाम पशु मिलकर भी उसके बराबर हिंसक नहीं हो सकते। वे बेचारे पेट भरने को या यह समझ कर कि उन पर चोट की गई है, हिंसा करते हैं। परन्तु आदमी उसमें अपना मनोरंजन समझता है। और वह अपने जाति-भाइयों को भी पीड़ा पहुँचाने में कोई आपत्ति नहीं देखता। हाल में एक महिला का एक पत्र मैंने पढ़ा। उन्होंने लिखा था कि एक जैन महाशय ने २,०००) लेकर किसी जैन युवक को अपनी पुत्री देना स्वीकार किया और रुपया मिलने के बाद उसका विवाह किसी और के साथ कर दिया। क्या यह हिंसा नहीं थी? और जैन कौन जो इस डर से कि कीड़े उनकी साँस के साथ भीतर घुस कर मर न जायँ, मुँह पर कपड़ा बाँधे देखे गये हैं।

अहिंसा की बड़ाई हिन्दू तो बहुत पुराने ज़माने से करते आये हैं, किंतु वही बड़ाई करनेवाले हिंसा से नहीं बचे। शायद उन्होंने भी दूसरों के वास्ते इस धर्म को निर्दिष्ट किया था। जिस मुँह से अहिंसा की बड़ाई है उसी से कहा गया है—

संत शंभु श्रीपति अपवादा,
सुने जहाँ तहँ अस मरयादा।
काटिए तासु जीभ जो बसाई,
श्रवण मूँदि नहिं चलिय पराई।

बस न चले तो बस अहिंसा के उपासक बन जाइए। यह अच्छी नीति रही!

जैसे प्राचीन काल में अहिंसा की बड़ाई करनेवाले केवल दूसरों के वास्ते उसे धर्म बताते थे, उसी तरह आज भी अहिंसा का धर्म केवल दूसरों को उपदेश देने के वास्ते रह गया है।

यदि दुनिया में सब लोग अहिंसावादी हो जायँ तो शांति फैलाने में क्या देर लग सकती है? परन्तु क्या यह सम्भव है? उस समय तक नहीं जब तक आदमी की ज़रूरतें बहुत बढ़ी-चढ़ी हैं और जब तक अपना माल बेचने के वास्ते उसे क्षेत्र ढूँढ़ने की आवश्यकता है। ऐसा सम्भव तभी हो सकता है जब हर एक आदमी यह समझने लगेगा कि दूसरों को भी दुख-दर्द वैसे ही होता है जैसा उसे। जिस आदमी की ज़रूरतें कम हों, जो उन्हें बढ़ाना न चाहे, वह आज सभ्य नहीं कहलाता। ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ती है, आदमी की ज़रूरतें बढ़ती या बढ़ाई जाती हैं।

सभ्य पुरुष को इससे क्या वास्ता कि उसकी जाति या देशवासी ठीक रास्ते पर हैं या ग़लत? उसे तो उनका साथ ही देने का दस्तूर परम्परा से चला आया है। यहाँ तक कि विष्णु भगवान् तक ने उसे

रता है। जलंधर दैत्य की स्त्री परम सती थी। ह देवताओं का शत्रु था। वे लोग उसे उसकी स्त्री सतीत्व के कारण मार नहीं सकते थे। विष्णु गवान् देवताओं के मित्र थे। उनकी सहायता माँगी ई और मिली। वह कैसी ?

छल कर टारेउ तासुव्रत

क्या इससे बड़ी भी हिंसा हो सकती है ? परन्तु इसकी वाहवाह करनेवालों की कमी नहीं! ऐसा करके—

प्रभु सुर कारज कीन्ह !

जब अहिंसा की दुहाई देनेवाले हिंदू स्त्री के सतीत्व को भंग करना तक हिंसा की मद से निकालने को तैयार हैं तब बेचारी अहिंसा की रक्षा करनेवाला कहाँ मिलेगा ? वह स्त्री शत्रु की ही अर्धाङ्गिनी सही, मगर थी तो सती। किसी नीयत से उसका व्रतभंग करना किसी हालत में भी अहिंसा नहीं हो सकती !!

परन्तु हर बात के वास्ते बहाने मौजूद हैं। रामचंद्र जी ने बालि को चुपके से तीर मार दिया और उसे समझा दिया कि छोटे भाई की स्त्री को हरनेवाले को वध करने से पाप नहीं होता या दूसरे शब्दों में वह अहिंसा है। फिर सीता जी को वनवास देने के भी तो बहाने मौजूद हैं कि प्रजा को ख़ुश रखना राजा का धर्म है।

यह तो रही विष्णु भगवान् या उनके अवतार की बातें। मगर आदमी का दिमाग़ उसी तरह आज तक काम कर रहा है। १९१४ के महायुद्ध में लाखों जानें चली गईं। किसी ने उसका पाप अपने सिर न लिया। सभी एक दूसरे को दोष देते रहे और परमेश्वर से शत्रु को नष्ट करने की प्रार्थना करते रहे। आज भी योरप में युद्ध की तैयारियाँ हैं। कोई भी यह नहीं कहता कि हम तैयार हो रहे हैं। एक-दूसरे के हवाई या समुद्री जहाजों की संख्या और वज़न देखकर बराबरी करने की चेष्टा हो रही है।

मैंने दो-एक मिसालें केवल इस बात के सबूत में लिखी हैं कि आदमी का दिमाग़ हिंसावादी था और है। कुछ महापुरुषों ने हिंसा के विरुद्ध आवाज़ उठाई, मगर उसके सुननेवाले कभी नहीं मिले और अगर कभी मिले भी होंगे तो शायद दो-चार जिन्होंने ख़ुद उसे आज़माया होगा। ईसा और बुद्धदेव के उपासक उनके नाम पर ही कौन-सी विद्दत नहीं करते ? हिंदू महापुरुषों ने सबसे पहले अहिंसा को धर्म बताया। मगर इसी दो-चार महीने की बात है कि मदरास-प्रांत के एक नगर में हिंदू-धर्म के ठेकेदारों ने एक हज़ार बकरे-भैंसे इत्यादि एक ही दिन में देवी जी को बलि चढ़ा दिये और ख़ून में नहाकर शहर भर में जुलूस निकाला। कहने को वे बड़े अहिंसावादी हैं, मगर सामने कोई अड़चन आवे तो बस चलने पर अहिंसा को भुला देते हैं।

शायद परमेश्वर ने हिंसा को इतना नीचा दर्जा नहीं दिया, जितना हमारे महापुरुषों ने दिया है। छोटे जानवर को बड़ा मार गिराता है और अपने समय में अपने से बड़े का शिकार हो जाता है। आदमी सभी जानवरों का शत्रु है। यहाँ तक कि आदमी अपने से कमज़ोर आदमी तक का शत्रु कहा जाय तो अनुचित नहीं। अमरीका की हबशी और हिन्दुस्तान के अछूतों की हालत किसे नहीं मालूम ? यह सभ्य संसार की हालत है जो अहिंसा की दुहाई दे रहा है, और लड़ाइयाँ ख़त्म करने के वास्ते दूसरे महायुद्ध की तैयारी कर रहा है।

अहिंसा का धर्म महापुरुषों का निर्दिष्ट किया हुआ है। ऐसे लोग अब भी मौजूद हैं जो हिंसा को बुरा समझते और कहते हैं। किंतु उनकी आवाज़ वैसी है जैसी नक्क़ारख़ाने में तूती की आवाज़। योरप में तो आज खुले ख़ज़ाने युद्ध की तैयारी हो रही है किंतु कोई उसे युद्ध की तैयारी नहीं कहता। कहा जाता है कि अपने बचाव की तैयारी हो रही है कि अगर कहीं से शत्रु चढ़ आवे तो वह रोका जा सके। पर वह शत्रु कहाँ है, कौन है, कोई नहीं जानता। जब कहीं हो तो जाने भी। दूसरों को धोखा देना ही सब अपना कर्तव्य समझते हैं, मानो सब

उल्लू ही तो हैं। ऐसी हालत में विश्व-शांति की बात कहाँ !

मगर मैं भूलता हूँ। विश्व-शांति के वास्ते शायद हिंसा की सीढ़ी चढ़नी ज़रूरी है। जो लोग ज़ोर-शोर से महायुद्ध की तैयारी में लगे हुए हैं वे देर-सवेर आपस में टकरायेंगे और यह टक्कर इतने ज़ोर की होगी कि आख़िर में सभी को शांत होना पड़ेगा। इस समय बलवान् जातियाँ अपने हवाई और समुद्री जहाज़ों, अपनी गैसों, अपनी सेनाओं के अभिमान में चूर हैं। यह एक तरह की सामाजिक बीमारी है और इसकी तुलना सड़े अंगों से की जा सकती है। यह फोड़ा फूटेगा या इसमें गहरा नश्तर लगेगा। जहाज़ों से जहाज़, आदमियों से आदमी टकरायेंगे और शान्ति फैलाने के युद्ध में भाग लेंगे। फ़्रांस के युद्ध-मंत्री ने तो साफ़ ही कहा है कि युद्ध बिजली की तरह आ गिरेगा और लाखों करोड़ों की आहुति हो जायगी।

इस युद्ध में परतंत्र जातियाँ अहिंसावादी होते हुए भी पिस जायँगी। यह कहना मुश्किल है कि उन बेचारियों की क्या हानि होगी ? परन्तु इसमें संदेह नहीं कि कुछ शताब्दियों के वास्ते न तो किसी को युद्ध की चाहना ही रहेगी, न ज़रूरत ही पड़ेगी।

कुछ लोग यह सोच कर कि योरप की सभ्यता नष्ट हो जायगी, उदास हो जाते हैं। इसमें तो कोई बात उदास होने की नहीं। योरप की सभ्यता है क्या ? मशीन ! मशीन !! मशीन !!! जिसका पेट भरने को दुनिया भर पर अधिकार चाहिए ऐसी सभ्यता के नष्ट होने पर दुख योरपवासियों को भले हो, अगोरी जातियों को क्यों हो। वे उससे बच नहीं सकतीं, इसमें सन्देह नहीं। अगर सब मर ही गईं तो उनका भी नाम निशान मिट जायगा। पर उससे क्या हर्ज होगा ? क्योंकि हमारे धर्मशास्त्रों के अनुसार तो इस प्रकार के युद्ध मानों स्वयं ईश्वर की प्रेरणा से होते हैं। गीता में कहा भी है—

हे पार्थ, घटता धर्म बढ़ता पाप ही जग में यदा,
तब धर्म के रक्षार्थ मैं अवतार लेता हूँ सदा।
कर साधुओं की प्राण-रक्षा पापियों को मार कर,
उत्थान करता धर्म का युग युग सदा अवतार धर।

जग-जीवन

लेखक, श्रीयुत नर्मदाप्रसाद खरे

नश्वर है यह जग-जीवन।
फूलों-सा हँसकर मुरझाता,
नवल-नवल मादक यौवन।
इन्द्र-धनुष अपने स्वरूप से,
भर जाता नभ का आँगन॥
जीवन-ज्योति लुटा वसुधा को,
मिट जाता सुन्दर सावन।

शशि सुन्दरता से रँग देता,
तुहिन-बिन्दु का कोमल तन॥
कसक किरन अपने अंचल में,
भर ले जाती वह छवि-धन।
प्रकृति-सुन्दरी हँस उठती है,
पा वसन्त का शुभग वसन॥

पतझड़ में क्यों पल्लव-पल्लव,
करने लगते मूक रुदन।
नश्वर है यह जग-जीवन।

भारत का नया शासन-विधान

लेखक, श्रीयुत ओंकारनाथ मिश्र, बी० ए० (आनर्स)

भारत के नये शासन-विधान के अनुसार भारत में संघ-सरकार की कैसे स्थापना होगी तथा भारतीय प्रान्तों के शासन में क्या परिवर्तन होंगे, इन सब बातों का विवरण लेखक महोदय ने इस लेख में पूर्णरूप से दिया है। इसके पढ़ने से भावी शासन-सुधारों की रूप-रेखा भले प्रकार पाठकों के हृदयंगम हो जायगी।

भारतीय सुधारों की प्रगति—सन् १८५७ के विसव के बाद ब्रिटिश गवर्नमेंट ने 'ईस्ट इण्डिया' कम्पनी के हाथ से भारत का शासन-भार अपने हाथों में ले लिया था। तब से यहाँ कोई न कोई नया विधान बराबर जारी होता रहा है। अतएव भारतवर्ष का पिछले ७० वर्ष का इतिहास उसकी राजनैतिक उन्नति का इतिहास कहा जायगा। आरम्भ में ही ब्रिटिश गवर्नमेंट ने अपना यह उद्देश प्रकट कर दिया था कि भारतवासियों को अपने देश के राज्य-प्रबन्ध में अधिक से अधिक अधिकार दिया जायगा। उक्त विसव के ४ वर्ष बाद ही सन् १८६१ में कुछ बड़े सूबों के प्रधान नगरों में म्यूनिसिपैलिटियाँ आदि स्थापित की गई थीं, परन्तु इस नये प्रबन्ध में प्रजा-जनों का समावेश नहीं के बराबर किया गया था। सन् १८९२ के ऐक्ट ने लेजिस्लेटिव कौंसिलों में प्रजा-वर्ग के मेम्बरों को सरकारी अधिकारियों से उनके कार्यों के सम्बन्ध में प्रश्न करने का अधिकार दिया था, परन्तु बहुमत सरकारी पक्ष का ही रक्खा गया था। इस प्रकार पहले-पहल प्रजा-द्वारा निर्वाचित सदस्यों को सरकार की नीति पर अप्रत्यक्ष प्रभाव डालने का अवसर दिया गया। इसके बाद सन् १९०८ के मिन्टो-मार्ले के सुधारों ने सरकारी कौंसिलों से सरकारी बहुमत को भी हटा दिया। प्रजा के मेम्बरों को प्रश्न करने के अतिरिक्त अब कुछ विषयों पर बहस करने का भी अधिकार दिया गया और इस प्रकार गवर्नमेंट को यह मालूम होने लगा कि प्रजा उसके किस कार्य को किस दृष्टि से देखती है। परन्तु अब भी प्रजा के मेम्बर वोट देने के अधिकारी नहीं थे और हर एक मामले का अन्तिम फ़ैसला सरकार के ही हाथ में रहता था। ऐसी दशा में यदि गोखले जैसे श्रेष्ठ नेता भी व्यवस्थापिका सभा में अधिक महत्त्व का कार्य नहीं कर सके तो कोई आश्चर्य की बात नहीं हुई। हाँ, गोखले महोदय के व्यक्तित्व का असर सरकार पर अवश्य पड़ता था। गोखले तथा तिलक प्रभृति अन्य नेताओं के अथक परिश्रम से जनता अब काफ़ी समझदार हो गई थी, और लोकमान्य तिलक ने यह कह कर कि 'स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है' जनता के विचारों को ही व्यक्त किया था। अब देश में स्वराज्य की माँग उपस्थित करने का आन्दोलन शुरू हुआ। फलतः योरपीय महायुद्ध के बाद सन् १९१९ में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने भारतवर्ष के शासन-सुधार-सम्बन्धी एक ऐक्ट को पास किया। इस ऐक्ट के अनुसार व्यवस्थापिका सभा को देश के हितार्थ क़ानून बनाने का अधिकार दिया गया और उक्त सभा में पेश होनेवाले कुछ विषयों को छोड़कर बाक़ी सभी बातों पर सदस्यों को वोट देने का भी अधिकार मिला। इसी ऐक्ट से भारतवर्ष में उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन की नींव पड़ी, क्योंकि प्रान्तीय कौंसिलों में कुछ शासन-सम्बन्धी-विभागों का प्रबन्ध करने के लिए कौंसिल के सदस्यों में से सरकार द्वारा मनोनीत देशी मन्त्रियों को सौंप दिये गये। साथ ही ब्रिटिश गवर्नमेंट ने यह भी वादा किया कि

इस प्रयोग का फलाफल दस वर्ष तक देखकर इस विधान को और विस्तृत करने के लिए जाँच की जायगी। इसी वादे के अनुसार सन् १९२८ में साइमन-कमीशन नियुक्त हुआ, जिसने सारे भारत में घूमकर गवाहियाँ लीं और सन् १९३० में अपनी जाँच की रिपोर्ट प्रकाशित की। इस रिपोर्ट ने समस्त प्रान्तों और देशी रियासतों का एक संघ स्थापित करने पर ज़ोर दिया। परन्तु अन्य आपत्तिजनक बातों के कारण भारतीयों ने इस रिपोर्ट का एक-स्वर से विरोध किया। इस पर नये सुधारों को निश्चित करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने लंदन में गोलमेज़-सभा का आयोजन किया। इस सभा की तीन बैठकों में भारतीय और ब्रिटिश सदस्यों ने परस्पर विचार-विनिमय किया। इस सभा के परिणाम-स्वरूप ब्रिटिश मन्त्रि-मण्डल ने शासन-सम्बन्धी अपने सुधार के प्रस्ताव पार्लियामेंट के दोनों भवनों की एक 'ज्वाइंट सेलेक्ट कमिटी' के सामने जाँच करने के लिए पेश किये। ये प्रस्ताव 'ह्वाइट पेपर' या श्वेतपत्र के नाम से विख्यात हुए। भारतीयों ने श्वेतपत्र के प्रस्तावों का भी विरोध किया। उपर्युक्त सेलेक्ट कमिटी के सहायतार्थ कुछ भारतीय सदस्य भी नियुक्त किये गये। कमिटी के सामने बहुत-से प्रमुख भारतीयों तथा भारत की अवस्था के जानकार अँगरेज़ों की गवाहियाँ हुईं। इन्हीं गवाहियों और ह्वाइट-पेपर के आधार पर उक्त कमिटी ने पार्लियामेंट को भारतीय सुधारों के विषय में अपनी एक रिपोर्ट दी। उस रिपोर्ट में अधिकतर विषयों में ह्वाइट-पेपर के प्रस्ताव मान लिये गये हैं, परन्तु कुछ में विशेष परिवर्तन भी कर दिये गये हैं। यह रिपोर्ट गत २२ नवम्बर को प्रकाशित हुई है और अब भारत के नूतन शासन-विधान की इसी रिपोर्ट के आधार पर रचना होगी। हम इस लेख में दिखायेंगे कि इस रिपोर्ट के अनुसार नये शासन-विधान में वर्तमान पद्धति की अपेक्षा क्या क्या नये परिवर्तन होंगे।

प्रान्तों और केन्द्र के अधिकार—उक्त रिपोर्ट दो भागों में है। पहले भाग में भारतवर्ष की स्थिति और आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर नये शासन-विधान का वर्णन किया गया है, दूसरे भाग में कमिटी की कार्यवाही तथा असहमत मेम्बरों के विरोध-सूचक मन्तव्य हैं। रिपोर्ट में इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि समस्त विधानात्मक सुधार देश की पूर्व-शासन-पद्धति के विकास-स्वरूप होना चाहिए। नये विधान में कोई भी बात एक-दम नई नहीं होनी चाहिए। इसी सूत्र के अनुसार कमिटी ने अपनी सारी सिफ़ारिशें की हैं। और प्रान्तों में अब तक जो द्वैध-शासन-प्रणाली प्रचलित थी उसके बदले प्रान्तिक स्वतन्त्रता को स्थापित करने की सलाह दी है। इस प्रकार प्रान्तीय स्वतन्त्रता को आधार मानकर सारे भारतवर्ष की गवर्नमेंट का ढाँचा खड़ा किया गया है। रिपोर्ट में लिखा गया है कि उत्तरदायित्व की भावना तभी उत्पन्न हो सकती है जब अधिकारी-वर्ग अपने कार्यों के लिए राजनैतिक दृष्टि से उत्तरदायी बना दिये जायँ। ऐसी दशा में यह आवश्यक है कि प्रान्तीय गवर्नमेंट में संरक्षित और हस्तान्तरित विभागों का भेद हटा कर सम्पूर्ण विभागों का भार मन्त्रिमण्डल पर रख दिया जाय। परन्तु प्रान्तीय गवर्नमेंट को स्वतन्त्रता देने के साथ यह भी आवश्यक है कि उसके और संघ-सरकार के कार्य-क्षेत्र बाँट दिये जायँ। इसलिए कमिटी ने 'ह्वाइट पेपर' के अनुसार प्रान्तों को उन सब विषयों का मालिक बना दिया है जिनसे किसी और प्रान्त का बिलकुल सम्बन्ध नहीं है, जैसे स्वास्थ्य, सफ़ाई, शिक्षा, सड़क, नहर इत्यादि तथा लगान, खेती, पुलिस, जेल आदि। और संघ-सरकार के अधिकार में वे विषय दे दिये हैं जिनका सम्बन्ध सारे भारतवर्ष से है और जिनमें सारे देश के लिए एक ही प्रकार का क़ानून लाभदायक होगा, जैसे भारत की रक्षा के साधन, ईसाई-धर्म-सम्बन्धी विषय, रेलवे, डाक और तार-विभाग, करेंसी, निर्यात और आयात, नमक, आयकर इत्यादि। कमिटी की समझ में जो बातें रिपोर्ट की सूची में छूट गई हैं या जो नई समस्यायें बाद में उपस्थित होंगी उनके विषय में निर्णय करने का पूरा

अधिकार गवर्नर जनरल को दे दिया गया है। इस पिछली बात का विरोध अनेक नेताओं ने किया है, क्योंकि संसार के किसी भी संघ-शासित देश में बचे हुए अधिकार (Residue of Power) शासक-मण्डल को नहीं सौंप दिये गये हैं। यह अधिकार कहीं तो प्रान्तीय और कहीं संघ-सरकार को ही दिये गये हैं।

सूबे की कार्यकारिणी—प्रान्तीय प्रबन्ध के लिए गवर्नर अपने मन्त्रियों को व्यवस्थापिका सभा के मेम्बरों में से चुनेगा और इस बात का ध्यान रक्खेगा कि अल्पसंख्यक जातियों को भी मन्त्रि-मण्डल में स्थान मिले। प्रान्त में क़ानून का आदर कराना, शान्ति रखना और सन्तोषजनक प्रबन्ध करना प्रान्तीय सरकार के विशेष कार्य माने जाते हैं, इनके बिना मन्त्रियों का उत्तरदायित्व नाम-मात्र का रहेगा। इसलिए ये सब कार्य प्रान्तीय मन्त्रिमण्डल के सिपुर्द रहेंगे। राजनैतिक कारणों से यह सम्भव है कि पुलिस के विनियमन में कुछ बाधा पड़े। इसलिए बिना गवर्नर की पूर्व-स्वीकृति के पुलिस-ऐक्ट और उसके सम्बन्ध के अन्य क़ायदों में किसी प्रकार का परिवर्तन न हो सकेगा। सरकार को गुप्त समाचार देनेवाला विभाग (Secret Intelligence Bureau) भी गवर्नर के व्यक्तिगत अधिकार में रहेगा। आतङ्कवादियों के विरुद्ध की जानेवाली हर एक कार्रवाई में गवर्नर को हस्तक्षेप करने का पूरा अधिकार रहेगा। गवर्नर यथासम्भव मन्त्रियों के कार्य-क्षेत्र में मन्त्रि-मण्डल की सलाह से ही काम करेगा। परन्तु जब मन्त्रियों की सलाह उसे अपने विशेष उत्तरदायित्व को पूरा करने से रोकती होगी तब गवर्नर को पूर्ण अधिकार रहेगा कि वह मन्त्रिमंडल की सलाह बिलकुल न माने। गवर्नर का यह विशेष उत्तरदायित्व निम्नलिखित विषयों पर रहेगा—

(१) प्रान्त में या उसके किसी भाग में शान्ति भङ्ग होने से बचाना, (२) अल्पसंख्यक जातियों के वाजिब हक़ों की रक्षा करना, (३) सरकारी नौकरों के हक़ों को बचाना और उनके उचित हितों की रक्षा करना, (४) व्यापारिक भेदभाव को दूर रखना, (५) देशी रियासतों के स्वत्वों की रक्षा करना, (६) जो भूखण्ड 'बाह्य क्षेत्र' (Excluded Areas) घोषित किये जायँ उनका प्रबन्ध करना, (७) गवर्नर जनरल की आज्ञाओं का पालन करना, (८) विशेषकर उत्तर-पश्चिमी सरहद्दी सूबे में गवर्नर-जनरल के एजेन्ट की हैसियत से जाति-मुक्त एवं सीमापारस्थ प्रदेशों में अपने उत्तरदायित्व का पालन करना और (९) सिन्ध के नये सूबे में सक्कर बैरेज का प्रबन्ध करना।

यदि इन विशेष उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए गवर्नर किसी नये क़ानून की आवश्यकता समझे और उसे प्रान्तिक व्यवस्थापिका सभा न पास करे तो गवर्नर अपने व्यक्तिगत अधिकार से वह क़ानून बना सकेगा। इस प्रकार से बनाये हुए क़ानून 'गवर्नर के ऐक्ट' कहे जायँगे और वे सब पार्लियामेंट की जानकारी के लिए उसमें पेश किये जायँगे। ऐसे ऐक्टों को जारी करने के पहले गवर्नर गवर्नर जनरल की स्वीकृति मँगा लेगा। गवर्नर अपने इन सब कार्यों के लिए गवर्नर-जनरल और उसके द्वारा सेक्रेटरी आफ़ स्टेट और पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी रहेगा। सन् १९१९ के ऐक्ट के अनुसार गवर्नर संरक्षित विभागों का जैसे अर्थ इत्यादि का स्वयं अपने सलाहकारों की सहायता से करता था और हस्तान्तरित विभागों का मंत्रियों की सलाह से प्रबन्ध करता था। परन्तु वह मन्त्रियों की कोई भी बात मानने को बाध्य नहीं था। अब अपने विशेष उत्तरदायित्वों को छोड़कर उसे अन्य सब विषयों में मन्त्रि-मण्डल की सलाह माननी पड़ेगी। यह दूसरा सवाल है कि उसके विशेष उत्तरदायित्व के अन्दर कौन कौन बात नहीं आ गई है।

वोटाधिकार—अब तक भारतवर्ष में कुल [illegible] लाख व्यक्ति जिनमें ३,१५,००० स्त्रियाँ भी [illegible] वोट देने के अधिकारी थे। अब यह अधिकार और भी व्यापक कर दिया गया है। उक्त कमिटी की सिफ़ारिश के अनुसार अब २ करोड़ ९० लाख पुरुष और

६० लाख स्त्रियाँ नई व्यवस्थापिका सभाओं के लिए वोट देने की अधिकारिणी होंगी। इस प्रकार भारतवर्ष की कुल जन-संख्या के जहाँ ३ प्रतिशत लोग ही वोट दे सकते थे, वहाँ अब १४ प्रतिशत मनुष्य वोट दे सकेंगे। यद्यपि अन्य देशों के देखते हुए जहाँ २० या २१ वर्ष से ऊपर के आयुवाले समस्त मनुष्यों को वोटाधिकार प्राप्त है, यह अनुपात बहुत थोड़ा है। तथापि यह मानना ही पड़ेगा कि नई व्यवस्था पहले की अपेक्षा बहुत कुछ प्रगति-द्योतक हो गई है।

प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा—प्रत्येक प्रान्त में एक व्यवस्थापिका सभा होगी जिसका नाम 'लेजिस्लेटिव असेम्बली' होगा। इस असेम्बली के चुनाव में भारतीय जनता के १४ प्रतिशत लोग भाग लेंगे और जिस मेम्बर के लिए वोट दिये जायँगे उसे कम से कम २५ वर्ष की आयु का होना आवश्यक होगा। साम्प्रदायिक समानता रखने के लिए हर एक सूबे में भिन्न भिन्न जातियों के लिए स्थान रक्षित कर दिये गये हैं जो उसी जाति के वोटरों-द्वारा चुने गये सदस्य पा सकेंगे। लेजिस्लेटिव असेम्बली के अतिरिक्त मदरास, बम्बई, बङ्गाल, संयुक्तप्रान्त तथा बिहार में एक अपर हाउस भी होगा, जो 'लेजिस्लेटिव कौंसिल' कहा जायगा। इसके चुनाव में वोट देनेवाले असेम्बली के वोटरों से कुछ भिन्न तथा कम होंगे और उनकी आयु कम से कम ३० वर्ष होनी चाहिए। इसके मेम्बरों में भी साम्प्रदायिक समानता का पूरा ध्यान रक्खा गया है। इस कमिटी ने भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के स्थानों का विभाजन 'पूना-पैक्ट' के अनुसार ही किया है। कहीं कहीं हिन्दू जनता का ख़याल है कि उसके साथ ज़्यादती की गई है। बङ्गाल में तो इस सम्बन्ध में ख़ासा आन्दोलन ही उठ खड़ा हुआ है। सेलेक्ट कमिटी ने इस विषय पर विचार करके यह राय दी है कि यदि बङ्गाल में अछूतों के कुछ स्थान कम कर दिये जायँ और उसके बदले उन्हें अन्य प्रान्तों में अधिक स्थान दे दिये जायँ तो नये शासन-विधान को बंगाल में चलाने में अधिक सुगमता होगी। प्रान्तीय असेम्बली के मेम्बर ५ वर्ष के लिए चुने जायँगे और कौंसिल कभी भङ्ग न हो सकेगी, वरन उसके तिहाई मेम्बर एक नियत समय पर बदल दिये जाया करेंगे। कौंसिल या अपर हाउस में मेम्बरों की संख्या बहुत थोड़ी होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता है कि सब प्रकार के हितों के प्रतिनिधि उसमें पहुँच सकेंगे। अतएव कुछ जगहें गवर्नर को भरने के लिए छोड़ दी जायँगी ताकि जहाँ तक हो सके कौंसिल में सब जाति के लोगों के प्रतिनिधित्व में समानता रहे।

प्रान्तीय व्यवस्थापक सभाओं-द्वारा पास किया हुआ ऐक्ट तब तक क़ानून नहीं हो सकता जब तक उस पर गवर्नर की स्वीकृति न होगी। और जब कभी किसी क़ानून का असर गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्व पर पड़ेगा तब वह उसको स्वीकृत करने से साफ़ इनकार कर सकेगा। संसार के अन्य देशों में कार्यकारिणी को यह अधिकार नहीं है कि मन्त्री के कहने पर भी किसी ऐक्ट को वह स्वीकृत करने से इनकार कर दे। प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा में अब तक केवल एक हाउस था, जिसके द्वारा पास किये हुए किसी भी ऐक्ट को गवर्नर स्वीकृत करने से इनकार कर सकता था।

नये सूबे—सिन्ध—पार्लियामेंटरी कमेटी ने वर्तमान १० प्रान्तों के अतिरिक्त सिन्ध और उड़ीसा के दो नये सूबे बनाने की राय दी है। सिन्ध भौगोलिक और जातीय दृष्टि-कोण से बम्बई-प्रान्त से बिलकुल अलग है, परन्तु थोड़ी आमदनी और अधिक ख़र्च के कारण उसका प्रबन्ध अब तक बम्बई-प्रान्त के साथ होता रहा है। अब मुसलमानों की जिनकी इस प्रान्त में बहुसंख्या है, यह माँग है कि सिन्ध एक अलग प्रान्त बना दिया जाय। परन्तु हिन्दू जो वहाँ केवल २७ प्रतिशत हैं, इसके विरुद्ध हैं। बहुधा हिन्दू धनी हैं और आज-कल मुसलमानों से अधिक संख्या में वोट देने के अधिकारी भी हैं। कमिटी ने दोनों पक्षों की बात पर विचार करके यह निश्चय किया है कि सिन्ध का सूबा अलग ही होना चाहिए। और हिन्दुओं

के लिए कोई घबराने की बात नहीं है, क्योंकि वहाँ उनको वही सब सुविधायें मिलेंगी जो अन्य प्रान्तों में अल्प-संख्यक मुसलमानों को दी जायँगी। आरम्भ में यह सूबा अपनी आमदनी के ऊपर ७५ लाख रुपया साल अधिक व्यय करेगा और इसी लिए साइमन-कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में इसको पृथक् प्रान्त बनाने की राय नहीं दी थी। परन्तु कमिटी समझती है कि धीरे-धीरे १५ वर्ष में 'सक्कर-बैरेज' की आय से यह प्रान्त भी अपने ख़र्च भर की आमदनी कर ही लेगा।

उड़ीसा—दूसरा नया सूबा उड़ीसा का होगा। इस सूबे के बन जाने पर देश में कोई दूसरा सूबा भाषा तथा जाति के दृष्टिकोण से इतना एक समान न होगा। साम्प्रदायिक झगड़े तो इसमें होंगे ही नहीं। भाषा और जाति की समानता को पूरा करने के लिए वर्तमान उड़ीसा में मदरास के कुछ उत्तरी ज़िले जैसे पार्लाकिमेदी, जलंत्रमलियाह और पार्लाकिमेदी रियासत का थोड़ा हिस्सा तथा मध्य-प्रान्त का थोड़ा-सा देश एवं जयपुर-रियासत मिला लिये जायँगे। कमिटी ने लिखा है कि इस सूबा का भी शासन-व्यय उसकी आय से न चलेगा। परन्तु इसके अन्य लाभ इस व्यय-भार से कहीं अधिक हैं। इन दोनों प्रान्तों को अपना व्यय चलाने के लिए संघ-सरकार से पर्याप्त आर्थिक सहायता मिलेगी। इस वजह से भी केन्द्रीय गवर्नमेंट का ख़र्च काफ़ी अधिक बढ़ जायगा।

संघ और देशी रियासतें—आत्मशासन-प्राप्त प्रान्तों और देशी राज्यों को एक शासन-सूत्र में ग्रथित रखने और उनके लिए अन्य देशों से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक विशेष प्रबन्ध करना आवश्यक ही था। इसलिए कमिटी ने इन सब प्रान्तों का एक संघ या फ़िडरेशन क़ायम करने को कहा है। परन्तु इस संघ में दृढ़ता तभी आयेगी जब सारा देश इससे सम्बद्ध हो जायगा अर्थात् जब देशी रियासतें भी इसके काम में हाथ बँटावेंगी। और देशी रियासतों को शामिल करने का केवल यही एक उपाय है कि उनको देश के शासन में काफ़ी भाग दिया जाय। इसलिए यह आवश्यक समझा गया है कि केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के दोनों हाउसों में उनके भी सदस्य पर्याप्त संख्या में हों। इसके साथ ही इस बात का भी ध्यान रक्खा जायगा कि कोई राज्य संघ में सम्मिलित होने के लिए बाध्य न किया जा सके और संघ में रहना या न रहना हर एक राजा की स्वेच्छा पर निर्भर होगा। परन्तु संघ स्थापित होने के पहले यह आवश्यक है कि शामिल होनेवाले राज्यों की आबादी कम से कम रियासतों की कुल आबादी की आधी हो और साथ ही साथ उनकी सदस्य-संख्या भी रियासतों की कुल सदस्य-संख्या की आधी हो। फ़िडरल व्यवस्थापिका सभा के लिए रियासतों के सदस्य वहाँ के राजा चुनेंगे। बड़ी बड़ी रियासतें अपने अपने सदस्य दोनों हाउसों के लिए अलग अलग भेजेंगी। छोटी रियासतों के सदस्य सम्मिलित होंगे और अपर हाउस के लिए उनका स्थान प्रत्येक की वंशीय तोप-सलामी-द्वारा निश्चित होगा तथा लोअर हाउस में वे अपनी आबादी के अनुसार सदस्य चुनेंगी। इन सदस्यों की संख्या दोनों हाउसों में क्रमशः १०० और १२५ होगी। जो रियासतें संघ में शामिल न होंगी उनके बदले अन्य रियासतों को अधिक सदस्य भेजने का अधिकार दे दिया जायगा। जब सब रियासतें इस प्रकार बराबरी के दर्जे से संघ में सम्मिलित होंगी तब कुछ रियासतों को प्रान्तीय गवर्नमेंट के अधीन रखना उचित न होगा। इसलिए जो रियासतें अब तक प्रान्तीय गवर्नमेंट के अधीन थीं, भविष्य में फ़िडरल-सरकार से सम्बद्ध हो जायँगी। आज-कल जो रियासतें प्रान्तों से सम्बद्ध हैं उनके नाम ये हैं—(संयुक्त-प्रान्त में) रामपुर, टेहरी (गढ़वाल), बनारस, (पंजाब में) शिमला हिलस्टेट्स, (बंगाल में) कूचविहार, त्रिपुरा, और (आसाम में) मणिपुर।

अदन—फ़िडरेशन स्थापित होने के पहले ही अदन बम्बई-सरकार के हाथ से निकाल कर ब्रिटिश सरकार के क़ब्ज़े में कर दिया जायगा।

केन्द्रीय कार्यकारिणी—केन्द्र में गवर्नर-जनरल स्वयं अपने तीन सचिवों की सहायता से रक्षा, वैदेशिक मामलों, ईसाई-धर्म-सम्बन्धी मामलों और अँगरेज़ी बलूचिस्तान का प्रबन्ध करेंगे। इनके अतिरिक्त अन्य सब विभागों का प्रबन्ध वे व्यवस्थापिका सभा के मेम्बरों में से चुने हुए मंत्रियों की सलाह से करेंगे। परन्तु प्रान्तीय गवर्नरों की भाँति वे भी अपने विशेष उत्तरदायित्वों को पूरा करने में अपनी इच्छा के अनुसार कार्य कर सकेंगे। गवर्नर-जनरल के उत्तरदायित्व बहुधा प्रान्तीय गवर्नरों जैसे ही होंगे, परन्तु उन पर फ़िडरेशन की आर्थिक स्थिरता और साख की रक्षा करने का एक अधिक उत्तरदायित्व रहेगा। इस उत्तरदायित्व को पूरा करने में उनको सहायता देने के लिए एक आर्थिक सलाहकार होगा, जो समय समय पर विभागीय मंत्रियों को भी सलाह दे सकेगा। परन्तु गवर्नर-जनरल के इन ४ सलाहकारों में से एक भी मंत्रिमण्डल का सदस्य न हो सकेगा। गवर्नर के ऐक्टों की तरह 'गवर्नर-जनरल के ऐक्ट' भी बन सकेंगे। गवर्नर-जनरल के 'आर्डीनेन्स' बनाने के अधिकार में कोई कमी नहीं की गई है। सन् १९१९ के ऐक्ट के अनुसार केन्द्र में एक भी प्रजा-द्वारा निर्वाचित मंत्री नहीं है। वाइसराय स्वयं, कमाण्डर-इन-चीफ़ तथा बादशाह-द्वारा नियुक्त कार्यकारिणी के ६ सदस्य ही सारे विभागों का प्रबन्ध करते हैं। इन आठ में से एक भी किसी प्रकार व्यवस्थापिका सभा का उत्तरदायी नहीं है। वाइसराय भी इन लोगों की बात मानने को किसी प्रकार बाध्य नहीं हैं। परन्तु नये विधान के अनुसार यहाँ केन्द्र में भी उत्तरदायित्व बहुत-कुछ आ गया है।

केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा—हम ऊपर कह चुके हैं कि केन्द्र में दो हाउस होंगे। अपर चेम्बर का नाम 'कौंसिल आफ़ स्टेट' रहेगा। इसमें कुल २६० मेम्बर होंगे, जिनमें से १५० ब्रिटिश भारत के, १०० रियासतों के और १० गवर्नर-जनरल-द्वारा मनोनीत मेम्बर होंगे। मनोनीत मेम्बर केवल साम्प्रदायिक तथा अन्य प्रकार की समानता बनाये रखने के लिए मनोनीत किये जायँगे और उनमें से एक भी सरकारी नौकर न होगा। इस हाउस के प्रत्येक मेम्बर की आयु कम से कम ३० वर्ष होगी। प्रान्तीय अपर हाउस की तरह 'कौंसिल आफ़ स्टेट' भी कभी भंग न हो सकेगा। हर एक मेम्बर ९ वर्ष के लिए चुना जायगा और उनमें से एक तिहाई हर तीसरे वर्ष बदल दिये जायँगे। केन्द्रीय लोअर चेम्बर का नाम 'हाउस आफ़ असेम्बली' होगा। इसमें कुल ३७५ मेम्बर होंगे, जिनमें से २५० ब्रिटिश भारत के और १२५ रियासतों के मेम्बर होंगे। हर एक मेम्बर की आयु २५ वर्ष से कम न होगी।

केन्द्र में अप्रत्यक्ष निर्वाचन—सेलेक्ट कमिटी की राय के अनुसार इन दोनों हाउसों के लिए अप्रत्यक्ष चुनाव होगा, क्योंकि बढ़ते हुए वोटाधिकार से कुछ ही दिनों में प्रत्यक्ष निर्वाचन कठिन काम हो जायगा। प्रान्तीय लेजिस्लेटिव असेम्बली से प्रजा-द्वारा निर्वाचित सदस्य केन्द्रीय 'हाउस आफ़ असेम्बली' के मेम्बरों को चुनेंगे। प्रत्येक सम्प्रदाय की सदस्य-संख्या पूना-पैक्ट के अनुसार निश्चित कर दी गई है और कुल ब्रिटिश भारत के मेम्बरों में से तिहाई मुसलमान मेम्बरों का होना आवश्यक कर दिया गया है। चुनाव के समय हर एक सम्प्रदाय के मेम्बर अलग अलग अपने सदस्य चुनेंगे। इस प्रकार केन्द्रीय असेम्बली में भी साम्प्रदायिक समानता रहेगी। फ़िडरल कौंसिल आफ़ स्टेट के मेम्बर प्रान्तीय अपर हाउस से चुने जायँगे और जिन प्रान्तों में अपर हाउस नहीं हैं, वहाँ प्रजा-द्वारा निर्वाचित 'एलेक्टोरल कालेज' स्थापित किये जायँगे। इनके चुनाव में वही लोग भाग ले सकेंगे जो अन्य प्रान्तों के अपर हाउस के वोटरों के बराबर विशेषतायें रखते होंगे। और निर्वाचन में प्रत्येक एक-एक वोट दे सकेगा जो कि हस्तान्तरित भी किया जा सकता है। इस प्रकार केन्द्रीय कौंसिल आफ़ स्टेट के मेम्बर साम्प्रदायिक आधार पर प्रान्तीय अपर हाउस और एलेक्टोरल कालेजों-द्वारा चुने जायँगे। इस अप्रत्यक्ष चुनाव

से अधिकतर लोग असन्तुष्ट हैं, क्योंकि संसार के किसी भी उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन-विधान में दोनों हाउस इस प्रकार नहीं चुने जाते। भारतीय इसे प्रजा के उचित अधिकारों की उपेक्षा करना समझते हैं, परन्तु अँगरेज़ों का दृष्टिकोण दूसरा है। लार्ड साल्ज़बरी इसके विरुद्ध इसलिए हैं कि इससे वाइसराय का हाउस आफ़ असेम्बली को भंग करने का अधिकार नहीं के बराबर हो जायगा। क्योंकि जब तक प्रान्तीय लोअर हाउस नहीं भंग होगा, वे फिर उन्हीं मेम्बरों को चुन सकते हैं। इस प्रकार असेम्बली को वश में रखने का एक विशेष साधन गवर्नर-जनरल के हाथ से निकल जायगा। इसके विरुद्ध लार्ड रीडिंग, लार्ड लोथियन इत्यादि यह कहते हैं कि इस ढंग से प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं को बहुत अधिकार मिल जायँगे और फ़िडरल हाउस पर उनका पूरा आधिपत्य स्थापित हो जायगा। मेजर एटली इत्यादि मज़दूर सदस्य इसे पूर्णतया असन्तोषजनक बताते हैं। कमिटी की रिपोर्ट से ऐसा ज्ञात होता है कि उसके अन्य सदस्य भी इस अप्रत्यक्ष निर्वाचन के बारे में बिलकुल निश्चित नहीं थे, क्योंकि रिपोर्ट में लिखा है कि यदि कुछ दिनों के अनुभव के बाद यह ढंग असन्तोषजनक पाया जायगा तो फ़िडरल व्यवस्थापिका सभा इस सम्बन्ध में नया प्रस्ताव पार्लियामेंट के सामने उपस्थित कर सकेगी, जिस पर पार्लियामेंट सहानुभूति के साथ विचार करेगी। आज-कल की व्यवस्थापिका सभा में भी नये विधान के अनुकूल दो हाउस हैं, परन्तु उन दोनों का चुनाव प्रत्यक्ष होता है, केवल वोटरों की योग्यता की मर्यादा अलग अलग रक्खी गई है। वर्तमान व्यवस्थापिका सभा की एक विशेष बात यह हुई है कि इसमें सरकार के मनोनीत मेम्बर नहीं रहेंगे। दोनों हाउसों में ऐसे मेम्बरों की अब तक संख्या लगभग ६६ के थी, परन्तु अब केवल 'कौंसिल आफ़ स्टेट' में सरकार के १० मनोनीत मेंबर रहेंगे और उनमें भी कोई सरकारी कर्मचारी न होगा।

सरकारी नौकरी—नये शासन-विधान में 'इन्डियन सिविल सर्विस' और 'इन्डियन पुलिस सर्विस' को छोड़ कर अन्य सब नौकरियाँ प्रान्तीय प्रबन्ध में आ जायँगी। उपर्युक्त दोनों सर्विसों का प्रबन्ध पूर्ववत् भारत-मंत्री के अधिकार में रहेगा। कर्मचारियों को नियुक्त करने का पूरा अधिकार उन्हीं को रहेगा, परन्तु भारतवर्ष में भारतीयों की भर्ती जारी रहेगी। कमिटी की राय में ५ वर्ष बाद फिर इन सर्विसों की जाँच होना चाहिए और तब अंतिम बार उनका स्टेटस तय कर दिया जायगा। जंगल और आबपाशी के मुहकमें प्रान्तीय सरकारों को दे दिये गये हैं, परन्तु यदि भारत-मंत्री देखेंगे कि प्रान्तीय गवर्नमेंटें पर्याप्त संख्या में योग्य मनुष्य इन नौकरियों के लिए नहीं ढूँढ़ पाती हैं तो वे इनको फिर अपने अधिकार में ले लेंगे। प्रान्तीय सर्विसों में कर्मचारी नियुक्त करने के लिए हर सूबे में 'पब्लिक सर्विस कमीशन' स्थापित किये जायँगे। उनकी नियुक्ति पर गवर्नर-जनरल और गवर्नर को यह बतला दिया जायगा कि अल्पसंख्यक जातियों के क़ानूनी हक़ों को दृष्टि में रखते हुए सर्विसों में उनका पर्याप्त प्रतिनिधित्व रक्खा जायगा। उनका यह एक विशेष उत्तरदायित्व होगा कि नौकरियों में भिन्न भिन्न सम्प्रदायों की प्रतिशत संख्या में बिना उनकी स्वीकृति के कोई परिवर्तन न हो। यह की सदी भी गवर्नमेंट आफ़ इंडिया के पिछली जुलाई के प्रस्तावों में निश्चित कर दी गई है।

न्यायालय—नये शासन-विधान के अनुसार केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के कार्य-क्षेत्र अलग अलग हो जायँगे। यह बहुत सम्भव है कि कभी के झगड़ा इस विषय पर खड़ा हो अथवा विधान की किसी बात के अर्थ में मतभेद हो। इस प्रकार के झगड़ों को तय करने के लिए एक फ़िडरल कोर्ट की स्थापना होगी। जितने झगड़े नये शासन-विधान के अर्थ करने या उसके द्वारा दिये हुए अधिकारों और दायित्वों के बारे में होंगे उन सब पर इस न्यायालय में विचार होगा। इसके अतिरिक्त प्रान्तीय हाईकोर्टों से माल के मुक़द्दमों की अपीलें भी यहाँ

हो सकेंगी। इस प्रकार फ़िडरल कोर्ट दो भागों में विभक्त हो जायगा, परन्तु जज सब एक ही रहेंगे। फ़ौजदारी के मामलों की अपील उसी प्रकार होगी जैसे आज-कल होती है। फाँसी की सज़ा पाया हुआ अपराधी प्रान्तीय गवर्नमेंट से या गवर्नर जनरल से, और विशेष आज्ञा पर प्रिवी कौंसिल से इस बात की प्रार्थना कर सकेगा कि उसका मृत्यु-दंड क्षमा कर दिया जाय। फ़िडरल कोर्ट के मुक़द्दमों की अपील कुछ विशेष मामलों में बादशाह के पास हो सकेगी। प्रान्तीय हाईकोर्ट जैसे आज-कल हैं, वैसे ही रहेंगे। केवल कलकत्ता का हाईकोर्ट जो अब तक भारत-सरकार के अधिकार में था, प्रान्तीय सरकार के अधिकार में चला जायगा। गवर्नर मंत्री की सलाह से हाईकोर्ट के ख़र्च का निश्चय करेंगे और व्यवस्थापिका सभा को इस मद पर वोट देने का अधिकार न रहेगा। अब तक हाईकोर्टों में एक तिहाई जज ब्रिटिश बैरिस्टर होते थे और एक तिहाई इंडियन सिविल सर्विस के अफ़सर होते थे। भविष्य में यह व्यवस्था न रहेगी। इसके अतिरिक्त हाईकोर्ट का कोई भी जज चीफ़ जस्टिस हो सकेगा। अब तक चीफ़ जस्टिस बैरिस्टर ही होते थे। अब इस नये विधान के अनुसार आई० सी० एस० या कोई भी अन्य व्यक्ति चीफ़ जस्टिस हो सकेगा। इस व्यवस्था का भी वकीलों और वैरिस्टरों के अनेक एसोसियेशनों ने विरोध किया है।

भारत-मन्त्री—अब तक भारतवर्ष-सम्बन्धी सारे मामलों में अन्तिम शब्द भारत-मंत्री का होता था। भारत-मंत्री ८ से १२ मेम्बरों की एक कौंसिल की सहायता से काम करते थे। नये विधान में जब अर्थ-सम्बन्धी सम्पूर्ण उत्तरदायित्व एक भारतीय मंत्री के ऊपर है तब इस इंडिया कौंसिल की कोई आवश्यकता न रह जायगी, विशेषकर जब सेक्रेटरी आफ़ स्टेट का भारतीय मंत्री की राय से पास किया हुआ आय-व्यय के बजट पर कोई अधिकार न रहेगा। परन्तु अब भी भारत-मंत्री ३ से ६ तक सलाहकार अपने लिए रख सकेंगे और जिस विषय पर चाहेंगे उनसे सलाह लेंगे, परन्तु वे सलाह लेने तथा उसे मानने को बाध्य केवल सर्विस-सम्बन्धी कुछ मामलों में ही होंगे।

व्यापारिक भेद-भाव—उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त सेलेक्ट कमिटी ने कुछ और विषयों को भी विधान में शामिल करने की सिफ़ारिश की है, ताकि बाद में वे आसानी से बदले न जा सकें। इनमें से पहली व्यापारिक तथा अन्य प्रकार के भेदभावों के रोकने के बारे में है। कमिटी चाहती है कि यह विधान में लिख दिया जाय कि यद्यपि भारतीय व्यवस्थापिका सभा को पूर्ण अधिकार रहेगा कि वह अपने देश की व्यापारिक उन्नति के लिए क़ानून बनाये और आयात माल पर कर भी लगाये; परन्तु गवर्नर जनरल और गवर्नरों का यह एक विशेष उत्तरदायित्व होगा कि जहाँ उनकी राय में कोई क़ानून ब्रिटेन और भारत के बीच में ऐसी रोक लगावेगा जिससे भारतवर्ष का तो कोई क़ानूनन आर्थिक लाभ न होगा, वरन ब्रिटेन के हितों को घात पहुँचेगा, वहाँ वे ऐसे क़ानून को बनने से रोक देंगे। साथ ही यह भी विधान में लिख जाना चाहिए कि वे भारतीय क़ानून जो विदेशियों पर या उनकी कम्पनियों पर किसी प्रकार की शर्तें या रोक लगावेंगे, ब्रिटिश लोगों पर या उनकी कम्पनियों पर लागू न होंगे। परन्तु यदि ब्रिटेन का कोई क़ानून किसी प्रकार की रोक भारतवासियों पर लगावे तो यहाँ के लोगों को पूर्ण अधिकार होगा कि वे भी ब्रिटेन-निवासियों पर उसी हद तक रोक इत्यादि लगा सकेंगे। कमिटी की राय में यदि भारत की डाक्टरी की डिग्रियाँ ब्रिटेन में और वहाँ की भारत में न मानी जायँ तो दोनों देशों को इस भेद-भाव के विरुद्ध प्रिवी कौंसिल में अपील करने का पूर्ण अधिकार रहेगा।

मनुष्यत्व के अधिकार—यद्यपि ज्वाइंट पार्लियामेंटरी कमिटी ने विधान में भारतवासियों के जन्मसिद्ध अधिकारों की चर्चा के विरुद्ध कहा है, तथापि यह मान लिया है कि नये विधान में एक ऐसा विधान होगा कि कोई भी भारत-

वासी—ब्रिटिश-प्रजा अपने धर्म, जाति, रंग या पैदाइश के स्थान के कारण कोई भी सरकारी जगह पाने या कोई और काम या पेशा करने से वञ्चित न होगा। जनता के कार्यों के सिवा और किसी कार्य के लिए कभी किसी की कोई जायदाद उसकी इच्छा के विरुद्ध नहं ली जा सकेगी।

विधान में परिवर्तन—यह एक पुरानी परिपाटी है कि हर एक विधान में उसके बदलने की रीति लिखी होनी चाहिए। इस विधान को परिवर्तित करने का अधिकार भारतवासियों को बिलकुल नहीं है। जब इस विधान में छोटे-मोटे परिवर्तन करने की आवश्यकता पड़ेगी तब पार्लियामेंट की स्वीकृति से ब्रिटिश गवर्नमेंट उन्हें 'आर्डर-इन-कौंसिल' द्वारा ठीक कर देगी। इसके अतिरिक्त यदि भारतीय व्यवस्थापिका सभा कोई परिवर्तन करवाना चाहेगी तो उसके प्रस्ताव ब्रिटिश गवर्नमेंट की नीति के साथ पार्लियामेंट के सामने पेश किये जायँगे। विधान का पूरा पूरा परिवर्तन केवल पार्लियामेंट ही कर सकेगी।

रिज़र्व बैंक—कमिटी का कथन है कि रिज़र्व बैंक आफ़ इंडिया नाम का एक बैंक भारतवर्ष की आर्थिक स्थिरता और साख को स्थिर रखने के लिए स्थापित होगा। ऐसी दशा में रिज़र्व बैंक ऐक्ट में या उसके विधान और कार्य-क्रम में असर डालनेवाला कोई भी परिवर्तन बिना गवर्नर जनरल की पूर्व-स्वीकृति के विचारणीय न हो सकेगा।

रेलवे-प्रबन्ध—अब तक सरकारी रेलवे के प्रबन्ध के लिए वाइसराय की कार्यकारिणी समिति में एक रेलवे मेम्बर होता था और वह 'चीफ़ कमिश्नर आफ़ रेलवेज़' और 'पर्मानेन्ट रेलवे बोर्ड' की सहायता से रेलवे-विभाग का सारा प्रबन्ध करता था। नये विधान में एक 'स्टेच्यूटरी रेलवे अथारिटी' की स्थापना की सिफ़ारिश की गई है, जो फ़िडरल व्यवस्थापिका सभा तथा गवर्नमेंट की देख-रेख में समस्त रेलवे का प्रबन्ध व्यापारिक दृष्टि से करेगी।

फ़िडरेशन की आर्थिक स्थिति—अन्त में कमिटी ने फ़िडरेशन की आर्थिक दशा का विचार किया है और उसकी दृष्टि में फ़िडरेशन की आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक नहीं मालूम होती है। इस डाँवाडोल स्थिति के विशेष कारण घाटेवाले प्रान्तों की सहायता तथा ब्रह्मदेश का भारत से अलग करना भी है। इस प्रकार फल यह निकला कि कठिनाई का कारण भारत को 'प्रान्तीय स्वतन्त्रता' देना है। ऐसी दशा में कमिटी की राय में नये शासन-विधान के लागू होने के पहले ब्रिटिश गवर्नमेंट फ़िडरेशन की भावी आर्थिक दशा की फिर जाँच करेगी और पार्लियामेंट को इस विषय का पूरा ब्योरा बतायेगी। इसके माने यह नहीं हैं कि कोई विशेषज्ञ जाँच करके यह बतावेगा कि अभी नया शासन-विधान आरम्भ करना चाहिए या नहीं, वरन यह कि नया शासन-विधान जारी करने से पहले पार्लियामेंट गवर्नमेंट से इस विषय का साफ़ साफ़ आश्वासन चाहती है।

भारत और ब्रह्मदेश—इसके बाद कमिटी ने दूसरे खण्ड में भारत से ब्रह्मदेश को अलग करने का विधान किया है। उसकी राय में ब्रह्मदेश भारत से बिलकुल भिन्न तथा अलग है। ऐसी दशा में यह कठिन है कि भारतवासी वहाँ की आवश्यकतायें पूर्ण रूप से समझ सकेंगे और इसी कारण वहाँ के लोग भारतीय राजनैतिक वातावरण पर अपना असर डाल सकेंगे। इसी लिए ब्रह्मदेश के लिए सबसे अधिक हित की बात यह है कि वह भारतवर्ष से बिलकुल अलग हो जाय। कमिटी के मतानुसार भारतवर्ष में प्रान्तीय स्वतन्त्रता स्थापित होने के पहले ही ब्रह्मदेश को भारत से अलग कर देना चाहिए।

ब्रह्मदेश के लिए भी भारतवर्ष की तरह शासन-विधान की रचना की गई है। वहाँ भी गवर्नर के कुछ विशेष उत्तरदायित्व रक्खे गये हैं। गवर्नर के सलाहकार इत्यादि भी भारत के गवर्नर जनरल की तरह होंगे। वहाँ भी अपर चेम्बर में अप्रत्यक्ष ढंग से निर्वाचित मेम्बर तथा गवर्नर-द्वारा मनो-

[चित्रकार—श्रीयुत उपेन्द्रकुमार मित्र]
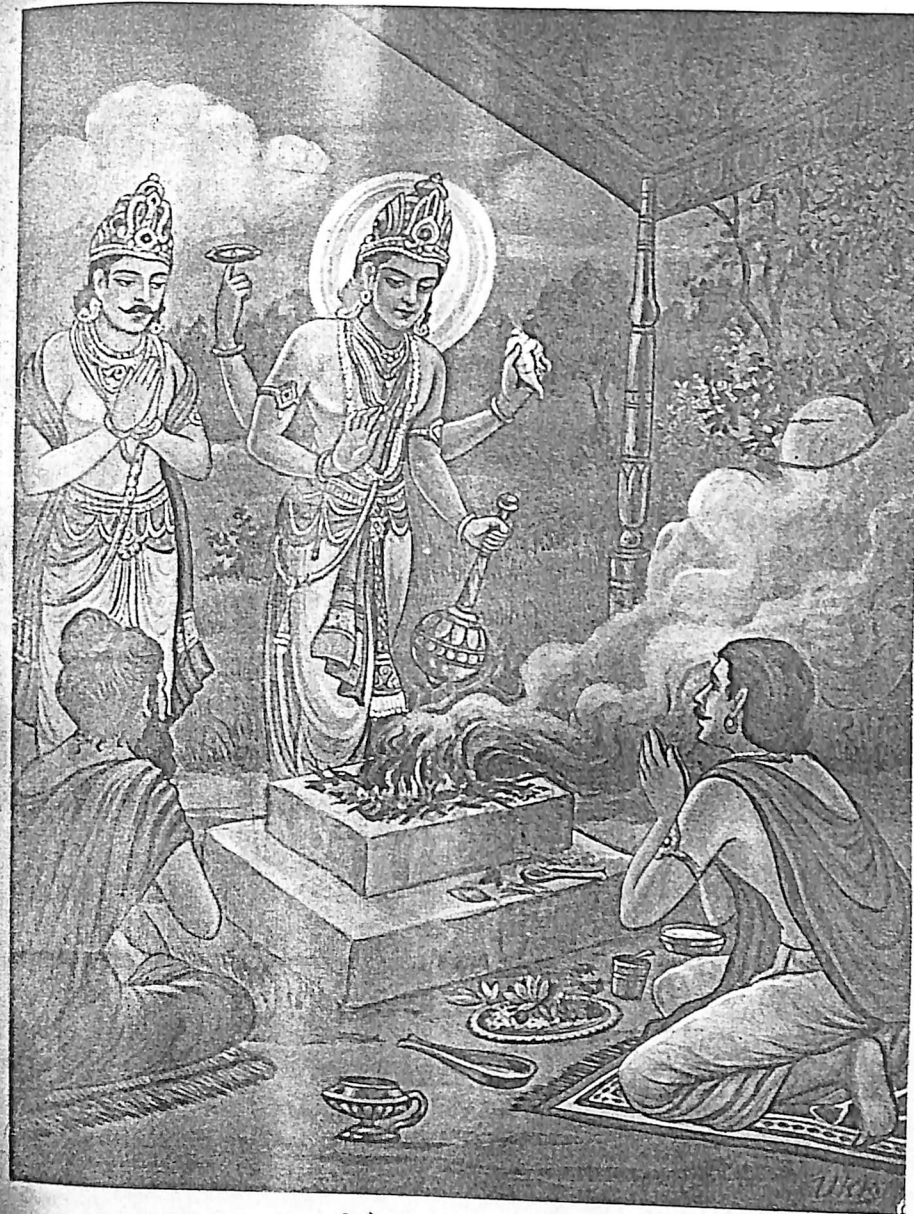
भगवानपि वैकुण्ठः साकं मघवता विभुः।
यज्ञैर्यज्ञपतिस्तुष्टो यज्ञभुक् तमभाषत ॥—श्रीमद्भागवत ४-२०-१

मेम्बर होंगे। लोअर चेम्बर के सब मेम्बर प्रजा-द्वारा निर्वाचित होंगे। वहाँ भी वोटाधिकार का विस्तार १६ प्रतिशत से २६ प्रतिशत कर दिया गया है। इस प्रकार ब्रह्मदेश और भारतवर्ष का नया शासन-विधान अधिकतर एक ही तरह का है। ब्रिटेन और ब्रह्मदेश के बीच व्यापारिक सम्बन्ध भी वैसा ही रहेगा, जैसा ब्रिटेन और भारत में होगा। इसके सिवा कमिटी ने ब्रह्मदेश और भारत के भविष्य-सम्बन्ध के बारे में भी कुछ सिफ़ारिशें की हैं। उसका कहना है कि अधिकतर भारतवासियों के साथ वैसा ही बर्ताव होना चाहिए जैसा कि अँगरेजों के साथ करने को कहा गया है। परन्तु उनकी राय में गवर्नर का भारत के आयात पर विशेष उत्तरदायित्व उसी हद तक होगा, जहाँ तक भारत के गवर्नर जनरल का उत्तरदायित्व ब्रह्मदेश के लिए भारत के आयात पर होगा। इसके लिए एक विशेष धारा यह होगी कि ब्रह्मदेश की व्यवस्थापिका सभा जब चाहेगी तब भारतीय मज़दूरों का अपने देश में आना बन्द कर देगी। परन्तु ऐसे क़ानून को पेश करने से पहले गवर्नर की स्वीकृति ले लेना पड़ेगी। इस प्रकार कमिटी ने भारत और ब्रह्मदेश को दो स्वतन्त्र मित्रराष्ट्रों के रूप में स्थित किया है।

उपर्युक्त बातों पर विचार करने से यह प्रकट हो जायगा कि यद्यपि उक्त कमिटी ने अपनी बहुमत की रिपोर्ट में भारतवर्ष को उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन देने का प्रयत्न किया है, तथापि इसमें उसे सफलता बहुत थोड़ी ही मिली है। यह बात ठीक है कि यदि मंत्रि-मण्डल सर्वदा गवर्नर या गवर्नर जनरल की आँख देखकर चलेगा तो उसे कभी अपने विशेष अधिकारों का प्रयोग न करना पड़ेगा। गवर्नर ब्रिटिश पार्लियामेंट और वहाँ की प्रजा के प्रति उत्तरदायी होगा और मंत्री भारतीय व्यवस्थापिका सभा और भारतीय प्रजा के प्रति उत्तरदायी होंगे। फिर भला इन दोनों के हितों का एक साथ निर्वाह किस प्रकार हो सकेगा?

भ्रम

लेखक, श्रीयुत धनराजपुरी

(१)

प्यार ढूँढ़ने चला एक दिन, सारे जग को डाला छान,
नभ में घिरे मेघ को लखकर, सहसा उसका आया ध्यान।
मन ने कहा, ठीक ही है तो; है यह जलद प्रेम की खान,
तब न प्रेम में इसके केकी नाच नाच करता कलगान।
इस पर लगा देखने घन को, पड़ने लगी बूँद की मार,
कहा गरज कर जलधर ने, रे पागल! कहाँ यहाँ है प्यार?

(२)

विकसित कुसुम-कली को लखकर, उठा हृदय में यही विचार,
छिपा जगत का आकर सचमुच यहीं प्रेम का प्यारा सार।
तब न प्यार से मधुकर इसके आस-पास करता गुंजार,
मैंने भी हँस देख प्रेम यह, पकड़ा उसको हाथ पसार।
लगा टपकने रक्त, गई चुभ काँटों की थी पैनी धार,
दृग में आकर कहा अश्रु ने, बौड़म! यहाँ कहाँ है प्यार?

(३)

रजनी की मिट गई अँधेरी, फैल गया सब ओर प्रकास,
दीप-शिखा को कहा देखकर, यहीं प्यार का है आवास।
तब न शलभ उड़ता फिरता है, बँधा प्रेम में इसके पास,
दीप उठा अंचल में रक्खा, फूट पड़ा आनन पर हास।
गई आग लग अंचल-पट में, जलकर हुआ पलों में छार,
कहा राख ने पड़ मुँह पर रे, बौड़म! कहाँ जगत में प्यार?

(४)

उनकी महफ़िल देख कहा, हाँ! यही विश्व का प्रेम-स्थान,
तब न अप्सरा गा गाकर है, छोड़ रही मीठी मुसकान।
बाहर आ मोटर पर बैठे, जब, तब खींचा उनका ध्यान,
उस प्रेमी से मैंने माँगा, दो मुट्ठी दानों का दान।
मुझे कुचलती निकल गई इस, छाती पर से उनकी कार,
कहा धज्जियों ने उड़कर रे पागल! कहीं नहीं है प्यार॥

हिन्दू चित्र-कला

[सरस्वती, लक्ष्मी, माहेश्वरी]
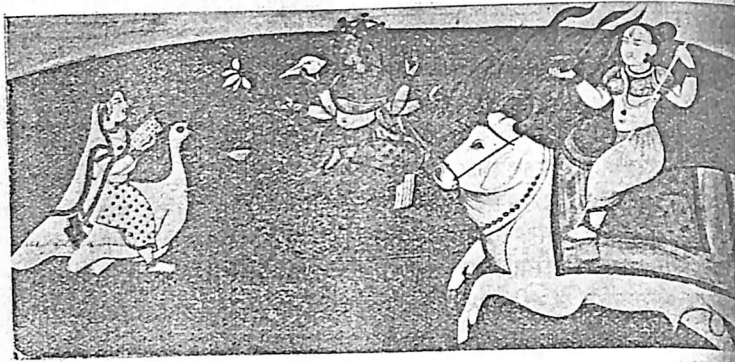
लेखक, श्रीयुत नानालाल चमनलाल मेहता आई० सी० एस०

श्रीयुत नानालाल चमनलाल मेहता भारतीय चित्रकला के विशेषज्ञ हैं। और हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग द्वारा भारतीय चित्रकला पर एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित कराकर आपने हिन्दी की अभूतपूर्व सेवा की है। प्राचीन चित्रों की खोज में आपने जो व्यय-साध्य परिश्रम किया है उसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। इ. लेख में आपने हिन्दू चित्र कला का बड़े सुन्दर ढङ्ग से परिचय दिया है।

न्दू चित्र-कला का पूरा विकास तो १८वीं शताब्दी के मध्य से लेकर १९वीं शताब्दी के प्रारंभ में हुआ। इस चित्रकला का नाम डाक्टर आनंदकुमार स्वामी ने पहले-पहल राजपूत-कला रक्खा था। इसी नाम से आज भी राजपूताने के, बुंदेलखंड के, पंजाब के, एवं काश्मीर के चित्र परिचित हैं। यह नाम एक तरह से उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इन सब प्रांतीय कलाओं में अनेक विभिन्नतायें पाई जाती हैं, और फिर केवल राजपूत राजाओं के आश्रय के कारण इस कला का नाम राजपूत-कला रखना भी उचित नहीं है। यह तो सर्वमान्य बात है कि यह कला प्राचीन हिंदू-कला की परंपरा के अनुसार रही। इस कारण मेरा मत तो यह है कि इस कला को हिंदू-कला के नाम से ही संबोधित करना चाहिए। हिंदू-प्रणाली के इतिहास में मुग़ल-कला एक पृथक् प्रकरण के रूप में ही रही और इसको मुग़ल-कला के नाम से संबोधित करना यथार्थ है। 'हिंदू' शब्द के मुक़ाबले में 'मुसलिम' शब्द का व्यवहार बिलकुल ही असंगत है, क्योंकि मुसलिम-संस्कृति कोई स्वतंत्र अथवा पूर्णतया विदेशी वस्तु नहीं थी, वरन हिंदू-संस्कृति का एक दूसरा स्वरूप वा रूपांतर-मात्र थी। जैसे कुशान-शिल्प भारतीय शिल्प का अविच्छिन्न अंग है, वैसे ही मुग़लकालीन आलेखन भी भारतीय चित्रकला के इतिहास में एक अपरिहार्य प्रकरण है। भारतीय सभ्यता की पाचनशक्ति आरंभ से ही अनोखी रही। इसी कारण नई सभ्यताओं का विशिष्ट प्रभाव चिरस्थायी नहीं रहा। देशकाल के अनुसार जो अंश ग्राह्य थे वे भारतीय सभ्यता में घुल-मिल गये। जैसे मौर्य-शिल्प से, गांधार-कला के असर के होते हुए भी, कुशान-शिल्प का क्रमानुगत संबंध है, वैसे ही ईरानी उस्तादों के मौजूद रहते भी मुग़लकाल में भी भारतीय चित्रकला की शृंखला नहीं टूटी। अकबर के ही काल में, २५ वर्षों के ही भीतर

मुग़लकाल की शाही-कला की विजातीयता मिट कर वह भारतीय बन गई। मुग़ल-काल के मुसव्वरों में तीन चौथाई कलाकार हिंदू-जाति के थे। मुग़ल-कला का विशेष स्थान उसकी विशेषताओं पर, उसके रंग-विधान पर, उसके ऐतिहासिक महत्त्व पर, और उसके संकुचित विषय-क्षेत्र पर अवलंबित है। इन्हीं कारणों से मुग़ल-चित्र हिंदू-चित्र से कुछ अलग पड़ता है, और थोड़े ही अनुभव के बाद एक को दूसरे से पहचानने में किसी तरह की कठिनाई नहीं होती। मुग़ल चित्रकारों ने जब रागमालाओं के चित्र बनाये तब भी उन में वह कोमलता और मार्दव नहीं आया जो ठेठ हिंदू-चित्रों में पाया जाता है। इसका कारण यह नहीं था कि चित्रकार के मानस में कुछ विभिन्नता थी। बात केवल यह थी कि ज़माने का तर्ज़ ही कुछ दूसरा था। जैसे एक ही गायक ध्रुपद और ख्याल दोनों गाता है, परंतु रुचि के अनुसार किसी एक प्रणाली में पारंगत होता है, वैसे ही मुग़लचित्रकारों ने प्रतिबिंब-चित्र बनाने में अद्भुत नैपुण्य प्राप्त किया, अपने संकुचित क्षेत्र में उन्होंने अद्वितीय काम दिखाया। फिर भी ये सब चित्रकार आख़िर भारतीय सभ्यता के रंग में ही रँगे हुए थे। ईरान के सुंदर वर्ण-वैचित्र्य से मुग्ध हुए बादशाहों को ख़ुश करने के लिए बहुत ही मनोरम रंगीन चित्र मुग़ल-काल में बने। परंतु आसन, मुद्रा, भाव इन सभी विषयों में पुराने शिल्पशास्त्रों के असर का प्राधान्य रहा। चित्रसूत्रकार ने शबीह के लिए नौ प्रकार के 'स्थानों' का वर्णन किया है—

(१) ऋज्वागत (२) अनृजु (३) साचीकृतशरीर (४) अर्द्धविलोचन (५) पार्श्वागत (६) परावृत (७) पृष्ठागत (८) परिवृत्त (९) समानत।

'चित्रसूत्र' की भाँति 'शिल्परत्न' में भी श्री कुमार ने नौ ही 'स्थानों' का वर्णन किया है। भारतीय चित्रों में प्रायः 'अर्द्धविलोचन' अथवा 'एक चश्म' शबीह ही मिलती है, और इसी आसन में शरीर का तीन-चौथाई हिस्सा चित्रकार दिखा सकता है। प्राचीन

[पुष्प-चयन]

परिपाटी का यह एक नियम था कि व्यक्तियों के शरीर का अधिक से अधिक हिस्सा यथासंभव दिखाना चाहिए। इसी कारण संमुख-चित्र बहुत कम और प्रायः नीरस-से मिलते हैं। संमुख-चित्रों में केवल आधा ही शरीर प्रेक्षक देख सकता है। 'डेढ़ चश्म' तस्वीर, जिसे अँगरेज़ी में 'Three quarters profile' कहते हैं, का भी काफ़ी प्रचार रहा। परंतु अकबर और जहाँगीर के समय के बाद एक चश्म तस्वीरों का ही ज़्यादा रवाज देखने में आता है। इवानशुकिन ने बहुत अच्छी तरह से सिद्ध किया है कि मुग़ल एवं हिंदू चित्रकला पुराने शिल्प-शास्त्रों के नियमों से ओत-प्रोत है; अर्थात् मुग़ल और हिंदू-कला की विभिन्नतायें युगधर्म की विशेष परिस्थिति
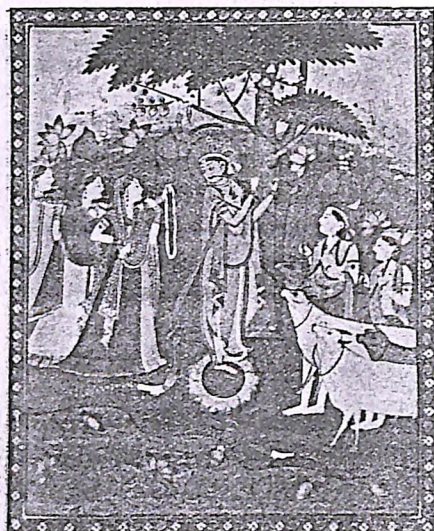
[कृष्ण-लीला]

की ही द्योतक हैं। आदर्शों अथवा उद्देशों का भेद नहीं था। केवल मुग़ल बादशाहों का रुझान सांसारिक विलासवस्तुओं और आमोद-प्रमोद के साधनों की तरफ़ अधिक था। पर प्रांतीय हिंदू राजाओं का दृष्टिकोण दूसरा था। समकालीन साहित्य से उनके जीवन का घनिष्ट संबंध था। इस कारण हिंदू-कला के विषय प्राचीन सभ्यता के रंग में रँगे हुए हैं। पुराने भित्ति-चित्रों का प्रबल असर इन चित्रों में दिखाई पड़ता है। अनोखा रंग-विधान इनकी विशेषता नहीं। इनका प्रधान गुण तो इनकी बहुत ही अनोखी, भाववाही रेखाओं में है। चित्र का विषय कुछ भी हो, फिर भी इन चित्रों के पात्र चित्रकारों के बचपन से परिचित थे। इसी कारण इन चित्रों में एक तरह की अजीब कोमलता और सुकुमारता पाई जाती है। जैसे ग्राम्य-गीतों में कल्पना की ऊँची उड़ान न होते हुए भी भाव की शुद्ध सरलता मिलती है, वैसे ही साधारण कोटि के भी हिंदू-चित्रों में एक क़िस्म की सचाई और सात्विकता नज़र आती है। इन चित्रों की ख़ास ख़ूबी इन के अव्यक्त अर्थ में, इनकी गहरी भाव-व्यंजना में और इनके व्यंग्य में है। जिस प्रकार ध्रुपद की रचना एक ही ठाठ पर हुआ करती है, उसी तरह एक ही भाव को लेकर हिन्दू-चित्रों का आलेखन किया जाता है। जब कृष्ण की बाँसुरी बजती है तब जल-थल सभी मुग्ध होकर उसमें लीन हो जाते हैं। तमाम सृष्टि का रंगमंच एक ही भाव से आप्लावित रहता है। इन चित्रों का प्रधान रस शृंगार है। शृंगार ही तो वाणी और सौंदर्य का सार है—

सवैया

'देव' सबै सुखदायक संपति संपति दंपति दंपति जोरी।
दंपति सोई जु प्रेम प्रतीति प्रतीति कि रीति सनेह निचोरी।
प्रीति महागुन गीत विचार विचार कि बानी सुधारस बोरी।
बानी को सार बखान्यो सिंगार सिंगार को सार किसोर किशोरी।

और शृंगार में भी 'किसोर किशोरी' की प्रेम-लीलाओं का प्राधान्य है। राधाकृष्ण केवल देव-युगल नहीं, बरन जन-समाज की गहरी भावनाओं के, प्रेरणाओं के, प्रतिबिंब-रूप आदर्श व्यक्ति हैं। आदर्श प्रेम की चरम परिणति इसी पुराण-कल्पित युगलमूर्ति में कवियों ने एवं चित्रकारों ने पाई है—

सवैया

स्याम सरूप घटा ज्यों अनूपम नीलपटा तन राधे के भूले।
राधे के अंग के रंग रँग्यो पट बीजुरी ज्यों घन सो तन भूले।
है प्रति मूरति दोऊ दुहू की त्रिधो प्रतिबिंब वही पट दूने।
एकहि देह दुदेव दुदेहरे देह दुधा यक देव दुहू में।

[देवकृत प्रेमचंद्रिका]

हिंदी-साहित्य का पूरा जोड़ इस समय की हिंदू कला में मिलता है। बरन यह कहने में ज़रा भी अतिशयोक्ति न होगी कि इस समय के चित्र चित्रित साहित्य के अजीब नमूने हैं। ये भी साहित्य के ही अंग हैं। केवल साधन निराले हैं। मुग़ल मुसव्वरों जैसा शबीहों से अनुराग इन हिंदू चितेरों में नहीं पाया जाता। हिंदू क़लम की शबीह सादृश्य-निदर्शक नहीं है। वे तो प्रजा के आदर्श व्यक्तियों के आलेखन के एक क़िस्म के ख़ाके हैं। उनमें परिचित लक्षणों का सूचन है, व्यक्तिविशेषों का चित्रण नहीं है। पंजाब, राजस्थान एवं अनेक प्रांतीय केन्द्रों में बनी हुई इस काल की तसवीरें, बहैसियत शबीह, मुग़ल चित्रों की कोटि की नहीं हैं। इस क्षेत्र में तो मुग़ल चित्रकार हिंदुस्तान की एवं एशिया की तवारीख़ में अद्वितीय हैं।

आकार और रचना के दृष्टि-कोण से मुग़ल और हिंदू-कला में कोई भेद नहीं है, बल्कि इवानशुकिन ने बहुत अच्छी तरह से उदाहरण-द्वारा दिखाया है कि मध्यकालीन कल्पसूत्रों में प्राप्त श्री महावीर भगवान् के केशलुंचन की तसवीर पंजाब की कृष्णलीला की तसवीरों के रेखा-विधान से मिलती है। कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि मुग़ल एवं तत्पश्चात् हिंदू-काल में प्राचीन परंपरा से विभिन्न कोई कारीगरी उत्पन्न नहीं हुई।

१८ वीं और १९ वीं शताब्दी के मध्य तक के हिंदू चित्रकारों ने आलेखन के किसी भी विषय को छोड़ा नहीं है। राधाकृष्ण को उपलक्ष बनाकर जीवन की तमाम लीलाओं का इन चित्रकारों ने आलेखन किया है। समकालीन कवियों की तरह इन्होंने भी सभी विषयों पर काव्य-चित्र लिखे। नहाने का, पकाने का, खाने का, सोने का, पहनने का, शृंगार करने का, ताम्बूल-वितरण का, आखेट का, उजियाली रात्रि में आँख-मिचौनी का, ग्रहण-स्नान का, गोधूलि का, शाम के वक़्त चौपाल पर हुक्का-पानी का—सभी विषयों का इन चित्रकारों ने आलेखन किया है। डाक्टर आनन्दकुमार स्वामी ने अपने 'राजपूत पेंटिंग' में एक चित्र दिया है, जिसमें छूटे केशवाली विरहिणी नायिका मुसव्वर से पूछती है कि 'तुम दिनभर आलेखन किया करते हो, फिर भी प्रियसमागम की अभी तक कोई भी संभावना नहीं। एक कोने में चित्रकार अपने रंग-पात्रों सहित दिखाया गया है। चित्रकार कहता है कि 'मैं अभी दीवार पर प्रेम-युगल का ऐसा

[उमा-महेश्वर]

चित्र बनाये देता हूँ जिसमें विरह-व्यथा के लिए फिर स्थान ही न होगा'। पौराणिक प्रसंगों और कथा-कहानियों के चित्रण में तो ये चित्रकार अतीव निपुण थे। मुग़ल-चित्रकार ने शाही वैभव का—राजकीय व्यक्तियों का—अनुपम आलेखन किया। इन हिंदू चित्रकारों ने जन-साधारण के जीवन को काव्य-मय सृष्टि में प्रस्फुटित किया। प्रजा के जीवन के उल्लास की गहरी छाप इन चित्रों पर हमेशा दृष्टिगोचर होती है, और यही इस शैली का गौरव और प्रधान गुण है।

१९ वीं शताब्दी के अन्तिम ४०-५० वर्षों में नवीन योरपीय सभ्यता की प्रबल तरंगों के सामने भारतीय संस्कृति कुछ फीकी-सी हो गई। फिर भी जैसे संघर्ष से अग्नि प्रदीप्त होती है, उसी भाँति पाश्चात्य सजीवता के अनुभव से देश में जीवन के

[ग्रीष्म]

सभी अंगों में एक नवीन जाग्रति आ गई। ५० वर्ष के मंथन के अनन्तर नये रुधिर का संचार हो चला। मृतप्राय कलेवर में श्वासोच्छ्वास होने लगा। २०वीं शताब्दी के आरम्भ में भारतीय जीवन में नये ही उल्लास की आभा दिखाई पड़ी। भिक्षा-काल-संस्कृत जीवन का दासत्व-काल पूरा होने को था। १६ वीं शताब्दी के तिब्बती तारानाथ ने पाश्चात्य हिंद की कारीगरी को अमानुषी कह कर वर्णन किया था। अब की बार अरुणोदय पूर्व में—गौड़ में होने को था। बंगाल में ही विजातीय संस्कृति भारत के अन्य प्रांतों की अपेक्षा चिरपरिचित थी। शायद उसी कारण आत्मीयता का पुनः स्मरण भारत में सबसे पहले वहीं हुआ। साहित्य और कला के क्षेत्र में एक नई स्फूर्ति का आविष्कार हुआ। उसमें देशाभिमान, गौरव, आत्मसम्मान, अनुभवगत औदार्य, दृष्टि की विशालता, गुणग्राहकता और सेवाभाव का एक अनोखा संमिश्रण था। प्रारंभ में बहुत ही छोटा स्रोत था। परंतु भारत के भाग्यचक्र की दशा अब ऊपर को थी। संमोहनकाल समाप्त होने को था। भावी की उज्ज्वल घड़ियों की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती थी। थोड़े ही काल में जो ज्योति टिमटिमा रही थी—प्रतिकूल वायु के थपेड़ों से भयभीत हो अस्थिर-सी थी—वह एक तेजोमय राशि में प्रदीप्त हो उठी। भारत के क्षीण, दुर्बल कलेवर में नया जीवन वसंत की अनुपम सृष्टि के समान पल्लवित हो उठा और इस सनातन पुण्यभूमि में नवीन युग का प्रारंभ हुआ। भारतीय आत्मा की प्रकाश की किरणें पुनः फैल रही हैं। अब भारत विवश भिखारी नहीं, किंतु संसार की

[देवासुर-संग्राम]

[स्नान]

सभ्यता, मौलिक सेवा और अपनी आत्मीयता का—अंतर्प्रेरणा का—अनन्य प्रतिनिधि है। विश्वसाहित्य एवं कला के क्षेत्र में भी भारत का स्थान अब सुरक्षित है। प्रजा के उत्थान-काल में सभी वस्तुओं की गति ऊपर की ओर होती है। भारत का अतीत उज्ज्वल था, भविष्य के और भी यशस्वी होने में अब शंका का स्थान नहीं है।

१८ वीं और १६ वीं शताब्दी में हिन्दू-कला का अद्भुत उत्कर्ष हुआ। विशेषतः पंजाब की पहाड़ी रियासतों में अनेक प्रान्तीय चित्र-शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ। इनमें से काँगड़ा क़लम के चित्रों से शिक्षित समाज सुपरिचित है। अब विदित होता है कि काँगड़ा-शैली के अतिरिक्त कई और प्रकार के चित्र बनाये गये, जिनके कुछ नमूने यहाँ प्रकाशित किये जाते हैं—इन प्रान्तीय शैलियों के विषय में अभी तक कुछ विशेष ज्ञान प्राप्त नहीं है—किन्तु यहाँ दिये हुए चित्रों के अधिशीलन से प्रत्येक शैली के लाक्षणिक गुणों का दिग्दर्शन सहज हो जाता है।

"स्नान" का चित्र काँगड़ा क़लम का होते हुए भी राजस्थानी शैली से प्रभावित मालूम होता है। इस आलेखन में अद्भुत सजीवता एवम् सरलता दृष्टिगोचर होती है। "ग्रीष्म" के चित्र में पहाड़ी क़लम की सहज मृदुता और भावुकता दिखाई पड़ती है। "उमा महेश्वर" भी इसी शैली का अति ही सुन्दर उदाहरण है। चित्र अपूर्ण होते हुए भी, बरन रंगविहीन होने से ही अधिक हृदयग्राही बन गया है। कैलास के उत्तुङ्ग शिखरों में उमा और शिव सकुटुम्ब व्याघ्र-चर्म्म में आवेष्टित विराजमान हैं। चित्रकार ने कैसी रम्य भूमिका बाँधी है! हिन्दू-शैली के "लेखन" की अनुपम ऋजुता यहाँ पूर्णतया दिखाई पड़ती है। "पुष्पचयन" एक छोटा-सा काव्य है। इसमें टीका के लिए स्थान ही नहीं है। यह छोटा-सा काव्य स्वयं सम्पूर्ण है।

"देवासुर-संग्राम" में दूसरे ही मनोरथ का प्रदर्शन है। एक एक पात्र आवेशमय जान पड़ता है। महाभारत के मुग़ल चित्रकारों को जो सफलता हस्तगत नहीं हुई वह यहाँ इस देवीपुराण के चित्रित पृष्ठ में सिद्ध हुई नज़र आती है। देवताओं के वाहनों के आलेखन में कैसी स्फूर्त्ति नज़र आती है।

मार्दव और काव्यमय कोमलता के लिए यहाँ स्थान कैसे हो सकता है? प्रचंड महासमर के उपयुक्त आवेश का यहाँ सजीव आलेखन प्राप्त होता है।

"गोवर्धन-धारण" एक निराली ही शैली का उदाहरण है। यहाँ प्रतिबिम्बवत् आलेखन नहीं है किन्तु रंग की ख़ास करके नीले रंग की अद्भुत सजावट है। गोवर्धन-गिरि भी आसमानी रंग से ही परिवेष्टित है।

[गोवर्द्धन-धारण]

"देवी त्रयी" की शैली भी विभिन्न है। यहाँ प्राचीन भित्ति चित्रों की परम्परा दिखाई पड़ती है। सुन्दर सादे रंगों से परिपूरित यह चित्र काँगड़ा क़लम से कुछ निराला ही है।

"कृष्णलीला" एक अन्य प्रान्तीय शैली का मनोहारी दृष्टान्त है। आलेखन शैली में कोमल एवं सुचारु रंगों की सजावट विशेष ध्यान खींचती है। श्री कृष्णचंद्र के आलेखन में मुझे कुछ चीनी प्रथा का स्मरण होता है। चारों ओर कमल कैसे अच्छे ढंग से बनाये गये हैं। चित्र में गति नहीं है; किन्तु भावुकता एवम मनोहारी भूमिका के प्रदर्शन में ही चित्रकार ने अपनी पूर्ण शक्ति व्यय कर दी है। ऐसी अनेक प्रान्तीय शैलियों के उदाहरण मैंने एकत्र किये हैं, जो कभी पाठकों के सम्मुख रख दिये जायँगे।

मैं

लेखक, श्रीयुत हृदयनारायण पाण्डेय, 'हृदयेश'

मैं अतृप्त-वासना उपेक्षित प्यार हूँ,
सरल-हृदय में पला सुमधुर दुलार हूँ
खिलकर डाली में मुरझाता फूल हूँ—
जो न किसी के गले लगा वह हार हूँ॥

तरुण-कामनाओं का भीषण ज्वार हूँ,
नवल-उमंगों का मैं दबा उभार हूँ;
मरुस्थली में शीतल मलयानिल कहाँ—
मैं झुलसानेवाली तप्त बयार हूँ!!

आशाओं में पला सदैव निराश हूँ,
वर-विकास में व्यापक, मैं चिर-ह्रास हूँ;
जनाकीर्ण-जनरव का कोलाहल नहीं—
प्रेमी का चिर-प्रिय एकान्त-उदास हूँ॥

कलियों की मुसकान न पुष्प-विकास
ललित-लता की लोचन मृदुल-हुलास
सलिल नहीं, हिम नहीं, ओसकण भी
जो न कभी बुझ सकी वही मैं प्यास

नयनों का नीरव आदान-प्रदान हूँ,
निष्ठुरता-उर-विनिमय का प्रतिदान हूँ;
सावन की रिमझिम फुहियों में भीगकर—
भी, प्यासा रहता चातक का प्राण हूँ॥

मैं 'अभाव' का व्यापक-रूप महान
तट-निर्वासित पथ-भ्रान्त जलयान
'प्राप्ति' नहीं हूँ अपने ध्येय—अभीष्ट की
'चिर-अन्वेषण' हूँ—'चिर-अनुसंधान'

भारतीय स्त्री

लेखक, मुंशी ईश्वरशरण, एम० एल० ए०

अब वह समय आ गया है जब हम लड़कों की भाँति ही लड़कियों के लिए भी खेल, व्यायाम और शारीरिक तथा मानसिक उन्नति के साधनों की व्यवस्था करें। इस विषय से दिलचस्पी रखनेवाले माता-पिताओं की सहायता के लिए ही मुन्शी ईश्वरशरण ने यह लेख लिखा है

भारतवर्ष को संसार के स्वाधीन राष्ट्रों में सम्मान का स्थान प्राप्त करना है। परिस्थिति के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि यह बात तभी सम्भव हो सकती है जब भारतीय स्त्री अपना अस्तित्व प्राप्त कर ले—धीरे धीरे नहीं, बड़ी शीघ्रता के साथ। तभी भारत भूतकाल की भाँति भविष्य में भी मानव-जाति की सेवा करने में एक बार फिर समर्थ हो सकता है।

पहली आवश्यकता यह है कि स्त्री के प्रति हमारे भावों में पूर्णरूप से परिवर्तन हो जाय और हम इस समस्या पर सर्वथा नवीन दृष्टिकोण से विचार करें। स्त्री में वह शक्ति है कि यदि उसे आत्म-विकास का पूर्ण अवसर दिया जाय तो वह वर्तमान की अपेक्षा अधिक सम्पन्न, योग्य और सुन्दर बन सकती है। यह उसका अधिकार है कि वह अपने पूर्ण स्त्रीत्व को प्राप्त करे। आत्मविकास का उसे अवसर मिलना चाहिए। उसकी उन्नति के मार्ग में हमें कोई बाधा नहीं उपस्थित करनी चाहिए। इतना ही नहीं हमारा यह कर्तव्य है कि उसके मार्ग की उन सब रुकावटों को दूर कर दें जो अज्ञान, पक्षपात और स्वार्थ ने डाल रक्खी हैं।

हमें साफ़ साफ़ यह समझ लेना चाहिए कि इस प्रकार स्त्री को बन्धन-मुक्त करके हम उसके ऊपर कोई एहसान नहीं करेंगे। सच तो यह है कि इस कार्य्य के द्वारा हम केवल परम्परागत अन्याय को दूर करेंगे। कोई अत्याचारी यदि अपने कार्य से विमुख होता है तो वह अपने अत्याचार-पीड़ित पर कोई कृपा नहीं करता। इस समय दो ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जिनसे हमें सावधान रहने की आवश्यकता है।

हमें अपने कर्तव्यपालन से विमुख होने के लिए पवित्र पुस्तकों में प्रमाण न खोजना चाहिए। मैं अपनी बात को और स्पष्ट करूँगा। उदाहरण के लिए मैं किसी ऐसे प्रमाण की परवा न करूँगा जो विधवा-विवाह को निषेध करता है। फिर, मैं किसी भी ऐसे लिखित प्रमाण से भयभीत होने से इनकार कर दूँगा जिसके अनुसार यह कहा जा सके कि स्त्री अपने जीवन-काल के किसी भाग में स्वाधीन नहीं हो सकती। इसी प्रकार मैं किसी ऐसे नियम को कोई महत्त्व न दूँगा जो किसी लड़की को बहुत कम आयु में विवाह करने के लिए बाध्य करे। इस प्रकार का मनोभाव रखने के मेरे दो कारण हैं। पहला यह कि हमें कोई ऐसी शास्त्राज्ञा मान्य न होनी चाहिए जो हमारी आत्मा के विरुद्ध जाती हो। आँख बन्द करके शास्त्राज्ञा मानने से वैसे ही भागना चाहिए जैसे प्लेग से। दूसरा कारण यह है कि हमारा धार्मिक साहित्य बहुत व्यापक है और उसमें प्रायः परस्पर-विरोधी बातें मिलती हैं। किसे हम मानें, किसे न मानें? हमारे पवित्र ग्रन्थ हमारी अत्यधिक श्रद्धा के अधिकारी हैं, परन्तु कोई कारण नहीं कि हम अपनी आत्मा की आवाज़ को दबा दें।

दूसरी प्रवृत्ति हमारा पाश्चात्यों का अन्धाधुन्ध अनुकरण है। पश्चिम, उत्तर या दक्षिण, कहीं से शिक्षा ग्रहण करने का मैं विरोधी नहीं हूँ। भारत को सीखना भी है और सिखाना भी। आज-कल की नक़ल की धुन को मैं सर्वथा अपमानजनक समझता हूँ। भारतवर्ष संसार के किस काम का है यदि वह पश्चिम की केवल धुँधली और निर्बल छाया-मात्र है। भारतीय स्त्री अपनी

लन्दन, पेरिस या न्यूयार्क की वहन का प्रतिबिम्ब क्यों हो ? उसकी शिक्षा-दीक्षा पाश्चात्य ढङ्ग पर क्यों हो ? संसार के रंग-मंच पर भारतीय स्त्री को अपना कौशल दिखाना है, नक़ली नहीं, असली। इसलिए मैं उसकी रूप-रेखा अपनी जाति, इतिहास, परम्परा और भारतीय स्त्रीत्व के अनुरूप चाहता हूँ। इस भूमि पर पाश्चात्य स्त्रीत्व की स्थापना करने के अपने अपमानवर्धक प्रयत्न में हम स्वयं अपने सुखमा, सौंदर्य्य, सेवा और गौरव-पूर्ण स्त्रीत्व का विनाश न कर दें। कोई यह न समझे कि मैंने जो कुछ लिखा है उसमें पाश्चात्य स्त्री पर अप्रकट रूप से कटाक्ष किया गया है। अन्धानुकरण-जनित अपमान के विरुद्ध मेरी आत्मा विद्रोह करने पर उतारू हो जाती है।

जब समाज-सुधारक भी स्त्री की उन्नति और स्वाधीनता की वकालत पुरुष के कल्याण के लिए करने लगते हैं तब दुःख होता है। सम्पूर्ण सृष्टि का केन्द्र पुरुष ही क्यों बने ? यह दृष्टिकोण संकुचित ही नहीं, ग़लत भी है। यह सच है कि स्त्री-पुरुष दोनों को परस्पर एक दूसरे की सहायता करनी चाहिए। दोनों की उन्नति के लिए इस पारस्परिक सम्बन्ध की आवश्यकता है। परन्तु यह समझना कि स्त्री की रचना पुरुष के लाभ के लिए हुई है, बिलकुल भद्दी बात है। स्त्री को उन्नति और सुधार का उतना ही अधिकार है, जितना पुरुष को है। यह बात गम्भीरतापूर्वक सर्वमान्य होनी चाहिए। हमारा भाव तभी ठीक होगा, तभी उनकी उन्नति ठीक दिशा की ओर होगी, तभी हमारी महिलायें अपने कर्तव्य का पालन कर सकेंगी और भारत को अन्य राष्ट्रों के लिए अनुकरणीय आदर्श पर ले ज़ा सकेंगी।

इस बात को कोई न्याय-प्रिय व्यक्ति अस्वीकार न करेगा कि भारतीय स्त्रियों की स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। संक्षेप में मैं कुछ बातों का उल्लेख यहाँ करूँगा।

सौभाग्य से हममें यह भाव दृढ़ हो रहा है कि लड़कों को खेलने और व्यायाम करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए ताकि उनका शरीर पुष्ट हो। क्रमशः यह अनुभव किया जा रहा है कि यदि किसी बालक को जीवन में सफलता प्राप्त करना है तो उसका शरीर से पुष्ट होना आवश्यक है ? क्या मैं पूछ सकता हूँ कि कितने माता-पिताओं ने यह सोचना आरम्भ किया है कि हमारी लड़कियों के शरीर को भी पुष्ट बनाने के लिए खेल और व्यायाम की आवश्यकता है। क्या हम लड़कियों को केवल स्कूल भेजकर—वह भी बड़े शहरों में—अपने कर्तव्य का अन्त नहीं समझ लेते ? क्या उन्हें हमारे बालकों की भाँति खेल और व्यायाम की आवश्यकता नहीं है ? लड़कियों की ऐसी पाठशालाओं की संख्या कम क्यों है जिनमें किसी क़दर खेल आदि का प्रबन्ध है ? यदि शिक्षा-कोष मेरे हाथ में होता तो मैं ऐसे स्कूलों को कदापि सहायता न देता जो अपने विद्यार्थियों के लिए खेल और व्यायाम का प्रबन्ध नहीं करते। हमारी लड़कियाँ अपना शरीर दृढ़ बनावें, इस सम्बन्ध में हमें लोकमत का निर्माण करना चाहिए। सैकड़ों माता-पिता ऐसे हैं जो अपनी पुत्रियों के ब्याह में बहुत रुपया ख़र्च करेंगे, परन्तु वही उनके खेल और व्यायाम के लिए थोड़ा भी व्यय करने में हिचकेंगे। असलियत यह है कि हम शारीरिक स्वास्थ्य और बल की परवा नहीं करते—ख़ास कर स्त्रियों के सम्बन्ध में। तब हम इस बात पर आश्चर्य्य क्यों करते हैं कि जब संसार के अन्य देशों की स्त्रियाँ ४० वर्ष की अवस्था में पूर्ण स्त्रीत्व से विकसित होती हैं, हमारी स्त्रियों को बुढ़ापा घेर लेता है।

भारतीय स्त्री के जीवन में एक ऐसी दुःखान्त भावना है जिस पर दीर्घ काल के परिचय के कारण हमारा ध्यान नहीं जाता। इसके दो कारण हैं। पहला यह कि स्त्री-शिक्षा का प्रधान अङ्ग है मूक अविरोध। अपने [illegible] जाग्रत मस्तिष्क में हम इस मूक अविरोध में सौंदर्य्य और चरित्र की कल्पना करते हैं। जो भारतीय स्त्री दबी ज़बान से बोलेगी, अपनी सम्मति पर दृढ़ता न दिखायेगी, पुरुष की आज्ञा मानने को सदैव तैयार रहेगी, चाहे वह पिता हो, पति हो चाहे पुत्र, जीवन के आनन्दों का उपभोग करने की प्रकट रूप से इच्छा न प्रकट करेगी, वह सब प्रकार के आदर और प्रशंसा की अधिकारिणी समझी जायगी। लोग उसे आदर्श स्त्री बतायेंगे और दूसरी स्त्रियों से उसका अनुकरण करने के लिए कहेंगे। अठारह वर्ष का लड़का एक छोटी यात्रा का आनन्द ले सकता है या परिवार के अन्य व्यक्तियों के साथ उद्यान-भोज में शरीक हो सकता है, परन्तु यदि इसी आयु की लड़की ऐसे ही अहानिकर आनन्दों की इच्छा करे तो वह अत्यधिक आधुनिक समझी जायगी। मनोविज्ञान का प्रत्येक विद्यार्थी यह स्वीकार करेगा कि दमन के वायुमंडल में बहुत-सी स्वस्थ ख़ूबियाँ नहीं पनप सकतीं। हमारी लड़कियाँ बहुत-से मामलों में धैर्य्य खो देती हैं और उसका परिणाम भयानक होता है। एक ही आयु के एक ही परिवार के दो बच्चों—एक लड़का और दूसरी लड़की—की बाढ़ और क्रम-विकास पर जब मैं ध्यान देता हूँ तब मेरा हृदय दहल जाता है। ९ या १० वर्ष की आयु तक दोनों प्रसन्न और एक से रहते हैं। उसके बाद परिवर्तन आरम्भ होता है। लड़के का स्वाभाविक विकास जारी रहता है। परन्तु बेचारी लड़की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आत्म-दमन करने के लिए उत्साहित की जाती है। १८ या २० वर्ष की आयु में लड़का शक्ति और उत्साह से पूर्ण युवक का वेष धारण करता है, परन्तु लड़की एक वृद्ध स्त्री के आदर्शों और भावों से युक्त एक साधारण स्त्री-मात्र रह जाती है।

दूसरी वस्तु जो उनके जीवन को निर्बल करती है, बाल-विवाह है। हमारे यहाँ लड़की के जीवन में बचपन और प्रौढ़त्व के मध्य का कोई समय नहीं है। जीवन की वह महत्त्वपूर्ण घड़ी जब स्त्री और पुरुष दोनों चिन्ता-मुक्त, चञ्चल और जीवन को उस दृष्टि से देखने की शक्ति रखते हैं जो एक-मात्र यौवन प्रदान कर सकता है, स्त्री के जीवन में कभी आती ही नहीं। यह कहने में ज़रा भी अतिशयोक्ति नहीं है कि भारतीय स्त्री का जीवन प्रायः शून्य और निरानन्द होता है। सबसे दुःखद स्थिति तो यह है कि हम अपनी बालिकाओं का जीवन स्नेहवश और उनके भविष्य की चिन्ता से प्रेरित होकर नष्ट कर डालते हैं। पश्चिम की अन्धाधुन्ध नक़ल का मैं विरोधी हूँ, परन्तु हमारे वर्तमान समाज में जो कुछ भी अच्छा या बुरा है उसे ज्यों का त्यों बनाये रखना भी मुझे पसन्द नहीं है। क्या मैं उनसे कुछ प्रश्न करूँ जिन्हें मैं उपयुक्त शब्द के अभाव में पुनरुद्धारवादी कहूँगा ? क्या परिवर्तन जीवन का नियम नहीं है ? क्या आज हमारा समाज वैसा ही है, जैसा २०० वर्ष पूर्व था ? क्या हमारे प्रान्तों में वही रस्म-रवाज प्रचलित हैं जो मदरास और बम्बई में हैं ? क्या हमारी जाति या सम्प्रदाय में वही रस्म-रवाज हैं जो दूसरी जातियों या सम्प्रदायों में हैं ?

मैं सदा सत्य-विवेक की दुहाई देता हूँ। यदि हम अपने निर्णयों को संकुचित और फलतः अपने कार्यों को अपथगामी बना देते हैं तो कहना चाहिए कि हमारा देश-प्रेम कहने-मात्र को ही है। मैं कोई कार्य इसलिए न करूँगा कि पाश्चात्य देशों में उसका करना फ़ैशनेबल समझा जाता है। इसी प्रकार मैं किसी सुन्दर और आवश्यक सुधार को स्वीकार करने में सिर्फ़ इसलिए न हिचकूँगा कि प्रचलित रीतियों में या प्राचीन ग्रन्थों में कुछ इसके विरुद्ध है। मैं प्रार्थना करूँगा और गम्भीरता-पूर्वक विचार करूँगा और यदि मैं इस निर्णय पर पहुँचूँगा कि अमुक मार्ग ग्रहण करना अच्छा होगा तो मैं उसको ग्रहण करने में न हिचकूँगा।

यदि इस दृष्टिकोण से हम इस समस्या पर विचार करें तो मुझे ज़रा भी सन्देह नहीं है कि हम तुरन्त यह स्वीकार कर लेंगे कि हमें भारतीय स्त्री के प्रति अपनी धारणाओं में तुरन्त भारी परिवर्तन करने की आवश्यकता है। हम भारतीय स्त्री को एक नये भाव से देखना आरम्भ करेंगे। जीवन में वह जो उन्नति कर सकती है उसकी योग्यता उसमें होनी चाहिए। इस बात को तब हम स्वीकार कर लेंगे। हम बिना किसी रियायत के उस मनुष्य की निन्दा करेंगे जो स्त्री से कहता है—"तुम यहाँ तक जा सकती हो, आगे नहीं।" किसी स्त्री को कोई डाक्टर या संगीतज्ञ होने से क्यों रोके ? फिर हम प्रत्येक स्त्री को विवाह करने के लिए क्यों विवश करें ? समाज किसी ऐसी स्त्री पर जो आजीवन अविवाहिता रहना चाहती हो, उँगली क्यों उठाये ?

मैं इस आपत्ति को कम महत्त्व नहीं देता हूँ कि ये विचार क्रान्ति-मूलक हैं। निस्सन्देह, ये हैं। अव्यक्त रूप से चारों ओर परिवर्तन हो रहे हैं। मैं तो एक सुनिश्चित

परिवर्तन का प्रतिपादन कर रहा हूँ। अभी बहुत समय नहीं हुआ, एक सभा में जिसमें स्वर्गीय विष्णु दिगम्बर संगीत पर भाषण दे रहे थे, मैंने कहा था कि भारतीय लड़कियों को नृत्य की भी शिक्षा मिलनी चाहिए। उस समय कुछ युवकों ने हल्ला मचाकर मुझे चुप करने की कोशिश की थी। परन्तु आज हमारे नवयुवक ऐसे नृत्यों में भाग लेते हैं और नृत्य का प्रदर्शन करनेवाली लड़कियों को उत्साहित करने के लिए ताली बजाते हैं। यदि सन् १९१० में कोई यह प्रस्ताव करता कि स्त्रियाँ प्रदर्शनियों में जायँ जैसे कि वे आज-कल जाती हैं तो उसकी कितनी निन्दा होती, इसका अनुमान नहीं किया जा सकता। परन्तु आज प्रदर्शनियों में स्त्रियाँ दूकानें रखती हैं और उन दूकानों को स्त्रियों की भीड़ घेरे रहती है। एक बात है जिस पर हमारा ध्यान उतना नहीं जाता जितना कि जाना चाहिए। यदि हममें दूरदर्शिता और साहस हो तो हम इन परिवर्तनों को इस प्रकार व्यवस्थित कर सकते हैं कि वे अन्त में बहुव्यापक और अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हों। यदि हम मौन रहेंगे तो ये परिवर्तन अपनी स्वाभाविक गति के अनुसार होते जायँगे। तब क्या यह बुद्धिमानी की बात न होगी कि हम निश्चय-पूर्वक अपनी स्त्रियों के सुधार और उन्नति के कार्य में हाथ लगावें जिससे भारतीय स्त्री अपनी पूर्णता पर पहुँच कर समस्त संसार की प्रशंसा और आदर की वस्तु बन जाय? विभिन्न कारणों से प्रत्येक व्यक्ति राजनैतिक कार्य नहीं कर सकता। हज़ारों आदमी ऐसे हैं जिन्हें समाज-सुधार का कार्य परिचित की भाँति आकृष्ट करता है। वे भारतीय स्त्रियों की दशा सुधारने का कार्य अपने हाथ में क्यों न लें? पहली आवश्यकता यह है कि हम इस समस्या को ठीक ठीक समझ लें। तब ठीक विचारों का प्रचार करें। क्योंकि पक्षपात और अज्ञान का एक पहाड़ ही हमें अभी ढहाना है। फिर परिवर्तन आवश्यक और उपयोगी है, इसका विश्वास हमारी स्त्रियों को भी होना चाहिए।

सेवा की सच्ची लगन से किया गया प्रत्येक कार्य मातृ-भूमि की वेदी पर भेंट चढ़ाना है। सच्चे प्रेम से दी गई प्रत्येक ऐसी भेंट का हमारी मातृभूमि स्वागत करती है, जिसका एक-मात्र उद्देश भारत को महान् बनाना हो ताकि मानव-जाति की वह सेवा कर सके जिसकी क्षमता एक-मात्र उसी में है। हमारी मातृभूमि अपने लक्ष्य पर तभी पहुँच सकती है जब उसके पुत्र नहीं, पुत्रियाँ भी—सब धर्मों और सब जातियों की—अविरोध रूप से अपनी पूरी उँचाई तक उठने पायेंगी। भारत का ऐसा प्रेमी कौन है जो उस दिन को निकट लाने के लिए प्रयत्न न करेगा, जब यह भूमि अपने पुत्रों और पुत्रियों की सहायता से मानव-जाति की सेवा के योग्य होगी। दूसरे देशों की चाहे जो महत्त्वाकांक्षा हो, भारत की महत्त्वाकांक्षा सेवा है। इस उद्देश की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि भारतीय स्त्री अपना वास्तविक स्त्रीत्व प्राप्त कर ले। यही कारण है कि मैं उसके पक्ष का ज़ोर के साथ समर्थन करता हूँ।

मधुपान

लेखक, कुँवर हिम्मतसिंह 'साहित्य-रञ्जन'

नाथ! आपके चरण-कमल में, आते मैं सकुचाती हूँ।
थर्राती हूँ, घबराती हूँ, भय से काँपी जाती हूँ॥
विपुल वेदनाओं का मारुत, लाया प्रेम-जलधि में ज्वार।
मिलनातुर हो तड़फ रहा है, हृदय व्यथित-सा बारम्बार॥
बढ़ा रही है विषम वेदना, व्याकुलता को किसी प्रकार।
दाब रहा है हृदय-जलज को, एक ओर लज्जा का भार॥
प्रेमदेव कहता है मुझसे, तजकर सब सङ्कोच-विचार।
जाकर जल्दी प्राणेश्वर के, पाद-पद्म पर तन-मन वार॥
किन्तु पापिनी हा! यह व्रीड़ा, बिछा रही है मग में शूल।
बिना खिले ही मुरझाते हैं, मेरे मनोरथों के फूल॥
विकट अवस्था हुई उपस्थित, हे प्रियतम! पथ बतलाओ।
बन करके कल्याण-जलद तुम, अन्तर में मधु बरसाओ॥
जिसे पान कर मतवाली हो, मैं व्रीड़ा बन्धन तोड़ूँ।
सरिता सी सागर में मिलकर, पुनः नहीं तुमको छोड़ूँ॥
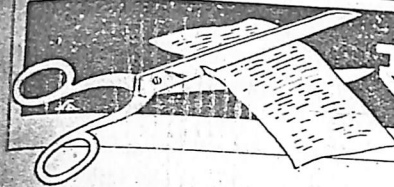
महात्मा गांधी का नवीन आयोजन

म-उद्योग-संघ का विचार महात्मा गांधी के हृदय में कैसे उठा, इस प्रश्न पर प्रकाश डालते हुए महात्मा गांधी ने हाल में ही गांधी-सेवा-संघ के कार्य-कर्ताओं की एक सभा में बहुत ही महत्त्व-पूर्ण भाषण किया जिससे उनके नवीन आयोजन की रूप-रेखा स्पष्ट हो जाती है। उनके भाषण का कुछ अंश नीचे दिया जाता है—

यह तो आप लोगों में से कई सज्जन जानते ही होंगे कि यह ग्राम-उद्योग-संघ की बात किस तरह मेरे मन में आई। गत वर्ष हरिजन-कार्य के निमित्त जब मैं समस्त देश का भ्रमण कर रहा था तब मुझे यह सूर्य-प्रकाश की नाईं स्पष्ट दिखाई दिया कि जिस प्रकार आज हम खादी का कार्य चला रहे हैं उससे तो खादी देशव्यापी होने की नहीं, और इस तरह हमारे ग्रामों को नया जीवन भी मिलने का नहीं।

मृत अथवा मृतप्राय ग्राम्य उद्योगों और कलाओं में से कौन-कौन उद्योग और हुनर सजीव किये जा सकते हैं, इस विषय में तो हम निश्चयपूर्वक तब तक कुछ भी नहीं कह सकते जब तक कि हम गाँवों में जाकर उनकी ठीक-ठीक तहक़ीक़ात करके उनके आँकड़े न बना लें और उनका वर्गीकरण न कर लें। पर मैंने सबसे महत्त्व की तो अभी ये दो चीज़ें चुन ली हैं—खाने-पीने की चीज़ें, पहनने-ओढ़ने की चीज़ें। और पहनने-ओढ़ने की चीज़ों में खादी तो हमारी है ही। रही आहार की चीज़ें, सो इस विषय में हम पहले दूसरों के आसरे नहीं रहते थे; पर आज वह स्थिति नहीं रही। आज तो खाने-पीने की चीज़ों में भी हम परावलम्बी हो गये हैं। थोड़े ही बरस पहले हम हाथ से ओखली में चावल कूट लेते और जाँते में आटा पीस लेते थे। थोड़ी देर के लिए स्वास्थ्य के प्रश्न को अलग रख लीजिए, तो भी यह बात तो निर्विवाद है कि आटे और चावल की मिलों ने लाखों स्त्रियों का काम बड़ी बेदर्दी से छीन लिया है। न जाने कितनी असहाय विधवा-स्त्रियों का पेट पल जाता था, पर आज तो इन ज़ालिम मिलों ने उनकी रोज़ी को भी पीस डाला है। गुड़ का स्थान यह शकर लेती जा रही है, और बिस्कुट और मिठाई-जैसी बनी-बनाई चीज़ें हमारे गाँवों में बिना किसी रोक-टोक के पैठती चली जा रही हैं। इसका यह अर्थ है कि गाँवों के प्रायः सभी उद्योग धीरे-धीरे ग्रामवासी के हाथ से खिसकते जा रहे हैं और बेचारा ग्रामवासी कच्चा माल पैदा करने के अतिरिक्त और कुछ कर ही नहीं सकता। वह एक-दम असमर्थ और पंगु हो गया है। वह हमेशा देता ही है, बदले में उस बेचारे को मिलता-मिलाता कुछ भी नहीं। कच्चे माल के बदले में उसे जो नगण्य-सा पैसा मिलता है उसे भी वह शकर और कपड़े के व्यापारी के हवाले कर देता है। उसके पल्ले एक पाई भी नहीं रहती। जिन पशुओं के संग-साथ वह दिन-रात रहता है उन्हीं के जैसा उसका मन और शरीर हो गया है। जब हम विचार करते हैं तब हम देखते हैं कि पचास बरस पहले के ग्रामवासी में जितनी समझ या चतुराई थी उससे आधी भी तो आज के ग्रामवासी में नहीं रही। कारण यह है कि आज का ग्रामवासी तो दारिद्र्य, परावलम्बन और आलस्य के गर्त में गिर पड़ा है, जब कि पचास बरस पहले का ग्राम-वासी अपनी ज़रूरत भर की चीज़ों को अपनी बुद्धि और अपने हाथ से ख़ुद तैयार कर लेता था। गाँव के

कारीगर की भी दशा गाँव के दूसरे लोगों से कुछ बेहतर नहीं। उसकी भी बुद्धि उन्हीं की जैसी जड़ हो गई है। गाँव के बढ़ई के पास आप जायँ और उससे चर्खा बना देने के लिए कहें या गाँव के लुहार से तकुवा बना देने को कहें तो आपको निराश होना पड़ेगा। यह बड़े दुःख की अवस्था है। इस रोग का इलाज करने के लिए ही ग्राम-उद्योग संघ का यह विचार मेरे मन में उठा है।

पर ग्रामवासी को उसकी उसी प्राकृतिक स्थिति पर पुनः पहुँचा देना कोई आसान काम नहीं है। मैंने यह सोचा था कि श्री कुमाराप्पा की सहायता से मैं शीघ्र ही इस संघ का विधान बना लूँगा और इसका काम चालू कर दूँगा। मगर मैं इस काम में ज्यों ज्यों गहरा उतरता जाता हूँ, त्यों त्यों मैं और और नीचे धँसता चला जाता हूँ। इस काम की अगम थाह मुझे अब तक मिल नहीं सकी। एक तरह से यह काम खादी से कठिन है। खादी में तो कोई ऐसा अटपटा सवाल ही नहीं आड़े आता। तमाम विदेशी और मशीन के बने कपड़े का त्याग कर दिया कि खादी मज़बूत पाये पर खड़ी हो गई। पर यह क्षेत्र तो इतना विशाल है, उद्योगों में इतनी अपार विविधता है कि हमारे अन्दर जितनी कुछ व्यापारी प्रतिभा होगी, जितना कुछ विशेष कौशल और वैज्ञानिक ज्ञान होगा, उस सबकी कसौटी पर कसना है। बिना सख्त मेहनत के, बिना अविराम प्रयत्न के और इस महान् कार्य में अपनी समस्त व्यापारिक तथा वैज्ञानिक प्रतिभा लगाये बिना हमारा मतलब पूरा होने का नहीं। मैंने अपने यहाँ के अनेक डाक्टरों और रसायन-शास्त्रियों के पास एक प्रश्नावली भेजी थी और उनसे यह प्रार्थना की थी कि आप लोग पालिश किये हुए और बिना पालिश के चावल, गुड़ और खाँड़ इत्यादि का रासायनिक विश्लेषण तथा आहार की दृष्टि से इन सब चीज़ों के मूल्य के विषय में कृपया अपनी सम्मति मेरे पास भेज दें। मैं आभार मानता हूँ कि मेरे अनेक मित्रों ने तुरन्त ही मेरे प्रश्नों का जवाब लिख भेजा; पर इतना क़बूल करने के लिए ही कि मैंने जिन विषयों के बारे में पूछा था उनमें कितने ही विषयों का अभी बिलकुल ही शोध नहीं हुआ है। इससे बड़े दुःख की बात और क्या हो सकती है कि गुड़-जैसी सादी चीज़ का रासायनिक विश्लेषण कोई विज्ञानशास्त्री न बता सके! इसका कारण यह है कि हमने ग्रामवासियों के सम्बन्ध में कभी विचार किया ही नहीं। शहद को ही ले लीजिए। मैंने सुना है कि विदेशों में शहद का विश्लेषण इतनी बारीकी से किया जाता है कि जो नमूना अमुक कसौटी पर खरा नहीं उतरता उसे बाज़ार में बिकने के लिए शीशी में भरते ही नहीं। हिन्दुस्तान में हमारे पास सुन्दर-से-सुन्दर शहद पैदा करने के लिए इतनी अधिक सामग्री पड़ी हुई है जिसका कुछ हिसाब नहीं। पर बात तो यह बिगड़ी है कि इस विषय का हमें कोई विशेष ज्ञान नहीं। मेरे एक डाक्टर मित्र ने लिखा है कि हमारे अस्पताल में तो पालिश किये हुए चावल का उपयोग हो ही नहीं सकता—चूहों तथा दूसरे प्राणियों पर प्रयोग करके देखा गया तो यह साबित हुआ कि यह पालिश किया हुआ चावल हानिकारक है। किन्तु सभी डाक्टरों ने अपने संशोधन तथा प्रयोगों के परिणाम प्रकाशित क्यों नहीं किये और एक-स्वर से यह स्पष्टतया क्यों नहीं घोषित कर दिया कि यह पालिशदार चावल निश्चय ही हानिकारक है?

इस सब काम के लिए हमें जिला-संघ बनाने पड़ेंगे—और जहाँ ज़िला बहुत बड़ा होगा, वहाँ हमें ज़िले के भी विभाग कर देने होंगे। ऐसे ज़िले लगभग २५० के हैं। ऐसे प्रत्येक ज़िला-संघ में हमारा एक एजेंट होगा। प्रधान कार्यालय से उसके पास जो सूचनायें भेजी जायँगी उनके अनुसार वह गाँवों के उद्योग-धंधों की जाँच-पड़ताल करेगा और उस विषय की रिपोर्ट तैयार करके भेज देगा। ये एजेंट ऐसे होने चाहिए जो इस काम में अपना सारा समय दे सकें और जो बात दूसरों से कहें उस पर खुद पूरी तरह से अमल करें। उनके अन्दर संघ के कार्यक्रम के विषय में जीती-जागती श्रद्धा होनी चाहिए और उन्हें अपने जीवन में तत्क्षण आवश्यक हेर-फेर करने के लिए सदा उद्यत रहना चाहिए। इस काम में पैसा तो चाहिए ही, पर पैसे की अपेक्षा इसमें ऐसे मनुष्यों की ज़रूरत पड़ेगी जो अटूट श्रद्धावान् हों और इस काम में ही अपना जीवन खपा दें।

भारत में मशीनों का प्रचार होना चाहिए

भारत में अधिकांश लोग मशीन-युग के विरुद्ध हैं। स्वयं महात्मा गांधी मशीन के स्थान पर हाथ की कारीगरी के लिए आन्दोलन कर रहे हैं। परन्तु कुछ लोगों का यह भी ख़याल है कि बिना मशीनों को अपनाये भारत संसार में आगे नहीं बढ़ सकता। मद्रास-सरकार के 'ला-मेम्बर' सर कूर्म वेंकट रेड्डी ने आन्ध्र-विश्वविद्यालय में दीक्षान्त भाषण देते हुए ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं। वे कहते हैं—

किसी समय हमारे देश में बहुत ही ऊँचे दर्जे के शिक्षित और कारीगर मजूर होते थे। पर दुर्भाग्य से इधर दो-तीन शताब्दियों में वे कारीगर मजूर लुप्त हो गये। पश्चिम में वैज्ञानिक उपायों और मशीनों की बड़ी उन्नति हुई है, और इन मशीनों की उन्नति के सामने भारतीय कारीगरों को अपना काम चलाना असम्भव हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि इस देश से वह कला और कारीगरी जाती रही।

मैं इसमें विश्वास नहीं करता कि बिना मशीनों की सहायता के भी भारत की औद्योगिक उन्नति हो सकती है। जो लोग यह कहते हैं कि मशीनों से मनुष्य की मानवता और आत्मा का पतन होता है उन्हें कहने दीजिए। यदि हमें संसार की उन्नतिशील जातियों से प्रतियोगिता करनी है, यदि हमें अपने राष्ट्रीय अस्तित्व का निर्माण करना है, तो हमें अपने देश में मशीनों का ख़ूब ज़ोरों से प्रचार करना चाहिए।

मुझे इसमें दृढ़ विश्वास है कि वर्तमान परिस्थिति में मशीनों के द्वारा ही देश की आर्थिक उन्नति हो सकती है। बैलगाड़ी आज-कल मोटर, रेलगाड़ी, हवाई जहाज़ का मुक़ाबिला नहीं कर सकती। जो लोग पुरानी पद्धतियों को पसन्द करते हैं वे मध्यकालीन युग की कल्पना में फँसे हैं, जब भारत स्वावलम्बी था और उसका सम्बन्ध विदेशों से न था। पर आज वैज्ञानिक उन्नति तथा रेल, तार आदि के कारण भारत का सम्बन्ध संसार के प्रत्येक देश से हो गया है। संसार में शायद ही कोई ऐसा देश हो जिसका माल भारत में न आता हो, या भारत की चीज़ें जहाँ न जाती हों। यह सोचना ग़लत है कि वैज्ञानिक उन्नति का असर भारत पर नहीं पड़ा है। यदि हमें उन्नति करनी है तो हमें वैज्ञानिक यंत्रों का पूर्ण लाभ उठाना चाहिए।

हमारे देश के शिक्षित मनुष्यों ने मज़ूरी करने और यंत्रों को चलाने की ख़ूबियाँ अभी नहीं समझी हैं। पर देश के बहुसंख्यक मनुष्य बढ़ई, लोहार, सुनार आदि का काम करते हैं। इस देश के मनुष्यों में काफ़ी समझदारी और बुद्धि है, पर उसका उचित शिक्षा-द्वारा उचित उपयोग होना चाहिए। तभी हमारा देश आर्थिक और व्यापारिक उन्नति कर सकेगा।

गाँवों का उद्धार कैसे हो?

मध्य-प्रान्त के गवर्नर सर हाइड गोवन ने गत मास धमतरी में किसानों के लिए स्थापित किये गये एक मिशन स्कूल का उद्घाटन करते हुए गाँवों के उद्धार के सम्बन्ध में बड़ी मार्के की बातें कहीं हैं। उनमें से कुछ ये हैं—

मेरी यह पूर्ण आशा है कि नये विधान के प्रारम्भ होने पर हमारा ध्यान देहातों की ओर दिन बदिन अधिक जायगा। राजनीतिज्ञों की आयोजनाओं तथा वकीलों की तर्कपूर्ण बहसें तो होती ही हैं, परन्तु वास्तव में हमारे प्रान्त की सच्ची उन्नति तभी हो सकती है जब गाँववालों की दशा सुधरे और वे सन्तुष्ट हों। इस देश में ३२ वर्ष तक काम करने के बाद मेरा यह विश्वास है कि ग्राम-समस्या सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है और किसी भी वैधानिक परिवर्तन की अपेक्षा यह प्रश्न ग्रामीणों के लिए अधिक महत्त्व रखता है। विधान तो बदलते ही रहते हैं और देहात के रहनेवाले व्यक्ति पर इन परिवर्तनों का कोई भी असर

नहीं पड़ता और वह अपनी गिरी हुई हालत में ही संतुष्ट रहता है। उसको उससे अच्छी किसी दशा का अनुमान ही नहीं होता है।

सबसे बड़ी बुराई किसानों का अज्ञान है। उन्हें विज्ञान के नये उपाय मालूम ही नहीं हैं। उन्हें न तो यह पता है कि उनके अधिकार क्या हैं और न यह जानते हैं कि उनका क़र्ज़ किस प्रकार दिन बदिन बढ़ता जाता है, जिसके भार से वे बिलकुल पिस जाते हैं। अतः मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि इस नई संस्था ने अपना कार्यक्षेत्र इतना उत्तम चुना है कि उसकी उपयोगिता से कोई भी भारत-हितैषी इनकार नहीं कर सकता।

देहातों के श्रेष्ठ बुद्धिवाले लोग गाँवों से हटकर शहरों में चले आते हैं और वे जीवन के मुख्य आधार खेती में फावड़े की मेहनत करने के बदले शहरों में क़लम तथा ज़ुबान के इस्तेमाल से रोटी कमाना अधिक पसन्द करते हैं। हमें इस हानिकर नीति की बुराई को महसूस करना चाहिए तथा ग्रामीण-सुधार के कार्य की ओर ध्यान देना चाहिए।

सब बन्धनों को तोड़ डालो

श्रीमती सरोजिनी नायडू का मुसलिम-यूनिवर्सिटी (अलीगढ़) के यूनियन में हाल में ही एक महत्त्वपूर्ण भाषण हुआ है। उसका सबसे उत्कृष्ट अंश हम नीचे देते हैं—

मैं आपके सामने उस विचित्र प्रश्न यानी हिन्दू-मुसलिम एकता की चर्चा न करूँगी। मैं इन बातों से घबरा गई हूँ। धर्म एक व्यक्तिगत बात है, और इसका सम्बन्ध केवल व्यक्ति से है, पर इस धर्म को राष्ट्र के जीवन में खुल कर खेल नहीं खेलने देना चाहिए।

नवयुवकों को सर्वस्वीकृत आदर्श ग्रहण करना चाहिए, और उस आदर्श के द्वारा हमें उस कार्य में भाग लेना चाहिए जिसे संसार की अन्य जातियाँ कर रही हैं, तभी हम समान शर्तों के आधार पर संसार से बातें करने में समर्थ होंगे। इतना ही नहीं, अन्य जातियों की अपेक्षा हमारा कार्य बहुत महान् होना चाहिए, क्योंकि भारतीय वृद्धि में मुसलिम, हिन्दू, ईसाई और अन्य जातियों की वृद्धि निश्चित है। एक शब्द में वह एक समुद्र है जिसमें सब नदियाँ मिलती हैं। हमारा यही उद्देश होना चाहिए कि हम संसार से असमानता और अन्याय मिटा दें, क्योंकि संसार अन्याय से भरा हुआ है।

इस्लाम के पवित्र पैग़म्बर ने कहा है—"ऐ मनुष्य! जन्म-काल से लेकर मृत्यु-पर्यन्त ज्ञान को खोजते रहो, और ज्ञान की तलाश में चीन तक जाओ।" ईश्वर की तरह ज्ञान और सत्य एक ही वस्तु है। भारत में हम लोगों को भी यही भाव समझना चाहिए। नवयुवकों की महान् ज़िम्मेदारियाँ हैं, और सबसे पहले उन्हें भय का हनन करना चाहिए। अज्ञानता के कारण भय उत्पन्न होता है, पर ज्ञान से हृदय मिलते हैं।

हम सब एक दूसरे से डरते हैं, क्योंकि हम सबने एक दूसरे को अच्छी तरह समझा नहीं है। कल जो आनेवाला है उसमें कायरों के लिए स्थान नहीं है।

मैंने कई बार समग्र संसार की यात्रा की है, और हर बार जब मैं जाती हूँ तब संसार के कष्टों का मुझ पर बहुत असर पड़ता है। उन कष्टों को देखकर मैं दुखी होती हूँ। संसार को इस समय एक-मात्र यही आवश्यक है कि वह सब बन्धनों को तोड़ डाले, वे बन्धन चाहे भीतर के हों या बाहर के। भारत संसार का एक भाग है। जिन समस्याओं से अन्य जातियाँ दुःखी हैं उन्हीं से हम भी पीड़ित हो रहे हैं।

युवकों का यह कर्त्तव्य है कि वे अज्ञानता, [illegible] स्त्रियों के साथ दासियों की तरह व्यवहार करने के सब बन्धन तोड़ डालें। युवकों को यही कहना चाहिए कि [illegible] किसी तरह के बन्धन न होंगे। भविष्य के समाज का निर्माण केवल मातृप्रेम, सेवा और स्वतंत्रता के आधार पर होना चाहिए।

बेकारी की समस्या

हमारे देश में बेकारी की समस्या दिन पर दिन जटिल होती जा रही है। बेकारी दूर करने में विश्व-

विद्यालयों की शिक्षा बेकार सिद्ध हुई है। काशी में अखिल भारतीय स्वदेशी प्रदर्शनी का उद्घाटन करते हुए डाक्टर भगवानदास जी ने अपने भाषण में इस प्रश्न पर विशेषरूप से प्रकाश डाला है। आप कहते हैं—

सम्पत्काल में ऐसी प्रदर्शनी के दो मतलब हुआ करते हैं। पहला यह कि इससे गृहस्थों, स्त्रियों, पुरुषों और बच्चों को यह मालूम हो जाय कि गृहस्थी की ज़रूरियात की या आराम की, या शोभा और विलास की, या बच्चों के खेल-कूद के काम की, हमारे नगर या पड़ोस में क्या क्या चीज़ें मिलती हैं। दूसरा यह कि इन चीज़ों के बनाने-वाले रोज़गारियों को मालूम हो जाय कि लोगों में किन किन चीज़ों की माँग है और कैसी चीज़ों से ग्राहक ख़ुश होते हैं।

आपत्काल में ऐसी प्रदर्शिनी का यह विशेष अर्थ होता है कि बेरोज़गारों को कैसे रोज़गार मिले, बेरोज़गारी कैसे टले, इस पर सारे देश का विचार होना चाहिए। जब स्वतन्त्र महाधन पश्चिमी देशों में बेरोज़गारी की पुकार है तो परतन्त्र निर्धन देश का क्या कहना है। ब्रिटेन में बेरोज़गारों की संख्या तीस लाख तक पहुँची थी और वहाँ सरकार की ओर से २२२ मिलियन पौंड (सवा तीन सौ करोड़ रुपया) तक सालाना इन तीस लाख को एक साल जीता रखने में ख़र्च किया गया। आप हिसाब लगावें तो मालूम होगा कि प्रति बेकार पीछे एक हज़ार रुपया सालाना ब्रिटेन ने ख़र्च किया। हमारे यहाँ की बेरोज़गारी इससे बहुत अधिक है।

पचास वर्ष पहले जब मैंने कालेज छोड़ा, देश में तीन-चार यूनिवर्सिटियाँ थीं और हर साल मुश्किल से तीन-चार सौ ग्रेजुएट सब मिलकर यूनिवर्सिटियों से निकलते थे और सबको नौकरी या दूसरी रोज़ी मिल जाती थी। पर अब तो १८ यूनिवर्सिटियाँ हो गई हैं, जिनसे हज़ारों ग्रेजुएट हर साल निकलते हैं और रोज़ी का कहीं ठिकाना नहीं है। पचीस-तीस रुपये महीने की नौकरी के लिए हज़ारों की संख्या में दरख़्वास्तें पड़ती हैं। कैसे यह रोग दूर किया जाय?

कठिन रोग के चतुर वैद्य एक तो तात्कालिक महा-निवारण के लिए, दूसरे रोग का मूलशोधन करने में दो प्रकार की चिकित्सा करते हैं। इस बेरोज़गारी के व्यापक महाघोर रोग की मूलशोधक चिकित्सा तो तभी हो सकती है जब शासक और शासित दोनों को परमात्मा ऐसी बुद्धि दे कि सब लोग अपने स्वार्थ-भाव को कुछ कम और परार्थ भाव को कुछ अधिक अपने हृदय में रखकर, सांप्रदायिकता या धर्म और मज़हब या क़ौमियत आदि के भेद-भावों और स्वार्थों का ख़याल न करके, इन्सानियत के नाते यही विचार करें कि यह रोग कैसे दूर हो सकता है।

पश्चिम के लोग पहले 'फ़्री ट्रेड' 'फ़्री ट्रेड' (मुक्त-द्वार वाणिज्य) की पुकार करते रहे, पर अब यह देखने में आता है कि ब्रिटेन जो सबसे धनवान् है, वहीं से यह आवाज़ ज़ोरों से आ रही है कि हमारे देश का माल बाहर जाय और बाहर का माल यहाँ न आवे। स्वार्थ मनुष्य को अन्धा बना देता है। अब सब देश प्रायः ऐसा ही करने लगे हैं। जब सब देश ऐसा करने लगेंगे तब ज़ाहिर है कि किसी का भी माल किसी दूसरे देश में नहीं जा सकेगा। हम लोग ब्रिटेन की पूँछ में बँधे हैं। यथा राजा तथा प्रजा। ब्रिटेन से ही हमको सबक़ सीखना चाहिए। हम लोगों को भी स्वयं अपने व्यापार की उन्नति करनी चाहिए। मसल मशहूर है कि पहले घर में चिराग़ जलाकर तब मसजिद में जलाना चाहिए। मनु जी की पोथी भी जो मेरे लिए अन्धे की लकड़ी है, बताती है कि—

'जो मनुष्य यह शक्ति रखता है कि अपने आदमियों की, स्वजन की, सहायता करे, पर नहीं करता। उनको दुःखमय जीवन में पड़े रहने देता है, और पराये आदमियों को, परजन को धन देता है, वह यह नहीं देखता कि यह धर्म नहीं है, बल्कि धर्म की झूठी नक़ल है, मिथ्या धर्माभास है, जिसका आपाततः पहले-पहल तो मधु, शहद के ऐसा मीठा स्वाद जान पड़ता है, पर पीछे विष, ज़हर के ऐसा स्वाद और नाशक प्रभाव होता है।' पाश्चात्य देशों से तथा पुरानी स्मृति से भी यही शिक्षा मिलती है कि स्वदेशी रोज़गार की उन्नति की जाय।

विज्ञापन (ऐड्वर्टिज़मेंट) का हुनर हम लोगों को मालूम नहीं है। पर पाश्चात्य देशों के झूठे विज्ञापन की प्रथा यहाँ भी चल पड़ी है। विज्ञापन सच्चा होना चाहिए। प्रदर्शनी प्रत्यक्ष और सच्चा विज्ञापन है। जापान में तथा पाश्चात्य देशों में कहीं कहीं 'एम्पोरियम' (स्थायी प्रदर्शनी) हैं। वैसा ही अपने देश में भी प्रत्येक बड़े शहर में होना चाहिए। इससे झूठे विज्ञापन का ख़र्च बचेगा। स्वदेशी वस्तुओं की समय समय पर प्रदर्शनी करना, यह भी अच्छा उपाय है।

—

उदयपुर के महाराणा की प्रशंसा

गत मास उदयपुर के महाराणा हिन्दू विश्व-विद्यालय में पधारे थे। पूज्य मालवीय जी ने ५००० विद्यार्थियों, विश्वविद्यालय के अध्यापकों और काशी के प्रतिष्ठित लोगों के साथ आपका स्वागत किया और आपको 'हिन्दूसूर्य' कहा। उक्त अवसर पर दिये गये मालवीय जी के भाषण का कुछ अंश इस प्रकार है—

हम श्रीमान् का समस्त हिन्दू-राज्यों के अत्यन्त सम्मानित प्रतिनिधि राणा साँगा और महाराणा प्रताप, के वंशज के रूप में जिन्होंने कि सदा-सर्वदा के लिए हिन्दुओं का कृतज्ञता-पूर्ण प्रेम प्राप्त किया था और जिन्हें हिन्दू लोग 'हिन्दुआ सूर्य' कहना अत्यन्त प्रिय समझते हैं, आज स्वागत करते हैं। श्रीमान् के वंशजों के वीरता और देश-भक्ति-पूर्ण कार्यों ने हिन्दुओं को सदा के लिए अपना कृतज्ञ बना लिया है।

हमें यह स्मरण कर बड़ा हर्ष होता है कि श्रीमान् को अपने वंश की परम्पराओं का बहुत गर्व है और उन परम्पराओं की रक्षा तथा उनके अनुसार इस परिवर्तित समय और परिस्थितियों में भी कार्य करने की सदा आपकी इच्छा रहती है। श्रीमान् के आदरणीय पूर्वजों ने भारत के इतिहास में जो वीरता और सम्मान के अमूल्य कार्य किये हैं उन्हें शब्दों में वर्णन करना मेरे लिए कठिन है। ये काम अन्त समय तक हिन्दुओं में राष्ट्रीय गर्व तथा भावना उत्पन्न करनेवाले बने रहेंगे।

—

वायसराय का भाषण

कलकत्ते का असोशिएटेड चैम्बर्स आफ़ कामर्स जो अँगरेज़ व्यापारियों की एक सुसंगठित संस्था है, प्रतिवर्ष दिसम्बर मास में वायसराय महोदय को जब वे कलकत्ता जाते हैं, एक प्रीति-भोज देता है। इस प्रीति-भोज के सिलसिले में वायसराय का व्याख्यान भी होता है, जिसमें वे देश की राजनैतिक स्थिति पर प्रकाश डालते हैं। इस वर्ष आपने जो व्याख्यान दिया है उसका सारांश हम 'भारत' से यहाँ उद्धृत करते हैं—

हिन्दुस्तान की साख इस समय पिछले २० वर्षों की अपेक्षा अधिक ऊँची है। इसका मुख्य कारण यह है कि हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्थिति सुधर गई है तथा भारत-सरकार ने गत ३-४ वर्षों में दृढ़ आर्थिक नीति का पालन किया है। संसार भर के लिए आर्थिक दशा का सुधरना दो ही बातों पर निर्भर है, एक तो किसी हद तक राजनैतिक दृढ़ता एवं विश्वास पैदा हो और दूसरे एक देश के माल को दूसरे देश में भेजने के सम्बन्ध में जो अनेक रोकें मौजूद हैं उनका दूर होना। पिछले २ वर्षों के अनुभव से यह प्रमाणित हो जाना चाहिए कि क़ानून का पालन करना तथा देश में शान्ति स्थापित रहना देश की आर्थिक स्थिति के लिए सबसे अधिक महत्त्व रखता है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि शासन-सुधार-सम्बन्धी कार्य जो अब पार्लियामेन्ट-द्वारा क़ानून का रूप धारण करने जा रहा है, अन्त में अपना यही परिणाम दिखलाएगा कि इस देश का व्यापार अधिक उन्नत तथा लाभदायक हो। उस दशा में यह देश प्रान्तीय स्वराज्य के स्थापित होने के आर्थिक भार को अधिक अच्छी तरह से सह सकेगा।

—
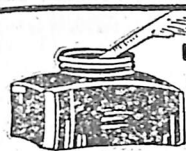
सम्पादकीय नोट

सम्राट् जार्ज की रजत-जयन्ती

इस वर्ष सम्राट् जार्ज (पञ्चम) के शासन-काल के अगली मई से पचीस वर्ष पूरे हो जायँगे। अतएव ६ मई को उसकी रजत-जयन्ती सारे साम्राज्य में बड़े धूमधाम से मनाई जायगी। उसके मनाने का आयोजन यहाँ भारत में भी शुरू हो गया है। लेडी वेलिंगडन ने उसके लिए एक फ़ंड खोला है, जिसकी रक़म देश के विपद्ग्रस्त भाइयों के हितार्थ ख़र्च की जायगी। आशा है, इस महोत्सव का प्रबन्ध भारत में उसके अनुरूप ही सम्पन्न होगा।

—

असेम्बली और कांग्रेस

असेम्बली के नये चुनाव में कांग्रेस की जीत हुई है। उसके सदस्य बहु-संख्या में चुने गये हैं। कांग्रेस के ४४ सदस्य चुने गये हैं। कांग्रेस राष्ट्रीय दल के सदस्य और सिक्ख एक प्रकार से कांग्रेस के ही सदस्य हैं। अतएव असेम्बली में इनको भी लेकर कांग्रेस के कोई ५४ सदस्य होंगे। और इनका साथ हिन्दू महासभा और मुस्लिम यूनिटी-बोर्ड के ६ सदस्य भी देंगे और यदि जिन्ना के स्वतन्त्रदल के १५ सदस्यों ने इनसे सहयोग कर लिया तो असेम्बली में विरोधी दल की संख्या ७५ के लगभग हो जायगी। उधर सरकार के २६ सरकारी सदस्यों के साथ १३ मनोनीत सदस्य, ८ योरपीय सदस्य और १८ हिन्दू और मुसलमान राजभक्त सदस्य रहेंगे। इस तरह सरकारी दल की संख्या ६५ रहेगी। परन्तु असेम्बली में किस दल का प्राधान्य होगा, इसका निर्णय वस्तुतः जिन्ना साहब के हाथ में रहेगा। आशा है, कांग्रेस को जिन्ना-दल का सहयोग प्राप्त होगा और वह अपने ऐसे बहुमत का सदुपयोग कर असेम्बली-द्वारा देश का वास्तविक हित-साधन करेगा।

—

संसार की नाज़ुक अवस्था

राजनीति के विशेषज्ञों का कहना है कि इस समय संसार की राजनैतिक अवस्था सन् १९१४ की अपेक्षा कहीं अधिक नाज़ुक हो गई है। अभी तक जर्मनी का ही रुख आशंका-जनक था, इधर बादशाह अलेक्ज़ेंडर और फ़्रांस के वैदेशिक मंत्री श्री बार्थो की हत्या से दाद में खाज हो गई है। बाल्कन ख़तरे का स्थल माना ही जाता है, सो वहाँ की अवस्था ने अपना असली रूप प्रकट करना शुरू कर दिया है। यद्यपि अभी परिस्थिति राष्ट्र-संघ के हाथों में है, और वह उसके नियंत्रण में भी है, पर कोई कह नहीं सकता कि ऊँट कब किस करवट बैठेगा।

कहाँ इस बात का वर्षों से प्रयत्न हो रहा था कि सभी राष्ट्र अपना सैनिक बल घटा दें, जिससे एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से निश्चिन्त रहकर सुख-शान्तिपूर्वक अपना जीवन यापन करे, कहाँ अब उसकी एक प्रकार से चर्चा ही बन्द हो गई है, वरन कई चोटी के राष्ट्र तो अपना युद्ध-बल बढ़ाने के कार्य में अधिक तत्पर दिखाई दे रहे हैं। इन राष्ट्रों में जो ग्रेट ब्रिटेन अभी तक निश्शस्त्री-करण के मामले से अधिक दिलचस्पी ही नहीं लेता आया है, किन्तु जिसने कभी अपना युद्ध-बल बढ़ाने का भी उपक्रम नहीं किया, वही ग्रेट ब्रिटेन अपना हवाई बल बढ़ाने का आयोजन कर रहा है। बाल्डविन साहब ने पार्लियामेंट में इस बात की स्पष्ट घोषणा की है कि ग्रेट ब्रिटेन अब ऐसे हवाई जहाज़ बनाएगा जो फ़ी घंटा २३० मील की गति से उड़ेंगे। उन्होंने यह भी कहा है कि ग्रेट ब्रिटेन ऐसे जहाज़ों के नये २२ बेड़े बनाएगा और अब उसके पास नये ढंग के ३०० हवाई जहाज़ हो जायँगे। यही नहीं, सारे ग्रेट

ब्रिटेन में जंगी हवाई जहाज़ों के अड्डों के भी बनाने का प्रबन्ध हो रहा है।

अमरीका के संयुक्त-राज्यों की सरकार को भी साम्राज्यवाद का चसका लग गया है। पिछले महायुद्ध के फलस्वरूप वह संसार का एक प्रबल राष्ट्र हो गया है, यहाँ तक कि उसकी संसार के तीन बलशाली राष्ट्रों में गणना हो गई है। अतएव वहाँ की सरकार इस गौरव को गँवा नहीं देना चाहती। इसी से वह अपना युद्ध-बल अक्षुण्ण ही नहीं रखना चाहती है, किन्तु उसे और प्रबलतर बनाना चाहती है। जंगी जहाज़ों के बेड़े के निर्माण के सम्बन्ध में उसकी घोषणा की चर्चा यथा समय 'सरस्वती' में की गई है। इसी दिसम्बर के मध्य में उसके युद्ध-मंत्री ने अपनी वार्षिक रिपोर्ट में घोषित किया है कि अगले तीन वर्षों में संयुक्त-राज्य नये ढंग के ६०० हवाई जहाज़ बनाएगा। वहाँ की सरकार कम से कम २,३२० जहाज़ों का अपना हवाई बेड़ा रखना चाहती है।

उधर योरप और अमरीका का यह हाल है, इधर जापान ने वाशिंगटन के सुलहनामे को मानने से इनकार कर दिया है। अब वह ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त-राज्यों के बराबर अपना नौ-बल रखना चाहता है। इस सम्बन्ध में लन्दन में इन तीनों राज्यों के प्रतिनिधियों में खूब डटकर विचारों का आदान-प्रदान हुआ। पर संयुक्तराज्यों ने जापान की माँग को नहीं स्वीकार किया, फलतः उनका सम्मेलन भंग हो गया। इससे प्रकट होता है कि संसार का रंग ढंग अच्छा नहीं है और क्या छोटे राष्ट्र, क्या बड़े राष्ट्र, सभी एक दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देख रहे हैं और कम से कम आत्मरक्षा के भाव से सभी नख से शिख तक युद्धोपकरणों से सज्जित रहना चाहते हैं। निस्सन्देह, यह परिस्थिति विश्वशान्ति के लिए मंगलप्रद नहीं।

बाल्कन की समस्या

बाल्कन-प्रायद्वीप की समस्यायें योरप को किसी भी क्षण संकट में डाल सकती हैं। यूगोस्लाविया में पुराने आस्ट्रिया-हंगेरी-साम्राज्य के जो प्रान्त शामिल किये गये हैं वे सर्ब लोगों का प्राधान्य नहीं सहन कर सकते। इसी प्रकार मेसीडोनिया का जो भाग उसके अधिकार में है, वहाँ के निवासी भी सर्बों की अधीनता के विरुद्ध हैं। यही नहीं, ये असन्तुष्ट प्रजाजन सर्ब-सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्र भी करते रहते हैं। कहा जाता है कि सर्बों के बादशाह अलेक्ज़ेंडर का मार्सेलीज़ में जो वध किया गया है वह ऐसे ही षड्यन्त्रकारियों का दुष्कृत्य है। जेनेवा में राष्ट्र-संघ की बैठक में जुगोस्लाविया की सरकार ने स्पष्ट रूप से हंगेरी-राज्य पर यह दोषारोप किया है कि उसके अधिकारियों की जानकारी में षड्यन्त्रकारी इस जघन्य कार्य की तैयारी करते रहे हैं। इस आरोप का हंगेरी की सरकार ने कड़े शब्दों में प्रतिवाद किया है। इस तू-तू मैं-मैं से प्रकट हो गया है कि उपर्युक्त घटना के कारण बाल्कन के जुगोस्लाविया का हंगेरी से मनोमालिन्य बढ़ गया है और इस सिलसिले में जुगोस्लाविया का साथ उसके साथी रूमानिया और ज़ेचोस्लोवेकिया एवं इन तीनों के हितों के संरक्षक फ़्रांस भी दे रहे हैं। उधर हंगेरी के साथ आस्ट्रिया और इटली है और आश्चर्य नहीं कि जर्मनी भी उसका समर्थन करे। इस प्रकार योरप की यह गुटबन्दी लोगों के अधिकाधिक सामने आती जाती है और आश्चर्य नहीं कि किसी दिन इन दोनों में संघर्ष न हो जाय। क्योंकि आस्ट्रिया और हंगेरी भी जर्मनी की भाँति अपनी वर्तमान अवस्था से सन्तुष्ट नहीं हैं और ये भी अपनी अपनी सन्धियों में परिवर्तन कराना चाहते हैं और यह बात सर्ब-लोग और उनके मित्र फ़्रांस का सहारा प्राप्त रहते होने नहीं देंगे। और जब आस्ट्रिया और हंगेरी को ऐसा ही बल प्राप्त हो जायगा तब वे भी अपने मन की करके रहेंगे। सारे झगड़े की जड़ यही एक बात है। देखें, बाल्कन की यह समस्या कब तक सुलझती है। इस समय यह साफ़ स्पष्ट हो गया है कि योरप में गुटबन्दी का ज़ोर काफ़ी बढ़ गया है और जहाँ उससे युद्ध होने का भय है, वहाँ वह इस समय युद्ध को रोके हुए भी है।

जापान का व्यापार

जापान ने व्यापार के क्षेत्र में कमाल कर दिखाया है। उसके अपने यहाँ के माल से लदे जहाज़ सारे भूमण्डल पर भ्रमण कर अपने व्यापार को संसारव्यापी बना रहे हैं। उसके इस अभ्युदय को देखकर संसार के अन्य औद्योगिक तथा व्यापारी देश चिन्तित हुए और उन्होंने अपने अपने उद्योग-धन्धों तथा व्यवसाय-वाणिज्य की रक्षा के लिए जापान से समझौते किये या उसके व्यापार का प्रसार रोकने के लिए तरह तरह के प्रतिबन्ध लगाये। इससे यद्यपि जापान के व्यापार को धक्का पहुँचा है, तथापि वैसा नहीं। क्योंकि जापान इतने पर भी अपने व्यापार को संसारव्यापी बनाने के लिए तरह तरह के आयोजन कर रहा है। इस सम्बन्ध में जाँच-पड़ताल करने के लिए जापान के 'ओसाका मैनीची' पत्र के सञ्चालकों ने एक मिशन का संगठन किया था, जिसने दक्षिण-समुद्र के द्वीपों, भारत, लघु-एशिया और योरप का भ्रमण करके एक रिपोर्ट लिखी है और अपनी सिफ़ारिशें भी की हैं। रिपोर्ट में लिखा गया है कि दक्षिण-समुद्र के द्वीपों में जापानी माल की सबसे अधिक खपत है। फ़िलीपाइन द्वीपों के मनीला में, जावा के बटेवा नगर में जापानी वस्तुओं की बड़ी धूम के साथ बिक्री होती है। मध्य-एशिया और मिस्र में जापान का वस्त्र-व्यवसाय दृढ़ता के साथ स्थापित हो गया है। तुर्की, सीरिया, इराक़ और पेलेस्टाइन यह चाहते हैं कि जापान उनके देश का माल खरीदे तो वे भी खरीदें। परन्तु जापान को आशा है कि भविष्य में इराक़, सीरिया, पेलेस्टाइन, तुर्की, ईरान तथा बाल्कन के जुगोस्लाविया में उसके व्यापार को दृढ़ता प्राप्त हो जायगी।

भारत के व्यापार के सम्बन्ध में रिपोर्ट में लिखा गया है कि नये समझौते के फलस्वरूप यद्यपि भारत में जापान का व्यापार-प्रसार रुक गया है, तथापि देशी राज्यों के द्वारा वह कमी पूरी की जा सकती है। इस सम्बन्ध में कच्छ-राज्य का उदाहरण दिया गया है। कच्छ-राज्य पर उक्त समझौता लागू नहीं है, अतएव जापानी माल पर वहाँ पहले जैसी ही चुंगी लगती है। इस कारण इस राज्य का जापान से व्यापार भी बढ़ गया है।

इस रिपोर्ट से जापानियों की महत्त्वाकांक्षा ही भले प्रकार नहीं प्रकट हो जाती है, किन्तु यह भी कि उनका व्यापार संसार में कितना अधिक फैल चुका है।

श्री वी० पी० माधवराव का स्वर्गवास

श्री वी० पी० माधवराव का ८५ वर्ष की अवस्था में उस दिन बँगलौर में स्वर्गवास हो गया। ये बड़े प्रतिभाशाली राजनीतिज्ञ थे। इन्होंने अपने कर्तव्यों का पालन आजीवन पूर्ण सफलता के साथ किया। मैसूर-राज्य में ३४ वर्ष तक बड़ी कुशलता के साथ राज्य की सेवा की। अन्त में मैसूर-सरकार की कार्यकारिणी कौंसिल के ये मेम्बर बनाये गये। इसके बाद सन् १९०४ में ये ट्रावन्कोर के दीवान हो गये और वहाँ सन् १९०६ तक कार्य करते रहे। १९०६ के अन्त में ये मैसूर के दीवान बनाये गये, जहाँ ये १९०९ तक काम करते रहे। फिर १९१४ से १९१६ तक ये बरौदा के दीवान रहे। इस प्रकार इन्होंने तीन उन्नतिशील राज्यों के दीवान होकर उनका कार्य-सञ्चालन बड़ी योग्यता के साथ किया।

राज-सेवा के सिवा ये लोक-सेवा के काम से भी सहयोग करना उचित समझते थे। इसी से १९१६ में इन्होंने हिन्दू-महासभा के सभापति होकर उसके वार्षिक अधिवेशन का कार्य-सञ्चालन किया था। ये कांग्रेस से भी सहयोग करते थे। सन् १९१७ में इन्हीं के सभापतित्व में मदरास की प्रान्तीय राजनैतिक सभा का वार्षिकोत्सव हुआ था। सन् १९१९ में ये कांग्रेस के डेपुटेशन के प्रधान बनकर विलायत गये थे और ज्वाइंट पार्लियामेंटरी कमिटी के सामने मार्के की गवाही दी थी। सन् १९२० में कलकत्ता-कांग्रेस के बाद डाक्टरों ने इनका स्वास्थ्य देखकर इन्हें एकान्त-सेवन करने की सलाह दी। तब से ये विश्राम कर रहे थे। खेद है, इनकी मृत्यु हो गई। इनकी मृत्यु से दक्षिण-भारत से क्या, समग्र भारत से एक नर-रत्न का अभाव हो गया है।

भारत में खेती का धन्धा

भारत कृषि-प्रधान देश है। वह एक बहुत बड़ा देश भी है। अतएव उसका यह धन्धा भी उतना ही व्यापक

है। परन्तु बड़े दुःख की बात है कि यहाँ उसी धन्धे की दयनीय दशा है। यद्यपि सरकार उसकी इस दशा के सुधारने के काम से उदासीन नहीं है और यहाँ एक ज़माने से प्रत्येक प्रान्त में सरकार का कृषि-विभाग खेती-बारी की उन्नति करने का काम करता आया है, तथापि उसके इस प्रयत्न का कृषक जनता पर वैसा प्रभाव नहीं पड़ा है। पड़े भी तो कैसे पड़े? न उसमें ज्ञानबल है, न धनबल है। सरकार का कृषि-विभाग कृषि-सम्बन्धी जो उपयोगी खोजें करता रहता है, अपने अज्ञान के कारण किसान उनकी उपयोगिता या महत्त्व आँक ही नहीं पाते, और यदि आँक भी पाते हैं तो धनाभाव के कारण उनका उपयोग नहीं कर सकते। ऐसी दशा में यदि यहाँ की खेती की दशा दयनीय होती जा रही हो तो इसमें क्या आश्चर्य है?

अभी कुछ दिन हुए मदरास के कृषि-विभाग के डायरेक्टर श्री आर० वी० राममूर्ति योरप गये थे। वहाँ उन्होंने रूस, इटली, जर्मनी और इँगलैंड का भ्रमण किया और उन देशों में नये ढङ्ग की खेती का अवलोकन किया। उनका कहना है कि रूस में खेती का काम बड़े ज़ोरों से हो रहा है। वहाँ की सरकार ने संसार के सभी देशों में बोये जानेवाले धान्यों के बीजों और पौधों के नमूने एकत्र किये हैं। उसके लेनिनग्राड की इस विषय की एक संस्था में गेहूँ के चालीस हज़ार प्रकार के पौधे और बीज संग्रह किये गये हैं। यही नहीं, वहाँ विज्ञान की मदद से ध्रुवाञ्चल जैसे भूभाग में भारतीय गेहूँ उगाया भी गया है। सारे भूमण्डल पर सोलह हज़ार प्रकार का गेहूँ होता है। इसमें आठ हज़ार प्रकार के गेहूँ अकेले भारत और दक्षिणी चीन में ही उत्पन्न होते हैं। भारत ऐसा ही उपजाऊ देश है।

डायरेक्टर साहब का कहना है कि वैज्ञानिक रीति का अवलम्बन करने से भारत का खेती का धन्धा कहीं अधिक समुन्नत किया जा सकता है। परन्तु शिक्षा के अभाव के कारण जो प्रयत्न किये भी जाते हैं, बेकार सिद्ध होते हैं। यों तो राजनैतिक क्षेत्र में कृषक के नाम की धूम ने व्यापक रूप धारण कर लिया है और कांग्रेस के रचनात्मक कार्य-क्रम में भी उनका नाम बार बार लिया जाता है, पर यहाँ नये ढङ्ग की खेती को उत्तेजन देने का कहाँ क्या कार्य हो रहा है, यह सरकार ही जानती है। क्या ही अच्छा होता यदि इस धन्धे को प्रोत्साहन देने के लिए कोई व्यापक कार्य किया जाता, जिससे और न सही तो किसान कम से कम बीज चुनना और खाद देना तो जान जाते।

भारतीय व्यापार और ओटावा-समझौता

भारतीय व्यापार के विशेषज्ञों ने ओटावा के समझौते की विगर्हणा की है और उसे भारत के लिए अहितकर बताया है। परन्तु हाल में लन्दन के स्थानापन्न इंडिया ट्रेड कमिश्नर ने पिछले नौ महीनों के जो आँकड़े प्रस्तुत किये हैं उनसे प्रकट होता है कि पहले की अपेक्षा भारत का निर्यात व्यवसाय बढ़ा है। चावल, तेलहन, जूट, रुई, खरिया, लकड़ी, लाख, कच्ची टिन, कच्चा लोहा आदि वस्तुओं का निर्यात बढ़ा है। परन्तु इसके साथ ही अन्य वस्तुओं के निर्यात-व्यापार का ह्रास भी हुआ है। जैसे चाय, तम्बाकू, ऊन, चमड़ा आदि वस्तुओं का निर्यात घट गया है। उक्त कमिश्नर साहब ने यह बताया है कि इस ह्रास का कारण है। योरप के कुछ देशों ने भारतीय माल पर प्रतिबन्ध लगा दिये हैं, इस कारण चमड़े के निर्यात में वृद्धि नहीं हुई। ऊन और तम्बाकू तो माँग के अनुसार स्वयं भारत ही नहीं निर्यात कर सका। रही चाय, सो उसके निर्यात के ह्रास का कारण चाय-सम्बन्धी [illegible] योजना है। इस दृष्टि से विचार करने से प्रकट है है कि ओटावा के समझौते से भारत के निर्यात के व्यापार की वृद्धि हुई है और यदि उसका यह क्रम इसी तरह जारी रहा तो देश के व्यवसाय की हालत कुछ और सुधर जायगी। परन्तु इससे अधिक और कुछ न होगा।

जहाज़ चलाने की शिक्षा

कुछ समय से भारत-सरकार भारतीय युवकों को जहाज़ी विद्या की भी शिक्षा देने लगी है। इसके लिए उसने 'डफ़रिन' नाम का एक जहाज़ अलग कर दिया है। [illegible] हाल में इस जहाज़ पर शिक्षा पाये युवकों को पुरस्कार [illegible] का वार्षिकोत्सव हुआ था। यह उत्सव भारत-सरकार [illegible] कौंसिल के सदस्य सर जोसेफ़ भोर के सभापतित्व में हुआ था। उस अवसर पर घोषित किया गया है कि इस वर्ष डफ़रिन के ४४ केडेट दूसरे मेट का सार्टिफ़िकेट और ८ या ९ प्रथम मेट का सार्टिफ़िकेट लेकर एवं समुद्र पर काम करनेवाले ७२ उम्मेदवार अपना काम पूरा कर निकलेंगे। इसके साथ ही यह भी कहा गया कि ३२ केडेटों की अपेक्षा भविष्य में शिक्षा देने के लिए ५५ केडेट लिये जाया करेंगे। इनमें से २५ को जहाज़ी काम में और २५ को जहाज़ की इंजिनियरिंग की शिक्षा दी जायगी। इससे प्रकट होता है कि भारतीय केडेटों ने अपनी योग्यता का खासा परिचय दिया है। इसी से सभापति महोदय ने उनकी उपयुक्त प्रशंसा भी की है और उनको वायसराय महोदय का पत्र पढ़ कर सुनाया, जिसमें उनकी सफलता और राजभक्त होने की कामना की गई थी। प्रसन्नता की बात है कि सरकार इन शिक्षा पाये भारतीयों को जहाज़ों में उनके उपयुक्त नौकरियों का भी प्रबन्ध करेगी।

योरप में लिखने की स्वतन्त्रता

कहा जाता है कि योरप में भाषण करने और लिखने की स्वतन्त्रता का सदा प्राधान्य रहा है। किसी समय के लिए यह बात भले सत्य रही हो, पर इस समय यह सत्य नहीं है। 'क्रिश्चियन साइंस मानिटर' का कहना है कि योरप के २७ देशों में से १६ देशों में अखबारों पर सरकार का पूरा नियंत्रण है। इन १६ देशों के अखबार बिना सरकार की अनुमति के कोई भी खबर नहीं छाप सकते। एक यह बात भी है कि इन देशों में से १४ देशों में डिक्टेटरों का आधिपत्य है। शेष २ देशों में यद्यपि पहले की तरह पार्लियामेंटरी शासन प्रचलित है, तो भी वहाँ के अखबार सरकार के नियंत्रण में ही प्रकाशित होते हैं। अब रहे ११ देश, सो उनमें प्रेस को पूरी स्वाधीनता प्राप्त है, परन्तु उनको अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वैसा महत्त्व नहीं प्राप्त है। ये हैं स्विट्ज़रलैंड, बेल्जियम, हालैंड, आयरिश फ़्री स्टेट, नार्वे, स्वीडन, डेन्मार्क, फ़िनलैंड और ग्रीस। जब अखबारों की जन्मभूमि स्वयं योरप में ही उन पर इस तरह का अंकुश है तब संसार के अन्य देशों के अखबारों की स्वतन्त्रता के बारे में क्या कहा जा सकता है?

पेलेस्टाइन यहूदी

पिछले १७ वर्ष से पेलेस्टीन में यहूदी लोग दूसरे देशों से आ आकर बस रहे हैं। महायुद्ध के समय वहाँ यहूदियों की कुल संख्या पचास हज़ार थी। परन्तु अब वह बढ़कर ढाई लाख हो गई है। जहाँ पहले उनके ५० गाँव थे, वहाँ अब डेढ़ सौ हो गये हैं। और जहाँ पहले एक लाख एकड़ भूमि उनके अधिकार में थी, वहाँ अब ढाई लाख एकड़ हो गई है। उनका जाफ़ा के पास तल अबीब नाम का एक नया शहर बस गया है, जिसकी आबादी ७० हज़ार हो गई है। जेरूसलेम की ९०,००० की आबादी में उनकी संख्या आधी से अधिक है। हैफ़ा बन्दरगाह की ६०,००० की आबादी में बीस हज़ार यहूदी हैं।

इस समय संसार के भिन्न भिन्न देशों में कुल १,६०,००,००० यहूदी फैले हुए हैं। इनमें से बहुसंख्यक स्वदेश में जाकर बसना चाहेंगे। परन्तु पेलेस्टाइन में उनका कुछ ही अंश खप सकेगा और सो भी उनमें से चुने हुए लोग ही। तथापि यहूदियों के नेता उनमें से अधिक से अधिक लोगों को पेलेस्टाइन में और जब वहाँ स्थान का अभाव हो तब पड़ोस के देशों में फैलकर बसाना चाहते हैं। वास्तव में वे अरब को अपने बुद्धि और धन के बल से धन-धान्य-पूर्ण देश बना देना चाहते हैं।

उनके सौभाग्य से जर्मनों ने अपने देश से यहूदियों को निकाल बाहर करना शुरू किया। इनमें अधिकांश पेलेस्टाइन भाग आये हैं और हैफ़ा के पास आबाद हुए हैं। इन जर्मन यहूदियों के आ जाने से वहाँ के यहूदी-मण्डल को और भी अधिक प्रोत्साहन मिला है, क्योंकि इन नवागन्तुकों ने अनेक बातों के विशेषज्ञ होते हुए वहाँ साधारण नागरिकों की तरह रहना पसन्द किया है। जहाँ पहले उजाड़ पड़ा था, इनके आ जाने से वही स्थान उद्योग-धन्धों का केन्द्र हो गया है।

इस समय संसार में एक पेलेस्टाइन ही ऐसा देश है

जहाँ बजट में बचत रहती है और इसका श्रेय दूसरे देशों से आकर बसनेवाले यहूदियों को है, क्योंकि उनके कारण देश के व्यापार और उद्योग-धन्धों की वृद्धि हुई है, जिससे देश की आय बढ़ गई है।

हिन्दी में समालोचना

हिन्दी-साहित्य की वर्तमान प्रगति भविष्य के लिए आशाजनक है। जो नित्य नई रचनायें प्रकाशित हो रही हैं उनकी संख्या पर दृष्टिपात करने से हमारे कथन की सत्यता सिद्ध हो सकती है। हम यहाँ नव प्रकाशित पुस्तकों या उनके लेखकों के आँकड़े नहीं देना चाहते। सभी जानते हैं कि हिन्दी में इस समय सभी विषयों के उच्च कोटि के लेखक विद्यमान हैं और वे अपनी उत्कृष्ट रचनाओं से राष्ट्रभाषा के साहित्य-भाण्डार को अलंकृत करते जा रहे हैं। परन्तु हिन्दी के इस अभ्युदय-काल में हमारे मार्ग में एक बड़ी बाधा है, जिसकी ओर हमारा ध्यान होते हुए भी हम कुछ कर-धर नहीं सकते। वह है कुछ लोगों का अनुचित हस्तक्षेप। ये कुछ लोग हिन्दी के नये प्रतिभाशाली लेखकों को सदा दबाये रखने में ही हिन्दी का गौरव समझते हैं। इन्होंने अपने गुट बना लिये हैं, जिनके द्वारा सत्य समालोचना के मार्ग में बाधायें डाली जा रही हैं। यह हिन्दी का दुर्भाग्य है कि यही लोग हमारे अगुआ हैं। इस सम्बन्ध में सन्तोष की बात इतनी ही है कि वास्तविक साहित्यकारों पर इनका प्रभाव नहीं पड़ता और वे अपने सत्साहित्य की रचना के कार्य में बराबर लगे रहते हैं।

लेखकों और पाठकों से

इस अङ्क से 'सरस्वती' अपने ३६वें वर्ष में प्रवेश कर रही है। उसकी कठिनाइयाँ बहुत पीछे छूट गई हैं और आगे का मार्ग आशा और उत्साह से पूर्ण दिखाई पड़ रहा है। हिन्दी-साहित्य की गति के साथ 'सरस्वती' की उन्नति में भी शिथिलता और तेज़ी के दिन आये हैं। इधर साहित्य की उन्नति बड़ी तेज़ी से हो रही है और उसका प्रभाव 'सरस्वती' की उन्नति पर भी पड़ा है। सन् १९३३ के आरम्भ में जब हमने 'सरस्वती' में नवीन परिवर्तन किये थे तब हमें यह आशा न थी कि वह इतनी तेज़ी से उन्नति करेगी। आज 'सरस्वती' की चर्चा घर घर है। प्रत्येक अङ्क हम अन्दाज़ से कुछ अधिक छापते हैं, तो भी वह कम पड़ जाता है। आर्थिक संकट के इस युग में ग्राहक-संख्या का इतनी तेज़ी से बढ़ना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि अब हिन्दी-भाषा-भाषियों में मासिक पत्रिका पढ़ने की तीव्र रुचि उत्पन्न हो गई है। पाठकों की वृद्धि के साथ 'सरस्वती' के लेखकों में भी वृद्धि हुई है। उच्च श्रेणी के विद्वान् लोग जिनके सम्बन्ध में बराबर यह कहा जाता था कि वे हिन्दी में लेख नहीं लिखते, अब सरस्वती की ओर विशेषरूप से आकर्षित हुए हैं। आज ऐसा कोई विषय नहीं जिस पर लिखने के लिए योग्य से योग्य व्यक्ति तैयार न मिलें। यह अनुभव हमें अभी अभी पिछले दो वर्षों में हुआ है। कोई भी 'सरस्वती' के दो वर्षों की लेखकों की सूची देखकर स्वयं समझ सकता है कि आज हिन्दी कहाँ पहुँच गई है।

बहुत-से नवयुवक लेखकों को और 'सरस्वती' के बहुत से पुराने लेखकों की शिकायत है कि उनकी रचना हम वापस कर देते हैं। इसका कारण हिन्दी में 'सरस्वती' को एक आदर्श पत्रिका बनाना है। यदि हम किसी की रचना को किसी कारणवश स्थान न दे सकें तो वे परिस्थिति का अनुभव करके हमें क्षमा करेंगे।

'मिश्रबन्धु-विनोद' के सम्बन्ध में

'सरस्वती' के इस अङ्क में अन्यत्र हमें आदरणीय मिश्र-बन्धुओं की उक्त नवीन कृति की आलोचना करने का अप्रिय कार्य्य करना पड़ा है। खेद है, उस लेख में ४२ वें पृष्ठ पर हम लिख गये हैं कि उन्होंने श्रेष्ठ लेखकों की जानबूझ कर उपेक्षा की है, यह ग़लत है। पर उपेक्षा हुई, यह सही है। यदि दूसरे संस्करण में ये भद्दी भूलें दूर कर दी जायँ तो हम उस कार्य्य को मिश्रबन्धुओं की उदारता के अनुरूप समझेंगे!

Printed and published by K. Mittra, at the Indian Press, Ltd., Allahabad.

सरस्वती

परिवर्तन

लेखक, कुँवर हिम्मतसिंह 'साहित्यरञ्जन'

पहले मम हृदय-विटप को था स्नेह-सलिल से सींचा।
जब हुई पल्लवित आशा तब तूने निज कर खींचा॥
आतप ने वह आशामय पल्लव फिर शीघ्र जलाया।
मृदु मनोभाव-सुमनों को उस ज्वाला ने झुलसाया॥

यह प्राण-पवन था जिसका।
सौरभ अम्बर में भरता॥
आहों का प्रबल प्रभञ्जन।
अब उसे जर्जरित करता॥

मधु गया आज इस वन से है प्राकृत परदा पलटा।
गिनते थे सुखप्रद जिसको वह हुआ कष्टप्रद उलटा॥
उन्मत्त मोद में निश-दिन जो नयन-मधुप थे रहते।
वह विकल वेदना से हो हैं अश्रुधार में बहते॥

यह कैसा परिवर्तन है?
निर्दयी नियति का नर्तन॥
कुछ भी न समझ में आता।
यह कुटिल काल परिवर्तन॥

फ़रवरी १९३६ माघ १९९२

नैपाल की ओर

लेखक,

श्री राहुल सांकृत्यायन

जेनरल केसर शम्सेर जङ्ग बहादुर राणा
परराष्ट्र-सचिव (नैपाल)

छुक्-सम के आस-पास के पहाड़ जंगलों से भरे हैं। और आज (९ नवम्बर) का जंगल और भी घना था। चारों ओर छोटे छोटे बाँसों की भरमार थी। शाम तक हमें उसी नदी के नौ पुल इधर से उधर पार करने पड़े। पिछली यात्रा में जिस गाँव में एक रात ठहरे थे, वहाँ अब की पेट भर छाछ पी। पिछली बार डुक्-पा लामा ने जिस नये घर में जल-स्रोत निकल आने के लिए वरदान दिया था उसकी अब दो-चार हाथ की दीवारें ही बाक़ी रह गई थीं। घरवाले कहाँ गये, इसका पता नहीं।

जिस वक़्त हम डाम् गाँव में पहुँचे, अभी घंटा भर दिन बाक़ी था। डाम् पहुँचने से तीन मील पूर्व ही देवदार कटिबंध समाप्त हो गया था। एक अच्छा घर टिकने को मिला। पता लगा, हमारे पुराने परिचित अ-शङ् ङ-वङ् सब छोड़-छाड़ अब [illegible] में ज्ञान-ध्यान के लिए बैठ गये हैं।

१० नवम्बर को फिर आदमियों ने [illegible] करके वही समय कर दिया, और [illegible] चले। अपने पूर्व-परिचित ज़ंजीरों के पुल को पार किया। धर्मवर्धन हमसे भी अधिक डर रहे थे। आगे सीमावाले पुल तक रास्ता कई जगह बुरी तरह [illegible]

श्रीमान् राहुल सांकृत्यायन पुरातत्त्व के प्रेमी और साहसी यात्री हैं। इसी से वे अल्पकाल में ही विश्वश्रुत हो गये हैं। आप अभी हाल में अपनी तिब्बत-यात्रा से लौटे हैं। यह आपकी उस देश की दूसरी यात्रा है। इस बार आप तिब्बत से नैपाल होकर भारत आये हैं। इस लेख में अपनी इस यात्रा के नैपालवाले अंश का वर्णन किया है।

हुआ था। पुल भी पहली जगह से हट कर बना था। पार होते ही हम नैपाली सीमा में पहुँच गये। इधर का रास्ता अच्छा है। १९२९-३० ईसवी में नैपाल-भोट की जो तनातनी हुई थी उसका एक फल यह भी हुआ कि यह सड़क बन गई। हमने सोचा, जल्दी जल्दी चलें आगे फ़ौजी चौकी पर पहुँच जायँ, जिसमें आदमियों के आने तक नाम-गाँव लिखवाकर छुट्टी पा लें। हम वहाँ १२ बजे पहुँचे। प्रधान अफ़सर नैपाल गये हुए थे। दो छोटे अफ़सर भी मौजूद न थे। सिर्फ़ एक बूढ़े सूबेदार थे, जो 'मधेस' के आदमी को छोड़ने में डरते थे। उन्होंने दो बजे तक हमें वहीं बैठा रक्खा। जब हमने खाने-पीने की आवश्यकता बतलाई तब कहा—ऊपरवाले ताल के गाँव में चाय-पानी कीजिए। यदि हमारा साथी अफ़सर जिसको आज यहाँ पहुँचना ज़रूरी है, आ गया तो उसकी सलाह से जाने देंगे। चाय-पानी और दो घंटे के विश्राम के बाद आदमी भेजा। मालूम हुआ, उक्त अफ़सर आ गया है। बहीदार (यही उस अफ़सर का पद था) अधिक संस्कृत और मधुर स्वभाव के मिले। उन्होंने हमारे दोनों संदूक़ खुलवा कर देखे तो, किन्तु और दिक़्क़त नहीं पैदा की। छुट्टी पाते ही हम तातपानी के लिए चल दिये, जो २-३ मील ही नीचे था। यहीं राज्य का चुंगी-घर है। बक्सों के खोलने का अत्यधिक आग्रह तो नहीं था, किन्तु हम अपनी मूर्तियों को दिखला देना चाहते थे। एक अर्ध नेवार सज्जन लक्-पा के घर स्थान मिला।

[नैपाल-राजगुरु श्री हेमराज शर्मा]

हमने पूछा—क्या आप नेवार हैं? उत्तर मिला—हाँ, खचरा नेवार। आसन ठीक-ठाक कर लेने पर गर्म पानी के चश्मे में आज साबुन के साथ स्नान हुआ।

११ नवम्बर को चलने से पूर्व हमने अपने आदमियों के अगुआ सिंहमान से कह दिया था—नीचे के रास्ते चलना है, ऊपर के रास्ते में चढ़ाई कठिन होने से हमें बहुत तकलीफ़ होगी। कुछ आनाकानी के साथ उसने बात स्वीकार कर ली और हमें विश्वास हो गया, वह दूसरी बात न करेगा। एक जगह देखा, भारवाहक बड़े

रास्ते को छोड़ नीचे के छोटे रास्ते को पकड़ रहे हैं। थोड़ा उतरकर हम ज़ंजीर के झूले के पास पहुँचे। अब मालूम हुआ, हमारे तिब्बती साथी—धर्मवर्धन बड़े रास्ते पर बढ़े जा रहे हैं। साथियों ने आगे बढ़कर सीटी बजाई। एक बटोही से भी उन्हें लौटाने के लिए कहा। हमें इसके लिए एक घंटा वहीं ठहरना पड़ा तब दो-तीन मील का चक्कर काटकर वे हमारे पास पहुँचे। झूला पार हुए। धीरे धीरे ऊपर की ओर चलने लगे। मालूम हुआ, हम तो बित्ता, सवा बित्ता की पगडंडी पर चल रहे हैं। कुछ और चलने पर चढ़ाई भी कठिन हो गई। कहीं कहीं बाईं ओर पगडंडी के नीचे ही चालीस चालीस, पचास पचास हाथ नीचा खड्ड था। अब तो चढ़ाई से जितना शरीर को कष्ट न था, उतना दुःख मन को अधिक सावधानी रखने के कारण हो रहा था। सिंहमान को बहुत फटकारा, किन्तु अब दूसरा चारा क्या था। उतार और एक नाले को पार कर चढ़ाई अत्यन्त कठिन मिली। आख़िर सूर्यास्त तक हम छङ्-चिङ् के डाँड़े पर पहुँच गये। एक घर के बाहरी बरामदे में जगह मिली।

१२ नवम्बर को नौ बजे रवाना हुए। रास्ता उतार का था, और कितने ही स्थानों पर बहुत कठिन था। बहुत देर तक उतरने पर एक छोटे-से पुल से एक छोटी नदी पार की। फिर चढ़ाई शुरू हुई। रास्ते पर एक सिसकती मार्गी मिली। हमने पीपल के नीचे विश्राम किया। फिर गोम्-थङ् गाँव में पहुँचे। यहीं सदर रास्ता आ मिलता है। आज सवेरे कुछ खाया न था। ढूँढ़-ढाँढ़कर दूध लाया गया, किन्तु आग पर रखते ही फट गया। हताश हो चल दिये। अब हम आगे चले—इस ख़याल से कि आगे कहीं सुख-यात्रा हो। रास्ता अच्छा सुसंस्कृत था। खेतों और गाँवों से होते हुए हम आगे बढ़ रहे थे। अब हम भैंसों के देश में पहुँच गये थे, इसलिए यह कहने की आवश्यकता नहीं कि हम काफ़ी गर्मी महसूस कर रहे थे। दो-ढाई घंटे की चढ़ाई के बाद हम जोत् पर पहुँचे। यहाँ दो-तीन घर हैं। फिर उतरने लगे। कल तक हम अपने पुराने रास्ते पर आये थे, किन्तु आज रास्ता नया था। हम समझ रहे थे, आगे कहीं दूकान मिलेगी। भूख ज़ोर की लग रही थी। किन्तु ४॥ बजे यङ्-ला-कोट में जाकर दो टुटपुँजिया दूकानें मिलीं। बड़े यत्न के बाद थोड़ी मिश्री और डंडे का पीटा चूरा प्राप्त हुआ। देर होने पर डर लगने लगा कहीं आज भी साथी पीछे ही न रह जायँ, किन्तु आज धर्मवर्धन उनके साथ थे। रात को यहीं पासल (पण्यशाला) में ठहरे।

१३ नवम्बर को हमारे साथी सूर्योदय के साथ चलने के लिए तैयार हो गये। घर छोड़ते ही हम दोनों आगे हो लिये। रास्ता विशेष उतार का था, किन्तु सड़क अच्छी होने से कोई तकलीफ़ नहीं थी। रास्ते में एक चश्मे पर हाथ-मुँह धोये। मालूम हुआ, जलबीरा का बाज़ार क़रीब है। बाज़ार में १४-१५ दूकानें थीं। और कपड़े और दूसरी बहुत-सी चीज़ें बिकती थीं। बहुत खोजने पर भी हमें कोई फल नहीं मिल सका। कितनी ही देर की इन्तिज़ारी के बाद साथी आये। मालूम हुआ, उनके परिचित दूकानदार की दूकान कुछ और नीचे चलकर है। एक लकड़ी का पुल पार हो नये ढंग के बने झूले के पुल से नदी के पार हुए। परिचित दूकानदार के यहाँ अधिक अनुकूलता मिली। इधर कई दिन से हमने मांस धर्मवर्धन के लिए छोड़ रक्खा था। आज यहाँ आग की भूनी सूखी मछलियाँ दिखलाई पड़ीं। सात्विक भोजन खाये कई दिन हो गये थे। दो रुपये की खरीद कर रास्ते के लिए रख ली गईं। साथी भात बनाने लगे, और हमने फलों की खोज शुरू की। कुछ पके केले मिले, और कुछ मिठाई भी प्राप्त हुई।

भोजनोपरान्त बारह बजे हम रवाना हुए। रास्ता चढ़ाई का था। पीछे थोड़ा-सा उतार उतरकर फिर चौतरा तक चढ़ाई ही चढ़ाई रही, रास्ते में थकावट तो मालूम हुई, किन्तु शाम को चौतरा पहुँचने पर वह सब भूल गये। चौतरा पहाड़ी डाँड़े पर बसा हुआ है। बड़े हाकिम का निवासस्थान तथा एक ज़िले का हेड क्वार्टर होने से बस्ती अच्छी है। आरम्भ में तो सैनिक महत्त्व के ही कारण वह ऊँची पहाड़ी रीढ़ आबाद की गई होगी। बड़े हाकिम की कोठी बस्ती से कुछ हट कर थी। पिछले भूकम्प से यहाँ के घरों को बहुत अधिक क्षति नहीं हुई है। थोड़ी

पूछ-ताछ के बाद रहने को स्थान मिल गया। लोग धर्मवर्धन के साथ हमें भी भोटिया बना रहे थे, यद्यपि सिर से पैर तक कोई भोटिया चीज़ हमारे पास नहीं थी।

१४ तारीख़ को हमारे साथी अपने घर पहुँचनेवाले थे, इसलिए हम उन्हें छोड़ आगे बढ़े। शुरू से ही उतार शुरू हो गया। कुछ दूर चलने के बाद हम धर्म-वर्धन से भी आगे बढ़ गये। बहुत दूर निकलने पर भय लगने लगा, कहीं धर्मवर्धन दूसरा रास्ता न पकड़ लें। भाषा न जानने से फिर बहुत मुश्किल में पड़ जाना होगा। नीचे जाकर १॥ घंटे की प्रतीक्षा के बाद वे आये। आदमियों के लिए थोड़ा और इन्तिज़ार किया। किन्तु उनका अभी पता तक न था। सोचा, उतार ख़त्म कर ठहरेंगे। नीचे पहुँच एक पीपल के नीचे हाथ का तकिया बना लेट गये। शरीर में ज्वर था। संभवतः नींद भी आ गई थी। बड़ी देर के बाद साथी आये। कच्चा पुल पार हो साथियों ने धर्मवर्धन के लिए कुछ खाने को [illegible]या। हमारी बिलकुल ही इच्छा न थी। कुछ दूर चढ़कर थोड़ी देर विश्रामकर हम सि-पा गाँव में पहुँचे। साथियों के घर कुछ हट हटकर थे, इसलिए वे अपने एक मित्र नेवार के घर में ले गये। पास में पपीते के कितने ही वृक्ष थे, जिन पर फल भी लगे थे। यहाँ के लोग पपीते को मेवा कहते हैं। भारत में भी कहीं कहीं रेंड-मेवा कहा जाता है। कहने पर दो फल लाये गये, जो पक्वप्राय थे। एक स्त्री ने कहा—हाँ, यह तो मेवा है, देवताओं के चढ़ाने के लिए। वस्तुतः देवभोग के खाने का हमें कोई अधिकार न था। कहने पर दूध भी मिल गया, और इस प्रकार दूध-भात का भोजन हुआ।

१५ नवम्बर को भोजन करके नौ बजे ही चले। सड़क ऊपर से जा रही थी, जिसके लिए हमें खड़ी चढ़ाई चढ़नी पड़ी। धर्मवर्धन को साथियों के साथ आने के लिए कह कर हम आगे बढ़े। सि-पा में राज्य की ओर से सहायताप्राप्त एक संस्कृत-पाठशाला है। यहाँ कुछ घर ब्राह्मणों के भी हैं। तीन मील के क़रीब हमारा रास्ता मीठी चढ़ाई का था, फिर उतार शुरू हुआ। ११ बजे हम इन्द्रावती (कोसी की
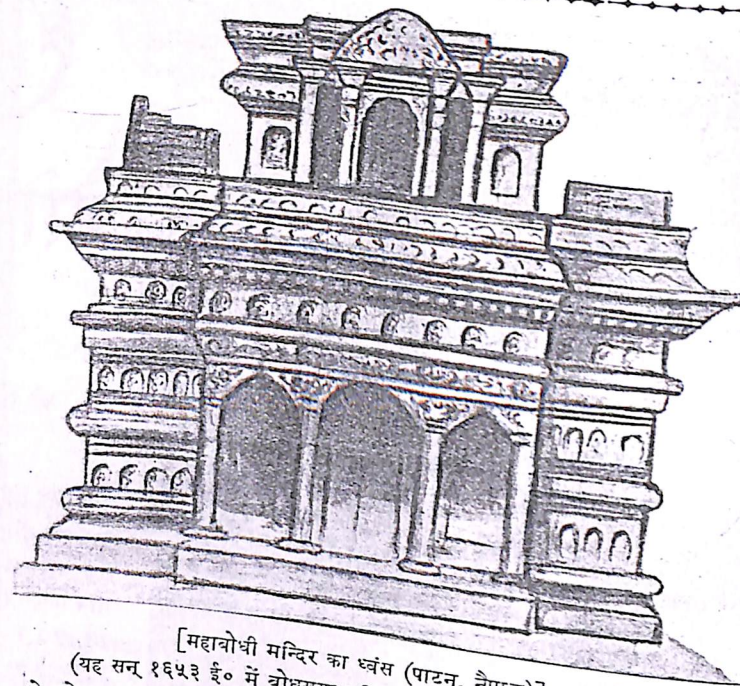
[महाबोधी मन्दिर का ध्वंस (पाटन, नैपाल)]
(यह सन् १६५३ ई० में बोधगया मन्दिर के नमूने पर बना था। पिछले भूकम्प ने इसे नष्ट कर दिया।)

शाखा) के तट पर पहुँचे। जब दो घंटे के इन्तिज़ार के बाद भी साथी न आये तब पीपल की छाँह छोड़ पानी के तट पर पड़ी मल्लाह की झोपड़ी में पहुँचे। नदी का पाट भारी था और पानी भी अधिक था। पुल बहुद्रव्यसाध्य होने से यहाँ खोखले वृक्ष के तने की दो नावें रहती हैं। आध घंटा और इन्तिज़ार करने पर साथी आये। और नैपाली साढ़े पाँच आना देकर हम नदी के पार हुए। इस पार दूर तक धान के खेत थे, जिनकी कटाई हो रही थी। चौतरा के कुछ ऊपर से ही धान अच्छी जाति के बोये जाते हैं। थोड़ी चढ़ाई चढ़कर घंटे भर विश्राम किया। फिर ऊपर चढ़ने लगे। रास्ते में कितने ही गाँव मिले, जिनमें कुछ भूकम्प-ध्वस्त घर दिखाई पड़े। सूर्यास्त के बाद हम देवपुर की एक दूकान में पहुँचे, जिसका मालिक हमारे साथियों का परिचित था। यहीं पास की पान्थशाला में आज विश्राम करने की ठहरी।

१६ नवम्बर को हमारे ज़ोर देने पर बिना खाये ही कूच बोला गया। हमने समझा था, कल ही चढ़ाई समाप्त हो गई। किन्तु चढ़ाई तो वस्तुतः आज थी। यदि सड़क बनी न होती तो यह रास्ता बहुत कठिन होता। यह नालू दोम् (चीसपानी) का डाँड़ा बहुत ऊँचा है। सात हज़ार फ़ुट से क्या कम होगा! साथियों को छोड़ हम आगे बढ़ गये। डाँड़ा पार हो दो घंटे साथियों के इंतिज़ार में बैठना पड़ा। यहाँ से दो-तीन मील ऊपर नैपाल-शासक-वंश के किसी व्यक्ति का ग्रीष्म-निवास दिखाई पड़ रहा था।

साथियों के आने पर हम उतरने लगे। साखू अभी ३-४ मील था, किन्तु साथियों ने खाना बनाना तय किया। हम दोनों आगे बढ़ चले, बारह बजे के बाद हम साखू पहुँचे। यह एक अच्छा-सा क़स्बा है। पिछले भूकम्प से इसे भी बहुत क्षति हुई है। क़स्बा देखने के बाद हमने एक हलवाई की दूकान पर नैपाली अठारह आने की पूड़ी-मिठाई खाई। साखू से थोड़ी ही दूर नीचे जाने पर मोटर की सड़क आ गई। धर्मवर्धन मोटर देखकर बहुत खुश हुए। यह सड़क नई है, आवश्यक स्थानों पर बड़े पुल भी बने हुए हैं, किन्तु खेतों में इस पार से उस पार पानी ले जाने के लिए पुख़्ता पुलिया कहीं नहीं हैं, इसलिए सड़क कितनी ही जगह काट दी गई जिससे रास्ता ख़राब हो गया है। सूर्यास्त के समय हम दोनों बौधा पहुँचे। काठमांडू के लिए अभी दो-तीन मील जाना था, साथी भी नहीं पहुँचे थे, इसलिए बौधा में ही आज रहने का निश्चय हुआ। चीनी लामा पुण्यवज्र ने देखते ही पहचान लिया।

१७ नवम्बर को सवेरे ही काठमांडू को चले। बौधा के पुराने स्तूप को भूकम्प से कोई क्षति नहीं हुई थी और आस-पास के बहुत-से मकान भी बच गये थे। जहाँ बिहार के भूकम्प-ध्वस्त शहरों में नये और लकड़ी के ढाँचेवाले मकानों को छोड़कर बाक़ी को प्रायः एक-सी हानि पहुँची थी, वहाँ नैपाल में कहीं कहीं पुराने मकान अक्षुण्ण रह गये हैं, और कहीं मुहल्ले का मुहल्ला साफ़ हो गया है। इसका कारण शायद नीचे की भूमि की बनावट हो। भूकम्प हुए अब ग्यारह महीने होने को आये, किन्तु अब भी बहुत-से लोग अपने मकानों को नहीं बना सके। कितनों ने सिर्फ़ रहने भर का बन्दोबस्त कर लिया है। सरकार ने पुनर्निर्माण के लिए अलग एक विभाग खोल दिया है। राजपरिवार के चंदे से सहायता की मद में चौदह-पन्द्रह लाख रुपये जमा हो गये थे। लेकिन देखते हैं, नये मकानों के बनाने में लोगों ने भूकम्प से कोई सबक़ नहीं सीखा। उन्होंने देखा है, लकड़ी का ढाँचा रखकर बनाये मकान अधिक मज़बूत साबित हुए हैं, तो भी केवल ईंटों के मकान धड़ाधड़ बनाये जा रहे हैं। मेहराब का भी पहले की तरह खुलकर इस्तेमाल हो रहा है। सोच रहे होंगे अब तो सौ वर्ष बाद न आयेगा!

श्रीधर्ममान साहु (छु-सिं-स्या के स्वामी) का मकान काठमांडू के भीतर ४७ तन्-ला-छी मुहल्ले में है। ये प्रसिद्ध पुरुष हैं, इसलिए उनके घर के मिलने में दिक़्क़त न हुई। पहले उनके जिस घर में हम तीन दिन रह चुके थे वह अब भूकम्प-ध्वस्त हो गया है। नया मकान बच गया है, जिसके पाँचवें तल्ले पर हमारा आसन लगा। साहु के दो पुत्र श्री त्रिरत्नमान और श्री ज्ञानमान् घर पर ही थे। इधर कुछ दिनों से भाषा न समझने के कारण धर्मवर्धन को मूक-सा ही रहना पड़ता था। लेकिन इस घर में उन्हें साहु, उनके दो पुत्र और उनके भांजे—चार भोट-भाषा बोलनेवाले

मिल गये। घर में घुसते ही सिर में तड़ाक से ठोकर लगी। खोपड़ी बच गई, किन्तु नैपाल में नतसिर रहने की शिक्षा मिल गई। नैपाल के लोग बहुत लम्बे तो होते नहीं, फिर वे क्यों ऊँची छतवाले मकान बनायें? हम लोग शिकायत करेंगे—नैपालियों को ख़याल रखना चाहिए, दुनिया में सभी लोग उन्हीं की तरह साढ़े तीन ही हाथ के नहीं होते। किन्तु इसका मतलब है, इस पाँच तल्ले के मकान को घटाकर तीन तल्ले का बनाना। ख़र्च तो बराबर एक-सा ही होगा।

स्वागत-सत्कार, खाद्य-भोज्य के बाद मित्रों को कुछ चिट्ठियाँ लिखीं। दो-चार पुराने अख़बार पढ़े। हमने जिस प्रमाण वार्तिक के भाष्य वार्तिकालङ्कार के दो परिच्छेदों को स-स्क्य मठ में देखा था उसका मूल नैपाल के महा विद्वान् राजगुरु श्रीहेमराज शर्मा को मिल गया है, यह हमें पहले ही मालूम था, और हमारे नैपाल के मार्ग से लौटने का एक कारण वस्तुतः यह भी था। राजगुरु से पत्र-व्यवहार पहले से भी था। दूसरे दिन भेंट करने के लिए एक पत्र लिख भेजा। तुरन्त ही उत्तर आया—

"भारतीभवनात्
कार्तिकशुक्लैकादश्याम्

अयि प्रियमहाभाग।

मया भवत्प्रेषितं पत्रमवाप्तम्। भवदागमनवार्तां श्रुत्वा प्रमोदमनुभवति मे चेतः। श्वः प्रभातेऽतिथिसत्काराय सज्जो भविष्यति प्रेयान् चिरपरिचितो हेमराजः"

१-१२-३४

१८ नवम्बर को सबसे पहले राजगुरु से ही भेंट करने का निश्चय किया। इधर-उधर की देखने की चीज़ों में तो दो-चार ही दिनों की आवश्यकता थी, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता था कि प्रमाणवार्तिक के लिए कितना समय देना होगा। राजगुरु संस्कृत के गंभीर विद्वान् हैं। उन्होंने व्याकरण, साहित्य, न्याय, मीमांसा सभी शास्त्रों को विधिवत् अध्ययन किया है। बड़े ही विद्याव्यसनी हैं। ये सब बातें तो मुझे पहले से मालूम थीं, किन्तु इतने समीप से देखने से उनमें कितने ही और अनमोल गुण मालूम हुए। उनकी नम्रता और विनय का आप अन्दाज़ नहीं

[आचार्य सुनयश्री]

लगा सकते, जब तक समाज और राज्य में उनके स्थान को न जान जायँ। राजगुरु का वंश चिर काल से गोर्खा राजवंश का गुरु होता आया है। वंश में प्रधान गुरु (बड़े गुरु) के अधिकार पाने में अवशिष्ट व्यक्तियों में ज्येष्ठ होने का ध्यान रक्खा जाता है, उसी तरह जैसे कि तीन सरकार के पद के लिए। राजगुरु के पूज्य पिता पहले प्रधान गुरु थे। आज-कल उनके अति वृद्ध चचा हैं, लेकिन वंश में अधिक विद्वान् होने के कारण पहले से राजकुल के यही सलाहकार रहे हैं। राजगुरु ने यद्यपि बचपन से संस्कृत-भाषा का ही अध्ययन किया है और वंश-क्रम से भी अनुमान यही हो सकता है कि उनके विचार आधुनिक प्रगति से बिलकुल शून्य होंगे। लेकिन बात ऐसी नहीं है। सभी प्रकार की विद्या के लिए उनमें अपार जिज्ञासा है। उनके पास अँगरेज़ी-हिन्दी के अनेक दैनिक, साप्ताहिक, मासिक पत्र आते हैं। संस्कृत के दुर्लभ हस्तलिखित ग्रंथों के अतिरिक्त छपे ग्रंथों का एक बृहत्संग्रह तो है ही, साथ ही अनेक विषयों पर हिन्दी और अँगरेज़ी के हज़ारों ग्रंथ आपने संग्रह किये हैं। उन्हें व्यावहारिक राजनीति का बहुत सूक्ष्म ज्ञान है, यह मुझे तब मालूम हुआ जब मैंने महायुद्ध के कारणों पर उनके १९१६ में लिखे एक अप्रकाशित निबंध को सुना। तिथि और मास दे देकर

योरपीय शक्तियों के बलाबल की सुन्दर विवेचना करके उन्होंने उसे लिखा है। इन गुणों से उनका राजनैतिक प्रभाव भी अधिक होगा, यह स्पष्ट है।

पंडित जयचन्द विद्यालंकार ने एक जगह राजगुरु को सजीव विश्वकोश कहा है। वे हैं भी ऐसे ही। इस प्रकार के प्रभुत्व, विद्या और धन के होते उनसे इतनी नम्रता की आशा नहीं की जा सकती। एकान्त श्वेत कच-युक्त उनके सुनास गौर मुख पर हलकी हँसी की रेखा हर वक़्त खिंची रहती है। उनको देखते वक़्त किसी अपने पूर्वज तपोधन ऋषि की याद आये बिना नहीं रहती।

दूसरे दिन १८ नवम्बर को सवेरे एक साथी को ले कर हम उनके स्थान पर पहुँचे। ड्योढ़ीदार ने खबर की, और तुरन्त हम भीतर ले जाये गये। देखा राजगुरु पोथियों के ढेर के बीच एक क़ालीन पर बैठे हुए हैं। स्वागत के अनन्तर चिरपरिचित जैसी बातें शुरू हुईं। हमने अपनी तिब्बत में देखी पुस्तकों का ज़िक्र किया। प्रमाणवार्तिक भाष्य के लिख लाये भाग को भी दिखलाया। वार्तिक के मूल की ताम्रपोथी उन्होंने रोम के आचार्य तूची को दे दी है, यह वे हमें पहले ही लिख चुके थे। हाँ, उसकी एक नक़ल मौजूद है। तो भी मूल प्रति या उसके फोटो की अत्यन्त आवश्यकता थी। खोजने पर फोटोग्राफर के पास निगेटिव मिल गये। देखने से मालूम हुआ ४१ पन्ने मिले हैं, जिनमें कुछ पर ही अंक हैं, इसलिए कहा नहीं जाता, कुल पन्ने कितने रहे होंगे। सबसे पहले तो ज़रूरत हुई पत्रों को क्रम से लगाने की। हमारे साथी धर्मवर्धन को भोट-भाषा में सारा ही प्रमाणवार्तिक कण्ठस्थ था। हम पत्र के आरम्भ के श्लोक का अर्थ बोलते थे और वे भोट-पोथी में उसे निकाल कर रख देते थे। पहले ही दिन के काम से मालूम हो गया कि यह काम एक सप्ताह में नहीं होने का।

तब से पहली दिसम्बर तक—जब तक कि हम काठमांडू में रहे—बीच के दो-एक दिन छोड़कर हम बराबर इन्हीं पुस्तकों में व्यस्त रहे। हमारे पहुँचते ही गुरु जी और काम बन्द कर देते थे। रात के नौ नौ बज जाते थे, और हमारा काम जारी रहता था। एक ओर वृद्ध शरीर, उस पर वातरोग, किन्तु चाहे ऊपर के मन से ही सही, जब हमारी ओर से विश्राम करने के लिए कहा जाता तब वहाँ सुनवाई कहाँ होती थी।

राजगुरु के परिवार के बारे में भी सुन लीजिए। पचास वर्ष की अवस्था तक आपको कोई सन्तान न थी। आपकी पहली पत्नी का देहान्त हो गया है। दूसरी पत्नी से आपको तीन सन्तानें हैं—दो पुत्र एक कन्या। ज्येष्ठ पुत्र की आयु आठ-नौ वर्ष की है। जब मैंने ज्येष्ठ पुत्र के आने पर उन्हें पिता से शुद्ध संस्कृत में निस्संकोच बातें करते देखा तब आश्चर्य का होना स्वाभाविक ही था। मालूम हुआ, पिता की भाँति उनकी माता भी संस्कृतज्ञ हैं। इस प्रकार सन्तान की मातृभाषा संस्कृत बन गई है। पुत्र जिस प्रकार का मेधावी है, उससे बहुत आशा हो सकती है मैंने इस भाव को जब प्रकट किया तब उत्तर मिला, "पुत्रादिच्छेत्पराजयम्"।

मैंने जो कुछ यहाँ राजगुरु के बारे में लिखा है यह न दरबारी मुसाहिबों की बात है, न पूरी है। बल्कि मुसाहिबी का खयाल तथा राजगुरु के संकोच का विचार मुझे खुलकर लिखने की आज्ञा नहीं देता। सच्चे और सादे विद्वानों को देखकर हृदय में अत्यधिक श्रद्धा हो जाना मेरे स्वभाव में है। योरप या भारत जहाँ कहीं भी ऐसे महापुरुष मुझे मिले, सभी जगह मेरा हृदय सम्मान के लिए उनके सामने झुक गया। राजगुरु हेमराज शर्मा नेपाल के रत्न हैं। मैंने कहा—आपके ऐसा अद्भुत शास्त्र-राशि का धनी हो, और नैपाल जैसी अनमोल संस्कृत-ग्रन्थों की खाने हों, फिर भी यहाँ से कोई संस्कृत-ग्रन्थमाला न निकले, यह बड़े खेद की बात है। नैपाल महाराज का ध्यान इधर न जाना नैपाल की शोभा की बात नहीं है। भारत के सारे हिन्दू जिस नैपाल की ओर अपार श्रद्धा से देखें वह इस विषय में मैसूर और बड़ौदा ही नहीं, ट्रावन्कोर और काश्मीर की भी पंक्ति में न आ सके, यह कितने खेद की बात है।

पिछले भूकम्प ने नैपाल को बहुत हानि पहुँचाई है, यह पाठक अखबारों में पढ़ चुके हैं। यद्यपि मकानों के बनवाने आदि में सरकार ने बड़ी सहायता की है (इस

विभाग के अध्यक्ष भी हमारे राजगुरु ही हैं), तो भी शहर के शहर का इतने थोड़े समय में फिर से बना डालना आसान काम नहीं है। इसी लिए अभी कितनी ही जगह फटी-टूटी दीवारें और खँडहर पाये जाते हैं। जहाँ भूकम्प ने काठमांडू, पाटन और भातगाँव के राजमहलों को बहुत हानि पहुँचाई है, कितने ही ऐतिहासिक मंदिरों को ध्वस्त किया है, वहाँ उसने और कई क्रूर कर्म भी किये हैं। एक घटना राजगुरु खुद सुना रहे थे। पाटन में शहर के छोर पर एक बौद्ध-विहार है। नाम तो कुछ और है, किन्तु ग्यारहवीं शताब्दी में उसमें एक प्रकांड पंडित भिक्षु सुनयश्री रहते थे, इसी लिए उक्त विहार सुनयश्री-विहार के नाम से भी परिचित है। इस मंदिर के ऊपरी तल के भनसार (भाण्डशाला) में सत्तर-पचहत्तर के क़रीब अतिपुरातन तालपत्र-ग्रन्थ थे। राजगुरु ने पहले कितनी ही बार उनको देखने की कोशिश की थी, किन्तु विहार-वाले घरबारी भिक्षु उस पवित्र निधि को दिखाने में धार्मिक बाधा पेश करते थे। पिछले भूकम्प में वह विहार एक-दम धराशायी हो गया। नैपाल के सभी पुराने विहारों में अब घरबारी भिक्षु या वज्राचार्यों के परिवार रहा करते हैं। विहार के गिर जाने पर लोगों ने सरकार की ओर से मिले चालीस-पचास आदमियों की सहायता से अपने घरों की चीज़ें निकाल लीं, किन्तु उस पंचायती मन्दिर की चीज़ें उसी में रहने दी गईं। भादों महीने में भूकम्प-सहायता के काम से एक दिन राजगुरु उधर से निकले। उन्हें सुनयश्री-विहार की याद हो आई। उन्होंने पूछा—"यहाँ तो एक विहार था, जिसमें बहुत-सी तालपत्र की पुस्तकें थीं।" "यह क्या गिरा पड़ा है?"

"और तालपत्र की पोथियाँ कहाँ हैं?"

"इसी में दबी पड़ी हैं।"

"गर्मी और सारी बरसात भर!!"

इन बातों को कहते वक़्त मैं देख रहा था, राजगुरु के चेहरे पर अन्तर्वेदना की साफ़ छाप थी। उस दिन कैसी बीती होगी, इसके लिए कह रहे थे—मैं अपने भीतर से रो पड़ा। इन्हीं पुस्तकों के लिए दुर्गम हिमालय के फाँदने-वाले मुझ जैसे व्यक्ति की भी समवेदना रो पड़ी। वे बोले—फिर मैंने तुरन्त जहाँ-तहाँ से पचीस-तीस आदमी बुलवाये। निर्दिष्ट स्थान को खुदवाना शुरू किया। दो-तीन घंटे के भीतर ही मटके के चूर में पुस्तकें दिखाई पड़ीं। पहले ऊपर के लकड़ी के फट्टे दृष्टिगोचर हुए। काँपते हुए हाथ से उन्हें उठाया। फट्टों के भीतर हाथ डालने पर कीचड़ निकल आई! मेरे मन की अवस्था को क्या पूछ रहे हैं? दिल मसोस कर रह गया। लोगों को दो-चार भली-बुरी कहीं। देखा, तो उनकी संख्या डेढ़ सौ के क़रीब थी, अर्थात् वहाँ ज़रूर सत्तर के क़रीब तालपोथियाँ रही होंगी।

नैपाल के सभी विहारों में ऐसे पंचायती मंदिर और भनसार हैं। न जाने कितनों के साथ ऐसी गुज़री होगी।

२३ नवम्बर को हम पाटन गये सुनयश्री-विहार की समाधि देखी। मंदिर के गिरने की जगह कितने ही खंडित अर्धखंडित काठ की सुन्दर मूर्तियाँ पड़ी थीं, जिन्होंने सारी बरसात यहीं आसमान के नीचे काटी थी। कुछ मूर्तियाँ एक छोटे-से खपड़ैल के नीचे रक्खी गई हैं। इन्हीं में आचार्य सुनयश्री की मिट्टी की मूर्ति भी है। उसका ऊपर का ही धड़ बचा हुआ है। मूर्ति बहुत ही जर्जर-अवस्था में है। मैंने एक फोटो लिया, जिसे देखकर श्रद्धेय जायसवाल ने कहा—अद्भुत है। यदि कुछ यत्न किया जाय तो सुनयश्री की सुन्दर प्रतिमा सुरक्षित की जा सकती है, किन्तु इसकी सम्भावना नहीं, हाँ यदि नैपाल-सरकार सुध ले तो दूसरी बात है।

भूकम्प से सबसे अधिक क्षति भातगाँव की हुई है। दूसरा नंबर पाटन का है। उन सँकरी गलियों में गिरते मकानों के बीच आदमी क्या सोचता रहा होगा? अथवा वहाँ सोचने भर की फ़ुर्सत कहाँ रही होगी, सिवा उनके जिन्हें घायल होकर घुल घुल कर मरना या अंग-भंग होकर जीना बदा था।

नैपाल में अब की बार मैंने प्राचीन हिन्दी-ग्रंथों की तलाश की। राजगुरु के पास अपना भी प्राचीन ग्रंथों का एक अच्छा संग्रह है। उसमें १० वीं शताब्दी के सिद्ध तिल्लोपा का एक दोहा-कोश मिला। ग्रंथ खंडित है। सरकारी पुस्तकालय में भी एक दोहा-कोश सरहपा का है। यद्यपि

वह बँगला अक्षरों में छप चुका है, तो भी हिन्दी-संस्करण के लिए हमें फिर आवश्यकता होगी, इसी लिए उसका भी फोटो ले लिया। इसके लिए शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर जनरल मृगेन्द्र शम्सेर एम० ए० ने बड़ी प्रसन्नता-पूर्वक अनुज्ञा दे दी। आप राना-घराने के सर्वप्रथम एम० ए० हैं।

पुस्तकों के बारे में पूछ-तांछ करते वक़्त मालूम हुआ था कि जेनरल केसर शम्सेर के पास भी पाँच सौ के क़रीब हस्तलिखित ग्रंथ हैं। २८ नवम्बर को बारह बजे केसर-महल गये। दरबार अप-टु-डेट अँगरेज़ी ढंग का तथा सुन्दर उद्यान और हरे मैदान से सजा है। हाल में जाकर बैठे। आशा थी, कोई हैटेड-सूटेड साहब आयेगा। देखा, सीढ़ी से एक पतली-दुबली मूर्ति घुटनों तक की नैपाली धोती, दुलाई, दो पैसही टोपी और फटफटहा जूता पहने उतर रही है। आदमी ने आकर बतला दिया, नहीं तो सचमुच ही मैं पहचान न सकता। जेनरल केसर शम्सेर के दो रूप हैं, एक राजनैतिक, जिसकी योग्यता का प्रमाण तो यही है कि वे नैपाल-सरकार के परराष्ट्र-सचिव हैं। और दूसरा यही जिसे मैंने देखा—भारतीय पुरातत्त्व, साहित्य, संस्कृति का प्रेम और गंभीर अध्ययन। नीचे जहाँ हम बैठे थे, अँगरेज़ी पुस्तकों से कितनी ही आल्मारियाँ भरी थीं। उनमें कितनी ही सबसे नई रचनायें थीं। मालूम होता है, जीवनियों के आप ख़ास प्रेमी हैं। वहाँ योरप—विशेष कर इँग्लेंड—के सैकड़ों राजनीतिज्ञों और सैनिकों की स्वरचित-पररचित जीवनियाँ हैं। थोड़ी देर बात हुई। हमने हस्तलिखित पुस्तकों की सूची देखकर कुछ पुस्तकें देखनी चाहीं, तुरन्त आ गईं। एक को फोटो लेने के लिए अपने साथ लिया (इस तालपत्र की पोथी में दसवीं सदी के अन्त के पंडितसिद्ध मैत्रीपाद की संस्कृत में जीवनी है)। फिर जेनरल साहब ने अपने ऊपर का पुस्तकालय देखने के लिए कहा। आल्मारियों की क़तार की क़तार है। दीवारों पर कितने ही सुन्दर चित्र लटके हैं। बैठक में कितने ही भारतीय चित्रकारों के बनाये मूल चित्र हैं। फिर वे अपने स्वाध्याय-गृह में ले जाने लगे। द्वार को उन्होंने नैपाली कारीगरों से ख़ास अपनी हिदायत के अनुसार बनवाया है। एक कपाट पर कृष्ण की मूर्ति उत्कीर्ण है; और दूसरे पर बुद्ध की। कहने लगे—मैं तो दोनों में एक समान भक्ति रखता हूँ। मैंने कहा—दोनों ही हिन्दू महापुरुष हैं। हमारे यहाँ बहुत लोग भी—"हिन्दू और बौद्ध दोनों भाई" कहने की ग़लती करते हैं, किन्तु नैपाल में ऐसी ग़लती कोई नहीं कर सकता; क्योंकि वहाँ लोग जानते हैं कि हिन्दू-शब्द ब्राह्मणधर्मियों और बौद्धों दोनों के साझे का है। स्वाध्यायगृह में देखा—भूमि पर एक सुखासन बिछा हुआ है, और इधर-उधर बहुत-सी पुस्तकें रक्खी हुई हैं। बोले—कुर्सी की अपेक्षा इस आसन पर बैठकर अध्ययन करने में मुझे अधिक अनुकूलता मालूम होती है।

जब आप अपने संग्रह की मूर्तियों को दिखला रहे थे तब मैंने कहा—गत भूकम्प से खण्डित मूर्तियाँ जगह जगह धूप और वर्षा खा रही हैं। उनमें सैकड़ों ऐसी हैं जिन्हें रखकर कोई भी म्यूज़ियम अभिमान कर सकता है। अच्छा हो यदि आप उनकी ओर ध्यान दें। उन्होंने बतलाया कि मैंने अपने यहाँ के म्यूज़ियम के लिए कुछ संग्रह कराई हैं।

चलते वक़्त उन्होंने स्वयं अपना फोटो दिया, किन्तु मैं तो डिप्लोमेट जेनरल केसर शम्सेर की जगह स्वाध्यायशील केसर शम्सेर को चाहता था। अपने छोटे कैमरे से फोटो तो खींचा, किन्तु सफलता नहीं हुई।

नैपाल में क्या दो हफ़्ते में हमारे ऐसों का काम बननेवाला है? उसके लिए तो कम से कम चार मास चाहिए। लेकिन उधर हमें जल्दी पड़ी हुई थी। विनयपिटक और दूसरी चार-पाँच पुस्तकों का छपवाना, लुम्बिनी-जेतवन आदि की यात्रा, और कितने ही मित्रों के आग्रह का पालन, और इन सबके लिए मार्च तक सिर्फ़ चार मास!

रास्ते के लिए राहदानी के अतिरिक्त तिब्बत से साथ लाई मूर्तियाँ और तालपोथियों के लिए एक ख़ास अनुज्ञा-पत्र की आवश्यकता थी। यह काम तो जेनरल केसर शम्सेर ने कर दिया। फिर हमारे साथ चलनेवाले थे हमारे गृहपति साहु धर्ममान् के ज्येष्ठ पुत्र साहु त्रिरत्नमान्। उनकी यात्रा के लिए शुभ सायत पड़ रही थी दो दिसम्बर को ग्यारह बजे दिन को। हमारे लिए पूछी गई तब हमने कह दिया—भली सायत हो या बुरी हमारी यात्रा तो बाईस वर्ष पूर्व शुरू हो गई है।

३० नवम्बर को ज्वर आया। समझा पहले की भाँति पाँच-सात दिन पर आनेवाला होगा। दूसरे दिन रात को ख़ूब रहा। दो दिसम्बर को राजगुरु से विदा माँगने गये। कमज़ोरी का ख़याल कर उन्होंने दो घोड़े रास्ते के लिए दे दिये थे। ११ बजे उन्हीं के मोटर से पहाड़ की जड़ में थानकोट पहुँचे। शाम को फिर ज्वर आया, और पहले से भी कड़ा। इसी ज्वर और चार दिन के उपवास के साथ ५ दिसम्बर को पटना पहुँचे। वज़न चालीस पौंड घट गया था।

—

सुस्मृति

श्रीमती सुन्दरकुमारी

(१)

मिलन था या सखि ! तरसाना।
मुझे याद है मनभावन का, चुपके चुपके आना।
यौवन की मुकुलित ऊषा में, प्रेम-सुधा भर जाना॥
प्यार अधरों पर छलकाना। मिलन था०॥

(२)

मधु चुम्बन का मद पी, मेरी आँखों का सो जाना।
सुखद स्वप्न के उपवन में, जीवनधन का खो जाना॥
ढूँढ़ना मेरा थक जाना। मिलन था०॥

(३)

तारों का अवसान मलिन-मुख निशानाथ का जाना।
दिनकर का आना, नलिनी का नैन मूँद शर्माना॥
कमल-कलियों का मुसकाना। मिलन था०॥

(४)

कटु वियोग के आघातों से, आँखों का खुल जाना।
मृदु मधु कसक-भरी टीसों का, तन तन में भर जाना॥
बिलखना मेरा घबराना। मिलन था०॥

(५)

सजनि ! कौन थे वे निर्मोही, नहीं हृदय पहचाना।
छिप उर बीच रुलाना सीखा, किन्तु न प्रेम निभाना॥
जानते क्या ? बस भटकाना। मिलन था०॥
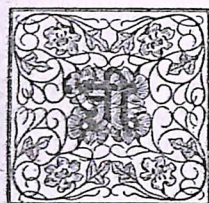
वन का मेरा मुख्य उद्देश यह रहा है कि इस देश की पुरानी विचार-परम्परा में मनुष्य के लिए जो स्थायी बहुमूल्य अंश मुझे मालूम पड़े उसे आधुनिक विचार-धारा के अनुकूल प्रचलित भाषा में जनता के सामने रक्खूँ।...मेरा हृदय इसी में है।' ये शब्द श्रद्धेय श्री भगवानदास जी के हैं। अपने जीवन के इस 'मुख्य उद्देश' में उन्होंने कहाँ तक सफलता पाई है, यह तो वही कह सकते हैं जिन्होंने उनके ग्रन्थ पढ़े हैं। किन्तु इस ओर यत्न वे अपनी युवावस्था के आरम्भिक दिनों से ही कर रहे हैं और आज लगभग ७० वर्ष की अवस्था तक पहुँच कर भी उस ओर से तनिक भी विमुख नहीं हुए हैं। आज भी 'इस प्रकार के कुछ साहित्यिक कार्य जिनकी योजना उन्होंने की है और जिनका कुछ अंश वे कर भी चुके हैं, समाप्त करने को अभी बाक़ी हैं।' किन्तु खेद की बात यह है कि जिस विद्वान् ने अपना सारा जीवन सिर्फ़ इसी के लिए उत्सर्ग कर दिया कि पुराने छिपे हुए अनमोल ज्ञान-विज्ञान को लोग समझें और जिसके परिश्रम की क़द्र उचित रीति से पाश्चात्य लोग कर रहे हैं उसे अपने देशवासियों से कुछ भी प्रोत्साहन प्राप्त नहीं होता। इसका आभास हमें कभी कभी उनके लेखों और वक्तव्यों से मिल जाया करता है। "यदि मैं वहाँ (एसेम्बली में) गया तो मैं यही यत्न कर सकता हूँ—और सम्भवतः यह यत्न निष्फल होगा—कि अपने देश के पुरातन परम्परागत विचारों का नये शब्दों में जो इस समय प्रचलित हो रहे हैं और जो अच्छी तरह समझे जा सकते हैं, प्रचार करूँ जिससे वह वायुमण्डल स्वच्छ और सुगन्धित हो सके।"..."मेरी कथा 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' की है, मैं अपनी बात न पुराणवादियों को समझा सका हूँ, न नववादियों को—पुराने शब्दों के प्रयोग से ही पुराणवादी समझ सकते हैं, पर मैं उन पुराने शब्दों से भी 'नये' बाँध देता हूँ......। दूसरी ओर नववादी लोग नये शब्दों के प्रयोग से बात समझ सकते हैं। मैं...नये शब्दों के साथ पुराने शब्दों को बाँध देता हूँ, इस हेतु नववादी भी मेरी बात को घृणा की दृष्टि से देखते हैं।" उनके जीवन की यह एक ट्रेजेडी (दुर्घटना) है। किन्तु अब अधिकाधिक लोग उनकी ओर आकृष्ट हो रहे हैं और आशा है, वह समय शीघ्र ही आवेगा जब लोग उन्हें उचित रूप से समझने लगेंगे।

तप और तेज से दमकता हुआ गौर मुखमण्डल, सदा सभी पर शान्ति तथा आशीर्वाद की वर्षा करनेवाली आँखें, सफ़ेद लम्बी दाढ़ी और संयमी

व्यायामशील यौवन का द्योतक सुगठित शरीर—श्री भगवानदास जी का स्मरण होते ही ये बातें आँखों के सामने आ जाती हैं। ६८ साल की अवस्था में भी उनकी चौड़ी हड्डियाँ आज-कल के नवयुवकों को लजा देती हैं। उनके विचारानुसार प्रत्येक नवयुवक का पहला काम होना चाहिए शरीर-सम्पत्ति का उपार्जन करना। यह एक ऐसी देन है जो प्रत्येक मनुष्य को मिलती है, पर जिसे बढ़ाना या घटाना उस व्यक्ति पर ही निर्भर रहता है। किसी हृष्ट-पुष्ट जानवर को भी देखने से मन प्रसन्न हो जाता है; फिर सबल स्वस्थ मनुष्य की तो बात ही क्या है!

सबल और विशालकाय होते हुए भी उनके सामने जाने पर ज़रा भी डर नहीं लगता, वरन यही मालूम पड़ता है कि हम पर सतत आशीर्वाद की वर्षा हो रही है। "जीवन में अब तो मुझे यही कार्य अभीष्ट मालूम पड़ता है कि नये युग को पुराने विचार समझाने का कार्य जारी रक्खूँ और इस शान्तिमय स्थान से सदा सबकी भलाई की कामना करता रहूँ।" यह 'कामना' उनमें इतनी प्रबल है कि कभी यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि उनके द्वारा किसी की हानि हो सकती है। उनकी पुस्तकों में सर्वत्र इस शुभ कामना की झलक मिलती है। जब बनारस में बिजली से बहुत प्राण-हानि होने लगी तब उनका एक पत्र प्रकाशित हुआ था, जिसमें उन्होंने लिखा था—"......(बिजली-कम्पनी का गुमाश्ता) यह प्रलोभन देना चाहता था कि (म्युनिसिपैलिटी के) मेम्बर लोग बनारस के लिए जो कारख़ाना खोला जाय, शेयर ख़रीद लें तो अच्छा 'डिविडेंड' पावेंगे। मैंने उसको समझाया कि बजाय मेम्बरों को 'डिविडेंड' का प्रलोभन देने के, सारे शहर को बिजली कम से कम दाम पर देने का प्रलोभन दो, और इस बात का जिम्मा लो कि किसी की जान की जोखिम न होगी।"

नम्रता उनमें इतनी है कि वे कदाचित् ही विधि-क्रिया का प्रयोग करते हैं। अधिकतर परोक्ष रूप से ही

श्रद्धेय बाबू श्री भगवानदास जी उच्च कोटि के दार्शनिक विद्वान् ही नहीं हैं एक सफल गृहस्थ और त्यागी देशभक्त भी हैं। इस लेख के लेखक महोदय को बाबू साहब के व्यक्तिगत स्नेह और परिचय का सौभाग्य प्राप्त है अपने उसी अनुभव से उन्होंने बाबू साहब के जीवन की कुछ छोटी मोटी बातें यहाँ उपस्थित की हैं।

कुछ करने को कहते हैं। एक बार जाड़े के दिनों में एक लड़का जिसे वे बहुत अधिक प्यार करते हैं, बीमार पड़ा। पत्र-व्यवहार के सिलसिले में उसने लिखा कि वह स्वस्थ होने के बाद ही तैरने का अभ्यास शुरू करना चाहता है। उनको यह बात जँची नहीं। उन्होंने उसे लिखा "......तैरने का अभ्यास मुझे बिलकुल नहीं है। पर यदि जलाशय स्वच्छ हो, जीव-जन्तु का भय न हो, और ऋतु अनुकूल हो, बहुत शीत न हो, तो प्रायः तैरने की कसरत अच्छी है। गर्मी के ही दिनों में प्रायः काशी में अथवा चुनार में लोग तैरते देख पड़ते हैं।..."

अध्ययन-अध्यापन के लिए ही उन्होंने सरकारी ओहदा छोड़ दिया था और सेन्ट्रल हिन्दू-कालेज (अब हिन्दू-विश्वविद्यालय) को अपनी सेवायें अर्पित की थीं। उस कालेज के बनाने और चलाने में उनका कितना हाथ रहा है, यह बताने की जगह यह नहीं है। यद्यपि वे क्रियात्मक-रूप से अध्यापन-कार्य से अब अलग हो गये हैं, फिर भी पुस्तकों, लेखों और व्याख्यानों के द्वारा अभी उन्होंने उसे जारी रक्खा है। पढ़ने की और जानने की इच्छा तो उनमें इतनी प्रबल रूप से वर्तमान है कि हाल में एक पुस्तक को देखकर वे कहने लगे—"रोज़ रोज़ इतनी अच्छी अच्छी किताबें निकलती जाती हैं कि हम पुराने लोगों

को यह अफ़सोस ही रह जायगा कि इन्हें पढ़ न सके।" ऐसे ही एक दूसरी किताब को देखकर उन्होंने कहा था—"जी चाहता है इसे पी जायँ।"

श्रद्धेय श्री भगवानदास जी केवल शुष्क विद्वान् तथा तपस्वी ही नहीं हैं, वे एक सफल गृहस्थ भी हैं। उनका पारिवारिक जीवन मधुरता से ओत-प्रोत है। यद्यपि उन्होंने वानप्रस्थ ले लिया है और तरह तरह की झंझटों से बचने के लिए अब चुनार में ही रहते हैं, फिर भी बराबर बनारस आया करते हैं। वैयक्तिक विकास के लिए उन्होंने अपने बच्चों को बहुत काफ़ी स्वतन्त्रता दे रक्खी है और इसका फल भी बहुत अच्छा दिखाई देता है। परिवार के अन्यान्य व्यक्तियों के साथ राजनैतिक अथवा धार्मिक मतभेदों के होते हुए भी इनके आपस के प्रेम में तनिक भी फ़र्क़ नहीं पड़ता। एक पत्र में उन्होंने लिखा था—"...मुझे इसका दुःख रहा है कि प्रकाश अपना प्रायः सारा समय सार्वजनिक कार्य में देते रहे हैं, जब उनके घर की फ़िक्र करने के लिए कोई दूसरा नहीं है। जब जब वे जेल गये हैं तब तब बार बार मुझे चुनार से काशी जाना पड़ा, जिससे उनके बच्चों की देख-रेख कर सकूँ, जिनकी माता, जैसा आप जानते हैं, उन्हें बहुत छोटी उम्र में छोड़कर स्वर्गलोक को चली गईं। जब उन्होंने किसी प्रकार से मेरी बात को नहीं माना तब उनका मेरा समझौता हुआ कि उनके सार्वजनिक कार्य का कुछ बोझ मैं भी उठाऊँ, यद्यपि मैं बिलकुल थक गया था, जिससे वे अपने खण्डित परिवार की अधिक फ़िक्र कर सकें। ऐसी अवस्था में मैं आपसे स्पष्ट-रूप से स्वीकार करता हूँ कि मित्रों के दबाव के अतिरिक्त मेरे मन में नामजदगी के लिए स्वीकृति देते समय यह भाव भी मौजूद था कि प्रकाश इससे अलग रह सकेंगे।..."इस पत्र से स्पष्ट पता चल जाता है कि वे अपने बच्चों पर कितना प्रेम रखते हैं और उनकी कितनी फ़िक्र करते हैं।

उनमें दार्शनिकता के साथ ही साथ हास्य का भी उचित समावेश है। वे सदा हँसते-हँसाते रहते हैं। और उनका यह गुण उनके बच्चों में भी पूर्णरूप से पाया जाता है।

एक बार उनकी धर्मपत्नी जी ने दोनों पौत्रों से पूछा—"तुम लोग स्कूल से अकेले आते हो या किसी नौकर के साथ?" "जी हम दोनों साथ ही आते हैं।" एक पौत्र ने जवाब दिया। "तब दोनों अकेले तो नहीं आते..."। दादी ने फिर प्रश्न करना चाहा। श्रद्धेय भगवानदास जी भी वहीं थे। उन्होंने तुरन्त कहा—"वाह, आपने यह ख़ूब तर्क निकाला! दो आदमी अकेले!" सभी हँसने लगे।

बुझा हुआ दीपक

लेखक, श्रीयुत जगदम्बाप्रसाद मिश्र 'हितैषी'

नव ज्योति पै शैशव-सान्ध्य की भूल गया कि यहाँ पराधीन हूँ मैं।
हँस के कटी यौवन-रात तो वृद्धता-प्रात रहा उदासीन हूँ मैं॥
दिन देख लिया निरवान का भी जब प्रान-प्रदीप्ति से हीन हूँ मैं।
सन्मार्ग कभी न सुझा सका जो वो बुझा हुआ दीपक दीन हूँ मैं॥

विधि बालक ने जड़ को किया चेतन जीवन-ज्योति जगा के जिला दिया।
तन-तूल से व्यक्तता दे यों अव्यक्त को आयु-पीयूष का प्याला पिला दिया॥
फिर खेल प्रकाश से नाश की फूँक से दे के विदा उर मेरा हिला दिया।
जिस धूलि से रूप खिला दिया था उस धूलि ही में फिर हाय! मिला दिया॥

विश्व-शान्ति

लेखक, प्रोफ़ेसर श्री लौटूसिंह जी गौतम, काव्यतीर्थ,
एम० ए०, एल-टी० एम० आर० ए० एस०

प्रोफ़ेसर लौटूसिंह गौतम इतिहास के पण्डित हैं। विश्व-शान्ति के विषय पर इस लेख में आपने जो विचार प्रकट किये हैं वे ऐतिहासिक आधार पर आश्रित हैं। अतएव वे मनन करने के योग्य हैं। आपने इस विचार-पूर्ण लेख-द्वारा वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर खासा प्रकाश डाला है।

ज-कल सारा संसार एक भयंकर स्थिति में है। जहाँ देखिए वहीं बेकारी की समस्या भीषणरूप धारण किये हुए है। पूँजीपति और श्रमजीवियों की कशमकश हर जगह चल रही है। आशा यह थी कि महायुद्ध के पश्चात् भिन्न भिन्न दलों का समझौता हो जायगा और संसार सुख की नींद सो सकेगा, किन्तु वह आशा निराशा में परिणत हुई, और सारा विश्व भयंकर दुःस्वप्न के पंजे में फड़फड़ा रहा है। सभी लोग कहते हैं कि शान्ति होनी चाहिए आपस के समझौते से एवं निःशस्त्रीकरण से। किन्तु व्याधि में कमी होती दिखाई नहीं देती। मालूम यही होता है कि सारा विश्व एक भयंकर महासमुद्र के किनारे बेख़बर सो रहा है और सम्भवतः उसकी दुर्दमनीय लहरों के नीचे जा छिपेगा, सारी सभ्यता और संस्कृति का वहीं लोप हो जायगा।

आज संसार की जो यह भीषण स्थिति है उसका प्रधान कारण योरप की राजनैतिक स्वार्थ-परता और अज्ञानता है। योरप सदैव सशंक रहा करता है—आज-कल से नहीं, सोलहवीं शताब्दी से ही। अच्छा इसका विवेचन सुन लीजिए। सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी में शक्ति-सन्तुलन-सिद्धान्त के लिए भीषण रक्तपात हुआ है। उस शताब्दी में योरप के सबसे बड़े सम्राट् पञ्चम चार्ल्स की जर्मनीवाली राजनीति योरप को बहुत अखरी और उसके विरुद्ध एक बहुत बड़ा सफल आन्दोलन हुआ। उस युद्ध के अन्तस्तल में आर्थिक समस्या थी, किन्तु राजनैतिक स्वार्थ की प्रबलता ने योरप की भूमि को रुधिर-स्रावित किया था। धर्म का ढकोसला केवल दिखाने के लिए था। उस बड़े युद्ध के पश्चात् योरप की स्वतन्त्रता बच गई। सत्रहवीं शताब्दी में फ़्रांस के चौदहवें लुई ने भी अपना प्रभुत्व स्थापित करने में कोई कसर न उठा रक्खी। किन्तु योरप उसकी बढ़ती शक्ति को न सह सका, इसलिए राजनैतिक क्षेत्र में चौदहवें लुई के पश्चात् फ़्रांस नीचे खिसकने लगा और इँग्लैंड के भाग्य का सूर्योदय हुआ। फ़्रांस और इँग्लैंड के बहुत बड़े १६८८ से १८१५ तक वाले युद्ध में इँग्लैंड विजयी रहा। १९ वीं शताब्दी में जर्मनी का सुदिन लौटा। बिस्मार्क जैसे राजनीतिज्ञ के नेतृत्व में 'प्रशा' बहुत वेग से उन्नति के मैदान में बढ़ गया। पहले युद्ध में उसने आस्ट्रिया को पददलित किया और दूसरे युद्ध में फ़्रांस जैसे देश को नीचा दिखाया। अलसस और लोरेन प्रान्तों को ले लिया। फ़्रांस की बड़ी बेइज़्ज़ती हुई। १८७१ से १९१४ तक जर्मनी में इतनी स्फूर्ति आ गई कि सारा योरप उसकी उन्नति के आगे दंग रह गया। जर्मनी ने ऐसी नीति का अवलम्बन किया कि विश्व-शान्ति में बड़ा गड़बड़ मचा। महा-

युद्ध हुआ। संसार का फिर से पारस्परिक लेखा-जोखा चलने लगा। महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी कठिन दुरवस्था में पड़ गया। उसके बहुत लोग बेकार हो गये। जर्मनी को बहुत हर्जाना देना पड़ा। जो दशा महायुद्ध के पहले थी, इन १५ वर्षों के पश्चात् क़रीब क़रीब वही दशा आज फिर उपस्थित है।

बिस्मार्क ने सारे जर्मनी की एकता का स्वप्न कार्य-रूप में परिणत किया था। 'पवित्र रोमीय साम्राज्य' ने जो बोया था और मेटरनिच ने जिसे पानी दिया था उस फ़सल को बिस्मार्क ने काटा। आस्ट्रिया में तो राष्ट्रीय भाव थे ही नहीं, हाँ, सारे जर्मनों की एकता का भाव उसके अन्तस्तल में जीता-जागता सुरक्षित था। इसका पूरा लाभ बिस्मार्क ने उठाया। जैसा ऊपर कहा गया है, उसने पहले आस्ट्रिया को पददलित कर पीछे फ़्रांस को हटाया और सारे संसार में अपनी धाक जमाने का निश्चय कर लिया।

त्रिशक्ति-सन्धि—पहले तो जर्मनी ने रूस और आस्ट्रिया को मिलाकर इन तीन राज्यों की एक सन्धि की। किन्तु बाल्कन प्रदेशों में आस्ट्रिया और रूस दोनों के हितों का संघर्ष था, अतः जर्मनी रूस तथा आस्ट्रिया दोनों को अपने साथ नहीं रख सकता था। इस कारण वह सन्धि बेकार हुई। तब १८८३ में जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली की सन्धि हुई। इससे फ़्रांस बेतरह परेशान हुआ। इँग्लेंड साधारण देश नहीं है जो फूट से झगड़े में पड़ता। किन्तु रूस ने देखा कि जर्मनी पूर्व की ओर पाँव फैलायेगा और आस्ट्रिया बाल्कन देशों पर अपना पञ्जा मारेगा, अतः आत्म-रक्षा के लिए उसको फ़्रांस से सन्धि करनी आवश्यक थी। सन् १८९२ में फ़्रांस और रूस की सन्धि हो गई। १९०३ में इँग्लेंड ने भी अपना नैतिक बल फ़्रांस और रूस के पलड़े पर रखने का वचन दिया। इस प्रकार योरप में तनातनी बढ़ी। सब लोग हिंसा के भावों को छिपाते रहे। जर्मनी यह समझता था कि फ़्रांस और रूस का सहायक इँग्लेंड है, अतः बहुत सोच-विचारकर चलना चाहिए। किन्तु उसने यह कभी न समझा था कि अमरीका का संयुक्त-राज्य भी इन लोगों के पक्ष का समर्थन करेगा। १८९८ में रूस के ज़ार ने हेग में एक बड़ी राजनैतिक सभा का आयोजन किया, जिसमें 'निःशस्त्रीकरण' पर ज़ोर दिया गया। किन्तु उसके अनुसार कोई कार्य नहीं हुआ। आस्ट्रिया के राजकुमार की हत्या ३० जून १९१४ को सेराजेवो में हुई, जिसमें सर्बिया की सरकार का हाथ समझा गया। सर्बिया स्लाव-जाति का देश था, अतः रूस उसका साथ देने लगा और आस्ट्रिया का पक्ष जर्मनी ने लिया। दोनों ओर से रणचण्डी का आवाहन हुआ। अनन्त परेशानी और नरमेध के पश्चात् १९१८ में इस भीषण काण्ड का अन्त हुआ। १९१९ में विजेताओं ने विजय-गर्व में आकर पराजित देशों को—जर्मनी, आस्ट्रिया, बलगेरिया और तुर्की को कुचल डालना चाहा। किन्तु मानवीय इच्छा की पूर्ति होना विश्व भर की दैवी इच्छा पर निर्भर रहा करती है। तुर्की के वीर कमालपाशा ने अपने देश में नई जीवन-ज्योति जगा दी और १९२३ में लासेन की सन्धि के अनुसार बहुत-सा भाग तुर्की को मिल गया। अब १५ वर्षों के पश्चात् एक आस्ट्रिया देश-निवासी 'हर हिटलर' ने नाजीदल-द्वारा सारे जर्मनी को फिर उठाना चाहा है। गत वर्ष उसे राष्ट्र-संघ से अलग हो जाना पड़ा, क्योंकि १९१९ वाला 'राष्ट्र-संघ' [illegible] १८१५ वाले 'होली अलायंस' का दूसरा संस्करण [illegible] पड़ा। तब से आज तक हर हिटलर संसार के [illegible] पर है। फ़्रांस की नींद हराम है, वह जर्मनी को [illegible] सशक्त नहीं देखना चाहता। यह तो उसकी पुरानी नीति है। रिचलू से लेकर प्रथम नेपोलियन ने इसी नीति का पालन किया। तृतीय नेपोलियन [illegible] इस नीति से थोड़ा ही असावधान हुआ उसको इसका कटु फल मिल गया, अतः फ़्रांस कभी हर हिटलर के राष्ट्रीय भावों को अच्छे दृष्टि-कोण से नहीं देख सकेगा।

इधर घटनाओं के देखने से विदित होता है कि जापान भी राष्ट्र-संघ से अलग हो गया है। इँग्लेंड

उससे मैत्री रखना चाहता है, क्योंकि इँग्लेंड के साम्राज्य है और यदि जापान रुष्ट हो गया तो उसका पूर्व का राज्य और भारतवर्ष ख़तरे में पड़ जायगा। अभी तक रूस के षड्यन्त्र से भी उसे छुट्टी नहीं मिली है। अतः इँग्लेंड अपने स्वार्थ की रक्षा के लिए जापान का साथ देगा। इसी लिए मंचूरिया में जापान का अन्याय देखकर भी चतुर नीतिज्ञ सर जान साइमन ने पार्लियामेंट में जापान की मित्रता और ऐंग्लो-जापान मित्रता में विश्वास होने की घोषणा की थी। रूस जापान के इस अन्याय को नहीं सह सकता। इधर अमेरिका का संयुक्त-राज्य भी जापान का मित्र नहीं है। इस प्रकार एक ओर जापान और रूस का संघर्ष बढ़ रहा है और दूसरी ओर जर्मनी का जाग जाना फ़्रांस के लिए भयंकर दुःस्वप्न हो रहा है। जब वेनिस में 'अभी हाल में' मुसोलिनी और हिटलर मिले थे तब कुछ गुप्त बातें हुई थीं, यहाँ तक कि वहाँ कोई दुभाषिया भी न था। इस बात को लेकर योरपीय पत्रों ने ख़ासी होली मचाई थी। अमरीका का संयुक्त-राज्य योरप के इस मामले से अभी अलग है, किन्तु अलग नहीं रह सकता। संयुक्त-राज्य को यह शिकायत है कि योरपीयों ने उड्रो विलसन जैसे प्रेसीडेन्ट की सज्जनता और सहृदयता का दुरुपयोग किया है, अतः इन कुचक्रियों से संयुक्त-राज्य जितना दूर रहे, ठीक है। इधर एशिया की बढ़ती हुई शक्ति जापान और उधर हिटलर का जर्मनी, मुसोलिनी का इटली, रूस का नया रूप, संयुक्तराज्य की परिवर्तित नीति, इँग्लेंड की अन्तर्नीति आदि आदि विचारणीय प्रश्न हो रहे हैं। इस प्रकार १६ वीं शताब्दी से आज तक योरप की हृदयहीन राजनीति से राजनैतिक गगनमंडल संक्षुब्ध है।

इसका निराकरण कैसे हो? इस प्रश्न को ही लेकर १८१५ में 'होली अलायंस' और १९१९ में 'राष्ट्र-संघ' का जन्म हुआ। किन्तु ऊपर से कहा जाता कुछ और है, और भीतर से होता कुछ और है। लोग अन्तर्राष्ट्रीयता के भावों को जगाने का प्रयत्न करते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि इसका निराकरण भयंकर महायुद्ध से होगा, जो १९३७ में कदाचित् होगा। उन लोगों का कहना है कि आज जो शान्ति है वह थकावट और निर्बलता की शान्ति है। भीतर हिंसा-भाव जागृत है। एक ओर फ़्रांस और जर्मनी और दूसरी ओर जापान और रूस का मनोमालिन्य बढ़ता जाता है। रूसी राजनीतिज्ञों का विचार है कि यदि इँग्लेंड जापान की पीठ पर हाथ न रखता तो एशिया की ख़ुराफ़ात मिट जाती। उनका विचार है कि फ़्रांस जर्मनी को उठने न देगा इत्यादि। वे चाहते हैं कि महायुद्ध हो, उसी में योरपीय राज्यों का गर्व और हृदयहीन स्वार्थ नष्ट हो जाय। तब कहीं शान्ति मिलेगी और ग़रीबों का गुज़र होगा।

परन्तु इन पंक्तियों के लेखक को सन्देह है कि योरप की इस दशा में शीघ्र महायुद्ध होगा। कम से कम ६ वर्ष तक जर्मनी संग्राम में आने के योग्य नहीं हो सकेगा। इँग्लेंड को अपने साम्राज्य की समस्याओं के सुलझाने में ही माथापच्ची करनी पड़ रही है। आस्ट्रिया-साम्राज्य के भिन्न भिन्न भाग जो आज-कल स्वतन्त्र देशों में गिने जाते हैं, जैसे जेचोस्लोवेकिया, हंगरी आदि, वैसे शक्तिशाली नहीं हैं। अनुमान यही होता है कि यदि दूसरा महायुद्ध होगा तो वह योरप की सारी सभ्यता को ले मिटेगा। अगर किसी प्रकार युद्ध का निराकरण हो सकता है तो आधुनिक योरपीय राजनीति के सुधार से। जब तक योरपीय मस्तिष्क में यह बात नहीं धँसती कि हमारा सारा जीवन समझौते पर निर्भर है तब तक शान्ति होना असम्भव नहीं तो महाकठिन अवश्य है। अतएव संसार की स्थायी शान्ति के लिए यह परमावश्यक है कि सारे संसार का विश्वमंडल एक ऐसा वातावरण तैयार करे जिसमें युद्ध के लिए तैयारी न होने पावे। साथ ही एक ऐसे राष्ट्र-संघ का आयोजन करना चाहिए जिसके प्रवर्तक बड़े राज्य न होकर छोटे छोटे राज्य हों। यह बात ज़रूर है कि इन समस्याओं को हल करना बड़ा कठिन है, किन्तु इन्हें हल करना

ही पड़ेगा। रण-रङ्ग में रँगे हुए राजनीतिज्ञों को युद्ध से निरत करना शिक्षित जनता का परम कर्तव्य है।

एक प्रश्न यह हो सकता है कि यदि बड़े-बड़े राज्य छोटे-छोटे राज्यों का साथ न देंगे तो उक्त राष्ट्रसंघ एक तमाशे की चीज़ होगी। यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि छोटे-छोटे राज्य सच्ची धुन से इस ओर अग्रसर होंगे तब बड़े-बड़े राज्यों को आना ही पड़ेगा। देखने-सुनने में तब यह बहुत साधारण बात मालूम होती है, किन्तु यदि यह कार्य-रूप में परिणत की जाय तो इससे बड़ा लाभ होगा।

एक और प्रधान साधन है जिससे सच्ची शान्ति हो सकती है—जिसे आधुनिक जगत् के सर्वश्रेष्ठ नर-रत्न महात्मा गान्धी ने 'राजनीति को आध्यात्मिक रङ्ग में रङ्ग देना' बताया है। जब तक आज-कल की राजनीति में आध्यात्मिक भावना का आधिपत्य न होगा तब तक स्थायी शान्ति नहीं हो सकती। केवल मुँह से बड़ी बड़ी बातों के कह देने से तो शान्ति हो नहीं सकती। जब तक मनुष्य का अन्तस्तल शुद्ध और सद्भावना से प्रेरित न होगा तब तक उसकी बातें व्यर्थ और धोखे की टट्टी हैं। यही दशा आज राजनीति की है। व्यक्तिगत और राष्ट्रीय स्वार्थ दोनों हेय हैं। व्यक्तिगत स्वार्थ की निन्दा की जाती है, किन्तु राष्ट्रीय स्वार्थ की प्रशंसा होती है। अतः राष्ट्रीय दुर्भावनाओं से सारा विश्व संक्षुब्ध है।

सबसे बड़ा शान्ति का साधन है पददलित देशों का अभ्युदय होना। यदि ये देश अपने पैरों के बल खड़े होकर अपना जीवन बिताने लगें तो बहुत अंशों में युद्ध की आवश्यकता ही जाती रहेगी। दो सबल राष्ट्र एक निर्बल राष्ट्र को हड़प जाने के लिए उस पर आक्रमण करते हैं। यदि सभी देशों में अपने आत्म-गौरव के भाव आ जायँ तो फिर दूसरों को सताने का अवसर ही न रहेगा। निर्बल राष्ट्र सबल राष्ट्र को अपने ऊपर अत्याचार करने का अवसर देता है। अतः जब तक सबल राष्ट्रों के हड़पने की गुंजाइश है तब तक सच्ची शान्ति नहीं हो सकती।

किसी किसी का यह मत है कि हमारा जीवन युद्ध पर निर्भर है। जब तक जीवन-संग्राम है तब तक पारस्परिक युद्ध का होना अनिवार्य है। ठीक है। जो लोग युद्ध के विरुद्ध हैं वे भी इसे अच्छी तरह समझते हैं कि इस संसार से युद्धों को हटा देना असम्भव है। जिस प्रकार नीचता, पाप, व्यभिचार आदि निम्नगामिनी मानवीय प्रकृति के साथ सदा रहेंगे, उसी प्रकार हिंसा के भावोंवाला युद्ध भी चलता रहेगा। किन्तु आज इस बात का यत्न हो रहा है कि आज-कल का हिंसाकारी युद्ध बन्द हो जाय। सच्चा धर्म-युद्ध तो इस संसार को नरक से स्वर्ग में परिणत करता है। ऐसे धर्म-युद्धों से सच्ची और स्थायी शान्ति स्थापित हो सकती है। अनेक देशों के इतिहास में इन धर्मयुद्धों की चर्चा है। अपने यहाँ भगवान् राम और भगवान् कृष्ण ने धर्म-युद्ध-द्वारा ही रावण तथा कंस को मारा था। किन्तु आज-कल पाप-युद्ध को ही धर्मयुद्ध मान कर तामसिक वृत्तिवाले अपने पतित ऐहिक स्वार्थ के लिए नर-हत्या कर रहे हैं। इसको रोके बिना कल्याण नहीं है।

सारांश यह है कि जब तक आन्तरिक विकास नहीं है तब तक संसार के अनेक राष्ट्र एक दूसरे पर हिंसा के भावों से आक्रमण करते रहेंगे और सब राष्ट्र जब तक ऊपर कहे हुए साधनों का प्रयोग न करेंगे तब तक सच्ची शान्ति का होना महा कठिन क्या असम्भव है।

संसार ने बाह्य जगत् में बड़ी उन्नति की है। आज बेतार का तार, उड़न खटोला, जेप्लिन, ड्रेडनाट आदि वैज्ञानिक उन्नति-द्वारा मनुष्य को सुख की सब सामग्रियाँ उपलब्ध हैं, किन्तु मनुष्य अनेक अंशों में वही प्राचीन शिकारी रह गया है। उसने कपड़े पहन लिये हैं, विद्यायें भी पढ़ ली हैं, किन्तु भीतर उसका सच्चा विकास नहीं हुआ है। वह उसी प्रकार रोता है, हँसता है, मारता है, दौड़ता है। ऊपर

हुए साधनों से सम्भवतः संसार में सच्ची शान्ति स्थापित हो सकती है और इस विश्व-शान्ति के लिए यथाशक्ति उद्योग करना सच्ची नर-सेवा है और इसी को नारायण-सेवा भी समझना चाहिए। ये बातें अनेक अंशों में आदर्श की बातें कही जा सकती हैं, किन्तु यदि ये तथा इसी प्रकार के अन्य सुधार न हुए तो संसार में स्थायी शान्ति को प्राप्त करने की इच्छा आकाश-पुष्पवत् असम्भव है। आशा है, संसार के नररत्न विश्व को पशुता और बर्बरता से बचाने के लिए जी-तोड़ यत्न करेंगे।

तब

लेखक, कुँवर सोमेश्वरसिंह, बी० ए०

कल तुहिन बिन्दु-मुक्ताकण,
ऊषा बिखरा जाती जब।
मृदु पवन तान कोकिल की,
सुख से दुहरा जाती जब।
किस आकुलता से विह्वल,
हो उठता रे मन! तू तब॥

निज रजत-रश्मि माला से,
जगती का आँचल भरते,
गगनाम्बुधि में जब सुख से,
राकापति तैरा करते।
किसकी मनोज्ञ मुख-छवि से,
भर जाता है उर तू तब?॥

लघु लहरों के पलनों पर,
झूलते हुए जब प्रतिपल।
खिल खिल उठते हैं सर में,
सुन्दर सरोज-कोमल दल।
किन नयनों की मृदु सुषमा,
नयनों में छा जाती तब?॥

खेलती और इठलाती,
नभ के अपार आँगन में।
देती हैं जब दिखलाई,
मृदु श्याम घटा सावन में।
किसकी कोमल केशावलि,
है स्मरण मुझे आती तब?॥

उठकर अनन्त से सहसा,
प्राणों को हुलसाती है।
कर चकाचौंध जग को जब,
दामिनी दमक जाती है।
किसकी मुसकान मनोहर,
नयनों में खिंच जाती तब?॥

पी पी पराग-रस मधुमय,
उन्मत्त मोद-मदमाती।
अपनी जब प्रेम-कहानी,
है मधुप-बालिका गाती।
करता श्रवणों में गुञ्जन,
किसका संगीत सरस तब?॥

होकर मयूर मतवाला,
जब देख मेघमाला को।
क्रीड़ा करता है वन में,
सँग ले विमुग्ध बाला को।
है स्मरण मुझे आ जाता,
किसका सुखपूर्ण प्रणय तब?॥

जब प्रकृति सुन्दरी सजकर,
निज नूतन साज निराला।
देती वसन्त को लाकर,
सुमनों की मधुमय हाला।
है हाहाकार मचाती,
किसकी सुधि उरतल में तब?॥

सहशिक्षा

क्या भारत के लिए अहितकर है?

लेखक, प्रोफ़ेसर हंसराज भाटिया, एम० ए०

रत में सहशिक्षा चल निकली है। देश की स्त्रियों ने सामाजिक कुरीतियों और अत्याचारों से बचने तथा भावी उन्नति करने के लिए अब अपने अधिकारों पर अधिक ज़ोर देना शुरू किया है और शिक्षा के लिए ज़्यादा और बेहतर सुविधायें माँगी हैं। जहाँ पर्य्याप्त सुविधायें नहीं मिल सकीं, उन्होंने लड़कों के ही स्कूलों-कालेजों में घुसना उचित समझा है, यहाँ तक कि कई कट्टरपंथी संस्थाओं को अपनी इच्छा के विरुद्ध लड़कियों को दाखिल करना पड़ा है। पंजाब के एक कालेज के द्वार पर लड़कियों ने कई दिन तक सत्याग्रह किया और प्रबन्धक कमिटी को मजबूर होकर कालेज में लड़कियों को पढ़ने की इजाज़त देनी पड़ी। ऐसे कई उदाहरण हैं। पंजाब और बंगाल में सहशिक्षा दिन प्रतिदिन ज़्यादा लोकप्रिय हो रही है और बम्बई और मदरास में तो इसका पहले से ही काफ़ी रवाज है।

भारतीय महिलाओं का नया युग अशिक्षा की कड़ी जंज़ीरों से मुक्त होना चाहता है, पर केवल क ख और थोड़ा-सा गणित सीख कर ही नहीं। उनकी आँखें उस वास्तविक शिक्षा और यथार्थ ज्ञान पर गड़ी हुई हैं जिससे वे आधुनिक परिवर्तनशील सभ्यता की जटिल समस्याओं को भले प्रकार सुलझा सकें और नई नई परिस्थितियों के अनुसार अपना जीवन बनायें और बितायें। सामाजिक जीवन का गोरखधंधा ज़्यादा संगीन हो रहा है और माता-पिता चाहते हैं कि उनकी लड़कियाँ स्वतन्त्रता से अपने पैरों खड़ी हो सकें और जीवन में अपना स्थान स्वयं निश्चय करें। इसके लिए ऊँची शिक्षा की ज़्यादा सुविधायें दरकार हैं। अध्ययन के लिए बढ़िया पुस्तकालय हों, वैज्ञानिक खोज के लिए उच्च कोटि की प्रयोगशालायें हों, योग्य से योग्य अध्यापक हों और महापुरुषों के सहयोग के सुअवसर मिलें। इस सामग्री के लिए चाहिए पैसा, पर इस समय न तो सरकार और न जनता ही स्त्री-शिक्षा पर खर्च करना चाहती है। यही कारण है कि देश के उत्तमोत्तम महिला-विद्यालय भी यदि वे थोड़ी भी आलोचनात्मक दृष्टि से देखे जायँ तो ऐसी सामग्री और सुविधायें जुटाने में बुरी तरह असमर्थ हैं। ऐसी सामग्री की अनुपस्थिति में लड़कियों के अच्छे कालेज भी स्कूल मात्र ही हैं। धन की कमी के कारण स्थान स्थान पर लड़कियों की शिक्षा के लिए अलग प्रबन्ध नहीं किया जा सकता और यही कारण है जिससे कन्या-पाठशालाओं का

बुरा हाल है। देहात में छोटी छोटी बस्तियों में, जहाँ मुश्किल से तीस लड़के-लड़कियाँ हों, दोनों की शिक्षा के लिए अलग अलग प्रबन्ध करना कितना कठिन और हास्यजनक है। बड़ी बस्तियों में दो अलग अलग ओछी-सी पाठशालायें खोलने से यह कहीं बेहतर है कि दोनों के लिए एक ही अच्छे ढंग की सुव्यवस्थित संस्था हो। शहरों में मध्यम श्रेणी के लोगों के लिए कितना सुभीता हो जाय अगर उनके लड़के और लड़कियाँ एक ही पाठशाला में पढ़ते हों। यदि प्राइमरी स्कूलों से लेकर विश्वविद्यालयों तक सहशिक्षा का अनुष्ठान किया जाय तो शीघ्र ही उतने ही खर्च में स्त्री-पुरुषों की बहुत बड़ी संख्या शिक्षा प्राप्त कर सकती है और थोड़े ही समय में संसार के उन्नत देशों में सुशिक्षित भारत की गणना सम्भव हो सकती है।

> भारतवर्ष अपने करोड़ों पुत्र-पुत्रियों को शीघ्रता के साथ तभी शिक्षित कर सकता है जब देश की समस्त लड़के-लड़कियों की पाठशालायें एक में मिला दी जायँगी। शिक्षा के प्रसार में ही नहीं, आदर्श चरित्र-निर्माण में भी इससे सहायता मिलेगी। अनुभवी लेखक ने सहशिक्षा के इस पहलू को इस लेख में सुन्दर ढङ्ग से उपस्थित किया है।

शिक्षा का उद्देश यह नहीं कि किताबी ज्ञान नवयुवकों के दिमाग़ में ठूँस दिया जाय। शिक्षा आनेवाले जीवन की तैयारी है और वह उसी के अनुरूप होनी चाहिए। शिक्षालयों का एक महत्त्व-पूर्ण उत्तरदायित्व यह है कि जीवन के आदर्शों, संस्थाओं और परिस्थितियों से लड़के-लड़कियों को एक-दम अनभिज्ञ रखने के बजाय उन्हें उनकी वास्तविकता और सार्थकता समझायें, जिससे वे बाद में बिना किसी कठिनाई के प्रौढ़ समाज में खप सकें। प्रत्येक स्त्री-पुरुष सामाजिक संस्थाओं में इस तरह गुँथा हुआ है और उनके आदर्शों को सिद्ध करने में इतना जुता हुआ है कि समाज की सफलता, जीवन और संस्कृति की नींव उनका सहयोग और प्रयत्न ही कहा जायगा। यदि लड़के-लड़कियों को ऐसे प्रौढ़ समाज के लिए तैयार करना है, जहाँ सफल जीवन सहयोग और परस्पर मेल-मिलाप-द्वारा ही सम्भव हो तो शिक्षालयों की रचना संसार के सामूहिक जीवन के ढाँचे पर ही होनी चाहिए, जिनमें लड़के-लड़कियाँ भावी जीवन की परिस्थितियों से परिचय प्राप्त कर, नियमानुसार, परिश्रम, निग्रह और एक-दूसरे के विचारों और अधिकारों का सत्कार करना सीखें और हमेशा अपने दैनिक जीवन में सर्वसाधारण का हित सामने रक्खें। अब यदि सामाजिक जीवन का तुच्छ से तुच्छ चित्र भी खींचा जाय तो मालूम होगा कि उसमें स्त्रियों का उतना ही अंश और वैसा ही स्थान है जितना पुरुषों का। और उसकी महत्त्व-पूर्ण संस्थायें स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध पर ही खड़ी हैं। ऐसी स्थिति में जीवन-कार्य के किसी क्षेत्र से स्त्रियों का पुरुषों को निर्वासित करना अपनी समस्याओं को ज़्यादा जटिल बनाना है, सुलझाना नहीं है। लड़कों को केवल पुरुष ही नहीं और लड़कियों को केवल स्त्रियाँ ही नहीं, किन्तु दोनों को एक ही परिवार, समाज तथा सभ्यता का प्रधान अंग बनना है। मनुष्य-जाति की रक्षा और मानुषीय संस्कृति के निर्माण का भार दोनों के कंधों पर एक-सा ही है। ऐसी अवस्था में यह कितना असंगत है कि दोनों बरसों तक एक-दूसरे से अलग रक्खे जायँ, यही नहीं, बल्कि उनकी परस्पर परिचय की प्रत्येक चेष्टा घृणा की दृष्टि से देखी जाय, दोनों एक-दूसरे की मनोवृत्ति और दृष्टिकोण से बिलकुल अनभिज्ञ हों और उनको एक-दूसरे को समझने, सहायता और योग देने तथा सहानुभूति दर्शाने का कोई अवसर न मिले! यदि स्वस्थ और सफल सामाजिक जीवन स्त्रियों और पुरुषों के परस्पर ज्ञान, सहानुभूति और सहयोग पर ही निर्भर है और यदि इन तथा अन्य संस्कारों की नींव ज़्यादातर मज़बूती से बाल्यावस्था में ही डाली जा सकती है, जब मन ज़्यादा ग्रहणशील होता है, तब कोई वजह नहीं कि शिक्षालयों से लड़के और लड़कियाँ अलग रक्खी जायँ।

शिक्षा की प्रत्येक सार्थक पद्धति, शिक्षा की परिभाषा के ही नाते, सहशिक्षा को अपनाने में मजबूर है। सह-शिक्षा संपूर्ण और प्राकृतिक शिक्षा का एकमात्र आधार है। हमारे वर्तमान स्कूल और कालेज, कन्यापाठशालायें और महिला-महाविद्यालय शिक्षा में कृतकार्य नहीं हुए, उनका जीवन सांसारिक जीवन से किसी प्रकार की समा-नता नहीं रखता, वे बनावटी और ढोंगी हैं। वे लड़के-लड़कियों के मेल-मिलाप को स्थगित कर अपने प्रधान और प्रथम उत्तरदायित्व की अवहेलना करते हैं। जब दोनों को इकट्ठा रहना है, मिलकर गृहस्थ जैसी महत्त्वपूर्ण संस्था को क़ायम करना और चलाना है और अनेक स्थितियों में कई प्रकार की संस्थाओं के अन्दर काम करना है, तब संस्कृति और सभ्यता के लिए ही नहीं, मनुष्य-जाति की रक्षा के हेतु और मनुष्य-जीवन की सफलता, सार्थकता और सरसता के लिए ऐसी स्थगित क्रिया घोर आत्मघात है। जब तक लड़की-लड़के अलग अलग पाठशालाओं में पढ़ेंगे, वे एक-दूसरे के लिए अज्ञात होंगे, उनकी शिक्षा अधूरी और एकतरफ़ा होगी, उनकी नैतिक नियमावली अलग अलग होगी, उनके आदर्श भिन्न भिन्न होंगे, उनके दृष्टिकोणों में कोई मान्यता नहीं रहेगी और वे एक मनुष्य-जाति में नहीं, दो स्वतंत्र और भिन्न जातियों में संगठित होंगे, जिनमें परस्पर जानकारी, सहयोग, अवलम्बन और अधीनता की संभावना कम होगी। ऐसी शिक्षा-प्रणाली को जारी रखना कहाँ तक ठीक होगा, पाठक स्वयं अनुमान करें।

लड़कों और लड़कियों को एक दूसरे की संगति से ज़्यादा लाभ उठाने की बड़ी ज़रूरत है। यह परस्पर परिचय सहशिक्षा के अंदर ही संभव है। लड़के-लड़कियाँ भले ही अपनी रुचि तथा आवश्यकता के अनुसार अलग अलग विषय पढ़ें और अपनी शारीरिक रचना के अनुसार अलग अलग खेलों में हिस्सा लें, परन्तु यह आवश्यक है कि समान विषय पढ़ने और संस्था के सामूहिक जीवन में वे इकट्ठे ही रहें। लड़कियाँ ज़्यादा जल्दी बढ़ती हैं और ज़्यादा जल्दी अपने आपको किसी स्थिति के अनुकूल बना लेती हैं। उनकी रुचि चौमुखी होती है और उनकी अपूर्व प्रतिभा और विलक्षण व्यक्तित्व की गहरी छाप लड़कों के पूर्ण विकास के लिए बड़ी हितकर प्रमाणित होगी। लड़कों की भाषा, चाल-ढाल और दैनिक व्यवहार में अशिष्टता और उजड्डपने की जगह कोमलता और नम्रता का प्रवेश होगा। दूसरी ओर लड़कियाँ जो सदियों से सामाजिक, मानसिक और शारीरिक दासता में फँसी हुई हैं, जिन्हें स्वच्छन्दता और स्वतन्त्रता से पनपने का कोई मौका नहीं मिलता और जिनमें अपनी तुच्छता का भाव इतनी प्रबलता से समा गया है कि पुरुष के सामने यदि वे गिर नहीं पड़तीं तो बुरी तरह से सिमट ज़रूर जाती हैं—लड़कों के साथ शिक्षा पाकर अपने वास्तविक रूप का अनुभव करेंगी और नाज़-नखरे की संकुचित उधेड़बुन से मुक्त होंगी। उनमें स्वतन्त्रता, स्वच्छन्दता और शारीरिक, मानसिक और नैतिक बल का संचार होगा। उनकी कर्मशीलता बढ़ेगी; जिससे देश और जाति का कल्याण होगा।

वर्तमान भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति दयनीय है। विवाह-सम्बन्धी कुप्रथायें, विधवाओं के अधिकारों की अवहेलना, स्त्रियों का अपमान और उन पर घोर अत्याचार, स्त्री-जाति की असमर्थता और बेबसी और उनमें निरी तुच्छता का भाव, पर्दा—ये सब देश की आधी से ज़्यादा शक्ति को नष्ट कर रहे हैं। स्त्री-पुरुष के असाम्य ने स्त्री को ऊँचे आदर्श से गिरा दिया है और पुरुष में पाशविक प्रवृत्तियाँ पैदा की हैं। सदियों के अत्याचार से पुरुष स्वेच्छाचारी और अमानुषिक बन गया है, जिससे वह अपनी अर्धाङ्गिनी देवी की नाक पकड़ कर जिधर चाहे घसीटता है। ये बुरी प्रथायें और प्रवृत्तियाँ तो शिक्षा के प्रचार से अपने आप दूर हो जायँगी। स्त्रियों को समानता मिलने से उनका मानसिक क्षितिज ज़्यादा विशाल होगा, उनके हृदय में आकांक्षा का बीज अंकुरित होगा, पुरुषों के निरन्तर संसर्ग से उनके मन में आत्म-विश्वास पनपेगा, उन्हें नई संजीवनी-शक्ति का अनुभव होगा, वे ज़्यादा पवित्र आदर्शों की तरफ़ झुकेंगी और उनकी सिद्धि के लिए भरसक प्रयत्न करती हुई समाज का ज़्यादा माननीय और उत्तरदायी अंग बनेंगी।

सहशिक्षा के समालोचक अनुमान करते हैं कि 'सह-शिक्षा' से युवक-युवतियाँ बिना किसी मर्यादा के आपस में मिलेंगी, जहाँ सभी बाँध टूट जायँगे और गड़बड़ ज़रूर फैलेगा। सहशिक्षा के प्रभाव से छात्र-छात्राओं का चरित्र पवित्र नहीं बना रह सकेगा। सहशिक्षा की संस्थायें इन सब बातों से एक-दम बरी होंगी, ऐसी धारणा सहशिक्षा के समर्थकों की नहीं है, परन्तु जितना गड़बड़ विशेष शिक्षालयों में होता है उससे ज़्यादा सहशिक्षा में नहीं होगा, यह वे दावे के साथ कह सकते हैं।

हमारे देश में ब्रह्मचर्य-व्रत के लेक्चर बहुत हाँके जाते हैं, जिनमें स्त्री के दर्शन, स्पर्श और संगति का निषेध किया जाता है। परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार यह दमन ऐसी मानसिक व्याधियों का उत्पादक है जिनसे मनुष्य की कर्मशीलता और उसके मानसिक स्वास्थ्य को ज़बर्दस्त धक्का लगता है। योरप इन व्याधियों के इलाज में व्यस्त है, परन्तु भारत में शास्त्रों की दुहाई देकर दमन का ही प्रचार किया जाता है। हमारा तात्पर्य यह नहीं कि ब्रह्मचर्य निरुपयोगी है। परन्तु जीवन में भोग-विलास के प्रलोभन बहुत हैं। सच्ची शिक्षा उनको युवक-युवतियों से बनावटी पर्दों-द्वारा छिपायेगी नहीं, उन्हें उनके सामने डटने और उन पर विजय पाने का उत्साह देगी। ऐसे प्रलोभनों से घिरे हुए और अध्यापक-अध्यापिकाओं की चौकस निगाहों के नीचे जो संयम छात्र-छात्राओं में सहशिक्षा से आयेगा वह उनके चरित्र का स्थायी अंग बनेगा।

अनुभव भी सहशिक्षा के ख़िलाफ़ नहीं है। अमरीका के 'सासले कमीशन' और इँग्लैंड की 'मिश्रित स्कूल कमिटी' सर्वसम्मति से इस बात का समर्थन करती हैं कि सहशिक्षा के जिन नैतिक ख़राबियों की सम्भावना की जाती है, सर्वथा काल्पनिक हैं। दोनों देशों के सर्वोत्तम स्कूलों में सहशिक्षा ही प्रचलित है।

भारत में कट्टरपंथी आर्यसमाजी क्या और सनातन धर्मी क्या—मनोवृत्ति का अटल विश्वास है कि वैदिक सभ्यता का युग इस देश में फिर से ज़रूर प्रचलित होगा। योरप से भारतीय संस्कृति ने जो आदर्श, पद्धतियाँ और विचार ग्रहण किये हैं वे ऐसी मनोवृत्ति के लोगों को फूटी आँखों नहीं भाते। सहशिक्षा का ज़्यादा विरोध ये इसी विचार से करते हैं कि यह योरप की अधूरी नक़ल है। परन्तु भारत को योरप के प्रभाव से बचाना सम्भव नहीं है और न हितकर ही है। मनुष्य-जातियाँ एक दूसरे के अनुभव से लाभ उठाती हैं और इसके बिना उन्नति की कल्पना नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त भारत में सहशिक्षा कोई नई बात नहीं है। यह बड़ी पुरानी है। मनुष्य-समाज के संगठित होने से भी पहले लड़के-लड़कियाँ घर में इकट्ठे रहते थे और परस्पर मेल-मिलाप से शिक्षा पाते थे। और यदि हमें शिक्षालयों में घर का वायुमंडल बनाना है जैसा कि नई शिक्षा के प्रवर्त्तक ज़ोर देते हैं तो सहशिक्षा हमारी शिक्षाप्रणाली का एक ज़रूरी अंग होनी चाहिए। हमारे शास्त्रों में ऐसे कई उदाहरण हैं, जहाँ युवक-युवतियाँ एक ही आश्रम में एक ही गुरु से शिक्षा पाती थीं। हमारे बाद के इतिहास में भी ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जहाँ स्त्रियों ने सैनिक वीरता के कई काम किये हैं और अस्त्रों के प्रयोग में रुचि और दक्षता दिखाई है। तो क्या यह शिक्षा उन्होंने कन्या-पाठशालाओं से पाई थी जहाँ द्वारों पर मोटे पर्दे लगे रहते थे और जिनके निकट कोई लड़का या पुरुष फटक नहीं सकता था? हर्गिज़ नहीं। ज़्यादा सम्भव तो यही प्रतीत होता है कि ऐसी शिक्षा उन्होंने पुरुषों और युवकों के साथ बैठकर ही प्राप्त की होगी। तो इस आधार पर सहशिक्षा का विरोध करना कि यह नई रोशनीवालों का चमत्कार है और योरप की अधूरी नक़ल है, दर्शाता है कि सहशिक्षा के विरोधी अपने देश के इतिहास और साहित्य से एकदम कोरे हैं अथवा कभी उस पर विचार नहीं करते।

[समुद्र के किनारे बालू-स्नान । तीन नारियाँ रेत में लेटी हुई हैं ।]

[बेप्पू का एक घाट जहाँ से जहाज़ बाहर जाते हैं ।]

बेप्पू (जापान) के उबलते तालाब

लेखक, श्रीयुत धर्मवीर, एम० ए०

"अच्छा चलिए, आज आपको नये प्रकार का नहाना दिखलाता हूँ।" श्री इशीवाशी कहने लगे।

"नये प्रकार का नहाना ?" मैंने पूछा—"क्या पानी के अलावा किसी और चीज़ से भी नहाया जाता है ?"

"हाँ, हाँ, पानी के अलावा कई दूसरी चीज़ों से नहाया जाता है। सूर्य की किरणों से नहाना तो आपने सुना ही है ....."

मैंने बात काट कर कहा—"आप भी मखौल करना खूब जानते हैं। धूप में बैठकर तो वह सूर्य-स्नान हो गया। इसमें नई बात क्या है ? दिन-भर धूप में बैठे रहे और कह दिया कि मैं इस समय सूर्य-रश्मियों से नहा रहा हूँ। भला यह भी कोई नहाना है !"

"अच्छा तो यह न सही। अगर रेत से किसी को नहाता दिखाऊँ तो!" इशीवाशी ने ज़रा गंभीर होकर कहा।
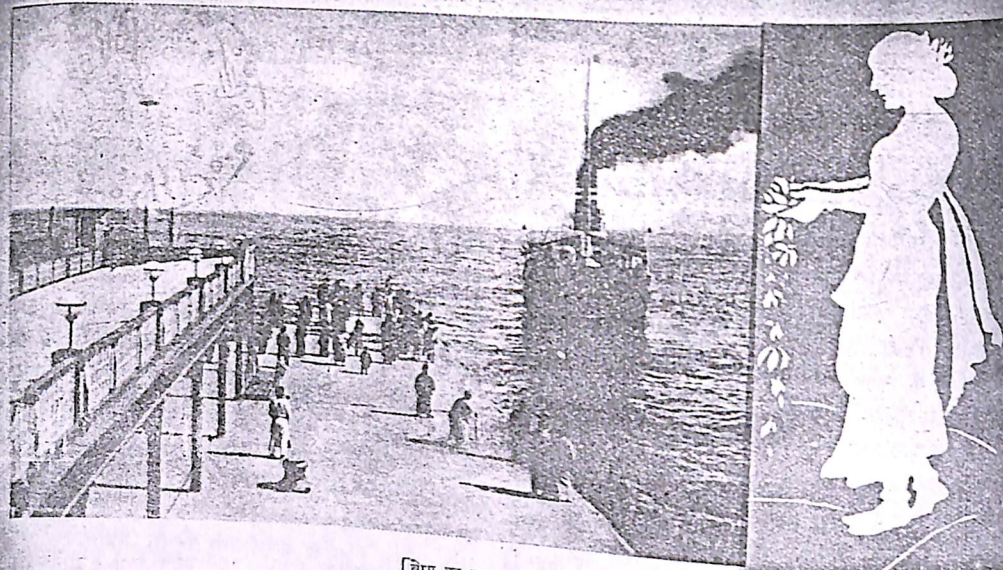
श्रीयुत धर्मवीर जी एम० ए० कुछ दिन हुए जापान गये थे। यह लेख आपने वहाँ के एक नगर के विचित्र जलाशय के सम्बन्ध में लिखा है। आशा है, इसका वर्णन पाठकों को विशेष रूप से रोचक प्रतीत होगा।

"रेत से ?" मैंने पूछा—"रेत से कौन नहाता है ? यहाँ के लोग पागल तो नहीं हैं जो इस तरह की बातें करते हैं ? ये लोग कम से कम बेकार ज़रूर हैं, जो दूसरा कोई काम न होने के कारण रेत से खेलते रहते हैं।"

"नहीं नहीं, न वे पागल हैं, न बेकार। गरम रेत में नहाने में उनको मज़ा आता है। इसके अतिरिक्त कई प्रकार की बीमारियाँ हैं, जो इससे दूर हो जाती हैं।"

मैंने सुन लिया और चुप हो रहा। केवल इतना ही कहा—"जब मैं अपनी आँखों से देखूँगा तब कोई राय बताऊँगा। इससे पहले इस बारे में बहस करना खाली पानी बिलोना है।"

मेरे मुँह से इस प्रकार की बातें सुनकर श्री इशीवाशी डाक लाने का बहाना बनाकर वहाँ से चले गये। एक दुर्घटना हो जाने के कारण मैं कुछ विचलित-सा बैठा था। फिर भी मुझे खेद था कि एक मित्र के साथ इस तरह क्यों पेश आया।

× × × ×

बेप्पू नगर के बारे में कई दिलचस्प बातें सुन रक्खी थीं। गाड़ी में एक सज्जन ने बताया कि वहाँ गरम पानी के चश्मे इतने ज़्यादा हैं कि रेलवे स्टेशन पर यात्रियों को इन चश्मों का ही पानी मिलता है। दूसरे ने कहा—यह तो कोई बड़ी बात ही नहीं है। वहाँ तो जेल के क़ैदियों
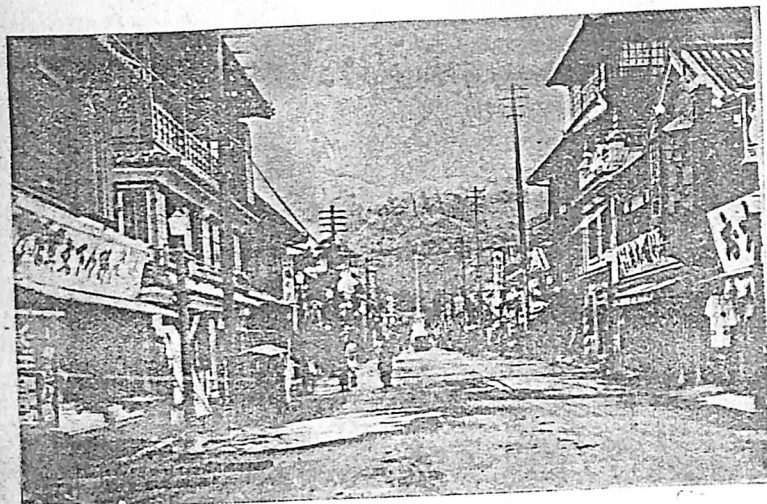
[बेप्पू का एक बाज़ार]

तक को चश्मों का गरम पानी मिलता है। तीसरे साहब बोले—बेप्पू में आप जहाँ कहीं भी ठहरेंगे, इन चश्मों का पानी पायेंगे। म्युनिसिपैलटी ने ही ऐसा इंतज़ाम कर रक्खा है कि वह हर एक मकान और दूकान में जा पहुँचता है। म्युनिसिपैलटीवाले और करें भी क्या? छोटे-मोटे सब मिला कर दो हज़ार चश्मे हैं। इनके पानी का आख़िर कुछ न कुछ तो इस्तेमाल करना ही ठहरा। बस, नलों के द्वारा भेज दिया हर एक मकान के अंदर।

बेप्पू-स्टेशन पर गाड़ी काफ़ी देर तक ठहरती है। डिब्बे से उतर कर ख़याल आया कि क्यों न ज़रा हाथ धो लूँ। एक जापानी मित्र से नल के बारे में पूछने को ही था कि फिर विचार हुआ—अब दो-चार दिन तो इसी शहर में ठहरना है। चश्मों के पानी का अनुभव शहर में हो ही जायगा। इसी समय स्टेशन पर इसकी क्या ज़रूरत है? नल का ख़याल छोड़ दिया। स्वागत के लिए जो सज्जन आये हुए थे उनके साथ चल पड़ा। मोटर में बैठकर नाकायामा-होटल में पहुँचे। श्रीमती नाकायामा ख़ुद ही होटल का संचालन करती हैं (यह उनके अपने नाम पर ही है)। यद्यपि उम्र में बड़ी हैं, तो भी देख-भाल का काम बड़ी ख़ूबी से करती हैं।

हमारा सामान ऊपर दो कमरों में रख दिया गया। इतने में वे सज्जन भी पहुँच गये जो रेलवे स्टेशन पर हमें लेने के लिए गये थे। हमारे जापानी मित्र ने जो अँगरेज़ी भी समझते थे, हमें सबसे परिचित कराया। दोनों ओर से प्रसन्नता प्रकट की गई। जापानी क़ायदे के मुताबिक़ होटल ने सभी अतिथियों की चाय से ख़ातिर की। हमारे लिए ख़ास तौर पर नींबू का शरबत आ गया। इसके बाद हमने कृतज्ञता प्रकट की कि उन्होंने इतना कष्ट उठाया, हमारा सम्मान किया। देर काफ़ी हो चुकी थी, इसलिए सभी चले गये।

सात बजे सूचना मिली कि नहा लें तो भोजन आवे। कपड़े उतार कर बदले। यात्रा के कारण कुछ थकान थी। यों पसीना भी आया हुआ था। प्रातः कुमामोता नगर से चलने से पहले स्नान तो किया था, परन्तु इस समय नहाने को फिर मन हो आया। गुसलख़ाने में गया। बाहर कपड़े वग़ैरह रखने के कमरे में फ़र्श पर चटाइयाँ बिछी हुई थीं। परंतु अन्दर ग़ुसलख़ाने में [illegible] संगमरमर का राज्य था। फ़र्श, सीढ़ियाँ और हौज़—सभी संगमरमर के बने थे। हौज़ के पेंदे में एक बड़ा सा सूराख़ था। इसी से पानी दाख़िल होता था। दीवार में नलका भी लगा हुआ था। हौज़ का पानी गरम था, नलके का ठंडा। पहले गरम और फिर ठंडे पानी से नहाया। [illegible]

[दूधिया तालाब के साथ वह इमारत जिसमें स्नान आदि का प्रबन्ध है।]

खुल गया। किमोनो (जापानी चोग़ा) पहन कर अपने कमरे में लौटा तब नौकर इंतज़ार में खड़ा था। कुछ देर में दूसरे साथी भी हाथ-मुँह धोकर आ गये। नौकर ने भोजन के लिए कहा तब नौकरानियों ने बर्तनों से चौकी को सजा दिया। टमाटर, टोस्ट और मक्खन, सब्ज़ियाँ और दूध—जो चीज़ें खाने के बारे में उन्हें बतलाई गई थीं वे सब उपस्थित कर दी गईं। इन्हें हम ख़त्म करने को थे कि तरबूज़ का बर्फ़-मिला गूदा, आड़ू और नाशपातियाँ रख दी गईं। ये फल अपनी क़िस्म के थे। इतने बड़े आड़ू भारत में कहीं नहीं खाये थे। तरबूज़ का गूदा लाल नहीं था, बल्कि पीला, लेकिन मीठा बहुत। नाशपातियाँ अच्छी थीं, लेकिन काश्मीरी नाशपातियों का मुक़ाबला न कर सकती थीं।

खाना हो चुका तब जापानी कपड़ों में ही बाज़ार गये। सड़कें ख़ूब साफ़ हैं। दूकानें बड़ी ख़ूबसूरती के साथ सजी हुई हैं। बिलकुल उसी प्रकार जिस प्रकार पेरिस और लंदन में देखने में आईं। बिजली की रोशनी से यहाँ भी बहुत काम लिया गया है। उन पाश्चात्य नगरों में बिजली के खंभे के साथ एक ही बल्ब या लट्टू होता है, लेकिन यहाँ जापानियों ने कई बाज़ारों में एक एक खंभे के साथ दस-दस लट्टू लगाये हुए हैं। यों तो ये बहुत भले मालूम देते हैं, लेकिन रोशनी शायद हद से ज़्यादा हो जाती है। जापानियों के रेस्ताराँ (विश्रांति-गृह) भी दर्शनीय हैं। चमन के अंदर पानी के बनावटी चश्मे चल रहे हैं। कहीं कहीं तो पानी के शांत प्रपात बना दिये गये हैं। उसके पीछे कटे हुए तरबूज़ की लाल फाँकें बहुत ही अच्छी मालूम दीं। एक रेस्ताराँ की बनावट तो इस प्रकार की थी कि बाहर से वह जंगल में बनी पर्णकुटी मालूम देता था। ये सब बातें मनुष्य के लिए आकर्षण की सामग्री प्रस्तुत करती हैं। इनके अतिरिक्त बच्चों के खिलौनों की दूकानें बहुत सुन्दर हैं। तरह तरह की गुड़ियाँ बैठी और खड़ी हैं, कुछ सैर कर रही हैं, कुछ नाच दिखा रही हैं। ज़रा आगे बढ़े तब बेत की चीज़ों की दूकान देखी। बाँस और बेत की वस्तुएँ ये लोग बहुत ही विचित्र बनाते हैं। फूलदान, गमले, बक्स, क़लमदान, ट्रेटें, सजावट का सामान—कोई चीज़ ऐसी नहीं जो ये बाँस और बेत से नहीं बनाते। भारत में काश्मीर के लोग भी ऐसी वस्तुएँ बनाते हैं, परंतु इतनी अधिक नहीं।

बाज़ार और दूकानें देखते-देखते नौ बज गये, इसलिए वापस होने के लिए होटल की ओर मुँह किया। वहाँ पहुँचते ही सो गये।

× × × ×

नहाकर जलपान ही किया था कि नीचे मोटरकार

के भोपूँ की आवाज़ आई। फ़ैसला हुआ कि कुछ प्रसिद्ध चश्मे देख आवें तब वेप्पू की अन्य दर्शनीय वस्तुएँ देखेंगे। हमारे लिए 'गाईड' या पथ-प्रदर्शक का काम एक बौद्ध-मन्दिर की पुजारिन भिक्षुकी करने लगीं। यह मंदिर नगर से पाँच-छः मील की दूरी पर स्थित है। परंतु क्योंकि भिक्षुकी एक समय से इस प्रदेश में रहती हैं, इसलिए नगर और उसके लोगों से खूब अच्छी तरह परिचित हैं। भिक्षुकी ओकायामा की आयु बहुत ज़्यादा नहीं है, पैंतीस और छत्तीस के बीच में होगी। तपस्या का जीवन व्यतीत करती हैं। अपनी कुटिया एक पहाड़ी पर घने जंगल में बना रक्खी है। लोगों पर इनके धार्मिक विचारों का इतना प्रभाव है कि हाल में ही एक अमीर घराने की युवती इनकी चेली बन गई है। हमने देखा कि यह चेली भिक्षुकी अभी तक नफ़ीस कपड़े ही पहनती है (दीक्षा लिये बहुत थोड़े दिन हुए हैं)। यों इसके लिए नगर में आना-जाना वर्जित नहीं है, तो भी यह आती बहुत कम है। इसे मंदिर में छोड़कर ओकायामा हमारे साथ हो लीं।

हम अपनी बातों में मशग़ूल थे कि श्रीमती ओकायामा के इशारे पर मोटर एक मकान के सामने ठहर गया। सभी उतर पड़े। अंदर गये तब देखा कि चूने के पानी का एक बड़ा-सा तालाब है। पानी खौल रहा है। (हमारे बाद जो लोग आये उन्होंने प्रवेश के लिए बाक़ायदा टिकट लिये; परंतु हममें से किसी को उन्होंने कुछ नहीं कहा। यह रिआयत संभवतः भिक्षुकी ओकायामा के कारण थी।)

तालाब के चारों ओर पत्थर हैं। एक सिरे पर से सफ़ेद भाफ़ निकल रही है। मालिक ने साथ ले जाकर दिखाया। गरम पानी के फ़व्वारे छूट रहे हैं। सूराख से बाहर निकलते समय तो पानी बेरङ्ग होता है, परन्तु जब हवा के साथ मिलकर तालाब में पड़ता है तब सफ़ेद हो जाता है—बिलकुल दूधिया। पास ही एक छोटी-सी ख़ूबसूरत इमारत खड़ी है। पूछने पर मालूम हुआ कि उसमें नहाने का बाक़ायदा इन्तज़ाम है। यहाँ तालाब से पानी हौज़ों आदि में जाता है। मालिश आदि का प्रबन्ध भी है। आदमी फ़ीस दे और आराम से नहाये।

चश्मे के स्वामी का धन्यवाद करने के पश्चात् मोटर में सवार हुए। अब सुमी-नाम के चश्मे पर आना था। कुछ मिनट के बाद एक बँगले के फाटक में प्रविष्ट हुए। आगे झील सी आ गई। उतर पड़े। कुछ दूर और गये। तब तरह तरह के रूमाल, खिलौने, चित्र और खाने-पीने की चीज़ों की दूकानें देखीं। एक ओर एक चित्रकार बैठा था, दूसरी ओर फोटोग्राफर। कुछ क़दम आगे बढ़े तब बड़ा भारी चश्मा पाया। यह एक पहाड़ की

[सुरमी-चश्मा का बाह्य दृश्य। मकानों से परे उबलते पानी से भाफ निकलती नज़र आ रही है।]

दैरों में से निकला हुआ है। कहते हैं, कुछ वर्ष हुए जब यह पर्वत फटा तब इसमें से पानी निकलने लग गया। तब से यह चश्मा बन गया है। पानी बहुत गरम है। मालकिन की लड़कियाँ इसे छोटी-छोटी प्यालियों में भरकर हमारे पास ले आईं। हममें से एक तो डरने लगा कि कहीं कड़वा न हो। परन्तु लड़की ने हँसते हुए विश्वास दिलाया कि यह कड़वा नहीं है और न इसके पीने से कोई ख़राबी होगी। पी लिया। खट्टा-खट्टा था। उसी प्रकार जिस प्रकार पानी में नींबू का सत घुला हुआ हो। हमारी पार्टी में एक बच्चा भी था। मालकिन और लड़कियाँ उसके लिए उपहार-स्वरूप कई एक खिलौने ले आईं। श्रीमती ओकायामा ने उसे एक गरम किमोनो भेंट किया। इसके पश्चात् उन्होंने रूमालों पर हमसे देवनागरी और रोमन अक्षरों में कुछ वाक्य लिखवाये। उनके नीचे हस्ताक्षर भी करवाये। ये रूमाल कुछ देर के लिए गरम पानी के ऊपर रख दिये गये तब वे शब्द पक्के हो गये। अब इनकी स्याही धोने पर भी न मिट सकती थी।

चश्मे के जँगले के पास पहुँचे। देखा कि पुल के नीचे से एक क्षण में मनों पानी गुज़रता है। यही कारण है कि चश्मे के अहाते के बाहर इस पानी से एक झील बन गई है और उसमें कमल आदि उगे हुए हैं। हम ये बातें देख ही रहे थे कि इतने में फोटोग्राफर पहुँच गया। उसने फोटो के लिए खड़े होने की ज़िद की। लाचार होकर खड़े हो गये। परन्तु लौटना जल्दी था, इसलिए फोटो की कोई कापी न ले सके।

सुरमी से चलकर कायादो नाम के चश्मे पर पहुँचे। इसके स्वामी ने भी चश्मे के गिर्द दूकानें और मकान बना लिये हैं। मालिक बूढ़ा है, किन्तु बहुत होशियार। बातें करता है तब देखनेवालों को हँसा देता है। परन्तु स्वयं कभी नहीं हँसता। चार्ली चैपलेन और हैरल्ड लायड में भी यही गुण है कि अपनी गतियों से तमाशा देखनेवालों को लोट-पोट कर देते हैं, परन्तु यह ज़ाहिर नहीं होने देते कि वे दूसरों के हँसाने के लिए ऐसा कर रहे हैं। चश्मे के खौलते पानी के ऊपर बुड्ढे ने एक भट्ठी-सी बना रक्खी है, उसी प्रकार जिस प्रकार पंजाब की देहात में चने और मकई भूनने के लिए भट्ठियाँ बनाई जाती हैं। भट्ठी के निचले भाग की तरफ़ झुककर बूढ़े ने लेक्चर देना शुरू किया। वह जापानी-भाषा बोल रहा था, इसलिए कुछ बहुत समझ में न आया। तो भी उसके मुँह और आँखों से ऐसा प्रतीत होता था जैसे संसार के इतिहास पर व्याख्यान दे रहा है—यह सृष्टि आग से ही बनी है; अब भी हमारी पृथ्वी के अन्दर आग का राज्य है। उसी का एक नमूना मैंने यहाँ बन्द कर रक्खा है।

इस चश्मे में से अधिकतर गन्धक निकलता है।

[कायादो-चश्मा। जापानी वेष में बुड्ढा स्वामी यात्रियों के आगे-आगे चल रहा है।]

[दूधिया पानी का उबलता तालाब]
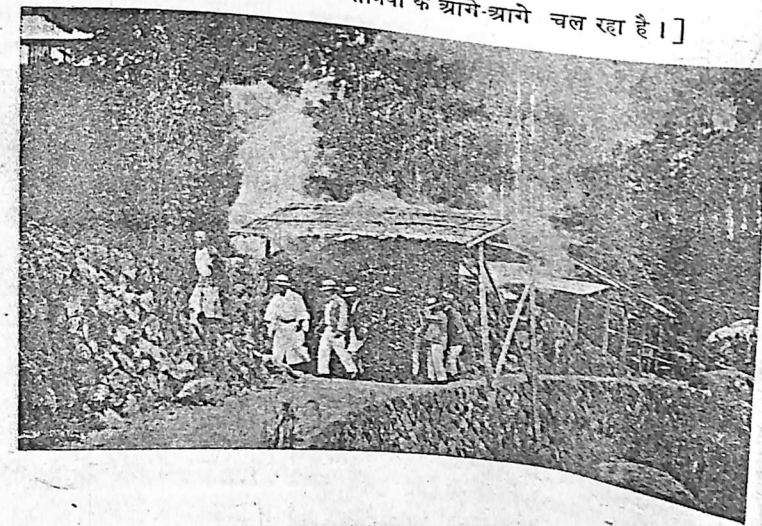
नमक भी निकलता है, परन्तु कम। पानी से गन्धक और नमक बनाने का काम बूढ़े का लड़का करता है। कढ़ाइयों में पानी पक रहा है। काँच की नलियों में उनकी परीक्षा होती है और फिर बोतलों में बन्द होने के बाद वे बिकने लगते हैं। ज़रा परे हट कर बूढ़े की एक लड़की केक बना रही थी। गूँधे हुए आटे को वह गरम पानी की भट्ठी में एक तरफ़ से रखती और दूसरी तरफ़ से पके हुए केक निकाल लेती। हमारे सामने भी ये केक रक्खे गये। परन्तु मुश्किल यह थी कि हम नाश्ता कर चुके थे। इसके अतिरिक्त हमें अभी और कई स्थान देखने थे। इस कारण उनका धन्यवाद करके आगे बढ़े। यहाँ से कुछ एक फ़ोटो लिये और मोटर में जा बैठे।
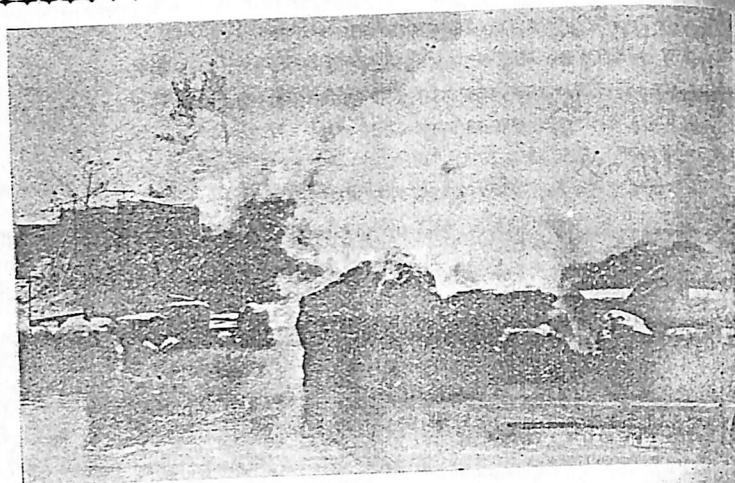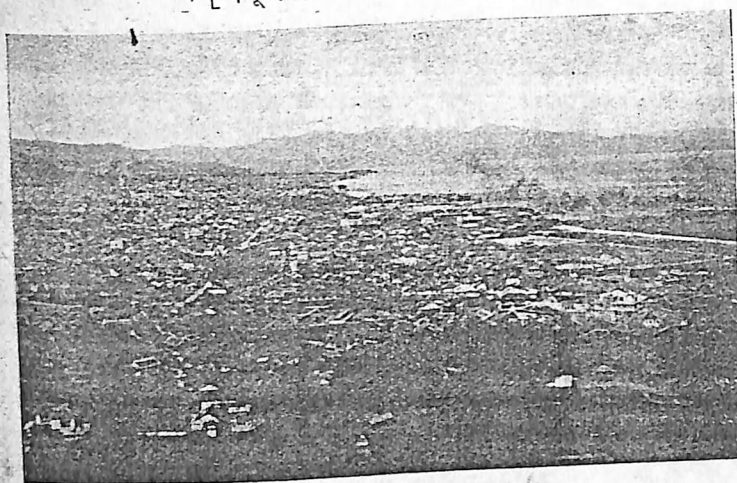
[बेप्पू नगर का सामान्य दृश्य]

दो-तीन और चश्मे देखने के बाद हम फिर शहर की तरफ़ हो लिये। सबसे पहले समुद्र के किनारे पहुँचे। यहाँ भी गरम पानी के छोटे-छोटे कई चश्मे थे। इन्हीं के कारण किनारे पर की रेत गरम हो जाती है। पेट में कोई तकलीफ़ हो जाय तो भारत में इसका इलाज कुछ लोग मिट्टी का लेप बतलाते हैं। महात्मा गांधी ने भी इसका ज़िक्र अपनी एक पुस्तक में किया है। लेकिन

जापान में मिट्टी की जगह रेत इस्तेमाल की जाती है और बजाय पेट के रेत समस्त शरीर पर डाल ली जाती है। मुँह और सिर रेत से बाहर निकाल लिये जाते हैं। हाथ और पाँव भी प्रायः नङ्गे कर दिये जाते हैं। इस बालू-स्नान से क्या लाभ होता है? इस विषय में कई बातें सुनने में आईं। कहते हैं, इससे जोड़ों का दर्द दूर हो जाता है। ख़ून ख़राब हो तो वह भी साफ़ हो जाता है।

[बेप्पू में भगवान बुद्ध की मूर्ति।]

इत्यादि। एक स्थान पर तो इस मतलब के लिए तम्बू तने देखे। वृद्ध स्त्रियाँ और पुरुष घंटों इनके नीचे रेत में लेटे रहते हैं। कपड़े उतारे, दो आने फ़ीस दी और पड़ गये। दो-ढाई बजे समुद्र का पानी चढ़ने लगता है। तब ये लोग उठ बैठते हैं। ख़ीमेवाले भी अपने तम्बू उठा लेते हैं। बाँस जहाँ के तहाँ गड़े रहते हैं।

समुद्र के किनारे इन स्त्री-पुरुषों को लेटे छोड़ कर हम नगर के उस भाग की ओर गये, जहाँ लोहे की रस्सी से गाड़ी चलती है। यह 'केबल-कार' नीचे से ऊपर पहाड़ पर जाती है। बिलकुल उसी तरह की है, जिस तरह की चीन के बन्दरगाह हाँगकाँग में और जापान के रोको, कोया तथा हाकोने पर्वतों पर देखने में आईं। (ये सब स्विट्ज़रलैंड की केबल-कारों के नमूने पर बनी हैं।) डिब्बे दो हैं। एक निचले स्टेशन पर, दूसरा ऊपर के स्टेशन पर। दोनों एक साथ चलते हैं। ऊपर से यात्री नीचे आते हैं और नीचे के ऊपर जाते हैं। बीच में एक जगह पर लाइन दोहरी है। वहाँ एक डिब्बा इस तरफ़ हो जाता है और दूसरा उस तरफ़। पहले-पहल जब आदमी इसमें बैठता है तब उसे कुछ डर-सा महसूस होता है, परन्तु जब यह गाड़ी चलती है तब मनुष्य पहाड़ के दृश्यों को देखकर ख़ुश होता है; डर का ख़याल तो बिलकुल ग़ायब ही हो जाता है।

केबल-कार से ही नीचे आकर बेप्पू के प्रसिद्ध पार्क में गये। थोड़ी देर आराम करने के लिए एक बेंच पर बैठ गये। गर्मी थी, इसलिए दूकानदार से बर्फ़ की प्लेटें

[पहाड़ी के ऊपर जानेवाली केवल-कार]

के लिए कहा। मशीन से कतरी हुई बर्फ़ (ऊपर लाल शरबत डाल कर) हमारे सामने रख दी गई। यह चीज़ जापान में ही खाई; अन्यत्र कहीं नहीं देखी। गरमियों में जापानी लोग कच्ची बर्फ़ और आइस-क्रीम खूब खाते हैं।

पार्क के पास ही भगवान् गौतमबुद्ध की एक बड़ी भारी मूर्त्ति है। नारा आदि नगरों में भगवान् बुद्ध की जो मूर्त्तियाँ हैं उनसे यह भिन्न है। इसके कमल तो बहुत ही सुन्दर हैं। भारतीय सभ्यता की यह छाप तो जापान पर सदा ही रहेगी।

× × × ×

रात को चाँदनी छिटक रही थी। भोजन के पश्चात् बाहर निकले। फिर समुद्र के किनारे आ गये। अब हम वहाँ खड़े थे जहाँ जहाज़ बाहर से आकर ज़मीन को छूते हैं। क्योंकि बेप्पू जापान के दक्षिणी द्वीप का एक बड़ा बन्दरगाह है, इसलिए जहाज़ हर समय आते-जाते रहते हैं। यों समुद्र प्रायः प्रतिक्षण सुन्दर होता है, किन्तु चाँदनी में उसकी कुछ और ही बहार होती है। लहरों की ठप-ठप से ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई रागिनी छिड़ी हो। इस दृश्य के कारण भी बेप्पू की स्मृति सदा के लिए बनी रहेगी।

मेरा प्रियतम

लेखक, श्रीयुत श्रीमन्नारायण अग्रवाल, एम० ए०

मेरा प्रियतम नहीं मिलेगा, वीरों के बल गौरव में,
नहीं दिखेगी उसकी सुषमा, धन संपति के वैभव में।
मंदिर के शुचि अन्तर-पट में, योगी के तन-क्लेशों में,
शुभ्र ख्याति की प्रखर ज्योति में, सुन्दर, सुखद, सुवेशों में।

जहाँ क्षुधा निज अश्रु बहाती, दुख सरिता के निर्जल तीर
जहाँ रंक निज व्यथा सुनाता, इस जीवन की दारुण पीर
पाओगे तुम उस प्रिय मुख की, मन्द, मधुर मुसकान [illegible]
दैवी स्वर के मंजु गान की, अति कोमल झंकार व[illegible]

खैबर दर्रे पर स्थित एक प्राचीन दुर्ग और उसके भूत की रहस्यपूर्ण कहानी

क़ाफ़रकोट

लेखक—श्रीयुत दुर्गादास भास्कर, एम० ए०, एल एल० बी०

फ़ग़ान-युद्ध के बाद जब 'खैबर वेली रेलवे' की स्कीम बनकर तैयार हुई तब भारत-सरकार ने अपने ख़ज़ाने का मुँह खोल दिया और हर उपाय से उसे पूरा करने के प्रयत्न में वह अग्रसर हुई। इसी सम्बन्ध में मुझे वहाँ के एक ख़ान हशमतअली के पास जाना पड़ा।

ख़ान हशमतअली सरहदी ख़ानों में एक विशेष स्थान रखते हैं। कुछ साल पहले उन्हें किसी राजनैतिक झगड़े में पड़कर लाहौर में पनाह लेनी पड़ी थी। मेरी और उनकी मित्रता का सूत्रपात वहीं हुआ था। इसी बल पर मैंने वहाँ का ठेका लिया था।

हशमतअली मुझे बड़े तपाक से मिले और मेरा काम उनकी मित्रता के कारण चल निकला। मैं इस आशातीत सफलता से बहुत प्रसन्न था। जब उन्होंने मुझे कुछ दिन अपने यहाँ ठहरने को कहा तब मैं सहर्ष सहमत हो गया, मेरी प्रार्थना पर उन्होंने मुझे अपना इलाक़ा दिखाना शुरू किया।

एक दिन हम लोग घूमते-घूमते अलीमसजिद जा पहुँचे। हशमतअली मुझसे कहने लगे—यहाँ हज़रत अली ने स्वयं 'अज़ान' दी थी। इसके आगे वे नहीं बढ़े थे। इसलिए सरहद के उस पार के भारतीय मुसलमानों को हम लोग शुद्ध मुसलमान नहीं समझते। पर मेरा ध्यान उधर न था। अलीमसजिद के ठीक ऊपर एक पहाड़ी की चट्टान पर कुछ टूटी-फूटी दीवारें दिखाई पड़ रही थीं, मेरी आँखें न जाने क्यों अनायास ही उधर आकर्षित हो गईं।

मेरी दृष्टि उधर देखकर हशमतअली ने सरल भाव से कहा—"वह क़ाफ़रकोट है।"

"क़ाफ़रकोट"! मैंने वैसे ही दोहरा कर कहा।

"हाँ।" उन्होंने उसी भाव से कहा—"आपको यह नाम ज़रूर अजीब मालूम होता होगा, पर हमारे यहाँ इस जगह का यही नाम मशहूर है। यह एक पुराने क़िले का खँडहर है, जो किसी वक़्त खैबर की हिफ़ाज़त के लिए बनाया गया था।"

मैंने हशमतअली को वहाँ चलने के लिए कहा, पर उन्होंने टालते हुए उत्तर दिया—"वहाँ टूटी-फूटी दीवारों के सिवा और कुछ नहीं है। जाने का कोई रास्ता भी नहीं। नाहक़ कहीं गिर पड़िएगा। चलिए आपको वह पनचक्की दिखा लाऊँ।" यह कहते हुए वे मुझे पनचक्की की ओर ले चले।

उसके बाद जब कभी हमारे वार्तालाप में क़ाफ़रकोट का ज़िक्र आता तब वे टाल देते और मेरे मन से उसके देखने का विचार दूर करने का प्रयत्न करते। परन्तु उनकी इस टालमटूल से मेरी यह इच्छा और भी बलवती होती गई।

मेरे वापस जाने का दिन समीप आने लगा, इससे मेरे मन में कई प्रकार के विचार आने लगे। इस स्थान में ऐसा कौन-सा रहस्य छिपा है जो मेरे बार बार कहने पर भी हशमतअली मुझे उधर नहीं ले चलते? क्या कोई ऐसा उपाय हो सकता है जिससे मैं हशमतअली के बिना जाने उस रहस्यमय स्थान को देख आऊँ? मेरे मन में कई युक्तियाँ आईं, पर उनमें कोई जँची नहीं। उसी अवस्था में मुझे लाहौर का एक तार मिला। मुझे दूसरे ही दिन वापस लौटना था। मैं निराश हो गया

मैं क़ाफ़रकोट का ख़याल अपने दिल से निकाल
का प्रयत्न करने लगा।
उस रोज़ रात को मुझे नींद नहीं आई। न जाने क्यों
रकोट के बिना देखे लौट जाने को मेरा मन न
ता था? पर उपाय क्या था? मैं बड़ी देर तक इसी
झन में पड़ा रहा।
रात बहुत बीत गई, पर मेरी आँखों में नींद न थी।
ऐसी शक्ति थी जो मुझे उस दुर्ग की ओर खींच रही
और रह रहकर मुझसे कहती थी, उठ! उधर चल।
मुझमें इतनी शक्ति न थी कि मैं उसकी अवज्ञा कर
ता। घड़ी में दो बजे थे। सवेरा होने तक वहाँ से
स लौट आऊँगा, यह विचार कर मैं उठा। एक
टी टार्च और रिवाल्वर लेकर क़िले की ओर चल पड़ा।
कोई प्रबल शक्ति मुझे उधर खींच ले चली। पैर
यं चले जा रहे थे। चन्द्रमा के धवल प्रकाश में पहाड़
हा रहे थे। चारों तरफ़ सन्नाटा था। मैं ऊँचे-नीचे रास्ते
तय करता हुआ क़ाफ़रकोट जा पहुँचा।
क़िले के अन्दर जाने का उधर कोई रास्ता न था।
दीवार के साथ साथ आगे बढ़ने लगा। कुछ दूर जाने
र मुझे रास्ता रोके हुए पत्थरों का एक बहुत बड़ा ढेर
मिला। ढेर के ऊपर अर्द्धभग्नावस्था में एक प्रवेश-द्वार दिखाई
पड़ा, जिसके आकार और बनावट से मैंने अनुमान किया कि
दुर्ग का मुख्य प्रवेश-द्वार यही रहा होगा। ऐसा जान
पड़ता था, जैसे वह पत्थरों का ढेर उस मुख्य-द्वार को बन्द
करने के लिए ही लगाया गया है। ढेर के ऊपर से होकर
अन्दर जाने को कठिन जानकर मैं दीवार का सहारा लेते
हुए आगे बढ़ा।

आगे जाने पर ज़मीन ढालू होती गई। एक तरफ़
गहरा खड्ड था। आगे बढ़ना ख़तरनाक था। ज़रा भी
पैर फिसलने पर मैं काल के मुँह में चला जाता, पर
मेरे सिर पर तो क़िले के भीतर पहुँचने का भूत सवार
था। मैं बढ़ता चला गया। कोई आध घंटे के कठिन
परिश्रम के पश्चात् मैं एक ऐसे स्थान पर पहुँचा, जहाँ
दीवार फटी हुई मालूम दी। वहाँ भी पत्थरों का
एक ढेर लगा हुआ था, पर मैं आसानी से उसके ऊपर
चढ़ गया। वह भी एक प्रवेश-द्वार था, पर पहले से
आकार-विस्तार में बहुत छोटा। द्वार के लाँघने पर जो
रास्ता मिला उसके दोनों ओर दीवारें खड़ी थीं। इससे
वह एक गली-सी जान पड़ती थी। न जाने क्यों उस
गली में प्रवेश करते हुए मुझे डर मालूम होने लगा। मेरा
दिल धड़कने लगा।

रास्ता एक ज़ीने पर पहुँच कर ख़त्म हो गया।
सीढ़ियों के ऊपर जाने पर मुझे चारों तरफ़ टूटे-फूटे
मकान-से दिखाई दिये, जिन्हें लाँघता हुआ मैं आगे
बढ़ा। थोड़ी दूर जाने पर मुझे एक चौड़ा चक्करदार
रास्ता मिला, जिसकी उँचाई पर कुछ और मकानों के
खँडहर और भग्न दीवारें दिखाई दीं। कदाचित् वह स्थान
दुर्ग का प्राङ्गण रहा होगा।

मार्ग की कठिन चढ़ाई को तय करता हुआ जब मैं
ऊपर पहुँचा तब मेरा दम फूल गया था। मैं वहीं ज़मीन
पर ज़रा सुस्ताने को बैठ गया। चारों ओर निस्तब्धता
का राज्य था। चन्द्रज्योत्स्ना की शान्त शीतलता सब
दिशाओं में ओत-प्रोत हो रही थी। मैंने क़िले के घेरे का
अनुमान लगाने के लिए इधर-उधर देखा और फिर विचार
करने लगा कि इस स्थान में ऐसा कौन-सा रहस्य छिपा
हुआ है जिसे हशमतअली मुझसे छिपाना चाहते हैं? क्या
मेरा इस तरह यहाँ आना न्यायोचित है? यदि हशमत-
अली को मेरा यहाँ आना मालूम हो गया तो वे क्या
विचार करेंगे? इन्हीं बातों पर विचार करते हुए मुझे ऐसा
प्रतीत हुआ, जैसे मुझे झपकी-सी आ गई हो।

एकाएक कोई भारी चीज़ वायु को बड़े वेग से चीरती
हुई मेरे कान के पास से सनसनाती हुई आकर ज़मीन पर
गिरी। मैं चिल्लाकर तेज़ी से एक तरफ़ हट गया।
एक बहुत भारी पत्थर मेरे सामने कुछ दूर ज़मीन पर
पड़ा था। मेरा शरीर तृणवत् काँप रहा था। भय से दिल
बैठा जा रहा था। हाथ-पाँव सन्न-से हो गये थे।
सहमी हुई नज़रों से चारों तरफ़ देखा। सब ओर पहले
सी निस्तब्धता थी। इतना बड़ा पत्थर किसी व्यक्ति
फेंका जा सकता है, यह बात मुझे असम्भव जान पड़ी।
हो न हो यह पत्थर यहाँ पहले से ही पड़ा होगा।

उसका इस तरह फेंका जाना मेरा भ्रम-मात्र है—इस
विचार को लेकर मैं अपने बिखरे हुए साहस को बटोरने
लगा। उसी अवस्था में मेरे कानों को कुछ आहट-सी
मिली। मैंने चौकन्ना होकर चारों तरफ़ देखा। कहीं कुछ
न था।

मेरे दिल की धड़कन अभी तक जारी थी। उस धड़-
कन के शब्द के साथ मुझे कुछ अस्पष्ट अज्ञात-सा शब्द
सुनाई पड़ रहा था, जैसे किसी के पैर की चाप हो।
मुझे ऐसा मालूम देता था जैसे वह शब्द क्रमशः मेरी
ओर बढ़ रहा है। मैंने इधर-उधर देखा, पर कुछ
निश्चय न कर सका। भय के कारण मेरा बुरा हाल
था। देह शिथिल हुई जा रही थी। श्वास ज़ोर से चल
रहा था। सहसा पास ही मुझे किसी के साँस लेने की धीमी
आवाज़ सुन पड़ी। मेरा रक्त ठण्डा पड़ गया। शरीर में
तन्द्रा-सी आने लगी। मैंने अपना रिवाल्वर निकालना
चाहा, पर किसी अज्ञात शक्ति के वशीभूत होकर मेरा
हाथ वहीं का वहीं रह गया।

"घबराओ मत।" एकाएक किसी अदृष्ट व्यक्ति ने
मुझे सम्बोधित करते हुए कहा—"मैं मित्र-भाव से तुम्हारे
सामने आया हूँ। भगवान् बुद्धदेव की दयादृष्टि के बिना
आप मेरे फेंके हुए पत्थर से बच जाते, यह सम्भव न
था। इसलिए मैंने अपना शत्रु-भाव त्याग दिया है।"

सुनने को तो मैं यह शब्द सुन गया, पर मेरी दृष्टि
बरबस उस बड़े पत्थर पर जा टिकी जिससे अभी मैं बाल
बाल बचा था। यदि वह पत्थर मुझे लग जाता—जैसे
वह मेरे ऊपर फेंका गया था तो मेरी क्या अवस्था होती,
इसके अनुमान-मात्र से ही मेरा हृदय काँप उठा।

पर वह अदृश्य व्यक्ति मेरे इन भावों की ओर ध्यान
दिये बिना कहने लगा—

"एक सहधर्मी के नाते—क्योंकि अब मैं हिन्दू और
बौद्ध को एक ही समझता हूँ, मैं इस दुर्ग की कहानी
तुमसे आद्योपान्त कहता हूँ।"

परन्तु मेरा ध्यान उसकी बातों की ओर न था। मैं
किसी तरह वहाँ से भाग जाना चाहता था। पर मुझे ऐसा
हुआ जैसे उस अज्ञात अदृश्य व्यक्ति के वशीभूत होकर
मेरी इन्द्रिय-सञ्चालन-शक्ति ने मुझे जवाब दे दिया है। मैं
हारकर उसकी कहानी सुनने को बाध्य हुआ।

उसने कहना शुरू किया—

"तुम्हें यह जानकर अचम्भा होगा कि यह दुर्ग जो
इस समय उलूकों का क्रीड़ास्थान बना हुआ है, किसी
समय समृद्ध मौर्य्य-साम्राज्य का गौरव-चिह्न था। प्रातः-
स्मरणीय देवप्रिय सम्राट् अशोक ने अपने पुनीत हाथों से
इसकी नींव रक्खी थी और मेरे पुरखों को यहाँ अधिष्ठित
कर के कहा था--"मैं भारत के इस सिरमौर दुर्ग को
तुम्हें सौंपता हूँ। ख़ैबर भारत का प्रवेश-द्वार है। इसकी
रक्षा भारत की रक्षा है। तुम इसके ड्योढ़ीवान होकर
पुनीत देशभूमि की सदा रक्षा करते रहना।"

"सैकड़ों वर्ष तक मेरे पुरखे अपने इस धर्म्म को
निबाहते रहे। यह दुर्जय दुर्ग वास्तव में भारत की कुंजी
था। दुर्ग को अधिकार में लाये बिना किसी के लिए इस
तंग घाटी से गुज़रना सम्भव न था और दुर्ग की स्थिति ऐसी
थी कि इसे जीतने का कभी किसी को स्वप्न में भी विचार
न होता था। अनेक बार मेरे पुरखों ने मुट्ठी भर आद-
मियों से यहाँ बड़ी-बड़ी सेनाओं के छक्के छुड़ा दिये। पर
एक दिन ऐसा आया जब महाराज अशोक के आदेश को
हम भूल गये। संसार का इतिहास कुछ से कुछ हो गया।"

इतना कहकर वह एकाएक रुक गया जैसे किसी
दुःखद स्मृति की याद से उसका गला भर आया हो।
ज़रा विलम्ब के बाद उसने कहा—

"उस समय मैं इस दुर्ग का स्वामी था। किस तरह
मेरे हाथों मेरे पुरखों की उज्ज्वल कीर्ति पर कालिमा लगी
और कैसे देवप्रिय सम्राट् की यह पवित्र यादगार नष्ट हुई,
उसी की दुःखद कथा मैं कहता हूँ।"

वह फिर चुप हो गया जैसे अतीत की दुःखद स्मृतियाँ
उसके हृदय में सुलग उठी हों। उसने एक दीर्घ निःश्वास
परित्याग कर कहा—

"दुर्भाग्य से उस समय हिन्दू-बौद्ध-धर्म्मों के वैमनस्य
ने जो सदियों से चला आ रहा था, भीषण रूप धारण कर
लिया। दोनों धर्म्मों के अनुयायियों में विरोध-भाव की
एक ऐसी प्रचण्ड लहर उठी जो देश के कोने कोने में

व्याप्त हो गई। दोनों धर्म्म एक दूसरे को समूल नष्ट करने पर तुल गये। इन सीमा-प्रान्तों में, क्योंकि हम लोग बौद्ध-धर्म्मानुयायी थे इसलिए, हम कुछ काल तक इस बखेड़े से बचे रहे......"

मैंने अर्द्धचेतनावस्था में उसकी बात काटकर अत्यन्त आश्चर्य से पूछा—"क्या यह सम्भव है कि किसी समय यहाँ सब बौद्ध-धर्म्मावलम्बी रहे हों?"

"क्यों? इसमें तुम्हें आश्चर्य क्यों हो रहा है? इतिहास इसका साक्षी है।" उसने उत्तर में कहा।

"ये क़बीले......"

"हाँ, यही क़बीले।" उसने मेरा भाव ताड़ कर कहा—"जो सरहद में ऐसी कई घटनायें हुई हैं। एक रोटी के लिए, एक प्याज़ के लिए किसी व्यक्ति को गोली से उड़ा देना एक साधारण बात समझते हैं, यही क़बीले किसी समय देवादिदेव भगवान् बुद्ध के अनुयायी थे। उनके घर में भगवान् की प्रतिमायें थीं।" यह कहते कहते उसकी आवाज़ भर्रा गई जैसे इस स्मृति से उसके अन्तस्तल को मार्मिक यन्त्रणा पहुँची हो।

कुछ देर के बाद अपने हृदयोद्वेग को दबाते हुए उसने व्यथित-कण्ठ से कहा—

"पर हम अधिक दिनों तक इस बखेड़े से अलग न रह सके। मध्यदेश और मगध में बौद्धों पर किये गये अत्याचारों के लोमहर्षण वृत्तान्त लेकर कुछ भिक्षु हमारे यहाँ पहुँचे और हमें हिन्दुओं के विरुद्ध भड़काने लगे।

"संयोग की बात, उन्हीं दिनों मुसलमान सेनायें पंचनद के हिन्दू-राजाओं पर आक्रमण करने के लिए बढ़ीं। किसी प्रकार उद्दण्ड हिन्दुओं का मानमर्दन हो, इसी एक विचार ने हमें विवेक-शून्य बना दिया। कुछ भिक्षुओं के कहने पर मैंने आक्रमणकारी सेनाओं को बेरोक-टोक आगे बढ़ने दिया। धर्म्मान्धता ने हमारी आँखों पर पट्टी बाँध दी। शताब्दियों से देवभूमि की रक्षा का जो भार हमें सौंपा गया था, हम उससे विमुख हो गये और इसका फल हमें शीघ्र ही मिल गया...।" यह कहते कहते उसने एक दीर्घ निश्वास परित्याग किया, जैसे पश्चात्ताप का गुप्त समुद्र उसके हृदय में उमड़ आया हो। कुछ क्षण चुप रहकर वह कहने लगा—

"महाराज जयपाल बेख़बर घिर गये। उनको कभी स्वप्न में भी यह ख़याल न था कि मुसलमान बेरोक-टोक ख़ैबर को पार कर लेंगे। दो-तीन बार की हार से उनका दिल बुझ गया। वे चितारूढ़ हो गये। इस ख़बर से उत्तरार्द्ध में खलबली मच गई। हमारे निंद्य कार्य्य की चर्चा सारे देश में फैल गई। हिन्दुओं का रोष बौद्धों पर और भी उबल पड़ा। बौद्ध-धर्म्म पर चारों ओर से विपत्ति के बादल घिर गये।

"अपनी लगाई हुई आग का यह भयङ्कर दुष्परिणाम देखकर मैं आत्मग्लानि से दुःखी हो उठा। मैंने क्यों नाहक इस बखेड़े में पड़कर देश-घातक हो अपकीर्ति मोल ली, यह विचार कर मेरा अपना हृदय मुझे धिक्कारने लगा। बार बार यही इच्छा होती थी कि मैं प्राणघात कर लूँ।"

मैं दत्तचित्त होकर सुन रहा था।

"कुछ दिनों के बाद मुझे ख़बर मिली कि जयपाल का पुत्र अनङ्गपाल अपने पिता के अपमान का बदला चुकाने के लिए पूरी तैयारी से पुष्पपुर की ओर बढ़ रहा है। इस ख़बर से मेरे डूबते हुए मन को सहारा मिला। मैंने इस युद्ध में वीरगति प्राप्त कर अपने कलङ्क के धोने का अच्छा अवसर देखा और अनङ्गपाल को अपने निश्चय से सूचित किया। यह तय पाया गया कि अनङ्गपाल अपनी सेना को ख़ैबर के उस पार ले जाकर सुलतान महमूद से उसी के इलाक़े में युद्ध करे।

"अनङ्गपाल की चढ़ाई की ख़बर से सुलतान की रातों की नींद हराम हो गई थी। अन्त में उसने बौद्ध-हिन्दू बैर-भाव का आश्रय लिया। उसने बहुत-से भिक्षुओं और मेरे सरदारों को फोड़कर अपनी ओर मिला लिया। हिन्दू सेना पुष्पपुर में अपनी ख़ैबर पार करने की तैयारी में थी। जब वह एक रात को ससैन्य ख़ैबर के इस पार पहुँच गया मैंने सुलतान का पीछा करना चाहा, और [illegible] मेरा साथ न दिया। क़िले में मेरी अवस्था एक क़ैदी की अवस्था से अच्छी न थी। सुलतान की कूटनीति ने मेरे सब मनसूबे खाक में मिला दिये। मैं हाथ मलता रह गया। कैसा दुर्योग आ पड़ा था! मैं समरभूमि में जाकर वीरगति प्राप्त करने को भी स्वतन्त्र न था। उस वेदना की

विवशता में मैंने अपना सिर पीट लिया। मेरी आशायें परकटी चिड़ियों की तरह तड़फने लगीं।

"हिन्दू फिर बेख़बर घिर गये, पर उन्होंने वीरता से विपत्तियों का सामना किया। मुझे लड़ाई की पल पल में ख़बरें मिल रही थीं। सुलतान की सेना सब तरफ़ से पीछे हट रही थी। पर हिन्दुओं का भाग्यसूर्य्य डूब चुका था। सुलतान अपनी बची-खुची सेना को लेकर भागने की तैयारी में ही था कि अनङ्गपाल की सवारी का हाथी बिदक कर एक तरफ़ भागा। इससे हिन्दू-सेना में अबतरी फैल गई। हारे हुए सुलतान के भाग्य ने पलटा खाया। मैदान उसके हाथ रहा।"

यह कहते कहते उसका गला भर आया, आवाज़ करुणार्द्र हो उठी। अपनी कहानी को जारी रखते हुए उसने कहा—

"पंजाब पर मुसलमानों का अधिकार हो जाने से हम लोग चारों तरफ़ विधर्मियों से घिर गये। भारतभूमि से हम लोगों का सम्पर्क टूट गया। अब मेरे सरदारों और भिक्षुओं की आँखें खुलीं, पर किसी को यह विश्वास न हुआ कि सुलतान हमसे दग़ा करेगा।

"थोड़े दिनों के बाद ही सुलतान ने हमारे इलाक़े हथियाने शुरू किये और तलवार के ज़ोर से अपने धर्म्म का प्रचार करने लगा। निरीह प्रजा सुलतान के आतङ्क से अपने पूर्वजों का धर्म छोड़ने लगी। स्थान स्थान पर देवालयों का स्थान मसजिदें लेने लगीं। मैं यह सब देखता और ख़ून का घूँट पीकर रह जाता। मैं ही इस सारे अनिष्ट की जड़ हूँ—यह विचार भाले की तरह मेरे अन्तःकरण को बेधने लगा।

"देखते देखते विधर्म्मी बरसाती घास की तरह चारों ओर फैल गये। एक बात मुझे बड़ी अचरज की जान पड़ी। हमारे अपने आदमी इस्लाम की दीक्षा ग्रहण करने के बाद बड़ी तादाद में सुलतान की सेना में भर्ती होने लगे। वे मुस्लिम पूरी तरह से सुलतान की लूट-खसोट में योग देकर अपने ही भाइयों के ख़ून से हाथ रँगने लगे।

"आख़िर एक दिन सुलतान ने मुझे क़िला ख़ाली कर देने का पैग़ाम भेजा। मेरे इनकार कर देने पर उसने क़िले का घेरा डाल दिया। लड़ाई छिड़ गई। क़िले में उस समय अधिकतर भिक्षु और दूसरे आश्रित भरे पड़े थे। मेरे पास युद्ध करने की पर्याप्त सामग्री भी थी। बहुत दिनों तक सुलतान की सेना हमें घेरे पड़ी रही, पर उसे सफलता न हुई। इस बीच में सुलतान ने कई बार सन्धि के पैग़ाम भेजे, परन्तु मैं हर बार इनकार करता रहा। पर भविष्य स्पष्ट दिखाई दे रहा था। रसद-पानी की कमी से हमें सन्धि करने को बाध्य होना पड़ा। शर्त यह थी कि न सुलतान हमारे धर्म्मकृत्यों में कभी बाधा पहुँचायेगा और न हम भविष्य में उसके ख़िलाफ़ शस्त्र उठायँगे। सुलतान उस समय ग़ज़नी में था। वहाँ से जब उसकी स्वीकृति आ गई तब मैंने भारी मन से क़िले के द्वार खोलने की आज्ञा दे दी।

"सन्धि हो जाने पर पश्चात्ताप का भाव मेरे मन को फिर दुःखी करने लगा। मैं मानसिक और शारीरिक पीड़ा से बेहाल अपने शयनगृह में चला गया और सब घटनाओं का स्मरण करता हुआ विचार-सागर में डूब गया। पता नहीं, मैं कितनी देर तक वहाँ पड़ा रहा। जब एकाएक मैंने विकट कोलाहल सुना, मैं सन्नाटे में आ गया। मन में किसी भावी अनिष्ट की आशङ्का छा गई। मैं बाहर आया। पर जो दृश्य मैंने देखा उस पर मेरी आँखों को विश्वास न हुआ। चारों तरफ़ हृदयहीन मुसलमान सिपाही मारकाट मचाये हुए थे। स्त्रियाँ, बाल, वृद्ध सबको मौत के घाट उतार रहे थे"।

यह कहते कहते उसकी आवाज़ धीमी पड़ गई थी, स्वर दुःखपूर्ण हो चला था। फिर वह खामोश हो गया। जैसे उस लोमहर्षण घटना का चित्र उसके सामने फिर रहा हो।

"फिर!" मैंने अधीरता से पूछा।

"फिर, फिर क्या हुआ, वह भी सुनोगे"? ज़रा रुक कर वह आवेगपूर्ण स्वर से कहने लगा—"पर उन नारकीय पिशाचों ने इस पर भी बस नहीं की। उन्होंने दुर्ग में से कोई चालीस भिक्षु इकट्ठे कर देवालय में बन्द कर दिये और बाहर से आग लगा दी। उनका

अध्यक्ष खुसरोजंग पास खड़ा हुआ यह गर्हित दृश्य देखता हुआ उन्हें उत्साहित कर रहा था। मेरे रोम रोम से चिनगारियाँ निकलने लगीं। मैंने चिल्लाकर खुसरोजंग से कहा—नराधम, सुलतान से सन्धि करने का हमें यह फल मिल रहा है?

उस अधम ने तिरस्कार भाव से उत्तर देते हुए कहा—एक क़ाफ़र के साथ सुलतान की सन्धि कैसी? मैंने त्रस्त भाव से कहा—अरे निर्लज्ज, ईश्वर का तो कुछ डर। खुसरो के सिर पर मौत मँडरा रही थी। उसने क्रूर हँसी हँसकर मेरा तिरस्कार किया। उसके अपमान-जनक व्यवहार से मैं तिलमिला उठा। मेरे तन बदन में आग लग गई, आँखों से खून टपकने लगा। न जाने मुझमें उस समय कहाँ से इतनी शक्ति आ गई कि मैंने पास पड़े हुए एक बहुत बड़े पत्थर को उठा कर उसे मारा। उस पत्थर ने खुसरो और उसके कई साथियों को यमलोक पहुँचा दिया। सुलतान के सिपाहियों में भगदड़ मच गई। किसी को यह विश्वास न होता था कि इतना बड़ा पत्थर कोई मानवीय हाथ उठा कर फेंक सकता है। मैं उन पर अनेक शापों की वर्षा करता हुआ हाथ में खड्ग लिये उनका संहार करने लगा। उनके दिलों पर मेरा ऐसा आतङ्क छा गया कि बहुतों ने प्राचीर से कूद कूदकर अपने प्राण खो दिये। मैं दुर्ग के कोने कोने में उन नर-पिशाचों को ढूँढ़ ढूँढ़कर उनका वध करने लगा। भगवान की लीला, दो घड़ी के अन्दर अभिमानी खुसरो और उसके निरंकुश साथियों का वहाँ नाम-निशान न रह गया।

"मृत्यु अपना विध्वंसकारी नाच नाच चुकी थी। क़िले की रक्तसिञ्चित भूमि, देवालय की जली हुई दीवारें, दुर्ग के सूने निवास-स्थान, सब एक नीरव गम्भीर तान से मौन का गीत गा रहे थे। क़िले में एक भी जीवित व्यक्ति न बचा था। मैं उस भयप्रद निर्जनता में दिन-रात खड्ग लिये पागलों की भाँति दुर्ग में चक्कर काटता रहता था कि कहीं कोई विधर्म्मी फिर इस क़िले में न घुस आवे। उस दिन से मेरा यही क्रम जारी है। जिस किसी मुसलमान ने इधर भूल से भी पैर रक्खा वह मेरे खड्ग का शिकार हुआ।"

इतना कहकर वह चुप हो गया।

मैं इन बातों के सुनने में इतना तल्लीन था कि मुझे अपने शरीर की भी सुध-बुध न रही थी। उसकी बातों का सिलसिला खत्म होने पर मैं एकाएक चौंक पड़ा, जैसे किसी ने नींद से जगा दिया हो। उस समय मेरी आँखों ने जो कुछ देखा उसे याद करते हुए मेरे अब भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मैंने प्रत्यक्ष देखा, मेरे सिर पर कालरूप एक बहुत बड़ा डरावना खड्ग हवा में ठहरा हुआ है। उस भयङ्कर अस्त्र की चमक से मेरी आँखें चौंधिया गईं। डर के मारे सारे शरीर में पसीना आ गया। भय से आँखें मुँदने लगीं, जैसे उनके सामने मुजस्सिम मौत नाच रही हो। मैंने जल्दी से अपना रिवाल्वर निकाला और अन्धाधुन्ध फ़ायर करने लगा। गोलियों की आवाज़ से पहाड़ गूँज उठे। पर दूसरे ही क्षण में रिवाल्वर मेरे हाथ से छूट कर ज़मीन पर गिर पड़ा। मैंने अपने कन्धे पर किसी भारी हाथ का स्पर्श अनुभव किया। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे मेरे हृदय का स्पन्दन बन्द होने लगा हो।

"डरो मत" उस विचित्र व्यक्ति ने गम्भीर स्वर में कहा—"यह खड्ग केवल विधर्मियों के ही खून का प्यासा है। तुम्हारा यह कुछ नहीं बिगाड़ेगा।" और फिर उसी धुन में कहने लगा—"मेरी प्रार्थना का समय होगया है। चलो तुम्हें देवालय में ले चलूँ। अपना वह हथियार उठा लो।" यह कह कर वह विचित्र हाथ मुझे एक तरफ़ ले चला। रिवाल्वर उठाकर मैं मन्त्रमुग्ध-सा उधर बढ़ने लगा।

थोड़ी दूर जाने पर कुछ सीढ़ियाँ आईं, जिनसे उतर कर एक गली-सी मिली जो एक बारहदरी में पहुँच कर खत्म हो गई। बारहदरी के एक सिरे पर बिना पट का एक द्वार मिला। यह देवालय का द्वार था।

देवालय एक कमरे की शकल का था, जिसकी ऊँची विशाल छत बड़े बड़े खम्भों पर स्थित थी। अन्दर जाने पर मुझे किसी जले हुए शव की दुर्गन्ध-सी उठती जान पड़ी। सामने एक ऊँचे चबूतरे पर भगवान् बुद्ध की मूर्ति स्थापित थी। दीवारों पर जहाँ-तहाँ भगवान् बुद्ध के जीवन के चित्र अङ्कित दिखाई पड़ते थे, पर आग की लपटों और धुएँ के निशानों के कारण वे स्पष्ट नहीं थे। मुझे अपने चारों तरफ़ कुछ अस्पष्ट-सी मूर्तियाँ घूमती हुई ज्ञान पड़ीं, जैसे पूजा की सामग्री जुटाने में व्यस्त हों। मैं भक्तिभाव से भगवान् बुद्ध की प्रतिमा के सामने झुक गया और एक प्रकार की अपूर्व शान्ति का अनुभव करने लगा।

"अब मुझे प्रार्थना में शामिल होना है, चलो तुम्हें बाहर तक पहुँचा आऊँ", यह कहकर वही अदृश्य हाथ मुझे देवालय से बाहर ले चला। मैं चुपचाप देवालय से बाहर आ गया। भवन में से छोटी छोटी घंटियों की मधुर ध्वनि निकलकर चारों ओर वायु में झङ्कार पैदा करने लगी। आरती शुरू हो गई थी।

थोड़ी दूर जाने पर पत्थरों का एक ढेर आया। उस व्यक्ति ने मुझे आखिरी बार सम्बोधित कर के कहा—"अब मैं विदा होता हूँ। इस ढेर के ऊपर से होते हुए आप दुर्ग के बाहर हो जावें।" यह कह कर वह वापस लौट गया। उसके पैर की चाप क्रमशः मुझसे दूर होती गई। पत्थरों के ढेर को पार करने के बाद मैं क़िले के बाहर हो गया।

प्रातःकालीन उषा की रक्तिमा से चन्द्रमा सफ़ेद हो चला था। चाँदनी क्रमशः फ़ीकी पड़ रही थी। नीचे सड़क पर कुछ दूर एक काफ़िला गुज़र रहा था। ऊँटों के गले पड़ी हुई घंटियाँ और घुटनों पर के घुँघरू ठीक उसी लय से बज रहे थे जो लय मैंने प्रार्थना-भवन से बाहर आते हुए सुनी थी। मैं पत्थरों के ढेर के पास ही इस विचित्र घटना-चक्र पर विचार करने के लिए बैठ गया।

"हा! हा! हा!" किसी ने मुझसे परिचित आवाज़ में हँसते हुए कहा—"मैं आपका बिस्तर खाली देखकर फ़ौरन समझ गया था कि आप इधर क़िले की तरफ़ गये होंगे। उठिए, घर चलें।"

मेरा जैसे ध्यान भंग हो गया। मैं शून्य में देखता हुआ उठ बैठा। सामने हशमतअली अपने सहज सरल स्वभाव में खड़े हुए हँस रहे थे।

"यह अच्छा ही है जो यह रास्ता पत्थरों के ढेर से बन्द है।" उन्होंने अपनी बात को जारी रखते हुए कहा। मैंने घूमकर देखा, मुझे अचरज हुआ। मैं क़िले के मुख्य द्वार पर लगे हुए ढेर के पास बैठा हुआ था। मैं समझ न सका कि मैं इस स्थान पर किस वक़्त और कैसे पहुँच गया। मुझे चुप देखकर हशमतअली ने मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर मुझे उठाते हुए कहा—"इस क़िले में जाना ख़तरे से ख़ाली नहीं। चलिए।"

"ख़तरा! कैसा ख़तरा?" मैंने चौंक कर कहा। मेरा आगे बढ़ा हुआ पाँव वहीं रुक गया।

"क्या मैंने ख़तरा कहा था? नहीं नहीं आपको भ्रम हुआ है। चलिए मैं आपको इस क़िले का हाल कहे देता हूँ।" उन्होंने बात पलटते हुए कहा।

"यह क़िला ज़माना क़दीम में शाहंशाह अशोक ने ख़ैबर की हिफ़ाज़त के लिए बनाया था। ऐसी हमारे यहाँ रवायत चली आ रही है।" हशमतअली ने कहना शुरू किया।

"अच्छा।" मैंने अचम्भित होकर कहा। उस अदृश्य व्यक्ति की कहानी मुझे अक्षरशः याद हो आई।

"छः-सात सौ साल पहले यहाँ सब बौद्ध रहते थे......।"

"बौद्ध!" मैंने उनकी बात काट कर कहा—"यहाँ बौद्ध रहते थे!"

"क्यों इसमें अचरज की कौन-सी बात? हम लोग सभी तो किसी समय बौद्ध थे।" हशमतअली ने उत्तर में कहा।

"आप लोग जो इस समय एक रोटी के लिए आदमी को गोली से उड़ा देते हैं कभी बौद्ध रहे होंगे—अहिंसा के अवतार भगवान् बुद्धदेव के अनुयायी?" न जाने क्यों मैंने उस अदृश्य व्यक्ति के कहे हुए शब्द दोहरा दिये।

हशमतअली ठठाकर हँस पड़े—"ख़ुदा गवाह है। आपने यह बात बड़ी मार्के की कही है। मैं तो कहूँगा कि हम इतने बेरहम इसी लिए हैं कि किसी वक़्त हमारी क़ौम बहुत ज़्यादा रहमदिल थी।" हाँ मैं क्या कह रहा था? "तो उस वक़्त यहाँ कोई ऐसी दुर्घटना हो गई जिससे लोगों ने यहाँ आना-जाना छोड़ दिया। तब से यह क़िला वीरान पड़ा है।"

यह बात सुनते ही मैं ठिठक कर रह गया, जैसे मार्ग में विषधर साँप आ गया हो। सुलतान महमूद के सिपाहियों-द्वारा किये गये जघन्य कांड के वृत्तान्त का चित्र मेरी मानसिक दृष्टि के सामने खिँच गया।

"कैसी दुर्घटना ?" मैंने बेताबी से पूछा ?

"यह तो मैं नहीं जानता। इसके सम्बन्ध में इतना ही हम लोग सुनते आये हैं कि यहाँ कोई दुर्घटना हो गई थी।" हशमतअली ने अन्यमनस्क-सा होकर उत्तर दिया। पर उसके ढंग से साफ़ मालूम होता था जैसे वह बहुत-कुछ जानते हुए भी अनजान बन रहा था।

× × × ×

मेरा सामान बँध चुका था। हशमतअली मेरी धर्म-पत्नी के लिए अपनी बेगम से कुछ उपहार लेने के लिए अन्तःपुर में गया था। एकाएक मेरा अर्दली घबराया हुआ मेरे पास आया—"आपका रिवाल्वर......!" "क्या चोरी चला गया है ?" मैंने उसकी बात काटकर कहा। सरहदी एक अच्छे हथियार के लिए अपनी जान जोखिम में डालना एक मामूली बात समझते हैं, इसलिए मुझे यही भ्रम हुआ कि मेरा रिवाल्वर चोरी चला गया है।

"नहीं नहीं! इससे किसी ने कोई हत्या कर दी है। देखिए न ये चार ख़ाली कारतूस इसमें पड़े हैं।"

यह बात सुनते ही मेरा रंग उड़ गया। हवा में ठहरा हुआ वह खड्ग और अपने अन्धाधुन्ध गोलियाँ चलाने का स्पष्ट चित्र मेरी आँखों के सामने खिंच गया। उस अत्यन्त भयावह दृश्य के स्मरण से मेरा करेजा काँप उठा। माथे पर ठण्डा पसीना आ गया। मैं वहीं बैठ गया और क्रमानुसार उन सब घटनाओं पर विचार करता हुआ सोचने लगा।

"वह स्वप्न तो न था ?"

मैं कुछ निश्चय न कर सका।

निवेदिता

लेखक, श्रीयुत गिरीशचन्द्र पन्त

मैं सन्तों की ही अमृत उक्ति पर पग रखती चुप सकुच नाथ!
पर देख रही अब दे न सकेगी वह भ्रम-तम का अभय साथ।
तुम हो? कहाँ? और कैसे? ये प्रश्न हूलते मृत्यु-शूल।
प्रिय, इन शूलों में बिंध-बिंधकर ही बलि होगा क्या तरुण फूल!

मैं हँसी-हँसी में अनजाने ही चढ़ा गई सर्वस्व-भेंट।
दुर्भाग बदा था हाय मुझे यों रो-रो बहना ही अकूल!
प्रिय, साक्षी होंगे प्रतिपल बढ़ती इन प्राणों की तीक्ष्ण पीर!
यह वृश्चिक-दंशन-सी असह्य डँसती नित ही उर, मन, शरीर!

क्या यही भविष्य बना स्वामी, बोलो, मुझको तो अप्रतीति।
भय नहीं मुझे यंत्रणा-शोक का, अन्धकार की एक भीति!
ए प्रतिपल के मधु-स्वप्न ज्योतिमय, फिरे कभी यदि सदय ध्यान!
'चैतन्य' सदृश दिखला देना बस एक विपल निज छवि महान!

———

नवयुवकोपयोगी साहित्य

बाबू कालिदास कपूर 'सरस्वती' के पुराने लेखक हैं। आप शिक्षा के विशेषज्ञ हैं। इस लेख में आपने नवयुवकों के साहित्य की रचना के सम्बन्ध में उपयोगी विचार प्रकट किये हैं।

लेखक, श्रीयुत कालिदास कपूर, एम० ए०, एल-टी०

हिंदी-भाषा में बाल्यावस्था और यौवनावस्था के संधिकाल का नामकरण करने के लिए कोई शब्द नहीं मिला। अँगरेज़ी में इस संधिकाल को 'एडोलोसेंस' कहते हैं। इँग्लिस्तान में यह काल १४-१५ वर्ष की अवस्था से १८-२० वर्ष की अवस्था तक चलता है। इस देश का जलवायु अपेक्षाकृत उष्ण होने के कारण यहाँ परिपक्वता अधिक शीघ्र आती है। इसलिए यहाँ यह काल १२-१३ वर्ष की अवस्था से १६-१८ की अवस्था तक चलता है। इस काल से माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षकों का विशेष सम्बन्ध रहता है। पाश्चात्य देशों के मनोवैज्ञानिकों ने इस संधिकाल की मानसिक अवस्था का विशेष अध्ययन किया है और लेखकों ने इस काल की मानसिक अवस्था के उपयुक्त साहित्य के निर्माण करने की चेष्टा की है। यहाँ इस काल के लिए शब्द ही नहीं मिला, मनोवैज्ञानिक अध्ययन और उपयुक्त साहित्य-निर्माण तो बहुत दूर रहा। लेखक ने इस काल का 'नवयौवन' नाम रखने की धृष्टता की है। शब्द-शास्त्री क्षमा करें।

पहले नवयौवनावस्था की मानसिक दशा का साधारण विवरण कर देना आवश्यक है। साधारण बालकों में १२-१३ वर्ष की अवस्था से एक विशेष परिवर्तन होने लगता है। उनकी बाढ़ पहले से अधिक हो जाती है। वे मोटे नहीं होते, अपितु यदि बाल्यावस्था में मोटे भी हुए तो मोटाई छँटने लगती है। हाँ, उनकी हड्डी बढ़ने लगती है और इस कारण वे लंबाई में बढ़ने लगते हैं। शरीर की चर्बी अपेक्षाकृत नहीं बढ़ती, इसलिए रूक्षता आने लगती है और गाल पिचकने लगते हैं। मनोवैज्ञानिकों का विचार यह है कि प्रत्येक पुरुष में कुछ अंश स्त्रीगत हाव-भाव का रहता है और प्रत्येक स्त्री में कुछ अंश पुरुषगत हाव-भाव का रहता है। इस संधिकाल में इस अंश का विकास होता है। जिन बालकों में स्त्रीगत अंश अधिक रहता है उनका दूसरे ढंग के बालकों से मेल होने लगता है। यदि पाठशाला और समाज का वातावरण अच्छा होता है तो यह मेल आजीवन प्रगाढ़ मैत्री का मार्ग पकड़ता है, और यदि यह वातावरण दूषित होता है तो इस पारस्परिक आकर्षण के अनेक दुष्परिणाम होते हैं। धीरे धीरे होंठ और जबड़े की रश्मियाँ प्रत्यक्ष होने लगती हैं। दाढ़ी पूरी होने पर यौवनकाल का समागम होता है।

विद्वानों का विचार है कि जो वीर्य-विकास शरीर की बाढ़ को तीव्र करता है वही नवयौवन के मानसिक विकास में उत्तेजना का रंग लाता है। प्रतियोगिता का भाव खूब ज़ोर पकड़ने लगता है। हम दौड़ में फ़र्स्ट हों, सालाना इम्तिहान में फ़र्स्ट हों, इनाम मिले, खूब लोग तारीफ़ करें। यदि यह न हो सके, तो खूब सैर करें, ऊँची ऊँची पहाड़ियों पर चढ़ें, बड़ी बड़ी नदियों को पार करें, और कुछ न सही, तो कोई ऐसा आविष्कार ही कर डालें, ऐसी कोई चीज़ ही बना डालें जिसको देखकर लोग वाह वाह करें, पीठ ठोंकें, इनाम दें। यदि इस उत्तेजना को उचित प्रोत्साहन नहीं मिलता, यदि उत्तेजित नवयुवक दूषित वातावरण में पड़ जाता है, तो वह अपनी उत्तेजना को जिस ढंग से शान्त करने का प्रयत्न करता है उससे उसकी शारीरिक और मानसिक हानि होती है। अतएव शिक्षक और माता-पिता का प्रथम कर्तव्य है कि जीवन के इस सन्धिकाल पर विशेष ध्यान दें और

बालक-बालिकाओं के लिए उस सामग्री को जुटायें, उनके लिए ऐसा वातावरण बनायें जिसमें उनकी ईश्वरदत्त उत्तेजना उनके शारीरिक और मानसिक विकास में सहायक हो। इसकी समुचित सामग्री और वातावरण की तैयारी के लिए बहुत-से सहयोगियों की आवश्यकता है।

हिन्दी-साहित्य में बालोपयोगी साहित्य की कुछ समय से विशेष सृष्टि होने लगी है। इसके लिए बालकों की ओर से लेखकों को अनेकानेक धन्यवाद। परन्तु नवयुवक पाठकों की शिकायत है कि उनके लिए पुस्तकें तो दूर रहीं, हिन्दी में कोई पत्रिका भी नहीं है। कुछ समय तक स्वर्गीय पंडित रामजीलाल शर्मा ने 'विद्यार्थी' को नवयुवकोपयोगी बनाने की चेष्टा की, परन्तु सफल न हो सके और 'विद्यार्थी' को विश्राम लेना पड़ा।

नवयुवकोपयोगी साहित्य में किस प्रकार के ग्रंथ होने चाहिए, इसका अनुमान हमें अँगरेज़ी-साहित्य में इसके इतिहास से मिलता है। पहले प्रतियोगिता के कार्य केवल स्त्री-पुरुष के विवाह के लिए ही किये जाते थे। राम-द्वारा धनुष-भंजन और उनका वन-वन भ्रमण सीता-प्राप्ति के लिए ही हुआ। यूनानी वीरों ने बड़े बड़े वीरता के कार्य और भयानक भ्रमण किसी प्रेमिका की प्राप्ति के लिए ही किये। फिर मध्यकाल में ईसाई-जातियों ने यरूशलम को मुसलमानों से स्वतन्त्र करने के लिए जो युद्ध किये और उन युद्धों के चारों ओर कहानी-लेखकों ने जो वीर-गाथायें गूँथीं उनमें धार्मिक लक्ष्य की ही विशेषता है। आधुनिक काल में सर वाल्टर स्काट ने अपने देश के स्काट नवयुवकों को अपनी कहानियों का नायक बनाकर उनसे देश देश की सैर कराई, अनेक वीरता के कार्य कराये, और उनके द्वारा पाठकों को अपने देश के नवयुवकों पर गर्व करने का मंत्र दिया। परन्तु नायिका की आवश्यकता उनको भी रही और वे अपने नायकों को योरप के बाहर न भेज सके। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के संधिकाल तक अँगरेज़ लेखक और उनके नवयुवक पाठक ब्रिटिश साम्राज्य का महत्त्व समझने लगे और उस पर गर्व करने लगे। तब अँगरेज़ी-साहित्य में उन उपन्यास-लेखकों का उदय हुआ जिनमें अग्रगण्य नाम श्री जी० ए० हेंटी का है। इन्होंने अपने नवयुवक अँगरेज़ नायकों को ब्रिटिश साम्राज्य के प्रत्येक भाग की सैर कराई और उनसे अनेक वीरता के कार्य कराये। प्रेमिकायें उन्हें भी मिलीं, परन्तु वे उनका ध्येय न थीं। लेखक ने उनका ध्येय कोई ऐसा ही रक्खा जिसकी पूर्ति से मनुष्यजाति का भला हो और ब्रिटिश साम्राज्य का गौरव बढ़े। कहीं ये अँगरेज़ नवयुवक अफ़्रीका के निग्रो स्त्री-पुरुषों को ग़ुलामी से छुड़ाते मिलते हैं, कहीं ये चीनियों को अफ़ीम की ग़ुलामी से स्वतन्त्र करते दिखाई देते हैं, और कहीं ये किसी हिन्दू-विधवा को अपने मृत पति के शव के साथ जलने से रक्षा करने का पुण्य लूटते मिलते हैं। बीसवीं शताब्दी के पदार्पण से वैज्ञानिक आविष्कारों की धूम हो रही है। ये इस शताब्दी के नवयुवक अधिक समझदार हैं। वे कहानियाँ ही नहीं पढ़ना चाहते, वे आधुनिक आविष्कारों का साधारण ज्ञान भी चाहते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के भावुकतावाद के विपरीत अब वे वास्तविकतावाद के भक्त हैं। आधुनिक लेखक नवयुवक-समाज की इस माँग को पूरा कर रहे हैं। इनमें अग्रगण्य नाम श्री आर्थर मी का है। इनकी बुक ऑफ़ नॉलेज में कहानियाँ, कवितायें और वीर-गाथायें ही नहीं हैं, आधुनिक आविष्कारों और अन्वेषणों का भी रोचक और सरल अँगरेज़ी में वर्णन है।

अँगरेज़ी-भाषा में नवयुवकोपयोगी साहित्य की प्रगति के उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण के पश्चात् अब हमें यह देखना है कि इस साहित्य की सृष्टि हम हिन्दी-भाषा में किस प्रकार कर सकते हैं। पहली कमी लेखकों की है। इसकी पूर्ति किस प्रकार हो?

हिन्दी-भाषा और साहित्य के शिक्षकों के सामने विचारात्मक और विवरणात्मक निबन्धों और पुस्तकों के तो कई अच्छे नमूने हैं, परन्तु उन्हें वर्णनात्मक शैली के अच्छे नमूने नहीं मिलते। फलतः वे अपने शिष्यों से पुराने ढर्रे के निबन्ध ही लिखाया करते हैं। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्', 'यतो धर्मस्ततो जयः' ऐसे ही विषयों पर बालकों से लेख लिखाये जाते हैं। हिन्दी—शुद्ध टकसाली हिन्दी—संयुक्त-प्रान्त की भाषा है, परन्तु हाई स्कूल-कक्षा के परीक्षकों का अनुभव है कि परीक्षार्थी वर्णनात्मक निबन्ध नहीं लिख पाते। सरल भाषा, रोचक ढङ्ग और वर्णन के साथ विचारों की लड़ी का गूँथना—ये वर्णनात्मक निबन्ध के आवश्यक अंग हैं। क्या ही अच्छा हो यदि हिन्दी के अधिकारी लेखक प्रयत्न करके ऐसे निबन्धों के नमूने नवयुवक-समाज के सामने रख सकें।

किसी विशेष कमी की पूर्ति करने के लिए लेखकों को तैयार करने का दूसरा मार्ग है उस विषय की एक पत्रिका निकालना। एक ऐसी पत्रिका की बहुत आवश्यकता है जो नवयुवक पाठकों के लिए ही हो। अँगरेज़ी-भाषा में ऐसी बहुत-सी पत्रिकायें हैं। इन पत्रिकाओं में आधुनिक आविष्कारों के आश्चर्यजनक वर्णन, वीरगाथायें, नवयुवकों की भ्रमण-कहानियाँ, हास्यरस के चुटकुले, एकांकी नाटक, छोटी छोटी चीज़ों के बनाने के ढङ्ग—ऐसे ही विषय रहते हैं। प्रकाशक समझते होंगे कि हिन्दी में ऐसी पत्रिका की खपत नहीं हो सकती। उन्हें विश्वास दिलाना है कि पाठकों की संख्या संयुक्त-प्रान्त में ही लाखों तक है। आपने उनके हृदय तक पहुँचने का भी प्रयत्न किया है? कर देखिए।

पत्रिका-द्वारा लेखकों के तैयार होने तक पुस्तकों की प्रतीक्षा करना ठीक नहीं है। हिन्दी में ऐसे लेखक विद्यमान हैं जो उचित प्रोत्साहन मिलने पर नवयुवकोपयोगी साहित्य की सृष्टि कर सकते हैं। प्रेमचन्द जी सफल उपन्यास-लेखक हैं। इस देश के नवयुवकों ने अन्य देशों में जाकर धर्म-प्रचार किया है और अपने उपनिवेश स्थापित किये हैं। इस ऐतिहासिक सामग्री के सहारे वे और उनकी प्रतिभा से टक्कर लेनेवाले सुदर्शन जी नवयुवकोपयोगी उपन्यास लिख सकते हैं। डाक्टर गोरखप्रसाद जी ने कई ग्रन्थ वैज्ञानिक विषयों पर लिखे हैं। यदि वे नवयुवकों की रुचि के उपयुक्त शैली का गुरु-मन्त्र प्राप्त कर लें तो आधुनिक आविष्कारों और अन्वेषणों पर बहुत अच्छी पुस्तकें लिख सकते हैं। पण्डित श्रीराम जी शर्मा ने 'शिकार' शीर्षक पुस्तक में वर्णनात्मक शैली का बहुत अच्छा नमूना हमारे सामने रक्खा है। श्री भूपनारायण ने भी कई नवयुवकोपयोगी पुस्तकें लिखी हैं। इनसे हास्य-रस की सामग्री मिल सकती है। श्री जी० पी० श्रीवास्तव ने अपनी पुस्तकों में नवयुवक विद्यार्थियों का बहुत मनोरंजक चित्र खींचा है।

लेखक ने नवयुवकोपयोगी साहित्य के ही विषय में चर्चा की है। नवयुवतियों का भी हिंदी-साहित्य पर उतना ही अधिकार है। परन्तु लेखक को उनके विषय में लिखने का उतना अधिकार नहीं है। इस विषय पर कोई श्रीमती अध्यापिका जी ही लिखें।

अज्ञात

लेखक, श्री हृदयनारायण पाण्डेय "हृदयेश"

किस अनहद-राग से मिलाके निज स्वर-झरने सुनाते उर-तंत्री हैं विजन में,
वह कौन गान, जिसे सुनते ही मुग्ध होके, मेघ निज मुरज बजाते आ गगन में?
उषा-मुख-ज्योति, रवि किसका है मंजु मुख, किसकी दशन-द्युति व्याप्त उडुगन में?
किसे देख पल्लवों का घूँघट निकाल, झुक, तरुओं की ओट में लतायें लुकीं वन में॥

थिरक थिरक नृत्य करके रिझातीं किसे, कलकल गान सरितायें गातीं वन में,
किसके हैं ध्यानरत आसन लगाये गिरि इतना जो चेतना भी शेष है न तन में?
निशि-दिन, शशि-रवि आरती दिखाते किसे, लता-द्रुम पत्र-पुष्प देते उपवन में,
चरण पखारता है सिंधु किस देवता के, कौन प्रेमी बन बसा प्रकृति के मन में?

धूम

लेखक,

श्रीयुत महन्त धनराजपुरी

१

उस अग्नि-शिखा के ऊपर,
वह क्या है काला काला ?
क्या कमल-कोश पर है वह—
मँड़राती मधुकर-माला ?

२

या अग्नि-देव के धनु से—
निकला वह काला शर है ?
या वह्नि-ताप से विकला,
पृथ्वी का केश-निकर है ?

३

या वायु-वेग से तृण के,
ये सार खिंचे आते हैं ?
या दग्ध-तृणों के आँसू—
बन वाष्प उड़े जाते हैं ?

४

या सत्व-हीन-सा जर्जर,
हत-भाग्य, दैन्य का मारा !
उस दुखिया तृण का साथी,
है वही धूम बेचारा ?

५

यह दुखिया दीन अभागा,
थक रहा आज चलने में !
मैं पूछूँ तो उससे, है—
क्या कुछ मिठास जलने में ?

६

क्यों उमड़ रहे बादल-से
हे धूम ! अग्नि के ऊपर ?
क्या तेरे लिए नहीं है—
कुछ कहीं जगह इस भू पर ?

७

जब ज्वलित द्रव्य का जलना,
लख कर घबरा जाते हो !
तब मुक्त-वायु में जाकर,
क्या शान्ति धूम ! पाते हो ?

८

मानव-दृग निकट कभी तुम,
जब अपनी दशा दिखाते !
तब तेरे दुख को लखकर,
चख आँसू हैं टपकाते !

९

हा ! हा ! कर जलने लगते,
जब काष्ठ अग्नि को पाकर !
तब दुख-गाथा क्या उनकी,
कहते अनन्त से जाकर ?

१०

थे काष्ठ-राज्य में बन्दी,
विचरण सपना था पलभर !
अब जेलमुक्त होकर क्या—
स्वच्छन्द घूमते नभ पर ?

११

लख अपने सुहृद तृणों को,
जलते, हे धूम ! सयाने !
चुपचाप चले जाते क्या—
नभ में वारिद को लाने ?

१२

कुछ ध्यान नहीं देता है,
जग तुमको तुच्छ समझ कर !
क्या भूल बताने जाते—
उसकी बन जलद गरज कर ?

१३

था ज्वलित द्रव्य को जब तक—
सुख, तुम थे मौज उड़ाते !
लख उसे नष्ट होते क्या—
तुम अब हो भागे जाते ?

१४

दे अग्नि-परीक्षा अपनी,
तृण जूझ रहे हैं लड़कर !
पर क्यों तुम भागे जाते,
कायर-से तृण को तज कर ?

१५

ऊपर को जाते जाते,
क्यों लौट लौट आते हो ?
क्या मित्र दशा को लखकर—
तुम चैन नहीं पाते हो ?

१६

थे अग्नि-ताप में तुम भी,
पर चले न तृण-सम जलकर !
उपहास अग्नि का करके—
क्या जाते रथ पर चढ़ कर ?

१७

थे ज्वलित काष्ठ-सँग इससे—
जल गया अङ्ग कुछ तेरा !
क्या उसी जलन के मारे—
दे रहे व्योम में फेरा ?

१८

बन्दी थे तुम दोनों ही,
अतएव क्रोध में भरकर !
अब अग्नि जलाता तृण को,
तुम लखते क्या हँस हँस कर !

१९

या मित्र दुःख से दुःखी—
हो, जरा नहीं कल पाते ?
ऊपर अनन्त में अपना—
अस्तित्व मिटाने जाते ?

२०

सचमुच अनन्त के सम्मुख,
दुख व्यर्थ वह्नि से पाकर !
न्यायार्थ भेजते हैं क्या—
तृण तुमको दूत बनाकर !

हिन्दू-धर्म क्या है ?

लेखक, श्रीयुत श्रीप्रकाश एम० एल० ए०

बाबू श्री प्रकाश जी ने इस लेख में हिन्दू-धर्म पर जिस दृष्टि-कोण से विचार किया है वह हृदयग्राही और मनोरम है। इस लेख से हिन्दू-धर्म का महत्त्व एवं उसकी व्यापकता अनायास ही बोधगम्य हो जाती है। पाठकों को यह मनोरञ्जक प्रतीत होगा, इसमें सन्देह नहीं है।

सी चीज़ की परिभाषा देना कठिन ही नहीं, असम्भवप्राय है। परिभाषा करते हुए बड़े बड़े विद्वान भी गड़बड़ा जाते हैं। प्राचीन यूनान के सुप्रसिद्ध दार्शनिक और शिक्षक अरस्तू ने जब 'मनुष्य' की यह परिभाषा की कि 'वह बिना पर का दो पैर का जन्तु है', तब उसके किसी तबीयतदार और मनचले विद्यार्थी ने एक मुर्ग़ के सब पर नोचकर और उस पर यह लिख कर कि 'यह अरस्तू का मनुष्य है', उनकी मेज़ पर रख दिया। तब से संसार के सभी विद्वान् परिभाषा करने से घबराते हैं, वस्तु-विशेष का वर्णन-मात्र करके अपने को संतुष्ट कर लेते हैं। यूक्लिड की प्रसिद्ध परिभाषायें भी वर्णन ही हैं। कुछ लोग अपने प्राण बचाने के लिए निषेधात्मक परिभाषा देते हैं, जिस प्रकार 'ब्रह्म' की परिभाषा 'नेति नेति' से दी गई है। ऐसी अवस्था में मेरे ऐसे अल्पबुद्धि व्यक्ति के लिए हिन्दू-धर्म ऐसे विशाल और जटिल विषय की परिभाषा देने का यत्न करना दुःसाहस होगा। और लोगों की दिखलाई परम्परा के अनुसार निषेधात्मक शब्दों और उसके वर्णन से ही मैं भी अपना संतोष कर लूँगा।

हिन्दू-धर्म उस अर्थ में धर्म नहीं है जिस अर्थ में साधारण प्रकार से धर्म समझा जाता है। वह 'मज़हब' या 'रिलीजन' नहीं है। उसके अंतर्गत बहुत-से सम्प्रदाय हैं, जो 'मज़हब' शायद कहे जा सकते हैं। पर उस आचार-विचार को 'मज़हब' नहीं कह सकते जिसका व्यापक संकेत 'हिन्दू-धर्म' से होता है। हमारे यहाँ 'धर्म' शब्द का बहुत-से अर्थों में प्रयोग होता है। 'कर्तव्य', 'नित्यकर्म', 'लोकाचार', 'सद्व्यवहार', 'रीति-रस्म', सभी धर्म कहे जाते हैं। जब 'हिन्दू-धर्म' की चर्चा होती है तब सबके मन में प्रधान रूप से भी एक ही प्रकार के भाव उसके संबंध में नहीं होते। गौण रूप से तो सभी में अन्तर है, पर हमारे धर्म की विशेषता है कि मुख्य मुख्य बातों में भी समानता नहीं है। जब बौद्ध-धर्म, ईसाई-धर्म अथवा इस्लाम-धर्म का नाम लिया जाता है तब सबके मन में कुछ ख़ास ख़ास विचार एकाएक उठ आते हैं। विवेचना करने पर चाहे अन्तर प्रतीत हो, पर प्रधान बातों में विचार-भेद नहीं होता। लेकिन शायद ही दो हिन्दू ऐसे मिलें (जब तक कि उसके अन्तर्गत सम्प्रदाय-विशेष के सदस्य दोनों न हों) जिनका इसके संबंध में एक ही विचार है। ऐसा होने पर भी वे अमुक सम्प्रदाय का ही अपने को कहते हैं। हिन्दू तो उनके लिए एक साधारण विशेषण है, जिसका कोई ख़ास महत्त्व नहीं है, न जिसका कोई विशेष प्रभाव ही उनके प्रतिदिन के जीवन पर पड़ता है।

किसी भी धर्म के ('रिलीजन' या 'मज़हब' के अर्थ में) तीन प्रधान अंग होते हैं। पहले में हमें बतलाया जाता है कि संसार की सृष्टि कैसे हुई। ('संसार' का अर्थ उस सबसे है जिसका अनुभव हम अपनी इन्द्रियों से कर रहे हैं।) सब मज़हब अपने अनुयायियों को समझाने का यत्न करते हैं कि दुनिया कहाँ से और कैसे आई। दूसरा अंग कर्मकाण्ड का होता है, जिसमें धर्म-विशेष के अनुयायियों को यह बतलाया जाता है कि किन किन प्रकारों से जीवन के भिन्न भिन्न अवसरों पर विशेष विशेष कार्य करना चाहिए। यह एक प्रकार से 'संस्कारों' का अध्याय होता

है। गर्भाधान से मृत्यु तक जो विशेष विशेष घटनायें होती हैं उनके नियमन, नियंत्रण, प्रदर्शन आदि के रूप इसमें बतलाये जाते हैं। अवश्य ही सब मज़हबों का यही बाह्य रूप होता है। प्रायः इसी पर सबसे अधिक ज़ोर भी दिया जाता है। इसी में परस्पर का प्रधान अन्तर भी पाया जाता है। इसी के कारण आन्तरिक एकता अर्थात् प्रेम और बाह्य अनेकता अर्थात् विद्रोह पैदा होता है। तीसरा अंग नैतिक आदेशों का होता है, जिसमें यह बतलाया जाता है कि व्यक्ति विशेष का अन्य व्यक्तियों और समष्टि के प्रति क्या कर्तव्य है। मनुष्य के कठोर जीवन को सुचारु रूप से संगठित करने और परस्पर सद्व्यवहार स्थापित कर समाज से मनोमालिन्य और अन्य प्रकार की कठिनाइयों को हटाने का प्रयत्न इसके द्वारा किया जाता है।

सारा उद्देश्य यह है कि मनुष्य जिसे विवश होकर संसार में जन्म लेना पड़ता है, अपने शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक जीवन को इस प्रकार व्यतीत करे कि उसे और उसके द्वारा दूसरों को सुख मिले, और उचित मार्ग से चलने पर अनिवार्य मृत्यु के बाद भी सुख की आशा और अनाचार करने पर दुःख का भय देकर सब को एक निर्दिष्ट मार्ग पर रक्खा जाय, जिससे अभीष्ट प्रकार से संसार चला जाय। उदाहरण के लिए ईसाई मज़हब को लीजिए। उसकी एक धर्मपुस्तक है। वह ईसाइयों के लिए सर्वमान्य है। पहले तो वह यह बतलाती है कि संसार की उत्पत्ति कैसे हुई। ईश्वर, आदम, हौआ, शैतान आदि का वर्णन करती है। फिर यह बतलाती है कि ईसाई के क्या क्या संस्कार हैं, जिनसे कोई व्यक्ति ईसाई कहा जा सकता है। इसमें बपतिस्मा, विवाह-पद्धति, प्रार्थना के प्रकार, मृत्यु के समय के कृत्य आदि सब बतलाये हैं। साथ ही इसमें दया, दान, माता-पिता की भक्ति, अतिथियों का सत्कार, सदाचार आदि का आदेश है। इसी प्रकार सभी मज़हबों का विभाग कर उनकी परीक्षा की जा सकती है। हिन्दू-धर्म के अन्तर्गत भिन्न भिन्न सम्प्रदायों में भी ये विभाग देखे जा सकते हैं। नानकपंथ, कबीरपंथ, रामानुज, वल्लभ, राधास्वामी आदि सम्प्रदायों की यदि विवेचना की जाय तो मालूम होगा कि उनके विश्वासों के आधार भी ये ही भाव हैं और भी सृष्टि की रचना के कारण, अपने विशेष सम्प्रदाय के बाह्य रूप, और सदाचार के प्रकार बतलाते हैं।

अब हिन्दू-धर्म क्या है ? पहले तो 'हिन्दू' शब्द से ही यह प्रतीत होता है कि यह न किसी विशिष्ट पुरुष का सूचक है, जिसने इस धर्म का प्रवर्तन किया हो, न इसके पास कोई ऐसा ग्रंथ ही है जिसे वह स्रष्टा को देकर अपने संबंध का ज्ञान प्रदान कर सके। 'हिन्दू' तो हिन्द के रहनेवाले, सिन्धु नदी 'पार' के बसे हुए लोग हैं, न किसी विचार-विशेष के अनुयायी। आज भी अमरीका में भारतीय—चाहे वे मुसलमान या ईसाई ही क्यों न हों—'हिन्दू' ही कहे जाते हैं। हिन्दू-शब्द भी नया शब्द है। उस व्यवस्था को जिसे मोटे तौर से 'हिन्दू' कहते हैं, पुराने ग्रन्थों में, इसकी प्रमाण-पुस्तकों में, 'मानवधर्म' 'सनातनधर्म' या 'वर्णाश्रम-धर्म' कहा है। 'मानवधर्म' से यह मालूम पड़ता है कि जो लोग इसके प्रवर्तक रहे हों मनुष्य-मात्र का धर्म बतला रहे हैं। यों तो कहा जा सकता है कि सभी मज़हब सारे मनुष्य-समाज को अपनाना चाहते हैं, पर हिन्दू-धर्म की यह अवश्य विशेषता है कि उसने बिना किसी संस्कार-विशेष के—बिना बपतिस्मा या सुन्नत के—सबको अपना लिया और सबके लिए व्यवस्था कर डाली है। 'सनातनधर्म' इस बात का सूचक है कि इसके संस्थापकों के अनुसार यह अनादि-अनन्त है। यह मनुष्यों के आन्तरिक स्वभाव, प्रकृति, प्रवृत्ति पर स्थापित है, जो साधारणतः सबके लिए सदा अपरिवर्तनीय ही समझी जा सकती हैं। 'वर्णाश्रम' यह दर्शाता है कि इस धर्म में वर्ण और आश्रम की व्यवस्था कर सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन का संगठन किया गया है। इन्हीं शब्दों पर ही ध्यान रखने से हम इसे समझ सकेंगे।

हिन्दू-धर्म कोई मज़हब नहीं है, वह किसी व्यक्ति-विशेष या देवता-विशेष का उपासक नहीं है, वह किसी विशेष विचार का प्रचारक या किसी विशेष परलोक का प्रवर्तक नहीं है। वह वास्तव में सारे मनुष्य-समाज के सुदृढ़ संगठन का एक प्रकार है और उसका आधार दो आध्यात्मिक विश्वासों—कर्म और पुनर्जन्म—पर है। यदि ये दो विश्वास न हों तो जो समाज-संगठन हिन्दू-धर्म चाहता है, वह कदापि नहीं हो सकता। चाहे कितने ही सम्प्रदाय हमारे बीच में क्यों न हों, जहाँ तक मैं जानता हूँ, किसी भी सम्प्रदाय के किसी भी अनुयायी को इन दो बातों में शंका नहीं होती। सब हिन्दू यह मानते हैं कि हम जो कुछ हैं अपने कर्म के कारण हैं और जैसा कर्म हम करेंगे उसी के अनुसार हम आगे के जन्म में होंगे। ये दो विश्वास दृढ़ कर समाज का संगठन किया जाने का विशाल प्रबन्ध हिन्दू-धर्म ने किया है। थोड़े में हिन्दू-धर्म स्वयं ही एक समाज-संगठन है, जिसमें कर्म और पुनर्जन्म के विश्वास के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति का जन्म से ही समाज में पद और कार्य निर्दिष्ट कर दिया गया है। कोई भी पद छोटा बड़ा नहीं है। सभी अपने अपने स्थान पर सम्मान के योग्य हैं, सभी सबकी सहायता करते हैं, सभी समाज-रूपी विराट् पुरुष के ज़रूरी अंग हैं। जब सब सबकी सहायता और पुष्टि करेंगे तभी व्यक्ति और समष्टि दोनों का ही लाभ हो सकता है।

संसार में मनुष्य हैं। और सभी मनुष्य सुख चाहते हैं। सुख के लिए व्यक्तिगत और समाजगत संगठन की आवश्यकता है। मनुष्य होने से ही उसके ऊपर मानव-धर्म लागू हो जाता है। उसकी सुख की अभिलाषा सनातन होने के कारण उस पर सनातन-धर्म लागू हो जाता है। बिना समुचित संगठन किये मनुष्य के लिए सुख संभव नहीं है, अतएव उस पर वर्णाश्रम-धर्म लागू हो जाता है। संसार में मनुष्य पैदा हुआ। माता-पिता ने उसका भरण-पोषण किया। उसको अपने पैरों खड़ा होने के योग्य बनाया। अब उसको संसार में किसी कार्य में लगना ज़रूरी है। क्या वह करे ? बहुत दौड़-धूप करने, नाक रगड़ने, ठोकर खाने की क्या आवश्यकता है ? आख़िर उसके पिता का भी तो कोई काम रहा है। सभी काम संसार के लिए आवश्यक हैं। कोई काम ख़राब नहीं है। काम करनेवाला ख़राब हो सकता है। जाति जाति का काम बँटा हुआ है। हर एक व्यक्ति के लिए पैदाइश से ही काम तैयार है। उसी काम को वह उठा ले। उसे ठीक तरह करे। उसी में अपना और सबका भला समझे।

पर व्यक्ति कहता है कि यह काम मेरे योग्य नहीं है। मैं इससे बहुत अच्छे काम के योग्य हूँ। मुझे उसका मौक़ा मिले। तब समाज कहता है—जैसा तुम्हारा कर्म था उसी के अनुरूप तुम्हारी जाति है और उसी के अनुकूल तुम्हारा काम है। एक व्यक्ति की अहंमन्यता के कारण समाज की दुर्व्यवस्था नहीं होने दी जा सकती। तुमको यही काम करना होगा। यदि इसे अच्छी तरह करोगे, यदि कर्तव्य-परायण होगे, तो तुम्हें ऊँची जाति और ऊँचा काम किसी आगे के जन्म में दिया जायगा। अपनी महत्त्वाकांक्षा को थोड़ा दबाये रहो। सब कुछ समय से होगा। यदि कर्म और पुनर्जन्म में विश्वास न हो तो कदापि यह संभव नहीं है कि व्यक्ति को इस प्रकार आश्वासन दिया जा सके। वर्ण की व्यवस्था जन्म से ही प्रत्येक के लिए उपयुक्त पद को प्राप्त कर सकने की व्यवस्था है। वर्ण-युक्त समाज में व्यक्ति अपनी जाति विशेष की भर्त्सना और प्रशंसा की ही फ़िक्र करता है। दूसरी जाति के लोग उसे क्या समझते हैं, इसकी उसे चिन्ता नहीं रहती। इसी से वह काम ठीक तरह कर सकता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र की वर्णव्यवस्था इन्हीं भावों और उद्देश्यों का सूचक है।

प्रत्येक व्यक्ति के लिए—चाहे वह किसी जाति का क्यों न हो, चाहे वह कोई भी काम क्यों न करता हो—एक निश्चित रूप से रहना आवश्यक है। अपने जीवन के प्रथम भाग में उसने संसार के कार्य के योग्य अपने को बनाने के लिए समुचित शिक्षा प्राप्त की, चाहे शिक्षा पाठशाला की हो या व्यावहारिक खेत और कल-कारखाने की हो। दूसरे भाग में उसने उस शिक्षा को काम में लाकर उसके द्वारा अपना और अपने घरवालों का भरण-पोषण किया और साथ ही समाज के आवश्यक अंग की पुष्टि कर उसकी सेवा की। उसके लिए यह उचित है कि एक ख़ास आयु तक पहुँच कर वह अपना काम, स्वयं अलग होकर, दूसरों के सुपुर्द कर दे। उसके लिए ही यह अच्छा है, चाहे वह सांसारिक दृष्टि से कितना ही सफल-

प्रयत्न क्यों न रहा हो। उसे विश्राम मिलता है और दूसरे उससे बुरा नहीं मानते, यह नहीं चाहते कि वह मरे जिससे हमें भी आगे बढ़ने का मौक़ा मिले। यह सबको जान लेना चाहिए कि संसार में कोई भी ऐसा नहीं है कि उसके बिना संसार का काम ही नहीं चल सकता। बड़े से बड़े लोग आये और चले गये। संसार चला जाता है। ऐसा विचार कर समय से अपने काम से अलग होना अपने लिए और दूसरों के लिए भी कल्याणकारी है। विश्राम की अवस्था में अपने अनुभव से वह दूसरों की सेवा बिना कुछ लिये कर सकता है। जब इसके भी योग्य वह न रह जाय और प्राण शरीर न छोड़े तब वह तपस्या कर आगे के लोक के लिए बिना इस लोक पर बोझ हुए तैयारी कर सकता है।

प्रथमे नार्जिता विद्या द्वितीये नार्जितं धनम्।
तृतीये न तपस्तप्तं चतुर्थे किं करिष्यति ॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास की आश्रम-व्यवस्था इन्हीं भावों और उद्देश्यों का सूचक है।

हिन्दू-धर्म ने आश्रम की व्यवस्था कर व्यक्तियों को शान्ति देने का यत्न किया है, जैसे वर्ण की व्यवस्था कर समाज को शान्ति देने का यत्न किया है। उसने हमारे सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन से उस भयंकर चढ़ा-उतरी को हटाना चाहा है जिसने आज हमारे सामने ऐसी ऐसी घोर समस्यायें उपस्थित कर दी हैं कि हम लोग त्रस्त और किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं। आधुनिक समाज ने व्यर्थ ही कुछ काम को छोटा या नीच मान लिया है, कुछ को बड़ा और गौरवयुक्त। सब ही लोग इन बड़े कामों के लिए दौड़ते हैं। सब उन्हें पा नहीं सकते, निराश होते हैं। जो काम कर सकते हैं सो भी नहीं करते, जिससे उनका ह्रास होता है। इसी से आज की भयंकर दुरवस्था फैली हुई है। भगवान् कृष्ण ने ठीक कहा है—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

यात्रा-मुहूर्त

लेखक, श्रीयुत अनूप

(१)

प्राची-गर्भ-जात उषा-सहित प्रभाकर में,
नीर-निधि-निहित प्रतीची के उदर में।
मेरी जिगमीषा बसी पूर्व और पश्चिम में,
उदयाचलों में और सिन्धु के विवर में॥
देखो, बनी मूर्त है पुकार वरुणालय के,
तारों के, तथैव नील व्योम के अधर में।
प्रेयसि! बनाता हमें पागल तुम्हारा वह,
विनत प्रणाम चलने के अवसर में॥

(२)

जानते नहीं हैं कहाँ स्वच्छ पथ जाता यह,
क्या है हरिताभ ये पहाड़ नहीं ज्ञात है।
बाट बाट जोहती है, नदियाँ पुकारती हैं,
टेरता समुत्सुक विहंगमों का व्रात है॥
व्योमचारी मित्र ही हमारा है विचित्र मित्र,
पथ को दिखाती हमें तारों की जमात है।
ज्यों ही एक बार आती कान में पुकार वही,
सूझता न कुछ भी दिवस है कि रात है॥

(३)

फैला हुआ सम्मुख क्षितिज है प्रलम्बमान,
मानो अभिलाषा ने भ्रुवों को ही तनेना हो।
पोत जो पुरातन पधारते गृहों को आज,
ज्ञात नहीं नौकायें नवीन यदि खेना हो॥
चाहे लौट आवें शीघ्र जाना है परन्तु हमें,
पूछो मत कारण जो उत्तर न लेना हो।
तारों को, दिनेश को, पथों को, और अम्बर को,
देती रहो दोष, दोष ही जो तुम्हें देना हो॥

मराठों की विफलता का एक प्रधान कारण

लेखक, महाराजकुमार रघुवीरसिंह एम० ए०, एल-एल० बी०

सीतामऊ राज्य के महाराजकुमार रघुवीरसिंह जी इतिहास के विद्वान् ही नहीं किन्तु उसके प्रवीण लेखक भी हैं। उन्होंने पूर्वमध्यकालीन भारत का इतिहास लिख कर तद्विषयक विद्वानों की प्रशंसा प्राप्त की है। इस लेख में मराठों के जिस दृष्टिकोण को उपस्थित किया है, आशा है उस विषय के विद्वान् उस पर विचार करेंगे।

प्रत्येक राष्ट्र तथा देश के उत्थान का इतिहास जितना आकर्षक होता है, उतना आकर्षक तथा हृदयग्राही उसके पतन का विवरण नहीं होता, किन्तु राष्ट्रीय दृष्टि से देशों और जातियों के पतन की विवेचना ही अधिक उपयोगी तथा लाभदायक होती है। किसी जाति का पतन क्योंकर हुआ, किन किन कारणों से उस जाति की वह दशा हुई, उसे कौन कौन-सी कठिनाइयाँ सहन करना पड़ीं और अन्त में किन किन प्रगतियों के फलस्वरूप वह जाति सर्वदा के लिए विनष्ट हो गई या उसका अस्तित्व बना रहा, वहाँ तक उस जाति या राष्ट्र के उत्थान का उसके जातीय जीवन का ठीक ठीक महत्त्व नहीं आँका जा सकता है। उत्थान और पतन का इतना गहरा सम्बन्ध है, दोनों के कारणों तथा प्रभावों में इतनी घनिष्ठता है कि उनको अलग अलग करना कठिन ही नहीं, असम्भव हो जाता है। यही कारण है कि जहाँ तक उस पतन की विवेचना न की जाय, उसके उत्थान की ठीक ठीक आलोचना नहीं की जा सकती। जिन जिन कमज़ोरियों के कारण, जिन जिन त्रुटियों या क्षतियों के फलस्वरूप उस जाति या राष्ट्र का पतन हुआ उनको जाने बिना उस जाति या राष्ट्र के उत्थान की पूर्णता या अपूर्णता तथा उस उत्थान के ठीक प्रकार को नहीं जान सकते।

पतन का इतिहास ठीक तरह लिखना, पतन के कारणों को ढूँढ़ निकालना और उनकी विवेचना करके उनके उचित सापेक्ष्य महत्त्व को जान कर उसका निर्देश करना कोई साधारण कार्य नहीं है। प्रायः प्रत्येक इतिहासकार एकआध दृष्टिकोण को ही महत्त्व देता है, और यों उसमें सर्वांगीयता का अभाव होता है। परन्तु यह एकांगीय विवेचना भी अपना महत्त्व रखती है। जहाँ तक किसी भी विशेष दृष्टिकोण की ठीक ठीक विशद विवेचना न की जाय, वहाँ तक उस देश या जाति के महान् इतिहासकार उसको समुचित महत्त्व न देकर इतिहास को सर्वांगीय न बना सकें, ऐसी आशंका बनी रहती है। इसी कारण जो दृष्टिकोण इस लेख में रक्खा गया है वह चाहे एकांगीय ही प्रतीत हो, परन्तु है बड़े महत्त्व की बात। अतएव इतिहासकारों के सम्मुख उसे रखना चाहता हूँ, जिससे आलोचना-प्रत्यालोचना हो और अधिकारी इतिहासकार इस पर विचार कर अपना मत प्रकट करें।

मराठों के पतन के अनेक कारण होना बताये जाते हैं, परन्तु अपने विचारानुसार एक प्रधान कारण यह था कि मराठों की सत्ता, उनका उत्थान एक प्रतिक्रिया-मात्र थी। उस प्रतिक्रिया का बृहत् स्वरूप उनके इतिहास में देख पड़ता है। यह उत्थान नव-जीवन का सूचक न था। महान् सांस्कृतिक संघर्षों तथा

राष्ट्रीय जीवन में होनेवाली महान् क्रान्तियों के फल-स्वरूप जो नवीन स्फूर्ति राष्ट्रीय जीवन में देख पड़ती है उसका आभास मराठों की सत्ता में नहीं देख पड़ता। मुग़लों की सत्ता या एक प्रकार से मुसलमानों के आक्रमणों के विरुद्ध उठनेवाली प्रतिक्रिया ही धीरे धीरे अवसरानुकूल वातावरण पाकर इस स्वरूप में प्रकट हुई। जिस कारण इस प्रतिक्रिया में प्रायः इतिहासकार नवजीवन का आभास देखते हैं वह है मुग़लों की सत्ता का खोखलापन। मुग़लों का साम्राज्य औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद कोई २० वर्ष के बाद ही एकबारगी ढह गया, और मराठों को महान् यश ही नहीं, सत्ता भी प्राप्त हो गई। परन्तु प्रतिक्रियाओं में न तो स्थायित्व ही पाया जाता है और न उनमें नूतनता ही होती है, समय के साथ वे धीरे धीरे निर्बल हो जाती हैं, और उस समय उस प्रतिक्रिया का अन्त अवश्यम्भावी हो जाता है। जब प्रतिक्रिया का प्रधान कारण नष्ट हो जाता है तब प्रतिक्रिया में निर्बलता आने लगती है और उस प्रतिक्रिया के विरोध में एकाकी कोई नूतन तथा अधिक बलवती शक्ति उठ खड़ी होती है। मराठों के पतन का विवरण उपर्युक्त वाक्य के अन्तर्गत ही आ गया है। मुग़लों के या यों कहिए मुसलमानी सत्ता के विरुद्ध यह प्रतिक्रिया उठी थी, और मुग़लों के साम्राज्य के विनष्ट होते ही उसका भी पतन होने लगा। मुग़लों के अन्त के साथ ही प्रतिक्रिया का प्रधान कारण भी न रहा। और प्रधान कारण के बिना यह प्रतिक्रिया किस प्रकार स्थायी रह सकती थी? तब उसका अन्त केवल समय की ही बात रह गया था। और जब इस प्रकार मराठों की सत्ता में निर्बलता आने लगी, उसी समय अँगरेज़ों के स्वरूप में एक ऐसी शक्ति समुपस्थित हुई जो मराठों का विरोध करने लगी और जिसने अन्त में मराठों की सत्ता को विनष्ट कर डाला। यदि अँगरेज़ न भी आते तो भी मराठों की सत्ता का चिरस्थायी बना रहना और विशेषतया उस स्वरूप में जो रूप १८ वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में उसका था, एक असम्भव बात प्रतीत होती है। मराठों की उस सत्ता का अन्त एक अवश्यम्भावी घटना थी। यह दूसरी बात है कि अनुकूल वातावरण होने के कारण उसके अधिक व्यापक अवशेष आज भी देख पड़ते हैं, और राजनैतिक क्षेत्र में उनका अपना महत्त्व भी है। इसका मतलब यह न समझा जाय कि मराठों की सत्ता का कोई चिह्न न रहता, उन चिह्नों का मिटाना असम्भव बात थी। परन्तु जिस स्वरूप में चिह्न रहते वे दूसरे ही स्वरूप में होते। मुग़लों की सत्ता के चिह्न आज भी बाक़ी हैं; परन्तु उनके राजनैतिक अवशेष आज देखने को नहीं मिलते।

मराठों के उत्थान में नवजीवन की स्फूर्ति का किस प्रकार पूर्ण अभाव है, यह स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है। उनकी सत्ता का अन्त होने पर भी क्या वे भारत में नवजीवन की चिनगारी छोड़ गये हैं? इस प्रश्न का उत्तर ही मेरे दृष्टिकोण का समर्थन करता है। प्रतिक्रिया नष्ट हो जाती है, वह अपने पीछे राख का ढेर भले ही छोड़ जाय, परन्तु उसमें चिनगारियाँ नहीं पाई जातीं। उसके विपरीत नव-जीवन के प्रादुर्भाव के समय जो आवेश आता है वह भले ही कम हो जाय, कभी ऊपरी दृष्टि से विनष्ट हो जाय, परन्तु उसका बीज कभी नहीं नष्ट होता, उसका प्रभाव अदृष्ट रूप में रह कर भी इतना चिरस्थायी होता है कि राजनैतिक जीवन में उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। वह बीज फूटे बिना नहीं रहता। अन्दर ही अन्दर सुलगती हुई दबी आग कभी कभी भड़क ही उठती है। इस दृष्टि से भी यह स्पष्ट है कि महाराष्ट्र में नवजीवन की चिनगारियाँ नहीं पाई जातीं। सन् १८०२ में बसीन की सन्धि से जब उस प्रकार मराठों की सत्ता विनष्ट हो गई तब उसके बाद महाराष्ट्र में कोई राष्ट्रीय विप्लव नहीं देखने को मिला। तृतीय मराठा युद्ध कुछ मराठा शक्तियों का विरोध तथा बाजीराव पेशवा का अन्तिम प्रयत्न-मात्र था। प्रतिक्रिया भी अपने चिह्न छोड़ जाती है। किन्तु ऐतिहासिक चिह्नों में तथा राष्ट्रीय जीवन की चिन-गारी में बहुत भेद होता है। मराठों की सत्ता का

पतन हुआ, और उसके साथ ही राष्ट्रीय सत्ता का भी अन्त हो गया। उसके बाद राष्ट्र-निर्माण का भार दूसरे कन्धों ने ही वहन किया, और अन्य कारणों के फलस्वरूप होनेवाली जाग्रति दूसरी ही धाराओं में बह निकली। स्वतन्त्र भारत तथा भारतीय संस्कृति का जो स्वरूप मराठों की सत्ता में देख पड़ता है उसमें तथा १९वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में देख पड़ने-वाले नवीन राष्ट्रीय उत्थान तथा सांस्कृतिक जाग्रति में कोई अन्तर्निहित एकता या घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। जो प्रवाह शिवाजी के उत्थान के समय में उमड़ा वह पेशवाओं के समय में जाकर सूख गया। भारतीय इतिहास के गम्भीर आलोचक तथा सांस्कृतिक उत्थान और पतनों की विवेचना करनेवाले इतिहासकार श्रीजयचन्द्र विद्यालंकार इसी बात को दूसरे शब्दों में यों व्यक्त करते हैं—"१५ वीं और १६ वीं शताब्दी में, उसके (भारतीय जाति के) भिन्न भिन्न अंगों में परस्पर विनिमय और प्रवाह उत्पन्न कर उसमें फिर से एक व्यक्तित्व पैदा करने की चेष्टायें हुईं—उन्हीं को हम मध्यकालीन पुनर्जाग्रति कहते हैं। किन्तु जीवन की मन्दता ऐसी थी कि ये नई लहरें भी थोड़े ही समय में गतिशून्य हो गईं। समूची जाति को एक बनाने की चेष्टा कुछ नई जातियाँ और नये फ़िरक़े पैदा करके ही ठण्डी हो गईं। उस जाति में जीवन जगाने के लिए उसके जीवन के प्रत्येक पहलू में विक्षोभ पैदा कर देने की ज़रूरत थी जो ये लहरें न कर सकीं।" (भारतभूमि और उसके निवासी पृष्ठ २८९) और जो बात भारत के सांस्कृतिक और धार्मिक क्षेत्र के इतिहास के लिए सत्य है वह राष्ट्रीय तथा राजनैतिक जीवन के लिए भी उसी प्रकार यथार्थ हुई है। और चूँकि ये लहरें विक्षोभ न पैदा कर सकीं, वह जागृति केवल-प्रतिक्रिया-मात्र बन कर रह गई। प्रतिक्रिया में जब कोई अन्तर्निहित महान् कारण होता है तब धीरे धीरे वह प्रतिक्रिया जागृति में परिणत हो जाती है। प्रतिक्रिया तथा नवजीवन-जागृति का प्रारम्भ समान ही होता है, परन्तु उनके अन्त में आसमान-पाताल का-सा अन्तर हो जाता है। और इसी अन्त के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कोई जागृति प्रतिक्रिया-मात्र है या उसने नवजीवन-जागृति का भी स्वरूप धारण कर लिया है।

मराठों के पतन के जिन कारणों पर सर देसाई जी ने "मेन करण्ट्स आफ़ मराठा हिस्ट्री" नामक अपनी पुस्तक में विशद विवेचना की है उन सबसे भी यह स्पष्ट होता है कि मराठों में जाग्रति हुई, उनका उत्थान हुआ, परन्तु उसमें नवजीवन की स्फूर्ति न थी। मराठों का उत्थान मुग़लों की हिन्दू-प्रजा के एकीकृत विरोध के स्वरूप में हुआ, परन्तु हिन्दुओं की सत्ता का पुनरुत्थान करना, उनको संगठित करके उस सम्मिलित हिन्दू-शक्ति को स्थायी स्वरूप प्रदान करने का उद्देश मराठे राजनीतिज्ञों तथा साम्राज्य-निर्माताओं का रहा हो, ऐसा नहीं देख पड़ता। मराठों के उत्थान के अन्तर्गत मुग़लों के विरुद्ध विरोध की गहरी भावना देख पड़ती है, परन्तु हिन्दू-सत्ताओं की एकता तथा उनमें सांस्कृतिक समानता स्थापित करने के उद्देश का चिह्न नहीं पाया जाता। 'हिन्दू-पद-पादशाही' को स्थापित करना मराठे शासकों, मन्त्रियों तथा सेना-पतियों का उद्देश रहा हो, उसकी स्थापना के लिए प्रयत्न किये गये हों, परन्तु 'हिन्दू-पद-पादशाही' का अर्थ यही था कि मराठों का ही एकच्छत्र शासन हो। आर्य-हिन्दू-सत्ताओं को संगठित करना, उनकी शक्तियों को एक सूत्र में बाँधना और उस संगठित स्वरूप को भारतीय हिन्दू-साम्राज्य का स्वरूप देना उनका उद्देश न था। और जब एक प्रकार से मराठों को 'हिन्दू-पद-पादशाही' स्थापित कर चुकने का आभास हुआ तब इस ओर उनकी विफलता का इससे अधिक ज्वलन्त उदाहरण क्या मिल सकेगा कि जिस सत्ता को उखाड़ फेंकना उनका उद्देश था उसी सत्ता के नाम के आधार पर उन्होंने अपनी शक्ति तथा अपने आधिपत्य को स्थायित्व प्रदान

करने का प्रयत्न किया। मराठों की यह सांस्कृतिक विफलता, उनकी नीति की वे भयंकर ग़लतियाँ जिनके फलस्वरूप भारत की अन्य हिन्दू-शक्तियाँ प्रारम्भ में उनकी सहायक, समर्थक तथा पक्षपाती हो कर भी अन्त में मराठों की ही कट्टर शत्रु हो गईं, तथा सबसे अधिक हिन्दू-शक्तियों का पुनरुत्थान करने में मराठों की विफलता ही यह बात स्पष्टतया बताती है कि उनकी नीति में, उनके उद्देश में नव-जीवन का प्रवाह न था। प्रारम्भ में मराठों की मित्र शक्तियों को यह जान पड़ा कि शायद वे एक नवीन सन्देश लेकर आये हैं, परन्तु जब समय के साथ उनकी नीति तथा उनकी राजनैतिक बुद्धि का खोखलापन ज्ञात हुआ तब वे उनके विरोधी हो गईं। मराठों के उत्थान से राष्ट्रीय उत्थान का महान् उद्देश पूरा हुआ हो, ऐसा नहीं जान पड़ता, और न कभी इस प्रकार का उत्थान करने का प्रयत्न ही किया गया। जातीय उत्थान तथा अपने ही आधिपत्य को स्थापित करने का उद्देश उनके सम्मुख था, और ये भाव मुग़लों के बढ़ते हुए प्रवाह और उनके साम्राज्य के दबाव के विरुद्ध उठनेवाली प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ही पैदा हुए थे।

नवजीवन की स्फूर्ति कभी मराठों में रही हो, ऐसा नहीं देख पड़ता। उनकी सत्ता के उत्थान के साथ ही एक प्रकार से उनकी शक्ति के पतन का प्रारम्भ हो गया। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि इस प्रतिक्रिया की चिनगारी को भड़काने तथा उसे दावानल का स्वरूप देने का श्रेय मराठों के महान् विरोधी सम्राट् औरंगज़ेब को है, मराठों को नहीं। और एक बार शक्ति तथा शासन का रस चखकर कौन उसे छोड़ सका है? एक बार शेर को मनुष्य का ख़ून लग जाता है, फिर उसे मनुष्य-वध का चस्का लग जाता है, और अशक्त होने पर भी निरन्तर मनुष्य-वध का प्रयत्न किया करता है, वैसे ही जब जातीय शक्तियों को राष्ट्र जीतने तथा उनको अपने आधिपत्य में लाने का चस्का लग जाता है, विजित शक्तियों से प्राप्त धन की चाट पड़ जाती है, तब वह नहीं छूटती। यही बात मराठों के साथ भी हुई। १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अपने विरोधी मुग़ल-साम्राज्य पर आक्रमण कर अपना बदला लेने की सूझी, और इस प्रकार चस्का लग जाने पर जब मुग़ल-साम्राज्य शक्ति-विहीन होगया तब तो उसे जीत कर उस पर अपना आधिपत्य स्थापित करना तथा अपनी विजय-लिप्सा पूर्ण करना ही उनका उद्देश रह गया। मराठों के उत्तर-भारत-विजय का एक महान् कारण आर्थिक लिप्सा भी थी। पानीपत के युद्ध के बाद तो इस लिप्सा का बहुत ही बीभत्स स्वरूप देखने को मिलता है! इसी बात को सर यदुनाथ सरकार स्पष्ट शब्दों में यों लिखते हैं—"नवीन संजीवित मराठा-शक्ति की उच्चाकांक्षा तथा उनकी शक्ति का क्षेत्र उत्तरी-भारत में केवल राजपूताना का उजाड़ मरुभूमि तथा बुंदेलखण्ड के बीहड़ जंगलों तथा ऊबड़-खाबड़ स्थलों तक ही सीमित रहा, और यह सारा प्रदेश हिन्दू-शासकों तथा सत्ताओं के अधीन था। इस क्षेत्र में मराठों की आगामी ४० वर्षों की (१७६५-१८०५ ई०) क्रियाशीलता का परिणाम यह हुआ कि राजपूतों के हृदय में मराठों के प्रति वह घृणा उत्पन्न होगई जो अब तक विनष्ट नहीं हो सकी है।" (फ़ाल आफ़ दी मुग़ल एम्पायर, खण्ड २ पृष्ठ ३५७-८)।

मराठों की शक्ति में, उनके साम्राज्य में यह बात स्पष्ट देख पड़ती है कि धीरे-धीरे उनमें निर्जीवता आती गई है। उस सत्ता में प्रधान शक्ति निरन्तर नीचे ही खिसकती चली गई है। एक-दो पीढ़ी बाद ही जब जब शासक तथा सत्ताधारी निर्बल और निकम्मे हो गये तब तब वह शक्ति उनके अधीन कर्मचारियों के हाथ में चली गई; मराठा राजाओं के हाथ में से वह पहुँची पेशवा के हाथ में और जब पेशवा भी उसका भार न सँभाल सके तब नाना फड़नवीस-से साधारण कर्मचारी ने उस सत्ता को सँभाला। धीरे-धीरे राष्ट्रीय सत्ता के ऊपरी वर्ग में निर्जीवता आती गई और ज्यों-ज्यों सत्ता नीचे के पदाधिकारियों के हाथ में जाने लगी, त्यों-त्यों उस सत्ता की शक्ति का भी ह्रास होने लगा और उन शासकों की नीति दिन दिन संकुचित होने लगी। नवजागृत राष्ट्र में, जीवन की स्फूर्ति से पूर्ण शक्ति में, यह संकुचितता तथा निर्जीवता नहीं आने पाती। ज्यों प्रत्येक वर्ष वृक्षों के सूखे पत्ते झड़ जाते हैं और उनके स्थान पर नये उत्पन्न हो जाते हैं, त्यों ही जीवनपूर्ण राष्ट्र तथा सत्तायें भी निकम्मे शासकों को फेंक देती हैं और उनके स्थान पर उसी आसन पर दूसरे योग्य कार्यकर्ता आसीन होते हैं। परन्तु जब समूचा वृक्ष ही निर्जीव होने लगता है तब प्रथम वृक्ष के ऊपरी पत्ते सूखते हैं और अन्त में तना भी सूखकर गिर पड़ता है। मराठों की सत्ता का निरन्तर नीचे खिसकना और अन्त में विनष्ट हो जाना वृक्ष के सूखने के समान है। और जो जीवन धीरे-धीरे विनष्ट हो जाय और विशेषतया जिसमें प्रारम्भ से ही निर्जीवता आने लगे उसमें नवजीवन की स्फूर्ति है, ऐसा कैसे माना जा सकता है? राष्ट्रीय जीवन में एकबारगी उठ कर धीरे-धीरे शान्त होनेवाली शक्ति प्रतिक्रिया ही होती है, नवजीवन की लहर इसके विपरीत दिनोंदिन अधिकाधिक शक्ति-शाली ही होती जाती है। उसमें निर्जीवता का क्या काम?

संकीर्णता तथा नवीन आदर्शों की अवहेलना, उनके प्रति अवज्ञा का भाव मराठों के राजनैतिक विचारों तथा आदर्शों तक ही सीमित न था, परन्तु ये प्रत्येक बात में पाये जाते थे। स्वार्थ के लिए कई बार नवीन बातों की सहायता उन्होंने ली, परन्तु वह भाड़े की चीज़-मात्र रही, स्वार्थ-साधन की ही वस्तु रही, उसे पूर्णरूप से स्वीकार नहीं किया। मराठों का उत्थान उस युग में हुआ जब पुर्तगालियों ने जहाज़ी बेड़े तथा समुद्री सत्ता का महत्त्व स्थापित कर दिया था। पुनः अपने पिछले दिनों में औरंगज़ेब को भी सामुद्रिक शक्ति का राजनैतिक घटनाओं पर पड़नेवाला प्रभाव मानना पड़ा था तो फिर भी मराठों ने सामुद्रिक शक्ति के प्रति अवज्ञा दिखाई और आंग्रे के बेड़े को नष्ट करने के बाद उसके पुनर्निर्माण का प्रयत्न न करना उनकी शक्ति में उन्नतिशीलता का पूर्ण अभाव प्रदर्शित करता है। मुग़लों की सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए जो जो बातें मराठों को आवश्यक प्रतीत हुईं उन्हीं की ओर उन्होंने ध्यान दिया, दूसरों के प्रति घोर अवज्ञा दिखाई। वैज्ञानिक बातों से उन्हें एक प्रकार की घृणा थी, उनकी ओर ध्यान देना, उनमें धन आदि व्यय करना अनुचित प्रतीत हुआ, क्योंकि धर्म की संकुचित व्याख्या जिसका कि इस युग में पूर्ण प्राधान्य था, उन्हें इस ओर अग्रसर नहीं होने देती थी। तोपें ढालने के लिए भाड़े के विदेशियों से काम लिया जाता था, और सेना-संचालन का काम भी भाड़े के टट्टुओं से ही लिया जाता था। और भाड़े के टट्टुओं से कहाँ तक काम चलता? धर्म की वह संकुचित व्याख्या, उसका अक्षरशः पालन और उनके फलस्वरूप होनेवाला उनकी शक्ति का ह्रास, इन सब बातों से भी मराठों की सत्ता में नवजीवन का अभाव ही देख पड़ता है। नवजीवन के फलस्वरूप विशालता, उसमें पाये जानेवाले स्फुरण तथा कार्यों की महत्ता का अभाव भी मराठों के उत्थान को प्रतिक्रिया-मात्र ही साबित करता है। नवीन युग में उठकर संगठित होनेवाली सत्ता यदि नवीन आदर्शों की अवज्ञा करे तो वह क्योंकर नवजीवन से पूर्ण मानी जा सकती है?

मराठों की राजनीति पर, उनके दृष्टिकोण पर मुसलमानी आदर्शों की ही स्पष्ट छाप देख पड़ती है। इसी संकुचित दृष्टिकोण के फलस्वरूप बालाजीराव पेशवा भारत में खेली जानेवाली राजनैतिक चालों को पूरा पूरा न समझ सके, पुनः वे योरपीय शक्तियों के महत्त्व को न जान सके। यही कारण था कि उन्होंने ऐसी राजनैतिक ग़लतियाँ कीं जिनके कारण मराठों को बाद में हानि उठानी पड़ी, और उन्हीं से लाभ उठाकर बाद में अँगरेज़ स्थायित्व पा सके। आंग्रे के अधीन जहाज़ी बेड़े को नष्ट करने में अँगरेज़ों की सहायता लेना तथा

बंगाल में भोंसलों की सहायता न करना उनमें से विशेष महत्त्व-पूर्ण हैं। सर देसाई ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि "सन् १७५६ में पेशवा एक प्रकार से पूर्ण-तया स्वस्थ थे, उनकी स्थिति स्थायी थी, और सारे भारत में सबसे अधिक शक्तिशाली शासक थे। यदि वे इस समय कर्नाटक और बंगाल में अँगरेज़ों का विरोध करते तो उनकी शक्ति बढ़ने न पाती। परन्तु इसके विपरीत पेशवा ने देहली के राजदरबार की राजनीति को अत्यधिक महत्त्व दिया और व्यर्थ में अब्दाली से वैर किया, जिसके फलस्वरूप पानीपत के युद्धक्षेत्र में मराठों को भयंकर हार खानी पड़ी। ......यदि वे सारे भारत की राजनैतिक दशा को ठीक तरह समझते होते तो उनकी नीति दूसरी ही होती।" (मेन करण्ट्स आफ़ मराठा हिस्ट्री, पृष्ठ १३५)

मराठा-राज्य भी प्रतिक्रिया का स्वरूप ही देख पड़ता है, उसमें स्थायित्व न था, समयानुकूल परि-स्थिति का सामना करने के लिए सर्वदा परिवर्तन होते रहे, कभी भी सारे शासन को पुनर्संगठित करने का प्रयत्न नहीं किया गया। तात्कालिक दृष्टि से ही प्रत्येक बार परिवर्तन किये गये, उस समय इस बात का विचार नहीं किया गया कि उसका राष्ट्र के भविष्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा और अन्त में कहाँ तक परिणाम हानिकारक होगा और एक बार जो चल निकला उसको दुरुस्त करने की किसी ने भी नहीं सोची। पुनः शाहू के राज्य के सम्बन्ध में जो धारणा थी उसके अनुसार आचरण करने से भी राज्य में नवीन जीवन नहीं आ सका। पुरानी प्रथा चाहे हानि-कारक ही क्यों न हो, वह न मिटाई जाय, यही शाहू की इच्छा रही, और उसी पर उसने आचरण भी किया। राज्य निर्जीव ही नहीं हो गया, किन्तु उसका छिन्न-भिन्न स्वरूप भी सर्वसाधारण को देखने को मिला। जो राज्य या राष्ट्र अपने अन्तर्गत यह शक्ति न रखता हो कि समय समय पर आवश्यकतानुसार अपने शासन में परिवर्तन ही न करे, परन्तु पुनर्संगठन भी कर सके और यों अधिकाधिक शक्तिशाली होता जाय, उसमें नवजीवन का आभास पाना कठिन होता है। अन्तिम वर्षों में राज्य के पुनर्संगठन के प्रयत्न किये गये, परन्तु वे विफल हुए, क्योंकि प्रतिक्रिया दिनों-दिन निर्बल होती जा रही थी।

यह कहा जाता है कि मराठों के पतन का एक प्रधान कारण १८ वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में मृत्यु-द्वारा किया गया विनाश भी था, क्योंकि एकबारगी प्रायः सब बड़े बड़े नेता तथा राजनीतिज्ञ मर गये और देश का भाग्य बाजीराव और दौलतराव सिन्धिया जैसे 'अयोग्य तथा अदूरदर्शी युवा' नेताओं के हाथ में पड़ा, जिससे जाति तथा राष्ट्र का भविष्य एक प्रकार से स्पष्ट देख पड़ने लगा था। परन्तु यह भी एक प्रकार से राष्ट्र और निर्जीवता का चिह्न ही था कि उचित अवसर पर कोई भी योग्य व्यक्ति न मिला, जो राष्ट्र को सुरक्षित रख सकता। देश और जाति ने जिस अकर्मण्यता के साथ ऐसे अयोग्य नेताओं का अनुसरण किया और देखती आँखों आत्मघात किया उसी से स्पष्ट हो जाता है कि अब पुराना जोश ठण्डा हो चुका था, शासक और शासित में एकता न रही थी और न अब उन्हें इस बात की परवा थी कि उनका स्वातन्त्र्य तथा उनकी सत्ता रहे या न रहे।

इन सब कारणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मराठों का उत्थान मुग़लों के विरुद्ध उठनेवाली एक शक्तिशाली प्रतिक्रिया-मात्र थी, नवजीवन, नवीन सन्देश तथा नव आदर्शों का प्रतिनिधित्व उसमें होना नहीं पाया जाता। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि मराठों के ऐतिहासिक महत्त्व तथा उनकी महत्ता पर कुठाराघात किया जा रहा है। प्रतिक्रिया का भी ऐतिहासिक महत्त्व होता है। विशेष कर उस भीषण प्रतिक्रिया के महत्त्व को कौन स्वीकार न करेगा जिसने सारे भारत को—कुछ ही काल के लिए क्यों न हो—पादाक्रान्त किया था? ये प्रतिक्रियायें इस बात का साक्ष्य देती हैं कि राष्ट्र निर्जीव नहीं होता है, और यद्यपि वह स्पष्ट रूप से नहीं देख पड़ता फिर भी अदृष्ट रूप में अवश्य विद्यमान है। पुनः

यही प्रतिक्रियायें भावी नवजीवन की नींव डालती हैं। इन प्रतिक्रियाओं से उद्वेलित समाज धीरे धीरे जागृत होकर नव जीवन की स्फूर्ति प्राप्त करता है और बाद में विकसित होकर यह स्फूर्ति राष्ट्र में अद्भुत शक्ति पैदा कर देती है। पुनः इन प्रतिक्रियाओं का ऐति-हासिक महत्त्व भी बहुत होता है। वे इतिहास-निर्माण ही नहीं करती हैं, किन्तु राष्ट्र के भविष्य को बहुत-कुछ बदल देती हैं। उनके चिह्न राष्ट्रीय जीवन पर स्पष्ट देख पड़ते हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से उनका महत्त्व इस बात में होता है कि वे राष्ट्र में वह दृष्टिकोण पैदा कर देती हैं जिनसे भावी नवसंस्कृति में राष्ट्र की विभिन्न संस्कृतियों का सामंजस्य हो सके। हिन्दुत्व का उत्थान, उसका राष्ट्रीय दृष्टि में महत्त्व तथा उसको भारत की नव संस्कृतियों में उचित स्थान देना ही इस प्रतिक्रिया का प्रधान परिणाम था।

अन्त में यह कह देना अत्युक्ति न होगी कि पतित राष्ट्र का, विजित जातियों का नव जीवन से सम्बन्ध स्थापित करने में, उनमें स्फूर्ति का संचार करने के लिए ये प्रतिक्रियायें बहुत ही लाभदायक होती हैं। यही कारण है कि राजनैतिक दृष्टि से मराठों के इस उत्थान को राष्ट्रीय उत्थान का स्वरूप दिया गया था, नव जीवन की स्फूर्ति का आभास उसमें देखा गया, और नव भारत को प्राचीन स्वाधीन भारत से जोड़ने के लिए मराठों का यह गौरवपूर्ण काल ही सबसे अच्छी शृंखला जान पड़ा। परन्तु अब जब नव जीवन की स्फूर्ति राष्ट्र के अंग अंग में फूटी पड़ती है, जब नव भारत-निर्माण के लिए सारा समाज पूर्ण मनोयोग से लगा है, तब यह अत्यावश्यक है कि अपने विगत इतिहास को ठीक दृष्टिकोण से देखें और उसमें पाई जानेवाली एकांगीयता तथा अन्य त्रुटियों को ग्रहण न करें। इसी एकांगीयता के कारण मराठों का उत्थान प्रतिक्रिया-मात्र रह गया, नव जीवन का संचार न हो पाया, और प्रतिक्रिया की एकांगीयता से ही मराठे विफल हुए।

ऐ चाँद

लेखक,
प्रोफ़ेसर मनोरञ्जनप्रसाद, एम० ए०

तुम्हारी स्निग्ध ज्योति, ऐ चाँद !
हमें लगती है अति प्यारी।
पुलक उठती है पाकर परस,
हमारे उर की फुलवारी ॥१॥

देखकर तेरा प्रिय मुखचन्द्र,
नाच उठता है चित्त-चकोर।
तुम्हारा पूर्ण बिम्ब अवलोक,
उमग लेता हिय-सिन्धु हिलोर ॥२॥

देखने हित तुमको आँखें,
सदा करती रहतीं अनुरोध।
न जाने क्यों तुममें होता,
अजब एक अपनेपन का बोध ॥३॥

वही दिन दिन घटना-बढ़ना,
वही दिन दिन का परिवर्त्तन।
हमारे ही जैसा तो है,
तुम्हारा भी अस्थिर जीवन ॥४॥

हमारे ही जैसे हो दीन,
हमारे ही जैसे सकलंक।
हमारे ही जैसा कोमल,
तुम्हारा भी है हृदय मयंक ! ॥५॥

न है तुम में रवि की वह ज्योति,
न है तुम में रवि की वह आग।
तुम्हारा मधुर सुधाधर रूप,
तुम्हीं से होता है अनुराग ॥६॥

तुम्हीं हो मेरे प्रिय आराध्य,
मधुर यह मेरा तेरा मेल।
चलो मिलकर दो दीवाने
आज देखें जीवन के खेल ॥७॥

थकेंगे क्या इनको अवलोक ?
कभी क्या होगा चित्त मलीन ?
अरे—इस जीवन की क्रीड़ा,
मनोहर, अस्थिर, नित्य नवीन ॥८॥

(१) ताता कम्पनी के लोक-प्रिय जेनरल मैनेजर

न् १९२८ में जमशेदपुर के ताता के कारखाने के मज़दूरों ने हड़ताल कर दी थी, जिसके फल-स्वरूप कम्पनी को लगभग दो करोड़ रुपये की क्षति उठानी पड़ी थी। उस हड़ताल के पश्चात् व्यापारिक मंदी तथा अन्य कठिनाइयाँ आ उपस्थित हुईं। उसी समय वर्तमान जेनरल मैनेजर श्रीयुत जे० एल० कीनन महोदय ने इस कारख़ाने का प्रबन्ध-भार अपने ऊपर लिया और उसे इस अवस्था को पहुँचा दिया कि गत विश्वकर्मा-पूजा के अवसर पर कम्पनी के डायरेक्टरों ने अपने कर्मचारियों को पुरस्कार घोषित किया।

भारतवर्ष के समग्र औद्योगिक मण्डल में नहीं तो कम से कम 'ताता आयरन एण्ड स्टील कम्पनी' के इतिहास में यह पहला ही अवसर है कि कम्पनी ने अपने कर्मचारियों को एक महीने का वेतन पुरस्कार-स्वरूप दिया है। इस व्यापारिक मंदी के ज़माने में किसी कम्पनी को अपने कर्मचारियों के साथ ऐसी सहानुभूति तथा उदारता-पूर्ण व्यवहार करना कुछ साधारण बात नहीं है।

यही नहीं, कम्पनी के जमशेदपुर के लोहे के कारख़ाने के द्वारा भारतवर्ष की आर्थिक अवस्था की उन्नति में भी नीचे लिखी हुई सहायता मिली—

सन् १९३२-३३ साल में भारतवर्ष में रेलों की जितनी माँग थी उसका सोलहों आना, ८०% इस्पात के स्लीपर,
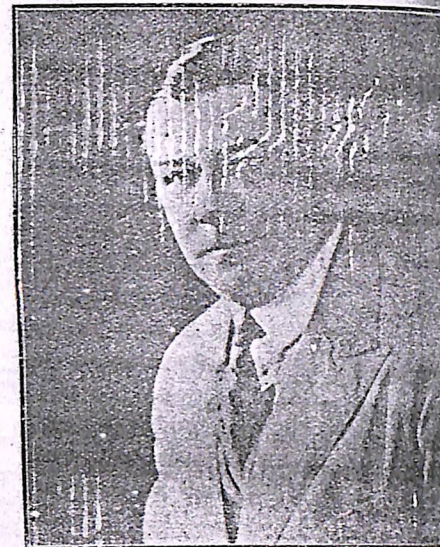
[श्रीयुत जे० एल० कीनन]

मकान बनाने के सामान, प्लेट और आधे इंच से अधिक मोटे छड़ और ४०% करगट जमशेदपुर के कारख़ाने में बने। अर्थात् भारतवर्ष में इस्पात के बने सामान की आवश्यकता का ७२% माल ताता के लोहे के कारख़ाने में बना।

इस कारख़ाने में इस्पात बनाने के लिए हर साल नीचे लिखे हुए कच्चे माल ख़र्च होते हैं, जिनका मूल्य भी साथ साथ अङ्कित है—

कोयला	१,२३,००,००० रु०
लोहा-पत्थर	४०,००,००० रु०
मैंगनीज़	४,००,००० रु०
डलोमाइट (चूना-पत्थर)	२४,००,००० रु०
रिफ़ैक्टरी ईंटें	७४,००,००० रु०

इसके सिवा बंगाल-नागपुर रेलवे को जो वार्षिक आय होती है उसका तीसरा भाग केवल ताता आयरन एंड स्टील कम्पनी के लिए कच्चा माल जमशेदपुर के कारख़ाने में पहुँचाने तथा तैयार माल बाहर ले जाने में भाड़ा के रूप में प्राप्त होता है। इस कम्पनी में २०,००० से भी अधिक कर्मचारी काम करते हैं, जिनमें केवल ७० विदेशी हैं।

जिनके उद्योग तथा सुप्रबन्ध से इस जातीय कारबार की यह उन्नति हुई है और भारतवर्ष की आर्थिक अवस्था के सुधरने में बहुत बड़ी सहायता पहुँची है वे उसके वर्तमान मैनेजर कीनन साहब हैं। आप संयुक्तराज्य (अमरीका) के निवासी हैं। आप इंजीनियरिंग की उच्च शिक्षा प्राप्त कर अमरीका के कई प्रसिद्ध कारख़ानों में काम करने के बाद सन् १९१३ में ताता के लोहे के कारख़ाने में एक साधारण पद पर नियुक्त होकर भारत में आये और तभी से आप इस कारख़ाने में बराबर काम कर रहे हैं। उस समय इस कारख़ाने में लोहा बनाने के केवल दो ही बात भट्ठे (ब्लास्ट-फ़र्नेस—Blast Furnace) थे। 'ब्लास्ट-फ़र्नेस' तथा अन्य भिन्न-भिन्न विभागों में भिन्न-भिन्न पदों पर काम करने के पश्चात् आप 'ब्लास्ट-फ़र्नेस'-विभाग के सुपरिंटेंडेंट बनाये गये। पीछे आपकी देख-रेख में फ़र्नेस और भट्ठे बनाये गये, जो दुनिया में सबसे अधिक लोहा पैदा करनेवाले भट्ठे गिने जाते हैं।

इसके कुछ वर्षों के अनन्तर आप अपनी प्रतिभा, योग्यता तथा कारख़ाना-सम्बन्धी प्रवीणता के कारण सम्पूर्ण कारख़ाने के जेनरल सुपरिंटेंडेंट नियुक्त हुए। सन् १९२८ से आप इस कम्पनी के जेनरल मैनेजर हुए और इसका सारा भार आपने अपने कन्धे पर उठाया।

यह एक बड़े आनन्द की बात है कि आप सदा भारतवासियों को उन्नत बनाने की चेष्टा में निरत रहते हैं, जिसके फल-स्वरूप आज इस कारख़ाने में प्रायः सभी उच्च पदों पर भारतवासी ही दृष्टि-गोचर होते हैं। आपकी चेष्टा का ही फल है कि आज इस कारख़ाने में केवल ७० विदेशी रह गये हैं, जिनकी संख्या सन् १९२५ में २०९ थी। आपकी ही बदौलत उच्च शिक्षा तथा उचित अनुभवप्राप्त भारतवासियों को इस कारख़ाने में दायित्वपूर्ण पदों के निबाहने का पूरा अवसर प्राप्त होता है। सिर्फ़ यही नहीं, बल्कि कारख़ाने में काम करनेवाले मज़दूरों के लड़कों के हक़ पर भी पूरी दृष्टि रक्खी जाती है और टेक्निकल इन्स्टिट्यूट में मज़दूरों के लड़कों के लिए टेक्निक-शिक्षा का प्रबन्ध होने के कारण मज़दूरों और कम्पनी दोनों को पूरा लाभ हो रहा है। इस स्कीम की प्रतिष्ठा करने का श्रेय भी आपको ही है।

आप बड़े ही सरलचित्त तथा मिलनसार हैं। इतने उच्च पद पर विराजमान होने पर भी आपमें लेशमात्र भी अहङ्कार नहीं है। इसी कारण आप २०,००० कर्मचारियों के हृदय-मन्दिर में श्रद्धा और प्रेम के साथ सदा विराजमान रहते हैं और रहेंगे। आपको मज़दूर लोग अपना सच्चा नेता समझते हैं और आपके नेतृत्व में सदा इस जातीय औद्योगिक संस्था की उन्नति के लिए कार्य करने को कटिबद्ध रहते हैं। आप कारख़ाने के मज़दूरों का अपना मित्र तथा सहकर्मी कहकर सम्बोधन करते हैं।

बिहार के गत प्रलयकारी भूकम्प के पश्चात् बिना विलम्ब श्रीयुत कीनन ने ताता कम्पनी की तरफ़ से बहुत-से कारीगर तथा इंजीनियर, खाने-पीने के सामान, कपड़े तथा मकान बनाने के सामान से भरपूर एक 'स्पेशल ट्रेन' जमशेदपुर से मुङ्गेर भेजकर अपनी सहृदयता का उज्ज्वल परिचय दिया था, जिसकी प्रशंसा वाइसराय महोदय तथा बिहार-उड़ीसा के गवर्नर महोदय ने बार बार की है। इसके पश्चात् आपकी प्रधानता में एक सहायक समिति नियुक्त हुई, जिसने कम्पनी की मदद को छोड़कर लगभग ३९,००० रुपया तथा कई गाड़ी कपड़े आदि यहाँ से भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के लिए भेजे। कम्पनी ने केवल लागत-मात्र पर मकान बनाने के सामान भूकम्प-पीड़ितों को देने का प्रबन्ध किया।

जब से आप जेनरल मैनेजर हुए हैं तब से कारख़ाने के मज़दूरों में प्रतिवर्ष खेल-कूद और कुश्तियाँ होती हैं; जिनमें बहुत ही अच्छे अच्छे इनाम दिये जाते हैं। इसके सिवा इस शहर में स्पोर्टिङ्ग असोसियेशन है जो फुटबाल, हाकी तथा क्रिकेट आदि खेलों का प्रबन्ध करता है। कारख़ाने में काम करनेवाली औरतों के भी प्रतिवर्ष खेल-कूद होते हैं और इनाम दिया जाता है। प्रतिवर्ष शिशु-प्रदर्शिनी होती है। यहाँ की वार्षिक स्वास्थ्य तथा शिल्प-प्रदर्शिनी बिहार-उड़ीसा-प्रान्त में सबसे बड़ी प्रदर्शिनी गिनी जाती है।

कारख़ाने में जिस डिपार्टमेंट में जब कभी अधिक पैदावार (Record Production) होती है तब उस डिपार्टमेंट के कर्मचारियों को कम्पनी की तरफ़ से पिकनिक दी जाती है। इसके अलावा माल तैयार करने-वाले डिपार्टमेंटों के कर्मचारियों को प्रोडकशन बोनस भी मिलता है।

इन सब मंगल-कार्यों के लिए एक 'वेल फ़ेयर डिपार्ट-मेंट' है, जिसकी देख-रेख में सन् १९३१-३३ में कम्पनी के कर्मचारियों के मंगल-कार्यों में ६३,७५,४४६ रुपये ख़र्च हुए थे।

श्री कीनन साहब के सुप्रबन्ध में यह देशी कारख़ाना उन्नत ही नहीं हो रहा है, किन्तु यहाँ के कर्मचारियों को स्वराज्य का सुख भी प्रदान कर रहा है।

—जे० पाण्डेय

---

(२) मैथिल-कोकिल विद्यापति का एक अद्भुत पद

धनि सखी पावस उपजल नेह,
पिय परतेजि पुनि आयल गेह॥
सुन छलं रोहिणी रविपद देल,
घन करिया नभ चहुँदिशि भेल॥
उनटल पछवा पूरवा पावि,
छपतप जपहरि बेरल आवि॥
भीजल शीतल हृदय जानि,
अइउण। ऋलृक्। सम जग मानि॥
आ ई ऊ सब रोयल लोक,
पीयर हरिहर देखल अशोक॥
दिन दुःख दूरि भेल रनि सुख भोर।
चुकु जनु चेतु अवसर अच्छि थोर॥

विद्यापति की पदावलियों के जितने संग्रह आज तक प्रकाशित हुए हैं उनमें से किसी में उपर्युक्त पद नहीं है। इस पद में मैथिली-भाषा का पुट है, इसे कोई भी भाषा-विद् अस्वीकृत नहीं कर सकता। साथ ही यह मैथिल-कोकिल की काकली से मिलती-जुलती कविता है।

इस पद में जो काव्यगत विशेषतायें हैं, निसृष्टार्थ दूती की वाग्विदग्धता की जो झंकार है, महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी के प्रत्याहार का जो किञ्चित् सन्निवेश है, ज्योतिषशास्त्र के नक्षत्र तथा ग्रह का जो उल्लेख है, भगवती प्रकृति के अवयवों का जो सुन्दर चित्रण है, पावस की चढ़ाई का जो विशद वर्णन है—सभी यह सूचित करते हैं कि यह पद किसी प्रतिभाशाली कवि की कारीगरी है। इस प्रकार का कवि मिथिला-प्रान्त में केवल एक ही हुआ है और वे 'विद्यापति' हैं।

उपर्युक्त पद में विद्यापति के नाम का उल्लेख नहीं है। इससे कतिपय विद्वानों का कथन है कि यह पद किसी अन्य मैथिल कवि का है। पर इतना कहने से ही इस प्रश्न का समाधान संभव नहीं है। विद्यापति के बहुत ऐसे पद हैं जिनमें न उनका नाम ही है और न उनके आश्रयदाताओं का उल्लेख है।

अतः साहित्य के मर्मज्ञों से अनुरोध है कि वे इस पद पर विचार करने की कृपा करें और यह निश्चित करने का कष्ट उठावें कि वास्तव में यह विद्यापति का पद है या किसी दूसरे मैथिल कवि का। इसमें पूरबीपन कूट कूट कर भरा है, जो बिहारी-हिन्दी की एक विशेषता है।

थोड़े ही दिन हुए, श्री दीनानाथ झा को यह पद हस्तगत हुआ है। आप बिहारोत्कल कृषिविभाग के असिस्टेंट डायरेक्टर हैं। आप बड़े भावुक, सहृदय विद्वान् और काव्य तथा संगीत के मर्मज्ञ हैं। आपकी यह आकांक्षा है कि इस पद के गुणों पर भी विशेषरूप से विचार हो।

विद्वानों से अनुरोध है कि वे इस पद के गुण तथा दोषों का विवेचन करते हुए इसके भावार्थ को भी लिख देने का अनुग्रह करेंगे।

—रामदीन पाण्डेय

---

(३) पानीपत-युद्ध का सिक्ख-पहलू

प्रसिद्ध ऐतिहासिक श्रीयुत गोविन्द सखाराम सरदेसाई ने 'मेन करेंट्स आफ़ दि मराठा हिस्टरी' नामक एक ग्रन्थ लिखा है। उनका वह ग्रन्थ विचारपूर्ण, विचारोत्तेजक और प्रामाणिक है।

हाल में वयोवृद्ध देसाई महोदय ने अपने इस ग्रन्थ पर हिन्दी के तरुण ऐतिहासिक श्रीयुत जयचन्द्र विद्यालंकार की सम्मति माँगी थी। उक्त दोनों विद्वानों के इस परस्पर-परामर्श से पानीपत की तीसरी लड़ाई के अब तक उपेक्षित एक नये पहलू पर पहले-पहल प्रकाश पड़ा है। यहाँ उस पत्र-व्यवहार* का कुछ आवश्यक अंश उद्धृत किया जाता है। उसे प्रकाशित करने की इजाज़त देने के लिए हम उक्त दोनों सज्जनों के कृतज्ञ हैं।

श्रीयुत जयचन्द्र विद्यालंकार ने पानीपत के बारे में सरदेसाई जी के विचारों से अपनी कुछ असहमति प्रकट करते हुए लिखा है—"आपके इस मन्तव्य से कि पेशवा को सतलज से परे जाना उचित न था," मैं सहमत नहीं हो सकता। बल्कि उलटा मैं तो यह कहता हूँ कि वह अपने को पंजाब की परिस्थिति से संपर्क में रखने और इस परिस्थिति का उपयोग मराठों के हिन्दू-साम्राज्य के आदर्श की पूर्ति में करने से, जैसा कि बाजीराव ने मालवा और बुन्देलखण्ड की परिस्थिति से किया था, चूक गया। आपने इस युग के इतिहास के सिक्ख-पहलू का विचार नहीं किया है। अब्दाली पंजाब को जीत लेने की अपनी जीवन भर की आकांक्षा को पूरा करने में बुरी तरह असफल हुआ। अपनी आठ चढ़ाइयों के बावजूद भी वह उसे क़ाबू न कर सका। राघोबा ने जब लाहौर लिया (१७५८) उससे दो महीना पहले सिक्ख उसे अफ़ग़ानों से छीन चुके थे, अलबत्ता वे अटक और मुलतान तक नहीं बढ़ सके। और मराठों के अब्दाली के सामने लौट जाने तथा उसके अन्तर्वेद में अपने अफ़ग़ान भाइयों से मिलने को जमना पार करने के तुरन्त बाद उन्होंने वहाँ फिर अपना सिर उठाया। १४ मार्च को मराठा-सेना गोदावरी के तट से चली। १३ अप्रैल को सिक्खों ने अमृतसर में अपनी संगत जुटाई। मराठा-सेना के पास आ पहुँचने से संभवतः वे उत्साहित हुए हों। पानीपत की लड़ाई से पहले उन्होंने अंबाला और फ़िरोज़पुर जैसे युद्ध-क्षेत्र के निकट के ज़िलों में अपने थाने बैठाकर अब्दाली को उसके गृह-देश से बिलकुल अलग कर दिया था। किनकेड ने यह कहते हुए कि अब्दाली ने सदाशिवराव को उसके दक्षिणी आधार से अलग कर दिया था और वह स्वयं अपने दायें और बायें दोनों बाजुओं—पंजाब और अन्तर्वेद—पर अपना क़ब्ज़ा किये हुए था, स्थिति को समझने में ग़लती की है।

"मैं नहीं समझता कि पंजाब में मराठा-हस्तक्षेप का कोई ऐसा ही ख़तरनाक परिणाम होना आवश्यक था। उलटा जान तो यह पड़ता है कि यदि मराठा नेता इतने जागरूक होते कि पंजाब की सिक्ख-जागृति से सम्पर्क रख सकते तथा सिक्ख जत्थों का सहयोग प्राप्त करने और उन्हें शिवाजी के महान् आदर्श की सेवा में जुटाने लायक़ चतुराई उनमें होती, तो जमरूद की पहाड़ियों के नीचे या मुलतान के सामने शेरशाह के क़िले पर ही अब्दाली को रोक सके होते। परन्तु बालाजीराव के समय के मद में चूर और स्वार्थी नेताओं से ऐसी आशा मुश्किल से की जा सकती थी—इस बात पर तो आपने स्वयं बहुत ही अच्छी तरह प्रकाश डाला है। इस प्रकार पानीपत में उनकी असफलता के ये कारण जान पड़ते हैं—(१) उनका अपने उत्तर-भारतीय हिन्दू भाइयों के प्रति व्यवहार में परिवर्तन और (२) युद्ध-नीति में परिवर्तन तथा योरपीय रण-नीति को जिसका अनुसरण करने का यत्न उन्होंने किया, पूरी तरह न समझ सकना, जैसा कि किनकेड ने भली भाँति दिखलाया है।

---

* मूल पत्र-व्यवहार अँगरेज़ी में है।

"मैं जिस बात पर ज़ोर देना चाहता हूँ वह यह कि यदि मराठों ने अपने चारों तरफ़ के हालात को भाँपा होता और अपने अवसरों का पूरा उपयोग किया होता तो शायद वे पंजाब और बंगाल दोनों में सफलतापूर्वक दखल दे सकते। १८ वीं सदी के मराठे पंजाब की परिस्थिति से अपना सम्पर्क बनाने और उसका उपयोग करने में क्यों और कैसे चूक गये सो तो हम आसानी से समझ सकते हैं, पर मेरे लिए यह सचमुच एक आश्चर्य का विषय है कि पानीपत-लड़ाई का पंजाब का पहलू आधुनिक महाराष्ट्र के सबसे बड़े ऐतिहासिक की नज़र से कैसे बचा रह गया।"

इस पत्र के उत्तर में श्रद्धेय सरदेसाई जी लिखते हैं—

"मैं आपका विशेष कृतज्ञ हूँ कि पानीपत के मराठा मामले का एक क़ीमती पहलू—पंजाब के सिक्खों-विषयक—आपने सुझाया है। यह एक अक्षम्य चूक है, जोकि न सिर्फ़ मुझसे बल्कि सर यदुनाथ सरकार और अन्य सभी बहुश्रुत विद्वानों से जिन्होंने कि मुझसे पहले इस विषय की विवेचना की है, हुई है। यह इस बात का एक अच्छा उदाहरण है कि हमारी भारतीय दृष्टि कितनी प्रान्तीय और प्रादेशिक है। हमारे भारत में बहुत-सी जातियाँ हैं, जिनमें से प्रत्येक जाति यह मुश्किल से ही सोचती है कि इस महादेश के भाग्य पर प्रभाव डालनेवाले हमारे सिवा और भी लोग हैं। इस बारे में मेरी राय में मराठे सबसे ज़्यादा अपराधी हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि १८ वीं सदी के भारतीय इतिहास से सिर्फ़ उन्हीं का सम्बन्ध है! आपकी इस आलोचना को पढ़ने के बाद मैं अपने को लज्जित अनुभव करता हूँ कि मैंने उस इतिहास के एक महत्त्वपूर्ण घटना के रूप में सिक्खों के अस्तित्व की उपेक्षा की। .... अब से मैं इसका पूरा उपयोग करूँगा।"

हमारे इतिहास के कितने अंश अभी इसी तरह उपेक्षित पड़े हैं और देश को इस प्रकार के कितने विद्वानों की आवश्यकता है जो इस तरह मिल कर परस्पर विचार-विनिमय-पूर्वक उन पर प्रकाश डालने का यत्न करें, यह बात उपर्युक्त वर्णन से अपने आप स्पष्ट है!

—वीरसेन मेहता विद्यालंकार

(४) स्वर्गीय रतनराज मेहता, जैन

श्रीरतनराज मेहता का परिचय जनवरी १९३१ की सरस्वती में छपा था। दुःख है कि उसकी हाल में मृत्यु हो गई। इस बालक ने आश्चर्य्य-जनक बुद्धि पाई थी।

इस बालक का जन्म २५ दिसम्बर सन् १९२४ को हुआ था। यह अपने पिता श्री भैरूँराज जी मेहता जैन (जोधपुरनिवासी) का तृतीय पुत्र था। यह बचपन से ही अपनी अलौकिक बुद्धि का प्रदर्शन करने लगा था। केवल ३ वर्ष की अवस्था में एक दिन इसके पिता एक धार्मिक पुस्तक पढ़ रहे थे। रतनराज ने चपलतावश उस पुस्तक को लेने का प्रयत्न किया। यह समझ कर कि कहीं पुस्तक ख़राब न हो जाय, उसे पुस्तक नहीं दी गई। लेकिन उसके बार-बार सतत प्रयत्न करने पर अन्त में वह पुस्तक बन्द करके उसे दे दी गई। किन्तु आश्चर्य है कि बालक ने वही पृष्ठ जो उसके पिता पढ़ रहे थे, खोल कर रख दिया।
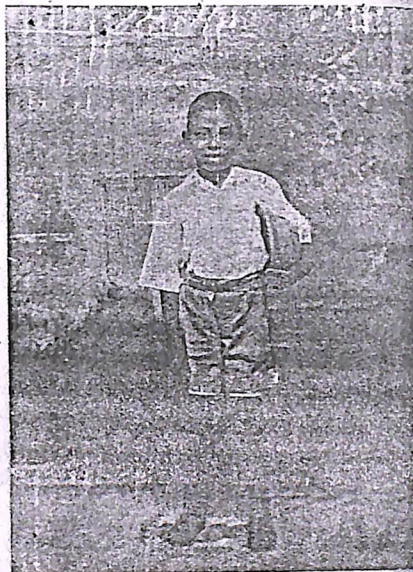
[श्रीरतनराज मेहता, जैन (जोधपुर)]

कौतूहलवश उसके पिता ने अनेक बार अनेक पृष्ठ खोल कर तदुपरान्त बन्द कर उसे दिया और बालक उन उन पृष्ठों की खोज में प्रत्येक बार सफल हुआ।

धीरे-धीरे बालक हिन्दी से अँगरेज़ी के पर्य्यायवाची शब्द पूछ पूछकर याद करने लगा और अपने घर की छतों तथा भित्तियों पर खड़िया-द्वारा लिखने का भी अभ्यास करने लगा। उसने हिन्दी या अँगरेज़ी की वर्णमाला किसी से न तो सीखी और न पढ़ी ही। किन्तु पाँच या छः वर्ष की अल्पावस्था में वह हिन्दी तथा अँगरेज़ी में धारा-वाहिक रूप से भाषण कर सकता था तथा लिख भी सकता था। साथ ही साथ उसे बाह्य संसार की लगभग सभी ज्ञातव्य बातों का समुचित ज्ञान था। बालक की तीव्र स्मरण-शक्ति देखकर बहुत ही आश्चर्य्य होता था!

सात वर्ष की अवस्था में बालक ने 'सत्य' तथा जैन-धर्म के प्रवर्तक भगवान् महावीर के जीवन-चरित पर भाषण किये थे। १० सितम्बर सन् १९३२ को जोधपुर के सरदार हाई स्कूल में होनेवाले उत्सव के उपलक्ष्य में उसने अँगरेज़ी में लिखी अपनी एक कविता पढ़ी थी, जो भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से एक उच्च कोटि की रचना कही जा सकती है और जो जोधपुर-नरेश तथा राज्य के अन्य उच्च पदाधिकारियों को अत्यधिक रुचिकर प्रतीत हुई थी।

विशेष शिक्षा की व्यवस्था कराने के विचार से श्री मेहता जी अपने उस पुत्र को विश्व-भारती शान्ति-निकेतन में ले गये। कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बालक से भेंट की और उसकी योग्यता से बहुत ही प्रभावित हुए। कलकत्ते के प्रवास में कई संस्थाओं ने बालक को निमन्त्रित किया था और बालक ने अपनी प्रतिभा एवं योग्यता का परिचय देकर उपस्थित जनता को चकित किया था।

२१ नवम्बर सन् १९३३ को बालक उदयपुर (मेवाड़) की आदर्श संस्था 'विद्या-भवन' में भर्ती करा दिया गया। यहाँ उसने अल्पकाल में ही आश्चर्य-जनक चतुर्मुखी उन्नति करनी प्रारम्भ की। विद्या-भवन के पुस्तकालय की हिन्दी तथा अँगरेज़ी की उच्च कोटि की पुस्तकों का उसने भली भाँति मनन करना शुरू कर दिया। अपनी प्रतिभा तथा सरलता के द्वारा उसने विद्यालय के सभी शिक्षक तथा शिक्षार्थियों को अपना विशेष स्नेह-पात्र बना लिया था।

परन्तु दुख की बात है कि साधारण अस्वस्थ होने के उपरान्त ६ जून सन् १९३४ को बालक रतनराज ने एक अलौकिक मधुर स्मित के साथ इस असार संसार से सदैव के लिए विदा ले ली।

बालक ने अपने जीवनकाल का एक मिनट भी व्यर्थ नहीं खोया था—वह कुछ न कुछ उपयोगी कार्य किया ही करता और सदा कहा भी करता—"कुछ काम करो कुछ काम करो, जग में आकर कुछ नाम करो।" कितने ही भारतीय और विदेशी साहित्य-मर्मज्ञों एवं मनीषियों से उसने कितने ही प्रशंसा-पत्र तथा योग्यता-पत्र प्राप्त किये थे।

वास्तव में वह कोई महान् आत्मा थी जो असाधारण बुद्धि तथा अद्भुत शक्ति लेकर अपनी अलौकिक प्रतिभा का प्रदर्शन करने के लिए अवतरित हुई थी।

—किशोरीरमण टण्डन

---

(५) बर्मी आमोद-प्रमोद

मध्यकालीन योरप की भाँति बर्मा में भी नाटकों का धार्मिकता के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। नाटक यहाँ की सर्वप्रिय आमोद-प्रमोद की वस्तुओं में से एक है। धार्मिक त्योहारों के अवसर पर यहाँ नाटकों की धूम मच जाती है। यों भी आये दिन कहीं न कहीं होते रहते हैं।

बाँस का स्टेज, दो-एक मामूली पर्दे और दर्शकों के बैठने के लिए सड़कों पर चटाइयों की पंक्तियाँ ही ऐसी चीज़ें हैं, जो देहाती नाटकों के लिए पर्याप्त समझी जाती हैं। नगरों में पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है और वहाँ विशेष दृश्य तथा प्रकाश का सुन्दर प्रबन्ध देखा जाता है।

बर्मी नृत्य या नाटक चार प्रकार के होते हैं। 'जात प्वे', इसमें गानों-द्वारा ऐतिहासिक बातों का दिग्दर्शन कराया जाता है। यह खेल कम से कम आठ घंटे का होता है। इसलिए जो लोग बर्मी भाषा के अच्छे जानकार

नहीं होते और न इतनी देर तक बैठने के आदी होते हैं, उन्हें यह कष्टप्रद प्रतीत होता है। 'ईं प्वे', इसमें गानवाद्य-संयुक्त विभिन्न प्रकार के नृत्य होते हैं। यदि नर्तकी सुन्दरी और मधुर गायिका हुई तो यह नृत्य सर्वप्रिय होता है। 'ओसी प्वे', यह गान-युक्त डमरू-नृत्य सबसे अधिक आकर्षक होता है। इस नृत्य में कई नर्तकियाँ हाथों में बड़े बड़े डमरू लेकर संयुक्त नृत्य करती हैं। 'योकेथी प्वे', यह कठपुतलियों का नाच है और बड़ा ही आकर्षक होता है। यद्यपि इसमें कटपुतलियों से सम्बन्ध रखनेवाली रस्सियाँ बराब[र] दिखलाई देती हैं, तथापि इससे प्रहसन खूब होता है।
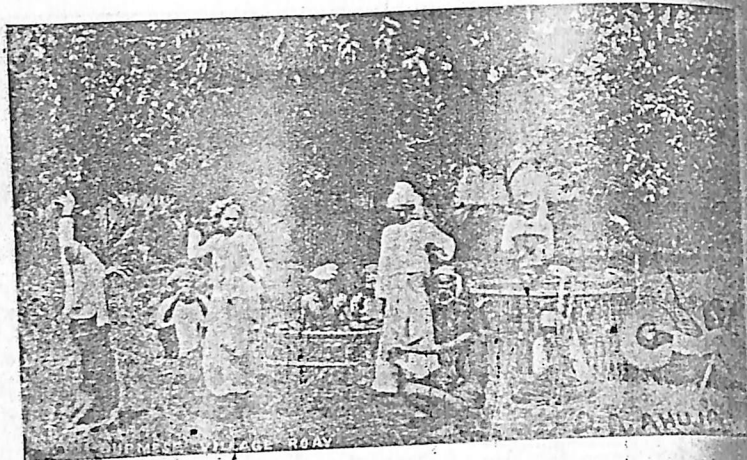
[देहाती वर्मी नृत्य और बाजा]

बाजों में मुख्य नरसिंह, बाँसुरी (यह यहाँ का एक प्रिय बाजा है, जिसे देहातों में सन्ध्या-समय अक्सर नवयुवक बजाते फिरते हैं), मृदंग और तबला हैं। तब[लों] को यहाँ बड़ा महत्त्व प्रदान किया गया है। बजानेवाले के चारों ओर अठारह तबले गोलाकार में रक्खे जाते हैं। इनसे बजानेवाला अठारह प्रकार के स्वर सरगम के अनुसार निकालता है। इनके चमड़े के बीच में भात और लकड़ी की राख मिला हुआ एक प्रकार का मसाला भिन्न-भिन्न परिमाण में लगा[क]र स्वरों में विभिन्नता उत्पन्न की जाती है। बजानेवाला इनका स्वर मिलाकर रखता है और बीच बीच में स्वर में अन्तर पड़ने पर वह इन्हें मिलाता और बजाता रहता है। वर्मी-भाषा में इसे 'साइंग' कहते हैं। एक दक्ष बजानेवाले के द्वारा इनका बजाना बड़ा ही मनोरञ्जक होता है। इन तबलों का बनाना और उन्हें ठीक-ठीक बजाना भी बर्मियों की एक विशेषता है।
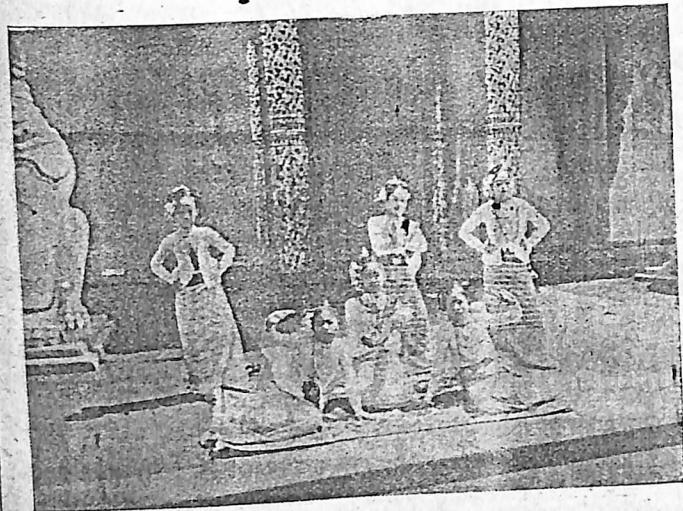
[बर्मानृत्य का एक सुन्दर दृश्य]

["चिनलोन" का प्रसिद्ध खिलाड़ी माँग ला पा]

इन बाजों के साथ-साथ दो डमरू, जलतरंग और बाँस के कट्टे भी बजाये जाते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि ये बाजे रागिनी उत्पादक और इनके संयुक्त राग बड़े ही हृदयाकर्षक होते हैं।

वर्मी लोग स्वभावतः बड़े विनोद-प्रिय और खिलाड़ी होते हैं। यदि इन्हें उपयुक्त शिक्षा दी जाय तो खेल के मैदान में दूसरों के साथ खासी प्रतिद्वन्द्विता कर सकेंगे। नगरों में प्रतिवर्ष टेनिस और फ़ुटबाल के खेलों में विशेष योग्यता प्राप्त करते देखे जाते हैं। इनका बेंत का गेंद जिसे "चिनलोन" कहते हैं, अभी तक इनका प्रधान देशी खेल बना हुआ है। इस खेल में हाथों का प्रयोग सर्वथा वर्जित है; किन्तु शरीर के अन्य किसी भी अंग का प्रयोग करके बेंत का गेंद पृथ्वी से ऊपर वायु में उछाला जाता है।

वास्तविक नियमों का अभाव होते हुए भी अक्सर स्कूलों में पढ़ाई के घंटों के बाद साधारण खेलों में भी यहाँ के बालक प्रशंसनीय पटुता और तत्परता का परिचय देते हैं।

घोड़ों, नावों और बैल-गाड़ियों की दौड़ की प्रतिद्वन्द्विता वर्मी लोगों के आमोद-प्रमोद की अन्य वस्तुएँ हैं, जो धार्मिक त्यौहारों के अवसर पर अक्सर देखी जाती हैं। यहाँ के प्रमुख त्यौहार अप्रेल और अक्तूबर (वर्षा के पहले और पीछे) में होते हैं और उन अवसरों पर ही ये प्रमुख खेल देखे जाते हैं। रंगून के पगोडा-सम्बन्धी त्यौहार बहुधा जाड़े के दिनों में होते हैं। पहले मुर्ग़ की लड़ाई यहाँ एक सर्व-प्रिय तमाशा था, किन्तु अब उस पर सरकारी प्रतिबन्ध लगा दिया गया है।

जुए-सम्बन्धी सभी खेल बर्मियों को बहुत प्रिय हैं। इसे रोकने के लिए कतिपय सरकारी प्रतिबन्धों के होते हुए भी जुए के सम्बन्ध में बर्मा पूर्व का इटली कहा जा सकता है।

—धर्म्मचन्द खेमका

हास-परिहास

कोठे से एक ठंडी बौछार के बाद—"तुम्हें और कहीं स्थान नहीं था?"

आधुनिक सुदामा-चरित

सुदामा—

धन है तो फ़िक्र भी है,
चोर और डाकू की।
इनसे बचा तो चिन्ता,
वासना के चाकू की॥
समझ यही ख़ाली जेब,
ख़ाली पेट रहता हूँ।
पाप की जड़ पैसा है,
ऐसा मैं कहता हूँ॥

उनकी स्त्री—

लेकिन ग़रीबी में,
शान्ति भङ्ग होती और।
पाप-परिताप की कदा-
चित् वृद्धि होती और॥
धन ही परमेश्वर है,
आज-कल के जीवन का।
दूँगी मैं तलाक़; नहीं,
भजन करो धन का॥

—सदानन्द

"पैसे की कमी के कारण सस्ते में एक मकान किराये पर लिया था। उसका यह परिणाम निकला।"
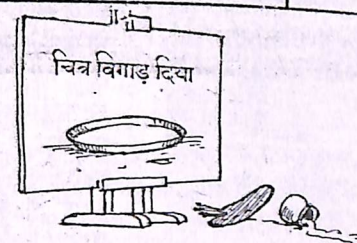
खाते खाते मन के लड्डू, नहीं किसी का पेट भरा।
लेकिन भूखा चित्रकार यह इसका है अपवाद खरा॥
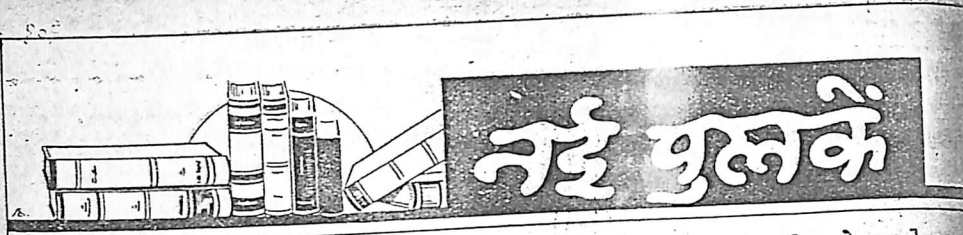
नई पुस्तकें

[प्रतिमास प्राप्त होनेवाली नई पुस्तकों की सूची। परिचय यथासमय प्रकाशित होगा।]

१—उन्माद (कहानियों का संग्रह)—लेखिका, श्रीमती कमलादेवी चौधरी, प्रकाशक श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, १२०।२ अपरसरक्यूलर रोड, कलकत्ता, सादी प्रति का मूल्य १) और सजिल्द का १।) है।

२—अन्तिम आकांक्षा— लेखक, श्री सियारामशरण गुप्त, प्रकाशक, श्री रामकिशोर गुप्त, साहित्य-प्रेस, चिरगाँव (झाँसी) हैं। पुस्तक सजिल्द है। मूल्य १॥) है।

३—साहित्यिक लेख—रचयिता पण्डित रामप्रसाद पाण्डेय, एम० ए०, प्रकाशक, लाला रामनारायणलाल, पब्लिशर और बुकसेलर, इलाहाबाद हैं। पुस्तक सजिल्द है। मूल्य १) है।

४—यौवन (कविता)—लेखक, श्रीयुत श्रीनिधि द्विवेदी, प्रकाशक—श्री टी० सी० वर्मा, कला-मंदिर, बंबई नं० २ हैं। मूल्य ॥।) है।

५—त्रिधारा (कविता)—लेखक और प्रकाशक, श्री शम्भूनाथसिंह 'रसिक,' उदयप्रताप कालेज, काशी हैं। मूल्य ।) है।

६—जैनी सप्तपदार्थी—सम्पादक, न्याय काव्यतीर्थ मुनि श्री हिमांशुविजय, प्रकाशक, मंत्री, विजयधर्म सूरि जैन ग्रन्थमाला, छोटा सराफ़ा उज्जैन (मालवा) हैं। मूल्य ।-) है।

७—युवक और स्वाधीनता (लेखों का संग्रह)—लेखक, श्री रघुनाथप्रसाद परसाई, प्रकाशक, नव-सन्देश-पुस्तकमाला, खंडवा सी० पी० हैं। मूल्य ॥) है।

८—प्रेम की देवी या (वीर-हरिजन बालिका) प्रथम भाग—लेखक और प्रकाशक, श्री गणेशप्रसाद श्रीवास्तव, ४ महेन्द्र रोड, भवानीपुर। मूल्य ।) है।

९—खोज और याचना—लेखक, श्री हरप्रसाद गुप्त, बी० बी० सी० आई० रेलवे, फ्रीलेंडगंज हैं। मूल्य =) है।

१०—हिन्दी, बंगला, सन्ताली शिक्षक—लेखक, श्री पुखराज अग्रवाल और श्यामसुन्दर गुप्त। मूल्य ।) है।

११—विद्या (मासिक पत्रिका)—सम्पादक, श्री सुरेन्द्रदेव 'बालूपुरी', प्रकाशक, विद्या-मंदिर बालूपुर, बलिया यू० पी० है। एक प्रति का मूल्य ॥) और वार्षिक मूल्य ५) है।

१—गोविन्द-गीतावली—गोविन्ददास और विद्यापति दोनों ही कृष्ण-काव्य के जन्मदाता थे और बङ्गाली वैष्णवों ने इन दोनों को बँगला-काव्य-साहित्य का उत्कृष्ट बंगाली कवि माना है। किन्तु अब तो यह विषय विवाद-ग्रस्त भी नहीं रह गया है, क्योंकि सभी समझदार विद्वान् इन दोनों कवियों को 'मैथिली' के कवि मानते हैं। इस ग्रन्थ के सम्पादक पंडित मथुराप्रसाद दीक्षित ने इस बात का भी उल्लेख किया है और महामहोपाध्याय गोविन्ददास का एक अधिकारपूर्ण और रोचक परिचय भी दिया है। उसके साथ मैथिली-भाषा से उनका सम्बन्ध-वर्णन तथा विद्यापति के साथ उनकी तुलना भी की गई है। संपादक महोदय ने मैथिली को मागधी, अर्धमागधी अथवा बँगला से उत्पन्न न मानकर एक स्वतंत्र भाषा माना है, यद्यपि वे स्वीकार करते हैं कि मैथिली में अवधी का बहुत कुछ पुट मिलता है। मैथिली की जननी होने का श्रेय वे भोजपुरी या अवधी को भी नहीं देते। हमारे विचार से भी यह बात सत्य-संगत ही है।

हिन्दी-प्रेमियों से विद्यापति के काव्य-गुण नहीं छिपे हुए हैं। अपनी कोमल पदावली के कारण, अपने प्रेम सङ्गीत के कारण विद्यापति 'मैथिल-कोकिल' के नाम से विख्यात हैं। गोविन्ददास जी भी उन्हीं के समान सुन्दर कोमल और प्रेम-पूर्ण हैं। 'गुरु-वन्दना' में गोविन्ददास ने

'कविपति विद्यापति मतिमान' कहकर विद्यापति की स्तुति की है। अपने इस शील के कारण भी गोविन्ददास स्तुति के पात्र हैं। कोमल-कान्त पदावली की रचना के लिए तो हैं ही। एक उदाहरण लीजिए—

'निरुपम कांचन रुचिर कलेवर
लावनि अवनि वरनि नहिं होय।
निरमल वदन हास रस परिमल
मलिन सुधाकर अम्बर होय।
× × × ×
लोल अलक तिलकावलि रंजित
सीत सुकांचन कमल इजोर।
लोचन मधुकरि चलतइ फिरि फिरि
श्रुति कुवलय परिमल किये भोर।
श्यामक चित्त चोर कुच कोरक
नील निचोल कोर करु वास।
यावक रंजित अरुण कमल तल
जिड निरमंजुल गोविन्ददास।

कविवर गोविन्ददास की रचना का सुन्दर ढंग से उद्धार करके श्री दीक्षित जी ने वास्तव में साहित्य की सेवा की है। प्राचीन कविता के प्रेमियों को मैथिली-भाषा के इस द्वितीय विद्यापति की रचनाओं का अवश्य रसास्वादन करना चाहिए।

इस पुस्तक का मूल्य १॥।) है। पता—पुस्तक-भण्डार, लहरियासराय।

२-३—भारती-भण्डार, काशी, की २ पुस्तकें—

(१) पगला—मूल-लेखक, श्री खलील जिब्रान और अनुवादक बाबू राय कृष्णदास जी। पुस्तक का मूल्य ॥)।

अनुवादक महोदय ने लिखा है—"'पगला' एक आधुनिक अरब-कृति है, जो कवि, चित्रकार एवं दार्शनिक तीनों ही है। मूल प्रति पर जो छपा हुआ काग़ज़ चढ़ा था, उसमें इस कृति के विषय में कई ज्ञातव्य बातें लिखी थीं, किन्तु खेद कि वह खो गया। अतः खलील जिब्रान के सम्बन्ध में अपनी ओर से इतना ही कह सकता हूँ कि अपने अन्तस्तल के भावनाओं के अभिव्यक्ति की उनकी एक निराली एवं रुचिर शैली है, जिसमें हम रवीन्द्र के छायावाद, सूफ़ियों के दृष्टान्त और उपनिषदों की अन्योक्ति, तीनों ही का रस एकत्र पाते हैं।"

इस छोटी-सी पुस्तक में खलील जिब्रान के ७९ गद्य-गीतों का संग्रह है। गद्य-गीत ऐसा राग है जो एक सफल कवि के हाथों में तो वीणावादिनि की वीणा-झंकार से भी सुन्दर और शक्तिमान् सिद्ध होता है, और ऐरे-ग़ैरों के हाथ में अत्यन्त असंगत और निरर्थक। खलील जिब्रान महान् कवि हैं। उनके अनुरूप कलामर्मज्ञ अनुवादक भी उनको प्राप्त हुए हैं।

इसके सभी गद्य-गीत ऊँची कोटि के हैं। ईश्वर, कुशल कुत्ता, आदान-प्रदान, नूतन सुख, दो पिंजड़े, दाड़िम पराजय, रजनी और पगला सर्वोत्तम गीतों में से हैं।

खलील जिब्रान जैसे सफल और उत्तम आधुनिक साहित्यकारों से यदि हिन्दी-प्रेमियों का नित्य नया सम्बन्ध हो तो शायद शीघ्र ही हमारे साहित्य-क्षेत्र में एक नये दृष्टि-कोण का सुख-दर्शन हो सके।

√(२) आँसू—'आँसू' 'प्रसाद' जी की प्रसिद्ध रचना है और यह उसका द्वितीय संस्करण है। यह उन काव्य-ग्रन्थों में से है जिन्होंने सहायक नदियों के रूप में आधुनिक काव्य-धारा को शक्तिशालिनी और वेगवती बनाने में सहायता दी है। जैसे इसका छन्द अपनाया गया है, वैसे ही भावों और अभिव्यक्ति का रूप भी।

छन्द के खयाल से 'आँसू' को एक संयत गति प्राप्त हुई है—छन्द एक ही, छोटा है और एक प्रकार की अपनी गति रखता है।

ख़ैर, छन्द को छोड़कर हमें 'आँसू' के अन्तर्दर्शन की ओर आकर्षित होना चाहिए। जैसे, आँसू किसके वियोग में बहाये गये हैं? कवि ने उन आँसुओं को कैसी सुन्दरता से कविता में साकार किया है?

कभी कवि ने महामिलन का अनुभव किया था। आज उसके अभाव के कारण उसे वियोग की अनुभूति हुई है। सुनिए—

'बस गई एक बस्ती है स्मृतियों की इसी हृदय में,
नक्षत्र लोक फैला है जैसे इस नील निलय में।

'वे सब स्फुलिंग हैं मेरी उस ज्वालामयी जलन के
कुछ शेष चिह्न हैं केवल मेरे उस महामिलन के।'

यह महामिलन किसके साथ हुआ? कवि ने उसे प्रियतम के लिए कहा है। मिलन के पश्चात् भी—

'तुम सत्य रहे चिर सुन्दर मेरे इस मिथ्या जग के
थे केवल जीवन-सङ्गी कल्याण कलित इस मग के।'

कवि को ऐसा भास हुआ, इसका भी कारण मिल जाता है—

'छलना थी तब भी मेरा उसमें विश्वास घना था
उस माया की छाया में कुछ सच्चा स्वयम् बना था।'

ऐसी पंक्तियों से 'छायावाद' भी ध्वनित होता है। अस्तु।

'मधुराका मुसक्याती थी पहले देखा जब तुमको
परिचित से जाने कब के तुम लगे उसी क्षण हमको!'

इतना तो हुआ 'आँसू' के आराध्य कवि के प्रियतम के विषय में। अब निम्न पद्य देखिए—

'छिल छिल कर छाले फोड़े मल मल कर मृदुल चरण से
घुल घुल कर वह रह जाते आँसू करुणा के कण से।
'अभिलाषाओं की करवट फिर सुप्त व्यथा का जगना
सुख का सपना हो जाना भींगी पलकों का लगना।
'रो रोकर सिसक सिसक कर कहता मैं करुण-कहानी
तुम सुमन नोचते सुनते करते जानी-अनजानी।'

ऐसे ही बहुत-से पद्यों में 'प्रसाद' जी के हृदय-स्पर्शी भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति मिलती है। इन भावों का स्वभाव, इनका रूप और अभिव्यक्ति की शैली 'प्रसाद' जी की अपनी खास चीज़ें हैं।

—नरेन्द्र बी० ए०

४—मानसोपचार—(शास्त्र और पद्धति) मूल-लेखक, डाक्टर गोपाल भास्कर गणपुले, अनुवादक, पंडित सिद्धनाथ माधव आगरकर, बी० ए०, प्रकाशक, 'स्वराज्य'-कार्यालय, खण्डवा, हैं। मूल्य सजिल्द का ४) है।

भारतवर्ष शुरू से ही आध्यात्मिक उन्नति का समर्थक रहा है। इसलिए उसने अपने मनीषियों के ज्ञान और अनुभव को अध्यात्मवाद की उन्नति में सन्निहित किया है। भारतीय वैज्ञानिकों तथा मनोवैज्ञानिकों ने इसी तरफ़ अपनी सारी शक्तियाँ लगाई हैं। यह इन्हीं महात्माओं के परिश्रम का फल है जो आज भी भारत में अध्यात्मवाद फूलता और फलता है। मन शरीर का राजा है। उसी की आज्ञाओं का पालन शरीर और शरीर के अन्तर्गत रहनेवाली सारी इन्द्रियाँ करती हैं। मानसशास्त्रियों ने भौतिक विज्ञान की सहायता लेकर आज यह सिद्ध कर दिया है कि 'मन के हारे हार है, मन के जीते जीत'। मस्तिष्क विचारों का केन्द्र है। क्योंकि मस्तिष्क में सैकड़ों ऐसी कोमल और चपल तंत्रियाँ हैं जो इतनी सूक्ष्म होती हैं कि आकर्षण और विकर्षण से ही उनमें एक विशेषता पैदा हो जाती है जिससे विचार-रश्मियों का जन्म होता है। ये विचार-रश्मियाँ मस्तिष्क-वाहिनी प्रणालियों में स्थित शक्ति-पुंज-केन्द्रों पर प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव डालती हैं। इस तरह प्रत्येक विचार का प्रभाव हमारे समस्त शरीर की विभिन्न इन्द्रियों पर पड़ता है। स्वास्थ्य शरीर की इन्हीं तमाम इन्द्रियों की प्राकृतिक परिचालना को कहते हैं। इसलिए शारीरिक स्वास्थ्य पर मानसिक विकारों का प्रभाव अवश्यम्भावी है। मन का यदि किसी तरह उपचार हो सका तो फिर शरीर पर व्याधियों का आक्रमण हो ही नहीं सकता। इसी तत्त्व को लेकर वैज्ञानिकों ने मानसोपचार की कई प्रणालियाँ ढूँढ़ निकाली हैं।

जर्मनी और अमरीका में तो इस दिशा में प्रशंसनीय उद्योग किये गये हैं। मानसोपचार की शिक्षा देने के लिए अनेक संस्थायें खुल गई हैं, जिनमें सैकड़ों विद्यार्थी शिक्षा पा रहे हैं। भारत में या तो इसकी ओर ध्यान ही नहीं दिया जा रहा है या इसके साहित्य का सर्वथा अभाव है। अस्तु।

सन् १९२२ में इस ग्रन्थ की रचना डाक्टर गणपुले ने मराठी में की। 'स्वराज्य'-सम्पादक श्री आगरकर जी ने उसी का हिन्दी में अनुवाद किया है। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि मूल-लेखक ने इतने गहन विषय के प्राण में मिल जाने का सफल प्रयास किया है और उन्हें विषय-विवेचन में सफलता भी मिली है। चौथे अध्याय से लेकर सातवें अध्याय तक जिस महत्त्वपूर्ण विषय का प्रतिपादन किया गया है वह है दो मनों (अंतर्मन बहिर्मन) का अस्तित्व और उसका वैज्ञानिक प्रमाण। मानसोपचार-शास्त्र की सृष्टि इन्हीं मनों के गुण-धर्म-विशेष पर की गई है। इस महत्त्वपूर्ण विषय का प्रतिपादन करते समय अनुवादक ने भी काफ़ी क्षमता दिखलाई है। सबसे बड़े मार्के की बात तो यह है कि सर्व-साधारण के काम के लिए इसमें ऐसे आम-फ़हम प्रयोगों का ज़िक है जिनसे प्रत्येक पढ़ा-लिखा आदमी फ़ायदा उठा सकता है। दूसरी बात यह है कि सारे प्रयोग लेखक के अनुभूत हैं और उनसे हानि की कभी आशंका ही नहीं की जा सकती। पुस्तक उपयोगी है। यों तो पुस्तक सभी लोगों के काम की है; लेकिन डाक्टरों और डाक्टरी के विद्यार्थियों को इससे बहुत लाभ होगा।

५—अंकुर (कविता-संग्रह)—रचयित्री—श्रीमती रत्नकुमारी देवी, काव्यतीर्थ, प्रकाशक, महाकोशल-साहित्य-मंदिर, जबलपुर हैं।

इस पुस्तक की रचयित्री श्रीमती रत्नकुमारी देवी हैं। मध्यप्रान्त की विभूति सेठ गोविन्ददास जी की सुपुत्री हैं। अपने पिता की भाँति आप भी सुन्दर कविता करती हैं। इस पुस्तक में आपकी २७ कवितायें संग्रहीत हैं। ये कवि की सजीव रचनायें हैं, जिनमें प्रतिभा प्रकृति के साथ खेलती हुई नज़र आती है। कवि पर माता-पिता की उच्च राष्ट्रीय भावनाओं का भारी प्रभाव पड़ा है। यही कारण है कि इन रचनाओं के प्रत्येक भाव से राष्ट्रीयता का अमर सन्देश टपका पड़ता है। कविता की भाषा सरल, मुहावरे तथा हृदय-स्पर्शी है। ठोंक-पीटकर बनाये हुए कवियों की तरह भाषा की क्लिष्टता की सहायता लेकर भावों पर रोग़न नहीं लगाया गया है। कवि संस्कृत का काव्यतीर्थ हैं; फिर भी 'संस्कृत-जाल' से इसकी रचनायें मुक्त हैं।

भारतीय मातृशक्ति की प्रतिनिधि वीरांगना राजरानी दुर्गावती की अमरगाथा लिखने की क्षमता रत्नकुमारी जी में है। आपको महाकोशल की ऐतिहासिक घटनाओं से निकटता भी प्राप्त है और इसी संग्रह में उन्होंने रानी दुर्गावती के प्रति कुछ पंक्तियाँ लिखी भी हैं, जो इस बात का द्योतक हैं कि दुर्गावती पर खण्ड-काव्य लिखने में आपको कितनी सफलता मिल सकती है। रानी दुर्गावती से—

तूने वनराजा से सीखा
पराधीनता ठुकराना,
तुझे पतंगे ने सिखलाया
विमल प्रेम पर मर जाना।

× × × ×

स्वाभिमान पर हँस कर तूने
अपने हाथों प्राण दिये,
इससे रानी प्रलयकाल तक
तेरी पावन कीर्ति जिये;

अमर रहोगी रानी तुम तो—अमर रहें तेरे सन्देश;
कभी न भूलेगा तुमको यह, हाय अकिंचन कोशल देश।

—रविप्रतापसिंह श्रीनेत

६—संगीत-सुमन—शब्दकार व स्वरकार, शिवगढ़-नरेश श्रीमान् राजा साहब बरखण्डी महेशप्रतापनारायण-सिंहजू देव, संपादक तथा प्रकाशक, ठाकुर नर्मदेश्वरसिंह जी हैं। मूल्य २) है। शिवगढ़, ज़िला रायबरेली, के पते पर प्रकाशक को लिखने से पुस्तक मिलती है।

भारतीय संगीत-सम्बन्धी यह पुस्तक अपने विषय की एक अच्छी पुस्तक है। श्रीमान् राजा साहब ने भारतीय संगीत-सम्बन्धी बहुत-सी राग-रागिनियों, ताल और लय पर प्रकाश डालने के अतिरिक्त इस पुस्तक-द्वारा यह भी व्यक्त किया है कि एक संगीत-प्रेमी अपने हृदयोद्गारों की प्रतिलिपि कितने सुन्दर ढंग से स्वयं कर सकता है। इसमें सभी राग-रागिनियों की स्वरलिपि श्रीमान् आचार्य विष्णुनारायण भातखंडे जी की सुगम लेखन-पद्धति-द्वारा बतलाई गई है। साधारण व्यक्ति भी इसे भले प्रकार समझ सकते हैं। इस पुस्तक की छपाई आदि भी सुन्दर है। ऐसी सुन्दर और उपयोगी पुस्तक लिखने के लिए सभी संगीत-प्रेमी राजा साहब के कृतज्ञ होंगे।

—बेनीप्रसाद श्रीवास्तव

७—परलोक की बात—हिन्दी में श्रीयुत बी० डी० ऋषि ने परलोक-विद्या अर्थात् प्रेतात्माओं से बातचीत आदि करने के सम्बन्ध में अनेक लेख तथा २ पुस्तकें ही

नहीं लिखी हैं, किन्तु घूम-फिर कर इस विद्या का प्रचार भी किया है। अतएव इस विषय से हिन्दी के पाठक बहुत-कुछ परिचित हैं। इस दशा में आलोच्य पुस्तक इस विषय के प्रेमियों के लिए और भी रुचिकर प्रतीत होगी, क्योंकि इसके लेखक स्वयं इसका व्यावहारिक अनुभव ही नहीं रखते हैं, किन्तु उनके कुटुम्ब के प्रायः सभी लोग गत ६० वर्ष से इस विद्या के अभ्यासी और प्रचारक रहे हैं। इसके लेखक श्री मृणालकान्ति घोष 'अमृतबाज़ार पत्रिका' के प्रवर्तक बाबू शिशिरकुमार घोष के भतीजे हैं। और शिशिर बाबू ने ही सबसे पहले अपने कुटुम्बियों के साथ इस विद्या का अभ्यास प्रारम्भ किया था और बाद को प्रचार के लिए एक पत्र भी निकाला था। इस पुस्तक में लेखक महोदय ने लिखा है कि उनके घर में इस विद्या का कैसे प्रवेश हुआ और उसमें उनके घर के लोगों ने कहाँ तक अनुभव प्राप्त किये। पुस्तक का यह अंश बहुत ही रोचक है। इसके बाद दूसरे देशी साधकों के अनुभवों का वर्णन किया है—तदनन्तर अँगरेज़ आदि विदेशी साधकों का। इस पुस्तक में परलोक-विद्या के सम्बन्ध की उन सभी बातों का लेखक महोदय ने संकलन कर दिया जो उन्हें या उनके कुटुम्बियों को ज्ञात हुईं। साथ ही सभी बातें सप्रमाण लिखी गई हैं। इस पुस्तक के पढ़ जाने से परलोक-विद्या की सार्थकता का पूरा बोध हो जाता है। पुस्तक की रचना-शैली के सम्बन्ध में क्या कहा जाय। इसके लिखनेवाले भारत के प्रसिद्ध पत्रकारों में हैं। इस पुस्तक की पृष्ठ-संख्या २७६ है। सजिल्द एक प्रति का मूल्य २) है। छपाई-काग़ज़ सुन्दर है। पुस्तक में परलोक-विद्या के ज्ञाताओं के चित्र भी दिये गये हैं, जिससे इसकी उपयोगिता और भी बढ़ गई है। परलोक-विद्या के प्रेमियों को, साथ ही उसके विरोधियों को भी इस प्रामाणिक पुस्तक का एक बार अवश्य पारायण कर जाना चाहिए।

८—सरल बँगला शिक्षा—लेखक और प्रकाशक, श्री गोपालचन्द्र चक्रवर्ती वेदान्तशास्त्री, १०५ नं० सदानन्द बाज़ार, स्वयम्भाति पुस्तकालय, काशी हैं। मूल्य १) है।

हिन्दी के द्वारा बँगला सीखने की यह एक अच्छी पुस्तक है। इसके लेखक बँगला-भाषी हैं, साथ ही हिन्दी के भी पूर्ण ज्ञाता हैं। इस पुस्तक में वर्ण-परिचय से लेकर व्याकरण के सूक्ष्म नियम तक दिये गये हैं। पुस्तक ऐसे ढंग से लिखी गई है और प्रत्येक पाठ के अन्त में ऐसे क्रम से हिन्दी से बँगला और बँगला से हिन्दी अनुवाद करने की अनुशीलनियाँ दी हैं कि यदि कोई थोड़ा प्रयत्न करे तो इस एक ही पुस्तक द्वारा बँगला सीख सकता है। बँगला में कथित भाषा लिखित भाषा से पृथक् है। इस पुस्तक में कथित भाषा का एक अध्याय रहने से यह पुस्तक और भी उपयोगी हो गई है। बँगला-भाषा सीखनेवालों को इस पुस्तक का अवश्य उपयोग करना चाहिए।

९—नित्य-कर्म-विधि—लेखक, श्री वाच्यानन्द ब्रह्मचारी हैं। पंडित गोपालचन्द्र वेदान्तशास्त्री-द्वारा संशोधित तथा परिवर्धित। स्वयम्भाति पुस्तकालय, १०५ सदानन्द बाज़ार, काशी, से प्राप्य। मूल्य १) है।

प्रातःकाल से लेकर रात्रि में शयन-काल तक सनातन धर्मानुयायियों के लिए अनुष्ठान करने योग्य समस्त नित्य तथा नैमित्तिक कर्म इस पुस्तक में हिन्दी में दर्शाये गये हैं, साथ साथ आवश्यक संस्कृतश्लोक तथा मन्त्र भी दिये गये हैं। तीनों वेदों की सन्ध्या-विधियाँ, तर्पण-विधियाँ, गणेश, सूर्य, विष्णु, शिव आदि देवताओं की पूजा-विधियाँ, आसन, न्यास, मुद्रा, ध्यान-माला, व्रतमाला तथा स्तवमाला आदि भी अलग अलग इस पुस्तक में दी गई हैं। पूजा-विधि में संकल्प, आसन-शुद्धि, पुष्प-शुद्धि, भूत-शुद्धि, घटस्थापन आदि उत्तम रूप से दिखाया गया है। ध्यानमाला में गणेश, सूर्य, विष्णु, शिव, श्री राम, श्री कृष्ण, दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती आदि के ध्यान तथा प्रणाम-मन्त्र दिये गये हैं। व्रतमाला में जन्माष्टमी-व्रत, शिवरात्रि-व्रत, सत्यनारायण-कथा आदि दिये गये हैं। परिशिष्ट में ग्रहण-स्नान-संकल्प-वाक्य, दशहरा-स्नान-संकल्प-वाक्य, गर्भाधान में पञ्च-गव्य-पान-मन्त्र, सर्वौषधि, महौषधि आदि का वर्णन किया गया है। हिन्दुओं के लिए यह पुस्तक विशेष रूप से उपयोगी है।

['अरविन्द बाबू की जेल-डायरी' का जो अंश 'सरस्वती' के पिछले दो अंकों में छप चुका है उसका शेषांश यहाँ देकर हम इस लेख को समाप्त करते हैं।—लेखक]

देशपाँड़े की मृत्यु

४-११-३—

ज अँगरेज़ी अख़बार 'इण्डियन न्यूज़' में निम्नलिखित समाचार पढ़ा—

"आजीवन कालेपानी का क़ैदी बलवन्त दामोदर देशपाँड़े जिसकी अवस्था ४५ वर्ष की थी, 'अंडमन पेनल सेटेलमेंट' में क्षय-रोग से मर गया। यह क़ैदी साल भर से बीमार था। सरकार की ओर से इस रोगी की जितनी सेवा-सुश्रूषा सम्भव थी, की गई। लेकिन मृत्यु के आगे कोई उपाय कारगर न हुआ।

"इसकी मृत्यु से नगर की भारतीय जनता में विशेष उद्विग्नता है, क्योंकि यह क़ैदी शिक्षित था और इसके अनेक घनिष्ठ मित्र ऊँचे ऊँचे सरकारी पदों पर हैं।"

कुछ दिन से देशपाँड़े मेरे ध्यान से बिलकुल उतर गये थे। यद्यपि उनके आजीवन कालेपानी की सज़ा का समाचार मुझे पहले मिला था, तो भी उस समय मैंने इस सज़ा को अपनी डायरी में नोट करके इस मसले को ख़त्म कर दिया था। जीवन में एक भी बात ऐसी नहीं थी जिस पर हम और देशपाँड़े एक ही दृष्टि से देखते रहे हों। हमारा उनसे सिद्धान्तों में मौलिक मतभेद था। जहाँ हम दोनों अपने उद्देशों में सहमत थे, वहाँ उद्देश-प्राप्ति के साधनों में एक-दूसरे के कट्टर विरोधी थे। कहीं हम उनकी युक्तियों से मतभेद रखते और कहीं निर्णयों से।

असहयोग-आन्दोलन में वे शामिल तो हुए थे, लेकिन उनका दिल असहयोग से सन्तुष्ट न था। असहयोग-आन्दोलन के प्रवर्तक महात्मा गांधी के सिद्धान्तों के हृदय से विरोधी थे और अक्सर उन्हें भला-बुरा कहने लगते थे। तलवार, विप्लव, श्रेणी-युद्ध आदि शब्द बेमतलब निरन्तर उनकी जिह्वा पर बने रहते थे। जेल में रहते हुए कल्पना-संसार में उन्होंने न जाने कितने विप्लव कर डाले थे और न जाने कितने हज़ार पूँजीपतियों को सम्पत्तिहीन कर दिया था। उनकी भाषा में ग़ैर-ज़िम्मेदारी थी, कटुता थी और थी बेसब्री। जेल में उद्दण्ड स्वभाव के दो-चार नौजवान उनके बड़े भक्त हो गये थे और उनके आगे-पीछे लगे रहते थे। मैं उनसे कहता रहता था कि आप अहिंसात्मक राजनैतिक आन्दोलन से अलग हो जायँ, लेकिन मेरा प्रस्ताव उनको नहीं स्वीकार हुआ और गांधी-रूपी टट्टी की आड़ में शिकार खेलना चाहते थे। उनका यह राजनैतिक

कपट और नैतिक मिथ्याचार कांग्रेस की संस्था के पतन का और उनकी अकाल मृत्यु का कारण हुआ।

देशपाँड़े राजनैतिक दम्भ की मूर्ति थे। महात्मा गांधी के जीवन और सिद्धान्तों की एक एक बात से उन्हें नफ़रत थी। वैष्णव जनवाला भजन महात्मा जी को बहुत प्रिय है—"रघुपति राघव राजा राम" की ध्वनि महात्मा जी को बहुत प्यारी लगती है। देशपाँड़े इन चीज़ों को सुनकर जल-भुन जाते थे। राजनैतिक प्रश्नों के बीच में ईश्वर या अन्तःकरण शब्द का प्रयोग उनके लिए असह्य था। मार्क्स के सारे अनुयायियों के समान अर्थ-पिपासा को ही वे ऐतिहासिक घटनाओं की मौलिक प्रेरक-शक्ति मानते थे। महात्मा गांधी और गीता का यह सिद्धान्त कि जगत् 'यज्ञ'* के आधार पर चल रहा है उन्हें मान्य नहीं था। अपने विचारों की मौलिकता में उन्हें इतना विश्वास था कि वे इस बात पर ज़रा भी ध्यान नहीं देते थे कि हिन्दुस्तान की और पश्चिमीय देशों की जनता की मनोवृत्ति में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ है।

१९३० में जब देशपाँड़े छूटे तब .... ज़िले के प्रमुख हुए। वही उस ज़िले के कार्यकर्ताओं में सबसे योग्य व्यक्ति थे। जनता पर उनका प्रभाव भी था। १९३० का वर्ष राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से असाधारण चहल-पहल का वर्ष था। गांधी-इरविन समझौते के कारण कांग्रेस की संस्था में एक अपूर्व ज़ोर आ गया था। कांग्रेस के प्रत्येक वालंटियर में एक प्रकार का अभिमान पैदा हो गया था कि उसने अँगरेज़ी राज्य को हरा दिया है। इस ग़लतफ़हमी की मात्रा कुछ कार्यकर्ताओं में इतनी बढ़ गई थी कि गांधी-इरविन समझौते की ज़िन्दगी ख़तरे में पड़ जाया करती थी या समझौते का पूरा पूरा लाभ देश को नहीं मिल पाता था। किन्तु सम्पूर्ण देश पर यह प्रभाव ज़रूर था कि कांग्रेस प्रबल और जीवित-जाग्रत संस्था है। जनता में कांग्रेस के प्रति आदर था और जहाँ जहाँ के कार्यकर्ता या सरकारी अफ़सर ज़रा चंचल प्रकृति के थे वहाँ खलबली रहा करती थी। आर्थिक अवस्था में भी अपूर्व परिवर्तन था। अनाज का भाव एक-दम रुपये से आठ आना गिर गया था, इसलिए किसानों में सन्तोष था।

देशपाँड़े जिस ज़िले के प्रमुख नेता थे, अभाग्यवश वहाँ किसानों में विशेष रूप से बेचैनी थी। विशेषकर तहसील फेरिया के किसान बहुत अशान्त थे। ठाकुर गंडासिंह इस तहसील के सबसे बड़े ज़मींदार थे। इनकी रियासत की निकासी क़रीब ५० हज़ार थी और २० हज़ार रुपया मालगुज़ारी देते थे। गंडासिंह बड़े दबङ्ग और उद्दण्ड आदमी थे। पुलिस और सरकारी अफ़सरों को मुट्ठी में किये रहने का दावा करते थे।

किसानों से लगान वसूल करने के लिए अदालत की शरण लेना गंडासिंह अपने लिए अपमानजनक समझते थे। सरकश किसान उनके सिपाहियों के डंडे और जूते के सामने लगान का पैसा पैसा अदा कर देते थे। १९३० में जब अनाज का भाव आधा रह गया था, गंडासिंह ने अनेक गाँवों में अपने किसानों से पूरा पूरा लगान वसूल कर लिया था। उनके मुलाज़िम किसानों पर अपनी आमदनी के लिए तरह तरह के अत्याचार किया करते थे। इससे देशपाँड़े गंडासिंह से बहुत रुष्ट थे।

एक दिन क़रीब आठ बजे प्रातःकाल देशपाँड़े कांग्रेस के दफ़्तर में मेज़-कुर्सी लगाये बैठे कुछ काम कर रहे थे। ५ किसान दरिद्रता के अवतार, हीनता की साक्षात् मूर्ति कांग्रेस-दफ़्तर में घुस आये और देशपाँड़े के सामने हाथ जोड़कर खड़े हो गये, बोले—"महात्मा जी! बचाइए, उबारो! गंडासिंह उजाड़े देते हैं।"

"क्या बात है?" देशपाँड़े ने पूछा। पाँचों किसान एक साथ अपनी अपनी कहने लगे। देशपाँड़े ने कहा—"मैं सबकी बात एक साथ नहीं सुन सकता। एक एक बोलो।"

पाँचों एक-दम चुप हो गये, एक दूसरे का मुँह देखने लगे। एक बोला—"महँगू महतो, तुम्हीं कहो।"

महँगू आगे बढ़कर हाथ जोड़कर खड़े हो गये। तीन किसान एक-दम पीछे हट कर बैठ गये। एक महँगू के पीछे खड़ा रहा। देशपाँड़े कुर्सी पर बैठे महँगू का वृत्तान्त सुनने लगे। महँगू बोले—"महाराज! गंडासिंह ने पँड़ेरिया में आफ़त मचा रक्खी है। कल सुबह चार बजे से उन्होंने ख़ुद ३० सिपाही और १० घुड़सवार लेकर पँड़ेरिया को चारों ओर से घेर लिया है। नाका-बन्दी कर दी है और औरतों-मर्दों का गाँव से बाहर आना-जाना रोक दिया है। सात सिपाही और ज़िलेदार गाँव में घूम रहे हैं और हर एक किसान के घर में घुस जाते हैं। आसरे तेली के घर में घुसकर उन लोगों ने उसे जूते-डंडों से ख़ूब पीटा है। आसरे तो बेहोश हो गया है और मरने के क़रीब है। उसकी स्त्री और मा को भी उन्होंने ख़ूब डंडे लगाये हैं और बेचारी स्त्री को तो बाल पकड़ कर घसीटते हुए अपने थाने तक ले गये हैं। वहाँ उसे बन्द कर दिया है। इसी तरह हर एक घर पर जा जाकर वे लोग जूते और डंडे से किसानों को पीट रहे हैं और मा-बहनों की इज़्ज़त ले रहे हैं। आप ही बचाइए। कोई दूसरा सुनने-वाला नहीं।"

यह कह कर महँगू रोने लगे। जगई लोध ने जो महँगू के पीछे खड़ा था, पँड़ेरिया गाँव का विशेष भयानक चित्र देशपाँड़े के सामने खींच दिया। बाक़ी किसान भी महँगू के कथन का समर्थन करने लगे।

देशपाँड़े किसानों के स्वभाव से अनभिज्ञ थे। वे यह नहीं जानते थे कि सैकड़ों बरसों से अदालती वातावरण में रहते रहते किसानों ने यह अनुभव कर लिया है कि सच बोलने से अधिक बेवक़ूफ़ी और कोई नहीं। इसलिए उन्होंने महँगू की सब बातें अक्षरशः मान लीं और क्रोध में आगबबूला हो गये।

"ऐं! जूते डंडों से औरतों को मारते हैं और बेइज़्ज़ती करते हैं?" देशपाँड़े ने क्रोध के आवेश में पूछा।

महँगू ने औरतों की बेइज़्ज़ती का विशेष तफ़सीलवार वर्णन देशपाँड़े के सामने कर दिया।

देशपाँड़े साम्यवादी तो थे ही। पूँजीपति-वर्ग से उन्हें आन्तरिक द्वेष था। गंडासिंह से पहले से ही रुष्ट थे और अब तो अत्यन्त क्रुद्ध हो गये। उन्होंने महँगू से कहा—"चलो, चलता हूँ और गंडासिंह को ठीक करता हूँ।"

खाना खा-पी कर ११ बजे की लारी से देशपाँड़े तीन वालंटियर लेकर पँड़ेरिया को चल दिये।

१२ बजे वे पँड़ेरिया पहुँचे। वहाँ उन्हें मालूम हुआ कि गाँव घिरा नहीं है, लेकिन गंडासिंह अपने थाने में हैं और लगान वसूल कर रहे हैं। पँड़ेरिया के बाहर बाग़ में देशपाँड़े ने डेरा डाल दिया और सभा का एलान करने के लिए वालंटियरों को आस-पास भेज दिया। घंटे भर के अन्दर क़रीब ७-८ सौ किसान इकट्ठा हो गये, जिन पर पहले देशपाँड़े के वालंटियरों ने, फिर देशपाँड़े ने स्वयं साम्यवाद और राष्ट्रवाद के सम्मिश्रित सिद्धान्तों का भाषण झाड़ा। उन्होंने महँगू को सभा में खड़ा करके गंडासिंह के अत्याचारों का पूरा पूरा हाल जनता को सुनवाना चाहा। लेकिन महँगू ने सभा में भाषण करने में अपनी असमर्थता प्रकट की। इस पर देशपाँड़े ने स्वयं सब हाल कह सुनाया और यह प्रस्ताव पेश किया कि सभा की ओर से एक पत्र ठाकुर गंडासिंह के पास भेजा जाय और उनसे उनके अत्याचार का जवाब तलब किया जाय। पत्र लिखा गया और महँगू को दिया गया कि जाकर गंडासिंह को दे आये। थोड़ी देर के बाद महँगू महतो वापस आये और यह बयान किया कि गंडासिंह ने मुझसे पत्र नहीं लिया। असल बात यह थी कि महँगू वहाँ तक गये ही नहीं थे और रास्ते से वापस आये थे।

तब वह पत्र एक वालंटियर के हाथ गंडासिंह के पास भेजा गया। गंडासिंह ने पत्र का कोई जवाब नहीं दिया, लेकिन जो वालंटियर वापस आया उसने आकर सभा में यह कहा—"गंडासिंह कहते थे कि देशपाँड़े न तो क़ाज़ी हैं, न मुल्ला। उनको हमारी ज़मींदारी के काम-काज से क्या मतलब? ऐसे कांग्रेसी लाखों हमारे जूते की नोक पर रहा करते हैं।"

वालंटियर की ज़बानी यह रिपोर्ट सुनकर देशपाँड़े के एँड़ी से लगी आग चोटी में बुझी। मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक। सभा में उत्तेजनाजनक भाषण होने लगे, और देशपाँड़े ने यह तजवीज़ पेश की कि गंडासिंह के

---

*सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
गी० ३।१०॥

'यज्ञ' की परिभाषा गांधी जी के गीता-बोध में देखिए।

ज़िले पर सब किसान लोग जाकर भूख-हड़ताल करें और जब तक गंडासिंह अपने किये की क्षमा न माँगें, भूख-हड़ताल जारी रहे। होते करते २ बजे के क़रीब ५० आदमियों का झुंड देशपाँड़े के नेतृत्व में बाग़ से गंडासिंह के थाने की ओर चला। पर ठाकुर साहब को यह खबर मिली कि लाठी और डंडों से सन्नद्ध एक हज़ार किसान उनके मारने के लिए चले आ रहे हैं। गंडासिंह ने भी इस बात की जाँच करने की कोशिश नहीं की कि यह खबर कहाँ तक सही है? उन्होंने ख़बर को बिलकुल सच मान लिया। क्रोध और चिन्ता में निमग्न हो गये। उन्होंने सोचा कि पुलिस को इत्तिला दी जाय। लेकिन पुलिस की चौकी वहाँ से १० मील के फ़ासले पर थी और उस चौकी में केवल ३ कानिस्टबिल रहा करते थे। उनसे किसी प्रकार की सहायता नहीं मिल सकती थी। इसलिए उन्होंने यह निश्चय किया कि आत्मरक्षा के लिए बन्दूक़ का इस्ते-माल किया जायगा। उन्होंने सोचा कि अगर मरना ही है तो मार कर ही क्यों न मरा जाय। उन्होंने अपनी बन्दूक़ भर ली। क्रोध और चिन्ता के आवेश में प्रतीक्षा करने लगे कि क्या होता है।

देशपाँड़े जब गंडासिंह के थाने के सामने पहुँचे, उनके साथ दो-ढाई सौ आदमियों के क़रीब हो गये थे। गंडासिंह ने उन आदमियों को देखकर तुरन्त यही समझा कि यह झुंड उन्हीं पर आक्रमण करने के लिए आ रहा है। और जब यह झुंड उनके थाने के २०० गज़ के फ़ासले पर पहुँचा, गंडासिंह ने धाँय, धाँय! बन्दूक़ की दो आवाज़ें कर दीं। तीन किसान जो अगली लाइन में थे, लोट गये। हाय राम! मार डाला! मार डाला!! की चिल्लाहट सुनाई दी और देशपाँड़े की फ़ौज में भगदर मच गई। महँगू का तो कहीं पता न चला और न जगई का। देशपाँड़े पहली क़तार में न थे। वे थाने से ४०० गज़ के फ़ासले पर रहे होंगे। धाँय! धाँय!! शब्द के साथ साथ उन्होंने जनता को भागते देखा और सौ डेढ़ सौ गज़ के फ़ासले पर अपने आगे तीन किसानों को हाय राम! हाय राम!! चिल्लाते हुए सुना। देशपाँड़े फ़ौरन समझ गये कि गंडासिंह ने तीन किसानों को बन्दूक़ से मार दिया है। अहिंसा का जो ग़िलाफ़ उनके ऊपर चढ़ा था, इस अवसर पर क्रोधाग्नि से जल कर खाक़ हो गया। शान्तिमय तरीक़ों के पालन करने की प्रतिज्ञा भूल गई और उनके हिंसाभाव का वास्तविक रूप प्रकट हो गया। उन्होंने तुरन्त ही क्रोध के आवेश में आकर भागते हुए किसानों को ललकार कर कहा—"कायरो, कहाँ भागे जाते हो? यही तो मौक़ा है।" किसानों में उत्तेजना पैदा हो गई, वे पलट पड़े और थाने का दरवाज़ा तोड़ने लगे। गंडासिंह ने दो और फ़ायर किये, लेकिन इस मर्तबा किसी को चोट नहीं आई। डेढ़ सौ आदमी एक साथ गंडासिंह के थाने में घुस गये। किसी ने एक लाठी गंडासिंह के सिर पर मार दी। वे ज़मीन पर गिर पड़े। फिर क्या कहना था। अब सभी उन पर टूट पड़े। जब देशपाँड़े भीतर पहुँचे, गंडासिंह मर चुके थे। यह दुर्घटना देखकर देशपाँड़े के तलवे के नीचे से ज़मीन निकल गई। वे गंडासिंह से रुष्ट थे, लेकिन यह कभी नहीं चाहते थे कि उनके प्राण ले लिये जायँ। उन्होंने बेहद कोशिश की कि मारपीट बन्द हो, लेकिन वहाँ कौन किसकी सुनता था! गंडासिंह को किसानों ने मार मार कर चटनी कर दिया। गंडासिंह के सिपाही न जाने कहाँ भाग गये थे? और पाँच मिनट के अन्दर किसान-समुदाय भी उड़न छू हो गया। शाम तक पुलिस को ख़बर मिली कि गंडासिंह का किसानों ने क़त्ल कर दिया है। कप्तान साहब मौक़े पर आठ बजे रात तक पहुँच गये। देशपाँड़े गिरफ़्तार कर लिये गये। जो तीन वालंटियर उनके साथ गये थे वे भी पकड़ लिये गये। गाँवों के २०० किसान भी हिरासत में ले लिये गये। मुक़द्दमा चला। कांग्रेसवालों ने देशपाँड़े के बचाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया, लेकिन हाईकोर्ट ने उन्हें आजीवन कालेपानी की सज़ा दे ही दी।

देशपाँड़े ने साल भर पहले एक मुसलमान स्त्री से अपना विवाह कर लिया था। पहली स्त्री से भी उनके दो बच्चे हैं! उनके वृद्ध पिता अभी तक जीवित हैं।

देशपाँड़े की अकाल मृत्यु क्षयरोग से नहीं हुई, बल्कि उनके विचारों की अपरिपक्वता, व्यवहारशून्यता और स्वभाव की अधीरता से हुई। तलवार-बन्दूक़ की

बात करने और सुनने में इतिहास के कच्चे अध्ययन किये हुए विद्यार्थियों को या अनुभवशून्य नवयुवकों को स्वभावतः आनन्द आता है, लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से जिसने उस प्रश्न पर विचार किया है वह इसी नतीजे पर पहुँचा है कि क्या हिन्दुस्तान में और क्या इँग्लिस्तान में संसार के प्रत्येक भाग में किसी भी ध्येय की प्राप्ति के लिए यह नितान्त ही कुसाधन सिद्ध हुआ है। और अब संसार तलवार की अपूर्णता और उसके भयंकर परिणाम को अच्छी तरह समझ रहा है। सैनिक विज्ञान इतना उन्नति कर गया है, ऐसी ऐसी ज़हरीली गैसें और ओषधियाँ आविष्कृत हो गई हैं, ऐसे ऐसे भयंकर बम, हवाई जहाज़ और तोपें बनाई जा चुकी हैं और गवर्नमेंटें इतनी सुदृढ़ संगठित हैं कि इस समय जो आदमी तलवार की ओर इशारा करता है वह अपने राष्ट्र का और मनुष्यमात्र का हितचिन्तक नहीं कहा जा सकता। इस मार्ग पर चलकर किसी ने कोई भी फ़ायदा नहीं उठाया और इस रास्ते की मुसाफ़िरी में सैकड़ों ने व्यर्थ में अपना जीवन गँवाया।

योरप की सभ्यता तलवार की मनोवृति से ही आज नष्टप्राय हो रही है और वहाँ के विचारशील राजनीतिज्ञ यह मान रहे हैं कि योरपीय देश और योरपीय सभ्यता इसी कारण विनाश के पथ पर अग्रसर है। भारत की सभ्यता भी तलवार के कारण ही नष्ट हुई। महाभारत क्या था? युधिष्ठिर के काल में भारत की वही स्थिति थी जो आज योरप की है। राजन्य वंश दो दलों में विभाजित था। आज आर्थिक और राष्ट्रीय आधार पर योरप में विभाग हो गये हैं। उस समय अन्य कारणों से हुए थे। कुरुक्षेत्र के मैदान में दोनों दलों के महारथी इकट्ठा हुए और एक-दूसरे का गला काट कर ख़त्म हो गये। और भारतवर्ष में कलियुग का प्रवेश हो गया। क्षत्रिय-वंश हिन्दुस्तान में पहले भी बहुत प्रबल नहीं था, क्योंकि पुराणों में ही लिखा है कि ब्राह्मणवर्ग ने संसार को २१ दफ़ा निःक्षत्रिय कर डाला था। महाभारत के बाद तो क्षत्रिय-जाति की कमर ही टूट गई। भारत में महाभारत के बाद प्रगाढ़ पतन का आरम्भ हुआ। उस समय के साहित्य में भी इस बात की झलक देख पड़ती है।

युधिष्ठिर ने महाभारत के बाद ही इस भयंकर आपत्ति को समझ लिया था। लेकिन जब तक श्रीकृष्ण जीवित रहे, उनके दिल को उन्होंने छोटा नहीं होने दिया। किन्तु श्रीकृष्ण की मृत्यु के बाद तो सारे भारत में और युधिष्ठिर के ऊपर विशेषरूप से प्रगाढ़ निराशावाद का आवरण छा गया। समाज की शृङ्खलायें ढीली हो गईं। नीति, धर्म और विचार-शीलता का राजा लोग निरादर करने लगे और भारत का शरीर अन्दर से खोखला हो गया। विदेशियों के आक्रमण के सामने ऐसी अवस्था में भारतवर्ष का नीचा देख जाना कोई असम्भव बात नहीं हुई।

तलवार को हम आज़मा चुके हैं। और योरप आज आज़मा रहा है और अपना सत्यानाश कर रहा है। देशपाँडे ने व्यक्तिगत जीवन में भी बिना जाने हुए और बिना स्वेच्छा के तलवार की आज़माइश की और अपना नाश कर लिया।

सामाजिक क्षेत्र में भी देशपाँड़े कुछ न कर सके। भारतीय संस्कृति और धर्म के वे कट्टर विरोधी थे, अहिंसा-वाद और धर्मवाद के सख़्त दुश्मन थे, लेकिन ज़बानी। जेल से निकल कर उन्होंने एक मुसलमान महिला से विवाह किया था और मांस की रकाबी और मदिरा के प्याले के संमुख उन्होंने कभी हारी नहीं मानी। परिणाम यह हुआ कि जिन देशवासियों को सुधारना चाहते थे वही उनसे नफ़रत करते थे। कटुभाषण में अद्वितीय थे। तीक्ष्ण से तीक्ष्ण वाक्यों के प्रयोग में अत्यन्त कुशल, वाक्शर चलाने में अत्यन्त प्रवीण। जो बात मधुर शब्दों में भी कही जा सकती थी उसे कठोर शब्दों में प्रकट करते थे और व्यर्थ में बिना प्रयोजन के दूसरे के हृदय को छेद दिया करते थे।

उनके उपदेश के कारण इसलिए साहित्यिक क्षेत्र में न तो एक भी शृंगारी कवि वीररस का कवि बना, न किसी बहुकुटुम्बी ने सन्तान-निग्रह का सबक़ सीखा, न कोई स्त्री ही पर्दे से बाहर आई और न किसी व्यक्ति ने ही समुद्र-यात्रा की।

देशपाँड़े का जीवन इसलिए सम्पूर्ण रूप से विफल रहा। स्वभाव की अधीरता और राजनैतिक अपरिपक्वता के वे बेचारे शिकार हो गये। ईश्वर उन्हें सद्गति दें।
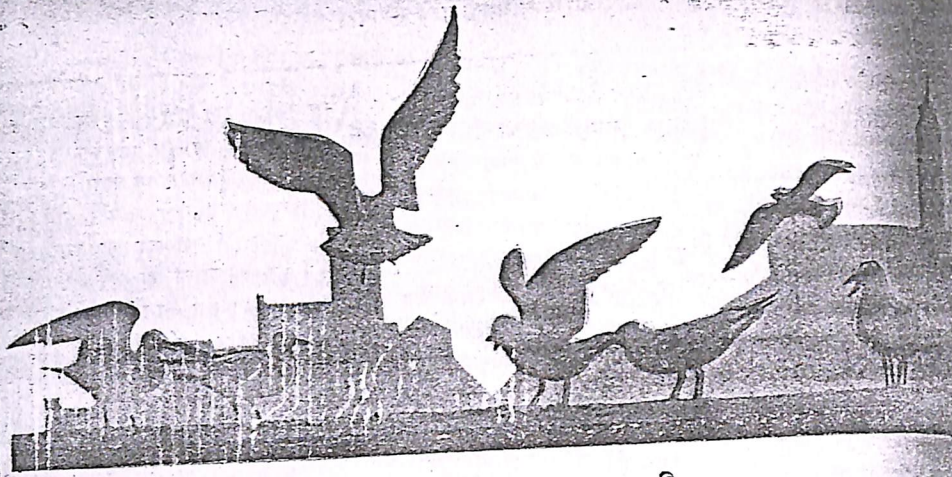
पक्षियों का स्वर्ग

लेखक, श्रीयुत सन्तराम, बी० ए०

शिकार के नाम पर मनुष्य ने सुन्दर पक्षियों की कितनी निर्दय हत्या करके अपना मनोविनोद किया है इसका कुछ ठिकाना नहीं है। प्रसन्नता की बात है कि अब मनुष्य का यह कार्य्य प्रशंसा नहीं घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा है और समस्त संसार में ऐसे स्थान सुरक्षित किये जा रहे हैं जहाँ सब प्रकार के पक्षी निर्भय होकर विचरण करें। इटली के केपरी नामक टापू में जहाँ पहले भीषण पक्षिवध होता था अब एक भी पक्षी नहीं मारा जाता। इसका श्रेय वहाँ के प्रसिद्ध डाक्टर मुन्थ को है। इस लेख में 'सरस्वती' के प्रसिद्ध लेखक श्री सन्तराम जी ने उक्त डाक्टर महोदय के सुन्दर प्रयत्नों का बड़ा रोचक वर्णन किया है। इसमें सन्देह नहीं कि अहिंसावादी भारत में तो ऐसे प्रयत्नों की और भी अधिक आवश्यकता है।

भगवान् की सृष्टि बड़ी विचित्र है। इसमें क्रूर से क्रूर और दयालु से दयालु मनुष्य मिलते हैं। इसमें ऐसे भी निर्दय मनुष्य हैं जिनका काम ही जीवों की हिंसा करना है और ऐसे भी हैं जो प्राणि-मात्र पर अपनी ही आत्मा के समान प्रेम रखते हैं। बूचड़ों और क़साइयों को पशु-पक्षियों का वध करने में कुछ भी मानसिक दुःख नहीं होता। इनके विपरीत ऐसे भी दयावान् पुरुष हैं जो रोज़ पक्षियों को चारा डालते हैं और रोगी हो जाने पर उनकी चिकित्सा कराते हैं। ऐसे ही एक देवात्मा की कृपा से आज 'केपरी' का टापू पक्षियों के लिए स्वर्ग बन गया है।

केपरी का टापू विसूवियस नाम के प्रसिद्ध ज्वालामुखी पर्वत के नीचे नेपल्स की खाड़ी में है। यह इटली के अधिकार में है। इसका सौन्दर्य बहुत ही मनोहारी है। दूर दूर से लोग इसे देखने आते हैं। परन्तु बहुत कम लोगों को पक्षियों की उस भीषण हत्या का ज्ञान है जो यहाँ सैकड़ों बरस तक होती रही है। कुछ वर्ष हुए 'दि स्टोरी ऑफ़ सान

मिचल' नाम की एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी। इसने अपने लेखक डाक्टर एक्सल मुन्थ को न केवल प्रसिद्ध कर दिया है, वरन जनता का प्रेमपात्र भी बना दिया है। इस पुस्तक में डाक्टर साहब ने दीन पक्षियों की दुःख-भरी गाथा दुनिया को सुनाई है। उनकी पुस्तक से और उनके अथक उद्योग से आज केपरी में पक्षियों का सर्ववध बन्द हो गया है और इटली की सरकार ने इस टापू को भूमध्य सागर में पक्षियों के लिए एक बड़ा अभय-आश्रम बना दिया है।

ईसाइयों के पुण्य पर्व ईस्टर पर पक्षियों के साथ विशेषरूप से निर्दयता हुआ करती थी। ईस्टर से कई दिन पहले गाँव के छोकरे पक्षियों के पाँवों में रस्सी बाँध कर घसीटा करते थे; कई पक्षी इसी में मर जाते थे। ईस्टर के दिन गिरजों के द्वार बन्द करके उनमें पक्षी छोड़ दिये जाते थे। वे बेचारे बाहर निकलने के लिए रास्ता ढूँढ़ते हुए पंखों को फड़फड़ाते थे। दीवारों के साथ टकराने से उनके सिर फट जाते थे और वे मर कर गिर पड़ते थे। परन्तु दर्शक इस पर प्रसन्न होते थे। कभी कभी इस प्रकार एक दिन में ४,००० तक पक्षियों की हत्या हो जाती थी।

यह कर्म क्रूर ज़रूर था, परन्तु पक्षियों के देशान्तर-गमन के समयों में वर्ष में दो बार होनेवाले सर्ववध के सामने यह कुछ भी नहीं था। इससे टापू को बड़ी आय होती थी। सब जातियों के पक्षी—खंजन, बुलबुल, अबाबील, पण्डुक, तिलियर, थ्रश और बटेर—अफ़्रीका में शीतकाल काटकर हर साल वसन्त-ऋतु में उत्तर को आ जाते हैं। वहाँ आकर वे अंडे देते, बच्चे पालते और उनको साथ लेकर पतझड़ में वापस लौट जाते हैं। वे केपरी के पर्वतों की ढलानों पर लाखों की संख्या में उतरते थे। सारे टापू पर जाल लगाये रहते थे और वे बेचारे उनमें फँस जाते थे। फिर ये लकड़ी के छोटे छोटे संदूक़ों में भूखे और प्यासे बन्द कर दिये जाते थे और स्वादिष्ट भोजन बनने के लिए यूरप की राजधानियों के फ़ैशनेबल होटलों में भेज दिये जाते थे।

सबसे अधिक माँग बटेरों की रहती थी। सन् १०३३ में पोप ने पहले-पहल अपना बिशप इस टापू में भेजा था और उससे साफ़ कह दिया था कि तुम्हारी आय केवल वही होगी जो तुम उस टापू पर टैक्स लगाओगे। इससे प्रकट है कि उस समय भी पक्षियों का व्यापार ख़ूब ज़ोरों पर था। बिशप दस पक्षियों के पीछे एक पक्षी या उसका मूल्य टैक्स में ले लेता था। वह और उसके बाद आनेवाले बिशप 'केपरी के बटेरवाले बिशप' के नाम से प्रसिद्ध हो गये। सामान्यतः इस टैक्स से उन्हें बहुत अच्छी आय हो जाती थी। इससे पता लगता है कि बहुत बड़ी संख्या में बटेरें पकड़ी जाती थीं।

जिस समय एक्सल मुन्थ पहले-पहल जाकर इस टापू पर बसे और उन्होंने अपनी सान मिचल की कुटी बनाई, उस समय पक्षियों का वाणिज्य पूरे ज़ोरों पर था। पक्षी केवल जाल-द्वारा ही नहीं, वरन एक बहुत अधिक सूक्ष्म धोखे से पकड़े जाते थे। इस धोखे का नाम है 'बुलारा' लगाकर बटेर पकड़ना। अनुभव ने एक अनोखे और बहुत बुरे रहस्य का प्रकाश किया था। वह यह कि यदि मादा बटेर की आँखें सुई को गरम करके जला डाली जायँ तो वह दिन-रात निरन्तर गाने लगती है। इन अंधी की हुई मादा बटेरों को पिंजरे में बन्द करके जाल के पास लटका देते थे। तब इनकी प्रणय-पुकार समुद्र पर दूर तक सुनाई देती थी और दूर दूर से बटेरों को मृत्यु-मुख में खींच लाती थी। मादा बटेरों की आँखें जलाना बड़ी कारीगरी का काम था। इसमें सैकड़ों पक्षी मर जाते थे, केवल एकाध जीता बचता था। फलतः ऐसी अंधी बनाई हुई मादा बटेर का मूल्य बहुत अधिक पड़ता था।

टापू में एक मनुष्य ऐसा था जो इस कला में बहुत निपुण था। वह पहले बूचड़ का काम किया करता था। सान मिचल की पहाड़ी पीठ का भी वही स्वामी था। उसकी ढलानों पर बहुत-से पक्षी पकड़े जाते थे। इन दोनों बातों के कारण वह धनवान्
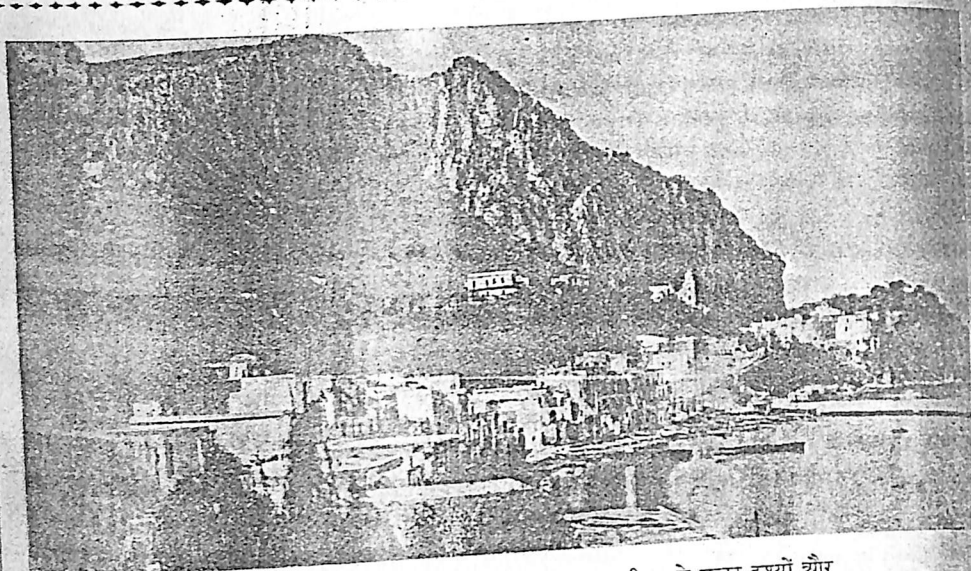
[केपटी द्वीप का एक दृश्य—प्रतिवर्ष यहाँ ३५००० यात्री इसके सुन्दर दृश्यों और स्वास्थ्य-वर्द्धक मनोहर जल-वायु का आनन्द लेने आते हैं।]

हो गया था। डाक्टर मुन्थ ने इस पहाड़ को लेने के लिए बहुत हाथ-पाँव मारे। उसने इसे ख़रीदने का पूरा प्रयत्न किया, परन्तु भूतपूर्व बूचड़ ने उसके वास्तविक मूल्य से कई गुना अधिक दाम माँगे। एक्सल मुन्थ ने चंदा करके रुपया इकट्ठा कर लिया; तब वह बूचड़ हँसने लगा और उसने उसका मूल्य दुगुना कर दिया।

डाक्टर महोदय चाहते थे कि बटेरों का जाल से पकड़ना और उनकी आँखें निकालना बिलकुल बंद हो जाय। इसके लिए वे उच्च पदाधिकारियों की सहायता लेने टापू से बाहर गये। परन्तु उन्हें सफलता न हुई। उन्होंने नेपल्स के पुराध्यक्ष से और रोम में सरकार से अपील की; फिर पोप से अपील की। परन्तु पोप ने अपने एक कार्डिनल-द्वारा उत्तर भेजा कि मैंने एक दिन सवेरे वेटिकन उद्यान में पक्षियों को जाल-द्वारा पकड़ने की क्रिया देखी थी। मैं उसे देख कर बहुत प्रसन्न हुआ था। कोई २०० पक्षी पक[ड़े] गये थे।

विफलता से डाक्टर साहब निराश नहीं हुए। वे अपने टापू को लौट आये। उन्होंने अपने कुत्तों को ऐसा सधाया, जिससे वे रात भर भौंकते रहें और पक्षियों को डरा दें। तब उनके कुत्तों को विष दे दिया गया और उन्हें जुर्माना किया गया। अन्त को उन्हें एक मौ[का] हाथ लगा। बूचड़ बीमार होकर मृत्यु-शय्या पर लेटा था। उसने बहुतेरा इलाज किया, नगर का कोई डाक्टर न छोड़ा, परन्तु आराम न हुआ। अन्त को निराश होकर उसने डाक्टर एक्सल मुन्थ को बुल[ा] भेजा। डाक्टर साहब ने कहा कि मैं केवल एक शर्त पर आ सकता हूँ, और वह यह है कि यदि तुम च[ंगे] हो गये तो फिर कभी किसी बटेर की आँखें न[हीं] निकालोगे और उस पर्वत को अपने रक्खे हुए अधि[क] मात्रमूल्य पर ही बेच दोगे। बूचड़ ने वचन दे दि[या]

और डाक्टर की चिकित्सा से वह चंगा हो गया। अब पर्वत डाक्टर मुन्थ के हाथ में चला गया। फलतः गत ३० वर्ष से वह पक्षियों का स्वर्ग बना हुआ है। उसकी ढलानें पहले बिलकुल नंगी थीं। डाक्टर साहब ने उन पर पेड़ लगा कर पर्वत को जंगल से ढँक दिया है। दूर की यात्रा से थके हुए लाखों पक्षी यहाँ आकर बसेरा लेते हैं। यहाँ इन्हें कोई न जाल से, न फंदे से और न गोली से मार सकता है।

एक्सल मुन्थ को यशः-प्राप्ति से ही सन्तोष नहीं हुआ है। वर्षों से वे अनुभव करते थे कि भूमध्य सागर में कोई ऐसा स्थान प्राप्त हो जहाँ जाकर पक्षी आराम से रह सकें। यह बहुत अच्छा हुआ कि जिस रमणीक टापू पर सैकड़ों वर्ष तक पक्षियों का इस प्रकार निर्दयतापूर्वक सर्ववध होता रहा था वही अब सदा के लिए सुख और स्वतंत्रता का आश्रय बन गया है। 'दि स्टोरी ऑफ़ सान मिचल' के इटालियन संस्करण की भूमिका में की हुई प्रार्थना ने वह काम कर दिया जो उम्र भर का उद्योग न कर सका था। इसी के परिणाम-स्वरूप मुसोलिनी ने राजाज्ञा निकाल कर केपरी टापू को सदा के लिए पक्षियों का अभय-दायक आश्रम बना दिया है।

डाक्टर मुन्थ जहाँ दया के सागर हैं, वहाँ उनका त्याग भी अलौकिक है। उनकी पुस्तक 'दि स्टोरी ऑफ़ सान मिचल' बहुत अधिक बिकी है। इसे छपे यद्यपि पाँच वर्ष हो चुके हैं, फिर भी लोगों की दिलचस्पी का यह हाल है कि डाक्टर मुन्थ के पास इसके लिए प्रति-मास सहस्रों चिट्ठियाँ आती हैं। इधर आपके त्याग की यह अवस्था है कि पुस्तक से जितनी भी आय होती है वह सब तत्काल तीन कार्यों के लिए दान कर दी जाती है। उनमें से एक काम है 'परमेश्वर के पङ्खदार प्राणी' अर्थात् पक्षियों के लिए अभयदायक आश्रम बनाना, दूसरा डाक्टर मुन्थ की जन्म-भूमि उत्तर के लोगों की रक्षा, और तीसरा संसार भर के अंधों की सहायता। डाक्टर साहब की आँखें अब प्रायः बंद-सी हो गई हैं। वे केपरी टापू में एक बड़े भारी पुराने मीनार के नीचे एकान्तवास कर रहे हैं। वे किसी भी दर्शक से नहीं मिलते और पत्रों में से भी केवल बहुत थोड़ों का उत्तर देते हैं। संसार भर के पुस्तक-प्रकाशक उनसे 'अगली पुस्तक कब तक मिलेगी ?' पूछ रहे हैं; परन्तु उनको भी कोई उत्तर नहीं मिलता। प्रसिद्ध प्रसिद्ध पत्रिकाओं के प्रतिनिधि सागर पार करके उनके पास जाते हैं ताकि जिस भी मूल्य पर मिल सके उनसे अपनी पत्रिका के लिए कोई लेख प्राप्त करें। परन्तु उनका परिश्रम सब निष्फल जाता है। डाक्टर मुन्थ अनेक भाषाओं के पण्डित हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक के फ्रेंच, जर्मन, नार्वेजियन और इटालियन भाषान्तरों का संशोधन ख़ुद किया है। इटालियन भाषा पर तो उनको उतना ही अधि-कार प्राप्त है जितना इँग्लिश या अपनी मातृ-भाषा स्वीडिश पर है। परन्तु सचाई यह है कि उनकी यह साहित्यिक प्रतिभा उनके बहुत ही उद्यमशील जीवन का एक गौण-सा फल है। उनका जीवन तो अधिक-तर मानव-समाज की सेवा में ही बीता है। डाक्टर मुन्थ पेरिस में प्रेक्टिस करते थे। डाक्टरी से उनको बहुत अच्छी आमदनी थी। नेपल्स की तंग गलियों में प्लेग हुआ। सब लोग डर के मारे भाग गये। परन्तु डाक्टर मुन्थ भरी जवानी में अपनी प्रेक्टिस छोड़कर रोगियों की सेवा के लिए नेपल्स चले गये। उन्होंने अपने जीवन में जो भी काम किया, उत्साह और निर्भयता के साथ किया। इस समय ७५ वर्ष की आयु में यद्यपि वे अंधे हो गये हैं, फिर भी सुना है, वे दो नई पुस्तकें तैयार कर रहे हैं।

डाक्टर मुन्थ आज बेशक अंधे और बूढ़े हैं, परन्तु उनका मन आनन्द से परिपूर्ण होगा। केपरी द्वीप में पक्षियों को अभय होकर मीठे स्वर से गाते सुन उनके हर्ष की कोई सीमा न रहती होगी।

पारस्परिक सहायता और सहानुभूति की एक सरस कहानी

अज्ञात प्रेमी

लेखक, लाल यादवेन्द्रसिंह बी० ए०, एल-एल० बी०

सावित्री को डाकिये की बात पर विश्वास नहीं हुआ

(१)

कभी कभी परिस्थिति में एक-दम परिवर्तन हो जाता है। राजा रंक हो जाता है, रंक राजा हो जाता है। सेठ रामदास अपने समय के एक धनी-मानी व्यक्ति थे। दस को खिला कर खाते थे। ब्रह्मदेश में तेल का बहुत बड़ा कारख़ाना था, जिससे लाखों की आय होती थी। सेठ जी की स्त्री का नाम किशोरी था। किशोरी बहुत सुशीला और बुद्धिमती थी। सेठ जी के केवल एक पुत्री थी। उसका नाम सावित्री था। राजकन्या की तरह [illegible] घर की शोभा-वृद्धि किये रहती थी।

एक दिन सेठ जी घर के बाहर टहल रहे थे। [illegible] समय तार का चपरासी आता हुआ दिखलाई पड़ा। [illegible]

जी के पास सैकड़ों तार रोज़ आते थे, पर आज उसे देखकर न मालूम क्यों उनकी छाती धड़क उठी। उन्होंने काँपते हुए हाथों से तार लिया। ब्रह्मदेश से आया था। मिट्टी के तेल के कारख़ाने में आग लग गई थी। समस्त सम्पत्ति जलकर नष्ट हो गई थी। सेठ जी पर मानो वज्रप्रहार हुआ। पर वे कर्मवीर पुरुष थे, ब्रह्मदेश जाने को तैयार हो गये। परन्तु उनका दुर्भाग्य उनके साथ लगा हुआ था। न मालूम कैसे, वे एक दिन जहाज़ से गिर कर समुद्र में डूब गये। विपत्ति अकेली नहीं आती। सेठ जी की दुःखी स्त्री अभी इस चोट से सँभलने भी नहीं पाई थी कि इतने में उनका दिवाला निकल गया और उनकी समस्त सम्पत्ति नीलाम कर दी गई। लाखों की चीज़ कौड़ियों में चली गई। किशोरी और सावित्री रास्ते की भिखारिनें हो गईं। साथी-सम्बन्धी भी किनारा कस गये। किशोरी को मज़दूरों के महल्ले में जाकर एक छोटा सा मकान किराये पर लेकर रहना पड़ा।

सेठ जी के दूर के एक रिश्तेदार थे। उनके यहाँ बेलबूटे का काम होता था। किशोरी बेल-बूटे काढ़ने में बहुत प्रवीण थी। वे किशोरी को बेल-बूटे काढ़ने का काम देने लगे। इससे किशोरी को कुछ मिल जाता, जिससे वे माँ-बेटी अपना निर्वाह करतीं। इतने में भारत में स्वदेशी और सादगी की लहर आई। बेल-बूटे का बाज़ार एक-दम चौपट हो गया। सेठ जी की उदारता ने भी कृपणता का रूप धारण कर लिया। उन्होंने किशोरी के पास काम भेजना बन्द कर दिया। किशोरी की विपत्ति का घड़ा पूर्णरूप से भर गया था। सावित्री अपनी दशा समझने लगी थी। वह भी अपनी मा के साथ दिन-रात काम करती। कपड़े सीती, रात रात भर जाग कर चरखा कातती। पर ओस चाटने से कहीं प्यास बुझती है? बड़े कष्ट से एक समय के रोटी-नोन का प्रबन्ध हो जाता था। बिना विश्राम के निर्जीव मशीन भी कुछ रोज़ में काम देने से इनकार कर देती है। किशोरी का तो मनुष्य का शरीर था और

"आपके लिए एक मनीआर्डर है।"

सो भी सुकुमार और कोमल। वह बीमार पड़ गई। बीमारी में ग़रीबों के सहायक भगवान् होते हैं। किशोरी ने भी अपने को भगवान् के ऊपर छोड़ दिया। माझी को जब तक नाव के बचने की आशा रहती है, बड़े वेग से पतवार चलाता है, अपने प्राणों की बाज़ी लगा देता है। पर जब उसको किनारे पर पहुँचने की आशा नहीं रहती, पतवार को नाव पर रख देता है और मलार गाने लगता है। निराशा की अन्तिम सीमा का ही नाम साहस है। किशोरी भी अपने जीवन से निराश हो गई थी।

(२)

हेमचन्द्र कानपुर विद्यालय का विद्यार्थी था। हेमचन्द्र को भी बचपन से अपने पैरों पर खड़ा होना पड़ा था। वह ग़रीबी के कष्टों से परिचित था, इससे दूसरों की पीड़ा का भी अनुभव करता था। विद्यालय में उसको छात्र-वृत्ति मिलने लगी थी। अतएव अपना फ़ुर्सत का समय वह ग़रीबों की सेवा में लगाता था। वह प्रत्येक इतवार को मजदूरों के महल्ले में जाता, उनके दुःख-सुख सुनता और उन्हें धैर्य और आश्वासन देता। मजदूर उसकी पूजा करते, उनका चौधरी तो उसे अपने लड़के से भी अधिक प्यार करता।

एक रोज़ हेमचन्द्र चौधरी के पास बैठा बातें कर रहा था। इतने में उसको बग़ल के एक छोटे-से मकान के सामने एक चपरासी गरजते हुए नज़र आया। १५-१६ वर्ष की एक बालिका सिपाही के सामने सिर नीचा किये खड़ी थी। बालिका के वस्त्र फटे और बाल बिखरे हुए थे। सिपाही कह रहा था—छः महीने हीला-हवाला करते हो गया। सबके लिए रुपया है—किराया देने के लिए नहीं। कभी सूत नहीं बिका तो कभी महतारी बीमार है। मैं कुछ नहीं जानता। आज बिना रुपया लिये मैं नहीं जाऊँगा। मालिक का हुक्म है; या तो रुपया दो, नहीं तो झोंटा पकड़ कर मैं मकान से बाहर कर दूँगा।

सिपाही को अनाप-शनाप बकते सुनकर चौधरी ने कहा—"स्त्रियों को गाली देना उचित नहीं है। सावित्री की मा बीमार हैं। वे स्वयं किराया हर महीने सेठ के पास भेज देती थीं। दो-चार रोज़ में प्रबन्ध करके किराया भेज दिया जायगा।" सिपाही ने कुछ नम्र होकर कहा—"चौ... भला तुम्हीं बताओ मैं क्या करूँ। आज-कल करते ... छः महीने हो गये। मेरे ऊपर मालिक की डाँट पड़ती ... चौधरी ने वादा किया कि अगले इतवार को ... किराया सावित्री दे देगी और अगर न दे सकेगी ... वह अपने पास से दे देगा। सिपाही के जाने के ... चौधरी ने सावित्री के पास जाकर कहा—"बिटिया, ... जाओ। मा की तबीयत ख़राब है। उनकी सेवा करो।"

सावित्री ने एक बार अश्रु-पूर्ण-दृष्टि से ऊपर की ... देखा। चारों ओर शून्य था। वह अन्दर चली ... किसी ने उसके आँसू नहीं पोंछे। ग़रीबों के आँसू ... सूख जाते हैं। उनको कोई पोंछता नहीं।

सावित्री के जाने के बाद हेमचन्द्र ने चौधरी से पूछा—"चौधरी, इनका क्या क़िस्सा है?"

चौधरी—"भैया, इस लड़की का नाम सावित्री ... इसके पिता कभी बहुत बड़े मालदार थे। सुनते ... लाखों की सम्पत्ति थी। तेल का कारख़ाना था ... परमात्मा का ऐसा कोप हुआ कि कारख़ाने में आग ... गई। सेठ जी समुद्र में डूब गये। दिवाला निकल ... जो करोड़पति थे वे कौड़ियों के मोहताज हो गये। ... इस मोहल्ले में रहते हैं। यहाँ रहते सात-आठ ... गये, पर कभी किसी ने किशोरीदेवी की आवाज़ नहीं ... ग़रीब हैं, पर दया की मूर्त्ति हैं। कपड़े सी कर अपना ... करती हैं। भूखों सो रहती हैं, पर कभी किसी के सामने ... नहीं पसारतीं। यह सावित्री उन्हीं की एक-मात्र ... है। पढ़ी-लिखी है। बेचारी चरखा कात कर किसी ... एक जून खाकर अपना गुज़र कर लेती थीं। इधर ... तीन महीने से किशोरीदेवी बीमार पड़ गईं। तो भी ... न कुछ समय निकाल कर सावित्री सूत कात ... उसी को बेच कर अपनी मा की दवादारू ... करती है, पर मकान का किराया देने के लिए ... एक कानी कौड़ी भी नहीं है। इधर महाजन के ... को तुमने देखा ही है। यमराज का भाई है। ... हम लोग न होते तो न मालूम बेचारी ग़रीब ... क्या फ़ज़ीहत करता। ग़रीब को सभी सताते हैं।"

हेमचन्द्र ने कहा—
"अब बताओ तुम श्यामचन्द्र को प्यार करती हो या नहीं?"

हेमचन्द्र—किराये का क्या प्रबन्ध करोगे? तुम्हारे ... रुपये हैं?

चौधरी—बड़ी विपत्ति है। इस हफ़्ते में मुझे तनख़्वाह ... मिलेगी। कहीं से उधार लेकर प्रबन्ध करना होगा। ... तो बेचारी स्त्रियों की इज़्ज़त चली जायगी।

हेमचन्द्र चुप रहा। शाम को अपने छात्रालय में ... । उसको रह रह कर किशोरी की दशा स्मरण हो ... थी।

(३)

किशोरी की दशा अधिक ख़राब हो गई। सावित्री ने अपनी मा की सेवा करने और दवा-दारू करने में कुछ उठा न रक्खा। पर ग़रीबों की सम्पत्ति माघ की धूप होती है, जो देखते देखते ख़त्म हो जाती है। सावित्री का भी हाथ ख़ाली हो गया। उसके लिए दवा ख़रीदने के लिए पैसे न थे, पथ्य के लिए अन्न न था। किराया का भूत सिर पर अलग सवार था। सावित्री चुपचाप

बैठी शून्य-दृष्टि से आकाश की ओर देख रही थी। इतने में बाहर से उसको किसी ने पुकारा। पहले तो सावित्री ने समझा कि महाजन का सिपाही है, किराये के लिए आया है। वह कुछ सहमी, पर स्वर अपरिचित था। वह उठ कर दरवाज़े पर आई। उसने देखा, बरामदे में डाकिया बैठा है। डाकिये ने मनीआर्डर का फ़ार्म और एक पत्र निकाल कर सावित्री की ओर बढ़ाते हुए कहा—"आपके लिए एक पत्र और मनीआर्डर है"। सावित्री को डाकिये की बात पर विश्वास नहीं हुआ। सावित्री के नाम कभी किसी का पत्र नहीं आया था। उसने धीमे स्वर में कहा—"आपको भ्रम हुआ है। मेरा पत्र नहीं हो सकता"। डाकिये ने फिर पत्र के पते को पढ़ते हुए कहा—"श्रीमती किशोरीदेवी के नाम पत्र है। चौधरी ने तो बताया है कि वे इसी घर में रहती हैं। क्या इस नाम का इस घर में कोई नहीं है"? सावित्री ने कुछ सोचते हुए जवाब दिया—"यह नाम तो मेरी मा का है। वे बीमार हैं। आप पत्र दीजिए। मैं देखकर बतलाऊँगी"। डाकिये ने पत्र दे दिया। सावित्री पत्र लेकर अपनी मा के पास चली गई। पत्र में लिखा था—

"पूज्य देवी जी के चरणों में मेरा प्रणाम,

बहुत दिन हुए, एक बार मेरे ऊपर बहुत बड़ी विपत्ति पड़ी थी। उस समय यदि सेठ रामदास दयापूर्वक धन से मेरी सहायता न करते तो मुझे जेल जाना पड़ता और मेरे कुटुम्ब को भूख से प्राण देना पड़ता। सेठ जी ने धन देकर सबकी प्राण-रक्षा की। मैं उस ऋण को पटा देने का यत्न कर रहा था कि सेठ जी का स्वर्गवास हो गया और दूकान के बन्द हो जाने से मुझे आप लोगों का पता ही न मिला। सेठ जी के उपकारों का बदला चुकाना मेरे सामर्थ्य के बाहर की बात है और न मैं ऐसा करने की धृष्टता ही कर सकता हूँ। पर यह इच्छा अवश्य है कि उस ऋण को यदि इसी जन्म में पटा सकूँ तो अपने को बड़ा सौभाग्यशाली समझूँगा। मैं एक आवश्यक कार्य्य से कानपुर आया था। यहाँ आपका पता लगा। समयाभाव के कारण आपके चरणों के दर्शन से वंचित रहा। अतएव २०) मनीआर्डर से भेज रहा हूँ। यद्यपि आपके लिए इसकी आवश्यकता नहीं है, परमात्मा ने आपको सब कुछ दे रक्खा है, तो भी मुझे उऋण करने के लिए मुझे विश्वास है, आप अवश्य इसको स्वीकृत करेंगी। मूल रुपया क़रीब दो हज़ार है। मैं दस रुपया प्रत्येक मास भेजता जाऊँगा। मेरी केवल इतनी ही प्रार्थना है कि एक ऋण-ग्रस्त व्यक्ति को उऋण करने की आप अवश्य कृपा करें। मैं आज शाम की गाड़ी से बनारस जा रहा हूँ। मेरा पता नीचे लिखा हुआ है। यदि कभी कोई कार्य्य मेरे योग्य हो तो अवश्य सूचित करने की कृपा करें। यदि मैं आपकी कभी कोई सेवा कर सका तो अपने जीवन को सफल समझूँगा।

१५० रामबाग़, काशी

आपके चरणों का सेवक
श्यामचन्द्र"

किशोरीदेवी ने पत्र सुना। कुछ देर तक वे कुछ न बोलीं। उनकी आँखों से आँसू बहने लगे। सेठ जी की पुण्य-स्मृति हो आई। अपने आँसुओं को पोंछते हुए कहा—बेटी, जाकर रुपये ले लो। तुम्हारे पिता का पुण्य उदय हुआ है। श्यामचन्द्र जी को एक पत्र लिख कर धन्यवाद दे दो। डाकिये के पास टिकट लिफ़ाफ़ा होगा। खरीद लेना। वे मनुष्य के रूप में देवता हैं।

डूबते हुए को तिनके का सहारा बहुत होता है। किशोरी को अब एक आधार मिल गया। उसके बल पर वह जीवित रह सकती थी। उसी रोज़ चौधरी के घर मकान का किराया भेज दिया गया। सावित्री ने अपनी मा के लिए उचित ओषधि और पथ्य का भी प्रबन्ध किया। किशोरीदेवी की तबीयत पहले से तो कुछ सँभली, पर अच्छी नहीं हुई। उन्होंने इस बार मृत्यु को बहुत निकट से देखा। उनको अपने ऊपर विश्वास नहीं रह गया था। पके हुए फल को कोई नहीं कह सकता कि वह कब पेड़ से अलग हो जायगा। सावित्री अब बड़ी हो गई थी। लता को अब सुदृढ़ तरु-शाखा की आवश्यकता थी, जिसके सहारे वह बढ़ सके, पल्लवित हो सके। किशोरीदेवी ने अभी तक धूप और छाँह से उसकी रक्षा की थी। उनके बाद उसकी क्या दशा होगी, यह वे कुछ न समझ पाती थीं। उनको चारों ओर अन्धकार दिखलाई पड़ता था। चिन्ता से उनका शरीर घुलने लगा।

(४)

हेमचन्द्र ने छात्रालय का रहना छोड़ दिया था। छात्रालय में खर्च अधिक पड़ता था। उसने एक छोटा-सा मकान किराये पर ले लिया था। उसी में रहता था। भोजन भी एक ही समय करता। वह नियमित रूप से मज़दूरों के महल्ले में आता और उनके दुःख-सुख का साथी बनता। चौधरी ने उससे बतलाया कि किशोरीदेवी के पति से किसी महाशय ने क़र्ज़ लिया था। उन्होंने रुपया भेजा है और दस रुपया प्रत्येक मास में भेजने के लिए लिखा है। मकान का किराया दे दिया गया है। यह सुन कर हेमचन्द्र को सन्तोष हुआ।

एक रोज़ क़रीब ४ बजे हेमचन्द्र चौधरी के पास बैठा हुआ बातें कर रहा था। उस रोज़ छुट्टी थी। मिल और कालेज दोनों बन्द थे। इसी समय सावित्री घबराई हुई चौधरी के पास आई। उसने चौधरी से कहा—"दादा, जल्दी चलो। मा की तबीयत बहुत खराब है। वे कुछ बोलती नहीं......" इसके आगे वह कुछ न कह सकी। बहुत देर के रुके हुए आँसू गिर पड़े। चौधरी तुरन्त उठ खड़ा हुआ। उसने हेमचन्द्र से कहा—"भैया, तुम भी आओ। तुम तो घर के ही लड़के हो। हज़ारों की सेवा करते हो। क्या हमारी मा की सेवा न करोगे?" हेमचन्द्र भी चला गया।

किशोरीदेवी एक टूटी-सी खाट पर लेटी थीं। उनका शरीर सूख गया था। वे मूर्छित हो गई थीं। आँखों से उनकी दशा देखकर हेमचन्द्र डाक्टर को लाने दौड़ा। ग़रीब के झोपड़े में डाक्टर का आना गूलर का फूल है। सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। डाक्टर ने किशोरीदेवी को देखा, कमज़ोरी बताई, ओषधि दी और चला गया। हेमचन्द्र की लगन और सावित्री की सेवा से किशोरीदेवी बहुत-कुछ स्वस्थ हो गईं, बोलने-चालने लगीं। हेमचन्द्र के सेवा-भाव को देखकर वे उस युवक से प्रसन्न हो गईं। धीरे धीरे उसकी किशोरीदेवी से घनिष्ठता हो गई। वह उनके भी सुख-दुःख का साथी हो गया। वह अक्सर किशोरीदेवी के यहाँ आता, बाज़ार से सावित्री के लिए रुई ले आता और उसका काता हुआ सूत बाज़ार में बेंच देता। सावित्री चौधरी को छोड़कर और किसी पुरुष से नहीं बोलती थी, पर हेमचन्द्र से अपने मन की कोई बात नहीं छिपाती थी। हेम से न उसको लज्जा थी और न संकोच। जो हमारे जीवन का सहारा होता है उससे हम पर्दा कैसे कर सकते हैं?

(५)

हेमचन्द्र की परीक्षा का समय पास था। इसी परीक्षा के फल पर उसके जीवन का भविष्य अवलम्बित था। उसका अधिकांश समय अध्ययन में जाता। उसको काम करने के लिए समय न मिलता। यदि काम करने जाता तो किताबें अधूरी रह जातीं। विद्यार्थी-जीवन में यह सबसे कठिन अवसर आता है। वह बड़ी चिन्ता में था। उसको २०) मासिक छात्रवृत्ति मिलती थी, जिसमें से दस रुपया प्रत्येक मास उसे अपने एक मित्र को भेजना पड़ता था। केवल दस रुपये में उसको अपना सब प्रबन्ध करना पड़ता। परीक्षा की फ़ीस के लिए अलग नाक में दम था। उसकी उस मास की 'वृत्ति' परीक्षा के शुल्क में ले ली गई। उसके पास एक पैसा भी नहीं था। मित्र के पास रुपया भेजने की तिथि आ गई थी। उसको इतनी व्याकुलता अपने जीवन में कभी नहीं हुई थी। उस के पास एक कम्बल था। सम्पत्ति के नाते उसके पास यही एक ऐसी वस्तु थी, जिसका बाज़ार में कुछ मूल्य हो सकता था। और वह उसके पिता की एक निशानी थी, जो इसका प्रमाण थी कि कभी उसके परिवारवाले भी लक्ष्मी के कृपापात्र थे। वह कम्बल उसका अभिन्न साथी था। जाड़े में इसी को ओढ़कर वह घूमने जाता। उसी को ओढ़कर रात को सोता।

हेमचन्द्र अपने उसी कम्बल को एक दूकानदार के पास ले गया। वह दूकानदार पुरानी चीज़ों की खरीद-फ़रोख्त करता था। वह हेमचन्द्र से परिचित था। हेमचन्द्र को अपने परिचित मज़दूर मित्रों के लिए पुरानी चीज़ें खरीदने के लिए दूकानदार के पास जाना पड़ता था। दूकानदार ने कम्बल लेकर उसको दस रुपये दे दिये, और

कहा, जब आपके पास रुपये हों, देकर अपना कम्बल ले जाइएगा। मैं इसको रक्खे रहूँगा, बेचूँगा नहीं।

हेमचन्द्र को रुपये मिल जाने पर इतनी प्रसन्नता हुई, जितनी उसको शायद समस्त विश्व की सम्पत्ति पाने पर भी न होती। वह सीधे डाकखाने गया और रुपयों का मनीआर्डर कर दिया।

तीसरे रोज़ शाम को हेमचन्द्र किशोरीदेवी के पास गया। किशोरीदेवी ने उसे अपने पास बैठा लिया। प्रेम से उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा—"बेटा, आज तुम अपना कम्बल क्यों नहीं लाये? घर जाने में ठण्ड लग जायगी।" हेमचन्द्र ने कुछ रुकते हुए जवाब दिया—"मा जी, मेरा कम्बल तो कहीं खो गया है। पता नहीं उसको मैं कहाँ भूल आया। ज़रूरत भी नहीं है। अब उतनी ठण्ड भी नहीं पड़ती।"

किशोरीदेवी कुछ देर तक चुप रहीं। फिर धीरे से बोलीं—"बेटा, तुम तो घर के प्राणी हो। तुमसे संकोच क्या? मेरे पास दस रुपये हैं। कल मनीआर्डर से आये हैं। मुझे इस समय रुपये की बिलकुल आवश्यकता नहीं है। मकान का किराया दे दिया है। महीने भर के लिए अन्न रक्खा है। सावित्री दो-तीन आने का सूत रोज़ कात ही लेती है, जिससे गृहस्थी का मामूली खर्च चल जाता है। तुम उस रुपये को ले लो और एक कम्बल अपने लिए खरीद लो। जब तुम्हारे पास रुपये हों, दे देना।" सावित्री का चेहरा आनन्द से खिल उठा। उसका हृदय बार बार कहता था कि वह दौड़ कर जाय और रुपये लाकर हेमचन्द्र को दे दे।

हेमचन्द्र ने मुस्कुराते हुए कहा—मा, तुमने मुझे पहचानने में भूल की है। मुझे रुपये देकर फिर वापस पाने की आशा न रक्खो। मैं वह ऋणिया हूँ जो ब्याज तो देता नहीं, मूल भी हज़म कर जाता है।

किशोरी ने हँसते हुए कहा—अच्छी बात है। तुम मेरे रुपयों की चिन्ता न करो। मैं वसूल कर लूँगी। तुम्हारी कोई चीज़ रेहन कर लूँगी। तब तो रुपये वसूल हो जायँगे।

हेमचन्द्र—मेरे पास तो रेहन रखने लायक कोई चीज़ भी नहीं है।

किशोरी—चीज़ नहीं है तो तुम तो हो। मैं तुम्हीं को रेहन रख लूँगी।

हेमचन्द्र—मैं तो पहले ही से आपका हूँ। क्या मुझे अपना नहीं मानतीं?

किशोरीदेवी ने अपनी आँखें मूँद लीं। प्रेम और स्नेह से उनका शरीर पुलकित हो उठा। उनको ऐसी आशा नहीं थी कि इस जन्म में वे फिर किसी से अपनत्व का सम्बन्ध जोड़ सकेंगी। उन्होंने उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—तुम अपने हो। अपनों से रुपया लेने में तुमको कुछ भी संकोच न होना चाहिए।

हेमचन्द्र—यही तो मैं भी कहता हूँ। जब मुझे ज़रूरत होगी, मैं ले लूँगा। इस समय तो सचमुच कोई ज़रूरत नहीं।

किशोरी—बच्चे को मा का हुक्म मानना चाहिए। सावित्री, जा रुपया ले आ। अपने हेम बाबू को दे।

सावित्री हर्ष से फूल उठी। वह शीघ्रता से कोठरी की ओर जाने लगी। पर हेमचन्द्र ने उसको रोक दिया। किशोरीदेवी से कहा—मा, सचमुच मुझे इस समय रुपये की ज़रूरत नहीं है। अगर होती तो मैं अवश्य ले लेता।

सावित्री का चेहरा उदास हो गया। उसने धीरे से अपनी मा से कहा—मा, तुम व्यर्थ ही प्रयत्न करती हो। नहीं जानतीं, ग़रीबों का नैवेद्य देवता नहीं ग्रहण करते।

हेमचन्द्र ने सावित्री को आँखों से डाँटते हुए कहा—चुप रहो, तुम पागल हो। सावित्री चुपचाप अपने स्थान पर बैठ गई।

(६)

परीक्षा में व्यस्त रहने के कारण हेमचन्द्र बहुत रोज़ से किशोरीदेवी के पास न जा सका था। बीच बीच में चौधरी से भेंट हो जाती, कुशल-समाचार मिल जाता था। परीक्षा समाप्त हो गई थी। हेमचन्द्र काम की खोज में था। उसके ऊपर ऋण हो गया था। सवेरे का समय था। वह कार्य की तलाश में बाहर जाने के लिए तैयार हो रहा था। इतने में एक मज़दूर दौड़ता हुआ उसके पास आया। वह हाँफ रहा था और उसका वदन पसीने से भीगा हुआ था। उसने हेमचन्द्र को देखते ही कहा—"भैया! जल्दी चलो। मा जी की तबीयत बहुत खराब है।" हेमचन्द्र को जूता-टोपी पहनने का होश ही न रहा। वह दौड़ता हुआ किशोरीदेवी के पास पहुँचा। वे बिस्तरे पर लेटी हुई थीं। चौधरी उनके सिरहाने खड़ा उनके सिर पर हाथ फेर रहा था। सावित्री बग़ल में चारपाई की पाटी पकड़े अपना सिर पाटी पर रक्खे बैठी थी। चारों ओर शान्ति छाई हुई थी। महाप्रलय होने के पहले चारों ओर घोर निस्तब्धता छा जाती है। सब कोई हेमचन्द्र की प्रतीक्षा कर रहे थे। हेमचन्द्र ने आकर किशोरीदेवी के नाड़ी की परीक्षा की। वह मन्द गति से चल रही थी। तेल ख़त्म होने पर बहुत मन्द गति से दीपक का निर्वाण होता है। हेमचन्द्र बाहर की ओर चला। किशोरीदेवी उसका आशय समझ गईं। उसको रोक कर धीमे स्वर में बोलीं—"बेटा, अब डाक्टर की ज़रूरत नहीं है। अब मैं एक महाडाक्टर के पास जा रही हूँ जो मेरे समस्त रोग-व्याधि को दूर कर देगा। मैं तुम्हारा इन्तिज़ार कर रही थी। मेरे पास आओ"!

हेमचन्द्र किशोरीदेवी के पास जाकर खड़ा हो गया। किशोरीदेवी ने अपने दुर्बल हाथ से उसके हाथ को पकड़ लिया। कुछ देर चुप रहीं। धीरे धीरे कहना आरम्भ किया—"बेटा, तुमने मुझे बहुत बड़ी आशा दिलाई थी। तुमने प्रतिज्ञा की थी कि जो कुछ मैं कहूँगी, तुम उसका अवश्य पालन करोगे। आज मृत्यु-शय्या पर पड़ी हुई यह दुखिया विधवा तुम से भिक्षा माँगती है। मैंने संसार की समस्त विपदायें सहीं, रानी से भिखारिन हुई, पर कभी किसी के सामने हाथ नहीं पसारा। आज मरते समय तुम्हारे सामने अञ्चल फैलाती हूँ। बोलो, इस ग़रीब की लाज रक्खोगे.....?"

किशोरीदेवी चुप हो गईं। उनकी आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी। मुँह से शब्दों का निकलना बन्द हो गया। हेमचन्द्र ने किशोरीदेवी के चरणों को छूकर प्रतिज्ञा की—"माता, तुम आज्ञा दो। मैं अवश्य उसका पालन करूँगा। तुम शान्ति-पूर्वक महाप्रस्थान कर सको, इसके लिए मैं जलती अग्नि में कूदने के लिए तैयार हूँ।" किशोरीदेवी के पीले चेहरे पर शान्ति छा गई। उन्होंने सावित्री का हाथ पकड़ कर अपनी ओर खींचा। उससे कहा—"बेटी, यह लाज-शर्म का समय नहीं है! तू ने अपनी दुखिया मा के लिए बहुत कुछ किया है। आज मृत्यु-शय्या पर पड़ी हुई मैं तुझे आज्ञा देती हूँ कि 'जिसके हाथ में तुझे आज सौंपती हूँ उसकी तू तन, मन से सेवा करना। तू उसकी पूजा करना। वह मनुष्य के रूप में ईश्वर है।' फिर सावित्री के हाथ को हेमचन्द्र के हाथ में देते हुए धीरे धीरे किशोरीदेवी ने कहा—"बेटा, संसार में मेरी जो सबसे प्यारी सम्पत्ति है, मैं तुम्हारे हाथ में सौंपती हूँ। तुम इसकी रक्षा करना। ग़रीब जान कर उपेक्षा न करना।" वे आगे न कह सकीं। दीपक बुझ गया, पर चारों ओर अपना सौरभ छोड़ गया।

(७)

हेमचन्द्र अपने विद्यालय में ही शिक्षक हो गया। वह विद्यालय में पढ़ाता और अपना शेष समय मज़दूरों की सेवा में लगाता। मज़दूर उसके इष्टदेव थे, जिनकी वह पूजा करता था। एक रोज़ विद्यालय से वह दोपहर को ही वापस आ गया। सावित्री अपने कमरे में बैठी अपनी पुरानी चीज़ों को समुचित रीति से रख रही थी। वह उस समय एक पत्र पढ़ रही थी जिस समय हेमचन्द्र घर आया। वह सावित्री के कमरे में जाकर पलँग पर बैठ गया और सावित्री के हाथ से पत्र छीनते हुए पूछा—किस भाग्यशाली के प्रेम-पत्र का अध्ययन हो रहा है? सावित्री ने कुछ बनावटी क्रोध के साथ कहा—मैं तुम से कई बार मना कर चुकी हूँ कि तुम इस पत्र के बारे में मुझ से मज़ाक़ न किया करो! ये महापुरुष हैं जिन्होंने हम लोगों की लाज की रक्षा की है। यदि श्याम बाबू उस समय हमारी सहायता न करते तो अवश्य उस समय हम लोगों को अपमान से बचने के लिए प्राण देने पड़ते। हम लोगों ने यही निश्चय किया था। मैं इस पत्र की पूजा करती हूँ।

हेमचन्द्र ने कहा—अच्छी बात है। मैं भी एक पत्र की पूजा करता हूँ। एक स्त्री का पत्र है। मैं हमेशा उसको अपने पास रखता हूँ।

सावित्री—हमको दिखलाओ।

हेमचन्द्र—क्यों दिखलाऊँ? तुम भी तो नहीं बतलातीं श्याम बाबू कौन हैं?

सावित्री—मैं तो जानती नहीं। जितना इस पत्र में लिखा है, उतना ही जानती हूँ। अच्छा तुम्हारी, श्रीमती जी कौन हैं?

हेमचन्द्र—तुम्हारी तरह वे अकृतज्ञ नहीं हैं। वे मेरे नाम की माला जपती हैं। तुम तो श्यामचन्द्र का प्यार करती हो, क्योंकि उन्होंने तुम्हारी लाज की रक्षा की है। पर पड़ मेरे हाथ गई हो। तुम्हीं बतलाओ, एक म्यान में दो तलवारें रह सकती हैं?

सावित्री—मैं श्याम बाबू को प्यार नहीं करती। मैं उनकी पूजा करती हूँ।

हेमचन्द्र—झूठ बोलती हो। क्या अब भी तुम उनको प्यार नहीं करतीं? तुम्हारा हृदय उन्हीं के पास रहता है। यदि तुम्हारी मा तुम्हें मेरे हाथ न सौंप देती तो तुम अवश्य श्याम बाबू के गले का हार बनतीं। मेरे पास इसका प्रमाण है।

हेमचन्द्र हँस रहा था, पर सावित्री का चेहरा उदास हो गया था। उसकी आँखों की कोर भीग गई थी। उसने हेमचन्द्र की ओर करुण-भरी दृष्टि से देखते हुए कहा—"तुम मेरे ऊपर सन्देह करते हो। यह मेरे ऊपर अन्याय करना है। तुम मेरे इष्टदेव हो।" "पर मैं झूठ नहीं बोलता। आओ चलो, तुमको दिखाऊँ। इसका मेरे पास प्रमाण है"—यह कह कर हेमचन्द्र ने सावित्री का हाथ पकड़ लिया और उसको अपने कमरे में ले गया। आलमारी खोलकर उसने एक छोटा-सा डिब्बा निकाला। उसको खोला। उसमें एक पत्र रक्खा था—बहुत ही सुरक्षित, बहुत ही सम्मानपूर्वक। हेमचन्द्र ने उसे सावित्री को देते हुए कहा—देखो, यही वह पत्र है, जिसकी मैं पूजा करता हूँ। यही मेरी आराध्य-भवानी हैं। मैं इनकी सेवा और पूजा करने के लिए अपने को क़ुर्बान कर देने के लिए तैयार हूँ। इन्हीं को मैंने सबसे पहले प्यार किया और इन्हीं के हाथों में अपना आत्म-समर्पण कर दिया। देखो, मेरी प्रेमिका का पत्र कितना सुन्दर है, कितना पवित्र है!

पत्र सावित्री का ही लिखा हुआ था। उसे उसने श्यामचन्द्र को लिखा था। उसका उदास चेहरा आनन्द से चमक उठा। वह हेमचन्द्र से लिपट गई। उसने कहा—तुम बड़े नटखट हो। तुमने इतने रोज़ तक यह भेद क्यों छिपा रक्खा था?

हेमचन्द्र ने कहा—तुमको चिढ़ाने के लिए। अब बतलाओ, तुम श्यामचन्द्र को प्यार करती हो या नहीं? मैं झूठ तो नहीं कह रहा था।

सावित्री की हँसती हुई आँखें कृतज्ञता के आँसुओं से भर गईं। उसने गद्गद स्वर में कहा—नाथ तुम बड़े दयालु हो। तुम्हारी दया ने ही हम लोगों की रक्षा की है।

दो पद्य

श्रीयुत अनूप शर्मा "अनूप" एम० ए०, एल-टी०

मन्मथ-महिमा

अंचित अनूप मंजु शिंजिनी मिलिन्द की है,
कुसुम शरासन है सायक सुमन का।
आगे राजता है चन्द्र मंजुल मशाल-सम,
पीछे चारु चामर वसन्त के पवन का।
दायें हैं कटाक्ष और बायें गीत गाती रति,
बीच में विराजा महाराजा त्रिभुवन का।
सुर औ' असुर हिय हार बैठते हैं जब,
मथता मनोभव महोदधि है मन का।

पुरस्कार

वन को वसन्त उपवन को विलास मंजु,
सर्व को शचान को अजिह्म गति अवरेब।
कंठ कोकिला को रूप-रंग काम-कन्यका को,
वीरों को नृपों को कर्म-वीरता अवश्यमेव।
आशा विजितों को अभिलाषा विजयान्वितों को,
युवकगणों को सुख स्वप्न देखने की टेव।
पंडित-पुरोहितों को धर्म की ध्वजा का दंड,
मुझको 'अनूप' सत्य-स्नेह का संगीत देव!
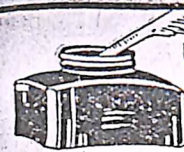
सम्पादकीय नोट

भारतेन्दु बाबू की अर्द्ध शताब्दी

गत २५ वीं जनवरी से भारतेन्दु बाबू को स्वर्गगत हुए पचास वर्ष हो गये। राष्ट्रभाषा हिन्दी के वे ही जन्मदाता थे। उसको समुन्नत करने में उन्होंने अपना सब कुछ न्योछावर कर दिया था।

[भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र]

हिन्दी के प्रति उनके त्याग और अनुराग का हिन्दी के प्रेमियों पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उनके छेड़े गये काम को उन्होंने इतने उत्साह से उठा लिया कि आज हिन्दी भारत की उन्नत भाषाओं में परिगणित है। उनकी इस ५०वीं निधन-तिथि पर उनकी स्मृति में काशी में जो साहित्यिक समारोह हुआ है वह सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण रहा। ऐसा कौन हिन्दी-प्रेमी होगा जो अपने को भारतेन्दु का ऋणी न समझता हो। ऐसी दशा में उनकी इस पचासवीं बर्सी पर उनके हिन्दी-सम्बन्धी कार्य के गौरव की याद करके उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित करके किस हिन्दी-प्रेमी ने अपने को कृतार्थ न किया होगा। हिन्दी साहित्य की रचना में उन्होंने अपने बत्तीस वर्ष के अल्पकालीन जीवन के भीतर जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया है—कविता, नाटक, उपन्यास, इतिहास आदि ढेरों लिख डाले हैं, वह सब उनकी विलक्षण प्रतिभा और क्षमता का ही द्योतक है। खेद है, वह सबका सब सर्वसाधारण को सुलभ नहीं है। तथापि उनका जितना साहित्य सर्वसाधारण को प्राप्त है, वह उतना ही उनका नाम हिन्दी के क्षेत्र में सदैव अमर किये रहने को पर्याप्त है।

भारत और ब्रिटेन

विलायत और भारत दोनों देशों में इस समय सेलेक्ट कमिटी की रिपोर्ट की सबसे अधिक चर्चा है। भारत में सभी प्रसिद्ध राजनीतिज्ञों ने तथा महत्त्वपूर्ण राजनैतिक दलों ने एक-स्वर से रिपोर्ट की निन्दा की है। राजनीतिज्ञों में एक राइट आनरेबल सर तेजबहादुर सप्रू ही ऐसे नामांकित व्यक्ति हैं जो उसे अपर्याप्त मानते हुए भी ग्रहण कर लेने की सलाह दे रहे हैं। उधर विलायत में भारत के विरोधी दल को यहाँ के विरोधी वायुमण्डल से और भी प्रोत्साहन मिला है। उसके नेता कह रहे हैं कि जब स्वयं भारतीयों को ही नये शासनाधिकार स्वीकार नहीं हैं तब वे उन्हें क्यों दिये जा रहे हैं। जान पड़ता है कि भारतीय सुधार-बिल के दूसरे वाचन में विरोधी लोग अपना पूरा बल लगाकर पार्लियामेंट

बिल का विरोध करेंगे। विरोधी-दल के प्रमुख नेता मिस्टर चर्चिल ने तो इस बात की घोषणा भी कर दी है कि अभी क्या हुआ है, विरोध तो अब शुरू होगा।

इधर नई असेम्बली में कांग्रेस-दल का ज़ोर है और कांग्रेस ने उक्त रिपोर्ट का तिरस्कार किया है। तब यह स्पष्ट है कि असेम्बली में भी उक्त रिपोर्ट का विरोध ही होगा और यदि श्री जिन्ना ने अपने दल के सहित कांग्रेस का साथ दे दिया तो असेम्बली में भी रिपोर्ट के विरुद्ध प्रस्ताव पास हो जायगा। परन्तु ब्रिटेन की वर्तमान राष्ट्रीय सरकार यह नहीं चाहती है कि भारत में रिपोर्ट का असेम्बली में ऐसा विरोध हो। जान पड़ता है, भीतर ही भीतर बड़ी गहरी कार्रवाई हो रही है। सर आग़ाख़ाँ भी विलायत से आ गये हैं और सर सप्रू की तरह वे भी कह रहे हैं कि रिपोर्ट असन्तोषप्रद है तथापि उसे कार्यान्वित करना चाहिए। बहुत सम्भव है कि उनके प्रभाव से असेम्बली के मुसलमान सदस्य बहुसंख्या में सरकार का साथ देने को तैयार हो जायँ तथा अन्य दलों के भी कुछ सदस्य वैसा ही करें। तब कांग्रेस का यह प्रयत्न विफल हो सकता है। इस परिस्थिति को आँकते हुए यदि कांग्रेस सरकार से समझौता करने के लिए प्रेरित हो जाय तो इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है। और जैसा कि कहा जा रहा है कि सरकार महात्मा जी से समझौता करना चाहती है, इस दशा को देखते हुए बहुत-कुछ सम्भव जान पड़ता है।

चाहे जो हो, यह स्पष्ट है कि ब्रिटेन में और भारत में इस सम्बन्ध में जो कुछ हो रहा है वह अपनी हद भर होकर रहेगा, परन्तु इसके साथ यह भी सत्य है कि ब्रिटिश सरकार जो निश्चय कर चुकी है, वह उसे भी कार्य में परिणत करके ही मानेगी। पार्लियामेंट में इस समय उसका बहुमत है, अतएव वह अपने वर्षों के प्रयत्नों को यहाँ तक पहुँचा कर बेकार न हो जाने देगी। सार बात यही है।

योरप और भविष्य महायुद्ध

इसमें सन्देह नहीं कि योरप के राष्ट्रों के सूत्रधार इस बात के प्रयत्न में प्राणपण से संलग्न हैं कि यदि निःशस्त्रीकरण का समझौता नहीं हो रहा है तो शान्ति भी भंग न होने पावे। जुगोस्लाविया के बादशाह मार डाले गये, तो भी शान्ति नहीं भंग होने दी गई और अब एकाएक इसी जनवरी के प्रारंभ में फ़्रांस ने इटली से समझौता करके युद्ध की अवस्था को और दूर टाल दिया है। निस्सन्देह यह समझौता करने में फ़्रांस को कुछ गँवाना पड़ा है, उसे अपने पश्चिमी अफ़्रीका में ८०० मील लम्बा और १०० मील चौड़ा प्रदेश एवं सोमालीलैंड में कुछ भू-भाग तथा वहाँ की रेलवे के दो हज़ार से तीन हज़ार तक हिस्से ख़रीदने का अधिकार इटली को देना पड़ा है, तो भी इसका जो परिणाम होगा वह फ़्रांस के लिए भी अमूल्य ही ठहरेगा। इस समझौते को करके इटली के सर्वेसर्वा मुसोलिनी की प्रतिपत्ति कहीं अधिक बढ़ गई है। उसके द्वारा वे अब पूर्ण-रूप से आस्ट्रिया और हंगेरी के त्राता बन बैठे हैं और इस बात से इटली का बल भी बढ़ गया है। इस समझौते से एक यह भी बात हुई है कि जर्मनी योरप में एकदम अकेला पड़ गया है और यही कारण है कि वह अब अधिकाधिक इँग्लेंड की ओर झुक रहा है। योरप की इस अवस्था से यही विदित होता है कि वहाँ की परिस्थिति राष्ट्रनायकों के क़ाबू में है और युद्ध की बात दूर नहीं चली गई है तो वह इतनी समीप भी नहीं है। और इस महत्त्व की अवस्था का सारा श्रेय योरप के वर्तमान चाणाक्ष राजनीतिज्ञों को है।

तुर्की का अभ्युदय

मुस्तफ़ा कमालपाशा तुर्क-राष्ट्र का जो नूतन संस्कार दृढ़तापूर्वक कर रहे हैं उनका वह सब काम संसार के तीसरे श्रेणी के राष्ट्रों के लिए एक नया सबक़ है। उन्होंने गत १५ वर्षों के भीतर तुर्की को एक सुशासित राष्ट्र में परिणत कर दिया है। जिन तुर्कों का महायुद्ध के पहले तक योरप के अख़बारों में उपहास होता रहता था वही अब सम्मानित हो रहे हैं। तुर्क-राष्ट्र की इस उन्नति का सारा श्रेय उनके राष्ट्रपति को है जो उनके समुद्धार की चिन्ता में दिन-रात काम में लगे रहते हैं। अभी हाल में उन्होंने अपने राष्ट्र को उपाधियों की व्याधि से मुक्त करके राष्ट्र का अपूर्व हित किया है। तुर्की में अब सरकार किसी को किसी तरह की उपाधि न देगी। केवल सैनिक वर्ग भर उपाधिधारी रहेगा। इस क़ानून से राष्ट्र के चरित्र का बल बढ़ेगा। इसके सिवा अब वहाँ स्त्रियाँ भी राष्ट्र-सभा की सदस्या हो सकेंगी। इसका भी क़ानून बन जाने से अगले चुनाव में खड़ी होने के लिए अभी से २०-२५ स्त्रियाँ तैयारी करने लगी हैं। तुर्की इस समय ऐसा ही जाग्रत देश है। उसकी भीतर-बाहर दोनों ओर से बराबर उन्नति होती जा रही है।

एक नया व्यापारी समझौता

कनाडा के साथ भारत का जो व्यापार-सम्बन्धी समझौता हुआ है उस जैसा ही समझौता उसका अभी हाल में ही ब्रिटेन से भी हो गया है। इन दो समझौतों के सिवा उसका एक ऐसा ही समझौता जापान के साथ भी हुआ है। इन समझौतों के द्वारा परस्पर माल के आदान-प्रदान के सम्बन्ध में एक दूसरे के साथ अन्य देशों के मुक़ाबिले में चुंगी आदि की मदों में विशेष रियायतें की गई हैं। इन समझौतों का अन्य देशों पर कैसा प्रभाव पड़ेगा, यह तो अभी तक नहीं प्रकट हुआ है, पर यह स्पष्ट है कि अन्य देश भी भारत के साथ वैसा ही व्यवहार करेंगे जैसा कि वह उनके साथ करेगा। एक यह बात भी है कि भारत अपने पनपते हुए उद्योग-धन्धों का इन समझौतों के कारण पर्याप्त संरक्षण न प्राप्त कर सकेगा। उदाहरण के लिए भारत के कपड़े और लोहे के धन्धे को ही लीजिए। ब्रिटेन के साथ उसका जो नया समझौता हुआ है उसके अनुसार वह अपने कपड़े और लोहे के व्यवसाय को उन्नत करने के लिए स्वेच्छानुसार ब्रिटेन के आयात कपड़े और लोहे पर चुंगी नहीं लगा सकेगा। इस प्रकार मांटेगू-चेम्सफ़ोर्ड के शासन-सुधारों के अनुसार अपने उद्योग-धन्धों की रक्षा के लिए आवश्यक चुंगी लगाने का जो महत्त्वपूर्ण अधिकार उसे प्राप्त हुआ था वह इन समझौतों के कारण छिन नहीं गया है तो कम से कम अत्यन्त सीमित अवश्य हो गया है। तो भी भारत के कुछ विशेषज्ञ इन समझौतों से होनेवाले लाभों का बखान ही किये जा रहे हैं। ऐसों की बुद्धि की बलिहारी है।

यहूदी-समस्या

ब्रिटिश सरकार की छत्रच्छाया में पैलेस्टाइन में यहूदी बसाये जा रहे हैं। यहूदी पैलेस्टाइन को अपनी मातृ-भूमि और धर्मभूमि मानते हैं और उनमें जो समर्थ होंगे वे इस अवसर को हाथ से जाने न देंगे। परन्तु संसार के भिन्न भिन्न देशों में इस समय कोई १,६०,००,००० यहूदी फैले हुए हैं। इस विशाल संख्या का एक छोटा-सा अंश ही पैलेस्टाइन में खप सकेगा, अतएव ईसाई-मण्डल में यहूदी-समस्या जैसी की तैसी ही बनी रहेगी।

परन्तु इस दिशा में सोवियट रूस ने एक नया आदर्श उपस्थित किया है। उसने अपने एशियाई राज्य के सैबेरिया में एक विशाल हरा-भरा भूखण्ड यहूदियों के बसने के लिए छोड़ दिया है। यह भूखण्ड मंचूको-राज्य की सीमा पर स्थित है। इसका नाम बीरो बिडजन है। यह पैलेस्टाइन से तिगुना बड़ा होगा। सैबेरिया की प्रसिद्ध रेलवे इस भूखण्ड से होकर जाती है। इस रेलवे के आस-पास अमूर नदी एवं उरमी नदी के तटदेश बसने के योग्य हैं। शेष भूभाग में या तो जंगल है या पहाड़ हैं जहाँ खनिज द्रव्यों का आधिक्य है।

रूस की सरकार ने इस भूभाग को आत्मशासन-प्राप्त यहूदी-उपनिवेश घोषित कर दिया है और यहाँ की भाषा हेब्रू स्वीकार की गई है। हेब्रू-भाषा के प्रचार का भी प्रबन्ध किया गया है। इस समय इस यहूदी-उपनिवेश में २,४०० प्रारम्भिक शालायें, २५ उच्च शिक्षा की संस्थायें, दो विज्ञान-मन्दिर, ३,००० पुस्तकालय, ५०० वाचनालय, ३०० क्लबघर, १२ नाटकघर और २६ पत्र-पत्रिकायें धूम के साथ चल रही हैं। रूस में कोई बीस से तीस लाख यहूदी निवास करते हैं। वे सबके सब इस भूभाग में खप ही नहीं सकते हैं, किन्तु उनके बस जाने से सैबेरिया का यह झाड़-झंखार नन्दन-कानन में परिणत हो जायगा। ऊपर के अंकों से स्पष्ट विदित हो जाता है कि रूस की सरकार अपने इस भूभाग को यहूदियों का देश

बनाकर अपने यहाँ की यहूदी-समस्या के हल करने में ही समर्थ नहीं होगी, किंतु इस स्वराज्य-प्राप्त देश के द्वारा वह अपने उस ओर के राज्य की भी बड़ी खूबी के साथ रक्षा कर सकेगी। इस प्रकार उसने एक क्रिया से दो अर्थ सिद्ध किये हैं।

साहित्यिक सट्टेबाज़ी

'वर्तमान' में उसके सम्पादक महोदय ने हिन्दी के 'वर्तमान रुख़' को 'साहित्यिक सट्टेबाज़ी' कहकर उसकी भर्त्सना की है। उनका कहना है कि वर्तमान साहित्यिक चाटुकार हैं और इसी से उनकी रचनायें पत्र-पत्रिकाओं में आदर के साथ छपती हैं और साहित्यकार के रूप में उनकी पूजा होती है, पर उनकी रचनायें ऐसी होती हैं कि देखकर शर्म से सिर नीचे झुका लेना पड़ता है। उन्होंने यह भी कहा है कि पिछले वर्ष तथा इस वर्ष 'काम के नाम कुछ नहीं हुआ है, और सब साहित्यिक एक दूसरे के यश या अपयश का ही सट्टा करते रहे।'

सम्पादक महोदय के इन भारी अभियोगों में सत्य का अंश है, पर यह कहना साहस का काम है कि हिन्दी के इतने व्यापक विशाल क्षेत्र में गत वर्ष या इस वर्ष कुछ काम ही नहीं हुआ है। इसी प्रकार यह भी कहना कि सब साहित्यिक परस्पर प्रशंसा या निन्दा ही करते रहे हैं, अतिशयोक्ति के भीतर ही माना जायगा। क्योंकि सभी लोग जानते हैं कि कहाँ कितने आदमी एक दूसरे की प्रशंसा या निन्दा कर रहे हैं। परन्तु यदि सम्पादक महोदय उन्हीं चार-पाँच व्यक्तियों को ही साहित्यिक समझते हैं तब हमें कुछ नहीं कहना है।

सम्पादक महोदय ने एक यह भी अभियोग लगाया है कि परस्पर के निन्दा-प्रशंसावाद के फलस्वरूप हिन्दी के 'जाग्रत ज्वालामुखी' साहित्यिक चुप हो गये हैं और 'मुंशी प्रेमचन्द, श्री जैनेन्द्रकुमार, सुदर्शन आदि की कृतियाँ अब सपने की बात हो रही हैं और कवियों में पन्त, निराला आदि की कवितायें देखने में ही नहीं आती हैं।' परन्तु सम्पादक जी यह परिणाम निकालने में जल्दबाज़ी कर गये हैं। वास्तव में बात यह नहीं है। उन साहित्यकारों में से एक भी 'चुप' नहीं बैठा हुआ है, वरन पहले की अपेक्षा अपने कार्य में कहीं अधिक व्यस्त हैं—हाँ, कार्यक्षेत्रों में ज़रूर परिवर्तन हुआ है, और वह परिवर्तन भी कम हिन्दी-हित-सूचक नहीं है। अब रह गई उनके अभाव की बात, सो लाचारी है; जो नवयुवक उनका पद ग्रहण करने की स्पृहा से आगे आने का प्रयत्न कर रहे हैं उनकी रचनाओं से आपको सन्तोष ही नहीं तब और क्या कहा जाय।

हिन्दी के 'वर्तमान रुख़' की विगर्हणा करना जोखिम का काम है। उसका रुख़ लोकव्यापी है। कुछ व्यक्तियों का ईर्ष्याद्वेष या प्रोपेगंडा-प्रियता भर ही उसका 'वर्तमान रुख़' नहीं हो सकता। वह 'रुख़' इससे कहीं अधिक विशाल है। ऐसी दशा में कुछ लोगों की बेजा हरकतें हिन्दी के प्रगतिजनक 'रुख़' को हानिलाभ नहीं पहुँचा सकती हैं। वास्तव में हमें उनकी उपेक्षा करते हुए साहित्य को पुरस्सर करने के काम में ही समुद्यत रहना चाहिए। यही हमारा कर्तव्य है।

पुनर्जन्म का एक प्रमाण

हिन्दू-धर्म की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता उसका 'पुनर्जन्मवाद' है। इस 'वाद' का दार्शनिक रूप तो है ही, समय समय पर इसके प्रत्यक्ष प्रमाण भी मिलते रहते हैं। हाल में इसका एक ताज़ा उदाहरण और प्राप्त हुआ है। इसका विवरण १३ जनवरी के 'पायोनियर' में प्रकाशित हुआ है। उसमें लिखा गया है कि लखनऊ-विश्वविद्यालय के हिन्दी के प्रोफ़ेसर पण्डित गिरीशचन्द्र अवस्थी के एक कन्या है, जो अपने पूर्व-जन्म का हाल बताती है।

लड़की अभी चार वर्ष की है और इसी उम्र से वह भोजन बनाने में असाधारण पटुता दिखाने लगी है। भोजन बनाने में मदद देते हुए एक दिन उसने अपनी मा से कहा कि उसके घर में भोजन दूसरे ढंग से बनता था। चकित होकर उसकी मा ने पूछा कि 'उसके घर' क्या मतलब है। लड़की ने कहा कि बनारस में उसका बहुत सुन्दर दो मंज़िला मकान था। उसकी मा ने समझा

कि लड़की यों ही बक रही है और उसने उसकी बात की ओर ध्यान नहीं दिया। परन्तु कुछ दिनों के बाद ही एक दिन उसने अपनी मा से साफ़ साफ़ कहा कि वह अपने पुत्र बिल्लर को देखना चाहती है। पूर्व-जन्म में उसके पाँच सन्तानें थीं—मोतीलाल, पोतीलाल, बिल्लर, लीलावती और विद्यावती। जब उसकी मृत्यु हुई थी तब बिल्लर बहुत छोटा था। यद्यपि उसे अब उसका वर्तमान जन्म पसन्द है, तो भी वह बनारस जाकर बिल्लर को गोद में लेने की अपनी इच्छा को मुश्किल से दबा पाती है।

वह लड़की बनारस के मन्दिरों का ठीक ठीक हाल बताती है। वह अभी तक बनारस भी नहीं गई है। उसके पिता प्रोफ़ेसर अवस्थी को पहले तो उसकी बातों का विश्वास ही नहीं हुआ, परन्तु जब उसने वहाँ के प्रधान मन्दिरों का ठीक ठीक वर्णन किया तब वे भी मान गये। गोंडा के एक ताल्लुक़ेदार उसके पूर्व-जन्म के घर तथा उसके कुटुम्बियों का अनुसन्धान कर रहे हैं। उन सबका पता लग जाने पर तो इस घटना से पुनर्जन्मवाद के सिद्धान्त की सत्यता के अन्य ऐसे ही प्रमाणों की संख्या में और एक की वृद्धि हो जायगी।

देवपुरस्कार

'देवपुरस्कार' के सम्बन्ध में जो आन्दोलन हिन्दी के दो-तीन पत्रों में पिछले दिनों हुआ है वह न सुरुचि का द्योतक है, न न्याय-निष्ठा का। 'सम्मेलन' तथा 'एकेडमी' के पुरस्कारों के सम्बन्ध में भी चखचख होती आई है, यहाँ तक कि साहित्य का 'मङ्गला-प्रसाद-पुरस्कार' का देना बन्द-सा हो गया है। अब जान पड़ता है, वही शनि की दृष्टि 'देवपुरस्कार' पर पड़ी है। ओड़छा के महाराज ने हिन्दी में काव्य की उन्नति करने के विचार से प्रतिवर्ष उस वर्ष के उत्कृष्ट काव्य पर दो हज़ार रुपये का पुरस्कार देने की घोषणा की है और उसके नियम आदि भी यथासमय पत्रों में प्रकाशित हो चुके हैं। परन्तु कुछ ऐसे आदमियों की अब यह राय ठहरी है कि वह पुरस्कार किसी कवि की नूतन रचना पर न दिया जाय, वरन उस रुपये से ब्रजभाषा के पुराने ग्रन्थ प्रकाशित किये जायँ। इनसे कोई पूछे कि आप अब इतने दिनों के बाद यह सलाह क्यों दे रहे हैं, उन्हीं नराधिप से यह क्यों नहीं निवेदन करते कि जहाँ उन्होंने प्रतिवर्ष कवियों को पुरस्कृत करने का निश्चय किया है, वहाँ प्राचीन कवियों की रचनाओं के प्रकाशन की भी व्यवस्था कर देने की उदारता दिखावें। परन्तु यह उपयोगी प्रयत्न न कर उल्टा एक बेमतलब का विवाद खड़ा कर दिया। यही नहीं, उदाहरण-स्वरूप प्रतियोगिता में भेजी गई एक पुस्तक की अनावश्यक निन्दात्मक आलोचना करके यह घोषित कर दिया है कि इस वर्ष कोई ऐसी नई किताब ही नहीं निकली जो पुरस्कार देने के योग्य हो। इस दशा को लक्ष्य कर यदि कोई हिन्दी के 'वर्तमान रुख़' को 'साहित्यिक सट्टेबाज़ी' कहता है तो क्या बेजा करता है। परन्तु प्रसन्नता की बात है कि इन जैसे लोगों का साहित्यिक दम्भ लोकविदित है। अतएव वही होगा जो होना चाहिए। परन्तु उपर्युक्त आन्दोलन से इतनी बात ज़रूर स्पष्ट हो गई है कि हिन्दी के क्षेत्र में भी कुछ सज्जन दायें-बायें बिना मतलब के छेड़खानी करने का मौक़ा ढूँढ़ा करते हैं। निस्सन्देह साहित्य-क्षेत्र में यह प्रवृत्ति गर्हित और भर्त्सनीय है।

अभ्युदय की रजत-जयन्ती

प्रयाग का 'अभ्युदय' इन प्रान्तों का पुराना साप्ताहिक पत्र है। इसका प्रवर्तन पूज्य मालवीय जी ने सन् १९०७ में किया था। तब से यह हिन्दी और राष्ट्र की सम्यक् रूप से सेवा कर रहा है। पिछले आन्दोलन में पड़ने के कारण इसको भारी हानि उठानी पड़ी थी और इसका प्रकाशन भी कुछ समय तक स्थगित रहा था। परन्तु अवसर पाते ही वह फिर कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हो गया। इस वर्ष उसके जीवन के पचीस वर्ष पूरे हो गये हैं। उसी के उपलक्ष्य में वसन्त-पञ्चमी को उसका एक विशेषांक निकलेगा। 'अभ्युदय' के सञ्चालकों को उनके इस उत्साह पर हम बधाई देते हैं और चाहते हैं कि उनका पत्र दिन-प्रति-दिन लोक-प्रिय होकर उत्तरोत्तर राष्ट्र और राष्ट्र-भाषा की सेवा करता रहे।

स्त्री-पुरुष का पारस्परिक सम्बन्ध और महात्मा गांधी

भारतवर्ष की शिक्षित स्त्रियाँ बहुत शीघ्रता के साथ आगे बढ़ रही हैं। वे पुरुषों की बराबरी का दावा करने लगी हैं और सन्तति-निग्रह आदि प्रश्नों पर भी विचार करने से नहीं हिचकतीं। हाल में 'कराची-महिला-सम्मेलन' से घर लौटते हुए श्रीमती कुदन नैयर ने महात्मा जी से बातें कीं जिनसे इन प्रश्नों पर बड़ा प्रकाश पड़ता है। महात्मा जी का वह वार्तालाप नीचे हम 'हिन्दी-मिलाप' से उद्धृत करते हैं—

श्रीमती नैयर—इस समय स्त्री-पुरुषों में लिंग-भेद का जो मान है, क्या वह सहशिक्षा से दूर न हो जायगा ?

गांधी जी—मैं अभी इसकी सफलता या विफलता के बारे में कुछ नहीं कह सकता। सहशिक्षा पश्चिम में भी सफल हुई मालूम नहीं देती। कई साल हुए हमने भी इसका परीक्षण किया था। तरीक़ा यह था कि कुछ बालक-बालिकायें एक ही बरामदे में सुलाये जाते थे। बीच में कोई परदा न होता था। मैं और मेरी धर्मपत्नी भी वहीं सोते थे। मैं कह सकता हूँ कि परिणाम अच्छा नहीं था।

श्रीमती नैयर—मैंने बहुत-से विवाहित स्त्रियों के साथ सन्तति-निग्रह के प्रश्न पर स्वतन्त्रता-पूर्वक विचार-परिवर्तन किया है। उनमें से अधिक ने यही कहा कि हमें हठात् बालक पैदा करने पड़ते हैं। चूँकि साधारण व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकते इसलिए क्या सन्तति-निग्रह के लिए कृत्रिम उपाय ठीक नहीं हैं ?

गांधी जी—स्त्रियों को पतियों की इच्छा का मुक़ाबला करना सीखना चाहिए। यदि पश्चिम की तरह सन्तति-निग्रह के कृत्रिम उपाय ग्रहण किये गये तो यहाँ भी परिणाम भयंकर होगा। लोगों की नैतिक और मानसिक अवस्था गिर जायगी। मैं मानता हूँ कि आदमी बड़ा पापी है—पर स्त्री भी उससे बहुत दूर पीछे नहीं है। स्त्री को अपनी महत्ता समझनी चाहिए—और आवश्यकता होने पर ना कहना सीखना चाहिए।

श्रीमती नैयर—सन्तान उत्पन्न करने के लिए जब स्त्री अधिक कमज़ोर हो या पति कमज़ोर हो तो क्या इस उपाय से लाभ नहीं उठाया जा सकता ?

गांधी जी—नहीं। एक-आध जगह छूट देने से तरीक़ा आम हो जायगा। ऐसी दशा में बेहतर यह है कि पति-पत्नी अलग रहें। सन्तति-निग्रह के कृत्रिम उपायों के कारण पश्चिम में घृणित अनैतिकता फैल रही है। मुझे विश्वास है कि कुछ ही वर्षों में पश्चिमवाले अपनी भूल समझेंगे। क्या आपको पता नहीं है कि मुसोलिनी उन माता-पिताओं को इनाम देता है जिनके सन्तानें अधिक होती हैं ?

श्रीमती नैयर—क्या भारत जैसा देश इतनी विशाल जन-संख्या का भरण-पोषण कर सकता है ?

गांधी जी—प्रकृति हमारी सहायता करेगी। यदि जन-संख्या मक्खियों की तरह बढ़ेगी तो उसी तरह मरेगी—यदि हम संयमी बनें तो प्रकृति भी हमारी सहायता करेगी। अप्राकृतिक साधन पढ़े-लिखे दुर्बलात्माओं और इन्द्रिय-दासों के लिए हैं। अन्यथा ब्रह्मचर्य्य बिलकुल सरल और संभव चीज़ है। खान-पान और विचारों में संयम रक्खो, मन और शरीर शुद्ध रक्खो, इससे ब्रह्मचारी रहने में सहायता मिलेगी।

श्रीमती नैयर—क्या आप हिटलर की तरह कमज़ोर और बीमार आदमियों को खस्सी करना अच्छा समझते हैं ?

गांधी जी—यह तो ईश्वरीय न्याय के विरुद्ध है। पर यदि कोई पुराना बीमार ऐसा चाहे तो प्रबन्ध कर देना चाहिए।

'विश्व-इतिहास की झलक'

पण्डित जवाहरलाल नेहरू कोरे लोकप्रिय राष्ट्रनेता ही नहीं हैं, किन्तु वे उच्च कोटि के साहित्यिक भी हैं। इस के सम्बन्ध में उन्होंने जो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है वह हमारे कथन का प्रमाण है। उसके बाद उनका विश्व का इतिहास प्रकाशित हुआ। प्रसन्नता की बात है उनके इस ग्रन्थ का भाषान्तर पण्डित वेंकटेश नारायण तिवारी ने हिन्दी में किया है और वह १२ भागों में साल भर में

प्रकाशित भी हो जायगा। नेहरू जी का यह अनूठा ग्रन्थ पत्रों के रूप में है। इसमें १९६ पत्र हैं जो उन्होंने अपनी एक-मात्र सन्तान कुमारी इन्दिरा के नाम जेल से लिखे थे। इन पत्रों में उन्होंने सारे संसार के इतिहास का वर्णन बड़े मनोरम ढंग से किया है। संसार की भिन्न भिन्न जातियों के उदय-अस्त की कथा का इन पत्रों में बड़े सुन्दर ढंग से वर्णन हुआ है। इस ग्रन्थ का हिन्दी-भाषान्तर सर्वसाधारण को सुलभ कर देने के विचार से खण्डशः प्रकाशित करने का प्रबन्ध किया गया है। प्रत्येक भाग का मूल्य १।) होगा। प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी को इस ग्रन्थ-रत्न का संग्रह करना चाहिए। पता—मैनेजर, साहित्य-मन्दिर लखनऊ।

मशीन या हल

भारतवर्ष में मशीन से खेती हो या पुराने हल-बैल से? इस प्रश्न पर श्रीयुत सी० एफ़० एण्ड्रूज़ ने 'फ़ोर्ड ट्रैक्टर बनाम हल' शीर्षक लेख 'हरिजन-सेवक' के हाल के एक अङ्क में लिखकर अच्छा प्रकाश डाला है। लेख का कुछ अंश यह है—

दक्षिणी अफ़्रीका से 'कारापारा' जहाज़ पूर्वी अफ़्रीका के तमाम बन्दरगाहों पर रमता हुआ मत्तगयन्द-गति से सागर की गर्वीली लहरों को चीरता हुआ चला जा रहा था। लोरेंजो मार्क्विस बन्दर पर एक अमेरिकन व्यापारी जहाज़ पर सवार हुआ। उसे कलकत्ते जाकर वहाँ फ़ोर्ड के ट्रैक्टर बेचना था। मैंने उससे पूछा—'क्यों भाई, आप कलकत्ते में अपने ट्रैक्टर किस क़ीमत पर बेचेंगे ?'

वह मुझसे कुछ गर्व के साथ कहने लगा कि 'बैलों से चलनेवाले मामूली हल को जितनी ज़मीन जोतने में एक हफ़्ता लगता है उतनी ज़मीन को हमारा ट्रैक्टर आधे दिन में जोत सकता है।'

मैंने कहा—'ठीक, मुझे यह सब मालूम है। मुझे खुद एक बार बाढ़ के पानी से ज़मीन की जुताई में आपके फ़ोर्ड ट्रैक्टर से काम लेना पड़ा था। वहाँ के ढोर या तो क़रीब क़रीब सब डूब गये थे या मर गये थे, और ज़मीन भी प्रचण्ड धूप से कड़कती जाती थी।'

मैंने कलकत्ते से एक फ़ोर्ड ट्रैक्टर मँगाया, और हल के बजाय उसे वहाँ चलवाने लगा। उसने ऊपर की उस कड़ी काली मिट्टी को एक ही झपाटे में काट-कूटकर तोड़ दिया। देखते-देखते पचासों बीघे ज़मीन जुत गई। इस नये ट्रैक्टर दैत्य की यह भीषण लीला देखने के लिए वहाँ झुंड-के-झुंड लोग जमा हो गये। पर उनके खुद करने के लिए तो अब कोई काम वहाँ था नहीं, क्योंकि ट्रैक्टर चलाने में तो सिर्फ़ दो ही आदमियों की ज़रूरत थी।

फ़ोर्ड ट्रैक्टर के इस प्रचण्ड पराक्रम की कथा सुनकर उस व्यापारी की आँखें चमक उठीं। उसने मेरा अन्तिम वाक्य शायद ही ध्यान से सुना हो। लेकिन जब मैंने उसे इसके बाद की कहानी सुनाई तब वह उसे बहुत ध्यान देकर सुनने लगा और कुछ विचार में पड़ गया। मैंने उससे कहा कि उस ज़िले के ज़मींदार मुझसे कहने लगे कि इस ट्रैक्टर को आप हमारे पास छोड़ जायँ। इसे कलकत्ता वापस भेजने की ज़रूरत नहीं। हम लोग इसे काम में लायँगे।

मैंने कहा, 'नहीं जी, यह नहीं हो सकता। इसका उपयोग तो बस बाढ़ की आफ़त के समय के ही लिए था। मगर जब तुम्हारे बैल फिर से जुट जायँगे और समय अच्छा आ जायगा तब—'

'तब क्या ?' व्यापारी ने अधीर होकर पूछा।

मैंने कहा, 'फिर क्या काम ? फ़ोर्ड ट्रैक्टर का मेरे लिए फिर काम ही क्या रह जाता है ? आज जो कुटुम्ब खेती-पाती का काम कर रहे हैं, उनमें कम से कम ५० तो बेकार हो ही जायँगे और उन्हें कलकत्ते जाकर जूट की मिलों में मज़दूरी करनी पड़ेगी। इससे भी बुरी दशा की क्या आप कल्पना कर सकते हैं ?'

उसने मेरी तरफ़ मुड़कर कहा—'जी, नहीं ! मेरे भी हृदय है। और मुझे आपके सामने यह क़बूल करना चाहिए कि अभी कुछ ही दिन हुए कि मैं चीन में यांग-सी क्यांग नदी के तट की तरफ़ गया था, और वहाँ मैंने चीन के ग्रामवासियों को जब धान बोते हुए देखा तब मुझे यह मालूम हुआ कि यहाँ तो फ़ोर्ड ट्रैक्टर लाना एक तरह का गुनाह है।'

मैंने कहा, 'गंगा के किनारे भी, भाई, यांगसीकियांग के तट की ही तरह ख़ूब घनी आबादी है। तब आप क्या वहाँ अपने ट्रैक्टर दाख़िल करने के तैयार हैं?"

उसने कहा, 'नहीं, आपने मुझे क़ायल कर दिया है, आपकी बात मेरे गले उतर गई है। जो लोग सदियों से खेती करते हुए अपनी गुज़र करते आ रहे हैं उन्हें उनके कार्यक्षेत्र से निकाल बाहर कर देना सचमुच एक भारी गुनाह है।'

जर्मनी का 'सार'

सार-निवासियों ने १५ जनवरी को सार की समस्या के हल कर डाला। ९२ फ़ी सदी वोट जर्मनी के पक्ष में पड़े और उसका सार उसे अब मिल जायगा। अन्त में सार जर्मनी का ही निकला, यही नहीं, उसके लोकमत ने यह भी सिद्ध कर दिया कि जर्मनों को अपने देश तथा अपने 'कलचर' से कितना गहरा प्रेम है।

महायुद्ध के हरजाने के रूप में सार १५ वर्ष के लिए फ़्रांस को मिल गया था। इस प्रदेश की जन-संख्या आठ लाख है। सार जर्मनी का लोहे और कोयले की खानों का प्रधान भूभाग है और वह अब तक जर्मनी के हाथ से बाहर रहा है। अब वह जर्मनी को फिर मिल जाने से उसकी शक्ति की और उसके उद्योग-धन्धों की और भी वृद्धि होगी।

परन्तु सबसे अधिक महत्त्व की बात तो यह हुई है कि इस समस्या के इतनी सरलता के साथ हल हो जाने से यह भी आशा की जायगी कि अब फ़्रांस और जर्मनी का मनोमालिन्य भी बहुत कुछ दूर होगा, जिससे योरप में, उसके साथ संसार में भी शान्ति का ही ज़ोर बढ़ेगा, जो इस समय सबसे अधिक वाञ्छनीय वस्तु है।

पंडित सूर्यनाथ तकरू

काशी के सुप्रसिद्ध होनहार लेखक पण्डित सूर्यनाथ तकरू, एम० ए० की असामयिक मृत्यु से हिन्दी की भारी हानि हुई है। तकरू जी हिन्दी के बहुत बड़े प्रेमी ही नहीं थे, किन्तु उसके ज़ोरदार सुलेखक भी थे। उनमें यह विशेषता थी कि वे बिना पहले से भले प्रकार पढ़े कभी कुछ नहीं लिखते थे और जब लिखते थे तब कोई नई बात ही लिखते थे। वे हिन्दी में काम करने के बड़े बड़े अरमान लिये रहते थे। यह हिन्दी का दुर्भाग्य है कि उसका एक ऐसा प्रतिभाशाली उत्साही सेवक उसके क्षेत्र से २५ वर्ष की कच्ची उम्र में ही उठ गया।

रस्सी का खेल

बाज़ीगरी के खेल में किसी समय भारतीय भी कमाल के काम करते थे। उनका रस्सी का खेल योरपवालों के लिए आज भी रहस्य की बात है। यह सच है कि ऐसे करामाती बाज़ीगर दुर्लभ हैं, परन्तु यह सच नहीं है कि वे कभी नहीं रहे हैं और उनकी करामात की बातें कोरी अतिशयोक्तियाँ हैं। कुछ दिन हुए विलायत में रस्सी के खेल के सम्बन्ध में रोचक चर्चा छिड़ गई थी, जिसके फलस्वरूप लार्ड एम्पथिल के यह घोषित करना पड़ा कि जो व्यक्ति रस्सी का खेल कर दिखायेगा उसे पचास हज़ार पौंड का पुरस्कार दिया जायगा। इस घोषणा को सुनकर कदाचित् दो-एक भारतीय रस्सी का खेल करने को तैयार हुए थे। पर फिर क्या हुआ, इसका पता नहीं लगा। अब दक्षिण-अफ़्रीका के 'इंडियन ओपीनियन' में छपा है कि वहाँ के कोई जयश्रीसिंह इस खेल के करने को तैयार हैं। वे रस्सी को अधर में लटका देने तथा उस पर बारह वर्ष के किसी भी लड़के को चढ़ा देने को कहते हैं। वे कहते हैं कि यह खेल उन्होंने अभी तक किया नहीं है, हाँ, एक महीने के अभ्यास में अवश्य कर दिखायँगे। परन्तु इसके लिए काफ़ी धन व्यय करना होगा। जयश्रीसिंह एक प्रसिद्ध बाज़ीगर हैं। वे १०१ बार सफलतापूर्वक आग पर चल चुके हैं तथा दो हज़ार शीशे के गिलास भी खा चुके हैं। वे अपने को योगी बताते हैं। उनके पास इस सम्बन्ध के प्रमाणपत्र भी हैं। देखें, रस्सी का खेल कोई भारतीय बाज़ीगर कर दिखाता है या यह लोगों की गप ही सिद्ध होता है।

Printed and published by K. Mittra, at the Indian Press, Ltd., Allahabad.

सचित्र मासिक पत्रिका

सम्पादक

देवीदत्त शुक्ल श्रीनाथसिंह

मार्च १९३५ | भाग ३६, खंड १ संख्या ३, पूर्ण संख्या ४२३ | फाल्गुन १९९१

गीत

लेखिका, श्रीमती महादेवी वर्मा, एम० ए०

अश्रु मेरे माँगने जब नींद में वह पास आया !
स्वप्न-सा हँस पास आया !

गया दिल की हँसी से शून्य में सुरचाप अंकित;
मरोमों में हुआ निस्पन्द तम भी सिहर पुलकित,

अनुसरण करता अमा का चाँदनी का हास आया !
स्वप्न-सा वह पास आया !

ना का अग्निकण जब मोम से उर में गया बस,
-अञ्जलि में दिया भर विश्व ने जीवन-सुधा-रस;

माँगने पतझार से हिमबिन्दु तब मधुमास आया
स्वप्न-में वह पास आया !

अमर सुरभित साँस देकर मिट गये कोमल कुसुम झर;
रविकरों में जल, हुए फिर जलद में साकार सीकर;

अङ्क में तब नाश को लेने अनन्त विकास आया !
स्वप्न-सा वह पास आया !

जीवन और मृत्यु संसार के दो अटल नियम हैं। जीवन यदि भौतिक जगत् में सुख प्राप्त करने का एक साधन है तो मृत्यु उसी जीवन को प्रमाणित करनेवाला एक ऐसा कठोर सत्य है जिसके बिना जीवन जीवन ही नहीं कहा जा सकता। इस संसार में रहकर जीवन और मृत्यु पर हर्ष और शोक क्या प्रकट किया जाय! मृत्यु तो जीवन का एक आवश्यक अंग ही है। वह तो किसी ऐसे अत्यन्त रोचक उपन्यास के अन्तिम पृष्ठ के समान है जिसका पढ़ना प्रारम्भ कर दिया गया है। यह सब होते हुए भी जब मनुष्य के हृदय पर इतना अधिक दुःख आ पड़ता है कि उसकी ज्ञानशक्ति को हृदय की वेदना आच्छादित कर लेती है तब उसे शान्ति प्रदान करने के लिए समय के अतिरिक्त शायद ही कोई सहायक होता हो।

स्वर्गीय कालाकाँकर-नरेश राजा अवधेशसिंह का [illegible] प्रकार अचानक सदा के लिए चला जाना हम लोगों के लिए ऐसी ही घटना है जिससे हम लोग एक-दम हतबुद्धि से हो गये हैं। यह ऐसा घाव है जो आजीवन इसी प्रकार हरा बना रहेगा। हमारा क्या, हम लोगों का अभी [illegible] का जीवन तो एक ही ताने-बाने में बुना हुआ था, राजा साहब के वे सभी मित्र जिनका उनसे एक दिन के लिए भी परिचय हो गया है, इस असहनीय दुःख को आसानी से नहीं भुला सकेंगे। उनको खोकर हम लोगों ने बहुत कुछ खो दिया है, इस अभाव की पूर्ति [illegible] शायद इस जीवन में नहीं हो सकेगी।

लेखक, कुँवर सुरेशसिंह

कालाकाँकर के स्वर्गीय राजा अवधेशसिंह से देश को बड़ी बड़ी आशायें थीं। वे अधखिले ही सुमन के समान थे कि काल के हाथ ने उन्हें जग-उपवन से सदैव के लिए हटा दिया। इस लेख में उनके छोटे भाई कुँवर सुरेशसिंह ने उनका संक्षिप्त परिचय दिया है।

कालाकाँकर-राज्य अवध के इतिहास में अपना विशेष स्थान रखता है। देश की कठिन परीक्षाओं में भी वह कभी पीछे नहीं रहा है। स्वर्गीय राजा साहब से सम्बन्धित होकर तो उसका नाम देश के इतिहास में और भी उज्ज्वल हो गया है। इनमें राजा हनुमंतसिंह की नीति-कुशलता, १८५७ के सिपाही-विद्रोह में वीरगति को प्राप्त होनेवाले लाल प्रतापसिंह की वीरता और राजा रामपालसिंह जी की निर्भीकता एक साथ ही तीनों गुण राजा साहब में पल्लवित हो उठे थे। कालाकाँकर से देश ऐसी ही आशा करता था और देश की परीक्षा के समय कालाकाँकर ने एक ऐसा ही निर्भीक नवयुवक उत्पन्न भी किया।

राजा साहब का जन्म सन् १९०६ में हुआ था। पिता जी के स्वर्गवास हो जाने के कारण राज्य १९१० में ही कोर्ट आफ़ वार्ड्स के अधीन कर लिया गया था।

हम तीन भाई थे—स्वर्गीय राजा साहब, कुँवर व्रजेशसिंह तथा मैं। स्वर्गीय राजा साहब और कुँवर व्रजेशसिंह जी तो शुरू से ही 'कालविन तालुक़दार स्कूल' में पढ़ने भेज दिये गये थे। कालविन स्कूल इन प्रान्तों के रईसों के बालकों को असली तालुक़दार बनाने का एक स्थान है और अपने इस उद्देश की पूर्ति भी वह उसी सुन्दरता से कर रहा है जिस सुन्दरता से अजमेर का मेयो-कालेज देशी राज्यों के राजकुमारों को असली देशी नरेश बनाने में करता है। ऐसे ही स्कूल के वातावरण में राजा साहब भी रहने को मजबूर हुए। पर वहाँ का वातावरण स्वतंत्र विचारों को कुछ दिनों के लिए भले ही दबा दे, पर वह उसका समूल नाश नहीं कर सकता। अन्त में एक दिन एक ऐसी घटना हो गई जिससे राजा साहब की स्वतंत्र प्रकृति सदा के लिए दब जाने के बजाय मुक्त होकर उनके भावी जीवन की पथ-प्रदर्शिका बन गई। स्कूल में कोई जलसा था, जिसमें सभी प्राचीन छात्र आमन्त्रित थे। उस समय मेरे मँझले भाई स्कूल छोड़ चुके थे और उन्होंने खद्दर पहनना प्रारम्भ कर दिया था। उस दिन वे भी उस जलसे में आये थे। जब सब छात्रों का फोटो लेने का समय आया तब प्रिंसिपल महोदय को व्रजेशसिंह जी की गांधी-टोपी उपयुक्त नहीं जँची और उन्होंने उनसे उसे उतार लेने को कहा। पर व्रजेशसिंह जी ने टोपी उतारने की अपेक्षा वहाँ से चला जाना ही उचित समझा। राजा साहब ने प्रिंसिपल साहब के इस व्यवहार से अपना अपमान समझा और उसी दिन से उन्होंने स्वयं खद्दर का व्यवहार करना प्रारम्भ कर दिया। इस घटना को वे कभी नहीं भूले, यहाँ तक कि ७-८ वर्ष के बाद उसी स्कूल में जहाँ गांधी-टोपी पहनना वर्जित समझा जाता था वे स्वयं महात्मा गांधी को आमन्त्रित करके ले गये और उन्हीं प्रिंसिपल को वहाँ के बालकों से गांधी जी का परिचय कराने को मजबूर किया।

[कुँवर सुरेशसिंह]

राजा साहब में समाज-सुधार की लगन बाल्यकाल से ही थी, पर इस लगन को प्रकाश में लाने का श्रेय

आर्यसमाज को है। स्कूलकाल में ही उनका परिचय पंडित धुरेन्द्र शास्त्री न्यायभूषण से हुआ था। उनकी शिक्षा से राजा साहब ने आर्यसमाज के मिशन को अपने जीवन का एक मुख्य अंग बना लिया था। महात्मा जी के लिए जहाँ उनके हृदय में अपार श्रद्धा थी, वहीं स्वामी दयानन्द जी के प्रति भी उनका अगाध प्रेम था। इस युगल मूर्ति को ही वे अपना आदर्श मानते थे।

मनुष्य में किसी प्रकार का गुण विद्यमान रहने पर भी यदि उसको प्रकाश में लाने के लिए कोई सहायक न मिला तो बहुधा उसका लोप भी हो जाता है। अतः जिसके द्वारा इस प्रकार अपने गुणों के विकसित होने में सहायता मिलती है उसे हम स्वभावतः आदर की दृष्टि से देखने लगते हैं। महात्मा जी को अपना आदर्श मानते हुए भी राजा साहब पूज्य मालवीय जी को ही अपना राजनैतिक गुरु मानते थे। पूज्य मालवीय जी का कालाकाँकर से बहुत पुराना सम्बन्ध है। बचपन से ही हम लोग पूज्य मालवीय जी का नाम जानते थे। यहाँ के पुराने लोगों से उनके बारे में क़िस्से सुनते थे और जिस स्थान में रह कर उन्होंने स्वर्गीय राजा रामपालसिंह के साथ अपने अमूल्य जीवन का कुछ समय व्यतीत किया था उसे नित्य ही देखकर सोचते थे कि कभी ऐसा समय भी शायद आवेगा जब हम लोग उनका दर्शन कर सकेंगे। कुछ वर्ष प्रतीक्षा में ज़रूर गये, पर एक दिन वह समय भी आ गया। हम लोग स्कूल से छुट्टी लेकर लखनऊ के अमीनुद्दौला-पार्क में उत्सुक हृदय से दाख़िल हुए। पूज्य मालवीय जी का व्याख्यान हो रहा था। हम लोग साँस रोके चुपचाप दूर खड़े थे। सभा समाप्त हो गई, मालवीय जी भी भीड़ से बाहर निकले। पर उनसे परिचय करानेवाला कोई नहीं था। राजा साहब ने स्वयं ही आगे बढ़कर अपना परिचय दिया। महामना मालवीय जी कालाकाँकर का नाम सुनकर प्रसन्न हो गये। पूज्

[कुँवर ब्रजेशसिंह, राजा साहब, (बचपन का चित्र) कुँवर सुरेशसिंह]

स्मृति से उनकी उस समय की छलछलाई हुई आँखें आज भी मुझे अच्छी तरह याद हैं। वहीं उसी दिन हम लोगों ने स्वदेशी का प्रण किया। राजा साहब का राजनैतिक क्षेत्र में पदार्पण उसी दिन से समझना चाहिए।

समाज-सुधार की लगन और देश-प्रेम की पवित्र भावना को लेकर राजा साहब ने बालिग़ हो जाने पर सन् १९२७ में राज्य का शासन-सूत्र अपने योग्य हाथों में लिया और दो वर्ष के अल्प समय में ही उनका यश चारों ओर फैल गया। उसी समय महात्मा जी ने संयुक्त-प्रान्त में दौरा किया था। लखनऊ में वे कालाकाँकर हाउस में ही ठहरे थे। इस का हाल ५-१२-१९२९ के 'नवजीवन' में इस प्रकार छपा था—"रायबरेली से हम कालाकाँकर पहुँचे। कालाकाँकर एक राजा का गाँव है! अवध के ताल्लुक़दारों और ज़मींदारों से वहाँ की रियाया आम तौर से असंतुष्ट है। फिर भी ऐसे नौजवान ताल्लुक़दारों की कमी नहीं है जो प्रजा की सेवा के लिए उत्सुक हैं, खुले हाथों उनकी सेवा में धन खर्च करते हैं, खादी पहनते और रियाया से मिल-जुल कर रहते हैं। कालाकाँकर के राजा साहब एक ऐसे ही ज़मींदार हैं। उनसे जान-पहचान तो लखनऊ में ही हो चुकी थी। वहाँ उन्हीं के बँगले पर हम ठहराये गये थे। राजा साहब की पोशाक साधारण स्वयंसेवकों की-सी ही थी। धोती, कुर्ता और सफ़ेद टोपी। उनकी रानी भी उन्हीं के समान सादगीपसन्द हैं। यही कारण था कि हममें से एक भाई ने उन्हें पहचान नहीं पाया और उनसे नौकर का काम करवाया। राजा साहब ने बिलकुल सहज भाव से और बड़ी ख़ूबी के साथ वह काम कर दिया। बाद में जब उन साथी को अपनी भूल मालूम हुई तब उन्होंने राजा साहब से माफ़ी माँगी। राजा साहब ने जवाब दिया, 'इसमें माफ़ी की क्या बात है? मैं स्वेच्छा से स्वयंसेवक बना हूँ। और इस तरह का काम न मिलने पर दुखी होता हूँ।' जब गांधी जी को इस भूल का पता चला तब उन्हें खुशी हुई, क्योंकि इससे राजा साहब के स्वभाव का अनायास ही सबको परिचय मिल गया। राजा साहब ने लखनऊ में ही गांधी जी से अपने घर चलने का आग्रह किया था और एकान्त-शान्ति की लालच बताई थी।

[१९२१ में]

कालाकाँकर ठीक गंगा के किनारे बसा हुआ है। राजा साहब का एक पुराना सादा लेकिन सुन्दर महल बिलकुल नदी तट पर है। वहाँ गांधी जी को एकान्त मिलने की बात कही गई। किन्तु गांधी जी के लिए तो और भी कई प्रलोभन थे। रनिवास की बहुतेरी स्त्रियाँ पर्दा नहीं करतीं, राजा साहब जनता से मिलते-जुलते रहते हैं; ये सब बातें प्रत्यक्ष देखना गांधी जी को पसन्द ही हैं।

"वहाँ पहुँचने पर हमने अपनी कल्पना से भी बढ़कर सृष्टि-सौंदर्य और शान्ति का अनुभव किया। राजा साहब ने द्रव्य भी खुले हाथों दिया। राजा साहब जैसे लखनऊ में थे, वैसे ही यहाँ भी पाये गये। अपने गाँव में भी उनके शरीर पर वही पोशाक, वही सादगी थी।'
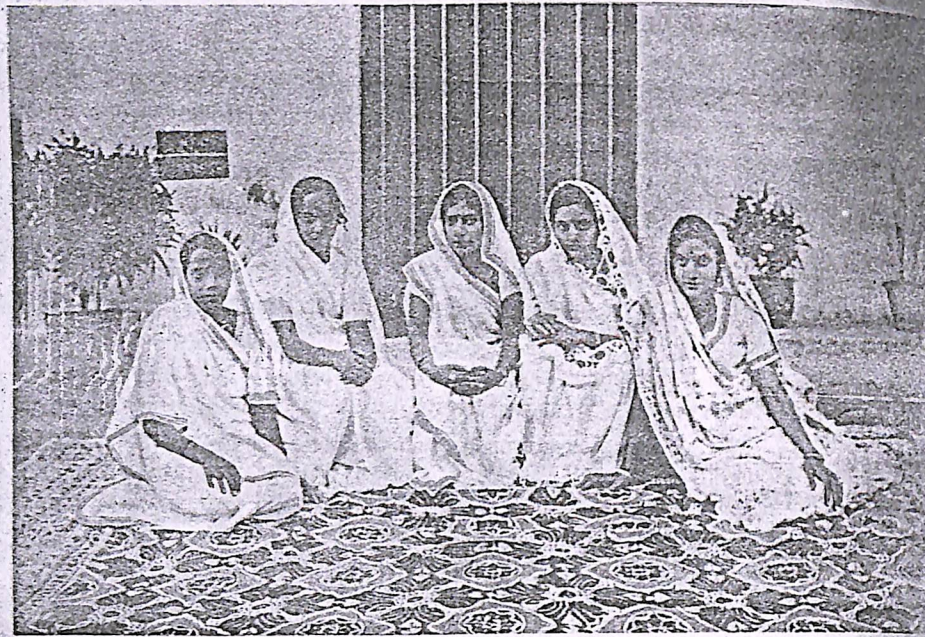
[बाईं ओर से— श्रीमती प्रभा, श्रीमती कुसुम, रानी साहबा, श्रीमती ब्रजेशसिंह और श्रीमती सुरेशसिंह]

देश-प्रेम और समाज-सुधार की प्रबल इच्छा के अतिरिक्त राजा साहब में बहुत-से ऐसे गुण थे जिनके कारण आज वे इतने आदर के पात्र समझे जा रहे हैं। अन्य गुणों के साथ ही साथ लोक-प्रिय होने का एक ऐसा गुण उनमें था जैसा मैंने बहुत कम लोगों में देखा है। छोटे-बड़े सभी प्रकार के मनुष्यों में वे इस आसानी से घुल-मिल जाते थे कि कोई उनसे बातें करके शायद ही उदास लौटा होगा। गाँव का शायद ही कोई आदमी बचा होगा जिससे उन्होंने काफ़ी देर तक बातें न की होंगी। गाँव भर के बच्चों को लेकर जहाँ वे शाम को गंगा जी के किनारे घूमने जाते थे, वहीं रात को गाँव के सभी बुड्ढे और अधेड़ मनुष्यों को चर्खा चलाने और वर्णमाला रटाने के लिए भी समय निकाल लेते थे। कालाकाँकर उनमें और वे कालाकाँकर की साँस में [illegible] से गये थे। वास्तव में उनकी कीर्ति में उनकी लोक-प्रियता का बहुत बड़ा हाथ है।

साहस और निर्भीकता की भी उनमें कमी नहीं [illegible] ये दोनों ऐसे गुण हैं जो ताल्लुक़दारों के भाग्य में [illegible] विधाता ने लिखे ही नहीं। पर जैसा पहले मैं कह आया [illegible] मैं उनको केवल ताल्लुक़दारों की श्रेणी में रखना उन[illegible] अपमान करना समझता हूँ। ताल्लुक़दारी जमात उन[illegible] नाम से ज़रूर गौरवान्वित हो सकती है।

भय क्या है, उन्होंने जाना भी नहीं। मेरे जेल [illegible] पर राज्य की ज़ब्ती की बड़ी गर्म खबर फैली थी, पर उन[illegible] मुख पर मुझे भय का कभी तनिक आभास भी नहीं [illegible] पड़ा। गवर्नमेंट के घोर दमन के आगे ताल्लुक़[illegible]

होते हुए भी वे हिमाचल की तरह अचल खड़े थे। प्रजा के लिए राज्य-सुख का उन्होंने त्याग कर ही दिया था। देश के लिए वे अपने राज्य को भी छोड़ देने को सदा तैयार रहते थे। दब कर जीने से तो वे मरना कहीं अच्छा समझते थे और अपने इस सिद्धान्त पर वे अन्त तक अटल रहे। मृत्यु से भी उन्होंने वीरता से युद्ध किया।

निर्भीकता के साथ ही साथ उनको किसी कार्य-संचालन के लिए ऐसी अगाध शक्ति न जाने कहाँ से मिली थी कि वे थकना तो जानते ही नहीं थे। गत सात वर्षों में मैंने उन्हें किसी दिन विश्राम करते देखा ही नहीं। जिस प्रकार राजा होते हुए भी वे स्वेच्छा से सेवक बने हुए थे, उसी प्रकार शासक होते हुए भी वे अपनी इच्छा से ही सैनिक बने थे। कालाकाँकर में या बाहर जहाँ भी मैंने उन्हें देखा, सदा बहुत ही व्यस्त देखा। विश्राम उनके जीवन में जैसे था ही नहीं।

राज्य का प्रबन्ध सुचारु रूप से चलाने के बाद उन्होंने सारे राज्य के सुधार के लिए एक 'सुधार-संघ' की स्थापना की। प्रत्येक हल्के के लिए एक एक ग्राम-सुधारक नियुक्त किया। गाँवों में पंचायतों की स्थापना की गई।

प्रजा की सेवा को ही वे अपना धार्मिक कर्तव्य समझते थे। उन्होंने अपने को प्रजावत्सल नहीं, प्रजा-सेवक बना लिया था। सन् १९३२ में जब कांग्रेस ने उनसे किसानों को लगान में आधी छूट देने को कहा तब उन्होंने बिना किसी उज्र के वैसा करना मंज़ूर कर लिया। रियासत को इससे डेढ़ दो लाख का नुक़सान हुआ, पर किसानों पर सख़्ती और कांग्रेस की हुक्म अदूली से उन्होंने स्वयं कष्ट सहना कहीं अधिक ठीक समझा।

इन सब गुणों के वर्णन के बाद भी यदि उनकी विनोद-प्रियता का वर्णन न किया जायगा तो उनका परिचय अधूरा ही रह जायगा। हास्य उनके जीवन की एक आवश्यक वस्तु हो गई थी। दिन भर के घोर परिश्रम के पश्चात् हास्य से जैसे उन्हें पुनः शक्ति-सी मिल जाती थी। हाज़िर-जवाबी उनकी एक विशेषता थी और विनोद ही उनका जीवन था।

[कुमारी विद्यावती, कुमार दिनेशसिंह—स्वर्गीय राजा साहब की युगल संतानें]

राजा साहब के विशाल हृदय में धार्मिक संकीर्णता को स्थान नहीं मिला था। आर्यसमाज के एक सत्यनिष्ठ सदस्य होते हुए भी उनमें कट्टरपन की गंध नहीं थी। मित्रों तथा राज्य-कर्मचारियों में ही नहीं, उनके कुटुम्बियों में भी भिन्न-भिन्न मत के सज्जन थे। पर उनके सहज स्वभाव तथा स्नेहयुक्त व्यवहार में एक प्रकार का ऐसा तीव्र आकर्षण था कि भिन्न-भिन्न विचारों के रहते हुए भी उनके सभी सम्बन्धी उनके स्नेहसूत्र में गुम्फित होकर एकाकार हो गये थे।

राजा साहब का सामाजिक जीवन उनके राज्य-काल के साथ ही साथ आरम्भ हुआ था। यों तो शिक्षा-काल में ही वे शुद्धि-सभा के सहभोज में सम्मिलित होकर अपने

उन्नत विचारों का परिचय दे चुके थे, पर राज्य प्राप्त होने पर वे बाक़ायदा सामाजिक आन्दोलन में भाग लेने लगे और क्षत्रिय-युवक-संघ उनको पाकर अपना गौरव समझने लगा। पर उनकी बहुमुखी प्रतिभा और उनकी सामाजिक क्रान्ति करने की प्रबल इच्छा को जात-पाँत का संकुचित दायरा अधिक दिनों तक बन्दी नहीं रख सका। आर्य-समाज के द्वारा सामाजिक कुरीतियों और अन्धपरम्परा की रूढ़ियों के नाश की आशा देखकर उन्होंने आर्यसमाज को अपना प्राण बना लिया। लगभग इसी समय देश ने सत्याग्रह-युद्ध की घोषणा कर दी। महात्मा जी की रणभेरी को सुनकर राजा साहब भला पीछे कैसे रहते? उन्होंने उस समय देश की जो सेवा की उसे अवध कभी नहीं भुला सकता। नमक-सत्याग्रह में सम्मिलित होने के लिए कालाकाँकर से रायबरेली के लिए प्रस्थान करते समय उन्होंने हर्ष से रुँधे हुए गले से मुझसे कहा—"भैया! देश पर बलिदान होने का तुम्हें पहले सौभाग्य प्राप्त हो रहा है, इसके लिए मेरे हृदय में कोई स्पर्द्धा नहीं है। यह तो अपने अपने भाग्य की बात है। हाँ, इतना अवश्य ध्यान में रखना कि यदि तुम्हारी सेवा वहाँ ताल्लुक़ेदारों के माथे का कलंक धोने में समर्थ न हो सके तो मुझे फ़ौरन ही बुला लेना।" उनका यह हृदयोद्गार ही उनका वास्तविक स्वरूप प्रकट करने के लिए काफ़ी है।

[कुँवर व्रजेशसिंह (मँझले भाई)]

सन् १९३१ में राजा साहब ने अपने राज्य के प्रबन्ध की ओर विशेष ध्यान दिया। हरी-बेगार, नज़राना, भूसा-वसूली आदि तो राजा साहब अपने राज्यकाल के प्रारम्भ में ही माफ़ कर चुके थे। इस वर्ष उन्होंने राज्य-प्रबन्ध में प्रजा को भी सम्मिलित कर लिया। राज्य का प्रबन्ध उन्होंने स्वयं स्थापित किये हुए राज्य-परिषद् के हाथ में दे दिया, जिसमें ३० राज्य-कर्मचारियों और ट्रस्ट और अन्य संस्थाओं के सदस्यों के अलावा ३० प्रजा के द्वारा निर्वाचित सदस्य रहते थे। इस परिषद् की स्थापना से ही प्रकट होता है कि राजा साहब इस बात का कितना उद्योग करते थे कि प्रजा राज्य को अपनी वस्तु और अपना ही राज्य समझे।

१९३१ में रानी साहबा की अस्वस्थता के कारण राजा साहब को विदेश के लिए प्रस्थान करना पड़ा। वहाँ भी उन्होंने अपना स्वदेशी लिबास नहीं छोड़ा। धोती, कुर्ता और उनकी प्रिय गांधी-टोपी को योरप का वातावरण एक क्षण के लिए भी उनके शरीर से नहीं उतरवा सका।

अपनी अनुपस्थिति में राज्य का प्रबन्ध राज्य के सुयोग्य मैनेजर के द्वारा होता देखकर भी उन्होंने अपने राज्य से इतनी अधिक दिनों तक रहना पसन्द नहीं किया। वे ५-६ महीने के भीतर ही स्वदेश लौट आये।

१९३३ में वे ग्राम-संगठन में इस तत्परता से लग गये कि थोड़े दिनों के लिए जैसे दीन-दुनिया से ही अलग हो गये। रियासत के एक एक गाँव में घूम घूमकर उन्होंने प्रजा को अपना इतना भक्त बना लिया कि प्रजा

[महात्मा गांधी के साथ]

उन्हें अपना हितैषी ही नहीं, उन्हें अपना देवता समझने लगी।

प्रत्येक देश की जनता पर नेतृत्व करने के लिए उसी मनुष्य को सफलता मिलती है जो सब प्रकार से साधारण जनता के साथ चल सकने में समर्थ हो और जिसे जनता अपने से अलग कोई चीज़ न समझकर अपने ही बीच का एक प्राणी समझने लगी हो। महात्मा गान्धी के सारे भारत की आत्मा में व्याप्त हो जाने का यही रहस्य है। हम जहाँ उनमें भारत के नेतृत्व का प्रतिबिम्ब देखते हैं, वहीं उनमें भारत के दीन किसानों की छाया भी पाते हैं। वे देश के किसान बनकर ही देश के सर्वस्व हो सके हैं। राजा साहब का सहज स्वभाव, उनकी सादी पोशाक और उनका सादा जीवन ही साधारण जनता का आदर प्राप्त करने के लिए यथेष्ट था।
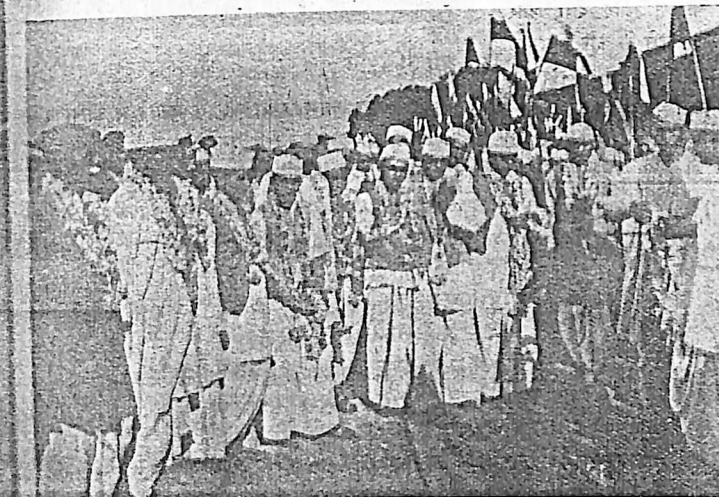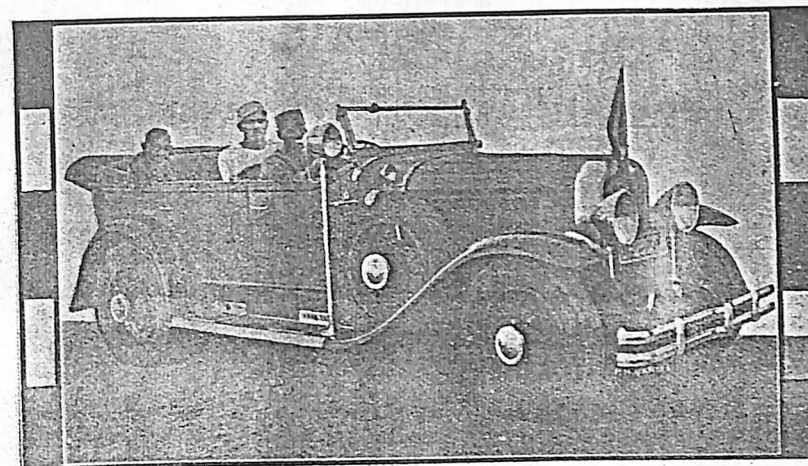
[कालाकाँकर का सत्याग्रही जत्था जेल से वापस होने पर सन् १९३२]

राजा साहब के उक्त परिश्रम का फल यह हुआ कि सारा राज्य रामराज्य के समान हो गया। रामराज्य कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है। वर्तमान समय में

जहाँ राज्य की ओर से किसी प्रकार का कर न लिया जाता हो, जहाँ अछूतों को किसी मंदिर और कुएँ पर जाने की रोक न हो, जहाँ राज्य-प्रबन्ध में प्रजा का सहयोग प्राप्त किया जाता हो, जहाँ गाँव गाँव राज्य की ओर से नियुक्त ग्राम-सेवक प्रजा की हर प्रकार की सेवा करने को सदा प्रस्तुत रहते हों, जहाँ किसी को एक पैसे की भी मादक वस्तु मिलना किसी प्रकार से संभव न हो, जहाँ का कोई भी किसान राजा को अपने घर पर बुलाकर रूखा-सूखा खिलाने का अपने को अधिकारी समझता हो और जहाँ के प्रत्येक गाँव का आकाश नित्य 'झंडा-वन्दन' और 'रघुपति राघव राजाराम' के चिर-परिचित ध्वनि से कंपित हो उठता हो, उसे यदि हम रामराज्य के नाम से पुकारें तो सचमुच उसमें कोई अत्युक्ति नहीं है।

सन् १९३४ कालाकाँकर के लिए तो सबसे कठोर वर्ष था ही। राजा साहब को भी इस वर्ष दुःख ही दुःख उठाने पड़े। यों तो सन् १९३३ में ही कठिन परिश्रम के बाद वे बहुत सुस्त-से हो गये थे, पर सन् १९३४ में तो वे बराबर बीमार ही रहने लगे। उन्हें पेचिश हो गई थी, पर निरन्तर काम में लगे रहने के कारण और दवा और आराम की ओर विशेष ध्यान न देने के कारण उनके रोग ने सबके हृदय में चिन्ता उत्पन्न कर दी। लखनऊ में दो-तीन मास कई प्रसिद्ध डाक्टरों की दवा कराने के बाद वे कलकत्ते चले गये। वहाँ एक प्रसिद्ध वैद्य की दवा से उन्हें बहुत लाभ हुआ और वे जुलाई में कालाकाँकर लौट आये। यहाँ आकर वे पुनः बीमार हो गये और दवा कराने को रायबरेली चले गये। वहीं २० सितम्बर को किसानों के इस सच्चे प्रतिनिधि ने सदा के लिए अपनी आँखें बन्द कर लीं।
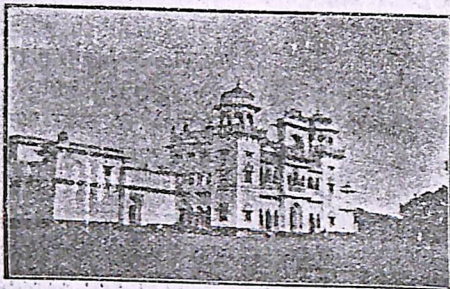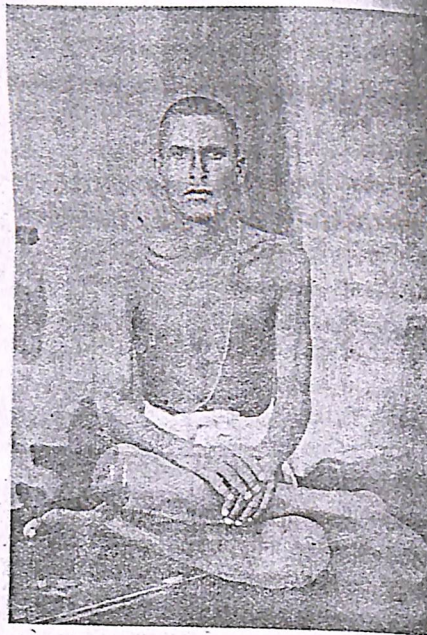
[अन्तिम दर्शन—राजा साहब का रुग्णावस्था का चित्र]

[राजमहल कालाकाँकर]

आज हम स्वर्गीय राजा साहब के गुणों की ओर देखते हैं तो यह अनुभव करते हैं कि इतने थोड़े समय में ही इस योग्यता से अपनी भावी प्रतिभा का परिचय देने वाले उस प्रतिभाशाली युवक के निधन से जहाँ देश का एक आशामय उज्ज्वल नक्षत्र अस्त हो गया है, वहाँ हमारे प्रान्त के किसानों का एक ऐसा सच्चा रहनुमा भी एक अज्ञात काल के लिए खो गया है जिसके स्थान की पूर्ति निकट भविष्य में शायद ही हो सकेगी।

सूनापन !

लेखक,
श्रीयुत कुञ्जविहारी चौबे

जीवन से अपने हो उदास,
मैं यहीं कहीं पर आस-पास,
खोजा करता उल्लास-हास,
हो व्याकुल, मेरी दुख-गाथा—
पूछा करता गम्भीर गगन !
मेरा यह नीरव सूनापन !

है यहाँ न कुछ भी कोलाहल,
है यहाँ न जग की उथल-पुथल;
है यहाँ न हलचल, चहल-पहल,
निज कल-कूजन में पक्षी-गन—
दे रहे मुझे हैं आश्वासन !
मेरा यह मञ्जुल सूनापन !

हाँ, यहीं किसी का मूक विरह,
है मुझे सताता नित रह-रह,
दृग से आँसू आते बह-बह,
कुछ अस्थिर-सा हो उठता हूँ—
लख नभ-अवनी का मधुर मिलन!
मेरा यह मादक सूनापन !

उठ यहीं प्रणय की एक लहर,
झंकृत कर देती है अन्तर,
होते चातक-से तृषित अधर,
बेसुध-सा हो उठता हूँ लख—
नलिनी का अलि से आलिंगन !
मेरा यह निर्जन सूनापन !

कल्पना-यान पर उड़-उड़ कर,
चिर-स्वप्न-राज्य में विचर-विचर,
आता हूँ लौट यहीं सत्वर,
मैं एक अनोखी दुनिया का—
करता हूँ शिशु-सा यहीं सृजन !
मेरा आह्लादक सूनापन !

'बीता बचपन, आया यौवन,
कल विमल हास, है आज रुदन,
उन्नति-अवनति, उत्थान-पतन,
क्यों होता रहता भूतल पर—
पल-पल में ऐसा परिवर्तन ?'
मेरा यह सुहावना सूनापन !

जीवन-रहस्य पर बार-बार,
करता रहता हूँ मैं विचार,
चढ़ता जाता है अन्धकार,
हैं मुझे झाँझों-से दिखते—
कुछ विस्मित चितवन के उड़गन !
मेरा यह धूमिल सूनापन !

है यही मौन का केलि-भवन,
सन्तप्तों का यह जीवन-धन,
यह वसुन्धरा का नन्दन-वन,
इसके ही आँगन पर हँस हँस–
चिर-शान्ति सतत करती नर्तन !
मेरा यह अनुपम सूनापन !

है मुझ ग़रीब का यही वतन,
मुझ निर्धन का यह अतुलित धन,
है यह मेरा सुख-स्वप्न-सदन,
प्यारी है इसकी धूल मुझे–
प्यारा मुझको इसका कन-कन !
मेरा यह प्यारा सूनापन !

मैं नहीं चाहता विभव, न धन,
चाहता न भव का सिंहासन,
स्वीकार न त्रिभुवन का शासन,
यह वट हो, यह शुचि सर-तट हो,–
हो और सुभग यह सूनापन !
मेरा यह निर्जन सूनापन !

ऊपर नभ का उन्नत वितान,
नीचे यह मेरा रम्य स्थान,
है छेड़ रहा पिक मधुर तान,
कुछ थिरक-थिरक कर बहता है–
तरु-पत्तों से लग अलस पवन !
मेरा यह निर्जन सूनापन !

है धूलि-धूसरित सांध्य-काल,
दिखता है पश्चिम लाल-लाल,
बिखरा निज श्यामल तिमिर-जाल,
रजनी-बाला धीरे-धीरे—
कर रही धरा का आच्छादन !
मेरा यह सुन्दर सूनापन !

यह कमलाकुल कमनीय ताल,
यह तरु, वह इसकी उच्च डाल,
है उधर दूर पर्वत विशाल,
कुछ चिंतित, क्लांत, करुण स्वर में–
सुन पड़ता भृङ्गों का गुञ्जन !
मेरा यह निर्जन सूनापन !

होता हूँ जब मैं शोकाकुल,
भर जाती उर में व्यथा विपुल,
तब यही शून्य सर-तट मंजुल–
अपनी निःस्वन-सी भाषा में–
करता है मेरा आवाहन !
मेरा यह प्यारा सूनापन !

मेरा यह भावुक हृदय-प्रान्त,
जग के प्रपंच से जब नितान्त,
हो उठता है विह्वल, अशान्त,
ले आता है तब यहीं मुझे—
मेरा अधीर, उत्पीड़ित मन !
एकांत, शांत यह सूनापन !

लेखक—श्रीयुत खुशहालमणि पर्वतीय, बी॰ ए॰

यह प्रसन्नता की बात है कि गाँवों की ओर हमारी राष्ट्रीय महासभा और सरकार दोनों का ध्यान गया है। यदि दोनों सहयोग से कार्य्य करें तो गाँवों की समस्या बहुत कुछ हल हो सकती है। इस लेख में विद्वान् लेखक ने यह दिखलाते हुए कि अमरीका ने अपने गाँवों का कैसे उद्धार किया है यह दिखाया है कि भारत अपने गाँवों का कैसे उद्धार कर सकता है।

आधुनिक संसार की उन्नति और सभ्यता का माप है व्यापार और साक्षरता। और सभी देशों में नगरनिवासी प्रायः व्यापारी और साक्षर होते हैं, अतः किसी भी देश की सभ्यता का दर्जा उतना ही ऊँचा समझा जाता है, जिस परिमाण में उसकी ग्रामीण जनता का व्यापार और साक्षरता पर अधिकार होता है। यद्यपि यह सिद्धान्त सर्वत्र समभाव से लागू है, तथापि इसका महत्त्व कृषि-प्रधान देशों के लिए बहुत ही अधिक है। हम आधुनिक संसार के प्राणी हैं, इसलिए आधुनिक संसार के परिवर्तनों, आन्दोलनों, व्यावसायिक तथ्यों [illegible] साधनों की उपेक्षा नहीं कर सकते। आध्यात्मिक [illegible] की श्रेष्ठता स्वीकार करते हुए भी हम हाथ उठाकर [illegible] के लिए तैयार हैं कि सम्पूर्ण संसार की दृष्टि से भौतिक [illegible] ही प्रधान है। भौतिक जीवन ही आध्यात्मिकता की [illegible] या जड़ है। उच्च विचार, उच्च व्यवहार एवं उच्च [illegible] का जीवन के आदर्श से घनिष्ठ सम्बन्ध है और इन्हीं [illegible] किसी भी देश का गौरव निर्भर है। परमुखापेक्षा और पराव[illegible] लम्बन ही स्वाभिमान के मार्ग के बाधक हैं एवं आत्म[illegible] निर्भरता और स्वावलम्बन ही उस महान् वस्तु के वर्धक [illegible]

जैसा ऊपर कहा गया है, ग्रामीण जनता ही [illegible] की असली प्रतीक है और उसकी जाग्रति ही देश [illegible]

जाग्रति है। दुःख का विषय है कि इस सत्य को हमारे राष्ट्र-नायकों और देशभक्तों ने देर में पहचाना है। सरकार की ओर से भी कोई वैसा देशव्यापी कार्य नहीं हुआ है और यदि कुछ हुआ है तो वह सरकारी केन्द्रों तक ही परिमित रहा है। आज यद्यपि ध्वनिविस्तारक यंत्रों की योजनाओं, देश-हितकारिणी सभाओं तथा किसान-सुधारक संघों के नामों की ध्वनि सुनाई पड़ रही है, तथापि इनकी वक्रविधि तथा सशंकित कार्य्य-प्रणाली ग्राम्य भारत का उत्थान करने में सहायक होगी, यह अभी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। भारत का कुछ दुर्भाग्य ही ऐसा है कि उसके शासक और शासितों के स्वार्थ परस्पर विरोधी हैं, अतः वास्तविक उन्नति का मार्ग अबाध रूप से तय होना असाध्य नहीं तो कष्टसाध्य ज़रूर है। वह दिन बहुत ही मंगलमय होगा जब इन दोनों के स्वार्थों का सामञ्जस्य हो जायगा और उन्नति की मंज़िल तय करने में संयुक्त उद्योग होगा।

ग्रामीण जनता की उन्नति करने का सबसे प्रथम कार्य वर्तमान अनुन्नत दशा से घृणा उत्पन्न कराकर दूसरे देशों की जनता के सुखों और सुविधाओं से उसे परिचित कराना है। परन्तु यह काम शिक्षा के अभाव में नहीं हो सकता। सच पूछिए तो कृषकों की निरक्षरता उनके दुःखों तथा सम्पूर्ण देश के दुर्भाग्य का मूल कारण है। और यही कारण है कि अमरीका के संयुक्त-राज्य के किसान जो कल तक खेत जोतना भी नहीं जानते थे (या यों कहिए कि जो परसों तक पाताल में थे), आज उच्च कोटि के अनुभवी और जानकार कृषक बन गये हैं। उनकी साक्षरता ने उनको इस योग्य बना दिया है एवं उनको ऐसा मंत्र बता दिया है जिससे वे सबसे पीछे रहते हुए भी सबसे आगे निकल गये हैं। रूस के किसानों की आविष्कार-प्रसविनी बुद्धि उनकी शिक्षा का ही फल है। ऐसी दशा में हम कोई कारण नहीं देखते कि भारतीय किसान या ग्रामीण उसी प्रकार उन्नत न हो सकें।

मनुष्य अपनी कोटि के दूसरे मनुष्य को सुखी देखकर उसकी बराबरी करने की स्वभावतः स्पृहा करता है। परन्तु इसके लिए पहले यह मालूम होना चाहिए कि अमुक मनुष्य अमुक कारण से उन्नत हुआ है या अमुक स्थान पर अमुक बात हो रही है, देखें उसका क्या परिणाम होता है। इसलिए प्रचलित घटनाओं और समाचारों से अवगत होना बहुत ही ज़रूरी है। ग्रामीण जनता में जब समाचारपत्र पढ़ने की रुचि उत्पन्न होगी और जब वह उसके अभाव का अनुभव करेगी उस समय वह भी संसारी हो जायगी और संसार के क़दम से क़दम मिला कर चलने की क्षमता हासिल करेगी। आविष्कार का बीज शिक्षा की उपजाऊ भूमि पर ही उगता है।

इस बात की भी बड़ी आवश्यकता है कि किसानों की आर्थिक क्षमता बढ़ाकर उनका रहन-सहन भी उन्नत किया जाय। वे इतना कमा सकें कि स्वादिष्ट तथा पुष्ट भोजन तथा साफ़-सुथरे कपड़े प्राप्त कर सकें और हवादार स्वच्छ मकानों में रह सकें और बीमारी के समय अच्छी चिकित्सा करवा सकें। धन-वृद्धि के उपायों के प्रचलन के साथ साथ यह भी करना होगा कि ग्रामीण धार्मिक तथा सामाजिक कुप्रथाओं से भी मुक्त किये जायँ। जब तक उनकी बुरी लतें और कुप्रथायें दूर नहीं होंगी; तब तक कुछ भी नहीं हो सकेगा। हमें उनकी दास-मनोवृत्ति को ऐसा धक्का मारना पड़ेगा कि उनमें स्वाभिमान जाग उठे और वे स्वतः सोचना, समझना और उत्थानोन्मुख जाति की तरह काम कराना सीखें और इस उद्देश की सिद्धि के लिए सार्वजनिक ग्राम-शिक्षा की समस्या हाथ में लेना आवश्यक है। हमें सयानों की शिक्षा और शिशुओं की शिक्षा—दोनों की शिक्षा की ओर ध्यान देना होगा।

इस सदी के प्रारम्भिक वर्षों में अमरीका की दक्षिणी रियासतों का औद्योगिक तथा बौद्धिक विकास उत्तरी रियासतों की अपेक्षा बहुत पीछे पड़ गया था। उस समय दक्षिणी रियासतों की दशा ठीक वैसी ही थी, जैसी आज भारत के समृद्ध और अग्रणी प्रान्तों की है। जनता दरिद्र थी। लोग अधिकतर कृषक थे।

अमरीका की जनता ने उन रियासतों के मामले को अपने हाथ में लिया। 'जनरल एजुकेशन बोर्ड' नाम की

एक ग़ैर-सरकारी संस्था ने पहले दक्षिण की एक एक रियासत की शिक्षा की दशा का बारीक़ी से अवलोकन किया।

बोर्ड ने पहले उनमें शिक्षा प्रचार का प्रयत्न किया, पर वह उस प्रयत्न में सफल नहीं हुआ। इसके बाद उसने उनकी खेती की उन्नति करने और भूमि से अधिक उपज पैदा करने की बात सोची। पर इस निश्चय को भी धन के अभाव के कारण वह कार्य में परिणत न कर सका।

तत्पश्चात् बोर्ड के कार्यकर्ताओं ने पैदल घूमकर विस्तृत अनुसंधान करके किसानों को बताया कि वे किस प्रकार अपने खेतों की उपज बढ़ा सकते हैं। फिर सरकारी कृषि-विभाग के डाक्टर नाप को 'कोआपरेटिव फ़ार्म प्रदर्शन' की विधि चलाने का काम सौंपा गया, जिसमें आश्चर्यजनक सफलता मिली। खेतों की उपज दूनी हो गई, किसानों के लिए बढ़िया स्वास्थ्यकारक घर बनाये गये और गृहस्थी की साधारण आवश्यकताओं में बिलकुल परिवर्तन हो गया। सहयोग के सिद्धान्तों और प्रदर्शन-कार्य ने मिलकर उपज की बढ़ती और घरों की तरक्की की, साथ साथ और भी कई सुपरिणाम हुए। प्रदर्शन-आन्दोलन का यह अप्रत्यक्ष फल भी हुआ कि दक्षिणी रियासतों में सामाजिक और आध्यात्मिक जाग्रति हो गई।

इस बात में तो कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता कि संयुक्त-राज्य के 'जनरल एजुकेशन बोर्ड' की नीति के सिद्धान्त भारतीय दशा पर अच्छे प्रकार लागू होते हैं। दक्षिणी रियासतों की तरह भारत में भी देहात की समस्या का हल करना आवश्यक है। और जब तक वर्तमान असमर्थ जनता की सहायता का उचित प्रबन्ध नहीं कर दिया जाता तब तक यह कार्य प्रभावशाली नहीं हो सकता। अनिच्छुक जनता को ज़बर्दस्ती शिक्षित बनाने का उद्योग करना असफलता का आलिङ्गन करना और एक बड़े भारी पैमाने पर धन नष्ट करने की ओर अग्रसर होना ही कहा जायगा। सलाह देने से भी अधिक आवश्यक है लोगों में अपनी सन्तान के लिए बेहतर शिक्षा की और अपने लिए बेहतर ग्राम बनाने की इच्छा का पैदा करना, जिसके लिए उन्हें कुछ त्याग, कौटुम्बिक तथा आर्थिक, भी करना होगा। जब तक ये सब बातें नहीं प्राप्त कर ली जायँगी तब तक कोई वास्तविक उन्नति नहीं हो सकेगी।

कुछ तो भारत के देहातों की उन्नति की समस्यायें उसी ढंग पर चल रही हैं जो देखने में संयुक्त-राज्य के ढंग से मिलती-जुलती मालूम पड़ती हैं। पचीस-तीस वर्ष से देहातों में कृषि की उन्नति के विषय में प्रचार और प्रदर्शन भी कहीं कहीं हुआ है। १९०४ से 'कोआपरेटिव बैंक' आन्दोलन प्रधानतया पंजाब और बम्बई प्रान्तों में परिवर्द्धित और विस्तृत हुआ है। पंजाब में ऐसे गाँव मौजूद हैं, जहाँ लोगों की अनुमति से टुकड़े टुकड़े की खेती और ज़मींदारी की बुराई दूर कर दी गई है। यह सहयोग का एक ऐसा परिणाम है जो पचीस वर्ष पहले असम्भव समझा जाता था।

संयुक्त-राज्य की दक्षिणी रियासतों और भारत के ढंगों में अवश्य एक बड़ा अन्तर है। अमरीका में देहातों की उन्नति का दिग्दर्शन, उसका अध्ययन और उसका संचालन समुच्चय रूप से किया गया था। भारत में इस उद्योग का विभाजन करना पड़ा है, जिसके कारण न केवल जनता के धन का अपव्यय हुआ है, बल्कि आन्दोलन के प्रभाव में भी कमी हुई है। इसके अतिरिक्त उन छोटे छोटे अफ़सरों के वर्ग जो ग्रामीण समस्याओं में भाग लेते हैं, ग्रामीणों को लापरवाही की तन्द्रा से जगाकर उन्नति की ओर अग्रसर करने की अपेक्षा उसको निराश करने में सहायक होते हुए-से जान पड़ते हैं। इनमें से एक प्रचारक तो 'कोआपरेटिव बैंक' का काम करता है, दूसरे को अच्छे बीजों और नये औज़ारों के संग्रह का काम सौंपा जाता है, तीसरा काम करनेवाले पशुओं को बीमारी से बचाने का काम देखता है, चौथा गाँवों के स्कूलों का निरीक्षण करता है, पाँचवाँ सफ़ाई के लाभों और दवाखानों के फ़ायदों को समझाता है—इत्यादि। ये सब ऐसी स्वतंत्र संस्थाओं से जुड़े हुए हैं जिनका प्रायः परस्पर कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता। इसके अतिरिक्त इन भिन्न-भिन्न विभागों में कार्यरूप में प्रयुक्त विधियाँ भी एक-सी नहीं हैं। यदि देहाती समाज की

उन्नति के लिए समुच्चय-रूप से कार्य किया जाता और यदि योग्य कार्य-कर्ताओं के एक विभाग-द्वारा पूर्व-निश्चित ढाँचे पर एवं दूरदर्शिता और तात्कालिक उन्नति पर दृष्टि रखकर काम किया जाता तो उतने ही धन से बहुत-कुछ और भी कार्य हो सकता था।

यह कहते हुए प्रसन्नता होती है कि भारतवर्ष के एक ज़िले—पंजाब के गुड़गाँव-ज़िले—में ग्रामीण जनता में जाग्रति पैदा करने के लिए उन्हीं साधनों का प्रयोग किया गया है जिनका अमरीका की दक्षिणी रियासतों में किया गया था। औसत के हिसाब से वहाँ के गाँवों, उनकी सड़कों, घरों और खेती के दोष प्रत्यक्ष रूप से पहचाने गये हैं। इसके पश्चात् उन साधनों से जो लोगों के सामर्थ्य के भीतर हैं, सुधार के उपायों का प्रयोग किया गया है। यदि इस नीति का बीस बरस भी तन-मन से अनुसरण किया गया तो इस बात में सन्देह नहीं कि एक ही दक्ष-विभाग का किया हुआ ग्राम-सुधार का यह कार्य अमरीका की तरह दो परिणाम दिखायेगा—अन्न की उपज कम से कम दूनी हो जायगी, गाँव सुधर जायँगे और एक ऐसी अनिवार्य ग्राम-शिक्षा के लिए क्षेत्र तैयार हो जायगा जिसके लिए लोग ख़ुद हाथ बँटाने के लिए इच्छुक और तैयार होंगे। अमरीका की दक्षिणी रियासतों की तरह इस नूतन आन्दोलन का जो सबसे अग्रगामी और प्रभावशाली कार्य होना चाहिए वह है सहयोगमय कृषि-प्रचार और प्रदर्शन की नीति। आज-कल के स्वतन्त्र विभाग के कार्य जिसका आज-कल किसान से सम्बन्ध है, भविष्य में एक ही एजेन्सी द्वारा किये जाने चाहिए। इस प्रकार लोगों को अपनी आप मदद करना और सरकार-द्वारा स्थानीय आन्दोलनों की सहायता के लिए दिये हुए धन का उपयोग और मान करना सिखाया जा सकेगा। भविष्य के भारत की उन्नति में जन-समितियों और सहयोग-समितियों का क्रमिक विकास सरकार की सहायता के लिए बहुत ही अच्छा साधन होगा।

भारत में जहाँ प्रारम्भिक शिक्षा की वर्तमान अवस्था बहुत ही असंतोषजनक है, अभी तक इससे उसी वर्ग की जनता के बच्चे लाभ उठा रहे हैं जिनका रोज़गार ही पढ़ने-लिखने का है या जो जीविका के लिए पढ़ने-लिखने पर निर्भर हैं। परन्तु साधारण ग्रामीण जनता की शिक्षा-विमुखता और उसके प्रति प्रतिकूल विचारों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। मनुष्य-गणना की पिछली रिपोर्ट से भी इस बात का समर्थन होता है कि गत दस वर्ष में बीस वर्ष से ऊपर की उम्रवालों जन-संख्या की साक्षरता में कुछ भी उन्नति नहीं हुई। भारत के ७ लाख गाँवों में से क़रीब तीन-चौथाई गाँवों में एक भी पाठशाला नहीं है। इसका उत्तरदायित्व बहुत-कुछ तो सरकार की उपेक्षा पर है। परन्तु ग्रामीण जनता की अरुचि भी इसमें एक बड़ा कारण है। ९२ प्रतिशत जनता अभी तक निरक्षर है। पुलिस के आधे आदमी लिख-पढ़ नहीं सकते। देहात में जो स्कूल हैं भी उनमें विद्यार्थियों की संख्या भी कम ही रहती है। वहाँ निम्न श्रेणी के लोग ही अधिकतर होते हैं और बड़े बड़े हलक़ों में तो इस संख्या में और भी शोचनीय ह्रास हुआ है।

अगर अमरीका के अनुभवों का काफ़ी प्रयोग किया जाय तो अनिवार्य देहाती शिक्षा की स्थापना में बड़ी बचत हो सकती है।

अमरीका के न्यूइँग्लैंड में पहले देहाती ज़िलों में कई-एक छोटी, भद्दी, गन्दी प्रकाशहीन एक ही कमरे में लगनेवाली कक्षा के लिए एक मामूली वेतन पानेवाली युवा स्त्री नियुक्त की जाती थी। उपस्थिति 'फ़सली' रहती थी अर्थात् मन में आया तो मा-बाप अपने लड़कों को भेज देते और न आया तो नहीं। लोगों को रुचि नहीं थी और कुछ समय के पश्चात् बहुत से स्कूल बन्द हो गये। ऐसे ढंग का परिणाम सिर्फ़ अपव्यय और अधकचरापन ही होता है। देहातों में शिक्षा पाने के योग्य एक करोड़ बीस लाख लड़के-लड़कियाँ थे, इसलिए इनको शहरवालों की समकक्ष शिक्षा देने का प्रबन्ध करना आवश्यक समझा गया। १८६५ में मेसाचुसेट की रियासत ने एक क़ानून बनाया, जिसके द्वारा बहुत-से छोटे छोटे स्कूलों को तोड़कर उनका एक सब प्रकार के साधनों और उपादानों से सम्पन्न केन्द्रीय पाठशाला के रूप में पुनर्निर्माण हुआ। चार बरस के बाद एक और क़ानून बनाया गया,

जिससे इन केन्द्रीय स्कूलों में जाने के लिए बच्चों के लिए सार्वजनिक खाते से सवारी का प्रबन्ध हुआ। कान्कार्ड नगर के मातहत की देहातों में यह ढंग सबसे पहले सफलीभूत हुआ। वहाँ सन् १८७० और १८८० के बीच १२ छोटे स्कूलों को एक केन्द्रीय स्कूल का रूप दिया गया। तब से संयुक्त-राज्य की बत्तीसों रियासतों में इस सुसंगठन का कार्य बराबर चल रहा है। वस्तुतः सभी रियासतों में समीपवर्ती देहातों से बच्चे इन केन्द्रीय स्कूलों में एक प्रकार की चार पहियेवाली गाड़ी में लाये जाते हैं, जिसमें छत और अगल-बग़ल खिड़कियाँ होती हैं। इन गाड़ियों का प्रबन्ध स्थानीय अधिकारियों की तरफ़ से होता है और ये ठेके पर चलती हैं। परिणाम में आशापूर्ण सफलता मिली है। इन केन्द्रीय स्कूलों में उपयुक्त इमारतों और योग्य उपादानों का प्रबन्ध, अच्छी अच्छी कक्षाओं को पढ़ाने तथा विस्तृत पाठ्यक्रम चलाने के लिए काफ़ी अध्यापकों का रखना सम्भव हो सका है। देहाती शिक्षा और शहरी शिक्षा के बीच की एक बड़ी खाई इस प्रकार पाटी जाकर बराबर की गई है।

इस बात का कोई कारण नहीं जान पड़ता कि इस प्रकार के संगठन की नीति का भारत में अनुसरण न किया जाय। आवश्यकता सिर्फ़ दो बातों की है—(१) २० से ३० तक बच्चों के बैठने लायक देहातों के उपयुक्त चार पहियेवाली गाड़ियों को तैयार करना और (२) धन का प्रबन्ध करना। हाँ, भिन्न-भिन्न ज़िलों का पहले अध्ययन कर लेना होगा और तब उनको उपयुक्त भागों में भावी केन्द्रीय स्कूल के विचार से बाँटना होगा। समीपवर्ती छोटे छोटे गाँवों में से बच्चे ठेके पर चलनेवाली गाड़ियों में प्रतिदिन लाये और वापस पहुँचाये जा सकते हैं। इस प्रकार प्रत्येक गाँव में एक एक पाठशाला के बनाने में लगाया जानेवाला बड़ा ख़र्च बचाया जा सकेगा और वह धन गाड़ियों के खरीदने और आने जाने के ख़र्च के लिए प्राप्त हो सकेगा। भारत के सात लाख गाँवों में प्रत्येक में एक एक पाठशाला बनाने के बदले एक लाख से लेकर दो लाख तक सुसम्पन्न केन्द्रीय स्कूल बनाये जा सकेंगे, जिनमें कई एक शिक्षित अध्यापक रक्खे जा सकेंगे और सब कक्षाओं को भरने के लिए काफ़ी छात्र प्राप्त हो सकेंगे।

यह सुसंगठित केन्द्रीय स्कूल बच्चों को शिक्षा देने के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ काम कर सकेगा। इसके द्वारा ऐसे ऐसे आन्दोलनों का प्रबन्ध भी अच्छे प्रकार हो सकेगा जैसे 'कोआपरेटिव-बैंक-संघ'-द्वारा उपज का विक्रय, सुविधापूर्ण उन्नत हाटों का स्थापन, कृषि के उपयुक्त छोटे छोटे नये प्रयोगों की सफलता का प्रदर्शन, बढ़िया बीज का वितरण, स्वास्थ्य-प्रबन्ध, अच्छे बढ़िया घरों और रास्तों का प्रबन्ध। फलस्वरूप उनका प्रभाव और उनकी वृद्धि अवश्यम्भावी है। प्रधानाध्यापक ग्राम्य-जीवन का स्वभावतः एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हो जायगा। पुलिस और कारिन्दों के ज़रिये की अपेक्षा लोग सर्वसाधारण रूप में एक दूसरे ही प्रकार से सरकार के अधिक समीप होंगे। भविष्य के केन्द्रीय स्कूलों के लिए चुने जानेवाले गाँवों को उनके भविष्य की ज़िम्मेदारियों के लिए तैयार करना होगा। संघ (कोआपरेटिव) से प्रदर्शन का ज़ोरदार कार्यक्रम कृषि की उन्नति के लिए एक प्रकार से प्रथम सीढ़ी होगा। इसके पश्चात् जब लोग अपने बच्चों को उन्नत शिक्षा देने की व्यापक रूप से इच्छा प्रकट करेंगे और जब वे कम से कम एक तिहाई खर्च चला लेने के लिए तैयार हो जायँगे उस समय स्थानीय अधिकारी को केन्द्रीय स्कूल की स्थापना करके इस आन्दोलन की पीठ ठोंकनी होगी। इस प्रकार लोग अनुभव करेंगे कि हमने इसी फल को पाने के लिए कार्य किया था और यदि हमने इसके लिए मेहनत न की होती तो यह फल प्राप्त न हो पाता।

वास्तव में इस ढंग पर चलने से किसान लोग टुकड़ेबन्दी की खेती करने और इस प्रकार उपज में भारी हानि होने के दोष को समझ जायँगे। इसके अतिरिक्त सब काम पंचायत या संघ-रूप से होने लगेगा। बेकारी की समस्या भी बहुत-कुछ हल हो जायगी और देश का बड़ा भारी कल्याण होगा।

प्रेम-संगीत

तुम अपनी हो जग अपना है,
किसका किस पर अधिकार प्रिये ?
फिर दुविधा का क्या काम यहाँ,
इस पार या कि उस पार प्रिये !

देखो वियोग की शिशिर रात
आँसू का हिमजल छोड़ चली,
ज्योत्स्ना की वह ठंडी उसाँस,
दिन का रक्तांचल छोड़ चली;

चलना है सबको छोड़ यहाँ,
अपने सुख-दुख का भार प्रिये !
करना है कर लो आज उसे,
कल पर किसका अधिकार प्रिये !

हैं आज शीत से झुलस रहे
ये कोमल अरुण कपोल प्रिये !
अभिलाषा की मादकता से,
कर लो निज छवि का मोल प्रिये !

इस लेन-देन की दुनिया में
निज को देकर सुख को ले लो,
तुम एक खिलौना बनो स्वयम्,
फिर जी भर कर सुख से खेलो;

पल भर जीवन—फिर सूनापन,
पल भर तो लो हँस बोल प्रिये !
कर लो निज प्यासे अधरों से
प्यासे अधरों का मोल प्रिये !

सिहरा तन, सिहरा व्याकुल मन,
सिहरा मानस का गान प्रिये !
मेरे अस्थिर जग को दे दो,
तुम प्राणों का वरदान प्रिये !

भर भर कर सूनी निःश्वासें
देखो सिहरा-सा आज पवन
है ढूँढ़ रहा अविकल गति से,
मधु से पूरित मधुमय मधुवन;

यौवन की इस मधुशाला में,
है प्यासों का ही स्थान प्रिये !
फिर किसका भय ? उन्मत्त बनो,
है प्यास यहाँ वरदान प्रिये !

हँस कर प्रकाश की रेखा ने
वह तम में किया प्रवेश प्रिये !
तुम एक किरण बन दे जाओ
नव-आशा का सन्देश प्रिये !

अनिमेष दृगों से देख रहा
हूँ आज तुम्हारी राह प्रिये !
है विकल साधना उमड़ पड़ी
होठों पर बन कर आह प्रिये !

मिटनेवाला है सिसक रहा,
उसकी ममता है शेष प्रिये !
निज में लय कर उसको दे दो
तुम जीवन का सन्देश प्रिये !

लेखक,
श्रीयुत भगवतीचरण वर्मा

भारतीय नृत्य और रागिनीदेवी

लेखक, श्रीयुत गणेशप्रसाद द्विवेदी, एम० ए०, एल-एल० बी०

संगीत और नृत्य की ओर इस समय लोगों का विशेष झुकाव है। यहाँ तक कि उनकी शिक्षा की देश के स्कूल-कालेजों में भी व्यवस्था की गई है। परन्तु लेखक महोदय ने जो नया विचार इस लेख में प्रकट किया है, आशा है, इस कला के विशेषज्ञों का ध्यान उसकी ओर अवश्य जायगा।

[राधा]

ला-प्रेमियों के लिए यह हर्ष का विषय है कि आज दिन शिक्षित समुदाय संगीत की सर्वाङ्गीण उन्नति में काफ़ी दिलचस्पी ले रहा है। अभी तक तो यह दिलचस्पी गायन और वादन तक ही परिमित थी, पर अब थोड़े दिन से नृत्य-कला की ओर भी लोग बहुत कुछ उद्ग्रीव हो रहे हैं। यहीं तक नहीं, संगीत की उन्नति के लिए एक अच्छा खासा आन्दोलन-सा चल रहा है। सबसे अधिक सन्तोष की बात तो यह है कि हमारे स्कूल-कालेज के छात्रों और छात्रियों के मन में यह बात भली भाँति जम गई है कि बिना संगीत के ज्ञान के सारी शिक्षा अधूरी है।

कुछ दिन पहले तक नृत्य की कौन कहे, मामूली गाना-बजाना भी वेश्याओं और कत्थकों का ही काम समझा जाता था। अपने को भले घर का समझनेवाला कोई भी मनुष्य व्यक्तिगत रूप से संगीत का अभ्यास अपमान-जनक समझता था और जब पुरुषों का ही यह हाल था तब स्त्रियों की दशा तो सहज ही अनुमेय है। पर सौभाग्य से समय के साथ-साथ यह मनोवृत्ति बिलकुल ही बदल गई। अब प्रतिष्ठित से प्रतिष्ठित घरों की वयस्का कन्यायें संगीत-कान्फ़रेंसों के रंग-मंच पर नृत्यकला की प्रतियोगिता में भाग ले रही हैं और इनके अभिभावक अति यत्न से और यथेष्ट अर्थ-व्यय करके पुरानी नृत्य-कला के उस्तादों को खोज निकाल रहे हैं और उनसे बाक़ायदा तालीम दिला रहे हैं। ये सब सचमुच बड़े अच्छे चिह्न हैं। पर ऐसी दशा में वास्तविक नृत्य-कला के प्रेमियों के सामने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। जैसे प्राचीन प्रबन्ध गायन (ध्रुपद, होली आदि) का ध्वंसावशेष ही बहुसंख्यक सस्ते उस्तादों को याद रह गया है और वे टूटी-फूटी ठुमरी और गज़लों के सिवा सांस्कृतिक संगीत की शिक्षा देने में असमर्थ हैं, वैसे ही उत्तर-भारत के नाच सिखानेवाले कत्थकों के पास भी यह विद्या बहुत ही गिरी अवस्था में विद्यमान रह गई है।

अब यहाँ भारत की प्राचीन नृत्यकला के सम्बन्ध में कुछ उल्लेख करना आवश्यक है। इतिहास से प्रकट होता है कि संगीत पुराकाल के हिन्दू-जीवन का एक विशेष अंग था। दिन-रात के प्रत्येक प्रहर, बल्कि प्रत्येक घंटे के लिए अलग अलग राग-रागिनियाँ नियत करने का यही अर्थ था कि हिन्दुओं में चौबीस घंटे संगीतमय जीवन बिताने की प्रथा थी। ऐसी अवस्था में कदाचित् नृत्यकला प्रत्येक हिन्दू कन्या के लिए अनिवार्य रही होगी। खेद है कि मध्यकालीन युग में उत्तर-भारत में विदेशी शासन और संस्कृति के प्रभाव से यह स्थिति नहीं रह सकी। इन्हीं कारणों से हिन्दू घरों में दिनचर्या के रूप में संगीत, विशेषतः स्त्रियों में नृत्यकला का अभ्यास ख़तरे से खाली नहीं समझा जा सका। पर हमारे विदेशी शासकों को यहाँ की नृत्यकला विशेष प्रिय लगी। फलतः इसे व्यवसायी मनोरंजकों (कत्थकों और वेश्याओं) ने अपना लिया।

पर यहाँ इस बात का स्मरण रखना आवश्यक होगा कि भारतीय संगीत और नृत्य मुख्यतः धर्म तथा उपासना-मूलक है। रागों के ध्यान तथा उनकी परिभाषा से यह स्पष्ट है। नृत्यकला-सम्बन्धी जो मुद्रायें भरत के नाट्य-शास्त्र में वर्णित हैं तथा जो कला के नमूनों के रूप में अजन्ता, एलोरा आदि की गुफाओं में मिलती हैं, उनमें से अधिकांश का भाव आध्यात्मिक अथवा धार्मिक है। पर जब यह कला हिन्दू-परिवार से निकलकर वारांगना तथा उसके पेशेवर उस्ताद के यहाँ पहुँची तब उसके कायापलट के साथ ही साथ उसका आत्म-परिवर्तन भी हो गया। दूसरे शब्दों में यह कि उसका एकमात्र विषय केवल

[शिव-पार्वती-नृत्य]

शृंगार ही रह गया। इस समय के दरबारी उस्तादों और प्रवीण नर्तकियों के लिए और दूसरा विषय हो ही क्या सकता था?

पर संगीत या साहित्य में शृंगार स्वयं कोई हेय पदार्थ नहीं है। प्राचीन से प्राचीन आचार्य शृंगार को ही प्रथम रस मानता है—भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक सभी आचार्यों ने शृंगार को प्रधान रस माना है। पर समय के फेर से नृत्यकला में आकर उसका बड़ा दूषित रूप प्रकट हुआ और फिर आगे चलकर वही सब कुछ हो गया। कत्थकों और वेश्याओं को तो केवल अपने आश्रय-दाताओं को संतुष्ट करना था। दरबारी जलसों में नृत्यकला के प्रदर्शन के अवसरों पर उस्तादों में परस्पर प्रतियोगिता की स्पर्द्धा में इस कला का वैज्ञानिक 'टेकनीक' या ढाँचा गूढ़ से गूढ़तर होता गया। पर इसके साथ ही इसका सुकोमल और सुन्दर अंग भी तिरोहित होता गया। फल

यह हुआ कि एक विशेष अवधि के बाद भारतीय नृत्य से वह आध्यात्मिक तथा धार्मिक भाव एक-दम लुप्त हो गया जो दर्शकों के मनोरंजन के साथ ही साथ उनके आत्मिक उत्थान की भी क्षमता रखता था।

अब वर्तमान समय में उत्तर-भारत के कत्थकों में जो नृत्य रह गया है वह केवल वैज्ञानिक है। उसमें कला-जनित सौंदर्य शून्य के अनुपात में है। उसका संगीत-शास्त्र से भी केवल एकांगी सम्बन्ध रह गया है। स्थूल रूप से संगीत के दो अंग हैं—स्वर और लय (ताल)। अत्यन्त खेद के साथ कहना पड़ता है कि वर्तमान कत्थकीय नृत्य का सम्बन्ध केवल लय या ताल से है। ताल को हम संगीत-विद्या का व्याकरण कह सकते हैं। पर व्याकरण भाषा का अनुगामी होता है न कि इसका उलटा। साहित्यिक क्षेत्र में यह लोक-विदित है कि श्रेष्ठ कलाकार ने व्याकरण की वहीं तक परवा की है जहाँ तक वह उनकी सुन्दर और सुकुमार रसमयी रचना में सहायक हो सका है। बस। परन्तु यहाँ तो भक्तिकाव्य की भाँति सारा काव्य ही व्याकरण के विविध नियमों के उदाहरण के रूप में रचा जाता है! कत्थकी नाच में और होता क्या है? नर्तक विविध तालों की स्थायी क़ायम कर उनमें तबले के 'बोल' 'परन' अदा कर दिया करता है। नाच की सारी ख़ूबी इन 'टुकड़ों' के अदा करने में ही रह गई है। यों तो कोई एक हारमोनियम या सारंगीवाला बाजा लेकर बैठ जाता है, पर उसका भाग सारे नाच में नहीं के बराबर है, क्योंकि नाचनेवाले को जिस ताल के क़रिश्मे दिखाने होते हैं उस ताल में वह किसी गत या 'लहरे' की स्थायी बजाता रहता है—शुरू से आख़िर तक सिर्फ़ वही एक स्थायी! उसे सिर्फ़ तबलेवाले की लय का पीछा करना पड़ता है, और तबलेवाला नर्तक की लय देखता है। चाहे नाचनेवाला जिस किसी भी रस या भाव की सृष्टि करने का प्रयास करे, पर वहाँ सिर्फ़ एक ही स्थायी बजेगी। पर बात तो असल में यह होती है कि रस या भावसृष्टि की ओर नर्तक का ध्यान ही नहीं रहता। इसकी शायद शिक्षा ही उसे नहीं मिली। उसे तो केवल तरह तरह के पेचीले टुकड़े और तिहाइयाँ दिखानी हैं और उनका सम्बन्ध केवल ताल या तबले के बोलों से रहता है। नर्तक की श्रेष्ठता की नाप-जोख की एक-मात्र कसौटी सिर्फ़ लय रह गई है। किसकी लय कितनी 'भागती' है, किसमें कितनी आड़-कुआड़ है, कौन तिताले के बोल में झपताल और आड़ा चौताले की सवारी के तोड़े अदा करता है या कौन पंद्रह मात्राओं या साढ़े सत्रह मात्राओं की सवारी नाचता है इत्यादि। एक कत्थक को हमने साढ़े सत्रह और उन्नीस मात्राओं की सवारी में नाचते और तोड़े लेते हुए देखा। उसके अनुसार यह बड़े प्रशंसा का काम था। पर मैं कहता हूँ कि इन करिश्मों को दिखलाने के लिए नाचने की ज़रूरत ही क्या है?

[गरुड़-नृत्य]

केवल तबले में ही न ये बोल और टुकड़े सुन लिये जायँ। कोई भी 'नाचकरम' की अच्छी संगत करनेवाला तबलिया कलाई में घुँघुरू बाँधकर उन सब तोड़ों और टुकड़ों को सुना सकता है—बिना किसी नाच या नाचनेवाले के! कभी कभी नाचनेवाले किसी कविता का पद्य पढ़कर फिर उसे नाच कर अदा करते हैं। पहले वह लय के साथ इन पद्यों को ताल देकर नाच बन्दकर पढ़कर सुना देता है, फिर नाचकर घुँघुरू से वही बोल अदा करता है। यों तो पद्य तबले का विषय नहीं है, पर इन 'नाचकरम' के छंदों की रचना कुछ विचित्र होती है। इनमें कविता और तबले के बोलों का कुछ ऐसा सम्मिश्रण-सा होता है कि तबलिये भी उन्हें अदा कर लेते हैं। इन पद्यों में नाम के लिए प्रायः शिव, कृष्ण, सरस्वती, गणेश या नारद आदि संगीत से सम्बन्ध रखनेवाले किसी देवी या देवता की स्तुति होती है और 'तिरकिट तक् धा', 'कड़ान् धा' आदि तबले के बोलों से इस प्रकार दूध-बूरे की तरह मिली गुँथी होती है कि उसका मुख्य सम्बन्ध ताल से ही मानना पड़ेगा और संगत करनेवाला चतुर तबलिया उन्हें अदा करता ही है।

अब शंका हो सकती है कि 'नाचकरम' करनेवाले जो 'भाव का काम' करते हैं, क्या वह कला नहीं है। उत्तर में यही कहना पड़ेगा कि इस 'भाव के काम' को कला के अंदर मानने में किसी भी भले आदमी को लज्जा आवेगी। और फिर एक बात और भी है। प्रतिष्ठित या उच्च कोटि के कत्थक 'भाव का काम' करते भी नहीं, ख़ास कर जलसों में। इस भाव के काम में होता क्या है। इसमें निन्यानवे फ़ी सदी उस 'पनिहारिन' की लीला का नाट्य किया जाता है जो अकेली 'पनघट' पर गई थी वहाँ उसे नटनागर ने किस तरह छेड़ा, मटकी गिराई और वह जैसे-तैसे अपना पल्ला छुड़ा भाग आई। बस। क्या यही हिंदुओं का जगत्प्रसिद्ध सांस्कृतिक नृत्य (Clanical dance) है जिस पर आज संसार का नृत्यप्रिय समाज आकर्षित हो रहा है? क्या भारत का नाट्यशास्त्र तथा अजंता आदि के चित्र हमें यही बतलाते हैं? जानकारों से मेरी अपील है कि वे इस विषय पर उचित प्रकाश डालें।

पहले मेरी भी धारणा कुछ ऐसी ही थी। पर अब मेरी धारणा बदल गई है। मेरा दृढ़ विश्वास-सा हो गया है कि इस वर्तमान कत्थकीय नृत्य में प्राचीन भारतीय नृत्य का ध्वंसावशेष भी नहीं रह गया है। इस गत-तोड़े के नाच को सांस्कृतिक नृत्य समझना बड़ा भ्रम है। यह कहीं का जातीय या लौकिक नृत्य (Folk dance) भी नहीं कहा जा सकता। यह तो दरबारों की चीज़ है, जहाँ एक उस्ताद दूसरे उस्ताद का रंग फीका करने के लिए तालों की अजीब-ग़रीब बंदिशें बाँधा करते थे। आज-कल लोग कला और संगीत की उन्नति की बात बहुत करते हैं। नगर नगर में संगीत कान्फ़रेंसों और 'प्रतियोगिताओं' की धूम है। अमीर-ग़रीब सभी श्रेणी के अभिभावक यथाशक्ति धन और समय ख़र्चकर अपने बच्चे-बच्चियों को नाच-गाना सिखला रहे हैं। चेतावनी ज़रा बड़ा 'बोल' है, पर मैं अपने विचार उनके सम्मुख अवश्य रख रहा हूँ। उन्हें यह ख़ूब जान लेना चाहिए कि वे अपने बच्चों को क्या सिखा रहे हैं और उन्हें क्या सिखाना चाहिए।

अभी थोड़े दिन की बात है। प्रयाग में प्रसिद्ध अमेरिकन महिला रागिनी देवी के साथ एक कुशल कर्नाटकी नर्तक श्री गोपीनाथजी आये थे और उक्त देवी जी के साथ आपने अपनी कला का प्रदर्शन भी स्थानीय मोती-महल थियेटर में किया था। ये ट्रावनकोर राज्य के हैं। इनसे परिचित होने पर मुझे मालूम हुआ कि वहाँ 'केरल-कला-मंडलम्' नामक एक अग्रगण्य नृत्य-विद्यालय है, जिसके आप स्नातक हैं। इनके वंश में चार सौ वर्ष से नृत्यकला का अभ्यास 'ख़ानदानी' ढंग से होता आया है। कर्नाटक और केरल आदि में मुस्लिम-संस्कृति तथा शासकों का प्रभाव नहीं के बराबर पड़ा। वहाँ के 'कथाकाली'-नृत्य के देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमें भारत की प्राचीन नृत्यकला यथासंभव अक्षुण्ण रक्खी गई है। इनकी मुद्राओं, इनकी भावभंगी, इनकी गति तथा इनकी रसवर्णना सभी बातें हमें अजंता आदि के प्राचीन गुफा-चित्रों तथा भरत की परिभाषाओं की याद दिला देते हैं। इनके अधिकांश नृत्यों का संबंध पौराणिक तथा आध्यात्मिक कथाओं से है।

यहाँ गोपीनाथ और रागिनी देवी ने मिलकर कुछ पौराणिक नृत्य जैसे 'शिव-पार्वती' तथा 'राधा-कृष्ण' आदि दिखलाये थे। इन नृत्यों की सभी बातों में प्राचीन भारतीय संगीत और संस्कृति की छाप स्पष्ट थी। 'मेक-अप' के विषय में मतभेद हो सकता है, पर विषय और व्यक्तीकरण यथासंभव ठीक थे।

रागिनी देवी और गोपीनाथ के विविध नृत्यों की पृथक् पृथक् आलोचना अपेक्षित है। किसी अधिकारी आलोचक को इनके नृत्यों की ओर ध्यान देना चाहिए। पर यहाँ मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि जिन्हें वास्तविक भारतीय नृत्य से प्रेम है और जो उसे सीखना चाहते हैं वे दक्षिण के कलाकारों की शरण लें। मुझे बतलाया गया है कि रागिनी जी सारा हिंदुस्तान और 'विशाल भारत' आदि घूमीं फिरीं, पर अंत में 'केरलकलामंडलम्' में ही इनकी नृत्य-संबंधी ज्ञान-पिपासा संतुष्ट हुई। ये आज पाँच वर्ष से भारतीय संगीत के सीखने और उसके प्रचार के लिए अपने जीवन की सारी शक्तियाँ खर्च कर रही हैं। अब ये पाश्चात्य देशों में इसके प्रचार के लिए यात्रा करने वाली हैं। ईश्वर इनको सफलता दे। गोपीनाथ जी भी इनके साथ हैं। गोपीनाथ जी के अन्य नृत्यों के साथ इनके 'मृगया' और 'गरुड़-नृत्य' बड़े ही मार्मिक हुए। जिस भारतीय नृत्य के सौंदर्य और उसके लोकामयकारी स्वरूप से आकर्षित हो अमरीका, योरप और रूस आदि सुदूर देशों से लोग आकर इसके सीखने में अपना सर्वस्व समर्पण कर देते हैं उसके वास्तविक स्वरूप से कम से कम हम भारतीयों को तो अवश्य ही परिचित रहना चाहिए। और फिर जो यहाँ के संगीत के संबंध में कुछ जानकारी का दम भरते हैं वे यदि इस विषय में भ्रांत हों तो यह लज्जा की ही बात कही जायगी। जब मतभेद है तब कोई भी भ्रांत हो सकता है। ऐसी अवस्था में जानकारों से मेरी अपील है कि लेखों-द्वारा इस विषय पर प्रकाश डालने का कष्ट उठावें। भारतीय संस्कृति-संबंधी प्रश्न होने के नाते यह उनका कर्त्तव्य कहा जा सकता है। और किसी को भी इसके महत्त्व-पूर्ण होने में संदेह नहीं हो सकता।

पीड़ा से

लेखक, श्रीयुत रुस्तम सैटिन

चंचल शैशव की पतझड़!
ओ, युवक हृदय की पीड़ा!
क्यों, रह रह कर उठती हो?
क्यों, करती हिय में क्रीड़ा?

कोमल, कोमल तारों पर,
क्यों आ, आकर मँडराती?
क्यों, मेरे भोले मन को,
यह राग नया सिखलाती?

पीड़े! यह कैसा नर्तन,
मेरे सूखे अधरों पर?
स्मित-अवगुण्ठन यह कैसा,
तेरे कृत्रिम जीवन पर?

गोधुलि-बेला में आती,
लेकर आँसू की माला।
क्यों, मुझे रुला जाती हो?
ओ, निष्ठुर पीड़ा बाला

निद्रा के सूनेपन में,
तुम सपने बनकर आती।
विस्मृति—सुख दो घड़ियों का,
क्यों, उसे लूट ले जाती?

ओ, त्रिभुवन भर की पीड़ा!
तुम घिर, घिरकर हो आती॥
शैशव के सूने नभ में,
घनघोर घटा बन जाती॥

घनघोर घटा-सी पीड़ा!
उर आशा-दीप छिपाये॥
क्यों आती हो जीवन में,
मायावी रूप बनाये?

पीड़ा! तेरे आँगन में,
खेलूँगा आँख-मिचौनी॥
सुख, दुख दोनों आवेंगे,
जब करने को मनमानी॥

तिब्बत में आठ वर्ष भेड़ें चरानेवाले एक भारतीय पंडित की सच्ची कहानी जिनकी लाश अब भी वहाँ सुरक्षित रक्खी है।

"तुम्हारे कितने बाप हैं?" लड़की ने पूछा।

लेखक, श्रीयुत राहुल सांकृत्यायन

(१)

(गो-ो-ो) ङोन्-पो दब् ले थोङ् (ला-र) दुड्।
क्यि-पो चे पा ङन् (ला-र) जुङ्।
नग्-पो छेर-मा शू (ला-र) दुड्।
सेम्-पा चो-जे मि (ला-र) दु ॥१॥*

* हरी पत्तियों को देखते समय,
सुखी होने की स्मृति हो आती है।
काले काँटों के लगते समय,
चित्त में वेदना-मात्र ही रह जाती है ॥१॥
चित्त को दुखित मत करो,
(यह) घटा (जैसी) सुन्दर पर्वत कन्या है।
घटा फट जाने पर,
सुंदर भाग्य (-सूर्य का उदय) हो सकता है ॥२॥
चँवरियाँ हरित उपत्यका का भूषण हैं,
हरित उपत्यका में श्वेत पुष्प हैं।
यदि (उस) हरित उपत्यका को हानि न पहुँची,
तो फ़ीरोजे जैसा भाग्य भांडार खुल जायगा ॥३॥

(सो-ो-ो) सेम्-पा चो-व म-(ला-ा) नङ्।
रि-सङ् सुग्-पा सं-(ला-ा) मो।
सुग् पा तङ्-वइ योइ-(ला-ा) सु।
क्यि-पो ले-का यो-(ला-ा) डो ॥२॥
(सो-ो-ो) ज़ोम्-ब्रा पङ्-गी ग्यन्-(ला-ा रे।
पङ्-गी मे-तोग् कर्-(ला-ा) पो।
पङ्-ला जो वा म (ला-ा) तोङ्।
युडा ले-क्यी खोर् (ला-ा) योङ् ॥३॥

न के दस बज चुके हैं। रात की वर्षा के बाद आज मेघ-रहित आकाश में सूर्य का प्रखर प्रकाश फैल रहा है। पत्थरों से शून्यप्राय ता-नग् के पहाड़ों पर घास की हरी-सी मख़मल बिछी हुई दूर से दिखाई दे रही है, जिसमें अगणित चँवरियाँ और भेड़-बकरियाँ चर रही हैं। नीचे की ओर दूर एक विस्तृत उपत्यका में ब्रह्मपुत्र की रुपहली पतली-सी धार भूल-भुलैया खेलती हुई जा रही है। उससे अति दूर ऊपर की ओर हटकर एक नाले में कितने ही चँवरी के बालों के काले काले तम्बू लगे हुए हैं, जिनकी फटी छतों से काला धुआँ आकाश में उठ कर दूर तक फैल रहा है। इन तम्बुओं के पास बँधे कुत्तों की समय समय पर होनेवाली 'हाउ-हाउ' की आवाज़ के सिवा और कोई मानव-चिह्न दिखाई नहीं पड़ता।

तम्बुओं के पीछे की पहाड़ी रीढ़ पर बहुत दूर दक्षिण की ओर एक तरुण बैठा हुआ है। अपने लम्बे शरीर, असाधारण गौर वर्ण, भूरे केश और बड़ी बड़ी आँखों के कारण, मैले पट्टी के छुपे (भोटिया चोग़े), और चमड़े के हंगो (जूते) के रहते भी वह भोट-देशीय नहीं जान पड़ता। युवक के एक ओर बकरी के बालों का एक मोटा झोला, डंडा और गोफन पड़ा हुआ है, दूसरी ओर रीछ जैसे बालों और पीली आँखोंवाला एक भीमकाय काला कुत्ता बैठा हुआ है, जो रह रह कर सहलाने की इच्छा से अपनी गर्दन को युवक की गोद में डाल देता है। किन्तु चिन्तामग्न युवक आज उधर ध्यान ही नहीं देता। उसके सामने कुछ क़दमों पर सफ़ेद ऊनी छुपा और कनटोप जैसी टोपी पहने झोली और गोफन लिये ए[...] दस वर्ष की लड़की खड़ी है।

लड़की ने कुछ और आगे बढ़कर कहा—"अबू-ने-ले,* तुम तो पहले गीत गाने के लिए कितना आग्रह किया करते थे। एक गीत गाओ। एक छोटा-सा गीत सुनाओ। आज मेरे तीन गीत गाने पर भी क्यों तुम ऐसे चुपचाप हो?"

युवक अब भी चिन्तामग्न रहा।

लड़की उदास होकर—तुम बा ला (पिता) की उन दो चार गालियों से तो दुखी नहीं हो गये? काम में ग़फ़लत होने पर मालिक ऐसा किया ही करते हैं—मारते भी हैं; किन्तु नौकर उनका ख़याल थोड़ा ही करते हैं।

युवक ने अपनी बड़ी बड़ी आँखों को ऊपर उठाया। उसे डोल्-मा के गीत का स्वागत न करने का पछतावा होने लगा। उसे ता-नग् में नौकरी करते एक साल हो गया था। इस सारे समय में डोल्-मा (उसके मालिक की लड़की) से बढ़कर सहृदय मित्र दूसरा उसे नहीं मिला था। ता-नग् में आते समय उसका भोट-भाषा का ज्ञान नहीं-सा था, उसके सिखाने में डोल्-मा गुरु बनी। एक बार बीमार पड़ जाने पर घर भर में डोल्-मा ही थी, जो हर समय पास मौजूद रहकर उसकी सेवा-शुश्रूषा में लगी रहती थी। एक अनपढ़ ग्रामीण कन्या होते हुए भी डोल्-मा के बर्ताव में एक प्रकार की मधुरता थी। अपने और देशवासियों की भाँति यद्यपि डोल्-मा ने भी अभी [...] दीर्घकाल के स्पर्श से अपने शरीर को अपवित्र नहीं [...] दिया है, तो भी चेहरे या हाथ जहाँ से भी मैल की [...] पपड़ी निकल गई है, वहाँ का सुन्दर गुलाबी रंग चमक[...] लगता है। गोल होने पर भी डोल्-मा का चेहरा उतना चिपटा नहीं है, उसकी आँखें भी अपेक्षाकृत अधिक खुली हुई हैं। नाक भी एक-दम कपोलशायिनी नहीं है। इन बातों के कारण डोल्-मा का मुख और शरीर [...] मालूम होता है।

[स्मृति घुटनों के बल बैठ गये और मालकिन उनकी पीठ पर आसन जमा कर दूध दुहने लगी।]

युवक ने बड़े प्रयत्न से मुख पर हँसी की रेखा लाकर कहा—

"नहीं, डोल्-मा! कोई बात नहीं है। आज पहाड़ों के [...]ङ् (=हरी उपत्यका) को देखकर मुझे अपनी जन्म-भूमि की याद आ गई। हमारे यहाँ पहाड़ तो नहीं हैं, किन्तु [...]ङ् (=मैदान) की हरियाली प्रायः साल भर देखने में आती है।"

"अबू-ने-ले! क्या तुम्हारे यहाँ हमारी चङ्-पो जैसी नदी भी है?"

"इतनी ही दूर पर और इससे बड़ी। लेकिन पहाड़ न होने से हम उसे देख नहीं सकते।"

"पहाड़ न होने पर तुम्हारी चँवरियाँ और भेड़-बकरियाँ कहाँ चरती होंगी?"

"चँवरिया हमारे यहाँ नहीं हैं।"

"ओह! तब तो तुम्हारे यहाँ के लोग बहुत ही दुखी होंगे। उनको तम्बू और रस्सी बनाने के लिए बाल न मिलता होगा। उनको दूध, मक्खन और छु-रा (सुखाया पनीर) नसीब न होता होगा। वे बेचारे अपनी पीठों पर ही बोझ ढोते होंगे।"

स्मृति ने डोल्-मा की बातों का खंडन नहीं किया। वे अपने को संस्कृति के उसी तल पर रखना चाहते थे। वे बोले—हाँ, डोल्-मा! हम लोग बड़े दुखी हैं,

* चरवाही के दिनों में स्मृतिज्ञान का यही नाम [...]

ग़रीब हैं। तभी तो मैं तुम्हारे यहाँ नौकरी करने के लिए आया हूँ।

"अबू! क्या कभी तुम्हें अपने मा-बाप याद आते हैं?"

"बहुत कम।"

"तुम्हारे कितने बाप हैं?"

"एक।"

"ओह! तो बेचारे को अकेले ही खेत का काम करना पड़ता होगा, भेड़ों की चरवाही और बाज़ार का सौदा भी अकेला ही करना होता होगा। क्या तुम्हारी माँ एक और बाप नहीं ला सकती थी?"

"नहीं, डोल्-मा! उस देश में ऐसा रवाज नहीं है।"

डोल्-मा को इस बुरे रवाज-द्वारा पीड़ित लोगों के प्रति सहानुभूति हो आई। इसी समय सीटी की आवाज़ आई।

"डोल्-मा! वह देखो, कोन्-चोग् मुँह में अँगुली डालकर सीटी बजा रहा है। तुम यहीं रहो, मैं जाता हूँ, शायद भेड़िया आया हो।"

स्मृति के उठते ही ट-शी भी—यही उस काले कुत्ते का नाम था—उठकर खड़ा हो गया और साथ साथ भेड़ों की ओर चलने लगा। भेड़ें पहाड़ के दूसरी ओर चर रही थीं। स्मृति यद्यपि उतराई में अपने साथियों की तरह सरपट तो नहीं भाग सकते थे, तो भी साल भर में उन्होंने अपने को बहुत निडर बना लिया था, और काफ़ी जल्दी जल्दी चल लेते थे। भेड़ों को ऊपर की ओर भागते देख ट-शी दौड़ कर पहले वहाँ पहुँचा। ट-शी के लम्बे डील-डौल और भयंकर आवाज़ को सुनते ही भेड़िया तिरछा ऊपर की ओर भागता दिखाई पड़ा। ट-शी ने कुछ दूर तक पीछा किया; किन्तु चढ़ाई में वह भेड़िये की गति से दौड़ नहीं सकता था। लौटते वक्त उसे एक ख़रगोश दिखाई पड़ा। क़िस्मत का मारा ट-शी के डर से नीचे की ओर भागने लगा, और चन्द ही मिनटों में वह ट-शी के कान तक फटे मुँह के बीच में आ गया।

स्मृति और कोन्-चोग् ने भेड़ों को पहाड़ के दूसरी ओर हाँक दिया और दोनों एक छोटी चट्टान पर बैठ गये। थोड़ी देर में ट-शी भी आ गया। उसके मुँह में लगा लोहू और ख़रगोश के नरम बाल बतला रहे थे कि ट-शी को भेड़िया भगाने का पारितोषिक मिल गया है।

(२)

"अबू! इसमें क्या लिखा है?"—डोल्-मा ने एक चट्टान पर बैठे हुए स्मृतिज्ञान से पूछा।

"डोल्-मा! इसमें भगवान् के मुख से निकली गाथायें हैं। इसे उदान कहते हैं।"

स्मृति को ता-नग् में चरवाही करते पाँच वर्ष बीत गये। डेढ़ वर्ष के भीतर ही उन्हें भोट-भाषा बोलना समझना अच्छी तरह आ गया। भोट-वर्णमाला को तो लो-च व पद्मरुचि ने नेपाल में ही उन्हें सिखा दिया था। भाषा सीख लेने पर अब उन्हें पुस्तकों के पढ़ने की इच्छा हुई। लेकिन वे नहीं चाहते थे कि लोग उनकी विद्या को जान जायँ, और फिर चरवाही उनसे छिन जाय। ता-नग् की छोटी गुम्बा (=मठ) में एक बूढ़ा ढाबा (=साधु) रहता था। स्मृति ने सेवा-पूजा करके उससे घनिष्ठता बढ़ाई। किसी समय उक्त मठ में कोई विद्वान् साधु रहा करता था। उसने अच्छी पुस्तकों का एक सुंदर संग्रह किया था। मालूम होता है, साठ-सत्तर वर्ष से किसी ने दुम (शतसाहस्रिका प्रज्ञा पारमिता) को छोड़कर बाक़ी पुस्तकों को छुआ तक नहीं; इसी लिए ऊपर अंगुल अंगुल मोटी गर्द जम गई थी। कहने पर बूढ़े ने झाड़कर फिर से उन पुस्तकों के बाँधने की अनुमति दे दी। उस वक्त स्मृति ने देखा कि उनमें काव्य, दर्शन, बुद्ध उपदेश आदि की कितनी ही पुस्तकें हैं, जिनमें कुछ ऐसी भी हैं जिन्हें वे संस्कृत में पढ़ चुके थे। साथ ही वहाँ उन्हें भोट-भाषा का एक व्याकरण तथा उनके कंठस्थ किये अमरकोश का भोट-अनुवाद भी मिला। अब तो स्मृति प्रायः प्रतिदिन बूढ़े के पास पहुँचते थे। उसके लिए पानी भर लाते थे। झाड़ू दे देते थे। जूते की मरम्मत कर देते थे। और कभी कभी अपने खाने की चीज़ों में से बचा कर उसे देते थे। वे चमड़े के एक छोटे चोग़े में पुस्तक के पत्रों को डाल कर अपने साथ ले जाते और भेड़ों के चराते वक्त किसी पहाड़ी चट्टान पर बैठ पन्ने निकाल कर पढ़ने लगते थे। पूछने पर चरवाहों से कह देते थे—धर्म का पाठ कर रहे हैं।

आज भी स्मृति एक पुस्तक ही पढ़ रहे थे।

कोन्-चोग् ने झोले को ज़मीन पर पटककर हाँफते हुए कहा—अबू! अबू! उस ना-ा-ले में एक बड़ी दुइ-मो-नग्-मो (काली पिशाचिन) है। आज मैं बाल बाल बच गया। मैं भेड़ों को उधर हाँकने गया था। देखा, दूर नीचे—उस बड़ी शिला के नीचे एक सफ़ेदे के वृक्ष जैसी लम्बी काली दुइ-इ-मो खड़ी है। वह मेरी ही ओर देख रही थी। उसकी लाल लाल आँखें अब तक मुझे याद हैं। मैं जान छोड़कर वहाँ से भागा। ओह! थोड़ा और नीचे जाने पर वह ज़रूर मुझे खा जाती।

"दुइ-मो-नग्-मो!"—डोल-मा ने एक साँस में कहना शुरू किया—"हाँ! मेरी मा बतलाती थी कि उस नाले में एक काली पिशाचिनी रहती है। मा ने ख़ुद और दूसरी औरतों ने भी कंडे बिनते वक्त उसे देखा है। उस पूरबवाले नाले में एक दुइ-पो नग्-पो (काला भूत) रहता है। वह तो दौड़ कर पकड़ता है। उस दिन देखा नहीं, छे-रिङ् की याक् (=चँवरी) मुँह से ख़ून निकाल कर मर गई। यह उसी काले भूत का काम था। ओह! मेरा तो कलेजा काँपता रहता है। हर नाले, हर चट्टान, हर मैदान में भूत ही भूत हैं। उस मुर्दा काटने की चट्टान* पर तो सैकड़ों तो-टो-डक्-पा हैं। शाम होते ही वे नाचने गाने लगते हैं। और उस पश्चिमवाले मैदान में? वहाँ पहले अच्छा ख़ासा गाँव था, लेकिन थे-गो मेन्-पा ने उसे उजाड़ दिया। अँधेरा होने के साथ ही मुँह से आग निकाल निकाल कर वे इधर से उधर दौड़ने लगते हैं। और डे-कु-शुइ? वे तो गाँव में भी भरे पड़े हैं। एक दिन मैं अ-चा मो-मा के घर जा रही थी। रास्ते में डे-कु-शुइ मेरे आगे से पीछे, दाहिने से बायें सुर-सुर् करता निकल जाता था। मुझे हैरान कर दिया। यद्यपि मा ने बतलाया था, डे-कु-शुइ मारता-पीटता नहीं, तो भी मैं लौटते वक्त अ-चा मीमा को बिना साथ लिये घर नहीं लौटी।"

"डोल्-मा! और अब की गर्मियों की एक बात नहीं जानती! अ-खु-सो-नम्, बा-ला (=पिता) और मैं छत पर बैठे थे। छे-पा चो-ङ (पूर्णमासी) था। चारों ओर दूध-सी चाँदनी छिटकी हुई थी। देखते क्या हैं? दक्षिण ओर—चाङ्-पो की तलहटी में—एक काली काली चीज़ निकली। धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते वह आसमान तक पहुँच गई। अ-खू सो-नम् ने कहा—शो-लइ-दोङ्-शि! शो-लइ-दोङ्-शि!! सचमुच वह शो-ल (कोयले) से भी काला था। बढ़ते बढ़ते उसका सिर तारों तक पहुँच गया। उस वक्त वह दूर था, इसलिए हमने पर्वा नहीं की। किन्तु उसके बाद वह लगा अपने सिर को हमारी ओर झुकाने। ओह! क्या कहूँ? हम लोगों ने एक दूसरे से कहा भी नहीं; और लगे सीढ़ी से जल्दी जल्दी उतरने। नीचे मकान में पहुँचते पहुँचते शो-लइ-दोङ्-शि का मुँह हमारी छत से लग गया, हम लोग साँस रोक कर घर के कोने में छिप गये।"

"और कोन्-चोग्! हमारे रसोईघर में एक तोङ्-डे-पी-वा है। रात के वक्त सबके सो जाने पर वह चूल्हे की भाथी चलाने लगता है। सोते सोते हम लोग साफ़ भाथी की फू-फू सुनते हैं। हमारी भेड़ों के घर में तो एक शिन्-दे (=चुड़ैल) है। एक दिन मेरी मा को उसने पकड़ लिया था, फिर लामा छोन्-जे ने बहुत पूजा-पाठ किया, तब उसने छोड़ा। लेकिन, क्या बात है। कोन्-चोग्! अ-बू-ने-ले रात-दिन अकेले-दुकेले जहाँ चाहते हैं, चले जाते हैं, उन्हें डर नहीं लगता। अबू! क्या कभी तुमने भूत देखा है?"

"नहीं, मैंने तो नहीं देखा; किन्तु तुम लोगों को दिखा सकता हूँ।"

दोनों एक साथ बोल उठे—"कैसे? तुमने ख़ुद भूत नहीं देखा तब फिर दूसरों को कैसे दिखाओगे?"

"मैं भूतों को पैदा करता हूँ।"

"क्या कहते हो, मैं भूतों को पैदा करता हूँ। क्या भूत पैदा किये जाते हैं?"

---

*भोट में मुर्दा न गाड़े जाते, न जलाये जाते हैं। इसकी जगह मुर्दे एक ख़ास चट्टान पर ले जाये जाते हैं, जहाँ रा-को-बा लोग पहले मांस को काट कर ढाँक कर रख लेते हैं, फिर हड्डियों को चूर कर सत्तू में मिला गिद्धों को खिला देते हैं, फिर मांस भी उन्हें दे देते हैं। इस क्रिया में दो घंटे से अधिक समय नहीं लगता।

"हाँ, डोल्-मा ! सपने में तुम किन चीज़ों को देखती हो ? उन्हीं चीज़ों को न जिनकी-सी शक्ल पहले तुमने कभी देखी है ?"

"हाँ हाँ !"

"उसका कारण क्या है ? जो चीज़ हम देखते हैं उसकी एक छाया मन पर अंकित हो जाती है, उसी को हम सपने में देखते हैं। इसी प्रकार जैसे स्थान पर जिस प्रकार के भूत होने की बात हम सुनते रहते हैं, वैसा स्थान और समय मिल जाने पर हमारे मन का खयाल ही भूत का रूप धारण कर बाहर चला आता है। भूत-प्रेत असल में हमारे ही मन की उपज हैं, जिसे यह असल बात समझ में आ जाती है, मन से भय का खयाल हट जाता है, उसे वे चीज़ें नहीं दिखाई देतीं।"

"किन्तु अबू ! तुम कह रहे थे, हमें भूत दिखाने की बात, सो कैसे ?"

"क्योंकि, तुम्हारा मन भूत प्रेत के भाव से भरा है, तुम भूतों से डरती हो, इसलिए यदि मैं तुम्हारे दिल में विश्वास उत्पन्न कर तुम्हें भूतों का आकार-प्रकार वर्णन कर क़र उनके देखने की प्रेरणा करूँ तो तुम उन्हें देखने लगोगी। असल में तो वह भूत मेरा पैदा किया नहीं होगा। उसे तो तुम्हारा मन ही पैदा करेगा।"

"तो क्या भूत है ही नहीं ?"

"ऐसा कहने से कोई फ़ायदा न होगा, क्योंकि कमज़ोर दिलवाले स्वयं भूत पैदा कर कर देखते रहेंगे, और तुम्हारी बात को झूठ बतलायेंगे। जो समझाने से भूतों के न होने की बात समझ सके उसके लिए वैसा करना ठीक भी है। लेकिन जिसके भीतर बात धँसे ही नहीं उसे अपनी ओर से भूत दिखलाकर, मन की अद्भुत शक्ति का ज्ञान करा, उस खयाल के दूर करना चाहिए। बिलकुल अजान के भारी पीड़ा में पड़े देखकर कितने ही जानकार जंतर-मंतर देते हैं। उसका मतलब सिर्फ़ मन को मज़बूत करना है। सच बात तो यह है कि यदि मन मज़बूत हो जाय तो वह आदमी न भूत देख सकता है, न उससे डर सकता है।"

"क्या सचमुच मन ही भूत पैदा करता है ?"

"हाँ, मन की ताक़त बहुत भारी है। उस दिन मैंने तुम्हें दोर्-जे-दन् (=बोध गया), छोइ-कि-खोर् लो (=सारनाथ) चम्-चोग् टोङ् (=कसया), और लुम्-पे-दन् (लुम्बिनी) दिखलाये थे न ?"

"हाँ, दोर्-जे-दन्का ऊँचे शिखरवाला मंदिर तो जहाँ तक मुझे याद है, बहुत बड़ा है। वैसा मंदिर तो हमारे देश में कहीं नहीं है।"

"तो वह दर्शन क्या था ? क्या सचमुच तुम दोर्-जे-दन् पहुँच गईं या दोर्-जे-दन तुम्हारे पास चला

["नेला हमारा अच्छा नौकर है। उसे महात्मा बनाकर हमसे न छीनिए।"]

आया ? नहीं, तुम्हारे चित्त को और जगहों से हटा मैंने जैसी लम्बी-चौड़ी ऊँची इमारत तुम्हें बतलाई, तुम्हारे मन ने वैसी ही एक चीज़ गढ़कर सामने रख दी। भूत देखने में भी बचपन से सुने जानेवाले ख़याल ही मन को भूत पैदा करने पर मजबूर करते हैं।"

"अबू-ने-ला ! तुम्हारी बातें सुन सुनकर तो मेरा

मन भी उसे ठीक मानने लगता है, लेकिन फिर अकेले में डर लगने लगता है।"

"क्योंकि बचपन से मन में घुसे ख़याल अभी बहुत मज़बूत हैं। जब वे निकल जायँगे या निर्बल हो जायँगे तब तुम भी भूतों की दासी नहीं रहोगी, बल्कि ज़रूरत पड़ने पर मेरी तरह भूतों को जन्म देनेवाली बन जाओगी, अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए।"

(३)

"अबू ! भेड़ें घेरे में कर दीं ? अच्छा लो, यह मट्ठा

[अन्त में वे उन्हें हसरतभरी निगाह से देखते चल दिये।]

रखा है, पी लो, फिर ऊखल में इस थोड़े से सत्तू को पीस डालो।"—भेड़ें चराकर शाम को लौटे हुए स्मृति से यह कहते मालकिन ने भुने जवों से भरी चँगेरी की ओर इशारा किया।

स्मृति को रात रहते ही उठना पड़ता था। चँवरियों और भेड़ों के बाँधने की जगह से वे गोबर और मेंगनियों को उठाकर बाहर कूड़े में फेंकते थे। झाड़ते-बुहारते, पानी भरते और मालकिन की नई-नई फ़रमाइशों को करते करते पहर दिन चढ़ आता था। तब थोड़ा सा थुक्-पा (चरबी, मांस, सत्तू डालकर बनी पतली लेई जैसा भोजन) पीते, एक टुकड़ा सूखा मांस खाते, और फिर झोले में भुना जौ डाल भेड़ों को ले जाने के लिए तैयार हो जाते। दिन भर की चरवाही के बाद लौटते तब फिर भेड़ों को उनके बाड़े में करते ही मालकिन कामों की फ़रमाइश करने लग जाती थीं। अबू-ने-ला को बिना काम में लगे देखना वे बर्दाश्त ही नहीं कर सकती थीं। दिन भर के काम से थके-माँदे स्मृति जब खा-पीकर सोना चाहते थे, उस वक्त उन्हें पत्थर के खरल जैसी ऊखली में सत्तू पीसने का काम बतला दिया जाता था।

बेचारे स्मृति का बदन आज दिन भर के काम से चूर चूर हो रहा था। ऊपर से नींद बड़े ज़ोर से आ रही थी। पीसते पीसते एक बार ज्यों ही झपकी ली, उनका सिर लोढ़े पर तड़ाक से जाकर बजा। अभी उस चोट की पीड़ा से उनका दिल तिलमिला ही रहा था कि मालकिन ने वाक्-बाण छोड़ने शुरू किये—"अरे, अबू ! सत्तू सत्यानाश करके ही छोड़ोगे ? बड़े बेपरवाह आदमी हो। क्या जौ बिखेर दिये ?"

स्मृति की आँखों में आँसू छलछला आये। उन्होंने अपने मन में कहा, क्या इन जवों से भी मेरा सिर सस्ता है, जो उसके फूटने की बात न पूछ कर जवों के बिखेर देने की बात कही जाती है ?

× × × ×

जाड़े का दिन था, हड्डी तक को जमा देनेवाली तिब्बत की ठंडक थी। स्मृति भेड़ों को चरने की जगह छोड़कर भेड़ की पोस्तीन पहने एक चट्टान की आड़ में धूप ले रहे थे। एकाएक ऊपर उड़ते बाज़ के चंगुल से छूटकर एक मरी मैना उनकी गोद में आ गिरी।

"अरे मैना ! यहाँ कहाँ ! मैना तू कैसे आई ? आह भारत के आम्रकुंजों में निर्द्वन्द्व विहरनेवाली मैना ! तू कैसे इस अपरिचित बेगाने मुल्क में !! मैना ! तेरी तरह मैं भी इस अपरिचित बेगाने मुल्क में आ पड़ा हूँ। जैसी

वेदनायें तूने सहीं, मैं भी सात साल से दिन-रात सह रहा हूँ। और कौन जानता है, तेरी तरह मुझे भी अज्ञात गुमनाम इस वियावान में शरीर छोड़ना पड़े! मैना! तू सौभाग्यशालिनी है, तुझे इस अपरिचित स्थान में भी मुझ जैसा अपना देशवासी दो आँसू बहाने के लिए तो मिल गया। मेरे भाग्य में तो शायद वह भी बदा नहीं है!"

कहते कहते स्मृति का गला भर आया, वे रो पड़े।

× × × ×

"अबू! क्या कर रहे हो इतनी देर से? देखो, काठ की बाल्टी ले आओ, बछड़े को खोल दो, चँवरी दुहूँगी।"

"जैसी आज्ञा"—कहकर स्मृति ने बछड़े को छोड़ दिया और बाल्टी मालकिन को थमा दी।

"अच्छा, अबू-ने-ले! चँवरी ऊँची है, बैठ जाओ, मैं दूध दुह लूँ।"

स्मृति घुटनों के बल बैठ गये और मालकिन बेतकल्लुफ़ी से उनकी पीठ पर बैठकर दूध दुहने लगीं।

स्मृति जवान थे। उनका शरीर भी बहुत मज़बूत था। किन्तु अत्यधिक परिश्रम और भोजन की दुर्व्यवस्था ने उनके शरीर को निर्बल बना दिया था; ऊपर से पिछले मास के ज्वर ने तो उनके सोने के शरीर को मिट्टी में मिला दिया था। संकोच के मारे उन्होंने नहीं तो न किया; किन्तु मालकिन् के शरीर के बोझ के सँभालने में उनकी बुरी हालत थी। एक बार उनके जैसे आदर्शवादी की आँखें भी डबडबा आईं और वे अपने मन में कहने लगे—आह भोट देश! तेरे यहाँ मनुष्य का कुछ भी मोल नहीं। भारत में भी दास हैं। उनकी ख़रीद-फ़रोख़्त भी होती है। वे सताये भी जाते हैं। किन्तु मनुष्य से पीढ़े का काम तो वहाँ भी नहीं लिया जाता।

(४)

रि वोङ्-जिन-पा ग्यु-कर्-ठेङ्-वर्-चे।
छन्-मो-ख-ला ग्युं-वा स्व्-पङ् ने॥
डङ्-बइ छु-नङ दि-ना दा-वा शे।
यिब्-ला छन् मर ज़िन्-पा ची-पइ लो॥*

"चोला!† क्या कहते हो? यह गीत तुम्हारे चरवाहे ने बनाया है?"—(चे-से चव्) सो-नम् ग्यल्-छन् ने पूछा।

जीभ निकाल करके धनी और बड़े प्रभावशाली विद्वान् साधु चे-से-चव् लो-च-वा के प्रति सम्मान प्रकट करते हुए स्मृति के मालिक ने कहा—हाँ, कु-शो! वह इस तरह के अंडबंड गीत बहुत बनाया करता है, और दीवारों, पत्थरों और लकड़ियों पर जहाँ-तहाँ लिख देता है। उसके साथी चरवाहों को उसके बनाये बहुत गीत याद हैं।

"चरवाहा कितने दिनों से तुम्हारे पास है?"

"आठ वर्ष हो गये।"

"और उम्र?"

"यही बत्तीस-तैंतीस की होगी।"

"चरवाही छोड़कर दूसरा काम क्यों नहीं देते?"

"कहता तो हूँ, किन्तु वह उसी को पसन्द करता है; वह काम में बड़ा मुस्तैद है। ग़ुस्सा होना तो जानता ही नहीं। इसलिए हम लोग नहीं चाहते कि उसकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ काम दिया जाय।"

"उसका जन्म क्या तुम्हारे ही गाँव का है या ल्हो-खा का?"

"नहीं, कु-शो-ला! न वह हमारे गाँव का है, न ल्हो-खा का। उसकी सूरत दूसरी ही तरह की है। बड़ी लम्बी भोंडी-सी नाक है। हमारे गाँव के बूढ़े अ-खू-तेन्-ग्य बहुत घूमे हुए हैं। वे कहते हैं, अ-वू-ने-ला का मुँह जो-वो-अतिशा (स्वामी दीपंकर श्रीज्ञान) से बहुत मिलता है। ने-ला तो ठीक नहीं बतलाता! पूछने पर कह देता है—दक्षिण में नेपाल की ओर मेरे मा-बाप रहा करते थे।"

"चो! तुम नहीं पहचानते, वह कोई महापुरुष है, भेस बदल कर तुम्हारी नौकरी कर रहा है।"

"नहीं कु-शो-ला! हम लोग तो अधिक पढ़े-लिखे नहीं हैं। इतना जानते हैं कि ने-ला को डोल्-मा (=तारा) की स्तुति याद है। वह बड़ा आज्ञाकारी नौकर है, इसलिए हमें बहुत प्रिय है।"

चे-से-चव् को अब निश्चय हो गया कि उनके मेज़बान का चरवाहा साधारण आदमी नहीं है, और जो उड़ती ख़बर उन्हें मिली थी कि एक भारतीय पंडित ता-नग् में कई वर्षों से भेड़ की चरवाही कर रहा है, ठीक है। उन्होंने घर के मालिक से पूछा—चो-ला! अ-वू-ने-ला कहाँ हैं? क्या मैं उन्हें जाकर देख सकता हूँ?

"कु-शो-ला! भेड़ों के साथ आता ही होगा। आप क्यों तकलीफ़ करेंगे?"

भेड़ें आ गईं, किन्तु स्मृति साथ में नहीं आये। चे-से-चव् ने उकताकर फिर पूछा। घरवाले ने कहा—कु-शो-ला! हमारी गुम्बा का साधु आज-कल बीमार है। ने-ला रोज़ शाम-सवेरे उसकी सेवा के लिए जाया करता है। अभी आता ही होगा।

थोड़ी देर के बाद दूर से आता हुआ एक आदमी दिखाई पड़ा। उसका क़द लम्बा था, शरीर कृश, ललाट आगे को उभड़ा हुआ। बीसों जगह से फटा चोग़ा, सड़ा-गला जूता उसकी असहनीय दरिद्रता को बतला रहा था। चेहरे को अच्छी तरह देखते ही चे-से-चव् को पहचानने में देर न लगी। एक भारतीय पण्डित महात्मा, और वह इस स्थिति में—सोचते ही उनकी आँखें भर आईं और उन्होंने उठकर बड़े विनम्र भाव से स्मृति का अभिवादन कर कहा—स्वामी! आपने क्यों यह कष्टमय जीवन स्वीकार किया है?

"मैं जो काम कर सकता हूँ उसी को कर रहा हूँ। संसार में ईमानदारी के साथ कोई काम जीविका के लिए करना ही चाहिए।"

"अरे! आप जैसे महान् पण्डित के लिए यह काम शोभा नहीं देता।"

"आप ग़लती कर रहे हैं। शायद आप किसी दूसरे के भ्रम में हैं। मैं तो मालिक का एक ग़रीब मूर्ख नौकर हूँ।"

"नहीं, अब आप अपने को छिपा नहीं सकते। आठ वर्ष चुपचाप भेड़ें चरा लीं सो चरा लीं।"

स्मृति ने अपने को बहुत छिपाना चाहा, किन्तु अब वह हो नहीं सकता था। आख़िर हारकर उन्होंने कहा—मैं इसी जीवन से सन्तुष्ट हूँ। लेकिन चे-से-चव लो-च-वा जो उनसे विद्या सीखने के लिए आया था। वह उनकी

---

* तारा मालाधारी शशधर, रात्रि के नभ में चलना छोड़; इस निर्मल (चंचल) जल में चल रहा है, इसने ऐसा रूप धारण किया है, यह बच्चों का खयाल है।

† साधारण गृहस्थ के लिए कोमल सम्बोधन।

सहायता से संस्कृत-ग्रन्थों का भोट-भाषा में अनुवाद करना चाहता था। स्मृति के बहुत ज़िद करने पर उसने कहा—तब मैं भी यहीं आपके साथ रहूँगा। अन्त में यह ठहरा कि यदि मालिक छुट्टी दे दें तो स्मृति साथ जायँगे।

मालिक ने अकेले में पूछने पर कहा—नहीं, कु-शो-ला, आप बड़े हैं, हम पर दया कीजिए। ने-ला हमारा बड़ा अच्छा नौकर है। उसके बिना हमारे घर का काम नहीं चल सकता। उसे पण्डित और महात्मा बनाकर हमसे मत छीनिए। आपको ऐसे दूसरे नौकर मिल सकते हैं।"

स्मृतिज्ञानकीर्ति के जीवन-लेखकों ने लिखा है कि चे-से-चव के बहुत कहने पर भी स्मृति को उनका मालिक देने पर राज़ी नहीं हुआ। अन्त में इस तरह काम बनता न देख वे अपनी दिव्य-शक्ति दिखलाने पर मजबूर हुए। देखते देखते ता-नग का आकाश-मंडल मेघाच्छन्न हो गया। घनघोर वर्षा होने लगी। ब्रह्मपुत्र की धार बढ़कर गाँव के पास तक आ गई। चे-से-चव ने पूछा—गाँव को डुबाना चाहते हो या भारतीय महात्मा को ले जाने की हमें अनुमति देते हो?

अन्त में बेचारे को हाँ करना पड़ा। स्मृति ने फिर चे-से-चव के लाये भिक्षुओं के वस्त्र को पहना। घरवालों ने अपने अपराधों के लिए बार बार क्षमा माँगी। और एक दिन सवेरे अपने आठ वर्ष के निवास और उसके निवासियों की ओर हसरतभरी निगाह से देखते स्मृतिज्ञान चे-से-चव के साथ चल दिये।*

---

* सन् १०३० ईसवी के आस-पास की घटना है। तिब्बत का लो-च-वा (दुभाषिया पण्डित) पद्मरुचि अनुवाद-कार्य के लिए स्मृतिज्ञान कीर्ति और सूक्ष्म-दीर्घ दो भारतीय पण्डितों को ले जा रहा था। नेपाल में जाने पर लो-च-वा मर गया। उस समय दोनों पण्डित भोट-भाषा से अनभिज्ञ थे। तो भी पीछे लौटने की अपेक्षा उन्होंने भोट जाना ही अच्छा समझा। नेपाल से के-रोङ् और तिङ-रि के रास्ते वे उस स्थान पर पहुँचे जहाँ पीछे स-स्क्य का महान् मठ स्थापित हुआ। रास्ते भर दोनों

पीड़ा

है मेरी ही पीड़ा से,
उन्मन शशि का कोमल मन।
मेरे ही सन्तापों को,
गिनते रहते हैं उडुगन॥

मेरी ही करुण विवशता,
मेरा विषाद ले मन में।
बैठी रसाल डाली पर,
गाती कोयल उपवन में॥

मेरे उच्छ्वासों को ले,
चलती समीर है सनसन।
मेरी ही करुण कहानी
से भरा हुआ अलि-गुञ्जन॥

मेरी ही आकुलता को,
रजनी बतला जाती है।
मेरे ही सूनेपन को,
ज्योत्स्ना छिटका जाती है॥

मेरे ही मञ्जुल आँसू,
ऊषा बिखरा जाती है।
मेरा नैराश्य-अनल ही,
संध्या दिखला जाती है॥

मेरी उमङ्ग से लहरें,
हैं चाँद चूमने चलतीं।
मेरी व्रीड़ा से टकरा,
फिर हैं निष्फल आ गिरतीं॥

मेरी अतृप्त तृष्णा से,
चातक है मिट मिट जाता।
अनुराग अमित ले मेरा,
पुलकित पतंग जल जाता॥

हैं छा छा जाते नभ में,
मेरे स्वप्नों के बादल।
मेरी अशान्ति से विह्वल,
है जगती का कोलाहल॥

लेखक,
कुँवर सोमेश्वरसिंह, बी० ए०

साथी अपने भविष्य प्रोग्राम पर बात करते आ रहे थे। स-स्क्य के आस-पास ही कहीं स्मृति ने अपना निर्णय सुनाया। तीन दिन और चलने पर दोनों शब् स्थान पर पहुँचे। स्मृति यहीं भेड़ चराने लगे, और सुदमदीर्घ शि-गर्-चे होते रोङ् स्थान में जाकर किसी को पढ़ाने लगे। पीछे प्रधान रास्ते पर होने से स्मृति को शब् स्थान पसन्द नहीं आया और थोड़े ही दिनों के बाद वे उसे छोड़ शि-गर्-चे पहुँचे। फिर अपने अनुकूल स्थान की तलाश में दो दिन के रास्ते पर ब्रह्मपुत्र की बाईं तरफ़ अवस्थित ता-नग् गाँव में पहुँचे। यहीं वे आठ वर्ष तक चरवाही करते रहे। आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान (९८२-१०५४ ई०) को भोट-देश जाते वक्त जब स्मृति के वहाँ जाने की बात मालूम हुई तब कहा—"स्मृति जैसा पण्डित पूर्व-पश्चिम सारे भारत में नहीं है। उनके तिब्बत जाने पर मुझे क्यों ले जाते हो।" भोट में पहुँचने पर उन्होंने कई बार स्मृति का पता लगाना चाहा। अन्त में एक दिन जब उन्होंने स्मृति के ता-नग् के जीवन की दुःखमय कहानी सुनी तब उनकी आँखों में आँसू आ गये।

चे-से-चब् के साथ जाकर स्मृति कितने ही समय तक उसे पढ़ाते रहे। फिर वहाँ से वे रोङ्-ज्जोर्-सुम्रिग् गये। बाद में खम् प्रदेश के दन्-क्लोङ्-थङ् में रह उन्होंने बहुत-से संस्कृत-ग्रन्थों का भोट-भाषा में अनुवाद किया, और कुछ अपने भी ग्रन्थ बनाये। भारतीय पण्डितों में तेरहवीं शताब्दी के प्रथम पाद के आचार्य विभूतिचन्द्र (जगत्तला) को छोड़कर यही एक पण्डित थे जिनका भोट भाषा पर इतना अधिकार था कि बिना लो-च-व (दुभाषिया) के भी अनुवाद कर सकते थे।

खम्-प्रदेश (पूर्वीय तिब्बत) के एक स्तूप में अब भी स्मृतिज्ञान का मृत शरीर रक्खा हुआ है।

धर्म का जीवन में स्थान

संसार में जितने धर्म हैं वे सब सत्य के प्रयोग-मात्र हैं। धार्मिक झगड़े इसलिए होते हैं कि लोग इन प्रयोगों को पूर्ण समझ बैठते हैं। मनुष्य को वास्तविक शान्ति तब मिलेगी जब हम एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय सार्वभौम मानवधर्म प्राप्त कर लेंगे जिसमें विभिन्न जातियाँ, विभिन्न धर्म और विभिन्न संस्कृतियों का समन्वय होगा। इसी बात को इस लेख में विद्वान् लेखक ने बड़े सुन्दर ढङ्ग से उपस्थित किया है।

लेखक, श्रीयुत जगदीशचन्द्र जैन, एम० ए०

आज-कल के वैज्ञानिक युग में धर्म के विषय में कोई भी चर्चा करना एक प्रकार का अधर्म समझा जाता है।

धर्म एक प्रकार का ऐसा नशा है जो मनुष्य को वहमी, अहंकारी, पक्षपाती और संकुचित बना देता है। प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक लोगों ने इसी नशे में चूर होकर खून की नदियाँ बहाईं, ब्राह्मण और जैन, शैव और वैष्णव, सनातनी और आर्य-समाजी तथा हिन्दू और मुसलमानों में जो अब तक भी पारस्परिक विद्वेष और कटुता देखने में आती है वह इसी नशे का फल है। यहाँ तक कि हम किसी मनुष्य से इसी लिए अपना कोई सरोकार नहीं रख सकते कि वह हमारे वर्ण, जाति अथवा धर्म का नहीं है। अतएव ऐसे जड़ और निःसत्व नाशक धर्म का हमारे जीवन में कोई भी स्थान न हो तो अच्छा है।

इस प्रकार की चर्चा, इस प्रकार की धर्म के प्रति बग़ावत आज-कल प्रायः शिक्षित नवयुवकों की गोष्ठी में सुनने में आती है। वास्तव में इसमें तनिक भी सन्देह नहीं किया जा सकता कि संसार में धर्म जैसी वस्तु के कारण जितने नृशंस अत्याचार हुए हैं उतने और किसी कारण से नहीं हुए। धर्म के इसी अंध-विश्वास के कारण शुनःशेप जैसे ऋषिपुत्र, ईसामसीह जैसे महापुरुष, सेक्रेटीज जैसे महर्षि, ब्रूनो जैसे दार्शनिक और गैलिलियो जैसे वैज्ञानिक पुरुषों का बलिदान हुआ। तपस्वी महावीर, पैग़म्बर मुहम्मद, ऋषि दयानन्द जैसे महान् पुरुषों को भी इसी धर्म के नाम पर अनेक शारीरिक और मानसिक यातनाओं का सामना करने के लिए बाध्य होना पड़ा। सचमुच इस धर्म-जन्य साम्प्रदायिकता का विष इतना तीक्ष्ण है कि आज-कल भी हमारा सारा विज्ञान, कला-कौशल और पांडित्य इसी साम्प्रदायिकता की उधेड़-बुन से व्याप्त है। कहाँ तक कहा जाय मनुष्य मनुष्य में घृणा, असहिष्णुता, वैमनस्य और सिरफुटौवल भी आज इसी धर्मराज के नाम पर हो रहे हैं।

परन्तु धर्म एक संहारकारी चीज होते हुए भी मनुष्य-जीवन में उसका कितना महत्त्व है, यह भुलाया नहीं जा सकता। जिस प्रकार शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य को भोग-उपभोग की सामग्री की जरूरत पड़ती है, उसी प्रकार मानसिक आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए मनुष्य को धर्म, नियम, व्यवस्था जैसी वस्तुओं की जरूरत होती है। यह धर्म एक ऐसी सक्रिय वस्तु है जिसका स्वरूप भिन्न-भिन्न समयों और परिस्थितियों के अनुसार प्रत्येक जमाने में बदलता रहता है। एक युग था जब मनुष्य-समाज सूर्य, अग्नि, समुद्र, पर्वत आदि को ही अपना उपास्यदेव समझ कर संतुष्ट हो जाता था—यही उस समाज का सर्वोत्तम धर्म था। धीरे-धीरे मनुष्य-समाज विकसित हुआ, प्रकृति-उपासना का स्थान मनुष्य-उपासना को मिला और क्रमशः आत्मवाद, कर्मवाद, अहिंसावाद, अद्वैतवाद आदि दार्शनिक विचारों का युग उपस्थित हुआ।

इसी तरह अरब के अज्ञानावृत मानव-समाज के लिए मुहम्मद साहब ने एक ईश्वर की भावना तथा नमाज़, रोज़ा आदि के रूप में एक प्रकार संयम-युक्त धर्म क़ायम किया। परन्तु बाद को मौलिक भावना में परिवर्तन हुआ और 'इस्लाम' अर्थात् शांति-धर्म के अनुयायी मुहम्मद साहब के फ़र्मानों से दूर होते गये। कहने का अभिप्राय यह है कि आरंभ में जीवन की शुद्धि के लिए धर्म की आवश्यकता होती है। यह धर्म का प्रारम्भिक रूप प्रयोग-रूप होता है। जिस प्रकार एक वैज्ञानिक नाना प्रयोगों-द्वारा अनेक सिद्धान्तों को छोड़कर अन्त में किसी एक सिद्धांत पर पहुँचता है, उसी तरह धर्म भी वैज्ञानिक पद्धति से विकसित होता है। ये धर्म के प्रयोग जैसे ही अविवेकी लोगों के हाथ में पहुँचते हैं, वैसे ही ये आदर्श समझे जाने लगते हैं और ये प्रयोग सत्यान्वेषण के उपाय न समझे जाकर स्वयं सत्य का ही रूप धारण कर लेते हैं। परिणाम यह होता है कि आरम्भ में जिस धर्म का आविर्भाव जीवन की शुद्धि के लिए था वही धर्म उग्र और भयंकर रूप धारण करके समाज के जीवन को नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है। इस समय मनुष्य-समाज सत्य का अनुकरण करने की अपेक्षा अपने सम्प्रदाय को, सम्प्रदाय की अपेक्षा अपने उपसम्प्रदाय को, उपसम्प्रदाय की अपेक्षा अपने आपको सत्य समझने में धार्मिक भावनाओं का अन्त करता है। इस समय सामाजिक वातावरण व्यक्तिनिष्ठा, दुराग्रह, पक्षपात और अहंकार से क्षुब्ध हो जाता है।

वास्तव में संसार के विचारक महान् पुरुष भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार जनसमूह के लिए अपने अनुभवों से सिद्ध कुछ सिद्धांतों की रचना करते हैं। सिद्धांतों की रचना करते समय उन महात्मा लोगों की यह भावना कभी नहीं रहती कि उनके द्वारा बनाये हुए सिद्धांत ही सदा के लिए सत्य हैं और उनमें कभी किसी प्रकार के परिवर्तन की गुंजायश नहीं है। वास्तव में यही भिन्न भिन्न धर्मों और सम्प्रदायों की उत्पत्ति का मूल है। परन्तु फल यह होता है कि कुछ लोग तात्कालिक, आपेक्षिक और अर्ध-सत्यरूप इन महात्माओं के विचारों को सार्वकालिक और पूर्ण सत्य का रूप दे डालते हैं। अहिंसावाद के सिद्धान्त का पुनरुज्जीवन करते समय भगवान् महावीर का प्रजा में क्रूरता और पारस्परिक विद्वेष को घटाकर सहयोग और शांति का प्रचार करना ही एक-मात्र उद्देश था। परन्तु आज तो महावीर के अनुयायी सूक्ष्म जीवों की रक्षा करने में ही अपनी अहिंसावृत्ति की इति श्री कर रहे हैं। महावीर के ही अनुयायी क्यों, बल्कि आज तो बुद्ध जैसे तत्त्व-ज्ञानी, श्रीकृष्ण जैसे कर्मयोगी, दयानंद जैसे प्रखर सुधारकों के माननेवाले भी अपने अपने पूज्य पुरुषों के नाम पर अहंकार, पक्षपात और जड़ता का पोषण करने में किसी से भी कम नहीं हैं।

विज्ञान धार्मिक अंधविश्वास और धार्मिक कट्टरता का विरोध अवश्य करता है, परन्तु धर्म की मूल-भावना से विज्ञान का कोई विरोध नहीं। वैज्ञानिक लोग वैयक्तिक बातों को दूर करके सत्य की खोज करते हैं। विज्ञान-सम्बन्धी सिद्धान्त दोष-पूर्ण मनुष्यों के बनाये हुए होते हैं तथा किसी भी समय एक नई खोज से उन सिद्धान्तों का कायापलट हो सकता है। इसी तरह धार्मिक सिद्धान्तों की रचना महात्मा पुरुषों के किसी व्यक्तिगत स्वार्थ से नहीं होती; इन सिद्धान्तों के जन्मदाता अलौकिक पुरुष भी मनुष्य ही होते हैं तथा देश-काल के अनुसार इन सिद्धान्तों में परिवर्तन किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि वैज्ञानिक सिद्धान्तों की तरह धार्मिक सिद्धान्त भी प्रयोग-रूप ही होते हैं। धर्म की मूल-भावना और धर्म के प्रयोगों का स्वरूप हमें सब धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन से ठीक ठीक मालूम हो जाता है। वेद, त्रिपिटक, आगम क़ुरान, बायबिल, जन्दअवेस्ता, कोई भी धर्म-ग्रन्थ उठाकर पढ़िए, सब जगह एक ही भावना और एक ही चरम उद्देश रहता है—अर्थात् दूसरों को न सताओ, सुखी होने

के लिए संयम का पालन करो। धर्मों की इसी मूल-भावना का साक्षात्कार महात्मा लोगों ने किया है। जिस समय समाज इस भावना को भुला देता है उसी समय धार्मिक उत्पात और मारामारी का नग्न नृत्य सामने दीखने लगता है।

इस आत्म-शुद्धि-रूप धर्म की मूलभावना का जैसे जैसे मनुष्य में विकास होता है, वैसे वैसे उसमें सम्प्रदायातीत धर्म की भावनायें जागृत होती हैं। वह समझता है कि जैसे कोई भी धर्म असत्य नहीं है, वैसे ही कोई भी धर्म पूर्ण सत्य नहीं है तथा जैसे एक ही समुद्र का जल भिन्न-भिन्न पात्रों में भरे रहने के कारण भिन्न-भिन्न रूप में दिखाई देता है वैसे ही बुद्ध, महावीर, ज़रथोस्त्र, ईसा, मुहम्मद और कृष्ण एक ही सत्य के अनेक पुजारी हैं। इस सम्प्रदायातीत पुरुष को संसार के नानाधर्मों में कोई विरोध दृष्टि-गोचर नहीं होता। इस सच्चे पुरुष का दृढ़ विश्वास होता है कि संसार को 'धर्मों' की आवश्यकता नहीं, बल्कि 'धर्म' की आवश्यकता है, अथवा यदि संसार में एक भी धर्म न रहे तो सचमुच संसार में अधिक धार्मिकता की वृद्धि हो सकती है।

मनुष्य अल्पज्ञ है, अपूर्ण है और भूल करना उसका स्वाभाविक धर्म है। हमारे जीवन के सैकड़ों-हज़ारों प्रसंग ऐसे होते हैं जब हम अपने जीवन को असहाय पाते हैं, हमारा हृदय अन्याय और अत्याचारों से तिलमिला उठता है। इस समय हम समस्त प्राणियों में आत्म-साक्षात्कार 'सत्यं शिवं सुन्दरं' की उदार भावना का आभास पाते हैं। हम देखते हैं कि हमारे चारों ओर दृश्यमान ब्रह्माण्ड एक अकथ पहेली है। 'जगत् मिथ्या है'—इस महान् वैज्ञानिक शोध का अनुभव हमें दिन-रात के अनुभवों से होता रहता है। जिस पदार्थ को हम नित्य और ठोस समझते हैं वह पदार्थ बड़े वेग से गति कर रहा है, जिसे हम शब्द समझते हैं वह कम्पन की लम्बाई-मात्र है, जो काले, पीले, लाल रंग हमें दिखाई देते हैं वे सब सफ़ेद रंग के ही रूपान्तर हैं, जो सूर्य हमें छोटा-सा और बिलकुल पास दीख पड़ता है वह पृथिवी-मंडल से साढ़े बारह लाख गुना बड़ा और यहाँ से नौ करोड़ तीस लाख मील की ऊँचाई पर है। हम यह भी देखते हैं कि विज्ञान की विविध शाखाओं ने प्रकृति का अध्ययन किया। परन्तु अभी हम प्रकृति के एक अंश को भी नहीं जान सके। इससे हमें मालूम होता है कि जैसे मनुष्य-विकास के लिए शारीरिक और मानसिक शक्तियों की आवश्यकता होती है, जैसे सामाजिक जीवन को शान्ति-पूर्वक निबाहने के लिए स्त्री और पुरुष की आवश्यकता होती है, जैसे मोक्ष पाने के लिए ज्ञान और चारित्र्य की आवश्यकता बताई जाती है, वैसे ही सामाजिक विकास के लिए भौतिक और आध्यात्मिक, विज्ञान और धर्म की आवश्यकता है। जैसे धर्म का शुद्ध रूप पहचानने के लिए विज्ञान की सहायता लेना आवश्यक है, वैसे ही विज्ञान से सिद्ध तत्त्वों को जीवन में उतारने के लिए धर्म का सहारा लेना अनिवार्य है। जैसे हम श्रद्धा के बल पर प्रत्येक वस्तु को अनिर्वचनीय कहकर नहीं उड़ा सकते, वैसे ही हम तर्क से बाह्य प्रश्नों का भी एकदम लोप नहीं कर सकते। आज-कल पूर्व-देशों की विचार-पद्धति श्रद्धा-मूलक और पश्चिम देशों की विचार-सरणि तर्क-मूलक कही जा सकती है। यदि एक पक्ष अंध-श्रद्धा को परमधर्म समझता है तो दूसरा पक्ष तर्क के झोंके में प्रत्येक सिद्धान्त को फूँक मारकर उड़ा देना चाहता है। यदि एक मार्ग अपरिवर्तनशील है तो दूसरा मार्ग सदा परिवर्तनशील ही रहना चाहता है। अतएव श्रद्धा और तर्क, धर्म और विज्ञान का ठीक ठीक समन्वय किये बिना हमारे धर्म में वैज्ञानिकता और हमारे विज्ञान में धार्मिकता नहीं आ सकती।

आज-कल योरपीय सभ्य देशों में साम्राज्यवाद का बोलबाला है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी वस्तुओं के बेचने का और दूसरे की न ख़रीदने का अधिक से अधिक प्रयत्न कर रहा है। बड़े बड़े राष्ट्र छोटे राष्ट्रों को लूट-खसोटकर क्षण भर में हड़प कर जाना चाहते हैं। इँग्लेंड, जर्मनी, फ्रांस आदि राष्ट्रों ने अफ़्रीका को

बाँटकर ऐसी ही कूटनीति का परिचय दिया है। गत महासमर में कितनी भीषण अग्नि की वर्षा हुई। युद्ध क्या था, साक्षात् प्रलय था। आधुनिक साइंस ने इस युद्ध को सफल बनाने में प्रत्येक उपयोगी सामग्री प्रदान की। नई नई गैसें, एक से एक बढ़कर पनडुब्बियाँ, लाखों-करोड़ों नरनारियों को क्षण में विध्वंस कर देनेवाले आग के गोले, भीमकाय तोपें और जङ्गी रणपोत पश्चिमी देशों के कारख़ानों में अनगिनत संख्या में तैयार किये गये। यह था पश्चिम के देशों की सभ्यता का चरम उत्कर्ष। सचमुच विज्ञान ने मनुष्य को ऐसा पागल बनाया है कि यदि वह निःशस्त्र हो तो पब्लिक में उपद्रवकारी समझा जाता है और यदि वह सशस्त्र हो तो पब्लिक में भयंकर गिना जाता है।

अतएव यदि हम चाहते हैं कि संसार में काले-गोरे का, ऊँच-नीच का, शूद्र-अशूद्र का भेद-भाव न रहे, मनुष्य मनुष्य के प्रति मनुष्यता का वर्ताव करना सीखे, राजनैतिक दृष्टि से समस्त राष्ट्र एक सूत्र में बँध जायँ तो अवश्य ही हमें एक ऐसे अंतर्राष्ट्रीय सार्वभौम मानव-धर्म की आवश्यकता है जिसमें विभिन्न ज्ञाति, विभिन्न धर्म और विविध संस्कृतियों का समन्वय हो सके। यह समन्वयात्मक वैज्ञानिक धर्म सक्रिय होगा, सजीव होगा, मनुष्यों के हृदय में प्राणों का संचार करनेवाला होगा और परिवर्तनशील होकर भी निश्चित होगा। "ऐसी सृष्टि में हमारा जीवन आशा और उत्साह से पूर्ण होगा, हमारे प्रेम का मार्ग विशुद्ध तथा निष्कंटक होगा, प्रेम प्रभुत्व की आकांक्षा से हीन होगा, सुख के उत्साह से ईर्ष्या तथा निर्दयता विलीन हो जायँगे। जीवन को सुखमय बनाने और बुद्धि को आनन्द प्रदान करनेवाली सब प्रवृत्तियाँ स्वतन्त्रता से उन्नति करेंगी। ऐसी सृष्टि बिलकुल संभव है। देर केवल इस बात की है कि लोग इसे संभव बनाने में ईमानदारी के साथ जुट जायँ।"

समन्वय की यह अंतर्राष्ट्रीय भावना भारत की आर्य-संस्कृति में बराबर देखने को मिलती है। आर्य लोगों का सिद्धान्त था कि विष से अमृत, अपवित्र स्थान से सुवर्ण, नीच पुरुष से उत्तम विद्या और खोटे कुल से स्त्री को ग्रहण करने में पाप नहीं है। सचमुच यदि आर्यों में यह विशाल व्यापक भावना न होती तो शकों, हूणों, कुशानों, ईरानियों तथा मध्य-एशिया, अफ़ग़ानिस्तान, बाल्डिया आदि देशों से आनेवाली म्लेच्छ जातियों को वे लोग कभी न पचा पाते। परन्तु जैसे जैसे हम इस विश्व की भावना से दूर होते गये, वैसे वैसे प्रजा के भीतर दुरभिमान, छुआछूत आदि की बीमारियों का प्रवेश होने लगा। भारतीय राजाओं में दिन पर दिन मिथ्या अहंकार, विलासिता और अनैक्य की भावनायें बढ़ती गईं। फलस्वरूप हम अपने राज से हाथ धो बैठे और परतंत्रता की गुलामी में क़ैद हो गये। वेद, क़ुरान, पुराण सभी ने एक-स्वर से 'सत्य' को एक बतलाकर सर्वतोमुखी भावना का परिचय दिया है। वीर शिवाजी, राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानन्द, विष्णु-भक्त रामानन्द सभी महान् सुधारकों ने तथाकथित अछूतों को गले लगाकर अपनी उदारता का दिग्दर्शन कराया है। परन्तु हम तो आज भी अपने अपने साम्प्रदायिक गुट बनाकर धर्म के मूल-स्वरूप को भूलकर धार्मिकता का ताण्डव करते हुए 'सत्य एक है' इस मन्त्र की जगह 'जो मेरा है सो सत्य है' इसकी रट लगाने में ही अपने को परम धार्मिक समझ रहे हैं।

अतएव सत्य एक है। एकता में विविधता और विविधता में एकता की समन्वय-भावना के बिना सत्य की प्राप्ति नहीं होती। सत्य को पाने के लिए भिन्न-भिन्न धर्म प्रयोग रूप हैं—ये सत्य के अंश मात्र ही कहे जा सकते हैं। धर्म और विज्ञान इसी सत्य के दो पहलू हैं। विज्ञान के बिना धर्म और धर्म के बिना ज्ञान अधूरा है। जीवन की शुद्धि के लिए इन दोनों के समन्वय की आवश्यकता है। इस समन्वय को हम वैज्ञानिक धर्म अथवा धार्मिक विज्ञान का नाम दे सकते हैं।

कहाँ तलाक़ और कहाँ भारतीय स्त्रीत्व

लेखक, पण्डित गौरीशंकर मिश्र, बी० ए०, एल-एल० बी०

भारतीय सामाजिक जीवन में तलाक़ की आवश्यकता पर 'सरस्वती' की पिछली संख्याओं में दो ज़ोरदार लेख प्रकाशित हो चुके हैं। उसके विरुद्ध भी हमारे पास लेख आये हैं। उनमें से एक महत्त्वपूर्ण लेख हम यहाँ प्रकाशित करते हैं।

ईश्वरीय सत्ता के संगठनात्मक अंग को प्रकृति कहते हैं। प्रकृति वह अंकुश है जो सारी सृष्टि के अस्तित्व को अपने नियमों में बाँधे रखती है और जो उसकी बागडोर से विचलित होता है वह अपने मन्तव्य से गिरकर नष्टप्राय हो जाता है। प्रकृति का यह सर्वोपरि नियम है कि सृष्टि के चलाचल पदार्थों की भिन्नता, उनकी वृद्धि तथा उनका जीवन 'योग तथा जोड़' सिद्धान्त पर अवलम्बित है। भिन्न-भिन्न परमाणु जुड़कर नाना रूपधारी अचल वस्तुओं को अस्तित्व में लाते हैं। उसी प्रकार चल-संसार में भी 'परस्पर का मेल' सजीवता तथा जीवन-वृद्धि के लिए अनिवार्य है। अबोध जगत् के जीव अर्थात् पशु-पक्षी तथा जलचर प्रकृति के नियमानुसार अपना जोड़ा चुनते हैं, सृष्टि-कार्य का पालन करते हैं, किन्तु उनमें आत्मीयता तथा द्वैत में अद्वैतता के भावाभाव के नाते उनके 'जोड़ों' में संबंध-स्थिरता की कमी होती है। परन्तु पशु-संसार का वीरोत्तम पशु अर्थात् सिंह न केवल एक सिंहनी को साथ लेता है, बल्कि अपने वन में वह अकेले रहना और विचरना पसन्द करता है। यही कारण है कि सिंहों तथा सिंहनियों का झुण्ड एक साथ नहीं रहता। सिंह और सिंहनी दोनों सम्बन्ध-स्थिरता के महत्त्व को स्वभावतः जानते हैं। इसी तरह पक्षी-जगत् के पक्षी भी परस्पर प्रेम तथा परस्पर एका के सिद्धान्त पर चलने के इतने धुनी होते हैं कि उनका 'नर-मादा का प्रत्येक जोड़ा' परस्पर प्रेम की मस्ती में एक साथ ही बैठता-उठता है। सम्बन्ध-स्थिरता तथा परस्पर-प्रेम की महत्ता के ये अनूठे तथा उपदेशप्रद उदाहरण हैं।

इससे आगे जब हम मानव-सृष्टि की ओर अपनी दृष्टि दौड़ाते हैं तब हमें स्पष्टतया मालूम हो जाता है कि उपर्युक्त सिद्धान्त मानव-समाज में विशेषरूप से समझ-बूझ कर बर्ता जाता है। मनुष्य सामाजिक जीव है; और समाज प्रकृति के संगठनात्मक नियमों के ताने-बाने में बँधा होता है। स्थिरता, सजीवता तथा उन्नतिशीलता संगठन के फल-फूल हैं। अतएव विशेष-रीत्या संगठित होने की महत्ता को समझती हुई मानव-सृष्टि अपने को प्रकृति की नियमावली में जकड़े हुए है। जंगली मनुष्य-समाज सभ्य-संसार के मानव-समाज की भाँति चाहे विकसित न हो, किन्तु दाम्पत्य-प्रेम तथा दाम्पत्य-स्थिरता का महत्त्व उस समाज के मनुष्य भी विशेषरूप से समझते हैं। यही कारण है कि उनमें पुरुष और स्त्री अपना अपना जोड़ बनाकर रहते हैं और वे जोड़े परस्परजन्य तथा बाहरी कारणों से टूटते-फूटते नहीं रहते। असभ्य तथा अविकसित जातियों में स्त्री और पुरुष के ऐक्य का यह दृश्य किसी से छिपा नहीं है। फिर सभ्य मानव-समाज में दाम्पत्य की महत्ता क्या होनी चाहिए, इसे साधारण मस्तिष्क भी बता सकता है। परन्तु वर्तमान समय में पाश्चात्य शिक्षा के विकृत और उच्छिष्ट भाग के शिक्षित हमारे बहुत-से पढ़े-लिखों ने तलाक़-मंत्र की रटन प्रारम्भ कर दी है। दाम्पत्य-सम्बन्ध-विच्छेद को तलाक़ कहते हैं। तलाक़ की प्रथा अधिकतर जड़पूजक पश्चिम में पाई जाती है। वहाँ का उत्पन्न धर्म ईसाईमत तलाक़ का पक्षपाती है।

कारण यह है कि पश्चिमी संसार में रोटी ही सर्वस्व है; पैसा रोटी लाता है इसलिए पैसा वहाँ ईश्वरत्व को भी मात करता है। पुरुष इसलिए स्त्री करता है कि उसे कुछ सांसारिक सुख प्राप्त होगा, और स्त्री भी उसे इसी कारण स्वीकार करती है। यही कारण है कि जहाँ पैसे की कमी हुई कि स्त्री और पुरुष दोनों एक दूसरे से अलग होना चाहते हैं और उसके लिए नाना प्रकार के निन्द्य साधनों का प्रयोग करते हैं। इसके उल्टे हिन्दू-धर्मानुसार दाम्पत्य-जीवन का उद्देश लौकिक तथा पारलौकिक दोनों है। इसमें सांसारिक सुख-भोग के साथ साथ आध्यात्मिक उन्नति तथा संसार-सेवा प्रधान स्थान रखते हैं। इसमें पुरुष और स्त्री पैसे के दुर्बल धागे में नहीं, बल्कि विशुद्ध प्रेम की अटूट डोरी में बँधते हैं। हिन्दू-विवाह हृदयों को जोड़ता है, मनों को मिलाता है. और आत्माओं को एक दूसरे में लीन करता है। इसमें लौकिक भोग का आदर्श भी अत्यन्त विशुद्ध और ऊँचा है और वह यह है कि स्त्री-पुरुष ऐसी संतान उत्पन्न करें जो समाज और संसार की सेवा करे और ईश की महत्ता का प्रचार करे। पाश्चात्य संसार पैसे का पुजारी है, इसलिए वहाँ के पुरुष और स्त्री पैसा-सम्बन्ध में संबद्ध होते हैं। भारतवर्ष तथा अन्य पूर्वीय देशों में जहाँ हिन्दू-धर्म तथा उसके रूपान्तर धर्मों का प्रचार है, आत्मिक शान्ति का प्राधान्य है, इसलिए यहाँ का दाम्पत्य-जीवन आत्मिक प्रेम में अस्त-व्यस्त रहता है। परन्तु वर्तमान भारत में 'नक़ल-युग' का उदय हुआ है। अँगरेज़ी पढ़े-लिखों को आत्म-स्वरूप की परवा नहीं है; उन्हें अपने धर्म-शास्त्रों की बातों को पढ़ने, जानने या सुनने की इच्छा नहीं है; उन्हें लाभ-हानि, मानापमान की सुध नहीं है। उन्हें तो 'नक़ल-भूत' के आवेश में नक़्क़ाल बनकर संसार-मंच पर थिरकना है और अपनी सभ्यता और अपनी भारतीय शान पर पानी फेरना है। आज हमारा मस्तिष्क, हमारी भाषा, हमारा वेश और हमारा हृदय पश्चिमी कुरूपता की छूत से कुरूप हो रहा है। तलाक़ का शौक़ भी जो आज भारत के कुछ बिगड़े दिलों को उबाल रहा है, उसी छूत का परिणाम है। यों तो तलाक़ की इजाज़त विशेष परिस्थितियों में हिन्दू-धर्मशास्त्रों में भी वर्तमान है। ईसाई और इस्लामी धर्मशास्त्रों का तो कहना ही क्या। किन्तु आज-कल के 'तलाक़-शौक़ीनों' का तलाक़ से मतलब तो यह है कि जब चाहे पुरुष और स्त्री एक दूसरे से अलग हो सके। अस्तु, कौंसिल आफ़ स्टेट के मेम्बर पण्डित प्रकाशनारायण सप्रू तलाक़ के प्रतिपादन में दो तर्क उपस्थित करते हैं—(१) स्त्रियाँ पुनर्विवाह नहीं कर सकतीं। (२) अब स्त्रियाँ शिक्षिता हो रही हैं, अतः वे पुरुषों की अधीनता नहीं स्वीकार कर सकतीं। दोनों तर्क प्रायः कारण-कार्य-रूप से एक ही हैं। स्त्रियाँ शिक्षिता होते ही पुरुषों की दासता नहीं स्वीकार कर सकती हैं, इसलिए वे पुनर्विवाह करेंगी। यह तर्क विचित्र है। पंडित महाशय या तो स्त्रियों के पुनर्विवाह की चेष्टा को रोकें या उन्हें अविवाहिता रखकर पुरुषों की अधीनता छुड़ाने के मन्तव्य का व्यवहार करें। स्त्रियों का पुनर्विवाह पुरुषों से ही संभव है, अतएव यदि शिक्षिता स्त्रियों को विवाह से पुरुषों की अधीनता का भय है तो फिर उनके विवाह अथवा पुनर्विवाह का प्रश्न ही नहीं उठता। मुझे पूरा विश्वास है कि भारतीय स्त्री-समाज हिन्दू-धर्म के दाम्पत्य-जीवन की महत्ता तथा उच्चता को यदि पूर्ण रूप से समझता नहीं तो प्रकृति तथा धर्म की प्रेरणा से उसका अन्तरंग उसका प्रतिक्षण अनुभव करता है और वह सहस्रों वर्षों से उसी अनुभव के अनुसार अपना जीवन-धर्म रखता चला आ रहा है।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि हिन्दू-दाम्पत्य जीवन का आदर्श क्या है। वही आदर्श है जिससे आज भी इस पराधीन भारत में कभी-कभी पुरुष और स्त्री के अनुपमेय प्रेम की झाँकी सज जाती है। ऐसे दृश्य इस देश में कम नहीं दिखाई देते हैं कि पुरुष मृत्यु-शय्या पर लेटा है उसकी स्त्री सजधज कर उस मृतक-शरीर के साथ लेट जाती है और इस प्रकार अपने बिछुड़े पति में तल्लीन हो जाती है कि लेटे ही लेटे अपने शरीर को मृतक बनाकर अपने पतिदेव के चरणों का परलोक में दर्शन करती है। साथ ही ऐसे भी दृष्टान्त हैं जहाँ पुरुष अपनी सहधर्मिणी के स्वर्गारोहण पर या तो विरागी बनकर उसी के स्मरण में अपना सर्वस्व त्याग देता है या परलोक में उसका पीछा करता है। अस्तु, प्रेम के चमत्कार तो इसी प्रकार के होते हैं। लैला-मजनू के लिए तलाक़ हेच और अपवित्र है।

हिन्दू-समाज में स्त्रियों का स्थान ऊँचा है। उनकी ग़ुलामी अथवा अधीनता का प्रश्न तो उठता ही नहीं। वह गृहिणी तथा गृह-लक्ष्मी कहलाती है। वह अर्द्धाङ्गिनी कहलाती है। बिना उसके पुरुष और बिना पुरुष के स्त्री अधूरे हैं। स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर पूर्णाङ्ग बनाते हैं और एक बार जब पूर्णाङ्ग बन और सँवर चुका, फिर उसका विच्छेद दोनों के लिए असुखकर और नाशकर है। विवाह के समय स्त्री अपने भावी पति से सात बातों की प्रतिज्ञा कराती है और पति उन्हें स्वीकार करता है। कुमारी कहती है कि मैं आपके वाम-भाग में तब आऊँगी जब आप (१) तीर्थ, व्रत, उद्यापन, यज्ञ-दानादि करने में मुझे साथ रक्खें; (२) हव्य और कव्य से देवताओं और पितरों को तृप्त करते रहें; (३) कुटुम्ब का भरण-पोषण करें और गौ तथा महिषी आदि पशुओं को रक्खें और उनका पालन करें; (४) धन और धान्य का आय-व्यय मेरी देख-रेख में रक्खें; (५) देवालय, बगीचा, तालाब, कूप, बावड़ी इत्यादि बनावें और उनकी रक्षा करें; (६) देश-परदेश से क्रय-विक्रय-द्वारा धनार्जन करते रहें; और सातवीं और सबसे महत्त्व की प्रतिज्ञा यह कि "हे पति, मैं तुम्हारी वामांगना होना तब स्वीकार करूँगी जब तुम उत्कट कामना होने पर भी 'न सेवनीया परकीयजाया'। इसके पश्चात वर कहता है कि 'मैं तुम्हारी सातों बातों का पालन करूँगा, किन्तु तुम भी पातिव्रतधर्म का पालन करना, मेरी इच्छा का अनुसरण करना और मेरी आज्ञायें मानना।' स्त्री की बातों की पूर्ति के लिए पुरुष स्वयं तो प्रतिज्ञा करता है, किन्तु स्त्री को अपनी बातें केवल सूचित-मात्र कर देता है, उससे उन बातों की स्वीकृति की प्रतीक्षा नहीं करता।

इसी घड़ी से पुरुष स्त्री की इज्ज़त करना प्रारम्भ करता है। ख़ुद प्रतिज्ञा-बन्धन में बँधता है, परन्तु स्त्री उसकी बातें मानेगी ही, वह इसी विश्वास में मस्त रहता है। इसके बाद हर जीवनोत्थान-संबंधी कृत्य में स्त्री उसकी सहचारिणी बनकर रहती है। घर स्त्री के अधीन, बाल-बच्चे स्त्री की देख-रेख में और सारा कोष स्त्री के हाथ में! इससे बढ़कर स्त्रियों के अधिकार और क्या हो सकते हैं? पुरुष विकृत संसार की स्पर्धा के धक्कों में पिसता हुआ परिवार के पालन-पोषण का साधन एकत्र करे। स्त्री परिवार को उन्नतिशील तथा हर दृष्टि से स्वस्थ रखने में उन साधनों का प्रयोग करे। इसके अतिरिक्त विश्रान्त तथा क्लान्त पुरुष को वह प्रेम-स्वागत के आनन्द के छींटों से सुखी किया करें। इससे बढ़कर कार्य-विभाजन और कर्तव्य-निष्ठा और क्या हो सकती है? स्त्री अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र शासन करे और पुरुष अपने क्षेत्र में कार्य करे, और जब कभी किसी को कहीं कठिनाई मालूम पड़े अथवा आपदाओं का सामना करना पड़े तब उसे दूर करने में अपनी अपनी जीवन-बलि चढ़ाने को उद्यत रहे। यह अधीनता नहीं, यही सच्ची स्वतन्त्रता है। इसी जीवन-ढङ्ग से समाज और देश को सच्चा सुख प्राप्त हो सकता है। जहाँ दाम्पत्य-जीवन का ऐसा पवित्र उद्देश हो, वहाँ तलाक़ का प्रचार करना समाज की कुसेवा ही कहा जायगा।

तलाक़ एक विष है, जिससे भारतीय स्त्रियों को सावधान रहना चाहिए। तलाक़ वास्तव में इंद्रिय-वासना की भयंकर चीख़ है। स्त्री-समाज को ठंडे हृदय से सोचना चाहिए कि तलाक़-प्रथा में उसका क्या भला है। स्त्री-समाज को प्रकृति ने पुरुष-समाज से भिन्न बनाया है; स्त्रियों का रङ्ग-रूप, उनका शारीरिक संगठन, उनका सौन्दर्य, उनका मन और हृदय पुरुषों से भिन्न है।

वतः स्त्री-संसार के बदनुमा, काँटेदार और त्मक जीवन-निर्वाह-संग्राम में नहीं पड़ सकती। संसार के रूखे, ओछे, कपटी, पाखण्डी तथा ंगी विषाक्त वायु-मंडल में स्वासोच्छ्वास नहीं ला सकती। इससे यह कदापि तात्पर्य नहीं कि स्त्री-समाज ज बना रहे। प्रत्येक स्त्री विदुषी बने, वीरांगना बने, न्यायनाशिनी दुर्गा बने, किन्तु हर घड़ी के लिए नहीं और हर काम के लिए नहीं। उसकी विद्या, उसकी रता और उसकी दुर्गा-शक्ति आदर्श-स्त्रीत्व के संस्थापन और उसकी रक्षा के लिए लगे। और वह पुरुष अथवा पुरुष-समूह जिसका जीवनोद्देश केवल पैसा है, धार्मिकता की न तो परवा करता और न समझने का ही प्रयत्न करता है।

घर सँभालना, बाल-बच्चों का पालन-पोषण करना, मानव-जीवन में अपनी सेवाओं से आध्यात्मिक सौन्दर्य पैदा करना स्त्री-समाज का कर्तव्य है। वे नौकरी नहीं कर सकतीं और कहीं सारा स्त्री-समाज देश के भिन्न-भिन्न विभागों में नौकर ही हो जाय तो प्रकृति उलट जायगी और संसार में वास्तविक प्रलय का जीता-जागता रूप खड़ा हो जायगा। प्रत्येक वास-गृह या तो अनाथालय का रूप धारण करेगा या उजाड़ हो जायगा। तलाक़-प्रथा जारी होने पर देश में स्त्रियों को जीवन-निर्वाह के लिए कमाई करनी पड़ेगी। फिर कोई भी, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, बँधकर रहना पसन्द नहीं करेगा। वैवाहिक-जीवन के प्रति स्त्रियों तथा पुरुषों को अनिच्छा होगी। विवाह के पक्ष का ह्रास होगा, व्यभिचार का बोलबाला होगा और फिर अन्त में फ़ांस, जर्मनी और इँग्लेंड की भाँति ऐसे साधनों की शरण लेनी पड़ेगी जिससे लोग वैवाहिक जीवन की ओर झुकें। तलाक़ अप्राकृतिक है। इससे समाज में उच्छृंखलता और उथल-पुथल पैदा होती है। इससे स्त्री-समाज विशेष हानि है। इससे देश की भावी संतान अनाथ हो जाती है। इससे वैवाहिक जीवन बोझ बनकर जनता में इस जीवन को त्यागने इच्छा पैदा होती है। इससे राष्ट्र का पतन हो इससे परस्पर प्रेम की इति श्री होकर पाख प्रेम का आविर्भाव होगा। इससे पुरुषों और स्त्रि में मनोमालिन्य पैदा होकर स्त्री और पुरुष-समा में गृह-कलह का श्रीगणेश होगा और अन्त जब ईश्वरीय नियमों का प्रतिक्षण उल्लंघन तथ अपमान होता रहेगा तब मानव-समाज छिन्न-भिन्न हो जायगा। तलाक़-भाव को हम जितनी जल्द तला दें और भारतीय स्त्रीत्व के आदर्श का सारे संसार प्रचार करें उतना ही भारत में भारतीय समाज कल्याण होगा और यदि कुल संसार भारतीय स्त्री की ओर झुका और इस आदर्श-पथ पर चला वास्तविक शान्तियुग की संस्थापना होगी। सच्ची तो यह है कि पाश्चात्य देशों में स्त्री-समाज का नहीं है, स्त्री-समाज की इज्ज़त नहीं है और स्त्रियों ज़ोर और उनकी वास्तविक इज्ज़त तब तक हो नहीं सकती जब तक पुरुष और स्त्रियों में भारतीय वैवाहि आदर्श न स्थापित होगा और जहाँ भारतीय आद का प्रादुर्भाव पश्चिम में हुआ, पुरुष-समाज स्त्री-समाज के अधीन होगा और स्त्री-समाज चूँकि स्वभाव प्रेम-भरा, शान्ति-प्रिय अथवा पालन-पोषण करनेवा होता है, कभी पुरुषों को अत्याचार, अशान्ति पर नाशकारी उद्योगों की ओर फटकने नहीं देगा अन्याय सहनेवाले पुरुषों को वह धिक्कारेगा; अन्या मिटेगा और फिर उपजेगा नहीं। कुल दुनिया और शान्ति-रस में बसेगी और परस्पर सहाय से रहेगा। भारतीय स्त्रीत्व की महत्ता ऐसी ही है।
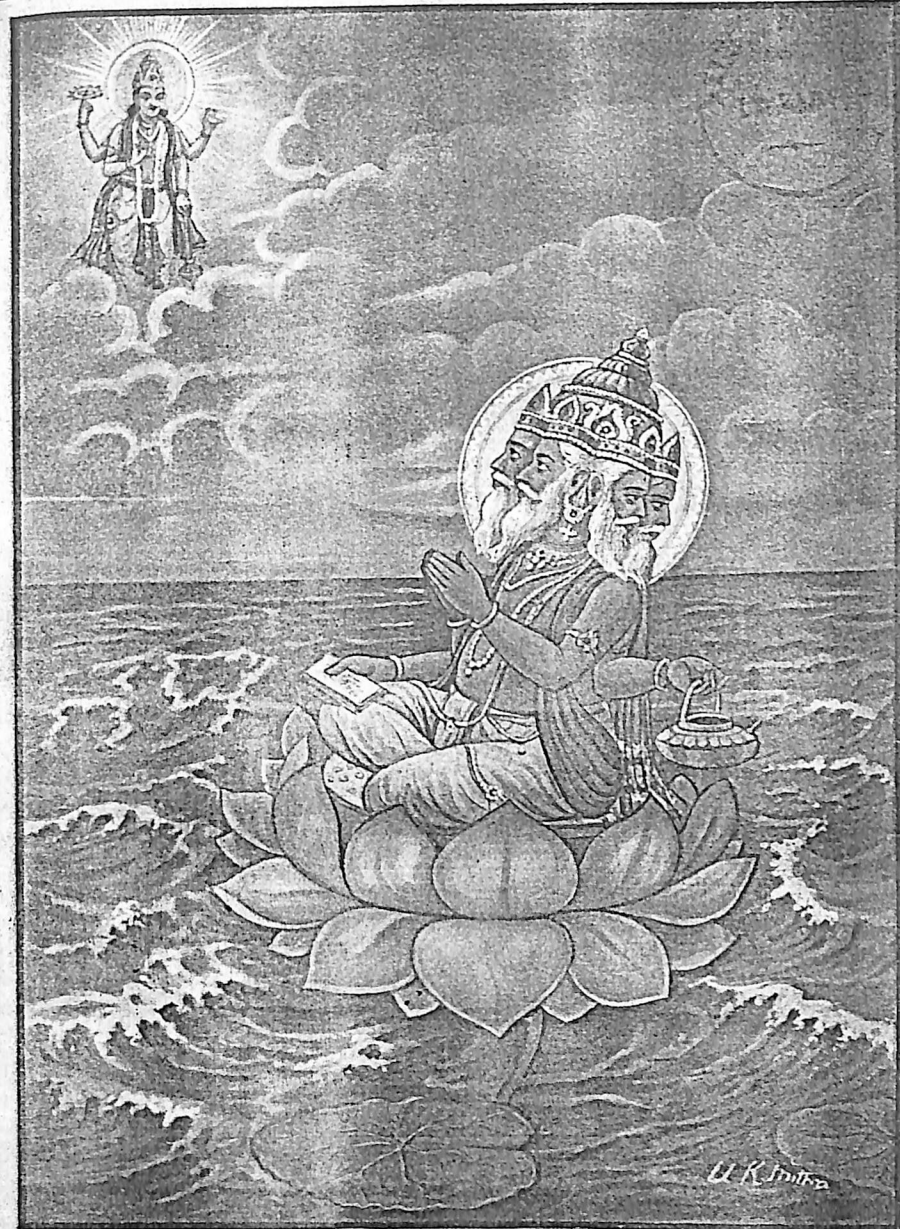
ब्रह्मा

[चित्रकार—श्रीयुत उपेन्द्रकुमार मित्र

पंडित मोहनलाल नेहरू और श्री साहब जी महाराज—स्वदेशी-लीग, प्रयाग में।
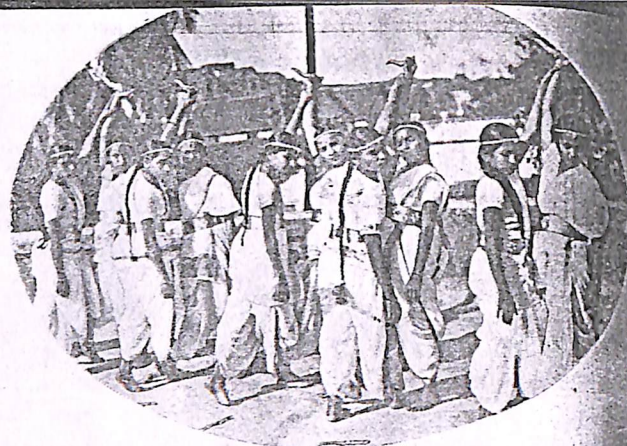
शारदा-मंदिर, कन्यापाठशाला, बम्बई, की छात्राओं का एक नृत्य-व्यायाम जो हाल में ही वहाँ के जिन्ना-हाल में दिखाया गया था।

कु० यमुना सेन ने संगीत-सम्मेलन, दिल्ली, में प्रथम पुरस्कार जीता।
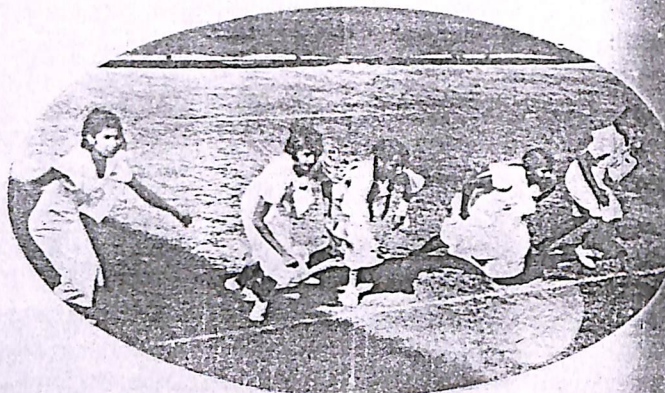
बम्बई में इंटर कालेजों की लड़कियों की दौड़-प्रतिद्वन्द्विता का एक दृश्य।

सीलोन की नई महिला बैरिस्टर कुमारी ई० ओबीस कीरो।

बम्बई कारपोरेशन की मेम्बरी की उम्मीदवार दो महिलायें—श्रीमती जयश्रीरायजी और श्रीमती सुखथंकर।

बड़ौदा की महारानी साहबा राजकुमारी के साथ विलायत की सैर करके वापस आ गई।

[लरेंसो मार्क्विस के भारत-समाज के प्रवर्तक श्री केशवजी जादवजी वर्मा]

पोर्तुगीज़ पूर्व-अफ़्रीका में हिन्दुओं की हालत

लेखक—श्रीयुत भवानीदयाल संन्यासी

पूर्व अफ़्रीका में जो हिन्दू बसे हुए हैं उनमें से अधिकांश ने वहाँ की हब्शी स्त्रियों से ब्याह कर लिया है। पर इन स्त्रियों से जो सन्तानें होती हैं उन्हें वे विधर्मियों को सौंप देते हैं। श्रीयुत भवानीदयाल संन्यासी, जिनसे अधिक अफ़्रीका में हिन्दुओं की स्थिति का कदाचित् ही किसी को ज्ञान हो, ने इस लेख में भारतीयों से अपील की है कि वे इस प्रथा के रोकने और ऐसे २००० वर्णसंकरों को शुद्ध करने में उनके सहायक हों। इसके साथ ही उन्होंने उनकी राजनैतिक परवशता का भी परिचय दिया है।

पोर्तुगीज़ पूर्व-अफ़्रीका की दक्षिण-दिशा में माटोंगालेंड, पश्चिम में ट्रांसवाल और न्यासालेंड, उत्तर में टंगानिका और पूर्व की ओर हिन्द-महासागर है। इसका क्षेत्रफल २,९८,००० वर्गमील है, जिसमें समुद्र-तटवर्ती भू-भाग १,६२६ मील में फैला हुआ है। यद्यपि भारत की खोज में निकले हुए पोर्तुगीज़ अन्वेषक बर्थोलोम्यु डायज़ ने केप का और वासकोडिगामा ने नेटाल का पता लगाया था, तथापि आज तो ये दोनों प्रदेश दक्षिण-अफ़्रीका की संहति के अन्तर्गत हैं और डच एवं अँगरेज़ प्रजा का उद्यान बने हुए हैं। दक्षिण-अफ़्रीका की सीमा के जिस भू-भाग पर पोर्तुगीज़ों ने अपना अधिकार जमाया वह पोर्तुगीज़ पूर्व-अफ़्रीका के नाम से प्रख्यात हुआ।

यह उपनिवेश पोर्तुगाल के प्रजातन्त्र के अधीन है। यहाँ का शासन धारा-सभा एवं अन्तरङ्ग समिति की सहायता से गवर्नर-जनरल करता है। धारा-सभा में सरकारी मनोनीत और निर्वाचित सदस्य हैं। यह प्रदेश सात खण्डों में बँटा हुआ है। इसकी राजधानी लरेंसो मार्क्विस है।

यहाँ किसी धातु के सिक्कों का दर्शन दुर्लभ है। सारा कारबार केवल काग़ज़ के नोटों से चलता है। यहाँ तक कि पैसे-आने के भी नोट होते हैं। जो अँगरेज़ी पौंड भारत के विनिमय के अनुसार १३।=) का होता है उसे यदि आप पोर्तुगीज़ पैसे में बदल डालें तो आपकी जेब नोटों से भर जायगी। यहाँ १०० रेस का एक कुर्जात, १० कुर्जात का एक

... र १०० इस्कूद का एक अँगरेज़ी पौंड होता है। इस हिसाब से एक पौंड का एक हज़ार कुर्जात होता है। नवागत मनुष्यों को यहाँ के नोटों का गोरखधंधा समझने में बड़ी कठिनाई होती है। कुशल यही है कि यहाँ ब्रिटिश सिक्के भी जारी हैं, जिससे यात्रियों और पर्यटकों को बड़ी सुविधा होती है।

यहाँ प्रवास-क़ानून भी बड़ी कड़ाई से अमल में लाया जाता है। यदि किसी को भारत-सरकार की ओर से पासपोर्ट मिल जाय तो उसे बम्बई में पोर्तुगीज़ कौन्सल के सामने हाज़िर होना चाहिए और १३॥।=) देकर 'विसा' ले लेना चाहिए। और यदि कोई परिवार के साथ हो तो उसे २०) की दक्षिणा चुकानी चाहिए। किन्तु इतने से ही मसला हल नहीं हो जाता। यहाँ की भूमि पर पैर रखने के लिए १०० पौंड नक़द ज़मानत धरना ज़रूरी है और इस योग-क्षेम को पूरा करके उतरने के बाद पाँच दिन के अन्दर प्रवास का परवाना ले लेना चाहिए। यात्रियों और पर्यटकों के लिए इस क़ानून का प्रयोग नहीं किया जाता; किन्तु उनके प्रवास की अवधि तीन मास से अधिक नहीं होनी चाहिए।

लरेंसो मार्क्विस में पहले-पहल सन् १८६० में भारतीयों का पदार्पण हुआ था। उस समय वहाँ हबशी-नरेश गंगुयान का राज्य था। भारतीयों ने इस उपनिवेश में आकर बसना और व्यापार करना शुरू किया। इसके पाँच साल के बाद सन् १८६५ में पोर्तुगीज़ लोग वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने भारतीयों की सहायता से राजा गंगुयान को मार भगाया। भारतीयों की वीरता के बदले में उनसे कहा गया कि जितनी ज़मीन की ज़रूरत हो, ख़ुशी से ले लें। परन्तु उस समय तो सारा उपनिवेश सघन वन से आच्छादित था और किसी को स्वप्न में भी यह ख़याल नहीं था कि यही भयानक वन भविष्य में एक दिन रमणीक ग्रामों और सुन्दर नगरों के रूप में परिणत हो जायगा। इसलिए भारतीयों ने अपने बसने भर की ज़मीन लेकर ही सन्तोष कर लिया। इसके बाद भारतीय व्यापारियों के आगमन का सिलसिला जारी हो गया। उधर लिस्बन से पोर्तुगीज़ प्रजा भी दल बाँधकर बसने के लिए आने लगी। भारत में भी पोर्तुगीज़ों के गोआ, डमन और ड्यू के इलाक़े हैं। वहाँ के भारतीय भी नौकरी और व्यापार की गरज़ से यहाँ आने लगे और पोर्तुगीज़ प्रजा होने के कारण उनको समानता का अधिकार दिया गया। काठियावाड़ी व्यापारी भी यहाँ अच्छी संख्या में आ पहुँचे। अन्त में जब दक्षिण-अफ़्रीका का दरवाज़ा भारतीयों के लिए बिलकुल बन्द कर दिया गया तब बहुत-से गुजराती भाइयों ने भी इसी प्रदेश में डेरा जमाया। इस समय पोर्तुगीज़ पूर्व-अफ़्रीका में भारतीयों की संख्या लगभग पाँच हज़ार है। परन्तु इसमें प्रायः घटती-बढ़ती होती रहती है।

[पोर्तुगीज़ पूर्वी अफ़्रीका के लरंसो मार्क्विस नामक स्थान के भारत-समाज के ... अधिकारी और स्वयंसेवकों के साथ श्रीयुत भवानीदयाल संन्यासी]

[हबशी युवक "मिढाऊ"]
(शुद्धि से पहले)

[हबशी युवक "मिढाऊ"]
(शुद्धि के बाद नवीनचन्द्र बन जाने पर)

जिन भारतीयों ने पोर्तुगीज़ पूर्व-अफ़्रीका को आबाद करने में इतना त्याग और परिश्रम किया था उन्हें आज दूध की मक्खी की भाँति निकाल फेंकने के लिए वहाँ की सरकार तुली हुई है। नवीन भारतीयों का प्रवेश तो बिलकुल वर्जित है ही, किन्तु जो पुराने प्रवासी हैं उनकी हालत भी ख़तरे से ख़ाली नहीं है। अब जो यहाँ का पुराना प्रवासी भी भारत जाना चाहे तो उसके लौटकर आने के मार्ग में बड़ी कठिनाई है। जाना तो सहज है, लेकिन लौटना है कण्टकाकीर्ण और विशेष अवस्था में असम्भव भी। एक ऐसा क़ानून बना दिया गया है कि जिनका यहाँ ज़मीन या व्यापार है, केवल वही देश जाकर वापस आ सकते हैं। साधारण स्थिति का भारतीय यदि यहाँ से गया तो सदा के लिए गया और यदि वह लौटने का साहस करता है तो उसके साथ वही व्यवहार होगा जो नवीन प्रवासी के लिए होता है। इस विषय में पोर्तुगीज़ सरकार ने तो दक्षिण-अफ़्रीका की सरकार को भी मात कर दिया है। दक्षिण-अफ़्रीका में जिसका प्रवासाधिकार क़ायम हो गया है वह किसी भी समय भारत जा सकता है बशर्ते कि तीन साल के अन्दर लौट आवे। किन्तु पोर्तुगीज़ सरकार ने भारतीयों की संख्या घटाने अथवा उनको यहाँ से हटाने के लिए जो ढङ्ग ग्रहण किया है वह सर्वथा

अनुचित, अन्यायपूर्ण और निन्दनीय है। हाल में ही एक ऐसा भी क़ानून बनाया गया था कि सभी भारतीय व्यापारियों को ७५ प्रतिशत पोर्तुगीज़ प्रजा नौकर रखनी चाहिए। इससे बड़ी हलचल मच गई थी। कुछ दिनों तक भारतीय व्यापारी इस क़ानून के अमल के कारण बहुत तङ्ग और तबाह रहे। किन्तु बाद को इस विषय पर भारत में घोर आन्दोलन होने के कारण इस क़ानून का अमल स्थगित कर दिया गया।

ऐसे तो मैं अनेक बार पोर्तुगीज़ पूर्व-अफ़्रीका के बन्दरगाहों से गुज़र चुका हूँ और वहाँ की सभा-समितियों में भाषण भी कर चुका हूँ, किन्तु पिछले दो वर्षों में मुझे वहाँ जाने, कुछ काल ठहरने और वहाँ की आन्तरिक अवस्था से परिचित होने का विशेष अवसर प्राप्त हुआ है। मैंने केवल नगरों का ही अवलोकन नहीं किया, प्रत्युत जङ्गलों में हज़ारों मील का पर्यटन किया है और वहाँ की भारतीय प्रजा की हालत अपनी आँखों से देखी है। अतएव "सरस्वती" के लिए यह लेख मैं इधर-उधर से एकत्र की हुई सामग्री अथवा सुनी-सुनाई बातों पर नहीं, किन्तु अपने अनुभवों के आधार पर लिख रहा हूँ। खेद है कि भारतीय पत्रकार उपनिवेशों और प्रवासी भाइयों की ओर से उदासीन हैं अथवा जितना ध्यान देना चाहिए, नहीं देते हैं। इससे अनेक उपनिवेशों के प्रवासी भारतीयों का इतिहास अन्धकार में छिपा पड़ा है, जिनमें पोर्तुगीज़ पूर्व-अफ़्रीका भी एक है।

[श्रीयुत भवानीदयाल संन्यासी]

इस उपनिवेश में जो बात मुझे सबसे अधिक खटकी वह है हिन्दुओं की दुर्गति। ऐसे तो सर्वत्र ही हिन्दुओं की अधोगति हो रही है। जहाँ जहाँ आर्य-समाज का प्रचार हुआ है, वहाँ वहाँ के हिन्दू कुछ सँभल गये हैं, शेष सर्वत्र ही लावारिस माल की तरह पड़े हुए हैं। ट्रिनीडाड, डमरावा, जमैका, कनाडा आदि उपनिवेशों के अधिकांश शिक्षित भारतीय ईसाई हो गये हैं, किन्तु यहाँ के हिन्दू ईसाई नहीं हुए हैं, यही ग़नीमत है। यहाँ के हिन्दुओं की आर्थिक अवस्था भी साधारणतया अच्छी है—कुछ हिन्दू व्यापारी तो वाणिज्य-व्यवसाय में अपना सानी नहीं रखते। विकट वनों में जहाँ योरपीय प्रजा का दर्शन मिलना कठिन है वहाँ भी आपको ऐसे भारतीय मिलेंगे जो अपनी दूकान सजाये बैठे हुए हैं। सारे प्रदेश में, क्या नगर और क्या जंगल में, सर्वत्र ही उनके व्यापार का जाल बिछा हुआ है। जहाँ उनका साहस और उनकी कर्मशीलता को देखकर अभिमान से मस्तक उठ जाता है, वहाँ उनकी सामाजिक और नैतिक दुर्दशा पर ध्यान देते ही शर्म से सिर झुक जाता है।

आज लगभग पौन सदी से हिन्दू यहाँ बसते हैं। पहले तो समुद्र-यात्रा ही एक ऐसी चीज़ थी जो हिन्दू-

धर्म को रसातल में पहुँचा देती थी, तिस पर स्त्री-बच्चों के साथ परदेश की यात्रा करना तो इतना भारी पाप था जिसका हिन्दू-धर्म में कोई प्रायश्चित्त ही नहीं। फल यह हुआ कि यहाँ आकर सैकड़ों हिन्दुओं ने हबशी स्त्रियों को उपपत्नी बनाकर रख लिया। बड़े बड़े हिन्दू व्यापारियों ने भी इस दुष्कर्म से संकोच नहीं किया। फिर साधारण श्रेणी के हिन्दुओं का कहना ही क्या? यह भी बात थी कि सेठ लोग भारत से जो नौकर बुलाते थे वे भी किसी हबशी स्त्री से सम्बन्ध जोड़ लेने के लिए मजबूर किये जाते थे। इसका कारण यह था कि जंगलों में कितने ही हिन्दू दूकानदारों की हत्या हो जाती थी; किन्तु जिनके पास हबशी स्त्री होती थी उन पर कोई हबशी हाथ नहीं उठाता था। मुसलमानों ने तो इस दिशा में हिन्दुओं से भी बढ़कर हाथ मारा। उन्होंने तो हबशी स्त्रियों से वर्ण-संकरी सन्तान उत्पन्न करने में कमाल कर दिखाया। किन्तु उनमें एक विशेषता थी; वे जो सन्तान पैदा करते थे उनके साथ मनुष्योचित व्यवहार करते थे और उनको पक्का मुसलमान बनाकर छोड़ते थे। इधर हिन्दुओं की दशा विचित्र थी। उन्होंने जो वर्णसंकरी सन्तान की सृष्टि की वह उनके लिए एक पूर्ति न होनेवाली समस्या बन गई। उन बच्चों को वे करें क्या? हिन्दू-धर्म में उनके लिए स्थान कहाँ? अन्त में उन्हें यह उपाय सूझा कि उन बच्चों को मुसलमानों और ईसाइयों के हवाले कर देना चाहिए—वहाँ इनको उपयुक्त स्थान और आश्रय मिल जायगा, उनमें ये घुलमिल भी जायँगे। इस विचार-धारा का परिणाम यह हुआ कि हिन्दुओं से जितने बच्चे पैदा हुए वे सब ईसाइयों और मुसलमानों को सौंप दिये गये। यहाँ तक कि यदि किसी हिन्दू के घर बच्चा पैदा होता था तो उसी समय उसका मुसलमानी नाम धर दिया जाता था और कुछ बड़ा होने पर मुसलमानों के अनाथालय में पहुँचा दिया जाता था। कैसी आत्म-विस्मृति और कैसी आत्मप्रवंचना! इस प्रकार हिन्दुओं की लगभग दो हज़ार सन्तानें विधर्मियों की गोद में चली गईं। इनमें कितने तो ऐसे हैं जो लक्षाधिपति हिन्दुओं के वीर्य से उत्पन्न हुए हैं। इनको "मुजेवट" या "मूलाद" कहते हैं।

[दक्षिण-अफ़्रीका में भारत के एजन्ट जनरल कुँवर सर महाराजसिंह और श्री भवानीदयाल संन्यासी]

प्रसिद्ध हिन्दू व्यापारी पन्नाचन्द का पुत्र आज इस्माइल पन्नाचन्द बना हुआ है। इसी श्रेणी के एक सज्जन हरिदास हैं। उनकी माता हबशी महिला थी और पिता थे हिन्दू दुर्लभदास। इन्होंने अपने पुत्र हरिदास का नाम बचपन में हुसेन भाई रख दिया था। जब मैं हरिदास से जाकर मिला तब हिन्दू-धर्म पर उनकी अटल निष्ठा देखकर दंग रह गया। उनको भारत जाने और कुछ गुजराती पढ़ने का मौक़ा मिल गया था; इसलिए वे स्वामी-नारायण के मतावलम्बी बन गये हैं। जहाँ स्वयं यहाँ के हिन्दू

पश्चिमीय सभ्यता के रंग में सराबोर हो रहे हैं, वहाँ भाई हरिदास पर उसका लेशमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा है और उनका आचार-विचार और व्यवहार आर्य-संस्कृति से ओतप्रोत है। इस प्रदेश में भाई हरिदास से बढ़कर दूसरा कोई कट्टर हिन्दू है या नहीं, इसमें सन्देह ही है। फिर भी अनेक उच्च वर्णाभिमानी हिन्दू हरिदास को हुसेन भाई कहकर पुकारने में ही अपना गौरव और बड़प्पन समझते हैं।

पिछले साल जब मैं वहाँ गया था तब हिन्दुओं की दुर्गति की कहानी सुनकर दंग रह गया था। किन्तु निराशा में भी आशा की एक किरण दृष्टिगोचर हुई। जंजिबार से श्री केशव जी जादव जी वर्मा लरेंसो मार्क्विस में आकर बस गये हैं। उन्होंने 'भारत-समाज' की स्थापना की है, जिसके २०० से अधिक सदस्य हैं। यह एक रजिस्टर्ड संस्था है। इसके अधीन एक पाठशाला भी है, जिसमें बालकों को मातृभाषा और आर्य-संस्कृति की शिक्षा दी जाती है। वर्मा जी एक उत्साही कार्यकर्ता हैं—आप में लगन है, धुन है और है वैदिक-धर्म-प्रचार की उत्कट आकांक्षा। इस समाज के प्रथम और द्वितीय वार्षिकोत्सव क्रमशः सन् १९३३ और १९३४ में हुए थे, जिनमें मुझे सम्मिलित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। नाम तो इसका है 'भारत-समाज', किन्तु इसके सारे नियम और कार्यक्रम आर्यसमाज के हैं।

इस अवसर पर मैंने वर्णसंकरों की शुद्धि का श्रीगणेश किया। प्रथम यात्रा में ही लगभग एक दर्जन व्यक्तियों की शुद्धि की। द्वितीय यात्रा के समय भी मैंने अनेक वर्णसंकरों को वैदिक धर्म की दीक्षा दी। यही नहीं, एक विशुद्ध हबशी युवक को भी हिन्दू बनाया। पहले वह "मिढाऊ" था और अब "नवीनचन्द्र" बन गया। वह गायत्री-मन्त्र जपता है और मांस-मदिरा से बिलकुल परहेज़ करता है। इस घटना से हिन्दुओं की आँखें खुल गई हैं और उन्हें अपनी पिछली भूल पर पश्चात्ताप हो रहा है। उनके सामने जो आवरण था वह हट गया। और अब तो 'भारत-समाज' किसी को भी शुद्ध करके हिन्दू-धर्म में मिला लेने को तैयार है।

हबशियों में शुद्धि का कार्य जारी करना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि ईसाई मिश्नरियों का सर्वत्र जाल बिछा हुआ है और उनका मुक़ाबला करना सहज नहीं है। सरकार भी सब प्रकार से ईसाई मिश्नरियों की सहायता करती है। इस काम में तो प्रचुर धन-जन की आवश्यकता है, किन्तु हिन्दुओं की वर्ण-संकरी सन्तान जो लगभग दो हज़ार है, सहज में ही हिन्दू-धर्म में वापस लाई जा सकती है और हिन्दुओं के पापों का प्रायश्चित्त भी हो सकता है बशर्ते कि एक उदार उपदेशक सारे उपनिवेश का परिभ्रमण कर वैदिक-धर्म का प्रचार करे और साथ ही एक ऐसी संस्था की स्थापना की जाय जिसमें उनके बच्चों को आर्य-संस्कृति की शिक्षा दी जा सके। केवल पन्द्रह बीस हज़ार रुपये की पूँजी से यह काम शुरू किया जा सकता है। एक सिक्ख भाई ने इस दिशा में कुछ उद्योग भी किया था, किन्तु अर्थाभाव से उनका काम रुक गया। इन वर्णसंकरों में वैदिक धर्म का ही प्रचार होना चाहिए—अन्य भारतीय सम्प्रदाय इन पर असर नहीं डाल सकते। ईसाई और इस्लाम के मुक़ाबले में वैदिक धर्म ही टिक सकता है। किन्तु इस तरफ़ ध्यान कौन दे? आर्य-सार्वदेशिक-सभा ने अमेरिका को आर्य बनाने का काम प्रारम्भ कर दिया है और सनातनियों से कुछ आशा करना मृग-तृष्णा ही है। इस स्थिति में वहाँ के 'भारत-समाज' को ही शुद्धि का कार्य आगे बढ़ाना चाहिए और कम से कम उन लोगों को तो वापस लाना ही चाहिए जो हिन्दुओं की सन्तान हैं।

हमारे प्राचीन साहित्य का दृष्टिकोण

लेखक,
श्रीयुत उदयशंकर भट्ट, एम० ए०

प्राचीन काल में केवल विद्वानों और राजाओं के लिए साहित्य का निर्माण होता था। यह बात न होती तो संस्कृत का आज रूप ही बदला हुआ होता। संस्कृत का यह दोष ब्रज-भाषा में भी बना रहा और उसके ह्रास और खड़ी बोली के अभ्युदय का कारण हुआ। इस लेख में विद्वान् लेखक ने इन्हीं सब बातों को संक्षेप में पर सुन्दर ढङ्ग से सिद्ध किया है।

पुराने ज़माने से लेकर आज से कुछ पहले तक भारतीय साहित्य जिस वातावरण में पला-पुसा है उसका अध्ययन करने पर कई नई बातें मालूम होती हैं। पुराने समय में 'साहित्य' शब्द एक बहुत छोटी सीमा में रहा है। संस्कृत-साहित्य में ऐसे कई प्रमाण मिलते हैं जिनसे मालूम होता है कि 'साहित्य' शब्द का प्रयोग केवल काव्यों-नाटकों के लिए ही होता था। यहाँ तक कि संगीतकला भी उससे बाहर समझी जाती थी। हितोपदेश का एक मोटा श्लोक इसका सबसे बड़ा प्रमाण[1] है। इस श्लोक में संगीत साहित्य से भिन्न समझा गया है। इसके अतिरिक्त राजशेखर ने काव्यमीमांसा में भी एक जगह साहित्य-शब्द को व्याकरण, मीमांसा, तर्क (न्याय) आदि से पृथक् करते हुए पाँचवीं विद्या[2] माना है। इसी तरह मुकुल ने अभिधावृत्ति की कारिकाओं[3] में साहित्य को सब शास्त्रों से पृथक् माना है। मालूम होता है, आगे चलकर इसी लिए विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में केवल काव्यों और नाटकों को ही साहित्य में स्थान दिया है। राजशेखर ने साहित्य की व्युत्पत्ति करते हुए एक जगह लिखा है कि "शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या।"[1] यहाँ साहित्य से केवल शब्द (काव्य) और उसके अर्थ के सहभाव को साहित्य माना है। आगे चलकर लेखकों ने "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" इसी पर ज़ोर दिया है।

इन उपर्युक्त प्रमाणों से मालूम होता है कि साहित्य से केवल काव्य ही लिये जाते थे। दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिए कि काव्यों का ही अर्थ साहित्य था। और दृश्य और श्राव्य भेद से नाटकों को भी साहित्य में स्थान मिला। काव्य-नाटकों के बनाने में कुछ बातें ही कारण थीं। उस समय के प्रखर समालोचक मम्मट भट्ट ने 'काव्य-प्रकाश' में काव्यनिर्माण के प्रयोजन गिनाते हुए एक जगह लिखा है कि काव्य की रचना के कारण—यश, धन, व्यवहारज्ञान, कल्याण आदि हैं। इन्हीं कारणों से प्रेरित होकर प्राचीन विद्वान् लोग काव्य-निर्माण करते थे। इन कारणों में लोकैषणा ही प्रधान मालूम होती है। 'कल्याण' शब्द से उनका आशय अध्यात्मवाद

१ साहित्यसंगीतकलाविहीनः
साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।
२ पञ्चमी साहित्य विद्येति यायादरीयः। काव्य-मीमांसा पृ० ४
३ व्याकरणमीमांसातर्कसाहित्यात्मकेषु चतुर्षु शास्त्रेषूपयोगात् अभिधावृत्तिः पृ० २१

१ काव्यमीमांसा पृ० ५

नहीं, किन्तु काव्य- सुनते हुए जो ब्रह्मास्वाद-सहोदर आनन्द उत्पन्न होता है, उसी से लेखक का अभिप्राय है। प्रश्न यह है, क्या साहित्य से आत्मा और परमात्मा-सम्बन्धी कोई ज्ञान नहीं होता। तब क्या मनोरंजन ही साहित्य-रचना का प्रधान कारण नहीं था? इन दोनों प्रश्नों पर विचार करने पर एक बात साफ़ मालूम होती है कि प्रत्येक नाटक और काव्य में मंगलाचरण करने के बाद भी कवि का अभिप्राय राजा या प्रजा का मनोरंजन करना होता था। इस नतीजे पर पहुँचते हुए एक बात और मालूम होती है, वह यह कि वृद्ध स्त्री-पुरुषों को भी संस्कृत-साहित्य में कोई स्थान नहीं दिया गया। आदि से अन्त तक विचार करने पर न तो कोई कवि ऐसा मालूम होता है जिसने वृद्धावस्था में भी इस प्रकार के साहित्य की सृष्टि की हो और न कोई वृद्ध-चरित्र ही किसी काव्य या नाटक में प्रधान स्थान पा सका है। एक तरह से बुढ़ापा हमारे साहित्यिकों के लिए घृणास्पद बात थी।

वाल्मीकि रामायण और महाभारत के रचयिताओं को छोड़कर बाक़ी साहित्य-रचना का श्रीगणेश विद्वान् लोग 'बुद्धचरित' और 'शारिपुत्र-प्रकरण' के बनानेवाले अश्वघोष से करते हैं। अश्वघोष से पूर्व नाटककारों का न तो कोई ज्ञान ही है, और न कोई नाटक या काव्य ही ऐसा मिला है जिससे अश्वघोष के पूर्व साहित्य-निर्माण हुआ, ऐसा समझा जाय। इससे मेरा यह अभिप्राय नहीं कि इससे पूर्व नाटकों अथवा काव्यों का बीज ही नहीं था।

अस्तु, संस्कृत-साहित्य के सभी अंगों पर विचार करने पर यह बात बड़ी विचित्र मालूम होती है कि साहित्य में वृद्धों का स्थान ही नहीं है। और वृद्धों के लिए साहित्य है भी नहीं। अश्वघोष के बुद्धचरित से ही बौद्ध-साहित्य में यह कथानक प्रचलित हुआ कि गौतम एक बूढ़े और मृत पुरुष को देखकर उद्विग्न हो उठे थे। वहाँ बुढ़ापे का रूप उसने बड़ी कुत्सा के साथ लिखा है। भास के प्रतिमा नाटक में एक जगह बूढ़े दशरथ की मूर्ति दिखाई गई है। इसी तरह कालिदास में कण्व केवल एक बार रंग-मंच पर आते हैं। परंतु ये दोनों चरित्र वहाँ प्रधान नहीं समझे गये हैं। इसके विपरीत मालतीमाधव में भवभूति ने बूढ़ी कामन्दकी का चरित्र अंकित करके बौद्ध संन्यासिनियों का उपहास किया है। नहीं तो कोई कारण नज़र नहीं आता कि कामन्दकी बौद्धरूप में क्यों दिखाई गई। कामन्दकी को बौद्ध बनाकर दिखाने का यह उद्देश मालूम होता है कि बौद्ध-भिक्षु और भिक्षुणियाँ षड्यंत्रकारी होते हैं।

यही बात कालिदास के रघुवंश से मालूम होती है। राजा दिलीप के घर नंदिनी की सेवा के फल-स्वरूप रघु उत्पन्न होता है। रघु के समर्थ होते ही वह दिलीप को वन में भेज देता है। इससे भी मालूम होता है, वृद्धों का चरित्र अंकित करना उस समय कवियों को अभीष्ट न था।

इसमें एक बात और भी है कि वृद्धावस्था मनुष्य-जीवन की ऐसी अवस्था है जिसका इस प्रकार के साहित्य में कोई उपयोग नहीं है। उस समय वृद्ध होते ही प्रायः कवि लोग लेखनी को संन्यास दे देते थे या फिर अध्यात्म के ऊपर ग्रन्थ लिखते थे। भर्तृहरि ने युवावस्था में महाकाव्य पर टिप्पणी, शृंगारशतक, नीतिशतक की रचना की। वैराग्यशतक उनकी अन्तिम अवस्था की कृति है। इत्सिंग ने एक जगह लिखा है कि भर्तृहरि ने सात बार संन्यास लिया और सात ही बार गृहस्थ-धर्म में प्रवेश किया। यह बात कहाँ तक ठीक है, इसका हमें फ़ैसला नहीं करना है। परन्तु उसके एक श्लोक से यह बात साफ़ प्रकट है कि वैराग्यशतक उस समय लिखा गया जब वह जीर्ण (बूढ़ा) होगया था। वह श्लोक यह है—

> भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः
> तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
> कालो न यातो वयमेव याताः
> तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥

भर्तृहरि के ये अनुभव हैं जो उसने ऊपर श्लोक में स्पष्ट किये हैं। इससे यह भी साफ़ मालूम होता है कि अध्यात्मवाद के वेदान्त आदि ग्रन्थ भी 'साहित्य' में शामिल नहीं किये जाते थे। दूसरी बात जो संस्कृत-साहित्य के अध्ययन से मालूम होती है वह है केवल विद्वानों और राजाओं के लिए साहित्य का निर्माण। प्रत्येक नाटक की प्रस्तावना में प्रायः प्रत्येक नाटककार ने सूत्रधार के मुँह से कहलवाया है कि 'विद्वानों की परिषद् तथा राजाओं के लिए हमारा यह नाटक है।' इसके साथ ही काव्यों में कवियों ने भी कहीं इसी प्रकार का उल्लेख किया है। श्रीहर्ष ने नैषध के प्रारम्भ के श्लोक में बुद्धिमानों के लिए यह काव्य है, इसकी व्यंजना[1] की है।

इसी प्रकार श्री गोवर्द्धनाचार्य ने आर्यासप्तशती अपने राजा लक्ष्मणसेन के लिए लिखी। यह बात उसके एक श्लोक[2] से मालूम होती है। और भी बहुत-से ग्रन्थों में काव्य-रचना के प्रयोजन यही लिखे गये हैं। इससे यह स्पष्ट है कि संस्कृत-साहित्य साधारण जनता के हित के लिए लिखा ही नहीं गया। संस्कृत कभी भी जन-साधारण की भाषा नहीं थी। इसका परिणाम यह हुआ कि साधारण लोगों में संस्कृत का प्रचार नहीं हो पाया। और साहित्य इने-गिने राजाओं और कुछ पण्डितों की सम्पत्ति बन गया। मालूम होता है, उस समय ख़ास ख़ास जगह साहित्य-गोष्ठियाँ होती थीं। उनमें प्रशंसाप्राप्त हो जाने पर ही साहित्यज्ञ का जन्म सार्थक हो जाता था। इन कवियों पर समालोचकों का अंकुश सदा रहता था। उन्होंने अपनी विद्वत्ता के सहारे काव्य और नाटकों को इतने बन्धन में जकड़ दिया कि संस्कृत-साहित्य का एक भी ग्रन्थ सब गुणों से युक्त और निर्दोष नहीं समझा गया। श्रीहर्ष अपने समय का सबसे बड़ा पण्डित था। उसके सम्बन्ध में एक कथा इस प्रकार चली आती है कि वह नैषध लिख चुकने के बाद मम्मट के पास उसे दिखाने ले गया। मम्मट ने उसे देखा और पुस्तक लौटाते हुए कहा कि "खेद है, मुझे तुम्हारे इस ग्रन्थ का पता न था। अन्यथा मुझे काव्यप्रकाश के लिए दोष ढूँढ़ने में इतना श्रम न करना पड़ता।" इसी तरह कालिदास के विषय में यह किंवदन्ती मशहूर है कि उसके सब काव्यों में ग्यारह श्लोक निर्दोष हैं। इन लक्षण-ग्रन्थों के कारण पाण्डित्य-प्रदर्शन ही उस समय के कवियों का काम रह गया था।

संस्कृत-साहित्य में जितने लक्षण-ग्रन्थ हैं, उतने शायद ही किसी साहित्य में पाये जायँ। यहाँ तक कि एक एक मूल ग्रन्थ के ऊपर बीसियों उपाङ्ग, लक्षण और रीति-ग्रन्थ लिखे गये। एक एक भेद के पचासों उपभेद कर डाले गये। उदाहरण के तौर पर उपमा अलंकार को ही लीजिए। यास्क ने निरुक्त में ६ प्रकार की उपमायें बताई हैं, परन्तु उन्हीं के भेद-उपभेद बनते बनते प्रतापरुद्रयशोभूषण में उनकी संख्या २८ तक हो गई। इसी प्रकार और अलंकारों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। अकेले पाणिनि के ग्रन्थ अष्टाध्यायी पर सैकड़ों ग्रन्थ बन गये। जिस विषय के पढ़ने में पहले दो-चार साल लगते थे उन्हीं विषयों के लिए बीसियों वर्ष की आवश्यकता समझी गई। अकेले व्याकरण पढ़ने के लिए बारह वर्ष का समय चाहिए, चौदह वर्ष केवल न्याय के लिए। ज़रा ज़रा-सी बात का बतंगड़ बनाकर उन पर ग्रन्थ के ग्रन्थ रच डाले गये। यह था संस्कृत-साहित्य के ह्रास का कारण! इसी लिए संस्कृत सर्व-साधारण की भाषा न बन सकी। जिस भाषा या साहित्य में नियमों और उपनियमों का कड़ा क़ानून हो, जहाँ पद पद पर बन्धन हों, वह भाषा अविरल भाव से कब आगे बढ़ सकती है? कुछ लोगों का विश्वास है

१ निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथा-
स्तथाद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि। नैषध प्र० सर्ग १ श्लो०

२ सकलकलाः कल्पयितुं प्रभुः प्रबन्धस्य कुमुदबन्धोश्च
सेनकुलतिलकभूपतिरेको राका प्रदोषश्च।
आर्यासप्तशती, पृ० १३

कि बन्धनों से ही संस्कृत-साहित्य स्थिर रह सका है। यह बात किसी अंश तक ठीक हो सकती हो, परन्तु इससे संस्कृत-साहित्य की गति कितनी रुकी, यह भी ध्यान देने योग्य है।

आगे हिन्दी-साहित्य में यह बात कुछ कम हो गई। साहित्य का रूप कुछ विस्तृत हो गया। उसके दृष्टि-कोण में अन्तर आ गया। काव्य-नाटकों के अलावा साधारण कथा-कहानी तथा भक्ति-रस को भी साहित्य में स्थान मिला। तुलसीदास ने विश्व-जनीन साहित्य की रचना की। उसमें इतिहास, कथा, व्यवहार, राज़नीति, धर्मनीति, समाजनीति को स्थान दिया। भक्तिरस को साहित्य में सबसे पहले प्रधान स्थान मिला।

सूरदास ने भक्ति के बल भक्ति-रस से साहित्य को सजाया। न किसी छन्द का नियम था, और न किसी व्याकरण का बन्धन। संस्कृत के समान शब्द शब्द पर उठनेवाले शास्त्रार्थों की भी उसे परवा नहीं थी। हाँ, मैं भूल गया। कबीर ने भी संस्कृत के नियमों का बन्धन स्वीकार न किया। उसके पचासों दोहे छन्द-नियम के विरुद्ध हैं। उसने साहित्य के किसी नियम का पालन नहीं किया। इस तरह हिन्दी ने साहित्य की नई दिशा पकड़ी। कहा जा सकता है कि साहित्य-निर्माण के बाद लक्षणों की रचना होती है। इसका उत्तर यह है कि जो साहित्य इन महानुभावों ने तैयार किया, न तो उनके ऊपर व्याकरण की नींव खड़ी हुई और न पण्डितों ने उन पर कोई ध्यान ही दिया। उस समय पण्डित लोग हिन्दी को तुच्छ समझते थे। इसलिए प्रायः संस्कृत में ग्रन्थ लिखते थे। यह भी एक तरह से अच्छा ही हुआ, अन्यथा हिन्दी का दुर्भाग्य वहीं से प्रारम्भ हो जाता। इसका परिणाम यह हुआ कि व्रज-भाषा कुछ हेर-फेर के साथ उस समय सम्पूर्ण भारत की भाषा बन गई। कविता का क्षेत्र व्रज-भाषा बन गया। परन्तु व्रज-भाषा ने आगे चलकर जो मार्ग ग्रहण किया वह संस्कृत से भी भयंकर सिद्ध हुआ। आगे चलकर व्रज-भाषा के कवियों का परिश्रम और उनका मस्तिष्क शृंगार की गुत्थियों के सुलझाने में लीन हो गया। नायक-नायिकाओं के हज़ारों भेद कर डाले। कवित्त में नायिका पहचानना एक बड़े पाण्डित्य का काम समझा जाने लगा। कविता में अलंकारों के लिए कृत्रिम से कृत्रिम उपाय काम में लाये गये। बिना नायिका भेद और बिना अलंकार के कोई कविता ही नहीं होती थी। व्रज-भाषा में नायिका-भेद की बीमारी आर्यासप्तशती, अमरुशतक, शृंगारतिलक आदि मुक्तक काव्यों से आई। मालूम होता है, नायिकाओं के मांसल साहित्य से ही नवयुग को अरुचि हुई और खड़ी बोली के उत्पन्न होने में सुविधा हुई।

ये हैं हमारे साहित्य की प्रगतियाँ और उनके रूप। वास्तव में मध्य-युग के साहित्य के ह्रास का कारण उसका दृष्टि-संकोच तथा रीति आदि ग्रन्थों की अधिकता है। अन्यथा संस्कृत का आज रूप ही बदला हुआ होता। न तो प्रान्तीय भाषायें होतीं और न शायद उर्दू-हिन्दी के झगड़े।

नाविक !

लेखक, पण्डित सूर्यनारायण व्यास

नाविक! मेरे हृदय-सिंधु में उमड़ रही हैं लहरें,
ले जाता है कूल-निकट तू, मैं जाता हूँ गहरे,
पथ में अगणित भँवर नाचते, आँधी है तूफ़ान,
और निराशा की रजनी है, काली कहना मान!
बहने दे जीवन-नौका को, अब मत लगा सहारा,
इस जगती में भार-रूप है, रहना सखे, हमारा!

एक सामाजिक कहानी

कब ?

लेखक, श्रीयुत विजय वर्म्मा

ब सब लोग जो शान्तादेवी या कृष्णमोहन को जानते थे, यह समझ रहे थे कि शीघ्र ही इन दोनों के विवाह की तिथि निश्चित होने वाली है तब स्वयं इन दोनों को कुछ भी निश्चय न था कि इनका विवाह कब तक हो सकेगा। सच तो यह है कि उस समय तक जीवन-पथ के जो मुख्य प्रश्न इन दोनों के सामने थे उनके विषय में इनमें इतना अधिक मत-भेद था कि दोनों में से प्रत्येक को तो कभी कभी यह शंका हो जाती थी कि वे विवाह-सूत्र में बँध कर एक हो सकते हैं या नहीं। आज भी शान्तादेवी इसी बारे में उथल-पुथल में लगी हुई थी कि कृष्णमोहन की आवाज़ उसे बैठक में सुनाई दी। उनका मन न जाने क्यों बेचैन हो गया। जो कुछ होना हो वह आज ही निश्चित हो जाय, यह बात वह बार बार मन ही मन कहने लगी।

थोड़ी देर के बाद जब बैठक में केवल कृष्णमोहन तथा शान्तादेवी का अष्टवर्षीय भाई चन्द्रनाथ रह गया, शान्तादेवी ने वहाँ जाकर कृष्णमोहन को प्रणाम किया और जब उसके उत्तर में प्रणाम करने के साथ कृष्णमोहन ने कहा, 'बैठिए, आज आपसे सब कुछ निश्चित कर लेने का प्रण करके ही मैं घर से चला हूँ,' तब उसने अपने मन में जो कुछ इतनी बार दुहराया था उसे ज़बर्दस्ती दबाकर कहा—जल्दी—अत्यधिक जल्दी किसी काम में भी न होनी चाहिए, नहीं तो पीछे से पछताने की ज़रूरत हो जाती है। ठीक है न भाई चन्द्र?

चन्द्र ने उसकी बात की ओर ध्यान भी न दिया था। वह कृष्णमोहन की 'नये फ़ैशन की' घड़ी छीन कर उसी की भयानक 'परीक्षा' कर रहा था। उसे यह प्रश्न प्रसन्नता दे सकता था कि क्या ऐसी घड़ी उसे भी चाहिए। वह अपनी बहन की ओर एक बार देखकर फिर उस घड़ी को देखने लगा।

कृष्णमोहन ने कहा—चाहे जो हो, आज हमें निश्चय कर ही लेना चाहिए वस्तुतः अब हममें मत-भेद ही क्या है?

शान्ता हँस पड़ी—क्या जितना मत-भेद था वह सब आपने दूर कर दिया? तब तो अच्छा ही है। डर यही है कि कहीं उसके लिए आपके हृदय या मन में कुछ स्थान शेष न हो।

कृष्णमोहन—यदि ऐसा हो तब क्या तुम कुछ उदारता से काम न लेना चाहोगी? अनेक मत-भेदों के होते हुए भी लोग सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। फिर दो-एक विषयों में उन लोगों में मत-भेद हो जो अपने जीवन का उद्देश अपने आपको सब लोगों के लिए उपयोगी बनाना निश्चित कर चुके हैं तो कौन-सी विशेष हानि हो सकती है?

"यही कि वे अपने इस उद्देश में सफलता न पावें, उसे व्यवहार या कार्य में परिणत न कर सकें और इस समय के अधिकांश पढ़े-लिखे लोगों की तरह जिनमें से प्रत्येक अपने जीवन का महान् से महान् उद्देश बना लेता है और उसके अनुसार ठीक तरह करता-धरता कुछ भी नहीं, अपना जीवन बिता दें। पहली मुख्य बात तो यही है कि हमें जीवन का उद्देश सुख-प्राप्ति रखना है या उसे पूर्णतः उपयोगी बना देना। सुख के लिए तो फिर वही धन, सन्तान, यश की पुरानी लीक।"

श्रीकृष्णमोहन (हँसकर)—यह सब हटाइए, पुरानी लीक का क्या काम? दूसरी बात क्या है?

"दूसरी बात यह है कि जो उद्देश हम मान लें उसकी पूर्ति के लिए हमें कितना त्याग और कितना कष्ट सहन करना चाहिए।"

"और तीसरी बात?"

"और तीसरी बात यह है कि पहले दो मुख्य बातें निश्चित करके तब तीसरी का विचार करना चाहिए।"

इसी समय शान्ता की बड़ी बहन के 'जीवन-साथी' रामदेव और उसके बड़े भाई की स्त्री अशोककुमारी का वहाँ आगमन हुआ।

रामदेव ने कृष्णमोहन को देखते ही कहा—भाई कृष्णमोहन, जीवन में विवाद का कभी अन्त नहीं हो सकता। तुम दोनों क्यों 'सनकी' बन रहे हो? 'जीवन-पथ' और उसके उद्देशों के निर्णय की क्या जल्दी पड़ रही है? इस दुनिया में अधिकांश लोगों को रास्ता ढूँढ़ना नहीं पड़ता। जिस रास्ते पर चलना है वह अपने आप सामने आ जाता है। तुम किस चक्कर में पड़ रहे हो?

"चक्कर में मैं नहीं हूँ।"

"तब क्या शान्तादेवी जी हैं? इनके चक्कर में पड़ने से क्या हो सकता है? इन्हें तो वस्तुतः किसी रास्ते पर चलने की भी ज़रूरत नहीं हो सकती। देखिए, इस समय दो ही तीन बातें 'समयानुकूल' समझी जाती हैं। उन्हें मान लीजिए और फिर झगड़ा ही क्या हो सकता है? पहली बात तो यह है कि स्त्रियाँ आर्थिक स्वतन्त्रता चाहती हैं—अर्थात् वे नौकरी, व्यवसाय आदि कर सकें और रुपये-पैसे के लिए पति पर निर्भर रहना आवश्यक न हो। पति के आर्थिक सहारे पर अवलम्बित होना कुछ 'विदुषी' पत्नियाँ 'एक प्रकार का वेश्यापन' ही कहने लगी हैं। दूसरी बात यह है कि शान्तनु की स्त्री गङ्गा की भाँति बच्चों का भविष्य वे अपने हाथ में रखना चाहती हैं—मन चाहे बच्चे पैदा करें, मन चाहे न करें। या उनके शब्दों में 'अगर ज़रूरत समझें तो बच्चा पैदा करें नहीं तो नहीं।' तीसरी बात यह है कि विशेष अवस्थाओं में विवाह-विच्छेद हो सके—तलाक़ दे सकें। और चौथी बात—"

कृष्णमोहन ने बीच में ही रोककर कहा—आपने तो दो-तीन ही बातें कही थीं।

"चौथी भी सुन लो। चौथी बात यह है, जायदाद में समान भाग हो।"

कृष्णमोहन ने गम्भीरतापूर्वक कहा—तब ये बातें तो ऐसी नहीं हैं जो बिना वाद-विवाद के निश्चित हो जायँ—कब स्त्री आर्थिक सहारा चाहेगी और कब पुरुष को देगी, कब वह बच्चे की ज़रूरत समझेगी, कब नहीं, कब वह तलाक़ दे सकेगी; कब नहीं, और किन किन दशाओं में उसे जायदाद में समान भाग मिल सकेगा—ये सब बातें तो पहले से ही जान लेनी चाहिए।

अशोककुमारी ने कहा—इस समय इन बातों को न तो पहले से जानने की ज़रूरत है और न पीछे से। आपको ज़ोरों के साथ कह देना चाहिए कि पराधीन देश में तो बच्चे पैदा करने की ज़रूरत है ही नहीं। हाँ दो-एक बच्चों की विशेष इच्छा करे तो बात दूसरी है। अन्य सब प्रश्नों का भी यही सीधा-सादा उत्तर है।

"कुछ उत्तर दे देने से ही तो काम नहीं चल सकता। अन्त में शान्तनु को यही निश्चय करना पड़ा कि चाहे उनकी स्त्री गङ्गा उन्हें छोड़कर चली जाय, पर बच्चों के बारे में उसे मनमानी स्वतन्त्रता न रहे। पुरुषों के अधिकारों के विषय में भी तो मुझे कुछ जान लेना चाहिए।"

"पुरुषों के अधिकार!" यह कह कर रामदेव ज़ोर से हँस पड़े।

अशोककुमारी ने भी उनका साथ दिया।

उन्होंने फिर कहा—'पुरुषों के अधिकार' के विषय में मैं उनकी इन 'कुमारी' जी से बातें करता आ रहा था, जो नाम में सदैव कुमारी रहेंगी किन्तु असल में दो सन्तानों की माता हो चुकी हैं। इन्हीं से सुनिए।

'कुमारी' जी ने कहा—उसके विषय में कुछ सुनने सुनाने की ज़रूरत नहीं। अगर मैं भी आपकी तरह यह बताने लगूँ कि पुरुष लोग क्या क्या चाहते हैं तो आपकी चार बातों की जगह उनकी आठ बातें गिना दूँ।

रामदेव ने कहा—आप पहले चार ही तो बताइए।

कुमारी जी—चार के भी बताने की ज़रूरत है? चालीस-पैंतालीस तक की अवस्था में और दो दो स्त्रियों के मर जाने तथा कई सन्तानों के रहने पर भी विवाह की इच्छा की पूर्ति, और वह भी विधवाओं या बाल-विधवाओं के भी साथ नहीं—

"स्पष्टतः 'कुमारियों' के साथ कहिए—"

"जी हाँ, और अगर लड़का न हुआ, चाहे ऐसा अपने शरीर में रोग रहने के कारण ही हो तो एक स्त्री के जीवित रहते हुए भी दूसरी के साथ विवाह करने का अधिकार। वैसे भी ईसाई-धर्म को छोड़कर शेष धर्मों में दूसरी, तीसरी और चौथी तक से विवाह करने का अधिकार!"

"हिन्दू-धर्म—"

"उसमें तो पाँचवीं, छठी, दसवीं—बल्कि आपने सुना ही होगा कि ससुराल के पतों के लिए रजिस्टर रहते थे! जायदाद पर अपना ही पूरा क़ब्ज़ा रखने और अपने बाद लड़के का क़ब्ज़ा करा देने का अधिकार—वेश्यागमन और अन्य स्त्रियों से अनुचित सम्बन्ध रखने का अधिकार!"

"यह भी कोई अधिकार है?"

"क्यों? कौन उन्हें बिरादरी से अलग करता है या कौन उन पर मुक़द्दमा चला सकता है? ये सब बातें तो स्त्रियों के लिए ही हैं।"

"उपाय क्या है?"

"क्रान्ति—धार्मिक क्रान्ति, सामाजिक क्रान्ति।"

"कौन करे?"

"स्त्रियाँ और पुरुष दोनों।"

"क्यों भाई कृष्णमोहन, क्रान्ति करना चाहते हो या विवाह?"

कृष्णमोहन ने हँसकर कहा—करना तो दोनों चाहता हूँ।

"अजी, तब फिर विवाह के लिए देरी क्यों कर रहे हो?"

"मेरी ओर से तो देरी की संभावना भी नहीं है।"

× × ×

बारह वर्ष बाद।

रामदेव अशोककुमारी के यहाँ पाँच-छः वर्षों के पश्चात् आये और अन्य बातों के अनन्तर कृष्णमोहन और उनकी सहधर्मिणी शान्तादेवी के बारे में विचित्र ढङ्ग से पूछा—कृष्ण जी और शान्ता, जीवन के उद्देशों के बारे में किसी निश्चय पर पहुँचे या अभी नहीं? वे दोनों कैसे हैं?

अशोककुमारी ने कहा—ऐसे लोग कभी किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सकते। आपने बीच में पड़कर उनका विवाह करवा दिया यही ग़नीमत हुई। हैं वे दोनों बहुत अच्छी तरह।

"विवाह मैंने क्यों आपने करवाया था। कितने बच्चे हैं?"

"दो। एक लड़की उसी साल के अन्त में हुई थी जिस साल विवाह हुआ था दो साल के बाद एक लड़की और हुई। तब से कुछ नहीं हुआ। जब गई थीं तब एक कालेज में नौकरी कर ली थी। दूसरी लड़की के पैदा होने पर छोड़ दी। सुना है, अब एक पत्रिका निकालने जा रही हैं। पहले भी दो वर्ष तक उसका सम्पादन-कार्य्य कर चुकी हैं।"

"पत्रिका लाभ पर चल रही है?"

"नहीं; सुना है प्रतिवर्ष इन्हें अपनी गाँठ से कई सौ रुपये देने पड़ते हैं।"

"और अब स्वयं उसे निकालने जा रही हैं।"

"शायद उसी को ले लिया है।"

"कितने ग्राहक हैं?"

"हज़ार डेढ़ हज़ार से अधिक नहीं हैं। शायद अब घाटा न हो—अपने पैरों पर खड़ी हो गई हो।"

"हज़ार डेढ़ हज़ार ग्राहकों में ही?"

"यह तो ख़र्च पर निर्भर रहता है न? वे स्वयं तो कुछ लेती नहीं हैं। अपने पति से भी कुछ काम लिया करती हैं। वह भी मुफ़्त ही। संभव है, कार्य्यकर्ता भी अपने पास से ही रख छोड़े हों।"

"उद्देश क्या है—साहित्य-सेवा, समाज-सेवा या जैसा वे कहते थे, क्रान्ति"।

"क्रान्ति ही उनका उद्देश्य जान पड़ता है। बाबू जी तो बहुत नाराज़ हैं।"

"अच्छा, इधर उनके बच्चे कब से नहीं हुए ?"

'आठ-नौ वर्ष हो गये !"

"तभी। आज मैं एक तार भेजकर उन्हें बुलवा रहा हूँ। सबके साथ आयें। मुझे उन्हें देखे एक युग बीत गया। मैं फिर उनसे बात-चीत करना चाहता हूँ।"

"तार ज़रूर भेजिए। अभी भेजिए।"

× × × ×

'ज़रूरी काम है, सपरिवार तुरन्त आइए।' रामदेव जी का यह तार पाते ही कृष्णमोहन परिवार के साथ तुरन्त चल खड़े हुए। रात को तीन बजे पहुँचने पर भी उन्होंने अपनी प्रतीक्षा में सबको जागते पाया। वे लोग दो ही बजे निद्रा त्याग कर उठ बैठे थे। ढाई बजे ट्रेन वहाँ पहुँचती थी।

ताँगे के घर के सामने खड़े होते ही सब लोग बाहर आ गये। उन्होंने देखा कि कृष्णमोहन दो लड़कियों के साथ नीचे उतरे और तब शान्तादेवी जी उतरीं। पर अकेली नहीं, एक छोटे बच्चे को गोद में लिये हुए।

अशोककुमारी ने तेज़ी से ताँगे के पास जाकर उस बच्चे को ले लिया और उसका मुख चूमते हुए कृष्णमोहन से कहा—क्यों भाई, बच्चों के होने तक की भी खबर नहीं देते।

तुरन्त ही रामदेव ने कहा—खबर क्या दें ? अभी उद्देशों के बारे में कुछ निश्चय तो हुआ ही नहीं है।

कृष्णमोहन ने हँसकर कहा—अभी यह बच्चा मात्र डेढ़ मास का ही तो है। आपके यहाँ तो पत्रिका के आने तक में बुराई समझी जाती है। पर अब सब कुछ निश्चित हो गया है। इस बच्चे के होने पर सब उद्देश निश्चित हो गये।

पर शान्तादेवी ने कहा—नहीं, निश्चित कुछ भी नहीं हुआ, बल्कि जो कुछ निश्चित था वह भी अनिश्चित-सा हो गया जान पड़ता है। मैं तो इनसे बराबर पूछा करती थी कि ठीक निश्चय कब होगा, पर अब कुछ पूछने की ज़रूरत नहीं है। अब मैं स्वयं सब बहनों का संगठन कर कुछ करने जा रही हूँ।

बच्चा न जाने क्यों, ज़ोर से रो उठा। सबकी आँखों में स्पष्टतः एक प्रश्न था—कब ?

बुझा हुआ दीपक

लेखक, श्रीयुत सनेही

करने चले तंग पतंग, जलाकर मिट्टी में मिट्टी मिला चुका हूँ।
तमतोम का काम तमाम किया दुनिया को प्रकाश में ला चुका हूँ।
नहीं चाह 'सनेही' सनेह की और सनेह में जी मैं जला चुका हूँ।
बुझने का मुझे कुछ दुःख नहीं, पथ सैकड़ों को दिखला चुका हूँ।
जगती का अँधेरा मिटाकर आँखों में आँख की तारिका होके समाये।
परवा न हवा की किया कुछ भी, भिड़े आके जो कीट-पतंग जलाये।
निज ज्योति से दे नव ज्योति जहान को अन्त में ज्योति में ज्योति मिलाये।
जलना हो जिसे वो जले मुझ-सा बुझना हो जिसे मुझ-सा बुझ जाये।
लघु मिट्टी का पात्र था, स्नेह-भरा जितना उसमें भर जाने दिया।
धर बत्ती हिये पर कोई गया, चुपचाप उसे धर जाने दिया।
पर हेतु रहा जलता मैं निशा भर मृत्यु का भी डर जाने दिया।
मुसकाता रहा बुझते बुझते हँसते हँसते सर जाने दिया।*

* 'वर्तमान' से उद्धृत।

नई पुस्तकें

[प्रतिमास प्राप्त होनेवाली नई पुस्तकों की सूची। परिचय यथासमय प्रकाशित होगा।]

१—सरल तुलसीकृत रामायण—लेखक, बाबू दयाशङ्कर जी वकील, फ़तेहगढ़, प्रकाशक, श्री चिन्तामणि शिवचरणलाल बुकसेलर, फ़र्रुखाबाद, हैं। सजिल्द पुस्तक का मूल्य १।।) है।

२—पद्माकर की काव्य-साधना—लेखक, श्री अखौरी गङ्गाप्रसादसिंह, प्रकाशक, साहित्य-सेवा-सदन, काशी, हैं। मूल्य १।।।) है।

३—दयासागर (रामायण का गाना)—लेखक, बाबू दयाशङ्कर जी वकील, फ़तेहगढ़, प्रकाशक, श्री चिन्तामणि शिवचरणलाल बुकसेलर, फ़र्रुखाबाद, हैं। सजिल्द पुस्तक का मूल्य १) है।

४—विजातीय विवाह-मीमांसा—लेखक, पण्डित परमेष्ठीदास जैन न्याय-तीर्थ, प्रकाशक, श्री दुलीचन्द परवार, १६१।१ हरीसन रोड, कलकत्ता, हैं। मूल्य ।।=) है।

५—पञ्च संस्कार (संस्कृत)—लेखक, श्री मथुरादास जी महाराज, प्रकाशक, श्री अवध किशोरदास, श्री रामानन्द ग्रन्थमाला, अयोध्या, हैं। मूल्य ।।) है।

६—उन्मादिनी (कहानियों का संग्रह)—लेखिका, श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान, प्रकाशक, उद्योग-मन्दिर, मालदार पुरा, जबलपुर, हैं। सजिल्द पुस्तक का मूल्य १।।=) और अजिल्द का १।) है।

७—पाथेय (कविता)—लेखक, श्री सियारामशरण गुप्त, प्रकाशक, साहित्य-सदन चिरगाँव, झाँसी, हैं। सजिल्द पुस्तक का मूल्य १) है।

८—उलझन (कहानियों का संग्रह)—लेखक, श्री 'चन्द' शर्मा, प्रकाशक, देवदत्त एण्ड कम्पनी बुकसेलर्स एण्ड पब्लिशर्स, चेम्बरलेन रोड, लाहौर, हैं। मूल्य ।।।) है।

९—शृङ्गार-विलासिनी (देव कवि का संस्कृत-काव्य)—सम्पादक, पंडित गोकुलचन्द्र दीक्षित 'चन्द्र', भरतपुर-राज्य, प्रकाशक, महोपदेशक पंडित ब्रह्मदत्त शास्त्री, विद्यावाचस्पति, भरतपुर स्टेट, हैं। सजिल्द पुस्तक का मूल्य १।।) है।

१०—सनातन-धर्म-सोपान—लेखक, श्रीयुत सत्यनारायण मिश्र, प्रकाशक, पंडित केशव मिश्र, काव्य-तीर्थ-साहित्य-शास्त्री, श्रीराममन्दिर, गायघाट, काशी, हैं। मूल्य ।।) है।

११—चीफ़ स्काउट—लेखक, श्री दीक्षित-बन्धु, प्रकाशक, श्री कन्हैयालाल दीक्षित, खलासी लैन, कानपुर, हैं। मूल्य ।।=) है।

१२—कसक (कविता)—लेखक, पंडित हृदयनारायण पाण्डेय, 'हृदयेश', साहित्य-भूषण, प्रकाशक, दि आइडियल लिटरेरी पब्लिशिंग हाउस, कानपुर, हैं। मूल्य २।।) है।

१३—अभिनव संगीत (प्राचीन गाने का आत्म-परिवर्तन)—लेखक, पंडित रामनरेश त्रिपाठी, सम्पादक, श्री नारायण मोरेश्वर खरे, प्रकाशक, गान्धर्व महाविद्यालय-मंडल, इलाहाबाद, हैं। मूल्य ।।) है।

१४—वेदान्त-भानु—लेखक, श्री सन्त अमीचन्द्र शर्मा, कल्याण-पुस्तकालय, तिलकगली, ग्वालमंडी, लाहौर हैं। मूल्य ।।) है।

१५—दमदार मोती (जासूसी नावेल —लेखक, महर्षि शिवव्रतलाल, एम० ए०, अनुवादक, दीवान बंसधारीलाल, प्रकाशक, सन्त-कार्य्यालय, प्रयाग, हैं। मूल्य १।) है।

१६—सभा का खेल (बाल-विनोद की पुस्तक)—लेखिका, श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान, प्रकाशक, उद्योग-मन्दिर, मालदारपुरा, जबलपुर, हैं। मूल्य ।) है।

१७—प्रकृति-पूजा—लेखक, पंडित बालकराम शास्त्री, 'बालक', प्रकाशक, हिन्दी-प्रचारिणी-सभा, बलिया, हैं। मूल्य ।) है।

१८—दिव्य-नाद (तृतीय प्रभा)—लेखक व प्रकाशक श्री सत्यदेव, १४।३ ए, राय स्ट्रीट, भवानीपुर, कलकत्ता, हैं।

१९—कृष्ण-कीर्तन—संग्रहकार तथा अनुवादक, श्री दीक्षित-बन्धु, प्रकाशक, श्री कन्हैयालाल दीक्षित, खलासी लेन, कानपुर, हैं। विना मूल्य वितरित।

२०—अनुराग-वाटिका—प्रणेता श्री वियोगीहरि, प्रकाशक, साहित्य-सेवा-सदन, बुलानाला, काशी, हैं। मूल्य।-) है।

२१—श्री नैमिषारण्य—रचयिता श्री कृष्णदत्त त्रिवेदी, बरम्हौली, सीतापुर, हैं।

२२—हंसू की हिम्मत (बाल-कहानी)—लेखक, पंडित रामनरेश त्रिपाठी, प्रकाशक, हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग, हैं। मूल्य।=) है।

२३—बेकार बी० ए०—लेखक, कविराज बी० एन० मित्तल, प्रकाशक, लोकाश केमिकल वर्क्स, राजनाँदगाँव, सी० पी०, हैं।

२४—सचित्र सूर-सागर (संख्या ३)—मासिक प्रति का मूल्य १।) और वार्षिक मूल्य डाकव्यय-सहित १२) स्थायी ग्राहकों को १०) है। पता—नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी।

२५—रस्यरास—लेखक, श्रीमान् राजा चक्रधरसिंह, प्रकाशक, साहित्य-समिति, रायगढ़, हैं। मूल्य साधारण संख्या १।) है।

२६—विश्व-कल्याण (भाग १—सम्पादक, श्री सत्यव्रत वानप्रस्थी हैं। एक प्रति का मूल्य।=), विदेश में ॥), वार्षिक मूल्य ४) है। विदेश के लिए ६) है। पता—विश्वकल्याण-आश्रम, मिर्ज़ापुर।

२७—विश्व-इतिहास की झलक (भाग १)—लेखक, श्रीयुत जवाहरलाल नेहरू, अनुवादक और सम्पादक, पंडित वेङ्कटेश्नारायण तिवारी, प्रकाशक, साहित्य-मंदिर, लखनऊ, हैं। एक प्रति का मूल्य १।) है।

२८—श्री भगवन्नाम-प्रचार-योजना—लेखक, श्री निवासदास पोद्दार, कलकत्ता, हैं।

२९—काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा का 'प्रबन्ध-समिति के अधिवेशनों का विवरण।

३०—सन्त (मासिक पत्र)—सम्पादक, महर्षि शिवव्रतलाल जी, प्रकाशक, दीवान वंसधारीलाल, राधास्वामी-प्रेस, प्रयाग, हैं। एक प्रति का मूल्य ॥) और वर्ष भर का ४॥) है।

३१—वैदिक भूगोल—लेखक, श्री नारायणप्रसाद मौहनिया हैं। पता—मैनेजर, वैदिक भूगोल, हिन्दू शुद्धि-सभा, राजा की मंडी, आगरा, हैं। मूल्य।) है।

३२—सन्ध्या-सुधासार (लघु)—लेखक, श्री राधाकृष्ण तोष्नीवाल, प्रकाशक, हिन्दी-उपासना-मंदिर, अजमेर, हैं। मूल्य =) है।

१—कवितावली की टीका—यह कवितावली की टीका पंडित चम्पाराम मिश्र-कृत है। कवितावली की अनेक टीकायें निकल चुकी हैं, किन्तु इस टीका का एक अलग ही स्थान प्रतीत होता है। यह टीका उन टीकाओं में नहीं है जिनमें टीकाकार प्रायः पांडित्य-प्रदर्शन का प्रयत्न किया करते हैं। वे प्रायः सरल स्थलों को अत्यंन्त कठिन बना देते हैं और कठिन स्थलों को सरल कहकर छोड़ देते हैं और अपने कर्तव्य की इतिश्री समझा करते हैं। इस टीका में प्रत्येक स्थल की पूर्णरूप से विशद व्याख्या की गई है और टीका को यथासम्भव उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है। इसमें अनेक विशेषतायें हैं जो इस टीका को अत्यन्त उच्च स्थान देने के लिए पर्याप्त हैं।

सर्वप्रथम इसकी भाषा सरल, सुबोध, प्रचलित तथा मुहावरेदार है। इसे पढ़कर हिन्दी की सजीवता का ज्ञान होता है। मिश्र जी एक लब्धप्रतिष्ठ गद्य-लेखक हैं, अतः इस टीका की हिन्दी भी सुन्दर हुई है।

इस टीका की अन्य विशेषता यह है कि इसमें भावों के स्पष्टीकरण का पूर्ण प्रयास दृष्टिगोचर होता है। स्थान स्थान पर एक एक पद्य के कई भिन्न भिन्न अर्थ दिये गये हैं। ऐसा करने में कहीं कहीं अवश्य कुछ खींचातानी करनी पड़ी है, किन्तु इससे कुछ विशेष हानि नहीं हुई है

क्योंकि ऐसे स्थलों में भी मुख्य अर्थ आसानी से समझ में आ जाता है।

यद्यपि इस टीका में मिश्र जी ने अलंकारों का उल्लेख नहीं किया है, तो भी मेरी समझ में उससे कुछ विशेष हानि नहीं हुई है। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि यह टीका प्रधानतः साधारण जनता के लिए लिखी गई है, जिन्हें अलंकारों की उलझन में डालना ठीक नहीं। दूसरे इसमें भाव इस प्रकार स्पष्ट कर दिये गये हैं कि अलंकारों की पूर्ण व्याख्या उसमें स्वतः आ गई है। केवल उनका नाम नहीं दिया गया है।

इस टीका की उपादेयता का अन्य कारण यह है कि इसमें कथायें अधिक विस्तार के साथ दी गई हैं और प्रसंगोपयुक्तता का अधिक ध्यान रक्खा गया है। पाठक को उन्हें अन्यत्र ढूँढ़ने का प्रयास नहीं करना पड़ता। अन्त में अनुक्रमणिका भी दी गई है, जिसके कारण किसी पद्य के खोजने में प्रयत्न की आवश्यकता नहीं पड़ती।

इस टीका की सबसे बड़ी विशेषता है इसकी पांडित्यपूर्ण भूमिका। विद्यार्थियों के लिए सबसे उपयोगी वस्तु यही है। यह गवेषणात्मक है तथा प्रयत्न से लिखी गई है। इसके पूर्वार्द्ध में अन्तरंग और बहिरंग प्रमाणों के आधार पर ही तुलसीदास के जीवन पर प्रकाश डाला गया है, किंवदन्तियों के आधार पर नहीं। सम्भव है, बहुत-से विद्वान् मिश्र जी के कुछ विचारों से सहमत न हों, किन्तु वे दृढ़ प्रमाणों के आधार पर स्थित हैं और उन्हें असत्य प्रमाणित करना कठिन प्रतीत होता है।

इस भूमिका का दूसरा भाग कवितावली की आलोचनात्मक समीक्षा है। इस समीक्षा में कवितावली से सम्बन्ध रखनेवाली कई महत्त्वपूर्ण बातों पर विचार किया गया है। इसमें उसके निर्माण-काल तथा विशेषताओं पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। इस बात पर भी विचार किया गया है कि कवितावली स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में लिखी गई थी अथवा केवल संग्रह-मात्र है। कवितावली में वर्णित सामयिक दशा पर भी विचार किया गया है। ये प्रश्न ऐसे हैं जिनके विषय में जानकारी प्राप्त करना

विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस कारण यह टीका विद्यार्थियों के लिए विशेषकर उच्च कक्षा के विद्यार्थियों के लिए—अत्यन्त ही उपयोगी है।

यहाँ तक तो हुआ इस टीका के आन्तरिक सौन्दर्य के विषय में; अब रहा बाह्य सौन्दर्य, सो इस सम्बन्ध में इतना ही कहना काफ़ी है कि यह प्रसिद्ध 'इंडियन प्रेस' से प्रकाशित हुई है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ग्रन्थ को देखते ही इसके पढ़ने के लिए आकर्षण होता है। इसकी छपाई साफ़ है, जिल्द सुन्दर तथा मज़बूत है।

निस्सन्देह टीकाकार को अपने इस उद्देश में कि प्रचलित बोलचाल की भाषा में 'कवितावली' की एक टीका लिखी जाय जो जनता और विद्यार्थी दोनों के काम की हो, पूर्ण सफलता हुई है।

जगन्नाथ तिवारी, शास्त्री, एम० ए०

२-५—श्री नारायण मोरेश्वर खरे जी की चार पुस्तकें—

२—संगीत बाल-विनोद—मूल्य।-), (३-५) संगीत राग-दर्शन—पहला, दूसरा, और तीसरा भाग—मूल्य क्रमशः ॥), ॥), ॥।) है। पता—प्रकाशक, गांधर्व महाविद्यालय-मंडल, ३१७ जान्स्टनगंज, इलाहाबाद, है।

भारतीय संगीत के पुनरुद्धार तथा उन्नति के इतिहास में स्वर्गीय पंडित विष्णु दिगम्बर का नाम स्वर्ण अक्षरों में लिखा जायगा। उन्होंने न केवल सैकड़ों उच्च कोटि के संगीत-शिक्षक तैयार किये, किन्तु संगीत के विद्यार्थियों के लाभार्थ अनेक पुस्तकें भी लिखीं। यह बड़े हर्ष का विषय है कि उनके अनेक शिष्य जिन्होंने अब प्रख्यात संगीताचार्यों का पद प्राप्त कर लिया है, उनके इस कार्य को प्रचलित रखने के लिए प्रशंसनीय उद्योग कर रहे हैं। इस कार्य को नियमित रूप से सम्पन्न करने के लिए उन्होंने गांधर्व महाविद्यालय-मंडल स्थापित किया है, जिसका उद्देश है "आधुनिक तथा प्राचीन संगीत-साहित्य को प्रकाशित करना तथा संगीत की क्रमिक पुस्तकें शुद्ध और शास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुसार तैयार करके सस्ते दाम में प्रकाशित करना"। इस मंडल के उद्योग के फलस्वरूप पूर्वोल्लिखित चार पुस्तकें प्राप्त हुई हैं। इनके अतिरिक्त और भी कई

पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं और होनेवाली हैं। इनके लेखक तथा सम्पादक श्री नारायण मोरेश्वर खरे महोदय इस कठिन कार्य को करने की पूर्ण योग्यता रखते हैं। आपने स्वर्गीय विष्णु दिगम्बर जी से गांधर्व-महाविद्यालय में संगीत-विद्या की सम्पूर्ण शिक्षा प्राप्त की और अनेक वर्षों तक महात्मा गांधी के आश्रम में संगीत की शिक्षा दी। आज-कल आप हरिजन-आश्रम, साबरमती, में कार्य कर रहे हैं। आपके संगीत-विद्या के ज्ञान तथा आदर्श-चरित्र के कारण महात्मा जी आपका विशेष आदर करते हैं। आप केवल संगीत-कला में ही प्रवीण नहीं हैं, किन्तु संगीत-शास्त्र का भी विशेष ज्ञान रखते हैं। विद्यार्थियों को शिक्षा देने का अनुभव होने से आप उनकी कठिनाइयाँ और आवश्यकताओं को भली भाँति जानते हैं। यही कारण है कि आप संगीत के विद्यार्थियों के लिए इतनी अच्छी पुस्तकें लिखने में समर्थ हुए हैं। 'संगीत-बाल-विनोद' के आरम्भ में प्रश्नोत्तर-रूप में संगीत-सम्बन्धी प्रारम्भिक विषयों की, तदनन्तर स्वर, मात्रा तथा ताल-साधन आदि की शिक्षा दी गई है। तदुपरान्त ६ सरल बालोपयोगी मनोरंजक गाने भिन्न-भिन्न राग-रागिनियों में दिये गये हैं। 'संगीत-राग-दर्शन' के तीनों भागों में मिलाकर पचीस राग-रागिनियों के गाने दिये गये हैं। इन गानों के स्वरों में प्रचलित 'उस्तादी' गानों की स्वर-रचना का लालित्य ज्यों का त्यों रक्खा गया है, किन्तु शब्द-रचना बिलकुल बदल दी गई है, क्योंकि बहुधा उस्तादी गानों के शब्द भद्दे और अश्लील प्रकार के शृङ्गार-रस के होते हैं। प्रस्तुत पुस्तकों की शब्द-रचना बालकों और बालिकाओं की आध्यात्मिक, मानसिक तथा नैतिक आवश्यकताओं के विचार से रक्खी गई है। अनेक गाने हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक तथा कवि पंडित रामनरेश त्रिपाठी के बनाये हुए हैं। इन पुस्तकों में जो राग-रागिनियाँ दी गई हैं उनके आरम्भ में उनका आवश्यक विवरण दे दिया गया है। उसके उपरान्त उसके आलाप, सरगम, लक्षण, गीत और स्वरलिपि-सहित तीन-चार गाने दिये गये हैं। इन पुस्तकों में वही राग दिये गये हैं जो संयुक्त-प्रान्त के हाईस्कूलों और इंटरमीडियट बोर्ड, बनारस-हिन्दू-युनिवर्सिटी, प्रयाग-महिला-विद्यापीठ, प्रयाग संगीत-समिति आदि संस्थाओं के शिक्षाक्रम में रक्खे गये हैं। आशा है, इन पुस्तकों से संगीत के विद्यालय और विद्यार्थी पूर्णरूप से लाभ उठावेंगे। पुस्तकें बहुत अच्छे टाइप और अच्छे काग़ज़ पर छपी हैं। श्रीयुत खरे जी और प्रोफ़ेसर कशालकर जिनकी विशेष प्रेरणा से ये पुस्तकें बनी हैं, संगीत-प्रेमियों के हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

स०

६—विद्यापति—लेखक, प्रोफ़ेसर जनार्दन मिश्र, एम० ए०, साहित्याचार्य, प्रकाशक, श्री अर्जुन मिश्र भागलपुर, हैं। छपाई और गेट अप साधारण, पृष्ठ-संख्या १८० है। मूल्य १) है।

यह पुस्तक विद्यापति तथा उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में आलोचनात्मक निबन्ध के रूप में है। विद्यापति का स्थान भारतीय साहित्य में शायद सबसे अनोखा है—कम से कम एक बात में। हिन्दी, बँगला और मैथिली भारत की प्रधान लोक-भाषाओं में हैं और इन तीनों के ही भाषी प्रायः समान रूप से विद्यापति को अपनी भाषा का कवि मानते हैं और अभी तक यह प्रश्न पूरी तौर से हल नहीं हो सका कि वास्तव में विद्यापति किस भाषा के कवि हैं, यद्यपि अब विद्वानों का बहुमत हिन्दी के पक्ष में हो गया है। लेखक महोदय ने इस विषय को स्पर्श अवश्य किया है, पर किसी स्पष्ट निर्णय पर नहीं पहुँच सके हैं। क्या ही अच्छा होता यदि विद्यापति की भाषा पर वैज्ञानिक ढंग से विचारकर लेखक महोदय कोई स्पष्ट राय क़ायम करते। इसकी बड़ी ज़रूरत है। आख़िर यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न कब तक विवादग्रस्त रहेगा? किसी भाषातत्त्व के जिज्ञासु को इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए।

इस पुस्तक में पाँच परिच्छेद हैं या यों कहिए कि यह पाँच लेखों का संग्रह है, जिनमें से प्रथम दो विद्यापति की जीवनी और उनके धर्म से सम्बन्ध रखते हैं। अन्तिम तीन लेख विद्यापति की रचना, उनकी विचार-धारा तथा हिन्दी-साहित्य में विद्यापति की स्थिति से सम्बन्ध रखते हैं।

लेखक की आलोचना-शैली ज़रा पंडिताऊ ढंग की

है, साथ ही गवेषणात्मक होने की अपेक्षा वह अधिकतर प्रशंसात्मक ही है। समालोचक महोदय को अपने विषय का पर्याप्त ज्ञान है, तथापि अपने विचारों को वे सुव्यवस्थित रूप से नहीं रख सके हैं। उनकी विचारधारा 'पँचमेल'-सी हो गई है। एक एक विषय में प्रायः इतनी बाहरी बातें आ जाती हैं कि मुख्य प्रश्न ही धुँधला हो जाता है। तो भी विद्यापति के सम्बन्ध में इस पुस्तक में बहुत-सी जानने योग्य नई बातें हैं।

एक बात और। हिन्दी-समालोचना में न जाने किसी अशुभ घड़ी में कवियों के स्थान-निरूपण की प्रथा डाली गई है! लेखक महोदय को भी यह मज़ाक सूझा है और उन्होंने भी विद्यापति का 'स्थान'-निरूपण किया है। उन्होंने हिन्दी-साहित्य में तुलसीदास को नम्बर १ मानकर नम्बर २ का स्थान विद्यापति को दिया है। परन्तु तुलसी, सूर, कबीर, बिहारी, विद्यापति आदि अमर कवियों को छोटा-बड़ा कहना मेरी राय में ठीक नहीं है।

लेखक महोदय की यह रचना सर्वथा पांडित्यपूर्ण और श्रद्धा की दृष्टि से देखने योग्य है।

७—सावयधम्म दोहा—संपादक, श्रीयुत हीरालाल जैन, एम० ए०, एल-एल० बी०; प्रकाशक, करंजा जैन पब्लिकेशन सोसाइटी, करंजा, बरार हैं। पृष्ठ-संख्या १२५, छपाई-सफ़ाई और गेट अप साधारण है। मूल्य २॥) है।

बरार के करंजा नामक स्थान में कुछ जैन-मन्दिर हैं, जिनमें जैनमत की अनेक हस्तलिखित पुस्तकें अति पुराकाल से सुरक्षित हैं। इनमें कुछ अपभ्रंश में हैं और उनकी भाषा बहुत-कुछ पुरानी हिन्दी से मिलती-जुलती है। इन पुस्तकों का सबसे पहले पता स्वर्गीय डाक्टर हीरालाल जी को लगा था। उन्होंने उनका परिचय स्वसंपादित 'कैटलाग आफ़ संस्कृत एण्ड प्राकृत मेन्युस्क्रिप्ट्स' में दिया। इन ग्रन्थों में से कुछ की भाषा ऐसी थी जो अपभ्रंश से अधिक पुरानी हिन्दी कही जा सकती है। उन मन्दिरों के अधिकारी जैनेतर को अपने ग्रन्थ नहीं दिखाते हैं। यह स्वयं हीरालाल जी का ही काम था जिनकी पहुँच वहाँ तक हो सकी थी। प्रसन्नता की बात है कि अब स्वयं एक जैन विद्वान् ने उन ग्रन्थों का हिन्दी में संपादन शुरू किया है। पुरानी हिन्दी की उत्पत्ति और विकास के अध्ययन में इन ग्रन्थों से एक नया पृष्ठ खुलेगा। इसके लिए श्री हीरालाल जी जैन सर्वथा स्तुति के पात्र हैं।

इस पुस्तक में क्या है, यह तो इसके अध्ययन से ही ज्ञात होगा, पर इतना कह सकते हैं कि इसका संपादन पूर्ण वैज्ञानिक रीति से हुआ है। संशोधन-सामग्री, पाठांतर, भाषा और व्याकरण पर विद्वत्तापूर्ण गवेषणा, दोहों का हिन्दी-अनुवाद, टिप्पणी, वर्णानुक्रमणिका आदि सभी बातें यथाक्रम दी गई हैं। हिन्दी में कम ही ग्रन्थ इतने सुचारु रूप से संपादित हो सके हैं।

यद्यपि इस ग्रन्थ का विषय पूर्णतः धार्मिक है और वह जैन-मत से ही सम्बन्ध रखता है, तो भी भाषा की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसकी भाषा यों तो मागधी कही गई है, पर वास्तव में उस समय (१० वीं शताब्दी) के जन-साधारण की बोल-चाल की भाषा में ही इसका प्रणयन हुआ है।

८—बुद्बुद—लेखक, श्री हरिभाऊ उपाध्याय, प्रकाशक, सस्ता-साहित्य-मंडल, अजमेर, हैं। छपाई और गेट अप अच्छा, पृष्ठ-संख्या १२२, और मूल्य ॥) है।

इस पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें लेखक के हृदयोद्गारों का संग्रह है। लेखक का परिचय देने की आवश्यकता नहीं है। हरिभाऊ जी साहित्य और राजनीति दोनों क्षेत्रों में काफ़ी प्रसिद्ध हैं।

यों तो इस संग्रह के प्रवचन गद्य-काव्य के रूप में हैं, पर गद्य-काव्य में जो आम तौर से होता है उसका इसमें अभाव है। हताश प्रेमी के दिल के फफोले या नवयुवक कवि की बेतुकी उड़ानों आदि का इसमें नाम नहीं है। लेखक ने स्वयं जो यह कहा है कि ये मन की तरंगें न होकर उसके अवलोकन, मन्थन और अनुभव के फल हैं, ठीक कहा है। वास्तव में एक एक वाक्य में गहरी बातें रक्खी हुई हैं, जिनका हमारे दैनिक जीवन से व्यावहारिक सम्बन्ध है, जिनको जानते हुए भी हम अनजान बने रहते हैं। इसके पढ़ने पर प्रत्येक पाठक अपने को आध्यात्मिक दृष्टि से पहले से अवश्य कुछ ऊँचा अनुभव करेगा।

९—प्रेमपत्र—लेखक, श्री पद्मकान्त मालवीय, प्रकाशक, भारत-पुस्तक-भंडार, हैं। छपाई और गेट अप, सुन्दर, पृष्ठ-संख्या ६८ और मूल्य १) है।

हिन्दी के प्रसिद्ध कवि श्रीयुत पद्मकान्त मालवीय की यह रचना है। आप गीति-काव्य बहुत अच्छा लिखते हैं। संगीत और उर्दू शायरी का तर्ज़ेकलाम आपकी कविता की विशेषतायें हैं। प्रस्तुत पुस्तक में उन प्रेमपत्रों का संग्रह है जो आपने समय समय पर अपनी दिवंगता पत्नी को लक्ष्य कर लिखे हैं। यह पुस्तक उसी स्वर्गगता देवी की स्मृति को समर्पित भी की गई है।

इन पत्रों की कविता कैसी है, यह लिखना व्यर्थ है। प्रेमपत्र भाषा के सौष्ठव आदि की दृष्टि से नहीं पढ़े जाते। उनमें कुछ और ही लुत्फ़ होता है और वह मालवीय जी के पत्रों में ख़ूब है।

—गणेशप्रसाद द्विवेदी, एम० ए०

१०—सीकर—यह कविता-पुस्तक है। इसमें श्रीमती तारा पाण्डे की रचनाओं का संग्रह है। इसमें कुल ५८ रचनायें हैं। प्रायः सभी रचनायें भावपूर्ण और हृदय-ग्राही हैं। स्त्री-हृदय की सहृदयता का इन रचनाओं में पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। बनारस-हिन्दू-विश्वविद्यालय के श्री मोहनवल्लभ पन्त ने 'निवेदन' में लेखिका का कुछ परिचय दिया है, जिससे श्रीमती तारा जी की अस्वस्थता का हाल जानकर दुःख हुआ। इसमें सन्देह नहीं, इस बालिका के पवित्र हृदय से निकले हुए ये उद्गार मान के अधिकारी हैं। मूल्य ॥।) है। पता—विद्याभास्कर-बुकडिपो, काशी।

रामदत्त शुक्ल

११—मंजरी—यह पंडित देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती हीरादेवी जी की कविताओं का संग्रह है। इसकी कवितायें स्पष्ट और मधुर हैं। श्रीमती हीरादेवी जी की कविताओं में स्त्री-सुलभ अव्यक्त माधुर्य की विशेषता है। 'मस्त' जी की 'यमुने'; 'प्रपात', 'भिखारिन' अच्छी रचनायें हैं। इस संग्रह का मूल्य ।।) है। पता - कर्मवीर प्रेस, जबलपुर।

१२—नीलम—श्रीमती हीरादेवी जी की यह स्वतंत्र पुस्तिका है और इसमें केवल उन्हीं की रचनायें संग्रहीत हैं। देवी जी की कविताओं की मिठास और भोली-भाली सरलता के विषय में 'मंजरी' के सिलसिले में हम कह चुके हैं। उनके यही दो विशेष गुण हैं। देखिए—

आँसू! तुम शिशु की आँखों में
क्योंकर भरते हो बरसात?
शिशु की आँखें हैं ही कितनी
तनिक विचारो तो यह बात!!

कैसी सीधी-सादी बात कही गई है। 'प्रतीक्षा' में वे कितनी सुन्दर बात कहती हैं—

उड़ उड़ कहाँ-कहाँ से कितने
पक्षी आये राह लगे!
कितने पथिक प्रवासी लौटे
निज-निज गृह अनुराग पगे!

किन्तु—

प्रणयी! किन्तु न लख पाई हूँ
अब तक तेरी वह छाया,
जिसे देख कर एक बार तो
करती विस्मृत जग-माया।

कितनी मर्म की पंक्तियाँ हैं! और देवी जी ने इसी तरह जहाँ भी अपनी क़लम से लिखा है, अच्छा लिखा है। किन्तु कहीं कहीं उन्होंने अपनी क़लम में पन्त जी की निब लगा ली है और वहीं उनकी पंक्तियाँ कुरूप हो गई हैं—

बह टलमल-टलमल सरिता
मारुत से मिल इतराती

मैं पूछता हूँ; यह "टलमल-टलमल" क्या है, और यहाँ इसका क्या अर्थ है? फिर—

चाँदी के नीलम-महलों में
सोने की सुन्दर बाला।

देवी जी से विनय है कि इन दो पंक्तियों को सुधार दें। चाँदी—उज्ज्वल चाँदी का 'नीलम' महल कैसे बन गया, और सोने की बाला चल-फिर सकेगी, इसमें मुझे बड़ा सन्देह है।

पन्त जी ने अपने अन्तर में निहित प्रकृति के अनुरूप

अपने को बनाया है, और इसी लिए वे इतने सफल हो सके। उनकी नक़ल से किसी का भला नहीं हो सकता। आशा है, देवी जी अपने ही ढंग से लिखेंगी, क्योंकि वे स्वयं बहुत अच्छा लिखती हैं।

नीलम का मूल्य ।=) है। पता—धर्मा बुकडिपो, छिन्दवाड़ा।

१३—"यौवन"—इसके प्रणेता श्रीयुत श्रीनिधि द्विवेदी हैं। कहने को तो यह कविताओं का संग्रह है, पर वास्तव में यह एक गंदी नाली है, जो बम्बई के 'कला-मंदिर' के कुंड से निकली है। कला-मंदिर के 'महन्त' जी स्वयं बड़ी शान से एक शेर आलाप कर कहते हैं—"यौवन में क्या क्या है? पेशे नज़र है। यौवन याने मचलते हुए अल्हड़पन के ज़ुवार का जादू भरा जोश; किलकते कोमल किशोरों के औत्सुक्य की पहेली"। यही नहीं, और सुनिए—"यह एक हुड़दंगी हाला है", और "प्रस्तुत पुस्तक-मन्दिर की रसराज पर प्रथम बरजोरी है"। वास्तव में इस पुस्तक में सिवा हुड़दंगेपन के और कुछ भी नहीं है—इसमें हया और लिहाज़ और साहित्य को बुरी तरह से जिबह किया गया है। कविताओं के शीर्षक हैं—'रँगीली रतियाँ', 'रसीली बतियाँ', 'विफल जवानी', 'जलते जोबन की रातें'। कवि जी का 'यौवन' क्या है?

"तन तन मन मन का नाता,
मैं 'उस सुख' से जुड़वाता
जिसको लख त्रिभुवन भर के
मुँह में पानी भर आता"।

× × ×

"दुर्बल दिल हँस हँस, हाय! मसलती चलतीं,
कोई लचकातीं कमर, उछलतीं चलतीं"।

यह सब क्या है, समझ में नहीं आता। हिन्दी के नवयुवक क्या अपनी जवानी का इसी तरह परिचय देंगे? इस पुस्तक का मूल्य ॥।) है। 'कला-मन्दिर, बम्बई' से प्राप्य है।

१४—मणिमाला—(गद्य-काव्य)—लेखक, श्री नोखेलाल शर्मा, काव्यतीर्थ हैं। इस पुस्तक की भूमिका 'उपन्यास-सम्राट्' श्री प्रेमचन्द जी ने लिखी है। उसमें वे लिखते हैं—"गद्यकाव्य लिखना लोहे के चने चबाना है……इस दुर्गम पथ पर जो थोड़े-से लोग चलकर सफल हुए हैं, उन्हीं में इस पुस्तक के लेखक भी हैं"।

हम भी कुछ अंशों तक इस मत से सहमत हैं। 'आशा' शीर्षक काव्य में लेखक को पूरी सफलता मिली है। "आवेंगे, वे अवश्य आवेंगे। देखो न, उत्कण्ठा से प्राची का वदन अनुरंजित हो रहा है ……" फिर, "वायु ने उनके आने की सीटी दी। दिगन्त में उजेला हो आया। लो, वे आ चले—वे आ गये"। यहाँ हमें भाषा और भावों का वह संगीतमय प्रवाह मिलता है जो गद्य को काव्य बना देता है। परन्तु 'अगति', 'मेरे अनमोल वचन', 'विदा'—इन शीर्षकों के काव्य फनफस हो गये हैं और इन्हें हम गद्यकाव्य नहीं कह सकते। "भाई, मैं जो कार्य पूरा करने के लिए भेजा गया था, वह पूरा हो गया", "अच्छा मेरे लिए मंगल-कामना करो, मैं विदा होता हूँ"। हमारा कहना है कि जो ठुमककर न चले वह बाल-गोपाल ही नहीं—जिसमें भाषा और भाव का रस नहीं वह गद्यकाव्य काहे का! 'अगति' में ही देखिए—"प्रभो … कह, तू शंख फूँकने से आएगा, या आवाज़ देने से, चुप्पी साध लेने से, या कसरत दिखाने से"। यह डँड़-बैठक क्या बला है! क्या यह भी गद्य-काव्य कहा जायगा?

इस पुस्तक का मूल्य ॥।) है। पता—युगान्तर-साहित्य-मन्दिर, पुर्निया।

वीरेश्वरसिंह, एम० ए०

१५—तिब्बत में सवा बरस—लेखक, महा पण्डित श्री राहुल सांकृत्यायन त्रिपिटकाचार्य्य, प्रकाशक, शारदा-मन्दिर, १७ बारहखम्भा रोड, नई दिल्ली, हैं। पृष्ठ-संख्या ३८०, मूल्य सादा ३) है। परिशिष्ट में तिब्बत का एक सादा मानचित्र भी है।

प्रस्तुत पुस्तक श्री राहुल सांकृत्यायन जी के तिब्बत-भ्रमण का वृत्तान्त है। वृत्तान्त सुन्दर और सरल भाषा में होने के कारण मुग्धकर और मनोहर है। सांकृत्यायन जी की लेखनी में यह ख़ास ख़ूबी है कि आप अपने दिल की बात पाठकों से नहीं चुराते, और न लिखने में घबराते

हैं। भ्रमण-साहित्य के आवश्यक अंगों की इस पुस्तक में पूर्ति की गई है। तिब्बत के अलावा भारत, नेपाल, सिक्किम और भूटान के कतिपय स्थानों की चर्चा भी राहुल जी ने इसमें यथास्थान की है। इसके पठन से मनोरञ्जन के साथ-साथ पाठकों को बुद्धकालीन सभ्यता और तिब्बत के वर्तमान सामाजिक रूप का परिचय हो जाता है। तिब्बत-सम्बन्धी आवश्यक चित्र भी दिये गये हैं। भदन्त जी को उनकी इस पुस्तक के लेखन और प्रकाशन-सम्बन्धी सफलता पर बधाई है। आप हिन्दी-संसार में सदा 'नूतन' भेंट लेकर उपस्थित होते हैं। आपकी रचनाओं से हिन्दी-प्रेमियों और साहित्य का मौलिकरूप से उपकार हो रहा है। पुस्तक उपादेय है और भ्रमण-साहित्य के जिज्ञासुओं के लिए संग्रहणीय भी है। हिन्दी-प्रेमियों को इसका संग्रह करना चाहिए।

—'एक बिहारी'

१६—अन्तिम आकांक्षा—यह उपन्यास है और इसे श्रीयुत श्री सियारामशरण गुप्त ने लिखा है। गुप्त जी ने कविता, उपन्यास और कहानी—तीनों के लिखने में प्रसिद्धि प्राप्त की है। इस 'अन्तिम आकांक्षा' में उन्होंने रामलाल नाम के एक टहलुए की चरित्ररेखा का बहुत सुन्दर चित्रण किया है। परन्तु कथा की दृष्टि से यद्यपि इसका कथानक साधारण है, तथापि भिन्न-भिन्न स्थलों में लेखक ने रामलाल का जो चरित्र अंकित किया है वह निस्सन्देह हृदय-स्पर्शी है और इस कला में गुप्त जी सदैव सफल रहे हैं। क्या ही अच्छा होता यदि हम रामलाल के चरित में भी वैसा ही सौरस्य पाते।

रामलाल एक धनी-मानी सेठ के यहाँ टहलुआ था। सेठ जी के पुत्र को उसने अपनी कार्यतत्परता से पहले ही दिन मुग्ध कर लिया। इन्हीं सेठ-पुत्र से लेखक महोदय ने रामलाल की कथा कहलवाई है। उन्होंने उसकी कार्य-तत्परता, सेवापरायणता, वीरता और उद्दण्डता-सम्बन्धी जो वर्णन किया है वह क्रम-बद्ध होते हुए भी कहीं कहीं शिथिल और अस्वाभाविक हो गया है और सो भी इस कारण कि गुप्त जी ने इस कथा की आड़ में भोंड़े ढंग से अछूत-समस्या एवं साम्यवादी विचारों का विवाद उपस्थित किया है। इतना होते हुए भी गुप्त जी की यह रचना रोचक है। उपन्यास-प्रेमियों को इसका रसास्वादन करना चाहिए। इसका मूल्य १।।) है। पुस्तक सजिल्द है। पता—साहित्यभवन, चिरगाँव, झाँसी है।

१७—काकली—यह श्रीयुत 'कौशलेन्द्र' राठौर की प्रसिद्ध रचनाओं के संग्रह का दूसरा संस्करण है। इस संस्करण में उनकी 'महाश्वेता' नामक अधूरी रचना भी दे दी गई है। इसके सिवा उनका संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है और कविता का परिचय देने के लिए श्री हृदयेश जी का एक ललित भाषण भी दिया गया है, जो उन्होंने 'स्मृति-दिवस' के उपलक्ष्य की सभा में पढ़ा था। इस प्रकार काकली का यह संस्करण सर्वाङ्गपूर्ण बनाया गया है और इसके लिए इसके प्रकाशक प्रशंसा के पात्र हैं। परन्तु हमें अपने एक-दो मित्रों से ज्ञात हुआ है कि कौशलेन्द्र जी की कुछ रचनायें अभी अप्रकाशित हैं। आशा है, काकली के प्रकाशक उनको भी प्राप्त कर इसके तीसरे संस्करण में छापकर कौशलेन्द्र जी की सारी रचनायें एकत्र कर देने का प्रयत्न करेंगे। इसके उल्लेख करने की यहाँ ज़रूरत नहीं है कि कौशलेन्द्र जी अल्प काल में ही अपनी भावपूर्ण और मर्मस्पर्शी कविताओं के द्वारा हिन्दी के क्षेत्र में लोकप्रिय हो गये थे। इस संस्करण की काकली का मूल्य ।।।) और पता—प्रकाशक, चतुर्वेदी साहित्य-मण्डल, मैनपुरी, है।

१८—वीणापाणि—इस कविता-पुस्तक में १८ छोटी-छोटी कवितायें हैं और प्रायः सभी रचनायें अच्छी हैं। इनके रचयिता श्री दुर्गाप्रसाद अग्रवाल 'विशारद' सुकवि जान पड़ते हैं। आप संस्कृत और अँगरेज़ी में भी पद्य-रचना करते हैं। इसका मूल्य ≡) है। पता—चतुर्वेदी बुकडिपो, लश्कर।

१९—तात घनानन्द—यह चरित-काव्य पण्डित तोताकृष्ण की रचना है। इसमें उन्होंने गढ़वाल के स्वर्गीय राय बहादुर पण्डित घनानन्द खँडूड़ी का चरित विविध छन्दों में लिखा है। खँडूड़ी जी ने अपने पुरुषार्थ से काफ़ी धनार्जन ही नहीं किया था, किन्तु उसका सद्व्यय भी किया। उन्होंने छात्रवृत्तियाँ देकर कितने ही

असमर्थ बालकों के शिक्षित होने में सहायता की और यावज्जीवन परोपकार में निरत रहे। उनके इन सब गुणों का कवि जी ने इस ८२२ छन्दों के काव्य में सुन्दर ढंग से बखान किया है। खेद है, कवि जी ने अपनी यह सुन्दर रचना अपनी रचना की सुविधा के लिए मनमाने ढंग की भाषा में की है, जिससे उनकी इस महत्त्वपूर्ण रचना का सारा रस कुरस हो गया है। यदि इसकी भाषा विशुद्ध होती तो निस्सन्देह यह एक सुन्दर चरित-काव्य गिना जाता। इसका मूल्य १) है। पता—मैनेजर, भास्कर प्रेस, देहरादून।

२०—प्रेमप्रभा—इस पुस्तक में श्री गोस्वामी गोवर्द्धनलाल कविचूड़ामणि का संक्षिप्त परिचय, उनके ग्रन्थों की संख्या तथा उनकी कविता-शक्ति का कीर्तन किया गया है। बहुत दिन हुए इन गोस्वामी जी ने 'प्रेमपुष्प' नामक एक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया था, जिसकी सारी [illegible]रत छन्दों में ही छपी रहती थी। इस पत्र का भी परिचय इसमें खूब दिया गया है। यह पुस्तक गोस्वामी जी के एक शिष्य की रचना है और यह उनके शिष्यमण्डल के लिए ही विशेष रूप से उपयोगी है। इसका मूल्य १) है। पता—श्री राधारमण जी का मन्दिर, तिरमुहानी, मिर्ज़ापुर।

२१—जनाब मुहम्मद रसूलुल्लाह का जीवन-चरित्र—यह चरित-ग्रन्थ श्री मलक ग़ुलाम सरवरख़ाँ पंजाबी की रचना है। इसमें आपने हज़रत मुहम्मद का चरित विस्तारपूर्वक लिखा है। इसकी भूमिका में लेखक महोदय ने धर्म तथा भाषा के सम्बन्ध में जो उदार विचार प्रकट किये हैं, वे प्रशंसनीय हैं और हिन्दू-मुसलमानों दोनों के लिए हितकर हैं। हज़रत मुहम्मद का चरित लिखने के पहले लेखक महोदय ने अरब का भौगोलिक वर्णन तथा वहाँ की तत्कालीन सामाजिक अवस्था का विवरण देकर इस ग्रन्थ को अधिक उपयोगी बना दिया है। इसके आगे यह चरित विस्तार के साथ दिया गया है, जिसके पढ़ने से हज़रत मुहम्मद का वास्तविक रूप पाठक के हृदय में अंकित हो जाता है। लेखक महोदय एक उदार विचार के साहित्यिक व्यक्ति हैं और हिन्दी में यह सुन्दर पुस्तक लिखकर उन्होंने हिन्दीवालों का हित ही किया है। एक बात और। यदि कुछ उदार साहित्यिक मुसलमान-धर्म के सम्बन्ध में हिन्दी में और हिन्दू-धर्म के सम्बन्ध में उर्दू में ऐसी ही महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखकर उनका सर्वसाधारण में प्रचार करें तो इन दोनों जातियों के बीच में जो ग़लत-फ़हमी बढ़ रही है उसके दूर होने में काफ़ी सहायता मिल सकती है। उपर्युक्त पुस्तक का भी उपयोग इस दिशा में हो सकता है। मूल्य पुस्तक का ३) है। कदाचित् अनवार अहमदी प्रेस, इलाहाबाद, को लिखने से मिल सकती है।

—द०

२१—मुस्लिम सन्तों के चरित—(पहला भाग)—अनुवादक, श्री गोपाल नेवटिया, प्रकाशक, हिन्दी-मंदिर, प्रयाग, पृष्ठ-संख्या २५६; सजिल्द, मूल्य २) है।

फ़ारसी ग्रन्थ तज़करतुल औलिया के बँगला तथा गुजराती अनुवादों के आधार पर इस ग्रन्थ की रचना की गई है। कोई तीस मुसलमान सन्तों के चरित इसमें वर्णित हैं। ये सब सन्त अरब, फ़ारस आदि दूसरे देशों के ही रहनेवाले थे। मूल-पुस्तक के अभी आधे के क़रीब और चरित रह गये हैं, जिनका अनुवाद इसी पुस्तक के दूसरे भाग के स्वरूप में प्रकाशित होगा।

यह ग्रन्थ उन सन्तों की जीवन-सम्बन्धी कथाओं तथा घटनाओं का मनोरंजक संग्रह है, यथास्थान उनके उपदेश भी दिये गये हैं। पुस्तक रोचक तथा शिक्षाप्रद है। ऐसी पुस्तकों का स्वागत होना चाहिए, क्योंकि इन्हीं के आधार पर धार्मिक भेद कम हो सकेंगे; इन सन्तों की जीवनी तथा उनके उपदेश पढ़ने पर पाठक अनायास अनुभव करता है कि यत्र-तत्र कुछ सांस्कृतिक भेदों के अतिरिक्त प्रायः उनमें, और भारतीय विचार-धारा तथा आदर्शों में कोई विशेष भेद नहीं है।

पुस्तक संग्रहणीय है।

—रघुवीरसिंह (महाराजकुमार)

जापान का प्रभुत्व ?

लेखक, धर्मवीर एम० ए०

सन् १९६५ की दुनिया में क्या जापान का प्रभुत्व होगा? श्रीयुत धर्मवीर जी ने इस लेख में इसी प्रश्न का उत्तर दिया है। आपने लेख का कुछ अंश पेरिस में लिखा था। पूरा यहाँ आकर किया है। हाल में आप जापान जाकर व्यक्तिगत रूप से भी उसका परिचय प्राप्त कर आये हैं।

जहाज़ का इंतज़ार बजाय जनोआ (इटली) में जाकर करने के मैं एक और हफ़्ते के लिए पेरिस में ही ठहर गया। 'नीली गली' के एक बोर्डिंग-हाउस में मैंने एक कमरा ले रक्खा था। इसमें अधिकतर फ्रांसीसी ही रहते थे। इनमें से एक बत्तीस-तेंतीस वर्ष का सज्जन 'केलेडोनिया' का अधिवासी था। केलेडोनिया-द्वीप आस्ट्रेलिया के ठीक पूर्व में है। उस पर फ्रेंच गवर्नमेंट का अधिकार है।

मोशियो पेलशिये ने आस्ट्रेलिया के सिडनी-नगर की यूनिवर्सिटी में शिक्षा पाई थी। बी० एस-सी० करने के बाद वे केलेडोनिया की एक फ़र्म में नौकर होगये। कुछ दिन उसमें काम कर चुकने पर फ़र्म ने उन्हें फ्रांस भेज दिया। वहाँ जाकर वे विभिन्न प्रकार का माल ख़रीदकर फ़र्म की दूकान को भेजने लगे। पेलशिये महाशय में व्यापार-बुद्धि के अतिरिक्त सामान्य ज्ञान की मात्रा भी पर्याप्त थी। एक दिन यों ही बातचीत में उन्होंने मुझसे प्रश्न किया—"क्या भारतवर्ष में जापानियों की संख्या बहुत है?"

मुझे इस प्रश्न से आश्चर्य हुआ। मैंने पूछा—"भारत में जापानी कहाँ से आ गये?"

"भारत में जापानियों की जन-संख्या कितनी है?" पेलशिये महाशय ने अपने प्रश्न को दूसरे शब्दों में दोहराया।

मैंने एक-आध मिनट भी न सोचा और कह दिया—"भारत के दो-चार बड़े शहरों, उदाहरणार्थ कलकत्ता, बंबई में जापानी लोग नज़र आते हैं। अन्य स्थानों में वे कहीं भी देखने में नहीं आते। उनकी जन-संख्या के विषय में मैं कुछ नहीं बता सकता। यों अनुमान से कह सकता हूँ कि शायद तीन-चार हजार या इससे कुछ ज्यादा हों।"

"ख़ैर, बहुत ज्यादा नहीं हैं, यह अच्छा है।" पेलशिये ने धीरे से कहा।

मैं इस बात का मतलब कुछ न समझ पाया। इसलिए मैंने पूछा—"क्यों, भारत में जापानियों के होने से क्या हो जाता?"

"अगले पचास-साठ वर्ष में संसार पर जापानियों का ही प्रभुत्व होगा।" मेरे मित्र ने उत्तर दिया।

इस पर मैंने एक क़हक़हा लगाया—"बहुत ख़ूब! आप भी ख़ूब सपने देखते हैं। इस छोटे-से द्वीप का संसार पर प्रभुत्व कैसे हो सकता है?"

मित्र ने अपनी आँखों को सिकोड़कर गम्भीरता से कहा—"अच्छा, एक क्षण ठहरिए, मैं आपको सुनाता हूँ।"

खाँसने के बाद रूमाल से मुँह पोंछते हुए मित्र ने क्षमा माँगी।

मैंने कहा—"ओहो, कोई बात नहीं।"

तब मित्र बोले—"आस्ट्रेलिया में सिवा आस्ट्रेलियन लोगों के अन्य देशों के वासियों का दाख़िल होना क़ानून के विरुद्ध है। परन्तु जापानी वहाँ तीन लाख से ज्यादा आबाद हैं। किसी को मालूम नहीं होता कि ये लोग आते कहाँ से हैं।........"

मैंने बात काटने के लिए क्षमा माँगते हुए कहा—"अगर वे वहाँ हैं तो आख़िर किसी रास्ते से ही तो आये होंगे। आकाश से तो वे गिरने से रहे।"

"हाँ हाँ, वही तो मैं आपको बताता हूँ।" मोशिये पेलशिये ज़रा जोश में बोले—"ये लोग आस्ट्रेलिया के उत्तरी भाग से आते हैं। उत्तरी प्रदेश में किसी प्रकार का कोई व्यापार नहीं है और न वहाँ कुछ पैदावार होती है। बिलकुल रेगिस्तानी और बंजर इलाक़ा है। लेकिन ये लोग हैं कि किश्तियों पर बैठकर अपने देश से चल पड़ते हैं और आस्ट्रेलिया के उत्तरी किनारे पर पहुँच जाते हैं फिर वहाँ से धीरे-धीरे पैदल चलकर दक्षिण में जा घुसते हैं। कोई विदेशी या बाहर का आदमी आस्ट्रेलिया के शहर के अन्दर प्रविष्ट नहीं होने पाता। लेकिन ये हज़रत क्या करते हैं कि पहले वहाँ पर जो जापानी रहते हैं उनके यहाँ जाकर नौकर हो जाते हैं। उनसे वेतन या तनख्वाह वग़ैरह कुछ नहीं लेते। सिर्फ़ दो समय पेट भरने के लिए चार मुट्ठी चावल पाते हैं। आहिस्ता-आहिस्ता दो-चार मास के बाद जब कोई जगह या नौकरी या कोई दूसरा काम ख़ाली होता है तब ये उसे जा दबोचते हैं। इनमें काम करने की बहुत शक्ति होती है। काम भी फ़ुर्ती और होशियारी से करते हैं। यही नहीं, बच्चे भी ख़ूब पैदा करते हैं। बस, इन्हीं कारणों से इनकी आस्ट्रेलिया में इतनी ज्यादा आबादी हो गई है। अब आस्ट्रेलिया की गवर्नमेंट इन्हें निकाल नहीं सकती, क्योंकि ये लोग वहाँ बरसों से रहते चले आ रहे हैं और एक प्रकार से वहाँ के नागरिक बन गये हैं।"

मैंने पूछा—"अगर ये लोग आस्ट्रेलिया में कुछ अधिक हो गये हैं तो इससे इनका संसार पर प्रभुत्व कैसे हो जायगा?"

"यही तो मैं आपको बता रहा था।" मित्र ने कहा—"मैं नहीं जानता कि आपको यह बात मालूम है या नहीं कि अफ़्रीका के पूर्व में स्थित मेडेगास्कर के द्वीप में इन जापानियों की आबादी बहुत ज्यादा है। मलाया के द्वीप-पुंज—उदाहरणार्थ बाली, जावा, सुमात्रा आदि में इनकी बड़ी-बड़ी बस्तियाँ हैं। चीन में ये लोग काफ़ी तादाद में आबाद हैं। इसके अतिरिक्त फ़ारमोसा इनका अपना द्वीप है। इससे कुछ परे पूर्व में जाइए तो आपको पता लगेगा कि उत्तरी अमरीका के पश्चिमी तट पर इनकी बहुत बड़ी संख्या है। उदाहरणार्थ केलिफ़ोर्निया की कुल आबादी एक सौ पचास लाख है। इनमें से जापानी, आपको मालूम है, कितने हैं? पचास लाख! अर्थात् कुल जन-संख्या का तीसरा भाग। इसी प्रकार केलिफ़ोर्निया के ऊपर आरिगन-स्टेट, वाशिंगटन-स्टेट और कैनेडा की ब्रिटिश कोलंबिया-स्टेट में ये लोग भरे पड़े हैं। समुद्र के सारे किनारे पर आपको जापानियों की बस्तियाँ मिलेंगी। अब ऐसी हालत में आप ही बताइए कि अगर कभी ये लोग उठ खड़े हुए तो क्या होगा। इस बात से तो आप भी इनकार नहीं करेंगे कि जापानियों में अपने देश-बंधुओं के लिए पारस्परिक प्रेम बहुत ज्यादा पाया जाता है। और फिर इनमें इकट्ठे मिलकर, सोच-समझकर फ़ैसला करने की भी आदत है। ऐसी परिस्थिति में आप क्या समझते हैं कि पचास वर्ष में कुछ न होगा?

इस काल में तो इनकी दुगुनी-चौगुनी आबादी हो जायगी। तब ये अगर चाहेंगे—और उस समय में अवश्य ही चाहेंगे—तो दूसरों को अपने अधीन कर लेंगे।"

मैं विचार में पड़ गया। मुझे भी ख़याल आया कि मेरा मित्र जो कुछ कह रहा है उसमें बहुत हद तक सचाई है। इसी लिए मैंने भी वे घटनायें जो उस समय सुदूर पूर्व में घट रही थीं, दोहराते हुए कहा—"आप ठीक कहते हैं। ये जापानी सब जगह फैल रहे हैं। उनके अपने देश में इतनी जगह नहीं है और आबादी उनकी बढ़ रही है। इसलिए स्वाभाविकतया वे दूसरे देशों में स्थान ढूँढ़ते हैं। यही कारण है कि उन्होंने मंचूरिया का समस्त प्रदेश अपने अधीन कर लिया है और अब वहाँ जापानियों का राज्य है। जापानी वहाँ जाकर धड़ाधड़ आबाद हो रहे हैं। यही क्यों? मालूम होता है कि मंचूरिया उनके लिए काफ़ी नहीं है, इसलिए चीन का उत्तरी भाग जिसमें जेहोल आदि स्थित हैं, उन्होंने अपने क़ब्ज़े में कर लिया है।"

कुछ क्षण दम लेने के बाद मैंने कहा—"यदि चीन के बड़े भाग पर जापान का अधिकार हो जाय, उत्तरी अमरीका में पश्चिमी तट पर ये लोग आबाद हों, मलाया-द्वीप-पुञ्ज में इनका आधिक्य हो, आस्ट्रेलिया, मेडेगास्कर, केलोडोनिया आदि में इनकी पर्याप्त आबादी हो, तो इसमें कुछ संदेह नहीं, अगर सारी दुनिया नहीं तो दुनिया के एक बड़े भाग पर जापानियों का प्रभुत्व हो जाना कोई मुश्किल बात नहीं होगी और फिर आप तो उन्हें पचास बरस की मोहलत दे रहे हैं। इस काल में पता नहीं ये और क्या कर दिखाते हैं। इस वर्तमान समय में तो इनकी सैनिक, जल-सैनिक और हवाई-शक्ति अद्वितीय समझी जाती है। तब तो निस्संदेह ये अपनी शक्ति और भी बढ़ा लेंगे।"

दो-चार मिनट और बैठने के पश्चात् मैं मोशिये पेलशिये के कमरे से चला आया। उनका कमरा पहली मंज़िल पर था, मेरा तीसरी मंज़िल पर। यद्यपि मैं दो-एक दर्जन सीढ़ियाँ चढ़कर आया, दरवाज़ा खोला और फिर अपने कमरे में आकर कुर्सी पर बैठ गया, तो भी मेरे दिमाग़ में जापान ही घूम रहा था। इसके साथ ही मुझे अपने देश का ख़याल आ गया। हिंदुओं-हिंदुस्तानियों की वर्तमान स्थिति का नक़्शा भी आँखों के सामने आगया। मैं सोचने लगा कि ये जापानी भी आख़िर बौद्ध ही हैं। इनमें वह शक्ति कहाँ से आ गई है जो हिंदुओं के अन्दर से निकलती जा रही है। मैंने जापान की शक्ति का विश्लेषण करने का प्रयत्न किया। एक बात स्पष्ट थी। जापानियों में अपने देश-बंधुओं के लिए सजीव सहानुभूति पाई जाती है। यही कारण है कि जहाँ भी कहीं कोई जापानी होता है, वह दूसरे जापानियों की सहायता करता है। दूसरा, ये लोग मज़हब के झूठे आडंबरों में नहीं फँसे हुए हैं—ये आडंबर जिनमें हिन्दू प्रायः अपना सारा जीवन ही व्यर्थ में खो देते हैं। तीसरे, इनमें काम करने की बहुत शक्ति है। यह नहीं कि हिंदुओं की तरह सभी 'साधु-महात्मा' बन जायँ; न खायँ, न पियें और न काम ही करें। सुसं-गठित होने की आवश्यकता के अतिरिक्त हिन्दुओं-हिन्दुस्तानियों को इन बातों का भी ख़याल रखना चाहिए, क्योंकि राष्ट्रीय जीवन पर ये बातें अपना विशेष प्रभाव डालती हैं।

शिवाजी और अफ़ज़लखाँ

लेखक, कुँवर राजेन्द्रसिंह

शिवाजी और अफ़ज़लखाँ-सम्बन्धी प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना अब भी विवादग्रस्त है। कुँवर साहब के इस लेख में इसी की मीमांसा की गई है।

वाजी का नाम संसार के उन वीर पुरुषों की सूची में है जिनका व्यक्तित्व जगद्व्यापी था, जिनसे इतिहास को गौरव प्राप्त हुआ है, जिन पर संसार को अभिमान है, और ये महापुरुष जिस देश में पैदा हुए थे वह अपने को धन्य समझता है। ये वे ही महान् आत्मायें हैं जो मर करके भी ज़िन्दा रहती हैं। शिवाजी का संक्षिप्त जीवन-चरित भी लिखना इस छोटे-से लेख की सीमा के परे है। उन्हें कौन नहीं जानता है, उन्हें न जानना इस बात का प्रमाण है कि वह स्वयं अपरिचित है। इस लेख का उद्देश केवल यह है कि एक ऐतिहासिक घटना पर, जिसके कारण उन पर मिथ्या दोषारोपण किया जाता है, कुछ प्रकाश डाला जाय। यह कहा जाता है कि शिवाज़ी ने अफ़ज़लखाँ के साथ विश्वासघात करके उनका वध किया था। उस समय के इतिहास-रचयिता मुसलमानों ने यही दिखाने की चेष्टा की थी और वे अपने कार्य में सफल भी हुए। इससे बड़ा लांछन किसी वीर पुरुष के चरित्र पर नहीं हो सकता। वीरता और विश्वासघातता में कोई सम्बन्ध नहीं है, और न कोई सम्बन्ध हो सकता है—वीरता आत्मा की श्रेष्ठता और प्रकर्षता को प्रकट करता है और विश्वासघातता आत्मा की अधमता और कायरता का सूचक है। ये दोनों परमावधि हैं जो एक दूसरे के समीप हो ही नहीं सकती हैं। वीरकवि भूषण ने शिवाजी की तारीफ़ करते हुए कहा है,—"शाह का ललन दिल्लीदल का दलन अफ़ज़ल को मलन शिवराज आया सरजा।" जो स्वयं वीर है वह एक विश्वासघातक की प्रशंसा नहीं कर सकता। वह कवि ही नहीं है जिसकी दृष्टि सदैव सत्यता पर न रहे, और यदि न रही तो उसकी गणना उन्हीं कवियों में हो जायगी जिनके लिए हाली साहब ने लिखा है—"गुनहगार वाँ छूट जायँगे सारे, जहन्नुम को भर देंगे शायर हमारे।"

श्रीयुत जी० एल० डे ने 'शिवाजी और अफ़ज़लखाँ' नामक एक लेख १ जनवरी १९३५ की अमृतबाज़ार पत्रिका में अँगरेज़ी में लिखा था, जिसका अनुवाद करने की उन्होंने कृपापूर्वक मुझे अनुमति दी है। उसी लेख के आवश्यक अंश नीचे उद्धृत किये जाते हैं।

१६५८ में शिवाजी को असाधारण विजय प्राप्त हुई, जिसका परिणाम यह हुआ कि बीजापुर का राज्य अत्यन्त संकुचित हो गया और इससे भारतवासी महान् प्रसन्न हुए। १६५६ के सितम्बर में वहाँ की गवर्नमेंट ने बदला लेने की ठानी, और अफ़ज़लखाँ को इस कार्य का भार सौंपा। अफ़ज़लखाँ एक भीमकाय और महाबली पुरुष था। अफ़ज़लखाँ वहाँ की विधवा राज्ञी के भाई का एक लड़का था। इसका पिता महल के भोजनालय के निरीक्षक का काम करता था। अफ़ज़लखाँ बाँई स्थान का प्रबन्धकर्ता रह चुका था और इसके लिए कहा

जाता था कि इसी के भड़काने से शिवाजी के बड़े भाई सम्भाजी का वध हुआ था। अफ़ज़लखाँ १२००० घुड़सवारों का सरदार बनाया गया और साथ में तोपें और काफ़ी गोला-बारूद थी। उसे यह आज्ञा मिली कि शिवाजी को चाहे ज़िन्दा या मुर्दा पकड़ लाये और बीजापुर के पराजित राज्य को भी शिवाजी के पंजे से छुड़ा ले। राज्ञी का यह उपदेश था कि शिवाजी से मित्रता करके उसे पकड़े और उससे यह कहे कि वह (अफ़ज़लखाँ) बादशाह से अपराध क्षमा करवा देगा। ऐसा उपदेश देनेवाले शिवाजी को विश्वासघातक कहते हैं!

अफ़ज़लखाँ को यह घमण्ड था कि वह शिवाजी को पकड़ करके अपनी पीठ के पीछे घोड़े पर बिठलाकर लायेगा। बातें तो लम्बी-चौड़ी थीं, पर अपशकुन हो रहे थे। विधाता के विधान में त्रुटि कहाँ? अफ़ज़लखाँ की मौत बुलाये लिये जा रही थी। दीपक बुझने के पहले अधिक प्रज्वलित हो जाता है।

अफ़ज़लखाँ सितम्बर १६५९ में बीजापुर से तुलाजी-पुर के लिए विदा हुआ, और यही अन्तिम विदाई थी। अफ़ज़लखाँ का तुलाजीपुर जाने का यह उद्देश था कि वहाँ जाकर भवानी की मूर्ति को जो भोसलावंश की आराध्यदेवी थी, नष्ट कर दे। पर उसके पहुँचने के पहले ही पुजारियों ने मूर्ति को हटा दिया था। मनुष्य चाहे अपने अच्छे इरादे में विफल होने से शान्ति ग्रहण कर ले, पर दुष्ट इरादे में असफलता उसे और दुष्ट बना देती है। अफ़ज़लखाँ ने मूर्ति को न पाकर मन्दिर में गोरक्त छिड़कवा कर सन्तोष किया।

शिवाजी अपनी सेना के साथ इस बीच में राजगढ़ से जावली चले गये थे, क्योंकि उस स्थान की कठिनाइयों से अफ़ज़लखाँ का मुक़ाबिला करने में शिवाजी को बड़ी सहायता मिलने की आशा थी। अफ़ज़लखाँ भी दक्षिण-पश्चिम की ओर चला। यहाँ भी जो मन्दिर रास्ते में मिले उन्हें अपवित्र करता और उनकी मूर्तियाँ पानी में फेंकता गया। कृष्ण की भी मूर्ति फेंक दी गई होती, यदि ब्राह्मणों ने उसे बचा न लिया होता।

अफ़ज़लखाँ रहमतपुर होता हुआ वाँई पहुँचा और यहाँ जैसी एक कहावत है, विजय के पहले विजयोत्सव मनाया जाने लगा। शिवाजी को गिरफ़्तार करने के बाद उसमें उन्हें रखने के लिए एक लोहे का पिंजड़ा बनवाया गया।

यद्यपि अफ़ज़लखाँ को यह पूर्ण विश्वास था कि उसे सफलता होगी, तथापि वह यह जानता था कि एक असाधारण आदमी का सामना है। उसी समय में जब कि सङ्कल्प और विकल्प, आशायें और निराशायें अफ़ज़लखाँ के हृदय में आ-जा रही थीं, शिवाजी ने सन्धि की बातचीत आरम्भ कर दी, जिससे अफ़ज़लखाँ को बड़ा सन्तोष हुआ। उसने फ़ौरन अपने दीवान कृष्ण जी भास्कर कलकर्णी को शिवाजी से बातचीत करने के लिए भेज दिया और यह कहला भेजा कि शिवाजी के पिता शाहजी उसके बड़े मित्र थे इस वजह से वह उनके पुत्र से कोई बैर-भाव नहीं रखता है और यह भी वादा किया कि वह बीजापुर में उनका अपराध क्षमा कराने में बड़ी सहायता करेगा। गूढ़ राजनीतिज्ञ शिवाजी यदि इन चकमों में आ जाते तो शिवाजी नहीं थे। विश्वासराव-द्वारा जो फ़क़ीर के वेष में अफ़ज़लखाँ की सेना में जाकर यह पता लगा आया था, शिवाजी को यह मालूम हो गया था कि उन्हें धोखा दिये जाने का इन्तिज़ाम हो रहा है। अफ़ज़लखाँ के दीवान जब प्रतापगढ़ पहुँचे तब शिवाजी उनसे मिले और उन्हें यह विश्वास दिलाया कि उन्हें अफ़ज़लखाँ की बातों पर पूर्ण विश्वास है और यह कहा कि मैं अफ़ज़लखाँ से जावली में मिलूँगा, पर वाँई जाने में मुझे भय मालूम होता है। जावली में उनके स्वागत के लिए उचित प्रबन्ध रहेगा। बातचीत के सिलसिले में उन्होंने दीवान से पूछा कि हिन्दू-धर्म की शपथ खा कर कहिए कि क्या अफ़ज़लखाँ धोखा दिया चाहता है। "रहिमन साँचे सूर को बैरि करत बखान"। शिवाजी की वीरता पर समस्त हिन्दू-जाति मुग्ध थी। दीवान ने कह दिया कि उनका सन्देह निर्मूल नहीं है। उसी रात को शिवाजी को स्वप्न हुआ कि मानो भवानी उनसे कह रही हों कि तुलाजीपुर में मन्दिरों के अपवित्र किये जाने का बदला ले। दूसरे दिन शिवाजी ने अपना सङ्कल्प दृढ़ कर लिया। अफ़ज़लखाँ के दीवान

के साथ शिवाजी ने अपने कर्मचारी पण्डित गोपीनाथ को भेजा, जिन्होंने अफ़ज़लखाँ से मिलकर यह निवेदन किया कि शिवाजी उनसे जावली में मिलेंगे। गोपीनाथ को वाँई में पता लगाने से मालूम हो गया था कि अफ़ज़लखाँ को अपनी सेना और शारीरिक बल पर पूर्ण विश्वास है और आशा है कि वह शिवाजी को अवश्य गिरफ़्तार कर लेगा।

अभिमान मस्तिष्क की शक्ति को नष्ट कर देता है। अफ़ज़लखाँ ने स्वीकृति दे दी कि वह शिवाजी से मिलेगा। शिवाजी ने यह खबर पाते ही जङ्गल कटवा दिया, रास्ता साफ़ करवा दिया, चौड़ी सड़क बनवा दी और जगह जगह पर अफ़ज़लखाँ की फ़ौज के लिए खाने का इन्तज़ाम करवा दिया। पर सड़क से हट करके अपने आदमी भी जङ्गल में रख दिये कि अफ़ज़लखाँ की सेना पर निगाह रक्खें। दो सप्ताह के बाद अफ़ज़लखाँ ने १५०० सेना के साथ महाबलेश्वर की समस्थली पर डेरा डाल दिया। शहर के दुर्ग की दीवारों से मिलने का स्थान क़रीब आधा मील के था, जो बहुमूल्य क़ालीनों और परदों से अच्छी तरह सुसज्जित किया गया था। शिवाजी को विश्वास था कि अफ़ज़लखाँ धोखा अवश्य देगा और इसी कारण उन्होंने अपने सेनापति को यह आज्ञा दे दी थी कि उनकी सेना इस तरह चारों ओर लगा दी जाय कि अफ़ज़लखाँ की सेना पर आवश्यकता पड़ने पर चारों तरफ़ से आक्रमण हो सके, और वह किसी तरफ़ खिसक न जा सके। यह भी आज्ञा थी कि बिगुल के बजते ही आक्रमण शुरू कर दिया जाय। शिवाजी ने अपनी कौंसिल की एक बैठक की और उसमें अपनी मृत्यु के पश्चात् अपने पुत्र को अपना उत्तराधिकारी और नाथू जी पालकर को शासक नियत किया। यह सब इन्तिज़ाम करके शिवाजी अपनी माता से मिलने गये और चरणों पर मस्तक रख करके आशीर्वाद माँगा। स्वभावतः माता भयभीत थी। लेकिन जब शिवाजी ने कहा कि भगवती उनके पक्ष में हैं तब माता ने कहा कि जाओ, पर होशियार रहना और यदि खाँ असत्यसंयता करे तो यह स्मरण रखना कि तुम्हें अपने भाई का भी बदला चुकाना है। जो उपदेश अफ़ज़लखाँ की फूफी ने दिया था और जो आदेश शिवाजी की माता का था उन दोनों से प्रकट होता है कि विश्वासघात करने की इच्छा किस ओर थी।

शिवाजी ने लोहे का कवच पहना और उसके ऊपर कारचोबी का कोट पहन लिया। शिरस्त्राण के ऊपर पगड़ी बँधी हुई थी। बायें हाथ में 'व्याघ्रनख' (शेरपंजा) पहने हुए थे और दाहने आस्तीन में एक छोटी-सी कटार छिपी हुई थी। शिवाजी अपने खड्गधर को साथ लेकर अफ़ज़लखाँ से मिलने चले। उधर अफ़ज़लखाँ अपने प्रतिनिधि कृष्ण भास्कर और शिवाजी के कार्यकर्ता पण्डित गोपीनाथ और विख्यात खड्गधर सय्यद बाँदा, और दो आदमियों को साथ लेकर शामियाने में दाख़िल हुए। अफ़ज़लखाँ केवल तंज़ेब के वस्त्र पहने हुए थे और पास सिर्फ़ एक तलवार थी। शिवाजी अपने दोनों साथियों के साथ अफ़ज़लखाँ से मिलने के लिए आगे बढ़े। इनके पास कोई अस्त्र न देख करके अफ़ज़लखाँ ने ख़याल किया कि इससे अच्छा मौक़ा इन्हें पकड़ने का और नहीं हो सकता। असामर्थ्य आक्षेपों को निमन्त्रित करता है। तिरस्कृत स्वर में अफ़ज़लखाँ ने पूछा कि उसके ऐसे मामूली किसान के पास इतनी दौलत कहाँ से आई जो शामियाने में दिखलाई देती है। साहस स्वयं एक अस्त्र है। शिवाजी ने क्रुद्ध होकर उत्तर दिया कि इससे उसका कोई मतलब नहीं है, वह केवल एक खाना पकानेवाले का लड़का है। सच बात कड़ुई होती ही है, और फिर ऐसी सच बात! अफ़ज़लखाँ बिगड़ गया और बायें हाथ से खींच कर शिवाजी का सिर अपनी बग़ल के नीचे दबा लिया। कहाँ अफ़ज़लखाँ भीमकाय और कहाँ शिवाजी दुबले-पतले! शिवाजी को मालूम हो रहा था कि जैसे उनकी गर्दन टूटी जा रही है और दम घुट रहा है। अफ़ज़लखाँ उनके सिर को मरोड़ रहा था। शिवाजी केवल चीत्कार करके रह गये। उन्हें भवानी की आज्ञा का स्मरण हो आया और उन्होंने अपनी पूर्ण शक्ति से अपने बायें हाथ को स्वतन्त्र करके अफ़ज़लखाँ की कमर में लपेट करके शेरपंजा से काम लिया। आशा में भय, निराशा में साहस है। दूसरे स्वरक्षा प्रकृति का

मुख्य सिद्धान्त है। अपनी रक्षा करने में न जानें कहाँ से बल और साहस आ जाता है। शेरपंजे ने काम पूरा किया। नाख़ून सब पेट में घुस गये थे और जब पकड़ ढीली पड़ी तब शिवाजी के दाहने हाथ को भी स्वतन्त्रता मिली और उन्होंने पीठ पर कटार से वार किया। उसने शिवाजी को छोड़कर तलवार का एक बड़ा ज़बर्दस्त वार उन पर किया जिसने लोहे की टोपी को काटता हुआ सिर पर पहुँच कर एक हल्का-सा घाव कर दिया। शिवाजी ने लपककर अपने एक साथी के हाथ से तलवार लेकर आक्रमण किया। तलवार का वार अफ़ज़लखाँ के बायें कन्धे पर पड़ा। वह अब गिर पड़ा और सहायता के लिए चिल्लाने लगा। तब शिवाजी बाहर अपने आदमियों की तरफ़ दौड़ गये। पाठक अब स्वयं निर्णय कर सकते हैं कि किसने विश्वासघात किया था।

सैयद बाँदा और दूसरे नौकर दौड़ पड़े और अफ़ज़लखाँ को पालकी में लेटा करके चल दिये। शिवाजी और जीवमहल ने सैयद बाँदा से कहा कि शरण ग्रहण करो तभी जीवन-दान मिल सकता है। उसने अस्वीकार किया और थोड़ी देर लड़ने के बाद मारा गया। इतनी ही देर में और लोग अफ़ज़लखाँ को पालकी में लिटा करके रवाना हो चुके थे। यह देखकर सम्भाजी कावाजी ने लपक-कर पालकी ले जानेवालों की टाँगों पर तलवार से एक हलका-सा वार किया और उन लोगों ने पालकी डाल दी। तब उसने अफ़ज़लखाँ का सिर काट लिया। बिगुल बजा और चारों तरफ़ से शिवाजी की सेना ने अफ़ज़लखाँ की सेना पर आक्रमण कर दिया। बहुत-से सैनिक घोड़ों पर सवार हो चुके थे और बहुत-से लड़ने के लिए तैयार हो गये थे। शिवाजी ने आज्ञा दी कि उन्हें अभय प्रदान की जाय जो न लड़ें। इतिहास में ऐसी उपमायें कम हैं। ये हिन्दू-वीरता के अमिट चिह्न हैं।

शिवाजी की माता प्रतापगढ़ के क़िले से यह सब दृश्य देख रही थीं। जब शिवाजी लौटे तब माता के पद-वन्दन किये और उन्होंने आशीर्वाद दिया और बहुत प्रसन्न हुई कि शिवाजी ने भाई का बदला चुका लिया। अफ़ज़लखाँ के सिर को शिवाजी ने पहाड़ी की चोटी पर भवानी की भेंटस्वरूप गड़वा दिया और उस स्थान पर एक इमारत बनवा दी जिसका नाम अफ़ज़ल-बुर्ज रक्खा और तलवार को विजय-चिह्न-स्वरूप अपने पास रख लिया। वे बाँस जिनके सिरे सोने से मढ़े हुए थे और जो अफ़ज़लखाँ के शामियाने में लगे थे, शिवाजी ने महाबलेश्वर के मन्दिर को समर्पित कर दिये। प्रतापगढ़ से उतरनेवाले रास्ते पर शिवाजी ने अफ़ज़लखाँ को दफ़न करवा दिया। जो मरहठे अफ़ज़लखाँ की सेना में थे वे गिरफ़्तार कर लिये गये और उन्हें शिवाजी ने अपनी सेना में स्थान दिया। अफ़ज़लखाँ का लड़का, फ़ज़ल-मुहम्मद ३०० घुड़सवारों के साथ खाँडोजी खोपादे की सहायता से भाग गया। और बहुमूल्य सामान के अतिरिक्त ६५ हाथी, ४००० घोड़े, १,२०० ऊँट, २,००० कपड़ों के पुलिन्दे और १० लाख रुपया शिवाजी के हाथ लगा। बहुत कुछ इसमें का शिवाजी ने अपने सैनिकों को बाँट दिया। पण्डित गोपीनाथ को एक गाँव पुरस्कार में दिया। अपने गुप्तचर विश्वासराव को जिसने अफ़ज़लखाँ के धोखा देने के इरादे की ख़बर शिवाजी को दी थी नक़द बहुत इनाम दिया। सेना के अध्यक्षों को हाथी, घोड़े, बहुमूल्य पदार्थ और माफ़ियाँ दीं। शत्रु-सेना के जो बंदी थे उन सबको मुक्त कर दिया और उनके खाने का प्रबन्ध करके और नक़द देकर उनके घरों को भेजवा दिया। क्या यही उदारता शिवाजी के आदमियों के साथ प्रकट की जाती यदि अफ़ज़लखाँ को अपनी चालाकी में सफलता होती?

जिन मरहठा सरदारों के सामने यह घटना घटित हुई थी उनका भी यही कहना है कि पहले अफ़ज़लखाँ ने शिवाजी की गर्दन पकड़ करके अपनी बग़ल के नीचे दबा ली थी और जब तक शिवाजी को अच्छी तरह से नहीं मालूम हो गया कि इसका इरादा क्या है तब तक उन्होंने शेरपंजे से काम नहीं लिया। क्या कोई यह भी कह सकता है कि उस समय भी जब शिवाजी की आँखों के सामने मौत नाच रही थी तब भी उन्हें स्वरक्षार्थ आक्रमण नहीं करना चाहिए था। यह प्रकृति का एक अटल नियम है कि प्रत्येक जीवधारी अपनी रक्षा अपने सामर्थ्यानुसार अवश्य

करेगा। यदि किसी कारण शिवाजी अपनी गर्दन को अफ़ज़लखाँ की बग़ल में टूट जाने देते तो आज कायरता का बहुत बड़ा लांछन उन पर होता। यही स्वयं शिवाजी ने अपने गुरु से कहा था कि जब अफ़ज़लखाँ ने मुझे अपनी बग़ल के नीचे दबा लिया था तब मैं अपने होश में नहीं था और यदि गुरु का आशीर्वाद न होता तो मैं उस पकड़ से छूट नहीं सकता था। यही इतिहास-लेखक किन्केड की भी राय है। उसने लिखा है कि "यदि शिवाजी धोखेबाज़ घातक होते जैसा वे चित्रित किये जाते हैं, तो जो उन्हें और कामों में सफलता हुई थी वह न होती, और न उनका नेतृत्व कुलीन और ओजस्वी मरहठे स्वीकार करते, और यदि स्वीकार करते तो वे भी धोखेबाज़ी में अपने नेता का अनुकरण करते। उनमें से किसी ने शिवाजी को धोखा नहीं दिया, और यह इसका प्रमाण है कि शिवाजी ने कभी किसी को धोखा नहीं दिया।" सत्य तो यह है कि वह वीर ही नहीं है जो किसी को धोखा दे या विश्वासघात करे, और यह भी सत्य है कि जो प्रशंसा के योग्य नहीं है, उसकी चाहे थोड़े दिन प्रशंसा हो जाय। पर समय झूठे रङ्ग को धो देता है। शिवाजी का आज भी प्रत्येक हिन्दू के हृदय में स्थान है। किसी देश पर हुकूमत करना आसान है, पर हृदय को अपना बना लेना कठिन है।*

---

* ऊपर का वृत्तान्त इन पुस्तकों पर निर्भर है। "A History of the Maharatta People by C. A. Kincaid, C. V. O., I. C. S., Vol. I, p. 157-8; Sarkar's Shiva Ji, p. 67-9; J. Ranade, p. 87-98."

गद्य-काव्य

लेखिका, श्रीमती रामेश्वरीदेवी गोयल, एम० ए०

उसका हृदय अनेक आघातों से पीड़ित था—वे सभी अपनी छाप छोड़ गये थे। अपने जर्जर प्राणों को सहानुभूति की आशा से वह सँभाल रही थी। किन्तु व्यथा से बेसुध, सन्ताप से विकल और दुराशाओं से पीड़ित वह जीवन का छोर छूने का प्रयत्न कर रही थी।

तुम आये ..., शरीर में कँपकँपी फैल गई—उसने आँखें खोलीं और मुस्करा दिया।

तुम भूल गये—

चमचमाती रजनी के जगमग प्रकाश में तुमने केवल उसका स्मित अधर ही देखा.......!

पल भर की इस सफलता पर वह प्रसन्न थी। इतनी कठोर यन्त्रणा पर वह विजय पा सकी! क्षितिज ने भी मुस्करा दिया।

...........पर रोग असाध्य था।

काल का कौतूहल बढ़ता ही गया। क्षण क्षण के हृत्कम्पन एक भयानक आघात पहुँचाते। वे इनी-गिनी श्वासें भी क्षण में विलीन होनेवाले जीवन की शत्रु बन बैठीं। उसकी तड़फ देखकर हृदय सिहर उठता था। पर उस पीड़ा को बाँटनेवाला था ही कौन?

तुमने उसकी नाड़ी थाम ली। उसने आँखें बन्द कर लीं। तुम्हारी स्नेह-पूर्ण थपकियों से कदाचित् कुछ आराम मिला—तुम्हारा हृदय आनन्द से विभोर हो गया—जीवन की कुछ आशा बँधी।

..........एक बार उसने फिर आँख खोली—तुमने सोचा, वह कुछ कह रही है—उसकी पुतलियों को देखकर तुम रो क्यों उठे? क्या उनमें तुम्हारा चित्र न था?

उसने मुस्कराने की चेष्टा की, पर अधर खुलकर रह गये। उसकी आँखों से दो आँसू चू गये। उन्हीं में उसके हृदय का, प्राणों का और असफल जीवन का रहस्य था!

लुका-छिपी

लेखक, श्रीयुत नलिनीमोहन सान्याल, एम० ए०, भाषातत्त्वरत्न

कृष्ण, सुनने में आया है कि तुम खेल से सभों को मुग्ध करते हो, और उन्हें अपने खेल के साथी बना लेते हो। और भी सुना जाता है कि किसी समय पृथ्वी के किसी स्थान पर तुमने जन्म लिया था—तुमने अपना मोहनरूप दिखाकर, मन-लुभानेवाले नाना खेल खेलकर वहाँ के लोगों को कुछ समय के लिए अविराम आनन्द-स्रोत में बहा रक्खा था। तुमने तो उसके बाद दूसरे किसी स्थान में अपना नयन-रञ्जन रूप नहीं दिखाया, खेल भी नहीं खेला। लोग कहते हैं कि प्रेम तथा आनन्द ही तुम्हारा स्वरूप है—तुम्हारे पास देश, काल, पात्र का विचार नहीं—सभी को तुम समान प्यार करते हो। तब क्यों तुम्हारा ऐसा अविचार है? तुमने एक ही समय के प्रति, एक ही स्थान के प्रति इतना पक्षपात क्यों दिखाया है? दूसरे समयों को, दूसरे देशों को उस आनन्द से क्यों वञ्चित किया है?"

"प्रिय सखे, मैं तो सभी समय, सभी जगह, तुम्हारे तथा और सबों के भीतर तथा चारों ओर खेलता रहता हूँ। चेतन-अचेतन जो कुछ हैं, सभी तो हमेशा मेरे खेल के साथी हैं। मैं सब समय असंख्य स्थानों में असंख्य प्रकार की लीलायें करते हुए सबको अपनी ओर खींचने की चेष्टा करता हूँ। मैं तुम्हारे साथ भी खेलता हूँ। तुम मुझे देखते हुए भी नहीं देख सकते—जानते हुए भी नहीं जान सकते। तुम्हारी आँखों पर पट्टी बँधी हुई है—मैं बग़ल से निकल जाता हूँ, तुम मुझे पकड़ नहीं सकते। पर भाई, साथ ही साथ मैं अपना प्रमाण रख जाता हूँ।"
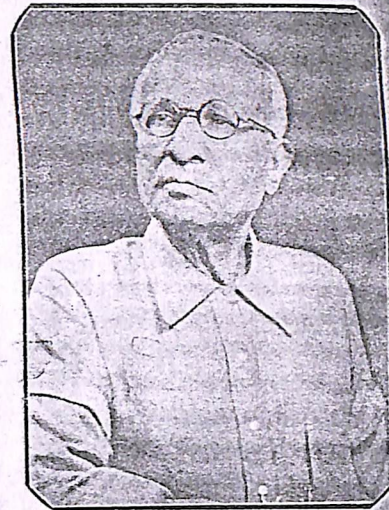
भारतवर्ष भक्त और भगवान् का देश है। भगवान् छिपते फिरते हैं और भक्त उन्हें ढूँढ़ता फिरता है। यह लुका-छिपी यहाँ पुरातन काल से होती चली आ रही है। श्रीयुत नलिनीमोहन सान्याल भगवान् के बड़े भक्त हैं और इस लेख में आपने अपने हृदय के उद्गार जिस ढङ्ग से प्रकट किये हैं वे उनके ऐसे भक्तों को पसन्द आये बिना नहीं रह सकते।

"हे सुन्दर, तुम्हारी मधुर बातें सुनकर आनन्द से मेरी छाती भरी जा रही है—मेरे उदास प्राणों में आशा का सञ्चार हो रहा है। किन्तु तुम्हारी बातें स्पष्ट नहीं—पूरी तरह समझ में नहीं आतीं—

कुछ रहस्यमय मालूम हो रही हैं। हे प्रियतम, मेरे भीतर तथा बाहर अपने खेल की जो बात कह रहे हो उसे ज़रा साफ़ साफ़ कहोगे?"

"अब, भाई, खेलों में 'लुका-छिपी' ही मुझे सबसे अच्छी लगती है। 'लुका-छिपी' का खेल बहुत दिनों से खेलते-खेलते वह मेरा बहुत प्यारा हो गया है, कोई मुझे पकड़ नहीं सकता। मैं कितनी कितनी और कैसी कैसी जगहों में छिपता हूँ, तुम इसका अन्दाज़ ही नहीं कर सकते।

"मैं किसी किसी समय चाँद में जाकर छिपता हूँ। उस पूर्ण शशधर को तथा ज्योत्स्ना-मण्डित धरातल को देखकर क्या तुम्हें प्रतीति नहीं होती कि मैं उनमें हूँ?

"अँधेरी रातों में जब तुम आकाश की ओर मुँह उठाकर नाना आकार में सज्जित असंख्य चमकते हुए तारों का विन्यास देख आनन्द में निमज्जित रहते हो तब क्या तुम्हें मालूम नहीं होता कि मैं उनमें हूँ?

"अति प्रत्यूष में उठकर प्रकृति देवी सिन्दूर घोलकर अपने घर की पूर्व की दीवार को लीप देती है। मैं उसकी आड़ में जाकर छिपता हूँ, यह तुम नहीं जानते होगे।

"जब आकाश घने काले मेघ से ढँक जाता है, तब उसे देखकर क्या तुम अनुमान नहीं कर सकते कि मैं उसके भीतर हूँ? पहचान के लिए मैं अपनी सुनहरी रङ्ग की पिछौरी बीच बीच में हिला देता हूँ; यह न जानते हुए तुम ख़याल करते हो कि वह बिजली है।

"एक समय जब तुम दार्जिलिंग में थे, उत्तर-गगन में काञ्चनजङ्घा की विराट् धवल मूर्ति के ऊपर बाल सूर्य का किरणपात देखकर तुम मुग्ध तथा स्तम्भित हो गये थे। उस समय मैं वहाँ जाकर छिपा था। क्या यह तुम्हारे जानने में आया था?

"और एक बार की बात कहता हूँ। पुरी में जाकर एक दिन तीसरे पहर तुम वेला-भूमि पर जा बैठे थे। अनन्त नील वारिधि में लहरों पर लहरें देखते हुए

तुम ऐसे आत्म-विस्मृत हो गये थे कि रात हो गई थी, तो भी तुम अपनी आँखों को फेरने को समर्थ न हुए थे। क्या तुम जान सके थे कि उस शोभा के भीतर मैं था?

"कल सन्ध्या के पहले पूर्व-आकाश में जो विचित्र वर्ण अर्ध-गोलाकार इन्द्रधनुष उठा था उसके भीतर मैं था, यह तो तुम समझ न सके थे। तुम्हें धोखे में डालने के लिए ही तो मैं नाना स्थानों में लुकता हूँ।

"मैं और भी कितनी जगहों में छिपता हूँ, यह तुम नहीं जानते। यह जो सुन्दर बड़े बड़े गुलाब तुम्हारे सामने खिले हैं, जिनके सौरभ से तुम्हारे प्राण मतवाले हो जाते हैं, उनके भीतर मैं छिपा रहता हूँ।

"हरिणों की अलसाई हुई सी आँखों में और पल्लवित शृङ्गों में मैं हूँ। गजेन्द्र के भीतर रहकर मैं उसकी सुन्दर मन्थरगति उत्पन्न करता हूँ। जब प्रबल वायु-प्रवाह से श्यामल शस्य-क्षेत्र का पृष्ठ लहराता है तब मैं वहाँ हूँ। वसन्त-समागम से जब वृक्ष नये नये हरे पत्तों से ढँक जाते हैं, और पलाश तथा अशोक के फूलों से वन उज्ज्वल हो जाता है और विटपिस्थ विहङ्गकुल मधुर तानों से दिगन्त को मुखरित कर देते हैं तब जानना कि मैं वहाँ हूँ।

"किसी दिन गरम हवा से तुम्हारी देह झुलसी जा रही थी। यह देखकर मुझसे रहा नहीं गया। मैंने तुम्हें मृदु मन्द सुशीतल समीरण स्पर्श कराके तुम्हारा शरीर शीतल कर दिया। क्या इससे भी तुमने अनुभव न किया था कि मैं आया था? मेरे साथ खेलने में तुम हरबार ही ठगे जाते हो। तुम मुझे पहचान नहीं सकते।

"जहाँ लतायें अपनी मृदु आवेष्टनियों के द्वारा बड़े बड़े वृक्षों को घेरकर मनोहर शीतल निभृत निकुंज निर्माण करती हैं, वहाँ जाकर मैं छिपता हूँ। जहाँ पर्वत-गात्र पर कलध्वनि करता हुआ झरना बह जाता है, वहाँ मैं छिपता हूँ। जहाँ काला मेघ देखकर नाना-वर्णोज्ज्वल पुच्छ फैलाता हुआ मयूर नाचने लगता है, उस नृत्य के भीतर मैं हूँ। मैं जहाँ जहाँ जाकर छिपता

हूँ, वहाँ वहाँ से इशारा करता हूँ। तुम उन्हें न समझ कर खेल में हार जाते हो।

"जब तुम्हारा कोई भारी नुक़सान हो गया हो, अथवा जब तुम किसी बड़े उद्यम में असफल हो गये हो, अथवा तुम्हारे किसी प्रिय आत्मीय का वियोग हो गया हो—इस प्रकार के किसी सांसारिक निष्पेषण से बिलकुल मुरझा जाने के कारण जब तुम हमारे खेल की बात एक-दम भूल गये हो, तब तुम्हारी पत्नी आकर तुम्हारे शिशु पुत्र को तुम्हारी गोद पर रख गई। निर्भरशील सरल स्नेह का पुतला तुम्हारी गोद पर लेटकर तुम्हारे मुख की ओर ताकता हुआ चारों दाँत निकाल कर हँसने लगा, और हाथ-गोड़ पटकने लगा। उस समय तुम्हारे शिशु-आकार में पहुँचकर मैं तुम्हें हमारे खेल की बात याद दिलाने को आया था। इतनी मर्मपीड़ा के भीतर भी तुम्हारे मुँह पर मुसकान आई थी, और हृदय का अनेक भार हट गया था। मैंने ही तुम्हें आशा से उत्साहित किया था। किन्तु तुमने मेरे संकेत को नहीं समझा था—तुम मुझे देख न सके थे। मैं मुसकराता हुआ बगल से निकल गया था, तुम जान न सके थे।

"एक दिन तीसरे पहर टहलते टहलते तुमने देखा कि दिवा अवसानप्राय है। एक कुली रमणी दिन भर के परिश्रम के बाद अपनी श्रान्तदेह को घसीटती हुई निज कुटीर की ओर जा रही थी—उसके सिर पर एक बोझ था और पीठ पर छाती के साथ कसके बँधी हुई एक पोटली थी। जब उस पोटली की ओर उसका ध्यान दौड़ता था, तब इतनी शारीरिक थकावट रहते हुए भी वह गुनगुनाने लगती। पोटली में क्या था? जो कुछ था, वह उसका नयन-मणि था, सर्वस्व था, उसके आनन्द का उत्स था, जिसको लेकर उसने अपने सारे दिन के परिश्रम को तुच्छ समझा था, जिसके स्पर्श से उसके सर्व शरीर में तडित् प्रवाहित होती थी। इस दृश्य को देखकर क्या तुम्हारे शरीर में भी तडित् का सञ्चार नहीं हुआ था? इस जाज्वल्यमान मातृस्नेह के भीतर मैं था। क्या तुम यह नहीं समझे थे? मेरा कोई दोष नहीं। मैं तुम्हें अपने अनादि, अनन्त 'लुकाछिपी' के खेल की बात का स्मरण कराके चुपके चुपके हँसकर खिसक गया था।

"मैं जब तुम्हारे पास आता हूँ, तुम ताकते रह जाते हो—अवाक् होकर सोचने लगते हो। यह क्या मामला है? प्यारे, मैं तुम्हें विषय-चिन्ता से निवृत्त करने के अभिप्राय से अपने चिरन्तन खेल का एक क्षीण आभास देता हूँ। इससे अधिक तो कुछ किया नहीं जा सकता। यदि तुम मुझे स्पष्ट देखकर पकड़ लो तो लुका-छिपी के खेल का सब मज़ा किरकिरा हो जायगा। सखे, मैंने तुमसे बहुत-सी बातें कह डालीं हैं, अधिक कहने से पकड़ा जाऊँगा। तब खेल में कुछ लज्जत न रहेगी। मैं जितना पोशीदा रहूँगा, उतना ही खेल का माधुर्य बढ़ेगा। मैं तुम्हारे पास रहते हुए भी पकड़ा जाना नहीं चाहता।"

"हे प्यारों से भी प्यारे, तुम्हारी बातों से अब मुझे मालूम होता है कि तुमने अनेक बार अपने खेल की याद दिलाई है और मेरे मन में चिन्ता जगा दी है। किन्तु मैं तुम्हें हमेशा भूल कर पथभ्रष्ट हो गया हूँ। हे हृदयेश, मुझे बता दो कि मैं तुम्हें किस प्रकार खोजूँ, जिससे खेल में मेरा भ्रम न हो?"

"प्रिय सखे, मैं तुम्हारे चारों ओर सदा खेला करता हूँ। अतएव सभी स्थानों में तुम्हें मेरा पता मिलेगा। लोभ तथा स्वार्थपरता ही अज्ञान, अत्याचार, प्रवञ्चना तथा दुःख-भोग के मूल हैं। जानता कि हमारे खेल को भूल जाना ही इस अधःपतन का कारण है। जहाँ जहाँ लोगों को इस प्रकार गिरे हुए पाओगे, वहीं वहीं उन्हें हमारे खेल की बात स्मरण करा कर जगाना होगा। जो लोग विपथ पर गये हैं उन्हें हमारे खेल में खींच लाना होगा। यह करते करते तुम हमारे बहुत निकट आ पहुँचोगे, और तुम्हारे मेरे बीच जो पर्दा पड़ गया है वह हट जायगा। तब तुम्हारे तथा जगत् के साथ मेरे चिरदिन के खेलों के जितने दृश्य सामने आ जायँगे—प्रकाश्य रूप से खेल चलता रहेगा—आँख बाँधनी न पड़ेगी।"

"हे प्रियतम, लोग कहते हैं कि तुम्हें पाने के लिए अनेक धर्मग्रन्थ पढ़ने चाहिए, एकान्त में रहना चाहिए, साधु-संग करना चाहिए, तुम्हारा ध्यान करना चाहिए, भजन करना चाहिए, माला-जप करना चाहिए, तिलक करना चाहिए, और और कितनी ही बातें करनी चाहिए। हे प्राण-प्रिय, तुम्हारे खेल में शामिल होने के लिए क्या ये सब काम अवश्य कर्तव्य हैं?"

"सखे, पहले-पहल इनमें से कुछ साधनों का प्रयोजन हो सकता है, परन्तु जो मेरी नित्यलीला देखना चाहते हैं उन्हें आडम्बर आवश्यक नहीं। सदाचार का, एकाग्रचित्त होने का तथा मेरे नाम-स्मरण का अभ्यास रखना, किन्तु निरन्तर मुझे खोजते रहना। मुझे खोज निकालना ही असली काम है। जो सब जीव मेरे खेल के नित्य सहचर हैं उन्हीं को अपने साथी करना। आँख बाँधकर खेलने से ही आनन्द अधिक मिलेगा। मुझे अपने चारों ओर—प्रकृति के सर्वत्र पाओगे। मैं एक ही समय नाना स्थानों में छिपा रहता हूँ।

"भीति-विह्वल, स्फूर्तिहीन, हताश, रोगग्रस्त, क्षुधित, यातना-पीड़ित कोटि कोटि प्राणियों के भीतर खेलना मुझे अच्छा लगता है। जो उन्हें प्यार करते हैं, उनका दुःखमोचन करते हैं, उन्हें उत्साहित करते हैं, खेल में खींच लाते हैं, वे मेरे बहुत प्रिय हैं। वे मेरे साथ अनन्तकाल तक खेलेंगे। धनी, वित्तसञ्चयी, विद्याभिमानी, उच्च कुल-सम्भूत लोग मेरा खेल भूल गये हैं। कण्टकाकीर्ण पथ से उनका उद्धारकर मेरे खेल में उन्हें लौटा लाना होगा। मैं जानता हूँ कि उनके मन से हमारे चिर दिन के खेल की बात एक-दम मिट नहीं गई है। स्नेह के साथ, निर्बन्ध के साथ, उन्हें खेल में लौटा लाना होगा।

"बन्धु, बहुत बातें हो गईं, अधिक का प्रयोजन नहीं। आओ, हम फिर खेलना शुरू करें। हम निरन्तर खेलेंगे—तब तुम मुझे पक्षपाती न कह सकोगे।"*

* 'कल्याण-कल्पतरु' के एक अँगरेज़ी लेख के आधार पर।

मानव-जीवन

लेखक, श्रीमन्नारायण अग्रवाल, एम० ए०

मानव-जीवन मुझको प्यारा।
सुख-दुख की तरल तरङ्गों का, क्रीड़ा-युत दर्शन न्यारा।
आनन्द-पुष्प को क्यों मैं खोजूँ, देवों के शुचि मन्दिर में?
स्वर्ग-शान्ति का वैभव क्यों मैं, देखूँ नीले अम्बर में?
मोक्ष-हेतु मैं क्यों फिरता हूँ, त्याग सकल मानव-संसार?
तीर्थों में साधू बनकर क्यों, ढूँढूँ निर्गुण ज्योति अपार?
पाया है मैंने अनन्त को, बालक के मृदु हास्यों में,
देखा है दैवी प्रताप को, आह-भरी निश्वासों में,
निज कुटुम्ब औ मित्रों के घर, प्रेम-लसित आनन्द मिला,
मनुज-प्रीति की मंजु लता में, मेरा जीवन-पुष्प खिला।

हास-परिहास
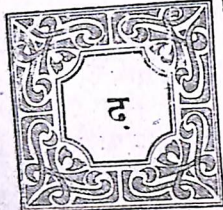
दक्षिण-भारत की हिन्दी-प्रचार-सभा ने इस बार मुंशी प्रेमचन्द जी को दक्षिण में हिन्दी की वकालत करने के लिए बुलाया था।

× × ×

वहाँ पहुँच कर हिन्दी के पक्ष में आपने बहुत-सी बातें कहीं। कुछ ये हैं—

१—"यह ग़लत है कि फ़ारसी शब्दों से भाषा कठिन हो जाती है।"

२—"शुद्ध हिन्दी तो निरर्थक शब्द है। जब भारत शुद्ध हिन्दू होता तो उसकी भाषा शुद्ध हिन्दी होती।"

३—"इसे हिन्दी कहिए, हिन्दुस्तानी कहिए या उर्दू कहिए चीज़ एक है। नाम से कोई बहस नहीं।"

× × × ×

परन्तु इससे पाठक यह न समझें कि प्रेमचन्द जी हिन्दू-उर्दू में कोई भेद नहीं मानते या वे दोनों को एक समझते हैं या मिलाकर एक कर देना चाहते हैं। क्योंकि उसी भाषण में वे एक स्थान पर कहते हैं—

"मेरा सारा जीवन उर्दू की सेवकाई करते गुज़रा है और आज भी मैं जितनी उर्दू लिखता हूँ उतनी हिन्दी नहीं लिखता। और कायस्थ होने और बचपन से फ़ारसी का अभ्यास करने के कारण उर्दू मेरे लिए जितनी स्वाभाविक है उतनी हिन्दी नहीं है।"

× × × ×

अपने इस भाषण में प्रेमचन्द जी ने शिष्टता की बड़ी दुहाई दी है और कहा है—"आप विद्वानों का ऐसा नियन्त्रण रक्खें कि अश्लील कुरुचिपूर्ण, कर्णकटु, भद्दे शब्द व्यवहार में न आ सकें।" परन्तु इस सुन्दर उपदेश के बाद ही आप कहते हैं—"उसी का भाई टामी है, पच्छिमी शिष्टता का सच्चा नमूना, शराबी, लोफ़र, गुण्डा, अक्खड़, दया से ख़ाली।" वाह! क्या कर्णप्रिय और मधुर शब्दावली है। ख़ूब!

× × × ×

दक्षिण भारतवालों को यह सब बर्दाश्त करना पड़ा क्योंकि प्रेमचन्द जी ने उनसे पहले ही कह दिया था—"आपको तो अपने नेवते की लाज रखनी है। मैं जो कुछ अनाप-शनाप बकूँ उसकी ख़ूब तारीफ़ कीजिए।"

× × × ×

धन्य है मुंशी जी धन्य है। पिछली बार पंडित रामनरेश त्रिपाठी को बुलाकर दक्षिणी लोग पछता रहे थे। इस बार आपने उनका सारा पश्चात्ताप सचमुच दूर कर दिया है।
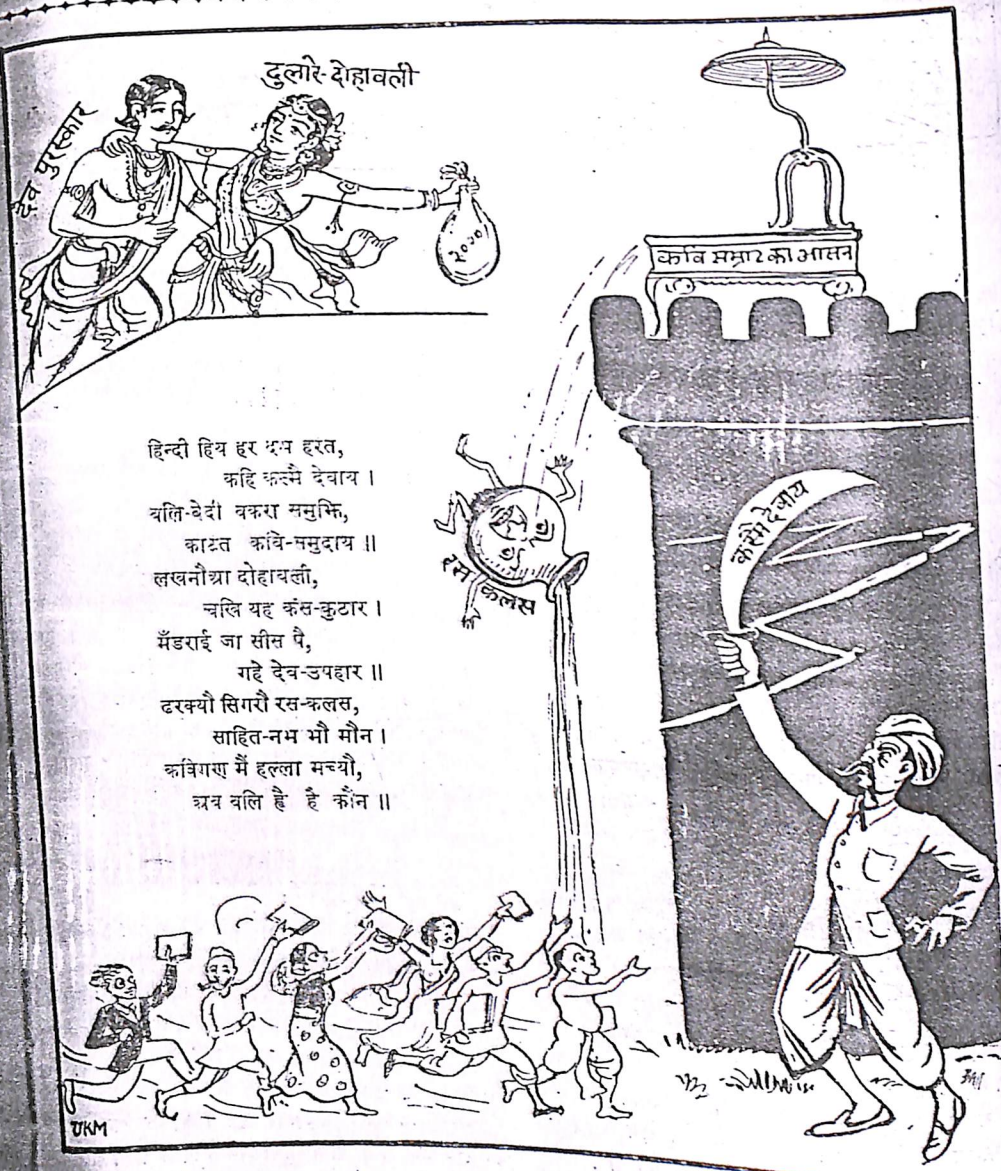
—सदानन्द

मार्च 1935 'सरस्वती'।
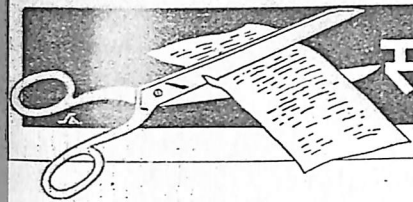
साहित्य की प्रगति

'वर्तमान' 'साहित्य की प्रगति' के सम्बन्ध में लिखता है—

आज से बीस वर्ष पहले अहिन्दी-भाषा-भाषी हिन्दी-साहित्य की ओर तुच्छता से देखा करते थे, क्योंकि हिन्दी में आधुनिक युग का कोई साहित्य ही नहीं था। चारों तरफ़ अनुवाद की धूम मची थी। इस अनुवाद का क्षेत्र बँगला तक ही सीमित था। मतलब यह कि अनुवाद का ही स्रोत चलता रहा। क्योंकि जहाँ पहले हिन्दी के लेखक संस्कृत से अनुवाद करते थे, वहाँ अब उसके बदले में बँगला की पुस्तकों का अनुवाद होता रहा। उपन्यासों की संख्या बरसाती मेंढकों से भी अधिक तेज़ी से बढ़ी, क्योंकि हिन्दी-भाषा-भाषी जनता का कला और साहित्य का ज्ञान अधूरा और प्रारम्भिक था।

आज की हिन्दी बनाने में पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी और 'सरस्वती' तथा 'चन्द्रकांता' और उसके लेखक श्री देवकीनन्दन खत्री का बड़ा हाथ है। इन दो महान् आत्माओं को हिन्दी-संसार भूल नहीं सकता। चन्द्रकान्ता ने लोगों में हिन्दी पढ़ने की प्रवृत्ति पैदा की और पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने उस प्रवृत्ति को सुरुचि की ओर ढाला।

आज का हिन्दी-साहित्य अपनी छोटी प्रगति में बहुत आगे बढ़ गया है और कम से कम आज हम इतना तो कह सकते हैं कि अब उसे किसी भी भाषा के साथ तुलनात्मक रूप में रख सकते हैं। कौन-सा क्षेत्र है जिसमें कि पुस्तकें न लिखी गई हों या खोज न की गई हो?

हिन्दी की यह प्रगति अभी तक और भी प्रशस्त हो गई होती अगर विश्वव्यापी आर्थिक संकट ने हमारे जीवन को आर्थिक दृष्टि से संयत न बनाया होता। साहित्य की इच्छा तो तभी होती है जब कि मनुष्य की चिंतायें कम हों और वह अपना मानसिक मनोरञ्जन करना चाहे। दुर्भाग्यवश हिन्दी पढ़ने-लिखनेवाले लोग मध्य-श्रेणी के हैं। इन पर आर्थिक संकट का शाप इतनी बुरी तरह से पड़ा है कि इन्हें अपना कारोबार सँभालने में ही मुश्किल पड़ रही है। इनके पास न धन है और न वक्त। कम मेहनत में जब अधिक लाभ होता है तभी तो साहित्य की अभिलाषा होती है।

फिर भी पिछले चार वर्षों को हम बुरा नहीं कह सकते। वैसे तो पुस्तकों का प्रकाशन अधिक नहीं हुआ है, लेकिन जितनी किताबें प्रकाशित हुई हैं उनमें मौलिकता अधिक है, मानसिक विकास की स्पष्ट झलक है और स्थायित्व का स्पष्ट आभास है।

समाचारपत्रों के दृष्टिकोण से इन वर्षों में हाहाकारी उन्नति हुई। हमारे प्रान्त में पहले 'आज' और 'वर्तमान' दो ही पत्र थे। अब चार हो गये हैं। मासिक पत्रिकाओं की संख्या भी बढ़ी है और साप्ताहिकों में 'प्रताप' और 'अभ्युदय' के सिवा 'भारत', 'सैनिक', 'प्रभात', 'हिन्दुस्तान', 'अर्जुन', 'स्वराज्य' आदि आदि कितने ही पत्र निकले हैं और सफलता से चल रहे हैं।

मासिक पत्रों की संख्या भी काफ़ी बढ़ी है, लेकिन गेट-अप और मेटर की दृष्टि से जो उन्नति हुई है, वह भूल जाने के योग्य नहीं है। 'सरस्वती' ने इतनी ज़बर्दस्त प्रगति को अपनाया है कि किसी भी उत्तम कोटि के अँगरेज़ी मासिक पत्र से उसकी तुलना की जा सकती है। छपाई-सफ़ाई और लेख तीनों एक दूसरे से बाज़ी ले लेने

की होड़ लगाये हुए हैं। 'सुधा' का ढंग भी अच्छा है। हाँ, 'माधुरी' शिथिलता से चल रही है। मासिक 'विश्वमित्र' ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की चेतनता जाग्रत करने का सौभाग्य प्राप्त किया है। वैसे तो 'भारत' ने भी दैनिक के रूप में इस क्षेत्र को एक बड़े पैमाने पर अपनाया है। 'विशाल भारत' का स्टैण्डर्ड काफ़ी अच्छा है, पर उसमें 'गुटडम' का असर पड़ चुका है और उसे निकालने के लिए हिन्दी-संसार को प्रयत्नशील होना पड़ेगा।

फिर भी हमारे पत्रकार-जीवन के पहलू में कई कठिनाइयाँ हैं। हिन्दी के पाठकों में अभी तक हिन्दी को पढ़ने की आकांक्षा तो जाग्रत हुई पर वह मुफ़्त में। विलायत तथा जापान आदि में लोग अपना ही पत्र पढ़ते हैं। इस कारण वहाँ लाख से नीचे का प्रचार साधारण समझा जाता है, लेकिन यहाँ तो दस हज़ार कापी बेचनेवाले अपने को भाग्यशाली मानते हैं। अगर हिन्दी के पाठकों में यह प्रवृत्ति जाग्रत हो आये तो बड़ा भला हो सकता है।

एक बात और है, हिन्दी में अभी गेट अप और छपाई में काफ़ी ध्यान देने की आवश्यकता है। यह अर्थसाध्य तो अवश्य है, लेकिन हमें तो सर्वसाधारण की रुचि को ललचाने के मार्ग को नहीं छोड़ना चाहिए। विदेशों में प्रकाशक इन सब बातों में प्रयत्नशील रहते हैं। हिन्दी के प्रकाशक तो और ही रास्ता अख़्तियार करते हैं। जिन प्रकाशकों को हम बड़े भले आदमी समझते हैं, वे लेखकों के साथ दुर्व्यवहार करने में पीछे नहीं रहते। बेचारे लेखक अपना पारिश्रमिक धन भीख के समान माँगा करते हैं।

जब कि सारे के सारे देश अपने हर एक पहलू को सुधारने के लिए प्रोग्राम बना रहे हैं तब क्यों न हिन्दी-संसार एक दशवर्षीय प्रोग्राम रक्खे जिसमें कि हमारे साहित्य के भवन में बिखरी हुई शक्तियाँ सँभाल कर व्यवस्थित रूप में रक्खी जायँ? हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को इस ओर दृष्टिपात करना चाहिए। धाँधली मिटनी चाहिए।

—

कवीन्द्र रवीन्द्र का दीक्षान्त-भाषण

इस बार हिन्दू-विश्वविद्यालय के कन्वोकेशन के अवसर पर भाषण देने के लिए कवीन्द्र रवीन्द्र निमंत्रित किये गये थे। कवीन्द्र ने अपने भाषण में मनुष्यत्व का प्रकृति से सामञ्जस्य, राष्ट्रीयता का अन्तर्राष्ट्रीयता से सामञ्जस्य और शिक्षा के निश्चित लक्ष्य की आवश्यकता पर बड़ी गम्भीरतापूर्वक विचार किया। उनके भाषण का कुछ अंश हम नीचे 'आज' से उद्धृत करते हैं—

आधुनिक भारत में शिक्षा के केन्द्र बड़े बड़े नगरों में स्थापित किये गये हैं जो देश की शक्ति और रुचि का सर्वोत्तम भाग अपनी ओर आकृष्ट कर रहे हैं। नगरों में रहकर हम स्फूर्ति के उस सतत प्रवाह से वंचित रहते हैं जो युक्त प्रकृति के वातावरण में सदा हमारे मन को प्रभावित करता रहता है। छपी पुस्तकों के पृष्ठों में ज्ञान के उन मूल साधनों का प्रायः अभाव ही रहता है जो प्रकृति ने हमारे लिए बेदाम सुलभ कर दिये हैं, और व्यापक जगत् के साथ, जिससे हमारा अंतरंग संबंध है, हमारी सहानुभूति का सम्बन्ध भी नहीं जुड़ता। मैं उन लोगों में हूँ जो जन्मते ही निर्वासित कर दिये जाते हैं। पत्थर की कलेजेवाली विमाता के अत्याचार का—एक आधुनिक नगर-द्वारा पालित होने से युवा होने पर मैंने विशेष रूप से अनुभव किया और अवसर मिलने पर इस बात का भी अनुभव किया कि बच्चों के मन के समुचित विकास के लिए उन वस्तुओं की कैसी अनिवार्य आवश्यकता है जो प्रकृति ने स्वयं हमें दे रक्खी हैं।

इससे मैं उस दुःखमयी घटना का कुछ अनुमान कर सकता हूँ जिसने, मेरा विश्वास है, महाकवि कालिदास के सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित कर दिया। विद्या-रसिकों के सौभाग्यवश कालिदास अपने जन्म-स्थान का कोई स्पष्ट संकेत नहीं दे गये हैं। फलतः काल ने इस विषय में हमारे लिए मतभेद की काफ़ी गुंजाइश रख दी है। मुझे याद आता है कि कहीं मैंने यह बात पढ़ी थी कि कालिदास काश्मीर में पैदा हुए थे। उसके बाद से मैंने कालिदास

के जन्म-स्थान को लेकर होनेवाली बहसों को पढ़ना बन्द कर दिया—इस डर से कि कहीं इसके खण्डन में कोई वैसी ही विद्वत्तापूर्ण तथा ठीक जँचनेवाली युक्ति न मिल जाय। जो हो कालिदास का काश्मीर में जन्म पाना सर्वथा उपयुक्त है और कलकत्ते में जन्म पाने के कारण मुझे उनसे डाह होती है। उनको काश्मीर त्यागकर मैदान के एक नगर में प्रवास करना पड़ा और उनका संपूर्ण मेघदूत-काव्य उस व्यथा के संगीत से प्रतिध्वनित है जो बीते सुख के दिनों को याद करने में अपने दुःख की सार्थकता मानता है। क्या यह बात अर्थपूर्ण नहीं है कि इस काव्य में नायक यक्ष की कल्पना शाश्वत सौंदर्य के स्वर्ग में रहनेवाली अपनी प्रियतमा की तलाश में भटकती हुई प्रत्येक गिरि, स्रोत, वन जिसके ऊपर से वह गुज़री, आनन्दोपलब्धि करती हुई अटक रही है। आषाढ़ के प्रथम दिवस में जल-भरे मेघ का स्वागत करनेवाली कृषक-बालिका की कृतज्ञतापूर्ण काली काली आँखों को देखकर मुग्ध हो रही है, ग्राम के किसी बूढ़े को वटवृक्ष के नीचे बैठकर एक प्रसिद्ध प्रेम-कहानी सुनाते सुन रही है, जो सैकड़ों साल बीत जाने पर भी सहृदयों के लिए वर्तमान काल की बात बनी हुई है। क्या इन सबमें आपको विशाल नगर के एक बन्दी के दर्शन नहीं होते, जो अपनी काल्पनिक यात्रा में प्रत्येक गिरि, नगर, वन आदि में परम आनन्द का अनुभव करते हुए विचर रहा है?

अन्तर्राष्ट्रीय शब्द विशेष अनिश्चित-सा जान पड़ सकता है। उसका अर्थ व्यापक समझा जाने का कारण उसकी अस्पष्टता ही है। जैसे पानी का वाष्परूप धारण करना। मैं ऐसी अन्तर्राष्ट्रीयता पर विश्वास नहीं करता जिसका स्वरूप स्थिर न हुआ हो। हम लोगों को तो भारत की अन्तर्राष्ट्रीयता से मतलब होना चाहिए जो अपनी विशेषता लिये होगी।

विश्वव्याप्त परमात्मा की विभूति वस्तु-विशेष में परिस्फुट होती है। सौन्दर्य विश्वव्यापी है। गुलाब से सौन्दर्य इसी लिए निखरता है कि वह स्वतः सुन्दर है। गुलाब, चमेली तथा कमल का सार खींच लेने पर आपको उस महान् सौन्दर्य का ज्ञान नहीं हो सकता जो फूलों में छिपा है। विश्वप्रेम का अर्थ यह नहीं कि अपने घर की दीवारें ढाह दी जायँ, बल्कि अभ्यागतों और पड़ोसियों को आश्रय देना ही विश्वप्रेम है।

पृथ्वी की जिस तरह दो गतियाँ हैं—एक दैनिक और दूसरी वार्षिक, उसी तरह मनुष्य के जीवन में भी कभी न कभी दो गतियाँ उपस्थित होंगी। एक गति तो उसके अपने ही व्यक्तित्व की सीमा पर परिमित रहेगी और दूसरी सारी मानव-जाति तक पहुँचेगी। अन्तर्राष्ट्रीयता की चेष्टा में किसी राष्ट्र का व्यक्तित्व अवश्य बना रहेगा। इसके लिए उसे स्वतः प्रेरणा होनी चाहिए। अन्यथा केवल विश्वबन्धुत्व की बात करने और तरंग में बहने में कोई लाभ नहीं।

प्रत्येक जाति की कहानियाँ मनुष्य के विश्वास को उस स्वर्णयुग में पहुँचाती हैं जो मानव-सभ्यता की भूमिका का अध्याय-सा प्रकट होता है। उससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य का विश्वास प्राकृतिक रूपेण आध्यात्मिक आदर्शों की ओर होता है, यद्यपि यह बात सिद्ध नहीं की जा सकती। उसे यह मालूम होता है कि यह देन उसे मिली हुई है और उसे बाधाओं से लड़कर इस देन को सिद्ध करने का प्रमाण अपने कार्यों से देना है। सतयुग की कल्पना जिस पर बहुत-से लोग हँसते हैं, मनुष्य की सर्वोत्तम सम्पत्ति है, जिसे उसने अपने पौराणिक आख्यानों में रख छोड़ा है और जो कभी अनन्त काल में मनुष्य द्वारा अनुभूत सर्वदा के लिए सम्पूर्ण सत्य है। यह स्वीकार करते हुए कि यह कोई वास्तविक घटना नहीं है हमें यह समझ लेना चाहिए कि इन आरम्भिक आख्यानों में जिन प्राकृतिक भावनाओं का पालन-पोषण किया गया है वे अपना सत्य अर्थ रखती हैं। अंडे से सद्यः निकलनेवाले प्राणी की भावना की भाँति जो यह अनुभव करता है कि उसे अनन्त स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई है और वह स्वतन्त्रता केवल कल्पना में ही नहीं किन्तु वास्तविकता में सम्मुख उपस्थित है बल्कि अंडे के जीवन से अधिक सत्य प्रतीत होती है। यदि उस प्राणी में वैज्ञानिक बुद्धि होती तो उसे इस स्वतन्त्रता की कल्पना करना कठिन होता, बल्कि उसके तमाम अनुभवों के विपरीत होता। किन्तु यह सब होते हुए

भी वह उस फूटे हुए अंडे के छिलकों को उठाने से बाज़ नहीं आ सकता और उसके परिणामों को अस्वीकार नहीं कर सकता। मनुष्य की आत्मा ने, जो अपनी परिमितता से जकड़ी हुई है, सतयुग की कल्पना की है और अपनी मुक्ति के लिए प्रयत्न किया है, जिसकी प्राप्ति असम्भव ज्ञात होती है। उसके हृदय में किसी महती प्रेरणा के उद्गम के लिए श्रद्धा होती है, जिसमें "सत्यं शिवं सुन्दरम्" के तमाम अनुभव वास्तविक रूप में प्राप्त होते हैं यद्यपि वे प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं किये जा सकते। इस वास्तविकता में सत्य, प्रेम और मानव-एकता की स्वतन्त्रता का आदर्श सर्वदा के लिए प्राप्त हो जाता है।

भोपाल में प्राचीन इतिहास की सामग्री

मन्दिरों और मूर्तियों के रूप में भारत के प्राचीन इतिहास की सामग्री अब भी जगह जगह अरक्षित रूप में पड़ी हुई है। सरकार अपने भरसक उसकी रक्षा का प्रबन्ध बराबर करती रहती है, तो भी जनता का भी कुछ कर्त्तव्य है। इलाहाबाद म्यूनिसिपल बोर्ड के एक्ज़िक्यूटिव आफ़िसर पण्डित ब्रजमोहन व्यास के प्रयत्न से जो अजायबघर खोला गया है वह इस कर्तव्य के पालन का एक सुन्दर उदाहरण है। प्रसन्नता की बात है कि इस दिशा में भोपाल में भी कुछ कार्य हो रहा है। वहाँ के भी कुछ लोग इस ओर अग्रसर हुए हैं। इस सम्बन्ध में २९ जनवरी के 'स्वराज्य' में एक लेख निकला है। उसका रोचक अंश यह है—

सांची का बौद्ध-स्तूप रियासत 'भोपाल' के अंतर्गत है। सांची के अलावा भी कई स्थान हैं जो प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डाल सकते हैं।

भोपाल से ६ मील के फ़ासले पर कुंराना में प्राचीन जैन-मूर्तियाँ हैं। नदी पर, जंगल में और खेतों पर ये जैन-मूर्तियाँ बहुसंख्या में बिखरी पड़ी हैं। मूर्तियों की लंबाई ३ फ़ुट से १५ फ़ुट तक है। यहाँ एक जैन-मन्दिर बनाया जा रहा है, जिसके लिए नवाब साहब ने इजाज़त दे दी है।

भोपाल से २० मील पर हिरानिया रोड पर 'भोजपुर' नाम का एक ग्राम है। यहाँ एक शिव-मंदिर और एक जैन-मंदिर बना हुआ है। यहाँ २ फ़ुट से २२ फ़ुट तक की प्राचीन मूर्तियाँ और शिलालेखादि पाये गये हैं। यह स्थान ऐतिहासिक है। जंगल में कई मूर्तियाँ बिखरी पड़ी हैं।

भोजपुर से ४ मील की दूरी पर आशापुरी नाम का ग्राम है। इस स्थान में बौद्ध-काल के २०-२२ प्राचीन सुन्दर मठ हैं। एक शिवालय भी यहाँ है। इसके अलावा एक मील की परिधि में कई विशाल जैन-मंदिर हैं। जंगलों-झाड़ियों में २ फ़ुट से १५ फ़ुट तक की जैन-मूर्तियाँ पड़ी दिखाई देती हैं।

× × ×

भोजपुर ग्राम राजा भोज का बसाया हुआ है। यहाँ के मंदिर और अन्य दृश्य मनोमुग्धकारी हैं।

× × × ×

आशापुरी के बौद्धमठ सुन्दर और मनोहारी भावों को पैदा करते हैं। बौद्धकाल के पश्चात् शैवकाल में भी इस स्थान पर मंदिर बनाये गये थे। आज भी २-३ शिव-मंदिर 'ॐ' की प्रतिध्वनि से गुंजायमान-से भासित होते हैं।

यदि कोई इतिहास-प्रेमी संस्था इस विषय में प्रयत्नशील होकर भोजपुर तथा आशापुर के भग्नावशेषों को सुरक्षित रखने का उद्योग करे तो इस कार्य में अत्यधिक खर्च भी न होगा।

हर्ष का विषय है कि भोपाल की जैन-जनता का ध्यान इधर-उधर बिखरे हुए जैन-इतिहास के इन प्रस्तर-पृष्ठों की ओर गया है। जैन-म्युज़ियम-कमिटी नाम की एक संस्था भोपाल में स्थापित हो चुकी है। इसके कार्यकर्ता जैन-मूर्तियों और शिला-लेखों का अनुसंधान करने के प्रयत्न में लगे हुए हैं। जैन म्युज़ियम के कार्यकर्ता सभी अवैतनिक हैं और केवल सेवा-भाव से इस कार्य में लगे हुए हैं।

अपने रक्त का व्यापारी

पाठकों ने बहुत प्रकार के व्यापारियों के क़िस्से सुने होंगे, पर ऐसे व्यापारी के होने की कदाचित्

उन्होंने कल्पना भी न की होगी जो अपना रक्त बेचकर अपनी जीविका चलाता हो। यहाँ हम एक ऐसे ही व्यापारी का वृत्तान्त 'भारत-मित्र' से उद्धृत करते हैं। यह व्यापारी बुडापेस्ट (हङ्गरी) का है। अवस्था लगभग ३० वर्ष के होगी। इसने अब तक अपने शरीर का १८ सेर रक्त बेचा है।

"मेरे माता-पिता बहुत ग़रीब थे और १४ वर्ष की आयु में उन्होंने मुझे एक ताला बनानेवाले लोहार के यहाँ काम सीखने पर रखा दिया। मैं कई वर्षों तक ताले बनाने का काम करता रहा, किन्तु अन्त में जब मन्दी हुई तब मेरा काम छूट गया और बहुत समय तक मुझे कोई काम नहीं मिला। अन्त को म्युनिसिपल अस्पताल में मुझे चपरासी का काम मिला और आज तक मैं वहीं हूँ। एक दिन मैं एक भयानक बीमार को जिसके बचने की कोई आशा नहीं थी, चीड़ा-फाड़ी-गृह में उठवा कर लिये जा रहा था। उसका बहुत-सा रक्त नष्ट हो चुका था और उसमें शीघ्र रक्त-प्रवेश करना अनिवार्य था। मैंने आवश्यक रक्त देने के लिए अपने आपको पेश किया। परीक्षा लेकर डाक्टरों ने मुझे इसके लिए बहुत उपयुक्त बताया। डाक्टरों के फ़ैसले पर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई और मैंने अनुभव किया कि अपना रक्त देकर मैं संसार का कुछ भला कर रहा हूँ।

"इसके कुछ दिनों के बाद मुझे दुबारा रक्त देना पड़ा। एक व्यक्ति को आन्तरिक रक्त-विकार हो गया था और सिवा रक्त-प्रवेश के उसका जीवन किसी भी प्रकार नहीं बचा जा सकता था। जब मैं पहले रक्त देने की कमी से स्वस्थ हुआ तब मैंने इस व्यक्ति को लगभग १॥ पाव रक्त दिया। रबड़ की नलकी में लगी सुई का एक सिरा मेरे अन्दर चुभोया गया और दूसरा बीमार के अन्दर। यह रोगी बहुत ग़रीब था इसलिए मैंने रक्त देने का मूल्य इससे कुछ भी न लिया। इस बार रक्त देने से मैं बहुत दुर्बल हो गया था। परन्तु यह दुर्बलता बहुत दिनों तक न रही, और तीन दिन के बाद ही मैं पूर्णरूप से स्वास्थ्य अनुभव करने लगा। तब से मैंने लगभग ३६ बार रक्त दिया है और १८ सेर के लगभग मैं रक्त दे चुका हूँ। डाक्टरों का कहना है कि डाक्टरी लिहाज़ से मेरे जैसे व्यक्ति का जीवित रहना असम्भव है। यदि मैं उनके सामने न होता तो वे यह विश्वास न करते कि मैं वही पहले का व्यक्ति हूँ। उन्होंने (डाक्टरों) मुझे रक्त देने के ३६ सार्टीफ़िकेट दिये हैं। इन सार्टीफ़िकेटों से इस बात की पुष्टि होती है कि मैंने २ व्यक्तियों को १९२८ में, ६ को १९२९ में, ८ को १९३० में; १२ को १९३१ में और ८ रोगियों को १९३२ में रक्त दिया। तब से मैंने कई औरों को भी रक्त दिया है, परन्तु डाक्टरों ने मुझे इनके अभी तक सार्टीफ़िकेट नहीं दिये। मुझे इस जीवन में कई विचित्र अनुभव भी हुए हैं। पहले तो मुझे यह विश्वास ही नहीं होता था कि रक्त का व्यापार कर सकूँगा। परन्तु बुद्धि की अपेक्षा अपने हृदय से प्रेरित होकर ही सर्वप्रथम इस जीवन को मैंने पसन्द किया। मेरे रोगियों में ग़रीब-अमीर, बुड्ढे-बुड्ढियाँ और सुन्दरी नवयुवतियाँ सभी रही हैं। एक बार एक पियानो बजानेवाला लड़का अस्पताल में लाया गया। वह बहुत शरारती था और प्रायः चलती ट्रेनों पर कूदकर चढ़ जाया करता था। एक दिन एक ट्रामगाड़ी उसके पैर पर से उतर गई। उसकी टाँग अलग हो गई और इतना रक्त बह गया कि बिना रक्त-प्रवेश के उसका जीवित होना असम्भव था। मैंने फ़ौरन ही रक्त देने के लिए अपने को स्वेच्छा से पेश किया। मैं उसके पास खड़ा होकर रक्त देने लगा। उसके समक्ष पियानो बजाया जा रहा था। उसे सब कुछ मालूम था कि क्या हो रहा है। उसने मुझसे पूछा—"क्या आप भी पियानो बजानेवाले हैं?" मैं उसे उत्तेजित करना नहीं चाहता था, इसलिए उसकी बात का "हाँ" में उत्तर दिया। इस पर लड़के ने प्रसन्नता दिखाते हुए कहा कि मैं प्रसन्न हूँ कि मैं भी आप के ही समान पियानो बजाने लग जाऊँगा। इस पर हम सबके हृदय भर गये और डाक्टरों तथा नर्सों की आँखों से आँसू टपक पड़े। रक्त देने से मुझे आर्थिक लाभ भी होता है। क्योंकि खैरात में रक्त देना असंभव है जाय। अस्पताल के अधिकारी प्रत्येक १॥ पाव रक्त के लिए मुझे २ पौंड देते हैं और बाद को यह रक़म रोगी से वसूल कर ली जाती है। लोग समझते होंगे कि रोगी बड़े मुझे फ़ीस के अतिरिक्त इनाम भी देते होंगे, पर ऐसा नहीं है, क्योंकि अस्पताल में आनेवाले रोगी प्रायः ग़रीब ही होते हैं। मैंने देखा है कि पुरुष पहले-पहल तो कृतज्ञता प्रकट करते हैं, परन्तु अच्छा होने के बाद जब कभी मैं रास्ते में उनसे मिला हूँ तब वे कन्नी काट कर निकल गये हैं। शायद इसका कारण यह लज्जा हो कि मैं उनके अन्दर रक्त प्रवेश किये हुए हूँ।

"परन्तु रक्त-प्रवेश से पूर्व स्त्रियाँ मुझे धन्यवाद ही नहीं देतीं, बल्कि प्रायः सभी केसों में प्रेम करने लगती हैं। पर ज्यों ही वे अच्छी हुईं कि सब कुछ भूल-सी गईं।

"एक बार एक स्त्री सख़्त बीमार थी। मेरे पैरों पर गिरकर उसने अपनी जीवन-रक्षा के लिए मुझसे प्रार्थना की और मुझसे प्रेम प्रदर्शित किया। मैंने उसे १॥ पाव रक्त दिया। रक्त-प्रवेश के बाद मुझे १ पौंड इनाम दिया और बस। शायद उसने अपने प्रेम का मूल्य इतना ही आँका था। खयाल किया जाता होगा कि मेरे जैसा व्यक्ति कोई विशेष भोजन खाता होगा। परन्तु नहीं। न तो रक्त देने के पूर्व और न उपरान्त ही मुझे कोई विशेष भोजन मिला। मैं जिमनास्टिक करता हूँ और सादा मामूली आदमी इतना भोजन करता हूँ। मैंने मनुष्य की जो सेवा की है उसका स्मरण कर मुझे अपने पेशे पर गौरव होता है। मैं अनुभव करता हूँ कि मौज उड़ाने के अतिरिक्त मेरे जीवन का और भी उद्देश है।"

गुलामों की मंडी

संसार से दास-प्रथा का सर्वथा उन्मूलन नहीं हो गया है। यद्यपि राष्ट्र-संघ के द्वारा संसार के ३० राष्ट्र एकमत होकर उसका अन्त कर देने का निश्चय कर चुके हैं, तो भी ग़ुलामों का व्यापार मज़े में चल रहा है। यह व्यापार कहाँ किस तरह होता है, इस सम्बन्ध का आँखों देखा एक विवरण 'भारतमित्र' में छपा है, जिसका एक अंश इस प्रकार है—

इस धन्धे के रोकनेवाले एक अफ़सर कमाण्डर फुब्वर्ड ने कहा है कि हर साल ५ हज़ार नर-नारी और बच्चे ग़ुलाम बनाने के लिए पकड़े जाते हैं। उनमें से बहुतेरे अँगरेज़ी इलाक़ों से भी पकड़े जाते हैं। एक बार लालसमुद्र में एक व्यापारी जहाज़ ने एक जहाज़ खड़ा देखा था, जिसमें २-३ सौ ग़ुलाम क़ैद थे। जहाज़ में एक सिरे से दूसरे सिरे तक ठिंगने क़द के नीग्रो भरे पड़े थे। वे सब बेंचों पर बैठे थे। उन सबके पैर बँधे हुए थे। २० क़तारों में १२-१२ या १४-१४ व्यक्ति बैठे थे। व्यापारी जहाज़ के कप्तान ने हमें बेतार के तार से सूचना दी। पर हमारे जहाज़ के वहाँ पहुँचने से पहले ही वह जहाज़ अरब के तट की ओर भाग गया। उनमें से जो दास इब्न सऊद की बादशाहत की निजी मण्डियों में पहुँच जाते हैं उनसे मक्का, रिया आदि नगरों में बुरा व्यवहार नहीं होता।

जद्दा की सन्धि (१९२७) के अनुसार वहाँ के शासक ने इस व्यापार को रोकने में सहायता देने का वचन दिया है। पर अबीसीनिया के शासक की तरह इब्न सऊद स्वतन्त्र नहीं है। इस्लाम यह अधिकार देता है कि यदि मुसलमान चाहें तो ग़ुलाम रख सकते हैं। मक्का उनका पवित्र स्थान है। मक्का के एक मुहल्ले में आज भी ऐसी दूकानें मौजूद हैं जहाँ आदमी, स्त्रियाँ और बच्चे बेचे जाते हैं। अधिक सुन्दर स्त्रियों के दाम भी अधिक मिलते हैं। वे आम तौर पर घर के अन्दर रक्खी जाती हैं और वे धनी खरीदारों को ही दिखाई जाती हैं। उनका मूल्य प्रायः १६ सौ रुपये तक होता है।

स्त्रियाँ क्या पढ़ें?

बनारस के 'कारमाइकल-पुस्तकालय' ने स्त्रियों की सुविधा के लिए एक महिला-विभाग की स्थापना की है। इस विभाग का उद्घाटन करने के लिए श्रीमती कैलाश श्रीवास्तव आमंत्रित हुई थीं। आपने अपने भाषण में पुस्तकालयों में ऐसे प्रबन्ध की आवश्यकता बताई और इस बात पर भी ज़ोर दिया कि स्त्रियों के पढ़ने के लिए कैसी सामग्री एकत्र की जाय। आपके भाषण का एक अंश हम 'आज' से देते हैं—

हम लोग यहाँ 'कारमाइकल-पुस्तकालय' में एक महिला-विभाग स्थापित करने के लिए एकत्र हुई हैं। यह पुस्तकालय इस प्रान्त में सत्कार्य के लिए प्रसिद्ध रहा है और जो सेवायें इसने इतने सालों में पढ़ी-लिखी जनता के लिए की हैं वे कही नहीं जा सकती हैं। यद्यपि स्त्रियों को इस पुस्तकालय के सदस्य बनने के लिए कोई बाधा नहीं है, तो भी पर्दा, अज्ञानता और घर के झंझटों में फँसे रहने के कारण स्त्रियाँ इस पुस्तकालय से लाभ नहीं उठा सकी हैं। मैं कार्यकारिणी समिति के सदस्यों को उस उत्साह के लिए बधाई देती हूँ जो उन्होंने पुस्तकालय में महिला-विभाग स्थापित करके प्रदर्शित किया है। यह बात इस प्रान्त के पुस्तकालयों के इतिहास में अपूर्व है। जहाँ तक मुझे पता है, किसी भी सर्वसाधारण पुस्तकालय में महिला-विभाग नहीं है। मैं कमिटी की दूरदर्शिता की तारीफ़ करती हूँ जो उन्होंने इस नगर में विशेष महिला-विभाग खोलकर दिखाई है। मैं आशा करती हूँ कि आपका मनोरथ सिद्ध होगा।

मेरे पास पुस्तकालयों का उपयोग करनेवाली स्त्रियों की कोई विशेष तालिका नहीं है, परन्तु जब मैं किसी लाइब्रेरी का रजिस्टर देखती हूँ तब ये बातें स्पष्ट मालूम होती हैं। अर्थात् उपन्यास और छोटी छोटी कहानियों के पढ़नेवाली महिलाओं की संख्या काफ़ी है। इसके बाद उनकी संख्या है जो इतिहास, जीवन-चरित और काव्य-ग्रन्थों को पढ़ती हैं। तत्पश्चात् अर्थशास्त्र और अन्त में वैज्ञानिक ग्रन्थों का नम्बर आता है। उसके प्रतिकूल योरप और अमेरिका में बड़ी संख्या में ऐसे ग्रन्थ पढ़े जाते हैं—रेडियो, बेतार का तार, वास्तु-विद्या इत्यादि। कैसे दुःख की बात है कि हमारे विचार इतने गिरे हुए हैं कि हम गम्भीर विषयों की ओर ध्यान ही नहीं देते! इस प्रकार के विचारों का कारण शायद यह है कि हमें देशी भाषाओं में लिखी हुई अच्छी पुस्तकें ही नहीं मिलती हैं और दूसरा यह है कि हमारा लक्ष्य केवल स्कूली परीक्षाओं में पास होना ही रहता है। हमारे आदर्शों का क्षेत्र इतना संकीर्ण है और हमारी शिक्षा इतनी संकुचित है कि हम घर के कामों को छोड़कर किसी अन्य बात की परवा नहीं करते। इन संकुचित विचारों को नष्ट करने के लिए लाइब्रेरी ज़रूरी है। मैं आशा करती हूँ कि मेरे मित्र, महिला-विभाग को स्थापित करने के साथ साथ इस बात पर ध्यान रखेंगे।

मैंने देखा है कि प्रायः सर्वसाधारण और सरकारी पुस्तकालयों में पत्रिकाओं और स्त्रियों के लिए पुस्तकों का कोई विशेष प्रबन्ध नहीं रक्खा जाता है। यह बात ठीक है कि स्त्रियों के लिए उपयोगी पुस्तकें और पत्रिकायें उँगलियों पर गिनी जा सकती हैं। कुछ समय के लिए तो स्त्री-योग्य पुस्तकों और पत्रिकाओं के लिए हमें बाहरी प्रकाशकों का मुँह देखना पड़ेगा, परन्तु मैं आशा करती हूँ कि थोड़े ही दिनों में भारतीय प्रकाशक इस कार्य को अपने हाथ में ले लेंगे और जल्दी ही बाज़ार में इस प्रकार के विषयों पर पुस्तकें प्राप्त हो सकेंगी—बाल-विज्ञान, बाल-शुश्रूषा, रोगियों की टहल और स्त्री-अधिकार-सम्बन्धी। इतना तो मैं अवश्य संकेत करूँगी कि इस पुस्तकालय के महिला-विभाग में उन वैज्ञानिक पुस्तकों को विशेष रूप से स्थान दिया जाय जिनका विषय जन्मनियन्त्रण, बाल-सेवा, मातृकर्तव्य आदि है। मृत्यु-संख्या की तरफ़ ध्यान देने से प्रत्येक मनुष्य को ज्ञात होता है कि हम भारतीय कितनी बड़ी संख्या में जीवन नष्ट होने देते हैं। यहाँ पर मृत्यु-संख्या प्रतिहज़ार २४ है परन्तु इँगलेंड में प्रतिहज़ार केवल ८ और अमेरिका में ६। इसलिए कहने की आवश्यकता नहीं कि इस विषय की जानकारी की ओर तुरन्त ध्यान देने की ज़रूरत है। देशी भाषाओं में मकान की सफ़ाई, सजावट, स्वास्थ्य-सम्बन्धी पुस्तकें बहुत थोड़ी हैं। मुझे यह देखकर प्रायः आश्चर्य होता है कि अन्य देशों की अपेक्षा हमारे घर मैले और भद्दे होते हैं। सुन्दरता तो हम जानते नहीं। फिर यदि हम विलास की वस्तुओं से घृणा करें तो आश्चर्य की बात नहीं! सादा बनने के प्रयत्न में हम अक्सर भद्दी वस्तुओं को स्थान देते हैं और अपने घरों से प्रसन्नता और सुन्दरता को ठुकराते हैं। यह नहीं सोचते कि सादा जीवन व्यतीत करने के साथ ही हम लोग उसे सुन्दर, विशद और आनन्दमय भी बना सकते हैं। यह हमारा ही कर्तव्य है कि हम लोग अपने घरों को साफ़, सुन्दर और आनन्दमय बनावें।

काशी-विद्यापीठ

काशी-विद्यापीठ का १४ वाँ वार्षिकोत्सव बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन के सभापतित्व में अभी हाल में मनाया गया है। टंडन जी ने अपने भाषण में इस बात पर ज़ोर दिया कि शिक्षा का उद्देश मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त करना होना चाहिए न कि नौकरी प्राप्त करना। आपके भाषण का सारांश 'आज' में छपा है। नीचे हम उसे उद्धृत करते हैं—

काशी-विद्यापीठ कुछ विशेष उद्देशों को लेकर बना है। श्री शिवप्रसाद जी के हृदय में जिस आदर्श का भाव था वह काशी-विद्यापीठ के रूप में आपके सामने है। काशी-विद्यापीठ १४ साल से काम कर रहा है। यहाँ पर छात्र कम भले ही हों, पर इसका बड़प्पन इसी में है कि जिस उद्देश को लेकर इसकी स्थापना हुई है वह क़ायम रहे और दूसरों को भी उसका अनुसरण करना पड़े। मुझे यह समझने में कठिनाई होती है कि विश्वविद्यालयों में जो लाखों रुपये ख़र्च हो रहे हैं उसका उद्देश क्या है। किन्तु इतना जान पड़ता है कि हमारे देश की संस्कृति के अनुकूल जिस शिक्षा की आवश्यकता थी वैसा वे कुछ भी नहीं कर रहे हैं। हाँ, इतना ज़रूर हुआ है कि अँगरेज़ी के साथ कुछ अन्य बातों का ज्ञान हो गया है। शिक्षा का उद्देश सिर्फ़ नौकरी प्राप्त करना नहीं है, शिक्षा का उद्देश मानसिक स्वास्थ्य उत्पन्न करना है। पर शिक्षणालयों का वायुमण्डल ऐसा है कि शिक्षा के साथ कुछ ऐसी सामग्रियाँ मिलती हैं जो मानसिक स्वास्थ्य के लिए विष का काम करती हैं। मानसिक स्वास्थ्य का अर्थ स्वतन्त्र चिंतन है। सामाजिक या राजनैतिक क्षेत्र में जिस बात को बुद्धि स्वीकार करे उसे ही मानना। मूढ़ आग्रह या भेड़ियाधसान का अवलम्बन नहीं करना चाहिए। जिस शिक्षा में मानसिक-स्वास्थ्य या स्वतन्त्र चिंतन का बिलकुल अभाव है वह बेकार है।

विश्वविद्यालयों के कालेजों के प्रिंसिपल पहले अँगरेज़ हुआ करते थे, पर अब भारतीय प्रिंसिपल होने लगे हैं। वे स्वयं उतने स्वतन्त्र नहीं हैं, उन्हें जीविका का ख़याल है, इसलिए वे छात्रों को दबाते हैं। विश्वविद्यालयों का वर्तमान वायुमण्डल ही ऐसा है कि वे स्वतन्त्र चिंतन कर ही नहीं सकते। लोग यह दलील देते हैं कि राजनैतिक-आन्दोलन में भाग लेनेवाले नेताओं में से कितने ही वर्तमान यूनिवर्सिटियों से ही शिक्षा प्राप्त कर निकले हैं। पर यह दलील ठीक नहीं है। राजनैतिक आन्दोलन में भाग लेनेवालों को यूनिवर्सिटियों की शिक्षा के कारण प्रोत्साहन नहीं मिला है। उनके हृदय में स्वाभाविक जागृति हुई है। वर्तमान यूनिवर्सिटियों की शिक्षा से लोगों को सरकार को गालियाँ देना भले ही आ जाय, पर लोग जिस वायुमण्डल में रहते हैं उससे आत्मत्याग एवं आत्मसम्मान का भाव आ ही नहीं सकता। विश्वविद्यालयों में जीविकोपार्जन-सम्बन्धी शिक्षा का प्रबन्ध अलग होना चाहिए, जैसे काशी-विश्वविद्यालय में इञ्जीनियरिंग कालेज का अलग प्रबन्ध है। मुझे यह कहते हुए प्रसन्नता होती है कि विद्यापीठ के शास्त्री यूनिवर्सिटियों के ग्रेजुएटों से किसी भी विषय में टक्कर ले सकते हैं। विश्वविद्यालयों के छात्रों में आत्मत्याग एवं आत्मरञ्जन की अपेक्षा शरीर-रञ्जन का भाव अधिक रहता है। यह भी उनके मानसिक स्वास्थ्य के लिए विष का काम करता है।

जीविकोपार्जन के लिए शिक्षा की आवश्यकता का यह मतलब नहीं है कि अपना पेट भरने के सिवा दूसरा लक्ष्य ही नहीं होना चाहिए। सिर्फ़ पेट ही भरने का चिन्तन करते रहने से पेट बढ़ते बढ़ते जलोदर हो जायगा। वह समय जल्द आ रहा है जब विद्यापीठ की शिक्षा की उपयुक्तता जानकर अधिकाधिक संख्या में यहाँ छात्र आवेंगे। भविष्य ऐसी शिक्षा-संस्था के साथ रहेगा जो देश को सामने रखकर कार्य कर रही है।

अँगरेज़ी में सोचते हैं

इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी की शैली अब बहुत कुछ परिष्कृत हो गई है, पर इसके साथ यह भी है कि अनेक लेखक हिन्दी को अँगरेज़ी शैली में ढालते हुए नज़र आ रहे हैं। इस सम्बन्ध में एक लेख

'लोकमान्य' में छपा है। उसे श्री एल० पी० त्रिवेदी 'मधु' ने लिखा है। उनके लेख का अधिकांश इस प्रकार है—

अँगरेज़ी-भाषा से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहने का दुष्परिणाम यह हुआ है कि आज हम अँगरेज़ी में सोचते हैं और हिन्दी में लिखते हैं। पत्र-पत्रिकाओं में समाचारों तक ही इस अँगरेज़ी में सोच-विचार करने की क्रिया को सीमित पाते तो कोई ऐसी बुराई न थी। किन्तु देखते क्या हैं कि पुस्तकों, सम्पादकीय लेखों और विशेष लेखों तक में चाहे वह कितने ही मौलिक या स्वतन्त्र क्यों न हों—हम आंगल विचार धारा का प्रवाह देखते हैं। हमें इस पर आपत्ति नहीं है कि "एलेज्ड" का "कथित", 'मेसर्स' का "सर्वश्री", "सेंसिटिव" का "स्पन्दनशील", "पोडेंटिक" का "पाण्डित्याभिमानी" और "स्टैंडर्ड आफ़ लिविंग" का "जीवन-निर्वाहमान" अनुवाद क्यों किया जाता है। यह तो बहुत अच्छा है। पर हमारे ख़याल में यह नहीं आता कि सम्पादकीय लेखों और पुस्तकों में—जो विशेषतः अनुवाद नहीं होते—"हनीमून नाइट" को "मधुरजनी" और "इन्टेलीजेंसिया" को "मास्तिष्क-वर्ग" तथा इसी प्रकार अनेक ऐसे आपत्तिजनक अशुद्ध अनुवादों का क्यों प्रयोग किया जाता है। प्रांतीय और ग्रामीण शब्दों का प्रचार करने के लिए तो नाक-भौं सिकोड़ी जाती है, पर अँगरेज़ी के इस प्रकार हिन्दी-पर्य्यायवाची शब्द बना-बना कर क्यों विचार प्रकट किये जाते हैं? सो भी ऐसे स्थलों पर जहाँ हम उन्हीं विचारों को अपनी निज की भाषा में कहीं अधिक सुन्दरता से व्यक्त कर सकते हैं।

इतना ही होता तो ग़नीमत थी। कुछ पत्र और पत्रिकायें जो अँगरेज़ी वेष-भूषा और भाषाशैली में बड़े नाज़ से निकल रही हैं; उनकी सुबोध हिन्दी का मुलाहज़ा फ़रमाइए—"यह भाषण टर्की के धड़कते हुए जीवन का प्रमाण है।" "उनका हाथ मज़बूत कर दिया जायगा।" ये वाक्य एक पत्रिका के स्वतन्त्र लेख से उद्धृत किये गये हैं। इसी प्रकार सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं। पहला वाक्य स्पष्टतः "दिस इज़ दि बेस्ट प्रूफ़ आफ़ दि थ्राविंग लाइफ़ आफ़ टर्की" का और दूसरा—"दिस विल स्ट्रेंथेन देयर हैण्ड्स" का अक्षरशः अनुवाद है। अभी एक पत्रिका के गत मास के अङ्क में एक ही पैराग्राफ़ में "वीरेन हर विषय पर कुछ कथन रखता है", 'कुरसी उठा लाया और कहा कि इस पर बैठिए; मैंने कहा, "हम ठीक हैं" ऐसी हिन्दी आई है! सो भी एक कहानी में! "कुछ कथन रखता है" स्पष्टतः "हैज़ समथिंग टु से" का और "हम ठीक हैं" उसी प्रकार "आई एम आल-राइट" का अक्षरशः अनुवाद है। परन्तु हिन्दी मुहाविरे की दृष्टि से वे कैसे हैं! इससे मालूम होता है, लेखक महोदय अँगरेज़ी में सोच रहे हैं और हिन्दी में लिख रहे हैं। एक प्रतिष्ठित राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्र ने अपने अग्रलेख में लिखा है "सरकार को देश के योग्य व्यक्तियों की अपेक्षा अपनी फ़ौलादी चौखट पर अधिक विश्वास है।" 'फ़ौलादी चौखट' 'स्टीलफ्रेम' का अनुवाद है। एक स्वतन्त्र लेख में इस अनुवाद का प्रयोग कितना फबता है, इसका विचार पाठक ही कर लें।

इसी प्रकार एक अँगरेज़ी के निंदक और 'क़ौमी भाषा' के हिमायती अपने सम्पादकीय लेख में लिखते हैं—'यह तो घोड़ा के आगे गाड़ी रखना होगा?' 'टू पुट दि कार्ट बिफ़ोर दि हार्स' एक अँगरेज़ी मुहाविरा है। उसी का यह अनुवाद है। जब हिन्दी में 'उलटी गंगा बहाना' मुहाविरा मौजूद है तब घोड़ा के आगे गाड़ी रखने की क्या आवश्यकता हुई? जो व्यक्ति अँगरेज़ी न जानता होगा उसे कम से कम इस भाव का मतलब समझने के लिए दो मिनट तो पढ़ते पढ़ते ठहर ही जाना पड़ेगा और फिर आँखें बन्द कर कल्पना-शक्ति की सहायता से भले ही मतलब लगा ले।

वह ग्रामवासी

महात्मा गांधी के पास उनके दर्शनार्थ तरह तरह के व्यक्ति आते-जाते रहते हैं। उनमें कुछ ही लोगों की बातें साधारण लोगों तक पहुँच पाती हैं। अभी हाल में महात्मा जी जब दिल्ली में थे, उनके दर्शनार्थ एक वृद्ध सज्जन गये थे। श्रीयुत महादेव देसाई

ने उनका जो चित्रण अपने एक लेख में किया है वह हृदयग्राही है। उसका कुछ अंश यहाँ उद्धृत है—

कभी-कभी यहाँ ऐसे भी लोग आ जाते हैं जिनके आने से तमाम परेशानी और निराशा दूर हो जाती है। उस दिन ऐसा ही एक वृद्ध पुरुष जिसके तन पर मोटी खादी थी, गांधी जी का दर्शन करने आया था। वह एक ग्रामवासी था। सबके साथ वह भी दर्शन की प्रतीक्षा में बाहर बैठ गया। मगर जब दर्शन की बाट जोहते-जोहते काफ़ी देर हो गई तब वह मेरे पास अंदर चला आया और बोला कि 'क्या आप मेरी एक-दो मिनिट महात्मा जी से बात करा देंगे! भाई साहब, बात यह है कि मुझे एक हज़ार रुपया गांधी जी के चरणों पर चढ़ाना है और उनका आशीर्वाद लेना है।' अयँ, यह दरिद्र-सा आदमी एक हज़ार रुपया भेंट करेगा! मुझे इस बात पर विश्वास नहीं हुआ। वह आख़िर एक किसान था न।

"रुपये आप पीछे से भेजेंगे या अभी अपने साथ लाये हैं?" मैंने उस ग्रामीण भाई से पूछा।

"रुपये तो मैं साथ ही लेकर आया हूँ।"

गांधी जी से पूछकर ऊपर रावटी में वह ग्रामवासी उनके पास पहुँचा दिया गया। उस स्वच्छ खादीधारी वृद्ध पुरुष ने गांधी जी के आगे सौ-सौ रुपये के दस नोट रख दिये और कहा—जो सबसे ग़रीब और सत्पात्र हों उन्हीं के अर्थ यह तुच्छ भेंट है। आपसे अधिक पता ऐसे दरिद्रनारायणों का और किसे हो सकता है!

"यह आपने बड़ा अच्छा काम किया है।" गांधी जी ने कहा—"पर यह तो बताओ, यह रकम कितने वर्षों में बचा-बचाकर जमा की है।"

"बहुत वर्षों में। लेकिन मैंने सौ रुपये तो पारसाल भूकंप-पीड़ितों के लिए भेज दिये थे, और सौ रुपये आसाम के बाढ़पीड़ितों के लिए—और चार साल हुए कि पाँच सौ रुपये मैंने इलाहाबाद में किसानों की सहायता के लिए दिये थे।"

गांधी जी ने प्रसन्नता के साथ आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—"अच्छा! तब यह तो बतलाओ भाई, आपकी तनख़्वाह क्या थी और पेंशन क्या मिल रही है? आप क्या काम करते थे?"

"मैं एक स्कूल में अध्यापक था। जब बहुत वर्षों के बाद मैंने अवकाश ग्रहण किया तब मुझे ५२) मासिक वेतन मिलता था। मुझे पेंशन कुछ नहीं मिलती। पर २७००) बतौर इनाम के मिले थे।"

"अवकाश ग्रहण किये कितने वर्ष हुए?"

"पाँच वर्ष।"

"गुज़र कितने रुपये में हो जाती है?"

"गुज़र! शायद ही कभी ज़्यादा ख़र्च होता हो।"

"फिर भी कुछ-न-कुछ तो ख़र्च होता ही होगा। बताओ न कि कितने में काम चल जाता है।"

"थोड़ी-सी दाल-रोटी में ख़र्च ही कितना होता है। १०) में मैं अपनी गुज़र कर सकता हूँ।"

यदि देश को ऐसे ग्रामवासी काफ़ी संख्या में मिल जायँ तो फिर क्या कहना है।

बाबू राजेन्द्रप्रसाद और स्त्री-समाज

स्त्रियाँ घरों में मालकिन बनकर बैठें या जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़कर पुरुषों का हाथ बटावें? यह प्रश्न भारत ही नहीं, समस्त संसार में विद्वानों से पूछा जा रहा है। गत वर्ष स्थानीय 'महिला-विद्यापीठ' के अपने दीक्षान्त-भाषण में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने इस बात पर ज़ोर दिया था कि स्त्रियाँ किसी बात में पुरुषों से पीछे न रहें। इस वर्ष यह भाषण देने के लिए राष्ट्रपति देशरत्न राजेन्द्रप्रसाद जी बुलाये गये थे। आपने पंडित जवाहरलाल नेहरू के मत के विपरीत राय दी और इस बात पर ज़ोर दिया कि स्त्रियों का कार्यक्षेत्र पुरुषों से भिन्न होना चाहिए। आपके भाषण का कुछ अंश हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

भारतवर्ष में काम की कमी नहीं है। कमी है काम करनेवालों की। आप चाहे जिस ओर ध्यान देवें, वहाँ ही सेवा की ज़रूरत नज़र आती है। स्त्रियाँ केवल शोभा

के लिए [illegible] विलास के लिए नहीं हैं। उनका हृदय ईश्वर ने ही कोमल बनाया है। दया की वे प्रतिमा हैं। साथ ही जहाँ अपने ऊपर कष्ट लेने की बात होती है, वहाँ वे पत्थर और लोहे से भी अधिक सख्त हैं। हमारे समाज में पुरानी रीति के अनुसार उनका स्थान बहुत ऊँचा है। यदि पुरुष घर के बाहर का काम करने और देखने-भालने के लिए हैं तो स्त्री घर की मालकिन है और उसके बिना घर का कोई छोटा या बड़ा काम नहीं हो सकता। स्त्री और पुरुष दोनों एक दूसरे के अधूरापन को पूरा करने के लिए बनाये गये हैं। जैसे स्त्री और पुरुष के संयोग के बिना बच्चा नहीं हो सकता, उसी प्रकार उनके एक-दूसरे की सहायता के बिना बच्चा का पालन-पोषण नहीं हो सकता। ईश्वर ने ही दोनों के शरीर की गठनशक्ति और रूपरेखा अलग-अलग बना दी है। दोनों के हृदयों और मस्तिष्कों में भी विभिन्न शक्तियाँ हैं। इसलिए हम इस बात को नहीं भूल सकते कि दोनों एक ही काम को बराबर ख़ूबी के साथ अंजाम नहीं दे सकते। चतुरता और बुद्धिमानी इसमें है कि हम इसका पता लगा लेवें कि इनमें से किसके योग्य कौन-सा काम है और उसके सुपुर्द वही काम करें। अक्सर देखा जाता है कि स्त्री भी पुरुष का काम कर सकती है। मैं समझता हूँ, यह अपवाद है। यदि सभी स्त्रियों और पुरुषों में काम का विभेद न मानकर सभी को सभी कामों के योग्य समझकर सभी सब कामों में लगा दिये जायँ तो बड़ा गड़बड़ मच सकता है। स्त्री और पुरुष तो अलग हैं। यदि सभी पुरुषों को उनकी योग्यता और शक्ति पर विचार न करके सब कामों में लगा दिया जाय तो बड़ा गड़बड़ मचेगा। इसलिए विद्यापीठ ने यदि स्त्रियों के उपयोगी अलग शिक्षा-क्रम निश्चित किया है तो उचित ही किया और इससे यह नहीं समझना चाहिए कि स्त्रियों का स्थान कुछ कम अथवा छोटा समझकर ऐसा किया गया है। ऐसा न किया जाय तो लाभ के बदले हानि होने की संभावना है। हाँ—दोनों के बीच में ऊँच-नीच, बड़े-छोटे, कमज़ोर और ज़ोरावर का भेद-भाव नहीं होना चाहिए। ऐसा होने से ही उनकी व्यक्तिगत और सामूहिक शक्तियों का पूरा विकास हो सकता है और उन विकसित शक्तियों से हम पूरा लाभ उठा सकते हैं।

अब आप यह विचार करें कि आप बहनों का क्या विशेष कार्य-क्षेत्र हो सकता है और उसमें आप कितनी और क्या सेवा कर सकती हैं।

सबसे पहले जनसमाज को ज़िन्दा रखने का भार आप पर है। आप ही उसकी वृद्धि करती हैं और आप ही उसे ज़िन्दा रख सकती हैं। आपके असीम कष्ट सहे बिना जनसमाज की संख्या में एक की भी वृद्धि नहीं हो सकती! शिक्षा का फल यह होना चाहिए कि हमारी भावी सन्तान अधिक स्वस्थ, अधिक ज़हीन और अधिक पुष्ट हो। इसके लिए आपको अपना जीवन अधिक स्वस्थ, अधिक शुद्ध और अधिक संयमी बनाना होगा। सन्तान का पालन-पोषण भी आपका ही विशेष कर्तव्य है। उसके शरीर को पुष्ट और स्वस्थ रखने का काम आपका ही है। उसे भी आप संयम और विद्या से ही कर सकती हैं। आपको जानना चाहिए कि किस भोजन से किस प्रकार सफ़ाई और किस प्रकार के खेल से बच्चा पुष्ट और स्वस्थ रह सकता है। उसके बाद जब वह कुछ बड़ा हो जाय तो बचपन से ही उसकी प्रथम शिक्षा का भी भार आप पर ही रहता है। माता प्रथम गुरु कही गई है। जो सद्भाव और जो सद्विचार दूध के साथ ही पिला दिये जाते हैं वे कभी ढीले नहीं पड़ सकते। यही कारण है कि संसार के जितने महान् पुरुष होते आये हैं उन पर उनकी माता की छाप बहुत बड़ी रहती है। ये सब बातें पुरानी हैं। सभी इन्हें जानते हैं। इन बातों को दुहराने की ज़रूरत इस कारण पड़ती है कि कहीं कहीं ऐसा देखने में आता है कि इस सर्वोच्च कर्तव्य की ओर से उनका ध्यान अन्यत्र आकर्षित हो जाता है और कुछ विचार-प्रवाह भी ऐसे चल पड़े हैं कि बराबरी के युग में इस अत्यन्त पवित्र और महान् कार्य्य पर इतना ज़ोर नहीं दिया जाता जितना चाहिए। ऐसा आप हरगिज़ न समझें कि आप हीन अथवा बलहीन हैं। आप तो शक्ति हैं और आप वह काम करती हैं जो पुरुष कर ही नहीं सकते। संसार को क़ायम रखने का गौरव और ज़िम्मेदारी

आपकी है। आप इस ज़िम्मेदारी को समझकर अपने को इसके योग्य बनावें। इस योग्यता के लिए आपको आवश्यक है कि आप स्वयं मन, वचन और कर्म सभी को शुद्ध बनावें, संयमी रक्खें और उनसे केवल पवित्र काम लेवें। यदि शरीर स्वस्थ न रहा तो स्वयं कष्ट उठाना ही पड़ेगा, साथ-साथ भावी सन्तान भी हीन और कमज़ोर होगी। स्वस्थ होने के लिए भोजन पुष्टकर होना चाहिए, चाहे वह स्वादिष्ट हो अथवा न हो। हम अक्सर स्वाद को अधिक महत्त्व देकर स्वास्थ्य को बिगाड़ देते हैं और अपने तथा समाज के साथ भारी अन्याय करते हैं। इसलिए स्वाद पर अधिक ध्यान न देकर भोजन के दूसरे गुणों की ओर ही ध्यान देना चाहिए। केवल भोजनों पर ही स्वास्थ्य निर्भर नहीं है। शरीर को व्यायाम की ज़रूरत पड़ती है। हमारे समाज में कुछ ऐसा बुरा रवाज चल गया है कि किसी प्रकार के धन्धे में हम अपमान समझते हैं। यदि धन्धा और व्यायाम दोनों का सम्मिश्रण हो जाय तो इससे बढ़कर शारीरिक और आर्थिक उन्नति का दूसरा रास्ता नहीं हो सकता। इसलिए आपको विचार करके घरेलू धन्धों में से ऐसे विशेष करके खोज निकालना होगा जो आर्थिक सहायता के साथ-साथ शरीर को भी पुष्ट बनाते हों।

आपको यह भी जान लेना चाहिए कि केवल भोजन और व्यायाम से ही पूरा स्वास्थ्य आप नहीं पा सकतीं। शरीर पर मन का बहुत बड़ा अधिकार होता है। शरीर जो कुछ करता है मन की प्रेरणा से ही करता है। इसलिए मन को स्वस्थ बनाना अत्यन्त आवश्यक है। जब सुन्दर और पवित्र विचार बराबर संचारित होते रहेंगे और किसी प्रकार की गंदगी नहीं रहने पावेगी तभी मन और विचार शुद्ध और पवित्र रह सकेंगे और तभी शरीर अपवित्र कामों की ओर नहीं झुकेगा। इसको आप केवल पुस्तकों में लिखी अथवा सभाओं में कहने योग्य ही सुन्दर बातों की लच्छी न समझ लीजिए। आप इसे अक्षरशः सत्य समझ लें कि शरीर से जितने काम होते हैं उनका उद्गमस्थान मन और विचार है और यदि वहाँ पर भ्रष्टता आ गई तो वह बाहर निकले बिना नहीं रह सकती। वह किसी न किसी रूप में बाहर निकलेगी ही। इसी लिए ब्रह्मचर्य पर और पातिव्रत पर इतना ज़ोर दिया गया है।

जहाँ चारों ओर स्वत्वों की धूम है वहाँ मैं आपका ध्यान केवल कर्तव्यों की ओर ही आकर्षित कर रहा हूँ। मेरी समझ में यदि कर्तव्य-पालन किये जायँ तो स्वत्व स्वयमेव आ ही जाते हैं। उनके लिए विशेष प्रयत्न की ज़रूरत नहीं पड़ती। पुरुषों के हृदयों पर यदि आपका स्वत्व हो जाय तो इससे बढ़कर दूसरा स्वत्व और क्या हो सकता है? हृदयों पर स्वत्व का अर्थ केवल वह लचर कमज़ोर भावुकता नहीं है जो प्रेम के नाम से प्रचलित हो जाता है। सच्चे स्वत्व और प्रभुत्व में अन्तर नहीं है। मैं चाहता हूँ कि आपकी शक्ति, त्याग, सच्चरित्रता, सद्भावन, और उच्चादर्श का सच्चा प्रभुत्व पुरुषों पर हो जाय और आप केवल दिखाऊ स्वत्वों की लालच में पड़कर उस प्रभुत्व को न भूल जायँ जिसे ईश्वर ने आपको दिया है।

सम्पादकीय नोट
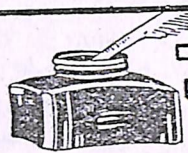
असेम्बली की तेजस्विता

सेम्बली में कांग्रेसी-सदस्यों के पहुँच जाने से उसकी बैठकों में नवजीवन का सञ्चार हो गया है। यही नहीं, उसकी विगत कार्यवाही से यह भी प्रकट होता है कि वह देश के हितों की रक्षा का प्रयत्न करने में कभी नहीं चूकेगी। ब्रिटेन के साथ भारत का जो व्यावसायिक समझौता हुआ है उसके विरुद्ध प्रस्ताव पास करके उसने अपनी इसी मनोवृत्ति का परिचय दिया है। साम्राज्य के भीतर के अन्य देशों की तरह भारत को भी व्यावसायिक स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए। तभी उसके उद्योग-धन्धे बढ़ सकते हैं और उसका व्यापार भी फल-फूल सकेगा। उपनिवेशों या ग्रेट-ब्रिटेन के साथ रियायत करने से अन्य देश भारत से असन्तुष्ट हो जायँगे और इसका उसके व्यापार पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ेगा। भारत का यही लोकमत है और असेम्बली ने उक्त सन्धि के विरुद्ध इस लोकमत को प्रकट करके अपने कर्तव्य का ही पालन किया है।

इसी प्रकार उसने संयुक्त पार्लियामेंटरी सेलेक्ट कमिटी की प्रसिद्ध रिपोर्ट के सरकारी प्रस्ताव के विरुद्ध जिन्ना साहब के संशोधन को स्वीकार करके खूबी का काम किया है। इस अवसर पर कांग्रेस-दल ने विशेष राजनीतिज्ञता का परिचय दिया है। हाँ, उसके संशोधन को जिन्ना साहब का समर्थन नहीं प्राप्त हुआ, अतएव वह गिर गया। परन्तु जब जिन्ना साहब के संशोधन पर मत लिया गया तब उसका एक अंश सरकार की सहायता से और दूसरा अंश कांग्रेस-दल की सहायता से पास हो गया। और उस संशोधन के इस प्रकार पास हो जाने से उक्त सरकारी प्रस्ताव गिर गया। इस अवसर पर यह भी प्रकट हो गया कि असेम्बली का कौन दल कांग्रेस-दल का साथ किस अवस्था में दे सकेगा तथा राष्ट्रीय भावना का असेम्बली में कितना ज़ोर है।

जिन्ना साहब के संशोधन का सरकार पर क्या प्रभाव पड़ेगा, यह तो अभी नहीं प्रकट हुआ है, परन्तु इतना ज़रूर प्रकट हो गया है कि उसके अनुसार तरमीम हो जाने पर सरकार-द्वारा जारी किये गये सुधारों को वर्तमान असेम्बली अवश्य स्वीकार करेगी। जिन्ना साहब का उक्त महत्त्वपूर्ण संशोधन इस प्रकार है—

(१) यह असेम्बली साम्प्रदायिक निर्णय को, उसके वर्तमान रूप में तब तक के लिए स्वीकार करती है जब तक उसमें सम्बन्ध रखनेवाले विभिन्न सम्प्रदायों की स्वीकृति से दूसरा निर्णय न हो।

(२) प्रान्तीय सरकारों की योजना के विषय में इस कौंसिल की राय है कि वह बहुत ही असन्तोषप्रद और निराशाजनक है क्योंकि उसमें बहुत-सी आपत्तिजनक बातें हैं खास कर दोहरी कौंसिल की स्थापना, पुलिस और खुफिया पुलिस की बातों को न बताने के लिए गवर्नर को असाधारण तथा विशेष अधिकार, शासन और व्यवस्था-सम्बन्धी असली नियंत्रण और ज़िम्मेदारी को निकम्मा बना देते हैं। इसलिए जब तक ये आपत्तिजनक बातें निकाल न दी जायँ तब तक वह किसी श्रेणी के भारतीय लोकमत को सन्तुष्ट नहीं करेगी।

(३) 'अखिल भारतीय संघ' कही जानेवाली केन्द्रीय सरकारवाली योजना के सम्बन्ध में इस कौंसिल का स्पष्ट मत है कि वह मूलतः बुरी और ब्रिटिश भारत के लोगों के लिए पूर्णतः अस्वीकार्य है। इसलिए यह कौंसिल भारत सरकार से सिफ़ारिश करती है कि वह ब्रिटिश सरकार को सलाह दे कि इस योजना के आधार पर कारखाई न की जाय और यह कौंसिल अनुरोध करती है कि शीघ्र ही यह विचार करने का प्रयत्न किया जाय

कि केवल ब्रिटिश भारत में किस तरह असली और पूर्ण उत्तरदायी शासन स्थापित किया जा सकता है और इस विचार से बिना विलम्ब भारतीय लोकमत से सलाह लेकर सारी स्थिति की आलोचना की जाय।

असेम्बली का यद्यपि यह अभी श्रीगणेश ही है, तो भी इस श्रीगणेश से ही प्रकट हो गया है कि उसका भविष्य उज्ज्वल ही रहेगा।

स्त्रियों को सम्पत्ति में स्वत्व

हिन्दू स्त्रियों को परिवार की सम्पत्ति में हिस्सा नहीं दिया जाता। हिन्दुओं में सम्पत्ति का बँटवारा पुरुषों के बीच होता है। हिन्दुओं की इस सामाजिक त्रुटि को दूर करने के लिए डाक्टर जी० वी० देशमुख ने असेम्बली में एक बिल पेश किया है। यदि वह बिल पास हो जायगा तो स्त्रियों को भी कुटुम्ब की सम्पत्ति में अपना हिस्सा बँटवा लेने का हक़ प्राप्त हो जायगा। निस्सन्देह इस क़ानून के बन जाने पर हिन्दू स्त्रियों की स्थिति में भारी परिवर्तन हो जायगा और वे कालान्तर में पहले की अपेक्षा अधिक उन्नत और सुखी हो जायँगी, यद्यपि कुछ क़ानूनदाँ इसके विपरीत मत देते हैं। इलाहाबाद के एक क़ानून के पत्र 'लॉ जर्नल' में एक लेख निकला है और उसमें विद्वान् लेखक ने इस क़ानून को हितकर नहीं माना है। उनका कहना है कि जो सुविधायें हिन्दू स्त्रियों को क़ानून से प्राप्त हैं, जब वे उन्हीं का उपयोग नहीं कर पातीं तब इस नये क़ानून से कैसे लाभ उठा सकेंगी। परन्तु इससे क़ानून का दोष नहीं सिद्ध होता और इसके पास हो जाने से स्त्रियों का हित ज़रूर होगा।

योरप में शान्ति की कामना

हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी जितना ही अधिक शक्ति-सञ्चय करता जा रहा है, उतना ही अधिक फ्रांस भी अपनी स्थिति को दृढ़ता प्रदान करता जा रहा है। इटली से उसका जो हाल में समझौता हुआ है उसके फलस्वरूप आस्ट्रिया और हंगरी भी उसके साथी हो गये हैं, और अब इसी फ़रवरी में उसका ग्रेट ब्रिटेन से जो महत्त्वपूर्ण समझौता हुआ है उससे फ्रांस का और भी बोलबाला हो गया है। इस अवस्था में जर्मनी योरप में एक प्रकार से अकेला रह गया है। ग्रेट ब्रिटेन और इटली, केवल इन्हीं दो की उससे सहानुभूति थी और यही उसकी रक्षा की मुख्य आड़ थी। नहीं तो जो फ्रांस यह समझता है कि जर्मनी वर्सेलीज़ की सन्धि के विरुद्ध चुपचाप अपना सैनिक बल बढ़ाता चला जा रहा है वह उसके इस कार्य को कभी तरह न देता। परन्तु ग्रेट ब्रिटेन और इटली के उपेक्षा करने से उसे इस स्थिति को गवारा करना पड़ा है। तो भी इटली और ब्रिटेन से समझौता करके फ्रांस ने जर्मनी को एक ऐसा धक्का दिया है कि उसे लाचार होकर उनके साथ शामिल होना पड़ेगा। यही नहीं, उसे इन समझौतों को स्वीकार कर उनकी निश्शस्त्रीकरण आदि की शान्ति-सम्बन्धी योजनाओं को भी स्वीकार करना पड़ेगा। किसी किसी का यह भी मत है कि जर्मनी के सहयोग करने पर उसके साथ भी कोई उपयुक्त समझौता हो जायगा साथ ही साथ कुछ रियायतें भी की जायँगी। पिछले दिनों योरप की राजनैतिक गति-विधि से यही प्रकट होता है कि वहाँ के राजनीतिज्ञ शान्ति की ही मनोवृत्ति प्रकट कर रहे हैं। यदि ऐसा हो तो यह संसार के लिए कल्याण की ही बात होगी।

रूस में स्त्रियों का अभ्युदय

रूस में स्त्रियों की दशा में अभूतपूर्व परिवर्तन हो गया है। यह वहाँ की बोल्शेविक क्रान्ति का परिणाम है। ज़ार के शासनकाल में जहाँ वे दासता की शृंखला में आबद्ध थीं और पति-सेवा के सिवा समाज में उन्हें किसी प्रकार का अधिकार नहीं प्राप्त था, वहाँ बोल्शेविक शासन में वे स्वतन्त्र हैं और उनको भी वे सारे अधिकार प्राप्त हैं जो पुरुषों को प्राप्त हैं, यही नहीं, वे उनका उपभोग भी कर रही हैं।

कम्यूनिस्ट दल की सदस्य-संख्या तीस लाख है। इसमें पाँच लाख स्त्रियाँ हैं। केन्द्रीय कार्य-कारिणी कमिटी में भी १८५ स्त्री-सदस्य हैं। सामूहिक कृषि तथा राज्य की खेती का प्रबन्ध जिन सरकारी सङ्घों के हाथ में है उनकी

सदस्य-संख्या में डेढ़ लाख स्त्री-सदस्य हैं। इस विभाग में २५ हज़ार स्त्रियाँ खेती के ट्रैक्टर चलाने का काम करती हैं।

सन् १९२३ में कारखानों में ४,०४,२०० स्त्रियाँ काम करती थीं। सन् १९३२ में यह संख्या बढ़ कर १७,२०,७०० हो गई है। सभी प्रकार के उद्योग-धन्धों में—मशीनें बनाने के काम में, कपड़ा बनाने के कारबार में, लोहे के कारख़ानों में, यहाँ तक कि छोटे छोटे कामों से लेकर बड़े बड़े उत्तरदायित्व के कामों में वे नियुक्त हैं और पुरुषों के ही समान अपने कर्तव्य का पालन करती हैं। और स्त्रियों ने इस क्षेत्र में उत्तरोत्तर सफलता भी प्राप्त की है। इसके लिए उन्हें व्यवस्थित शिक्षा की भी सरकार ने सुविधा कर दी है। युद्ध के समय जो औद्योगिक स्कूल केवल पुरुषों के लिए रक्षित थे वे अब स्त्रियों के लिए भी खुल गये हैं। सन् १९२५ में जहाँ मज़दूरों के स्कूलों में केवल ६,८०० स्त्रियाँ शिक्षा पा रही थीं, वहाँ १९३२ में उनकी संख्या ४७,७०० हो गई है। औद्योगिक स्कूलों में १९२५ में उनकी संख्या ७१,६०० थी, पर १९३२ में २,७२,८०० हो गई है। उच्च श्रेणी के औद्योगिक स्कूलों में सन् १९२५ में उनकी संख्या ७१,६०० थी, जो १९३२ में बढ़ कर १,४८,४०० जा पहुँची। वहाँ की सरकार का कहना है कि सन् १९३२ तक अस्सी लाख स्त्रियाँ पढ़ना-लिखना सीख गईं।

यदि उपर्युक्त आँकड़े उतने ठीक भी न हों, तो भी यह मानना ही पड़ेगा कि रूस में स्त्रियों की अवस्था में घोर परिवर्तन हुआ है और वहाँ की सरकार उन्हें राष्ट्र का एक आवश्यक अंग बनाने में लगी हुई है। उनकी शिक्षा की जो व्यवस्था की गई है उसमें इस बात का ध्यान रक्खा गया है कि पाश्चात्य देशों की तरह वे कविता और सुरुचि-पूर्ण साहित्य तथा कला की ज्ञाता न बनें, किन्तु अपने राष्ट्र के उपयोगी हों।

ड्रेक यूनीवर्सिटी के प्रोफ़ेसर अल्फ्रेड जे० पियर्सन ने रूस की स्त्रियों का अपने एक महत्त्वपूर्ण लेख में ऐसा ही विवरण दिया है।

———

चीन और उसकी राष्ट्रीय सरकार

चीन संसार का सबसे बड़ा देश है, परन्तु इस समय वही सबसे अधिक पददलित है। तिब्बत और मंगोलिया स्वतन्त्र हो गये हैं। मंचूरिया को जापान ने अपनी अधीनता में कर लिया है। सिनकियांग में भी महीनों से विद्रोह मचा हुआ है। अब रहा मुख्य चीन, सो वहाँ भी राष्ट्रीय सरकार का सारे देश पर पूर्ण अधिकार नहीं है। दक्षिण-चीन कैंटनवालों के हाथ में है और उत्तरी भाग में वर्गवादी अपना अड्डा जमाये हुए हैं। बीच में राष्ट्रीय सरकार के मुख्य सूत्रधार जनरल च्यांग कै शेक स्थित हैं जो सारे चीन को एक सूत्र में ग्रथित करने की चिन्ता में मग्न रहते हैं। इसी के लिए उन्होंने मंचूरिया के मामले में जापान से अपमानजनक सन्धि तक कर ली और अभी हाल में जापानी सेना ने चीन पर जो आक्रमण किया था उस सम्बन्ध में भी क्षमा माँग कर उस मामले को शान्त कर दिया है। वे वास्तव में मुख्य चीन को अक्षुण्ण बनाये रखना चाहते हैं और इसके लिए वे वर्गवादियों का चीन से उन्मूलन कर देना चाहते हैं। अभी हाल में उन्होंने वर्गवादियों को परास्त कर क्यांगसी प्रान्त उनसे छीन लिया है। इस तरह वे अपनी सत्ता ही नहीं बढ़ाते जा रहे हैं, किन्तु इसके साथ ही राष्ट्रनिर्माण का कार्य भी कर रहे हैं। इस दिशा में उन्होंने एक आन्दोलन खड़ा कर दिया है जिसका फल यह हुआ है कि वहाँ के युवकों में सेवा का भाव आ गया है और वे आर्तों की सहायता करने में सदा तैयार रहते हैं। वर्गवादियों के साथ युद्ध में जब राष्ट्रीय सरकार की जीत हुई तब उनके अधिकृत प्रान्त की प्रजा के साथ राष्ट्रीय सरकार की सेनाओं ने किसी तरह का अत्याचार नहीं किया, उलटा वहाँ के विपद्ग्रस्तों की सब तरह से सहायता ही की। जनता में इस तरह की मनोवृत्ति पैदा करने का महत्कार्य स्वयं च्यांग कै शेक कर रहे हैं और अपने आन्दोलन को लोकव्यापी बनाने के लिए वायुयान द्वारा भिन्न भिन्न प्रान्तों में जाकर उस सम्बन्ध में लोगों को उपदेश कर रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि चीन में राष्ट्रीय सरकार अपने भरसक राष्ट्रीय भावना के बढ़ाने में पूरा प्रयत्न कर रही है। अभी हाल में केवल व्यभिचारिणी

को ही दण्ड देने का एक क़ानून बनाया गया है। इसका विरोध जिस तरह संगठित होकर वहाँ की स्त्रियों ने किया है उससे भी प्रकट होता है कि चीन कहाँ तक जाग्रत हो चुका है। परन्तु इन सब बातों के होते हुए भी उसकी सबसे अधिक कमी उसकी औद्योगिक और सामरिक निर्बलता है। दुःख की बात है कि जानते हुए भी चीन अपनी यह निर्बलता जल्दी नहीं दूर कर सकता।

———

स्याम का सङ्कट

स्याम एशिया का एक स्वतंत्र देश है। पर इधर कुछ समय से वह दुर्भाग्य के चक्र में पड़ गया है, और नौबत यहाँ तक आ पहुँची है कि राजा और रानी बीमारी के बहाने योरप चले गये और वहाँ से अपना राजपद त्याग कर दिया है। स्याम की सरकार इस समय सैनिकों के हाथ में है। इसमें सन्देह नहीं कि वहाँ का शासन-चक्र पूर्ववत् सुविधा के साथ चल रहा है। परन्तु वहाँ के राजकर्मचारी चाहते हैं कि उनके राजारानी स्वदेश लौट आवें और अपने राजपद पर पूर्ववत् आसीन रहें। इस सम्बन्ध में अभी तक कोई समझौता नहीं हो सका। उधर यह कहा जाता है कि स्याम में जापानियों का प्रभाव बढ़ गया है। और यह बात अँगरेज़ों और फ़रासीसियों दोनों के लिए सावधान करनेवाली है। और इस समस्या का उठना स्याम की सरकार के लिए भारी उलझन से कम न होगी, क्योंकि उसके एक ओर अँगरेज़ी राज्य है तो दूसरी ओर फ़रासीसियों का। फिर अँगरेज़ों का सिंगापुर का जहाज़ी अड्डा स्याम के समीप है। ऐसी दशा में यदि स्याम इन राष्ट्रों की प्रतिस्पर्धा के चक्कर में पड़ गया तो यह उसके लिए एक विकट प्रश्न हो जायगा। स्याम इस समय सचमुच बड़े भारी संकट में पड़ गया है।

———

साहित्य में सट्टेबाज़ी

हमारे एक बुज़ुर्ग साहित्यिक की यह शिकायत है कि हमने सरस्वती के गत अंक में उपर्युक्त शीर्षक नोट लिखकर 'वर्तमान' के सम्पादक महोदय के साथ अन्याय किया है। उनकी राय है कि वर्तमान ने 'साहित्य में सट्टेबाज़ी' शीर्षक लेख लिखकर उचित कार्य किया है। खेद है, उक्त सज्जन ने हमारे नोट को दूसरे दृष्टिकोण से समझा है। हमने अपने नोट में केवल यही निवेदन किया है कि समाज में सभी तरह के लोग होते हैं। दो-चार इस तरह के भी सही। इन्हीं इतने से राष्ट्र-भाषा का यह व्यापार तो चलता नहीं। अतएव जो अन्य अनेक साहित्यिक हैं वे अपने काम में लगे रहें और इनकी उपेक्षा करें। क्योंकि यदि कोई 'समालोचना' के नाम से किसी लेखक को चोर साबित करता है और उसका चोरी का माल छापने के लिए सम्पादकों, प्रिंटरों और कंपोज़ीटरों को भी उस लेखक के साथ गालियाँ देना उचित समझता है या कोई लेखक किसी का प्रतिवाद करते समय उस प्रसंग में छापनेवालों और विक्रेताओं को भी उसके साथ घसीट कर और उन पर झूठा आरोप लगा कर अपने कौलीन्य का परिचय देता है या जो अपनी वस्तु के प्रचार के लिए दूसरे की अपनी-सी ही वस्तु को हीन ठहराने के लिए 'केवल' पृष्ठ-संख्या से तुलना करके अपने सदाचार का परिचय देता है उस लेखक के कथन की वास्तविकता समझने की तमीज़ हमारे हिन्दी के पाठकों को भगवान् की दया से बहुत काफ़ी प्राप्त है।

हिन्दीवालों को यह भी बतलाने की ज़रूरत नहीं है कि कौन कौन लोग कीर्ति-लोलुपता के वशीभूत होने से ग्रन्थों में लेखकों-द्वारा अपनी प्रशंसा छपवाते हैं। इसी तरह यह भी सर्वविदित है कि हिन्दी के कुछ अगुआ अपनी स्थिति और शक्ति का दुरुपयोग अपने चाटुकार शिष्यों या इष्टमित्रों को जीविका दिलाने के लिए अधिकारी न होते हुए भी उन्हें अपनी धींगाधींगी से अधिकारी बनाये हुए हैं। निस्सन्देह, यह सब अनुचित है और महा अनुचित है। तथापि हम तो यही निवेदन करेंगे कि इन लोगों के निराधार और कुत्सावाद एवं इनकी प्रचार-सम्बन्धी ओछी मनोवृत्ति की उपेक्षा कर हमें साहित्य की समुन्नति के कार्य में ही संलग्न रहना चाहिए। हमें साहित्यिक सट्टेबाज़ी के प्रतीकार के फेर में पड़कर अपने समय और शक्ति को बरबाद नहीं करना चाहिए। हमें अपनी शक्तियों को रचनात्मक कार्य में ही लगाये रहना चाहिए।

अन्यत्र हमने 'वर्तमान' से 'साहित्य की प्रगति' शीर्षक एक सम्पादकीय लेख उद्धृत किया है। उससे हमारे कथन की एक प्रकार से ताईद ही होती है। सम्पादक महोदय ने अपने नोट के अन्त में जिस कार्यक्रम का संकेत किया है, आशा है, हिन्दी के उत्साही प्रेमी उसको कार्य में परिणत करने को अग्रसर होंगे। अगली अर्द्धशताब्दी का प्रारम्भ ऐसे ही आयोजन से शुरू होना चाहिए।

कार्य-क्षेत्र में लायड जार्ज

ग्रेट ब्रिटेन के भूतपूर्व प्रधान मंत्री मिस्टर लायड जार्ज ७२ वर्ष के पूरे हो गये हैं। गत पाँच वर्षों से वे ग्रामीण जीवन का उपभोग कर रहे थे। परन्तु इस बुढ़ापे में वे एक बार फिर राजनैतिक क्षेत्र में आ कूदे हैं और सो भी एक नई योजना लेकर। अपनी ७२ वीं वर्षगाँठ के दिन उन्होंने उत्तरी वेल्स के बैंगर नामक स्थान में उक्त योजना के सम्बन्ध में अपना महत्त्वपूर्ण भाषण किया था। उनका भाषण सुनने के लिए एक बहुत बड़ी संख्या में लोग एकत्र हुए थे। उनकी योजना का मुख्य उद्देश देश का उद्धार करना है। यह योजना जर्मनी के नाज़ियों की योजना से मिलती-जुलती है। इसके द्वारा वे एक ओर स्वदेश में कृषि की वृद्धि कर तथा वहाँ के व्यापार को बढ़ाकर बेकारों को काम में लगा देना चाहते हैं, दूसरी ओर संसार में शान्ति को बनाये रखने के लिए अमरीका से समझौता करना चाहते हैं। मिस्टर लायड जार्ज के इस नये आन्दोलन की ओर लोग आकृष्ट हुए हैं। इससे वहाँ की वर्तमान राष्ट्रीय सरकार चिन्तित हुई है। यहाँ तक कि वह लायड जार्ज को अपने मन्त्रिमण्डल में शामिल कर उक्त योजना के अनुसार राष्ट्र के उद्धार का कार्य करना चाहती है। यदि ऐसी बात है तो यही समझना चाहिए कि ग्रेट ब्रिटेन की वर्तमान सरकार अब अधिक समय तक अधिकारारूढ़ नहीं रह सकेगी। एक तो उसका समर्थन करनेवाले स्वयं अनुदारदल में आपस में गुटबन्दी हो ही गई है, उस पर अब लायड जार्ज अलग अपना चमत्कार दिखाने को उद्यत हुए हैं। ऐसी दशा में वहाँ की वर्तमान राष्ट्रीय सरकार अपनी ख़ैर कितने दिन तक मना सकती है।

ग्राम्य गीत

यह प्रसन्नता की बात है कि ग्राम्य गीतों के संग्रह के इधर कई सफल प्रयत्न हो चुके हैं और कई जारी हैं। मैमनसिंह (बङ्गाल) के श्रीयुत हरिश्चन्द्र कार का इस दिशा में प्रयत्न विशेष सराहनीय है। आप गत ३० जुलाई को मैमनसिंह से पैदल रवाना हुए हैं और सारे भारत का भ्रमण करते हुए ग्राम्य गीतों का संग्रह करेंगे। गत मास में आप हमारे कार्य्यालय में भी पधारे। हमने आपके संग्रह किये हुए कुछ गीत भी सुने जो वास्तव में उत्तम हैं। हम इस दिशा में आपकी सफलता चाहते हैं।

श्रीयुत हरिश्चन्द्र कार

देवपुरस्कार

देवपुरस्कार का निर्णय हो गया और वसन्तोत्सव के अवसर पर वह सुधा-सम्पादक पण्डित दुलारेलाल भार्गव को उनकी 'दुलारे दोहावली' पर दे दिया गया। खेद है, इस पुरस्कार के निर्णय के सिलसिले में कुछ लोगों ने ऐसा आन्दोलन खड़ा कर दिया था जो अनावश्यक एवं क्षुद्रतायोतक था। परन्तु उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा और निर्णायकों ने अपनी स्वतन्त्र-बुद्धि से ही काम लिया। इसके लिए वे प्रशंसा के पात्र हैं। आशा है, हमारे ये आन्दोलनकर्ता महोदय आगे के लिए सावधान हो जायँगे और अपनी बेजा हरकतों से हिन्दी के दयनीय साहित्य-क्षेत्र को गन्दा न करेंगे। अन्त में हम पण्डित दुलारेलाल जी को उनकी इस अवसर की सफलता पर बधाई देते हैं।

पण्डित दुलारेलाल भार्गव

लेखक-संघ

जिस 'हिन्दी-लेखक-संघ' की स्थापना के लिए श्रीयुत सत्यजीवन वर्मा ने श्रीयुत भारतीय एम० ए० के नाम से गत वर्ष अख़बारों में आन्दोलन किया था, प्रसन्नता की बात है कि उसकी स्थापना हो गई है। अभी उसमें केवल ६२ लेखक शामिल हुए हैं, तथापि जो नामावली प्रकाशित हुई है उसके देखने से जान पड़ता है कि वर्मा जी के इस नये आयोजन का हिन्दी के लेखकों ने स्वागत किया है और कतिपय प्रसिद्ध प्रसिद्ध साहित्यिकों एवं अनेक होनहार नवयुवक लेखकों का उन्हें सहयोग प्राप्त हुआ है। वर्मा जी की इस सफलता के लिए हम उन्हें बधाई देते हैं। आशा है, यह संघ अपने उद्देशों के अनुसार हिन्दी के क्षेत्र को और भी अधिक गौरवान्वित करेगा।

[बाबू सत्यजीवन वर्मा]

एक आदर्श विवाह

श्रीयुत देशदीपक जी लिखते हैं—

गत कुछ वर्षों से कायस्थ-जाति में विवाह की दूषित रस्मों के दूर करने के लिए व्यावहारिक आन्दोलन शुरू हुआ है, जिसका कायस्थों पर अच्छा प्रभाव भी पड़ा है। हाल में मुंशी नारायणप्रसाद अस्थाना एडवोकेट इलाहाबाद की कन्या का जो विवाह हुआ है उसे हम यहाँ उदाहरण-स्वरूप उपस्थित करते हैं। इसमें हिन्दू-समाज की सब निन्दनीय बातें परित्याग की गई हैं। वर-पक्ष निगम-कायस्थ है, कन्या-पक्ष अस्थाना-कायस्थ। इस विवाह में पुरानी रीति का शाखा-भेद नहीं माना गया है।

वर जीवन-यात्रा में स्वावलम्बी हो चुका है तथा कन्या अपना विद्यार्थी-जीवन समाप्त कर चुकी है। दहेज की किसी तरह की बातचीत नहीं की गई है। आडम्बर और व्यर्थ की बातों पर कुछ भी ख़र्च नहीं किया गया है। बाजे भी अनाथालयों के ही बुलाये गये थे।

कायस्थों में मुसलमानी प्रथा के अनुसार 'सेहरा' भी पढ़ते हैं और हिन्दू-प्रथा के अनुसार कुछ श्लोक पंडित लोग एक-दूसरे पक्ष की बड़ाई में कहते हैं। इस विवाह में पंडित सत्यनारायण पाँड़े ने हिन्दी में एक सेहरा पढ़ा था। वह इस प्रकार है।

[मुंशी नारायणप्रसाद अस्थाना की कन्या श्रीमती कुन्तीदेवी और दामाद श्री अनन्दीप्रसाद निगम]

बना वर के सेहरे का हार

भावों के मोती चुन चुन कर, प्रेम-डोर में गुहे यतन कर,
उलझ उलझ कोमल कलियों से रंग-बिरंगे तार।
यौवन का अनुराग छलकता, जीवन का उल्लास ललकता,
झलक झलककर छिप जाते हैं हीरक से उद्गार।
मधुर कल्पना के मधुबन में, सरस प्रेम के आलंबन में,
प्रमुदित आशा लता दे रही फूलों का उपहार।
मन-माली ने इसे बनाया मनमाना उन्माद दिखाया,
प्रियवर आमंत्रित करने को अखिल विश्व का प्यार।

है शैशव की चाह दिवानी, या है यौवन की नादानी,
या दोनों के संधि हुई है बीते क्षण दो-चार।
अभिलाषा सेहरा ले आई, आज तुम्हें भूपेन्द्र बधाई,
कुंतल केश सुमन में उलझे, पुलकित शयनागार।

निस्सन्देह कायस्थ-समाज में एक रईस ने इस प्रकार सीधे-सादे ढंग से अपनी कन्या का जो विवाह किया है वह दूसरे लोगों के लिए अनुकरणीय है। इस सम्बन्ध में वर के पिता बाँदा के प्रसिद्ध एडवोकेट श्री भूपेन्द्र निगम सर्वथा प्रशंसा के पात्र हैं, क्योंकि उन्हीं की सदिच्छा से यह आदर्श विवाह सम्पन्न हो सका है।

पंडित सूर्यनाथ तकरू

पण्डित सूर्यनाथ तकरू की असामयिक मृत्यु से हिन्दी की भारी क्षति हुई है। इस बात को हिन्दी के सभी प्रमुख पत्रों तथा सुलेखकों ने स्वीकार किया है। क्या ही अच्छा होता यदि उनकी रचनाओं का संग्रह कोई प्रकाशक प्रकाशित कर उनकी स्मृति-रक्षा का पुण्य लूटता। उनके साहित्यिक मित्र यदि इस ओर ध्यान दें तो यह कार्य अनायास ही हो जाय।

[स्वर्गीय सूर्यनाथ तकरू]

कुछ नये पत्र

हिन्दी में इधर कई नये पत्र निकलने लगे हैं। सिहोरा (सी० पी०) से **'ग्राम'** (पाक्षिक पत्र), सिकन्दरबाग़, लखनऊ, से **'किसानोपकारक'** (मासिकपत्र), मोहनलाल रोड, लाहौर, से **'अलंकार'** (मासिक पत्र), जानसेनगंज, इलाहाबाद, से **'मदारी'** (पाक्षिक पत्र) तथा अजमेर से **'परिवर्तन'** (पाक्षिक पत्र) आदि पत्र निकले हैं। इन सब का हम स्वागत करते हैं। ये सभी पत्र अपना अपना विशेष उद्देश लेकर निकले हैं और हम इनकी सफलता के इच्छुक हैं।

अभी हाल में **'हिन्दुस्तान'** नाम का सचित्र साप्ताहिक पत्र ६१ ज़ीरो रोड, इलाहाबाद से निकला है। यह किसी दलविशेष का पत्र नहीं है। इसके सम्पादक श्रीयुत ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' अनुभवी पत्रकार हैं। हम 'हिन्दुस्तान' का सहर्ष स्वागत करते हैं और चाहते हैं कि यह नवीन पत्र अपने नवीन प्रयास में सफल हो।

चित्र-परिचय

प्राचीन ऐतिहासिक चित्र अंकित करने में श्रीयुत शम्भुनाथ मिश्र ने अपनी कुशलता का परिचय दिया है। आप नवयुवक चित्रकार हैं और आपसे हमें बड़ी आशायें हैं। सरस्वती के इस अङ्क में आपके दो चित्र प्रकाशित किये जाते हैं—(१) राणा प्रताप (मुखपृष्ठ) की आखेट-यात्रा में तत्कालीन राजपूत वेष-भूषा का अच्छा परिचय मिलता है। (२) अन्तिम सन्देश (पृष्ठ ३२०) में चित्रकार ने और भी कमाल किया है। शेरशाह सूरी कालिञ्जर का क़िला घेरे पड़ा था। युद्ध जारी था। विजय की आशा नहीं थी। इसी बीच में वह बीमार पड़ा। ज्यों ज्यों विजय की आशा कम होती जाती थी त्यों त्यों उसके प्राण निकलते जा रहे थे। अन्त में कालिञ्जर विजय का संदेश आया पर तब उसके प्राणपखेरू उड़ चुके थे। दृश्य रात का है। दूर क्षितिज पर युद्ध जारी है। सवार विजय का संदेश ला रहा है और बादशाह मर चला है। इन सब भावों को चित्रकार ने कुशलता से अङ्कित किया है।

इनके अतिरिक्त 'सरस्वती' की इस संख्या में दो चित्र और दिये गये हैं। ये दोनों श्रीमद्भागवत की कथाओं के आधार पर रचे गये हैं। हिन्दू विश्वास के अनुसार सृष्टि के आदि में (१) ब्रह्मा (पृष्ठ २८०) ने प्रकट होकर ईश्वर से सृष्टिरचना के सम्बन्ध में सलाह माँगी और ईश्वर ने सिर्फ एक शब्द कहा—'तप' यानी तपस्या करो। (२) पुरञ्जन का विश्रम्भालाप (पृष्ठ २८१) भी श्रीमद्भागवत की कथा के आधार पर बना है। राजा पुरञ्जन अर्थात् जीव का पुरञ्जनी अर्थात् माया के मोह-जाल में फँसने की कथा दृष्टान्त देकर बताई गई है। इन चित्रों को हमारे सुपरिचित श्रीयुत उपेन्द्रकुमार मित्र ने बनाया है।

Printed and published by K. Mittra, at the Indian Press, Ltd, Allahabad.

ग्वालिन

[प्रोफ़ेसर अमरनाथ झा के सौजन्य से प्राप्त

सरस्वती

सचित्र मासिक पत्रिका

सम्पादक

देवीदत्त शुक्ल श्रीनाथसिंह

अप्रैल १९३५ | भाग ३६, खंड १ संख्या ४, पूर्ण संख्या ४२४ | चैत्र १९९२

कविता का गीत

लेखक, श्रीयुत बालकृष्ण राव, बी० ए०

मेरा जीवन सुखमय, सुखकर।
मैं हूँ कोमल काव्य-कुमुदिनी,
कवि-सौन्दर्य-सुधा का आकर।
मेरा जीवन सुखमय, सुखकर॥

जग कहता मैं कवि की कृति हूँ,
पल भर की स्वप्निल जागृति हूँ।
विकल कल्पना की सरिता की
जग कहता है मुझे मृदु लहर।
मेरा जीवन सुखमय, सुखकर॥

मुझे सृष्टि के आदि-समय में,
प्रकृति प्रिया के नव आलय में।
छिपा गया था प्रथम विश्व-कवि,
तम से, नीरवता से रचकर।
मेरा जीवन सुखमय, सुखकर॥

तब से मैं जग के उपवन में,
सुमन-सुरभि में, अलि-गुञ्जन में।
देखा करती स्वप्नलोक की,
छवि, जीवन-निद्रा में सोकर।
मेरा जीवन सुखमय, सुखकर॥

कवि के नयनों के प्रकाश से,
बँध जाती चिर मुक्ति-पाश से।
भर देती हूँ तब मैं उसकी,
नीरव वीणा में मादक स्वर।
मेरा जीवन सुखमय, सुखकर॥

आध्यात्मिकता का विष

लेखक—श्रीयुत सीतलासहाय

आस्तिक होते हुए भी मैं बहुत दिनों से इस बात के मानने को विवश हो गया हूँ कि हमारे देश में ईश्वर की ज़रूरत से ज़्यादा चर्चा होती है। धर्म और आध्यात्मिकता का विकृत रूप हमारे राष्ट्र में इतना अधिक प्रबल हो गया है कि वह हमें ऊँचे उठाने के बजाय बहुत अंशों में नीचे गिरा रहा है। इसी विष के प्रभाव से हम निरुद्यम, निरुत्साह और निष्प्रयत्न हो रहे हैं।

निस्सन्देह हमारी वर्तमान अधोगति के अनेक कारण हैं। हमारे राष्ट्रीय शरीर में अनेक व्याधियाँ हैं। किन्तु सम्पूर्ण राष्ट्रीय व्याधियों के निदान और चिकित्सा के लिए यहाँ स्थान नहीं है। इस लेख में मैं केवल एक महान् व्याधि 'आध्यात्मिकता' की ही चर्चा करना चाहता हूँ, जिसके कारण मेरे मतानुसार हमारा राष्ट्र पतित हो रहा है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि हमारे गाँवों में और हमारे ग्रामीण जीवन में वीभत्स और करुणरस का वास्तविक दर्शन होता है। पशु और मनुष्य का सहवास, मल-मूत्र से परावृत घर, दुर्गन्धयुक्त काले पानी और काले कीचड़ से परिपूर्ण नाबदानों की बदबू के संसर्ग से महकती हुई हवा, नितान्त दरिद्रता और दीनता के साक्षात् अवतार, कायरता की मूर्ति और भयंकर दोषों से परिपूर्ण मनोवृत्ति अगर आप देखना चाहें तो भारतीय गाँवों का भ्रमण कर लीजिए। यह बात नहीं है कि गाँववाले अपनी अवस्था की यातना का अनुभव न करते हों। अनुभव करते हैं और खूब अनुभव करते हैं। बात केवल इतनी है कि ये अपनी दुर्दशा के कारणों को प्राकृतिक संसार में न खोजकर आध्यात्मिक संसार में खोजते हैं और इसकी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर न रखकर ईश्वर पर रखते हैं। यहीं पारलौकिकता और आध्यात्मिकता की मनोवृत्ति इनको आलसी बना रही है और इनकी उन्नति के मार्ग में कण्टक का काम कर रही है।

आध्यात्मिकता और पारलौकिकता का हाल यह है कि अगर गेहूँ का भाव १८ सेर से ८ सेर हो गया तो ईश्वर की कृपा से, अगर चेचक की बीमारी आई तो महारानी ने दया की, अगर इनकी खेती में पैदावार नहीं हुई तो वह भी ईश्वर के कारण, और अगर इनका बैल मर गया तो वह भी पूर्वजन्म के कर्मों के दोष से। अपनी दरिद्रता, अपने कष्ट, और अपनी सम्पूर्ण यातनायें ये ईश्वर के सिर मढ़कर अपने हृदय को सन्तोष दे लेते हैं। न जाने क्यों? कदाचित् निरन्तर असफलता के कारण इनका यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि ये स्वयं संसार की प्रगति और सुख-दुःख के निर्माण में कुछ नहीं कर सकते। जो करता है वह ईश्वर ही करता है।

मनुष्य-समाज के इतिहास पर जब हम विचार करते हैं तब हमें स्पष्ट पता चलता है कि जिन बातों पर या जिन घटनाओं पर अपनी बुद्धि या अपना बल नहीं चला है, मनुष्य उनको परमात्मा के सिर मढ़ दिया करते रहे हैं। हैज़ा और चेचक की बीमारियों पर क़ाबू न पा सकने के कारण पुराने लोग यह कहते थे कि ये महामारियाँ देवी-देवताओं के प्रकोप से पैदा होती हैं और उन्हीं की आराधना करने से जाती हैं। वर्षा पर अपना वश नहीं, इसलिए लोग यह कहते हैं कि ईश्वर पानी बरसाता है। इसी प्रकार की अनेक बातें हैं, जिन्हें हज़ार वर्ष पहले लोग ईश्वराधीन कहा करते थे। लेकिन ज्यों ज्यों मनुष्य की बुद्धि उन्नति करती गई और संसार की अनेक घटनाओं के वैज्ञानिक कारण मालूम होते गये, ईश्वराधीन बातों का दायरा छोटा होता गया और मनुष्याधीन बातों का दायरा बढ़ता गया। भारतीय जनता की विचार-धारा अभी तक वैज्ञानिक नहीं हुई है। इसलिए ईश्वराधीन बातों का उसका दायरा यहाँ अभी तक बहुत बड़ा बना हुआ है। हमारे देशवासियों के सिर पर जो कुछ आता है उसे वे अपने पूर्व-जन्म के कर्मों का फल और ईश्वर का भेजा हुआ मानते हैं। इसी विचार-धारा में उनका आलस्य, उनकी असहायता, उनकी अवनति और उनकी वर्तमान दुर्दशा छिपी हुई है।

भारतीय का विश्वास है कि उसकी समस्त सांसारिक यातनाओं के कारण आध्यात्मिक हैं। उसके हृदय में इस बात की आशा नहीं पाई जाती कि परिश्रम और प्रयत्न से वह अपने कष्टों को मिटा सकता है। सहस्रों वर्ष की निरन्तर असफलता ने उसके हृदय में सहज नैराश्य-वाद को प्रबलता दे दी है। अर्थात् परिश्रमी और यत्नशील मनुष्य का ईश्वर कल्याण करेंगे, इसकी आशा ही उसके दिल से चली गई है। किसी नई योजना पर

> दरिद्रता और सांसारिक कष्ट क्या ईश्वर-प्रदत्त होते हैं? अधिकांश भारतवासियों का यही विश्वास है। परन्तु इस लेख में विद्वान् लेखक ने बड़े ही सुन्दर ढङ्ग से यह सिद्ध किया है कि अर्थ-शास्त्र और राजनीति के वैज्ञानिक प्रयोग से ये सब व्याधियाँ भी उसी प्रकार मिटाई जा सकती हैं जैसे ओषधि से ज़ुकाम या बुख़ार।

जिसमें सफलता और विफलता की नाप-तोल बराबर आती हो, भारतीय जनता अग्रसर नहीं हो सकती। जिन लोगों के हृदय में प्रयत्न का महत्त्व है भी वे वर्तमान भारतीय संस्कृति के प्रभाव से इतने वैयक्तिक होते हैं कि अनेकानेक कष्टों को जिनसे वे आज पीड़ित हैं, मिटा नहीं सकते, क्योंकि वे कष्ट वास्तव में सामाजिक अव्यवस्था के कारण हुए हैं और सामूहिक प्रयत्न से ही जा सकते हैं।

मुझे इस बात को स्वीकार करते हुए कुछ झेंप-सी मालूम होती है। पिछले हज़ार वर्ष में हमारे देश में इस प्रकार का कुछ भी साहित्य नहीं निकला जिसमें दरिद्रता, अकाल-मृत्यु, वैधव्य, अत्याचार आदि पर वैज्ञानिक रूप से विचार किया गया हो और इन आपत्तियों के स्वाभाविक कारण और उपचार बताये गये हों। हमारे पूर्वजों ने इन आपत्तियों के आध्यात्मिक ही कारण बताये और आपत्ति के आने पर इसी बात का प्रयत्न किया कि मनुष्य का हृदय अध्यात्म की ओर फिर जाय। दुःख के अवसरों पर जब मनुष्य का हृदय बहुत कोमल, नम्र और प्रभावग्राही हो जाता है, इन पूर्वजों की यही कोशिश रही कि मनुष्य

पारलौकिक बातों पर विचार करने लगे। उदाहरण के लिए अगर किसी बहुकुटुम्बी का छोटा बच्चा मर गया तो उसके मित्रों ने, पण्डितों ने, समाज के प्रतिष्ठित पुरुषों ने उसको यही बताया कि छोटे बच्चे की मृत्यु उसके पूर्व-जन्म के कर्मों से हुई है और वह अनिवार्य थी। किसी ने उससे यह नहीं कहा कि उसके बच्चे की मृत्यु का मुख्य कारण यह था कि उसका कुटुम्ब बहुत बड़ा है और आमदनी बहुत कम। अगर किसी की बहन विधवा हो गई तो भी उसके आध्यात्मिक कारण ही बताये गये और यह नहीं सोचा गया कि वर वधू से दुगुनी उम्र का था।

पश्चिम में ऐसे विद्वान् हुए हैं, जैसे विलियम गाडविन (१७५६-१८३६)। इनका मत था कि दरिद्रता और मनुष्य-मात्र के समस्त बड़े बड़े कष्टों का कारण दूषित राज्य-शासन-पद्धति और अव्यवस्थित सामाजिक संस्थायें हैं। इनका सुधार कर दो, और मनुष्य-समाज समृद्धि और सुख को प्राप्त हो जायगा। इसी प्रकार टामस रावर्ट मालथस (१७६६-१८३४) नाम के दूसरे विद्वान् लेखक हुए हैं। इनका मत था कि दरिद्रता का कारण अधिक जन-संख्या है। ये कहते थे कि मनुष्य में सन्तान-वृद्धि की शक्ति अत्यन्त प्रबल है, लेकिन भोजन-सामग्री उतनी तेज़ी से नहीं बढ़ाई जा सकती जितनी तेज़ी से सन्तान। इसलिए जन-संख्या हमेशा ठेठ उस हद तक पहुँच जाती है जिस हद तक भोजन-सामग्री उसे ले जा सकती है और इसलिए अन्तिम सीमा की जन-संख्या विभुक्षता और अर्ध-विभुक्षता की रेखा पर रहती है। इसी से दरिद्रता पैदा होती है और दरिद्रता से समस्त यातनायें। इससे बचने का एक मार्ग है। आत्म-संयम और विवाह का स्थगित कर देना। इन विद्वानों का मत पश्चिमीय देशों में फैलाया गया और जनता ने उसे ग्रहण किया। राज-शासन ने अपनी नीति उसी प्रकार बनाई और लोग कष्टों के मिटाने में सफल हुए। कहने का अभिप्राय यह कि दरिद्रता और सांसारिक कष्टों के व्यावहारिक कारण का पता चलाने के लिए पश्चिम में विद्वानों और विचारशील पुरुषों ने प्रयत्न किया है। हमारे देश में इसका प्रयत्न ही नहीं हुआ।

परिणाम यह हुआ है कि हमारी जनता आज भी यह माने बैठी है कि अनाज के भाव की तेज़ी और मन्दी ईश्वराधीन है, सम्पत्ति-विपत्ति ईश्वराधीन है, वैधव्य ईश्वराधीन है और सन्तान का जीवन-मरण भी ईश्वराधीन है। लोग कहते भी हैं, 'हानि लाभ जीवन मरण यश अपयश विधि हाथ।' दरिद्रता के सामाजिक रोग को वे वैसे ही ईश्वराधीन समझते हैं जैसे चेचक या हैज़े को। हैज़े की महामारी फैलने पर रोगग्रस्त स्थान से मिठाई, पूड़ी इत्यादि ले-लेकर खाते हैं, दूषित जल का सेवन करते हैं और बाद को जब हैज़े से बीमार पड़ते हैं, तब अपने पूर्व-जन्म के कर्मों को या ईश्वर को दोष देते हैं। इसी प्रकार हमारे गाँववाले विदेशी चीज़ें ख़रीदते हैं और इस तरह अपने देश के कारबार को चौपट करते हैं। फिर दरिद्रता की ज़िम्मेदारी ईश्वर पर डालते हैं! कोई भी गाँव का रहनेवाला हिन्दुस्तानी पहले से यत्न नहीं करता और जब गाँव के जुलाहे और कोरी बेकार होकर खेती के लिए ज़मीन के ऊपर टूटते हैं और इस तरह लगान की मात्रा बढ़ा देते हैं तब दोष देते हैं अपने कर्मों को या ईश्वर को। हमारी जनता देशी चाकू, अस्तुरा, फावड़ा या लोहे का सामान लेने पर आग्रह नहीं करती और जब लोहार बेकार होकर ग़रीबी के चक्कर में फँस जाता है तब दोष ईश्वर को देते हैं।

हर एक बात में ईश्वर का हाथ देखना आध्यात्मिकता नहीं, बल्कि मूढ़ता और मूर्खता है। हिन्दुस्तान के ग्रामीण लोगों की मानसिक प्रवृत्ति जब तक इस प्रकार की आध्यात्मिकता के चक्कर में फँसी रहेगी और हर एक बात को ईश्वराधीन समझती रहेगी तब तक हमारी दशा कदापि नहीं सुधर सकती। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने देश-भाइयों की इस विषैली और भयंकर मानसिक प्रवृत्ति को बदलें। जहाँ उनको हम यह बतावें कि हैज़ा और चेचक ईश्वर की भेजी हुई आपत्तियाँ नहीं हैं बल्कि मनुष्य की गन्दगी से पैदा होती हैं और मनुष्य अपनी बुद्धिमत्ता और विज्ञान से इन पर क़ब्ज़ा कर सकता है, वहाँ उनको हम यह भी बतावें कि दरिद्रता, बच्चों का मर जाना, जकड़े का होना इत्यादि जितने मानसिक और शारीरिक सन्ताप उनके ऊपर आते हैं वे सब सामाजिक

कुरीतियों और कुप्रथाओं के परिणाम हैं। और अर्थ-शास्त्र और राजनीति के वैज्ञानिक प्रयोग से वे सब सामाजिक रोग उसी प्रकार मिटाये जा सकते हैं, जैसे औषधि से ज़ुकाम या बुख़ार। उनको बताया जाय कि इस पृथ्वी पर ऐसे देश हैं जिन्होंने वैद्यक-विज्ञान को काम में लाकर अपने यहाँ से अनेक रोगों का समूल नष्ट कर दिया है। इसी प्रकार अनेक ऐसे देशों का उदाहरण उनके सामने रक्खा जाय जो अर्थ-शास्त्र, समाज-शास्त्र और राजनीति-शास्त्र के सुप्रयोग से दरिद्रता-रूपी सामाजिक रोग को नष्ट कर रहे हैं। हमारे देशवासी यह समझने लगें कि अमरीका, फ्रांस इँगलेंड आदि के रहनेवाले ग्रामीण निवासी सम्पन्न हैं; इसलिए नहीं कि ईश्वर के दरबार में उनका मान-दान ज़्यादा है, किन्तु केवल इसलिए कि वहाँ के शासकों ने और देशभक्तों ने दरिद्रतारूपी रोग को वैज्ञानिक ढंग से मिटाने का प्रयत्न किया है। हिन्दुस्तान की जनता भूखों मरती है, नंगे बदन, नंगे सिर, नंगे पैर गरमी और जाड़े का प्रकोप सहती है सो क्यों? इसलिए नहीं कि ईश्वर उससे नाराज़ है, बल्कि केवल इसलिए कि अर्थ-विज्ञान का हम सहारा नहीं लेते। राजनैतिक दृष्टि से हम मूढ़ हैं और इतने मूर्ख हैं कि यह नहीं समझते कि दरिद्रता भी एक प्राकृतिक घटना है, जो उसी प्रकार अपने वश में रक्खी जा सकती है जैसे पेट का दर्द या ज़ुकाम। अमरीका की गवर्नमेंट बेकारी मिटाने के लिए ऐसी कम्पनियाँ खोल रही है जिनका उद्देश यह है कि प्रत्येक अमरीका-निवासी रोज़गार में लगा रहे, सबको मेहनत करने का मौक़ा मिले, और सबको पैसा कमाने का साधन प्राप्त हो। बुढ़ापे में लोग भूखों न मरें, इसके लिए भी वहाँ की गवर्नमेंट हर एक नागरिक को पेंशन देने का इन्तिज़ाम कर रही है। वहाँ इस प्रकार का क़ानून बना दिया गया है कि सूखा या पाला वग़ैरह पड़ने पर किसान बैंकों से उधार लेकर अपनी खेती को सँभाल लें। अगर खाद-पाँस आदि के लिए पैसे की आवश्यकता पड़ती है तो वहाँ की गवर्नमेंट किसानों को बैंकों से पैसा दिला देती है। इँग्लेंड में गवर्नमेंट की तरफ़ से 'बेकार-सहायक-संघ' बनाया गया है। इस संघ ने एक करोड़ ७० लाख मज़दूरों को (जो वास्तव में ३ करोड़ ४० लाख मनुष्यों का पालन-पोषण करता है) रोटियाँ पहुँचाने की ज़िम्मेदारी अपने हाथ में ले ली है। यह संघ केवल उन्हीं आदमियों की सहायता करता है जिनकी आमदनी प्रति-सप्ताह ७५) से ज़्यादा नहीं है। इस संघ की सहायता के लिए इँग्लेंड की गवर्नमेंट ने बैंक में १० करोड़ रुपये जमा कर दिये हैं। इसके अलावा प्रतिवर्ष १६ करोड़ रुपया और ख़र्च करने का वचन दिया है। कहने का तात्पर्य यह कि यदि हम संसार की सभ्य गवर्नमेंटों के समस्त सफल प्रयत्नों को जो वे अपने नागरिकों के उन कष्टों के मिटाने के लिए कर रही हैं जिन्हें भारतीय जनता ईश्वराधीन समझती है, देश के सामने रखते रहें तो हमारे देशवासियों की आँखें खुलेंगी और वे आध्यात्मिकता के चक्कर से बच सकेंगे।

मैं स्वयं ईश्वरवादी हूँ। आस्तिकता को मैं मनुष्य-जीवन का सर्वोत्तम मणि समझता हूँ, लेकिन आस्तिकता और मूर्खता को मैं पर्यायवाची शब्द नहीं मानता। यद्यपि रूस के साम्यवादियों की तरह ईश्वर के ख़िलाफ़ आन्दोलन उठाना राष्ट्र के लिए अहितकर है, तथापि जनता की वर्तमान मनोदशा को देखते हुए उसकी दैव दैव पुकारने-वाली मानसिक जड़ता को मिटाना बहुत ज़रूरी है। जब तक भारतीय जनता की मनोदशा में आध्यात्मिकता के बजाय वैज्ञानिकता नहीं आती, उसका निःस्तार असम्भव मालूम होता है।

सबसे बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि इस मनोवृत्ति को बहुत-से लोग भक्ति का नाम देते हैं और हिन्दू-धर्म की उपज बताते हैं। हमें यह न भूलना चाहिए कि हिन्दुओं के पूर्वज भाग्याधीनता की मनोवृत्ति को घृणा की दृष्टि से देखते थे। हिन्दू-धर्म में और आर्य-इतिहास में अगर किसी बात का बिलकुल स्पष्ट प्रतिपादन हुआ है तो प्रयत्न का, आत्मावलम्बन का और आत्मविश्वास का ही हुआ है। हिन्दू-धर्म के अनुसार राम और कृष्ण ईश्वर के बहुत बड़े अवतारों में माने गये हैं। विचार करने की बात है कि इन दोनों अवसरों पर ईश्वर ने क्षत्रिय-शरीर में जन्म लिया है और जीवन भर प्रयत्न और आत्मविश्वास

को ही आदर्श बनाया है। यदि सीता जी के हर जाने के बाद रामचन्द्र यह सोचने लगते कि विधाता को यही मंज़ूर था, सीता जी हर गईं तो क्या किया जाय, ईश्वर के काम में कौन दख़ल दे, "हानि लाभ जीवन मरण जस अपजस विधि हाथ", तो हिन्दुओं के पूर्वज रामचन्द्र को शायद भगवान् का अवतार कभी न मानते। घोर नैराश्यावस्था में चित्त की दृढ़ता बनाये रखना, कठिन से कठिन विघ्नों के आने पर अपने उद्देश पर डटे रहना, अपने उद्देशों की प्राप्ति के लिए मन और शरीर की सारी शक्तियों को पूरा पूरा काम में लाना इत्यादि बातों ने ही तो वास्तव में रामचन्द्र को मर्यादा-पुरुषोत्तम और उनके चरित को प्रातःस्मरणीय बना दिया है। भैंस और गायों की पीठ से द्वारकापुरी के सिंहासन पर पहुँचना, ग्वालों की गोष्ठी से हस्तिनापुर की राजनैतिक परिषद् में पाण्डवों के दूत बनकर जाना क्या हाथ पर हाथ धरे रहने और राम राम रटने से हो गया होगा? हिन्दू-शास्त्रकारों ने कृष्ण को अगर भगवान् का पूर्ण अवतार माना तो बिना कारण नहीं। हिन्दू-धर्म ने अपने इतिहास में केवल उन्हीं चरितों को जीवित रक्खा है जो किसी अनुकरणीय सिद्धान्त के साक्षात् अवतार हैं। राम और कृष्ण का अवतार मेरे मतानुसार इस सिद्धान्त का प्रमाण है कि जीवन में प्रयत्न से आदमी बहुत-कुछ कर सकता है। कम से कम इतना तो ज़रूर मानना पड़ेगा कि हिन्दू-धर्म प्रयत्नशील पुरुषों को ही ईश्वर का अवतार मानता रहा है।

सम्भव है, कुछ भावुक लोग यह कहें कि हम लोग ईश्वर की सरवरि नहीं कर सकते। हम राम और कृष्ण के चरित के भक्त हो सकते हैं, उनका स्मरण कर सकते हैं, अनुकरण नहीं। उनसे मैं कहूँगा कि आप राम और कृष्ण के आदिभक्तों का चरित देखें। अंजनीसुत हनूमान् और अर्जुन कुटीवासी लँगोटीधारी भीख माँगकर खानेवाले और धूनी पर बैठे बैठे 'राम' 'राम' और 'कृष्ण' 'कृष्ण' की रट लगाकर सारा जीवन व्यतीत करनेवाले आदमी नहीं थे, बल्कि गदाधारी और धनुर्धर वीर पुरुष थे। अगर हनूमान् जी रामचन्द्र से कहते कि "हे भगवन्! मैं तुम्हारा बड़ा भारी भक्त हूँ, सदा तुम्हारे चरणों की रज को सिर पर लगाता रहूँगा, सतत तुम्हारा चिन्तन करूँगा और किष्किन्धा की गुफा में बैठकर तुम्हारे नाम की रट में ही सारा जीवन व्यतीत करूँगा", तो मुझे पूर्ण विश्वास है कि भगवान् रामचन्द्र उनसे कहते कि क्षमा कीजिए, मुझे ऐसा भक्त नहीं चाहिए। और अगर अर्जुन ने खाण्डव-दहन न किया होता, गाण्डीव धनुष को प्राप्तकर उसका अच्छी तरह उपयोग करना न जाना होता, तो कृष्ण भी उन्हें अपना सखा, सुहृद् और भक्त कदापि न बनाते। राम और कृष्ण के आदिभक्त प्रयत्नशील, वीर, प्राणों को लोक-संग्रह के कार्य में निछावर करने वाले, गदा और धनुषधारी थे, आज-कल के अहदी, आलसी, आडम्बरी, समाज के शरीर से जोंक के समान रक्त चूसनेवाले इधर-उधर निरुद्देश भ्रमण करनेवाले, भिखारी जैसे उनके भक्त नहीं थे!

"उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः" का श्लोक हम सब जानते हैं। महाभारत, योगवाशिष्ठ आदि ग्रन्थों में पौरुष को उच्च स्थान दिया गया है। दैव दैव पुकारने की प्रवृत्ति वास्तव में अनार्य प्रवृत्ति है। धर्म की आड़ में यह प्रवृत्ति हमारे देश में आलस्य, दीनता, दरिद्रता और मूढ़ता पैदा कर रही है। इस प्रवृत्ति के विरुद्ध समस्त देशभक्तों को संग्राम करना है। जिस दिन हमने भारतीय जनता के मानस-क्षेत्र से उक्त आध्यात्मिकता को हटा कर वैज्ञानिकता पैदा कर दी, उसी दिन आशावाद का, प्रयत्नशीलता का और वास्तविक और नवीन धर्म का उदय होगा और हमारे राष्ट्र के महान् सामूहिक प्रयत्न के सामने उसके सारे दुःख-दर्दों का नाश हो जायगा।

लेखक, श्रीयुत उपेन्द्रकुमार अश्क, बी० ए०

युवती स्त्री की स्नेहभरी दृष्टि के सहारे चार आदमियों का बोझा पीठ पर लाद कर तीन मील चलने वाले एक कुली की कहानी।

टर अड्डे पर आकर रुके। कुलियों की दुनिया में हलचल मच गई। बैठे हुए खड़े हो गये, खड़े दौड़ पड़े, मानो धन की वर्षा हो गई हो, कोई स्वर्गीय विभूति उनके मध्य में आ गिरी हो। मिनटों में मैले, फटे हुए कपड़े पहने बीसियों कुली मोटरों को घेरकर खड़े हो गये। बहुतों ने अपने पीतल के नम्बर भी मोटर में फेंक दिये।

मोटर में बैठे हुए मिस्टर वाल्टन और उनका छोटा-सा कुनबा पीतल के टुकड़ों की उस वर्षा से घबरा उठा। दूसरे क्षण कुमारी वाल्टन तुनककर मोटर में खड़ी हो गई। उसकी युवा आँखों में क्रोध के डोरे दौड़ गये, रोष से मुख सुर्ख़ हो गया। उसने सब नम्बरों को उठाया और कुलियों के मुँह पर दे मारा। एक पीतल का नम्बर वाल्टन साहब की गोद में पड़ा था। उसे उठाते हुए ज्यों ही सुन्दर वाल्टन ने फेंकने के लिए हाथ उठाया, एक कुली—सुन्दर, युवा, बलिष्ठ—दूसरों को हटाते हुए मिस वाल्टन के सामने आ खड़ा हुआ—कुछ बे-परवा-सा, कुछ उखड़ा उखड़ा-सा, कुछ व्यथित-सा। युवती की सरोष आँखें उसकी करुण आँखों से चार हुईं। उसने नम्बर नहीं फेंका, और चुप अपनी जगह पर बैठ गई। कुली और समीप आकर मोटर के पास खड़ा हो गया। साहब अपनी पत्नी को लेकर दूसरे दरवाज़े से उतर गये।

कुमारी वाल्टन ने सिर से पाँव तक उस कुली को देखा और दूर तक निगाह दौड़ाई। इन चीथड़ों में लिपटे हुए आधी नंगी टाँगों और भुजाओंवाले कुलियों में जिनके पैरों में सेर डेढ़ सेर की बेडौल-सी चप्पल पड़ी हुई थीं और घुटनों तक मैल चढ़ी हुई थी, जिनके चेहरों की आकृति शुष्क और सख़्त थी, और जिनकी आँखों के पपोटे धूल से स्याह हो रहे थे—इन सब कुलियों में कौन उस जैसा बलवान्, कौन उस जैसा सुन्दर, कौन उस जैसा बलिष्ठ था? उसने देखा, कुली की गोरी गोरी भुजाओं पर अधिक बोझ उठाने के कारण मछलियाँ पड़ गई हैं और

कुमारी वाल्टन ने पूछा—
"वह प्यानो उठा सकेगा।"

नीली नीली नाड़ियाँ फूल उठी हैं। उसके सिर पर टोपी नहीं थी। गले में एक साफ़ लेकिन आस्तीन और गरेबाँ की क़ैद से स्वतन्त्र कुर्ता पड़ा हुआ था।"

"तुमारा नाम ?"

"३२४"

"नम्बर नहीं, नाम।"

"हैदर।"

"हैदर! कितना बोझ उठा सकेगा ?"

"बहुत काफ़ी मिस साहब।"

ड्राइवर ने दरवाज़ा खोला। कुमारी वाल्टन खट खट नीचे उतर गई।

"वह प्यानो उठा सकेगा ?" उसने मुसकराते हुए कहा—

हैदर ने अपनी दृष्टि उस ओर उठाई और मुख पर बिखरे हुए बालों की लटों को परे हटाया। दूसरे मोटर में वह बड़ा प्यानो रक्खा था और चार-पाँच कुली उसे नीचे उतारने का प्रयास कर रहे थे।

उसने उत्तर दिया—"हाँ, उठा लूँगा।"

यह कहते समय उसे प्यानो के वज़न का ध्यान आया, किन्तु इसके साथ ही उसकी आँखों के सम्मुख उसके घर की बेबसी की तसवीर खिंच गई, साथ ही उसे अपनी बात का भी ध्यान आया। अब इनकार कर उस सुन्दर लड़की की नज़रों में दुर्बल बनना उसे स्वीकृत न था। वह आगे बढ़ा।

सुरीली तानें अलापनेवाला प्यानो जिसके लिए कुमारी वाल्टन एक कमरा अलहदा कर दिया करती थी, उतारकर धरती पर रख दिया गया और
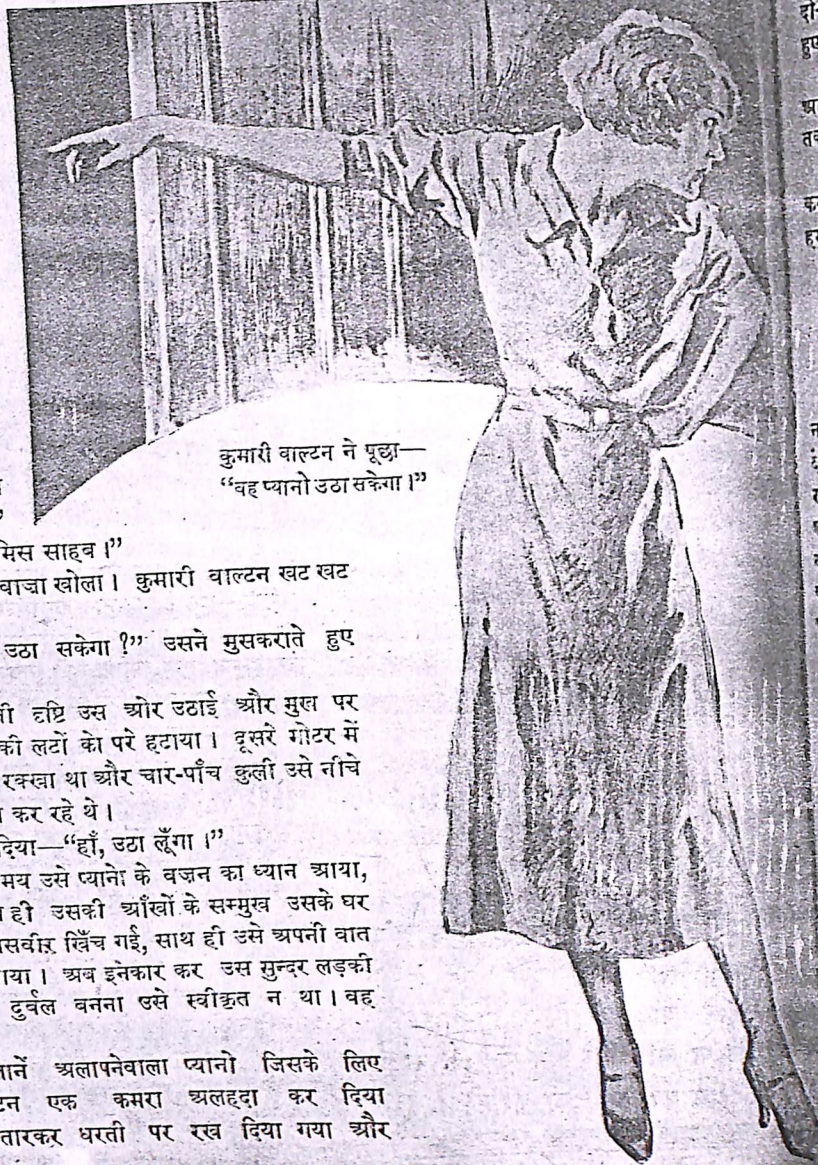
दो-तीन 'हातो'* उसे उठाने के लिए तैयार हुए।

"इसे यह कुली उठायगा।" कुमारी वाल्टन ने आगे बढ़कर कहा। साहब ने हैदर पर नख से शिख तक दृष्टि डाली और बोले—"यह अकेला !"

"हाँ।" और मुसकराती हुई हैदर की ओर देखकर कुमारी वाल्टन बोली—"क्यों उठायगा अकेला ? हम ईनाम बी डेगा।"

हैदर का सीना फूल उठा—"हाँ, मिस साहब।" हाँ कहकर न कहना जवानी ने नहीं सीखा।

"ठीक सम्हाल जायगा ?"

"ले जाऊँगा।"

"हम तुम्हें बहुट ईनाम डेगा।" और उत्सुक नज़रों से कुमारी वाल्टन उस बलवान कुली की ओर देखने लगी। देखते देखते हैदर ने प्यानो के इर्द-गिर्द रस्सा लपेट लिया। जो 'हातो' उसे उठाने के लिए आगे बढ़े थे, पीछे हट गये। दो आदमियों की सहायता से हैदर ने प्यानो पीठ पर लाद लिया। उसकी कमर दोहरी हो गई, माथे पर पसीना आ गया। अपनी छोटी-सी लठिया के सहारे वह चल पड़ा।

"मर जायगा सुसरा !" एक हातो ने कहा—

पों पों करती हुई दूसरी मोटर-गाड़ी आ खड़ी हुई और सब उसकी ओर दौड़ पड़े।

कुमारी वाल्टन वहाँ खड़ी की खड़ी रह गई। वह सोच रही थी—इतना बड़ा प्यानो जिसे चार आदमी कठिनाई से उठा पाते हैं, इस अकेले हैदर ने उठा लिया। यह योरप में होता तो बोझ उठाने का रिकार्ड मात करके सहस्रों रुपये कमा लेता। उसके युवा-हृदय में इस कुली के लिए सहानुभूति का समुद्र उमड़ आया। परन्तु यह सहानुभूति उसके फटे हुए कपड़ों, उसके व्यथित मुख, उसकी बेबसी को देखकर नहीं पैदा हुई थी। वह उस सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखती थी जहाँ ये बातें सहानुभूति ख़रीदने के बदले उपेक्षा मोल लेती हैं। पर बहादुर से, सुन्दर से हमदर्दी हो जाना स्वाभाविक है और फिर युवा रमणी के हृदय में वह—वह हृदय चाहे अँगरेज़ रमणी का हो अथवा भारतीय का।

रिक्शा उसके समीप आकर खड़ी हो गई। वाल्टन साहब ने तीन रिक्शाओं के लिए आर्डर

उसने उत्तर दिया—"हाँ, उठा लूँगा।"

दिया था। कुमारी वाल्टन सबसे अगली रिक्शा में बैठ गई, उससे पिछली में उसकी मा। सबसे अन्तिम रिक्शा में साहब स्वयं बैठे। पाँच-सात कुली दूसरा सामान उठाकर साथ साथ चलने लगे।

वाल्टन साहब रिटायर्ड इञ्जीनियर थे। पेन्शन मिलती थी। कुनबा भी बड़ा नहीं था, मज़े से बसर होती थी। शिमले में उन्होंने दो-तीन कोठियाँ बनवा ली थीं। किराया भी आ जाता था। उनकी निजी कोठी का नाम 'कैनमोर काटेज' था।

* शिमला में कश्मीर और नाहन के कुली 'हातो' कहलाते हैं।

वह छोटे शिमले से ज़रा दूर एक सुरम्य जगह में बनी हुई थी। आगे छोटी-सी वाटिका थी। अपना फ़ुर्सत का समय वाल्टन साहब भाँति भाँति के पौधे लगाने में बिताते थे। उन्हें इसमें बड़ा आनन्द मिलता था। कभी कभी उनकी पुत्री भी इस काम में उनका हाथ बँटाती। उसे अपने ही अनुरूप देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती। एक माली भी रक्खा हुआ था। परन्तु वह सर्दियों में बग़ीचे की देख-भाल करता। गर्मियों में साहब स्वयं दिल्ली से आ जाते। तब उनका काफ़ी समय अपने बग़ीचे में ही बीतता।

कुमारी वाल्टन को प्यानो बजाने में कमाल हासिल था। जहाँ एक-दो महीनों के लिए जाना होता, वहीं उसे वह ले जाती। यह प्यानो उसने ख़ास तौर पर विलायत से मँगवाया था। साधारण प्यानो से तिगुना बड़ा था। सुरीला इतना था कि जब कुमारी वाल्टन का मीठा स्वर उससे मिल जाता तब सोने में सुहागा मिल जाता। सर्दियों में यह छोटा कुनबा देहली चला जाता और गर्मियों में शिमला आ जाता।

हैदर साँस लेने के लिए रुका। शिमले में सड़कों के किनारे सीमेंट के चबूतरे बने हुए हैं ताकि कुली लोग वहाँ बोझ रखकर सुस्ता लिया करें। कुमारी वाल्टन अपने विचारों में मग्न थी। हैदर को रुकते देखकर रिक्शा से कूद पड़ी। साहब और उनकी पत्नी उससे बहुत आगे निकल चुके थे। उसने हैदर से कहा—"क्यों ठक गया, कहा था मत उठाओ। तुम ठक जायगा, लेकिन माना नहीं।"

हैदर बिना विश्राम किये फिर चल पड़ा। किसी युवती के सामने थकने का नाम लेना और फिर बहादुरी का दम भरना!

"शाबाश!" कुमारी वाल्टन उसके साथ चलती हुई बोली—"टुम ने हमको बहूट ख़ुश किया। अगर टुम आराम लिये बीना इसे बँगला टक ले गीया तो हम टुम्हें बहूट ईनाम डेगा, जो माँगेगा वह डेगा।"

बायें हाथ में लठिया पकड़कर उसके सहारे रुक कर हैदर ने दायें हाथ से मस्तक से पसीना पोंछा और चल पड़ा। उसके पाँव मन मन भर के हुए जाते थे। उसके समस्त शरीर से पसीना छूट रहा था। उसने अभी तक इतना बोझ नहीं उठाया था। किन्तु मिस साहब प्रसन्न हो गई थीं। यदि वह इस प्यानो को वहाँ तक पहुँचा देगा तो वे अवश्य ही उसे दो-तीन रुपये देंगी। हो सकता है, उसे अपने यहाँ नौकर ही रख लें। तब तो उसका जीवन बन जाय, वह अमीना को सुख दे सके। अपनी उस प्यारी अमीना को जिसने उसके लिए अमीरी से ग़रीबी मोल ली थी, अपने धनवान माता-पिता को छोड़कर सुखभोग को लात मारकर जो उसके साथ हो ली थी और जो उससे कितनी मुहब्बत करती थी। उसे सब याद था—वह दिन जब लाहौर में स्टेशन से सामान उठाकर वह एक गली के बड़े-से मकान में ले गया था और बुरका उठाकर हश्र बरपा कर देनेवाली दो आँखों ने उसे देखा था। उसे याद था कि किस तरह वे आँखें उस पर मेहरबान हो गई थीं, किस तरह उसे आँखों ही आँखों में मुहब्बत का संदेश मिला था, किस भाँति उसने कुली का काम छोड़ वहाँ उसी गली में पान की दूकान की थी, किस तरह अमीना उसके साथ भाग आई थी और किस तरह गिरफ़्तारी से बचाने के लिए उसने भरी अदालत में उसके साथ रहने का प्रण किया था। सब—वे दिन, वे रातें, वे घड़ियाँ, वे पल—मुहब्बत के, प्यार के, दुःख के, संतोष के—कल की बात की नाईं याद थे। वह कमाता था अमीना को सुख देने के लिए, अपनी उसे कुछ परवा न थी। वह सोचता, यदि मेरे पास कुछ रुपया होता, कुछ थोड़ा बहुत ही तो अमीना को लेकर फिर कहीं दूर किसी छोटे से क़स्बे में कोई दूकान कर लेता। किन्तु रुपया आता कहाँ से? अमीना के साथ भागने के बाद उसकी रही-सही पूँजी भी उड़ गई थी, और विवश होकर फिर श्रमजीवी बनना पड़ा था। वह दिन में दो रुपये कमा लेता। उसके शरीर में शक्ति थी,

भुजाओं में बल था। कश्मीर और नाहन के हातो भी उसे बोझ उठाते देखकर दंग रह जाते। अमीना कहती—"मुझे तुम्हारे साथ सूखी रोटी पसन्द है। तुम बहुत कष्ट न सहा करो। किन्तु वह उसकी बातों पर कान न देता। उसे एक ही धुन थी, एक ही लगन थी, कुछ रुपया पैदा करना और बस—इसके बाद वह इस पेशे को सदैव के लिए छोड़ देगा। अमीना उसके कपड़े धो देती। जब वह संध्या को थककर आता तब उसके पाँव दबाती। सहस्रों व्यय करने पर भी ऐसी पतिपरायणा स्त्री न मिलती। वह उसे पाकर भी सुखी न था। जब वह देखता कि अमीना उस अँधेरे से कमरे में सारा दिन बन्द रहने से पीली हुई जा रही है तब उसका हृदय ख़ून के आँसू रोता। वह उसे शीश-महलों में, मरमर के प्रासादों में रेशमी वस्त्रों से आवृत रखना चाहता था, पर उसकी आकांक्षायें उस बेपर पंछी की आशाओं की तरह थीं जो गहरे खड्ड में गिरकर ऊपर पहाड़ की चोटी पर उड़ना चाहता हो। हैदर ने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ा। बोझ के कारण उसका सीना दुख उठा। उसे ज्ञात था, इस समय जब वह बोझ उठाये चला जा रहा है, अमीना भी काम करती होगी। उसने ग़ालीचे बुनना सीखा था। दोनों कुछ रुपया पैदा करना चाहते थे, जिससे कोई काम कर सकें। उन्हें आशा थी कि इस वर्ष के बाद तक उनके पास छोटा-मोटा व्यवसाय आरम्भ करने के लिए पर्याप्त धन हो जायगा।

हैदर सोच रहा था—कौन जाने यह लड़की प्रसन्न होकर उसे अपने यहाँ किसी काम पर नौकर रख ले? इस सूरत में उसकी अभिलाषा बहुत जल्द पूरी हो जायगी। अभी उन्हें कमरे का किराया भी देना पड़ता है और ख़र्च भी बहुत होता है। फिर रोटी और रहाइश का ग़म न रहेगा। थोड़ा-बहुत सरमाया जमा कर लेंगे और तब किसी छोटे-से नगर में जा बसेंगे। वह हो और अमीना का अटूट प्रेम और बस। इसी भाँति यह जीवन-लीला समाप्त हो जाय। पर क्या वह प्यानो वहाँ पहुँच भी सकेगा? यदि वह सुस्ता लेता तो कदाचित् पहुँचा भी देता। परन्तु बिना साँस लिये तीन मील सर्वथा असम्भव है! मोटरों के अड्डे से सड़क पर आते आते ही उसके प्राण सूख गये थे। उसका शरीर शिथिल हो रहा था। उसने सोचा, प्यानो को रख दें।

उसी समय कुमारी वाल्टन ने कहा—"शाबाश हैडर, शाबाश! टुम प्यानों को बँगला टक पहुँचा गया टो बहुट इनाम डेगा। डस रुपया डेगा, बीस रुपया डेगा।" हैदर के मुर्दा शरीर में फिर जान पड़ गई। आशा ने फिर संजीवनी का काम किया—वह फिर चल पड़ा।

वह रिक्शा छोड़कर उसके साथ साथ चली आ रही थी। तेरह-चौदह वर्ष की आयु, पतली सी कमर, शरीर के साथ चिमटा हुआ फ्राक, लम्बा क़द, ऊँची एँडी के कारण उठे हुए छोटे छोटे पाँव, गोरी भुजायें, तीखे नक़्श और मुख पर उत्सुकता। इस तरह चली आ रही थी मानो हैदर को नहीं, उसे इनाम जीतना हो। वह सोचती, इतना बहादुर भी कहाँ। यह पुरुष जहाँ भी जायगा, नाम पायगा। सेना में भरती होता तो अब तक कप्तान बन जाता। फुटबाल खेलता तो कोई इसका मुक़ाबला न कर सकता। इतना बोझ! उसे उठाना ही बड़ा काम था, फिर उसे उठाकर तीन मील चलना! उसने हैदर की ओर एक स्नेह-भरी दृष्टि डाली। वह उसे अपना सब कुछ दे दे। इस बहादुर कुली पर निसार होने के लिए उसका युवा हृदय बेताब हो उठा।

एक साहब थे ब्राउन। कुमारी वाल्टन की मुहब्बत का दम भरते थे। उसे ख़याल आया। यदि उनको यह प्यानो उठाना पड़े तो कचूमर ही निकल जाय। इस विचार के आते ही उसके लाल अधरों पर मुसकराहट दौड़ गई।

"शाबाश हैडर!" उसने हैदर को रुकते हुए देखकर कहा और फिर ध्यान में मग्न हो गई। कभी कभी कोई व्यक्ति हैदर को अकेले इतना बड़ा प्यानो उठाये और अँगरेज़ युवती को उसके साथ इस भाँति

जाते देखकर आश्चर्य से एक क्षण के लिए खड़ा हो जाता और फिर अपनी राह चला जाता।

छोटे शिमले का डाकखाना आ गया था। हैदर की टाँगें जवाब देती हुई प्रतीत हुईं, उसे अपने हवास गुम होते हुए दिखाई दिये। बस इससे आगे वह न जा सकेगा। इतनी दूर तक ही वह कैसे आ गया! वह इसी पर विस्मित था। अब आगे न जाया जायगा। उसके पाँवों में शक्ति ही नहीं, उसके शरीर में जान ही नहीं। उसकी आँखें बन्द सी हुई जाती थीं। उसे अपने स्वप्नों के समस्त गढ़ गिरते हुए प्रतीत हुए।

उस समय कुमारी वाल्टन की मीठी, मधुर, मादक, सहानुभूति से युक्त, जीवनदायिनी आवाज़ फिर सुनाई दी।

"हैडर थक गया? बस, डो फर्लाङ्ग और टुम जीट जायगा।" लेकिन हैदर नहीं हिला।

कुमारी वाल्टन को अपनी कल्पनाओं का प्रासाद गिरते दिखाई दिया। यदि हैदर यह बाज़ी न जीत सका तो वह सब श्रद्धा जो उसके हृदय में उसके लिए पैदा हुई थी, उड़ जायगी। उसने फिर एक बार कहा—

"हैडर, हम टुम्हारे लिए सब कुछ करेगा, टुम्हें सेना में भर्ती करा डेगा टुम्हें नौकर रख लेगा, टुम्हें प्यार करेगा। बस, डो फर्लाङ्ग। बक अप, बक अप!"

और हैदर चल पड़ा, जैसे कुमारी वाल्टन के स्वर में बिजली का असर हो।

बँगला आ गया, माली और नौकरों ने दौड़कर उसका स्वागत किया। एक ने हैदर को बोझ तले दबे हुए देखकर उसे सहारा देना चाहा। हैदर ने सिर के इशारे से उसे हटा दिया। उसे बँगले के आ पहुँचने का एक मध्यम-सा ज्ञान था और अब यहाँ तक आकर अपने किये-कराये पर पानी नहीं फेरना चाहता था। उसकी टाँगों में स्फूर्ति आ गई। वह तेज़ चलने लगा। मंज़िल के समीप पहुँचकर पथिक की चाल तीक्ष्ण हो जाती है।

बँगले पर पहुँचकर कुमारी वाल्टन सीधे उस कमरे में गई जो प्यानो के लिए रिज़र्व था। वहीं दूसरे नौकरों ने हैदर से प्यानो उतरवाया। हैदर विजयी की भाँति सीधा खड़ा हो गया, उसका मुख चमक उठा। साहब दूसरे कमरों में असबाब रखवा रहे थे। कुमारी वाल्टन ने नौकरों को उधर जाकर उनका हाथ बँटाने को कहा। उसी क्षण हैदर का सिर चकराया और वह कोच पर बैठ गया।

अपने रेशमी रूमाल से उसके मुख का पसीना पोंछते हुए कुमारी वाल्टन ने क्षणिक आवेश के वश उसके गोरे मस्तक को चूम लिया और गाउन से बटुआ निकालकर बीस रुपये के नोट उसके हाथ पर रख दिये। किन्तु नोट गिर पड़े। कुमारी वाल्टन ने सशंक नेत्रों से उसकी ओर देखा। हैदर की आँखें खुली हुई थीं, और उसका शरीर अकड़ गया था।

कुमारी वाल्टन हैरान-सी, भौचक्की-सी, निर्निमेष नज़रों से उसकी ओर ताकती रह गई।

उस समय नौकर ने एक पीतल का टुकड़ा अन्दर फेंका।

"मिस साहिब! यह नम्बर रिक्शा से ही रह गया था।"

कुमारी वाल्टन ने दौड़कर उठा लिया। मोटे मोटे अक्षरों में लिखा था "३२४"। "पुअर हैडर!" कहती हुई उसने दीर्घ निःश्वास छोड़ी और उसकी आँखें सजल हो गईं।

खादी के मार्ग में कुछ कठिनाइयाँ

लेखक, श्रीयुत विचित्रनारायण शर्मा

'स्वदेशी प्रचार में कुछ बाधाएँ' शीर्षक एक लेख पंडित मोहनलाल नेहरू ने गत नवम्बर सन् १९३४ की सरस्वती में लिखा था। उसमें पंडित जी ने चर्खा संघ की कार्य-प्रणाली पर भी आपत्ति की थी और उसे एक नया पूँजीपति कहा था। इस लेख में लेखक महोदय ने जो चर्खा-संघ के एक अनुभवी कार्यकर्ता हैं, पंडित मोहनलाल नेहरू के विचारों का खंडन करते हुए खादी की वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।

हात्मा गांधी और राष्ट्रीय महासभा १४ साल से खादी को व्यापक तथा सफल बनाने का भगीरथ-प्रयत्न कर रहे हैं। पर ऐसा मालूम होता है कि हम अभी इस प्रश्न की परिधि को भी अच्छी तरह नहीं छू सके हैं, इसके अन्दर प्रवेश करना तो अलग रहा।

खादी के लिए भारत से अधिक उपयुक्त क्षेत्र सम्भव नहीं। हद दर्जे की ग़रीबी, साल का आधे से ज़्यादा समय बेकार जाना और उत्पादन के सभी साधनों की बहुतायत। कपास और रुई घर में पैदा होती है, चर्खा आसानी से बन सकता है और उससे भी आसानी से सूत कत सकता है तथा गाँव में ही कपड़ा भी बुनवाया जा सकता है। फिर भी लोग भूखों मरते हैं, नंगे ठिठुरते हैं, पर सूत नहीं कातते।

ऐसा क्यों होता है? क्यों इतनी सरल-सी बात लोगों की बुद्धि में नहीं आजाती?

उत्तर बहुत सरल है; पर थोड़ा अप्रिय! हमारे अहंकार और हमारी बुद्धि पर वह एक भारी आघात है। हम बुद्धि-धारी जीव होने का जितना भी अभिमान करें, कर्म-स्वातन्त्र्य की जितनी भी दुहाई दें, हम हैं प्रायः एक-दम अपनी आदतों, संस्कारों और रूढ़ियों के दास। उनमें बँधे हुए हम परम्परागत गहरी लीक से बाहर नहीं निकल सकते। हम जैसा देखते हैं, वैसा करते हैं, जैसा करते हैं, वैसा करते जाते हैं। हमारी सारी मौलिकता नक़ल करने भर में परिमित है। अपनी भाषा, अपना भेष, अपने भाव, अपने विचार, हम जैसे के तैसे दूसरों से माँग लेते हैं। इससे अधिक हम कुछ नहीं कर सकते। हम कष्ट सह सकते हैं, शरीर को हिला-डुला सकते हैं, पर दिमाग़ से काम लेना हमारे लिए अत्यन्त कष्टसाध्य है। हज़ारों और लाखों में एक होता है जो बाहर से जो कुछ लेता है उस पर अपने व्यक्तित्व की छाप लगा देता है, उसे हज़म करके अपने अंग का एक भाग बना लेता है, जिसकी भाषा में, भेष में, भावों में, विचारों में, अपनी एक विलक्षणता, एक नवीनता, एक असाधारणता दिखलाई देती है। बाक़ी सब तो होते हैं पुरानी एक ही प्रति के करोड़ों नये संस्करण।

यह है वह चट्टान, अपरिवर्तनशीलता और जड़ता की, जिसके विरुद्ध महात्मा जी तथा राष्ट्रीय महासभा को टकराना पड़ता है। इसी से जहाँ करोड़ों रुपये का मिल का तथा विलायती कपड़ा खपता है, वहाँ खादी की उत्पत्ति और खपत अभी तक कुछ लाखों तक ही पहुँच सकी है।

मिल का कपड़ा ही श्रेष्ठ है, उसी को श्रेष्ठ जन पहनते हैं, यह बात लोगों के हृदयों पर बहुत पुष्ट रूप से बैठी हुई है। सब बड़े आदमी मिल का कपड़ा पहनते हैं। अर्थात् सुन्दर, साफ़, बढ़िया मिल का कपड़ा पहननेवाला व्यक्ति बड़ा आदमी होता है। वही शिक्षित है, वही अमीर, प्रतिष्ठित और श्रेष्ठ है। वही

इसलिए अनुकरणीय, पूज्य और सुन्दर है। मोटा, खुरदरा कपड़ा पहननेवाला आदमी देहाती, गँवार, हेय है!

साधारण आदमी के लिए बड़प्पन और योग्यता के मापक बाह्य वस्त्राडम्बर आदि के सिवा और क्या हो सकता है? संक्षेप में गाँव-देहात, गँवार और देहाती और उनसे सम्बन्धित सब चीज़ें हेय होगईं। दूसरी ओर शहर, नगर, नागरिक और उनसे सम्बन्धित सभी चीज़ें श्रेष्ठ होगईं। हज़ारों वर्षों से शहर हमारे आदर्श बने हुए हैं।

जो समाज के अगुवा हैं, जो प्रवर्तक और शिक्षक हैं, उन्होंने खादी को नहीं अपनाया। शहर या शहर के अग्रगण्य समुदाय जब तक खादी को नहीं अपना लेते, खादी जीवित नहीं रह सकती। खादी की यह पहली कठिनाई है।

खादी की दूसरी कठिनाई खादी-कार्यकर्ता की अपूर्णता है। खादी-कार्यकर्ता स्वयं उस समाज का प्रतिबिम्ब-मात्र है जिससे वह आता है और जिसमें वह काम करता है। समाज की सारी दुर्बलतायें, अपूर्णतायें कमोबेश उसमें भी प्रतिबिम्बित होती हैं। खादी का कार्य कांग्रेस ने 'चर्खा-संघ' के सुपुर्द किया था। पर 'चर्खा-संघ' में वे प्रतिभाशाली, कल्पना और सूझ रखनेवाले कार्यकर्ता नहीं हैं जो एक मृतक धंधे को अर्थ-शास्त्र के साधारणतया स्वीकृत सिद्धान्तों के विपरीत जाकर भी समाज की मनोवृत्ति और रुचियों-अरुचियों को व्यापक रूप से बदलकर पुनर्जीवित कर सकें। जो दो-तीन व्यक्ति हैं वे अपवाद-स्वरूप हैं। पर कार्य की महत्ता को देखते हुए यह संख्या एक दम अपर्याप्त है।

खादी में नाम नहीं, दाम नहीं, आराम नहीं। फिर प्रतिभाशाली योग्य कुशल कार्यकर्ता इस ओर आकृष्ट ही क्यों हों? खादी-कार्यकर्ता एक बनिया है, एक विकृत टुटपुँजिया पूँजीपति। बेचारा खादी-कार्यकर्ता अपने को स्वयं धोखे में डालकर अपनी ही आँखों में कुछ क्षणों को गौरवान्वित भी तो नहीं बन सकता। उसके इस अभिमान, इस घोर अज्ञान को वस्तुस्थिति जाननेवाले महानुभाव शीघ्र दूर कर देते हैं। पूँजीपति, वह भी दिवालिया! भला कौन होना चाहेगा?

खादी उसकी आर्थिक आवश्यकताओं को भी पूर्णतः पूरी नहीं कर सकती। वकालत, डाक्टरी अधिक यशवाले और धनप्रद धन्धे हैं। सम्पादक, शिक्षक अधिक ख़ुशहाल हैं। तो फिर खादी में लोग क्यों आयें?

खादी में आराम भी नहीं। रुई-सूत का कार्य, देहातों में भटकना, बोरे ढोना या भंडारों में १२,१५ घंटे काम करना! कोई आश्चर्य नहीं, उदार सुधारकों को इसमें अत्याचार और असहाय कर्मचारियों के उत्पीड़न की ध्वनि आती है। हमारे पास ऐसी कई शिकायतें आ चुकी हैं।

तीसरी कठिनाई है कि खादी के चलते हुए थोड़े बहुत कार्य के बाबत ग़लतफ़हमियों का होना। खादी की ओर जो लोग थोड़ा-बहुत आकृष्ट भी होते हैं वे इनके वशीभूत होकर और भी इससे दूर हटने लगे हैं। इतना ही नहीं, समय समय पर उनके वाक्यों, आलोचनाओं और कार्यों में विरोध का आभास भी दिखाई पड़ने लगता है। एक दर्जे तक इससे लाभ है। खादी-कार्यकर्ता अपने दोषों से विज्ञ हो जाता है और अगर उसमें थोड़ी-सी भी सद्भावना है तो उन्हें दूर कर सकता है। पर इससे हानियाँ भी कम नहीं।

अच्छा तो वे ग़लतफ़हमियाँ क्या हैं?

सबसे पहली ग़लतफ़हमी यह है कि खादी का कार्य पूँजीपतियों के हाथ में है, अर्थात् चर्खा-संघ स्वयं पूँजीपति बन बैठा है। वह खादी में दूसरे व्यापारियों को सहन नहीं कर सकता, मज़दूरों की जान निकाल लेता है, नफ़े में उनका कोई हिस्सा नहीं रहता, गर्भवती स्त्रियों के वास्ते कोई सुविधा नहीं है, अर्थात् उन्हें अपनी असहाय अवस्था में आर्थिक सहायता नहीं मिलती आदि। इन्हीं बातों के कारण लोग ख़ासकर संयुक्त-प्रान्त में संघ को 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' कहने लगे हैं।

यह एक आम शिकायत है। पर इसमें दुर्भाग्य से शुरू से आख़िर तक वस्तुस्थिति का अज्ञान भरा हुआ है। चर्खा-संघ के पास कुछ पूँजी अवश्य है, और अगर इसी से वह पूँजीपति कहा जाता है तो बात दूसरी है।

वास्तव में देखना यह है कि खादी-कार्य किसके हित में है। क्या इससे काम करनेवालों को उनकी मेहनत के परिणाम से वंचित रखकर किसी ऐसे एक वर्ग का पुष्टीकरण होता है जो बेकार है? क्या इससे कुछ अधिक लाभ के लिए स्थान है जो पूँजीवाद की तह में है और जिसके परिणाम-स्वरूप निरुद्यमी लोगों को भोगविलास करने की सामग्री मिलती है? इस दृष्टि से अगर देखा जाय तो खादी में अधिक लाभ के लिए ज़रा भी स्थान नहीं। न इसमें ऐसे किसी वर्ग का ही पालन होता है जो निकम्मा है। संक्षेप में थोड़े-से व्यक्तियों के लाभ के लिए इसमें बहुतों के स्वार्थों का होम किया जाता है। जहाँ तक चर्खा-संघ का ताल्लुक़ है, इससे पूँजी का औसत व्याज भी नहीं मिलता।

खादी में पूरा समय देकर कार्य करनेवाले व्यक्तियों की औसत आमदनी इस प्रकार है—

खादी-कार्यकर्ता को २५) प्रतिमाह; जुलाहे को १३) से १५) प्रतिमाह; धोबी को १२) से १५) प्रतिमाह; छीपी को २५) से ३०) प्रतिमाह; कुन्दीगर को १०) से १३) प्रतिमाह।

कताई का काम सहायक धन्धों में से है। फ़ुर्सत के समय में ही कत्तिया कातती है। इससे उसकी मासिक आमदनी १।) या २) है। सहायक धन्धों में इससे अधिक आमदनी पड़नी असम्भव है। अगर सम्भव होता तो खादी-कार्यकर्ता को इससे अधिक सुख और किसी बात से नहीं होता।

वास्तव में दूसरा और कोई भी सहायक धन्धा सम्भव नहीं है। इसी से तो कत्तियाँ कातती हैं। हमारे पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि इतनी कम मज़दूरी पर भी भारतवर्ष में करोड़ों बहनें कातने को तैयार हैं। पर हमारे दुर्भाग्य से वे कात नहीं सकतीं। क्योंकि उनका सूत लेनेवाला कोई नहीं। अगर आज खादी की खपत बढ़ जाय तो बड़ी आसानी से सूत की आय बढ़ाई जा सकती है। इतनी कम मज़दूरी पर भी ग़रीब स्त्रियाँ कातने को तैयार हैं। वह इस बात का प्रमाण है कि 'चर्खा डूबते का सहारा है'। देश में वास्तव में भारी दुर्भिक्ष पड़ा हुआ है और चर्खा लोगों को भूखों मरने से बचाता है।

मिलों और कारख़ानों की तरह अपने घर को छोड़कर दिन भर स्त्रियाँ एक स्थान पर एकत्र होकर कार्य नहीं करतीं। वे तो अपनी फ़ुर्सत के समय कातती हैं। जब समय नहीं मिलता तब नहीं भी काततीं। कताई एक सहायक धन्धा हो सकता है। उसे जो एक-मात्र धन्धा समझते हैं वे भूल करते हैं। कभी कभी यह एक-मात्र धन्धा रह जाता है, यह सत्य है। पर इस वजह से कताई प्रधान धन्धा नहीं माना जा सकता।

दूसरा कारण इन लोगों की मज़दूरी न बढ़ा सकने का या कार्यकर्ताओं से अधिक काम लेने का अथवा गर्भवती स्त्रियों के लिए कोई सुविधा न करने का यह है कि खादी में इतना सामर्थ्य ही नहीं है कि आज वह इतना कर सके। खादी के सामने तो आज जैसे-तैसे जीते रह सकने का प्रश्न है। खादी मिल के कपड़े से महँगी है, मोटी है और कुछ दर्जे तक कमज़ोर भी है।

इन्सान तो आख़ीर इन्सान ही है? पहले वह अपनी जेब को देखता है, फिर किसी दूसरी बात पर ग़ौर करता है। जब उसकी देशभक्ति ज़ोर मारती है तब वह स्वदेशी ख़रीदने को तैयार हो सकता है। पर इसके साथ ही वह मोटा, जल्दी फटनेवाला व गंदा हो जानेवाला और महँगा कपड़ा भी पहने, यह कैसे हो सकता है? यह कठिन है कि वह महात्मा हो जाय। इसलिए खादी-कार्यकर्ता जहाँ थोड़ी भी बचत कर सकता है वह करता है और वह खादी सस्ती करने

की कोशिश करता है। सौभाग्य से वह उत्तरोत्तर ऐसा करता भी गया। खादी को सस्ता करने की धुन में उसे सब ओर बचत ही करनी पड़ती है। इससे अगर उसे अधिक काम करना पड़ता है तो वह इसकी परवा नहीं करता। इससे वह कत्तियों और जुलाहों की मज़दूरी नहीं बढ़ा सकता तो दुखी नहीं होता।

यह सत्य है खादी में ख़र्च हुआ सब पैसा कत्तियों, जुलाहों आदि के पास नहीं जाता और बहुत-सा रेल, तार, डाक, बिजली की रोशनी, मकान-किराया आदि में भी चला जाता है। यह सत्य है और हमें इसके लिए दुख है। पर हम करें क्या?

दुर्भाग्य से आज गाँववाले खादी पहनने को तैयार नहीं हैं। अगर आज हम ख़र्च के भय से शहरों में खादी लाना बन्द कर दें तो हमें अपना प्रायः सारा काम ही बन्द कर देना होगा। क्योंकि हमारी खादी बिकनी ही बन्द हो जायगी। तब हम कत्तियों को प्रतिवर्ष के कई लाख रुपये भी नहीं दे सकेंगे जो आज दे रहे हैं। इसलिए विवश होकर खादी को एक-मात्र सम्भव रीति से जिन्दा रखने के लिए हम मजबूर होते हैं। अपनी खादी को शहरों में लेकर आते हैं।

फिर रेल और तार पर ख़र्च ही कितना होता है? कठिनाई से ३ या ४ प्रतिशत! क्या यह बहुत अधिक है? अगर १०० रुपये की खादी बेचने के लिए हम ४ रुपया ख़र्च कर भी देते हैं तो कौन-सा अधिक है?

शहरों में खादी बेचने के सारे ख़र्चों के लिए बीजक दाम पर ८·२ प्रतिशत अधिक दाम हमने १९३३,३४ में लिये। इससे डाक, तार, रेल, बिजली, किराया, सामान, बड़े बड़े वेतन सब ही कुछ आ जाते हैं। हम पूछते हैं, ८·२ प्रतिशत लेकर शहरों में खादी बेचनी बुरी है जब कि देहातों में कोई भी उपाय उसे बेचने का नहीं। देहातों में खादी-प्रचार बढ़ाने की हम योजना कर रहे हैं और हमें आशा है, एक दिन उसमें यथोचित सफलता मिलेगी भी। पर जब तक यह सम्भव नहीं तब तक शहरों में खादी बेचना एकदम आवश्यक है।

एक दूसरी आपत्ति की जाती है कि खादी में दूसरे सौदागरों को अवसर नहीं दिया जाता, अर्थात् प्रमाणपत्र नहीं दिये जाते हैं और एक प्रकार से चर्खा-संघ अपना एकाधिकार चाहता है। इस विषय में हम अपने प्रान्तों की बाबत कह सकते हैं कि यह भ्रम बिलकुल निराधार है। इस विषय में कुछ बन्धन अवश्य हैं, पर वे बिलकुल दूसरी वजह से। चर्खा-संघ के अपने भंडार बनारस, इलाहाबाद, लखनऊ, फ़र्रुख़ाबाद, बलिया, आगरा, मेरठ में हैं या थे। पर इन सब ही जगहों में दूसरों को भी भंडार खोलने की अनुमति दी गई और है।

बनारस में भारतेन्दु-खादी-भंडार को प्रमाणपत्र दिया गया था। पर वह चल नहीं सका। इलाहाबाद में दूसरों को प्रमाणपत्र दिये गये, पर वे भी असफल रहे। फ़र्रुख़ाबाद में हमने चार प्रमाणपत्र दिये और अपना भंडार हटा लिया। प्रमाणित भंडारों में से दो भंडार न चल सके। दिल्ली में शुद्ध खादी-भंडार और लखनऊ में स्वराज्य-आश्रम-खादी-भंडार को प्रमाणपत्र दिया गया है। बलिया में शुद्ध खादी-भंडार को, आगरा में महावीर-खादी-स्टोर को, मेरठ में अनुराग-खादी-भंडार और विद्यार्थी-खादी-भंडार को प्रमाणपत्र दिया गया है। इसके अलावा और दूसरी जगह भी प्रमाणपत्र दिये जाते रहे हैं। गोरखपुर में भी एक दूसरे भाई को प्रमाणपत्र दिया जा रहा था।

हम यह ज़रूर समझते हैं कि खादी की वर्तमान खपत को देखते हुए बहुत भंडार एक एक स्थान पर नहीं चल सकते, फिर भी हम बाधा नहीं डालते। हम अपने आप ऐसी ग़लती अवश्य नहीं करते हैं। हाल में ही हमें कानपुर का एक भंडार मिल रहा था। हम चाहते तो वहाँ भंडार चला सकते थे। हमारा विश्वास है, हमारा भंडार अपेक्षाकृत अच्छा ही चलता। फिर भी यह देखते हुए कि वहाँ पहले से ही काफ़ी भंडार हैं, हमने वहाँ भंडार नहीं खोला।

इतना ही नहीं, 'चर्खा-संघ' की ओर से प्रमाणित संस्थाओं को खादी-कार्य करने को रुपया तक कम सूद पर क़र्ज़ दिया जाता है। आज भी चर्खा-संघ का ...२३७)॥ रुपया इस तरह उधार दिया हुआ है।

इसके अलावा चर्खा-संघ इनसे माल लेकर बेचता है। हमने अपने ही प्रान्त में १९३२-३३ में ही ५७४२४)॥ की खादी इनसे लेकर बेची और सन् १९३३-३४ में ७४१५२।-) की।

आशा है, इस संक्षिप्त विवरण से खादी की परिस्थिति का ज्ञान लोगों को हो जायगा।

प्रोत्साह

लेखिका, श्रीमती सुन्दरकुमारी

(१)

सजनि! मैं जाती उनके पास।
विकट पथ महा कण्टकाकीर्ण—
उठे प्रलयंकर झंझावात।
करे घन घटा वृष्टि घनघोर,
मचावें हिंसक पशु उत्पात॥
सके क्या रोक मुझे दे त्रास।
सजनि मैं जाती उनके पास॥

(२)

करे हिम कम्पित दशों दिगन्त,
तपे रवि ले शत सूर्य्य प्रचण्ड।
पड़े हों शिला पर्व्वताकार,
करे जग शासन सिन्धु अखण्ड॥
कर सकेंगे क्या मुझे निराश।
सजनि मैं जाती उनके पास॥

(३)

सहूँगी सजनि! कष्ट पर कष्ट,
नष्ट तन हो—न करूँगी आह।
छान डालूँ जग-कन कन धूल,
मथूँ सखि! सागर अगम अथाह॥
न लूँगी आश-रहित उच्छ्वास।
सजनि मैं जाती उनके पास॥

(४)

जहाँ सुख-शान्ति समृद्धि अनन्त,
वसन्त सदा, दुख द्वन्द्व न क्लेश।
जहाँ खो अपनापन अवशेष,
मिले अपनापन अमित अशेष॥
वहीं सखि! उनका सौम्य निवास।
सजनि मैं जाती उनके पास॥

कवि गोविन्द दास झा

लेखक
श्रीयुत नगेन्द्रनाथ गुप्त

कवि गोविन्ददास झा मिथिला से बँगला के कवि कैसे माने जाने लगे थे इस सम्बन्ध में हम श्री नगेन्द्रनाथ गुप्त का एक लेख प्रकाशित कर चुके हैं। इस लेख में विद्वान् लेखक ने उसी प्रश्न पर और भी प्रकाश डाला है।

वम्बर सन् १९३४ की 'सरस्वती' में मैंने मिथिला के कवि गोविन्ददास झा के सम्बन्ध में एक लेख प्रकाशित कराया था। इस लेख के साथ एक सम्पादकीय टिप्पणी प्रकाशित हुई थी जिसमें कहा गया है कि इस कवि की कविताओं का एक संग्रह दरभङ्गा-राज्य-पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष पण्डित मथुराप्रसाद दीक्षित ने सम्पादित और प्रकाशित किया है।

इस पुस्तक की एक प्रति अब मुझे मिल गई है। भूमिका में सम्पादक ने गोविन्ददास पर मेरे कतिपय लेखों और व्याख्यानों का ज़िक्र किया है और उनमें से कुछ अवतरण भी दिये हैं। तुलनात्मक दृष्टि से ये हाल के हैं। कदाचित् पण्डित मथुराप्रसाद दीक्षित को यह पता नहीं है कि गोविन्ददास के मैथिल कवि होने की बात पहले-पहल मैंने ही तीस वर्ष पूर्व कही थी। उस समय मैं विद्यापति ठाकुर की कविताओं का संग्रह और सम्पादन करने में लगा था। इसी सिलसिले में खोज के लिए मुझे मिथिला की यात्रा करनी पड़ी थी और मैं लहरियासराय में दरभङ्गा के स्वर्गीय महाराजाधिराज रामेश्वरसिंह का मेहमान होकर रहा था। अपने कार्य्य में मुझे प्रसिद्ध मैथिल कवि और विद्यापति-साहित्य के विशेषज्ञ स्वर्गीय कवीश्वर चन्द्र झा से बहुमूल्य सहायता मिली थी। यह बात उन्हीं से प्रथम बार मुझे ज्ञात हुई थी कि गोविन्ददास जो बङ्गाल में कविराज गोविन्ददास के नाम से विख्यात हैं और जिनकी कवितायें बङ्गाली वैष्णव कवियों की कविताओं में संग्रहीत हैं, मैथिल थे और उनका नाम गोविन्ददास झा था। और आगे पूछ-ताछ करने पर मुझे ज्ञात हुआ कि गोविन्ददास की कवितायें मैथिली भाषा में लिखी गई थीं। बङ्गाल में वह भाषा लोग को भूल गई थी, इसलिए कवितायें बहुत कुछ बिगड़ कर पढ़ी जाती थीं। परन्तु चन्द्र झा जैसे विद्वानों की सहायता से उनका शुद्ध पाठ प्राप्त किया जा सकता था।

कलकत्ता वापस आने पर इस विषय पर मैंने बङ्गीय साहित्य-परिषद् में कुछ निबन्ध पढ़े। परिषद् के काग़ज़ों में उनका सारांश मिलेगा। उस समय बङ्गाली शिक्षित जनता ने मेरे निष्कर्षों को बिना किसी विरोध या आपत्ति के स्वीकार कर लिया था। जैसा कि मैं ऊपर लिख चुका हूँ, यह तीस वर्ष पहले की बात है। परन्तु किसी को अब इसका स्मरण नहीं रहा और यह तो स्पष्ट ही है कि यह बात गोविन्द-गीतावली के सम्पादक को मालूम नहीं है। कुछ वर्ष हुए इसी विषय पर मैंने दूसरा निबन्ध पढ़ा और वह परिषद्-पत्रिका में पूरा का पूरा प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् मैंने अँगरेज़ी में कलकत्ता की कालेज

समिति में एक निबन्ध पढ़ा और उसे पटना-विश्वविद्यालय के 'व्हीलर सिनेट हाल' में उस विश्वविद्यालय के अध्यापकों और विद्यार्थियों के सम्मुख दोहराया। मेरा वह निबन्ध जुलाई सन् १९३० के माडर्न रिव्यू में लेख के रूप में प्रकाशित हुआ।

इस बार बङ्गाल में विरोध का एक तूफ़ान खड़ा हो गया। बङ्गीय साहित्य-परिषद्-पत्रिका में एक लेख प्रकाशित हुआ है, जिसमें मेरे मत का खण्डन किया गया और इस बात में दृढ़ता दिखाई गई कि गोविन्ददास बङ्गाली थे न कि मैथिल। अन्य स्थलों से भी मेरे ऊपर तीव्र आक्रमण हुए। इन आक्रमणों का मैंने कोई उत्तर नहीं दिया, क्योंकि मैंने जो कहा था वह सत्य था और सत्य दबाया नहीं जा सकता। मेरे विरोधी देशभक्ति के भावों से प्रभावित थे और मेरी उनके साथ सहानुभूति थी। ख़ैर मैं आशा करता हूँ कि मैं उतना ही देशभक्त हूँ जितना कि कोई भी मेरा बङ्गाली देशवासी हो सकता है। परन्तु सत्य समस्त विवादों के ऊपर होता है और उसका कहना व्यर्थ नहीं जाता। सच बात यह है कि वैष्णव-काव्य-युग में बङ्गाल में गोविन्ददास नाम के कवि हुए हैं और यह कहना असम्भव है कि कौन-सी कविता किस गोविन्ददास ने लिखी है। एक निर्बल सम्मति यह है कि मैथिली या व्रज-बोली (जैसा कि यह बङ्गाल में भूल से कहा जाता है) की कवितायें कविराज गोविन्ददास की लिखी हुई थीं। कविराज बङ्गाल में वैद्यों की एक जाति है। यही मेरी भी जाति है। यदि व्यक्तिगत या जातिगत गौरव का ही प्रश्न होता तो सबसे अधिक दिलचस्पी इस बात के घोषित करने में मुझे होती कि गोविन्ददास बङ्गाली थे। परन्तु सत्य को मैं अस्वीकार नहीं कर सकता और साहित्यिक ईमानदारी समस्त जाति और वर्ण के भेदों के ऊपर है। मैंने मैथिली-भाषा सीखी है, परन्तु मेरे समालोचकों को उसका ज्ञान नहीं है। मैंने मैथिली-भाषा में खोज का काम किया है, परन्तु मेरे विरोधियों ने ऐसा नहीं किया है। इसलिए इन समस्त समालोचनाओं से मैं ज़रा भी विचलित नहीं हुआ।

मिथिला से गोविन्द-गीतावली के प्रकाशन का मैं स्वागत करता हूँ। परन्तु बङ्गालियों के प्रति सम्पादक ने भूमिका में जो भाव व्यक्त किये हैं उनसे मैं सहमत नहीं हूँ। मिथिला के लोगों को बङ्गाल का कृतज्ञ होना चाहिए, क्योंकि उसने मिथिला के दो सर्वश्रेष्ठ कवियों—विद्यापति और गोविन्ददास—की कविताओं को सुरक्षित रक्खा। शताब्दियों तक मैथिलों ने अपने इन महान् कवियों का सम्मान नहीं किया और न उनकी कवितायें ही प्रकाशित कीं। स्वयं गोविन्द-गीतावली के सम्पादक ने बङ्गाल के प्रति कृतज्ञता प्रकट की है। व्यक्तिगत रूप से मुझे प्रसन्नता है कि मिथिला के पुत्रों ने अपने कर्तव्य का पालन करना आरम्भ कर दिया है। विद्यापति की जयन्ती मनाई गई है, और उनके नाम पर दरभङ्गा में एक प्रेस का नाम भी रक्खा गया है। एक मैथिली साहित्य-परिषद् की स्थापना हुई है, दरभङ्गा के महाराजाधिराज ने पटना-विश्वविद्यालय में मैथिली-भाषा की उन्नति के लिए धन लगाया है और बनारस-विश्वविद्यालय में भी मैथिली-भाषा की पढ़ाई ऐच्छिक विषयों में सम्मिलित कर ली गई है।

विद्यापति की कविताओं का मेरा संग्रह ही एकमात्र पूर्ण संग्रह है, परन्तु अब यह अप्राप्य है। खोज और संग्रह की जो सुविधायें मुझे प्राप्त थीं अब किसी को नहीं हो सकतीं। मैथिली के विद्वान् उस पुस्तक की मेरी लम्बी और पूर्ण प्रस्तावना के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। मैथिलीभाषा की उन्नति और अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि वह पुस्तक फिर से छपकर प्रकाशित हो।

गोविन्द-गीतावली में गोविन्ददास झा की समस्त कवितायें नहीं हैं। मेरे पास उनका पूर्ण संग्रह है और चन्द्र झा के साथ मुझे उनकी शुद्धता की परीक्षा करने की सुविधा भी प्राप्त थी। अब कवि की वास्तविकता प्रमाणित हो चुकी है। इसलिए मैं गोविन्ददास की कविताओं का पूर्ण संग्रह प्रकाशित कराने का प्रयत्न करूँगा।

प्रेम-संगीत

लेखक, श्रीयुत भगवतीचरण वर्मा

यह तनमयता की बेला है,
यह है सँयोग की रात प्रिये!
अधरों से कह लें आज अधर,
जी भर कर अपनी बात प्रिये!

सुख से सुरभित इन श्वासों में,
कितना मधुमय उच्छ्वास भरा।
इन अलस अधखुली आँखों में,
कितना मादक उल्लास भरा॥

प्राणों का होगा आज मिलन,
कम्पित हैं पुलकित गात प्रिये!
तुम सम्मोहित, मैं विसुध स्वप्न,
यह है सँयोग की रात प्रिये!

है हमें बहाने को आई,
यह रस की एक हिलोर प्रिये!
शाश्वत असीम में चलना है,
निज सीमा के उस ओर प्रिये!

उस ओर—जहाँ उन्मत्त प्रणय,
है लोक-लाज को छोड़ चुका।
उस ओर—जहाँ स्वच्छन्द समय,
सुध-बुध के बन्धन तोड़ चुका॥

यह पल असीम, यह पल अखण्ड,
इस पल का ओर न छोर प्रिये!
तुम चञ्चल गति, मैं हूँ प्रसार,
यह रस की एक हिलोर प्रिये!

तुम आदि-प्रकृति, मैं आदि-पुरुष,
निशि-बेला शून्य अथाह प्रिये!
तुम रतिरत, मैं मनसिज सकाम,
यह अन्धकार है चाह प्रिये!

हम तुम मिलकर के चलो सृजें,
सुख का अपना संसार यहाँ।
क्रीड़ा के शत शत रंगों से,
हो अपना ही अभिसार यहाँ॥

ढँक ले पृथ्वी, ढँक ले अम्बर,
जीवन का मुक्त प्रवाह प्रिये!
तुम अक्षय छवि, मैं अमिट साध,
यह अन्धकार है चाह प्रिये!

प्रतिपल धुँधला पड़ रहा यहाँ,
पर आगत और अतीत प्रिये!
कर रहा विमोहित आज हमें,
निज प्राणों का संगीत प्रिये!

कुछ मान-भरी, कुछ भ्रमित चकित,
करती है अभिलाषा नर्तन।
कर रही विमूर्च्छित है हमको,
मादक तालों की छूम-छनन॥

कल एक विकल कल्पना व्यर्थ,
कल यहाँ चुका है बीत प्रिये!
तुम हो, मैं हूँ, है वर्तमान,
है प्राणों का संगीत प्रिये!

डाक्टर कार्मिंग का बनाया हुआ एक यंत्र जो साँस बन्द हो जाने पर फिर उसे जारी करता है।
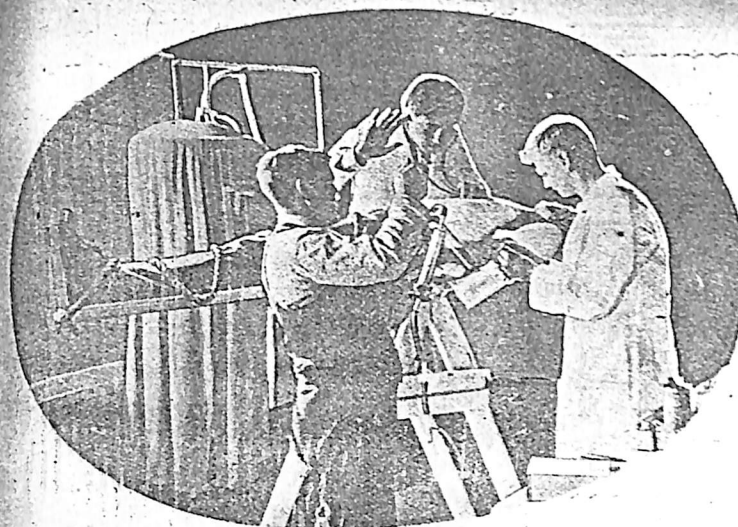
मृतकों को जीवित करने का स्वप्न मनुष्य आदि-काल से देखता आ रहा है। इधर पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने इस ओर नये प्रयत्न आरम्भ किये हैं उससे जान पड़ता है कि मनुष्य के इस स्वप्न के प्रत्यक्ष होने में अब देर नहीं है। इस लेख में वैज्ञानिकों के इन्हीं प्रयत्नों का वर्णन है।

क्या विज्ञान मृतकों में जान फूँक सकता है?

लेखक, श्रीयुत के० एन० गाड गील
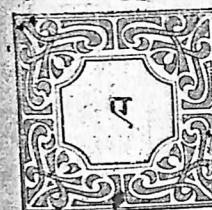
एक स्वच्छ प्रयोगशाला में श्वेत चोगाधारी तीन व्यक्ति एक मेज़ को घेर कर खड़े हैं। मेज़ पर एक स्वच्छ कपड़ा बिछा है। उस पर एक पूर्ण रूप से स्वस्थ कुत्ता लेटा है। कुत्ते के नथुनों पर एक व्यक्ति एक टोपी पहना देता है, दूसरा नाइट्रोजन के एक थैले का मुँह खोलता है। कुत्ते को आक्सीजन मिलना बन्द हो जाती है और बदले में उसे ऐसी गैस मिलती है जिससे जीवित रहना सम्भव नहीं है। क्षण भर के बाद कुत्ता हिलना-डुलना बन्द कर देता है, उसकी मांस-पेशियाँ तन जाती हैं। कुत्ता मर जाता है।

तब ये श्वेत चोगाधारी व्यक्ति रहस्यमयी सुइयों और बन्द शीशियों की देख-भाल शुरू करते हैं। चार मिनट बीत जाते हैं। एक अपनी घड़ी की ओर देखता है। दूसरा एक शीशी से सुई में दवा भरता है और उसे कुत्ते की छाती में भोंक देता है, यहाँ तक कि नोक दिल में जा पहुँचती है।

पानी में डूबने से जिनकी साँस बन्द हो जाती है उन्हें इस यंत्र पर झुलाया जाता है इससे उनकी साँस फिर चलने लगती है।

कुत्ते के नथुनों पर आक्सीजन की टोपी पहना दी जाती है।

कुत्ते के दिल पर 'स्टेथासकोप' यंत्र रख दिया जाता है। इस यंत्र का प्रयोग करनेवाला व्यक्ति आश्चर्य से चिल्ला उठता है। दिल में अब फिर धड़कन आरम्भ हो जाती है। कुत्ता जो अभी चार मिनट तक मरा पड़ा था, फिर जीवित हो उठता है। एक या दो दिन में वह खाना खायगा। एक या दो सप्ताह में वह चलने, दौड़ने और आपकी आज्ञाओं का पालन करने लगेगा।

मृतकों को जीवित करने का यह स्वप्न मनुष्य शताब्दियों से देखता आ रहा है। अब इसमें वह सफल हुआ है। यह सच है कि अभी वह सिर्फ़ एक कुत्ते को मारकर जिला सका है। परन्तु केलीफ़ोर्निया के डाक्टर राबर्ट ई० कार्निश इस प्रकार मृत्यु को परास्त करने में सफल हुए हैं। उनका कहना है कि यदि इसी प्रकार दम घुट जाने से किसी मनुष्य के प्राण निकल जायँ तो वह भी जीवित किया जा सकता है। विद्युद्धारा के आघात से मरनेवाले कतिपय जानवरों और मनुष्यों की इस प्रक्रिया से जान बचाई भी गई है।

रूस के एक डाक्टर 'सर्जे वर्क हेंको' ने एक नक़ली फेफड़े का आविष्कार किया है। इस नक़ली फेफड़े की सहायता से वहाँ लोगों ने किसी हद तक एक ऐसे आदमी में चेतना उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त की है जो अपने गले में फाँसी लगाकर मर गया था। विद्वान् डाक्टरों ने जब यह घोषित किया कि इस आदमी की मृत्यु तीन घंटे पूर्व हो चुकी है तब लोग उस आत्मघाती की लाश प्रयोगशाला में उठा ले गये। वहाँ सर्जन ने उसकी एक नाड़ी और एक धमनी काट दी और उनमें उसने नक़ली फेफड़ों से ट्यूब लगा दिये। इसके बाद बिजली का श्वास-चालक यंत्र लगाया गया। इससे नाड़ी का काला रक्त उस नक़ली फेफड़े में खिंच आया। यहाँ उस रक्त की सफ़ाई हुई और उसमें आक्सीजन मिलाया गया। यंत्र फिर चलाया गया, जिससे शुद्ध रक्त ने मृतक की धमनियों में प्रवेश किया। धीरे धीरे जब समस्त शरीर में वह जीवित रक्त पहुँच गया तब उस मनुष्य ने आँखें खोल दीं और अपने इर्द-गिर्द खड़े डाक्टरों को उसने देखा। परन्तु दो मिनट के पश्चात् जीवन की यह झलक लुप्त हो गई।

एक रूसी डाक्टर का बनाया हुआ कृत्रिम दिल। मरे हुए कुत्ते के सिर से इसे जोड़ कर कुत्ते में जान पैदा की गई थी। १—धौंकनी, २ - फेफड़ा, ३ — रक्त का हौज़, ४—नली।

मनुष्य के शरीर के सेल जो शरीर से अलग हो जाने पर भी एक साल तक जीवित और बढ़ते रहे।

अभी हाल की बात है। बाल्टीमोर के यूनिवर्सिटी-अस्पताल में एक स्त्री का आपरेशन हो रहा था। एक परिचर्या करनेवाले ने एकाएक चिल्लाकर कहा कि रोगी की नब्ज़ का पता नहीं चलता। सर्जन पेट के ऊपर छाती की बाहरी पसली के पास चीरा लगा चुका था। यह सुनते ही उसने उसी चीरे से अपना हाथ अन्दर डाल दिया और उसने उस रोगिणी के हृदय को पकड़ कर दबाया। जैसे दिल सिकुड़ता और फैलता है, वैसे ही वह रह-रहकर उसे दबाता और छोड़ता रहा। इस बीच में स्त्री के शरीर से रक्त का बहना भी जारी रहा। अन्त में दिल अपने आप धुक धुक करके चलने लगा। आपरेशन में सफलता प्राप्त हुई और वह स्त्री अच्छी हो गई।

जेनेवा और स्वीज़लेंड में पानी में डूबे हुए और बिजली से मरे हुए मनुष्यों के मृतक शरीरों पर वैज्ञानिक लोग बराबर प्रयोग कर रहे हैं। लाशों में जीवन का कोई चिह्न नहीं होता और न नब्ज़ का ही कोई पता चलता है, तो भी प्रयोगकर्ता हृदय पर १० या १५ मिनट तक एक विशेष ढङ्ग से मालिश करता है। बहुत-सी ऐसी घटनाओं में देखा गया है कि दिल में फिर से गति पैदा हो गई है और मृतक जी उठा है और अच्छा हो गया है। फ़्रांस के एक डाक्टर ने, यद्यपि वह मरे को जिला नहीं सका, एक चमत्कार कर दिखाया है। एक बच्चे को मरे चौबीस घंटे होगये थे। उस डाक्टर ने उसकी छाती पर हलके हलके मालिश शुरू की। थोड़ी देर के बाद बच्चे का दिल अपने आप चलने लगा। पर बच्चा जी नहीं सका। जापान में भी इस प्रकार के बहुत-से सफल प्रयोग हुए हैं।

परन्तु मृतक मनुष्य को वास्तव में जीवित करने में अभी कोई सफल नहीं हुआ है। कुत्तों पर प्रयोग कर चुकने के बाद डाक्टर कार्निश अब यह प्रयोग मनुष्यों पर भी करना चाहते हैं।

डाक्टर कार्निश मरे हुए कुत्ते में जान पैदा कर रहे हैं। मृत्यु के चार मिनट बाद यह कुत्ता फिर जी उठा था।

अमरीका में एक खूनी को फाँसी की सजा मिली है और उसका प्राण ज़हरीली गैस के द्वारा लिया जायगा। डाक्टर कार्निश सरकार से उस आदमी को पुनर्जीवित करने की आज्ञा माँग रहे हैं। यदि उन्हें आज्ञा मिल गई तो उस आदमी पर जब सरकारी डाक्टर उसे मृतक घोषित कर देंगे, वे प्रयोग करेंगे। वे उस मृतक के शरीर को एक तख्ते से बाँध देंगे और उसके अङ्गों पर बिजली से गर्म होनेवाली गद्दियाँ रक्खेंगे। ज़हर का प्रभाव मिटाने के लिए सुई-द्वारा उसके शरीर में वे 'मिथिलीन ब्ल्यू' नामक ओषधि प्रविष्ट करेंगे। इसके बाद उसके फेफड़ों में एक यंत्र-द्वारा आक्सीजन भरेंगे और रक्तसंचालन के लिए तख्ते को धीरे धीरे झुलाएँगे।

अन्त में सबसे बड़ी नाड़ी में प्राणदायिनी ओषधि प्रविष्ट करायेंगे। इसमें मनुष्य का जीवित रक्त और दो-एक अन्य ओषधियाँ रहेंगी। उनका कहना है कि इस प्रयोग के बाद ही हृदय अपने आप धड़कने लगेगा और नाड़ी भी चलने लगेगी। डाक्टर कार्निश का यह दृढ़ निश्चय है कि इस प्रयोग से मृतक मनुष्य जी उठेगा।

कुछ डाक्टरों का कहना है कि इस प्रकार जो

मनुष्य ज़िन्दा किये जायँगे उनका दिमाग़ बेकाम हो हो जायगा, क्योंकि प्राण निकलने के पश्चात् दिमाग़ सबसे पहले नष्ट होता है। एक अमरीकन डाक्टर का तो यहाँ तक कहना है कि जैसे ही प्राण निकलते हैं, वैसे ही दिमाग़ में बिगाड़ उत्पन्न हो जाता है। एक फ़्रेंच का कहना है कि दिमाग़ के बिगड़ने में अधिक से अधिक २० मिनट लगते हैं। कुछ वैज्ञानिकों का कहना है कि इस प्रकार जो मनुष्य जीवित किये जायँगे उनमें कोई न कोई ऐब ज़रूर रह जायगा, मुमकिन है, वे अन्धे या बहरे हो जायँ या उन्हें लकवा मार जाय। परन्तु डाक्टर कार्निश इनसे सहमत नहीं हैं। जिन कुत्तों पर उन्होंने प्रयोग किया है उनमें उन्होंने ऐसा कोई ऐब नहीं देखा।

डाक्टर कार्निश के इन प्रयोगों का सूत्रपात वास्तव में १८५५ ईसवी में लंदन के डाक्टर टामस एलीसन ने किया था। वे सिर्फ़ एक विशेष प्रकार के रोग में जिसमें दिल की धड़कन निर्बल पड़ जाती है और नब्ज़ अनियमित हो जाती है तथा त्वचा बादामी रङ्ग की हो जाती है, दिलचस्पी रखते थे। उन्होंने यह मालूम किया कि यह रोग एक गिल्टी के जो गुर्दों के ऊपर होती है, काम बन्द कर देने से होता है। इस गिल्टी के रस का उन्होंने रक्त और हृदय पर आश्चर्यजनक प्रभाव देखा था। अन्त में वैज्ञानिक लोग विटामिन की भाँति इस गिल्टी के रस को पृथक् करने में सफल हुए।

एक बार एक अस्पताल में एक बुड्ढे आदमी का आपरेशन हुआ। इत्तिफ़ाक़ से उसके हृदय की गति रुक गई। पर जब डाक्टरों ने उसके हृदय में इस गिल्टी का रस डाला तब उसका आश्चर्यजनक प्रभाव देखा गया। बुड्ढा सजीव हो उठा। तब से यह प्रयोग साधारण हो गया है और सैकड़ों आदमी मौत से बचाये गये हैं। इस दवा का नाम 'एड्रिनेलिन' है।

एक बार डाकुओं के एक दल पर पुलिस ने गोली चलाई। एक डाकू घायल हो गया और जान पड़ा उसके बिलकुल जीवन नहीं है। वह अस्पताल लाया गया और उसे 'एड्रिनेलिन' का एक 'डोज़' दिया गया। इसके फलस्वरूप वह काफ़ी देर तक जीवित और होश में रहा और पुलिस को उसने अपने साथियों के नाम बताये।

परन्तु किसी भी अवस्था में, जहाँ इस प्रकार मनुष्यों को पुनर्जीवित किया गया है, निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि वे वास्तव में मर चुके थे। शरीर कब मरता है, इसका बताना ज़रा कठिन है भी। परन्तु यह निश्चित है कि एकाएक मौत किसी की नहीं होती।

गैस से मरे मनुष्य को इस प्रकार बाँध कर उसे ऊपर नीचे झुलाते हैं।

कुछ लोग अनुमान करते हैं कि जैसे बिजली की बत्ती एकाएक बुझ जाती है, वैसे ही मनुष्य के जीवन का भी एकाएक अन्त हो जाता है। परन्तु यह धारणा ग़लत है। मौत साम्राज्य-विच्छेद की तरह धीरे-धीरे और क्रमशः होती है। राजधानियों—मस्तिष्क और हृदय—का विनाश पहले होता है।

शरीर के अन्यत्र रहनेवाले सेल जिनकी उपमा उपनिवेशों से दी जा सकती है, तुरन्त ही नहीं मर जाते। वे क्रमशः नष्ट होते हैं। और कब? जब राजधानी से उन्हें आक्सीजन-रूपी रसद नहीं पहुँचती और नाशक रासायनिक परिवर्तनों और कीटाणुओं से युद्ध करने के लिए रक्त की ताज़ी सेनायें उनकी सहायता को नहीं पहुँचतीं।

यदि भोजन मिलता रहे तो ये सेल जीवित ही नहीं रहते, बढ़ते भी रहते हैं। अब से बीस वर्ष पूर्व 'राकफ़ेलर-इन्स्टीट्यूट' के वैज्ञानिकों ने एक मुर्गी के बच्चे के हृदय के जीवित रेशों को एक ओषधि में रक्खा था। वे रेशे आज भी जीवित हैं। इँग्लेंड में एक मेंढक की रीढ़ की हड्डी के रेशों को एक प्रयोग-कर्ता ने एक बार एक ऐसी ही ओषधि में रक्खा। वे रेशे ५८ घंटे जीवित रहे और सैकड़ों गुना बढ़े भी। हाल में अँगरेज़ वैज्ञानिकों ने यह पता लगाया है कि जानवरों के चमड़े के जीवित सेल अनुकूल स्थिति में रक्खे जायँ तो ऊन और बाल भी उग सकते हैं।

इसलिए यह निश्चय करना कठिन है कि मनुष्य के शरीर में कब जीवन का अन्त हो जाता है और मृत्यु का आरम्भ होता है। हृदय का रुक जाना और श्वास का बन्द हो जाना वास्तविक प्रमाण नहीं हैं, यद्यपि यह सत्य है कि ये मौत के लक्षण हैं।

लंदन की एक घटना से प्रकट होता है कि कुछ बीमारियों का आक्रमण मौत-सा ही प्रतीत होता है और बड़े बड़े डाक्टर भी मृतक और जीवित शरीर की पहचान नहीं कर पाते। एक बाग़ में एक लड़का मरा पाया गया। लोग उसे शीघ्रतापूर्वक अस्पताल में ले गये। डाक्टरों ने मौत का सार्टिफ़िकेट दे दिया और लड़के का शरीर क़ब्रगाह में ले जाया गया। कुछ देर के बाद लड़के की मा वहाँ पहुँची। जब लोगों ने कहा कि लड़का मर गया है तब वह बहुत बिगड़ी और उसने उन्हें उसकी मौत के तीन वैसे ही सार्टिफ़िकेट दिखलाये। अन्त में लड़का होश में आया और अपनी मा के साथ पैदल घर गया।

पूर्ण स्वस्थ लोग भी मौत का प्रदर्शन करते देखे गये हैं। लाहौर की एक प्रदर्शिनी में एक साधु समाधिस्थ हुआ था। दर्शकों को निश्चय हो गया था कि वह मर गया है। वह एक थैले में बाँधकर एक संदूक़ में बन्द करके सात फ़ुट नीचे ज़मीन में डाल दिया गया था। चालीस दिन तक उसकी समाधि पर पहरा रहा। उसके बाद वह साधु निकाला गया। उसकी आँखें पानी से तर की गईं और मुँह धोया गया। कुछ क्षण के बाद वह उठ कर बैठ गया और भोजन माँगने लगा।

आधुनिक युग में मृतक को जीवित करने के प्रयत्न को लोग असम्भव मानते हैं। बहुत-से वैज्ञानिक डाक्टर कार्निश की सफलता को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। फिर उनके मार्ग में कितनी ही क़ानूनी और नैतिक अड़चनें हैं। तो भी उनके प्रयोगों ने मृत्यु के रहस्यों पर नवीन प्रकाश डाला है। कौन जाने, आज नहीं तो कल विज्ञान अपने प्रयत्न में सफल हो और वह मुर्दों में जान फूँक दे।

('पपुलर साइंस' के एक लेख के आधार पर)

ऋग्वेद का धर्म और उसका रहस्य

लेखक—श्रीयुत चक्रधर 'हंस' शास्त्री, एम० ए०

ऋग्वेद के रचना-काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है तथापि यह सब स्वीकार करते हैं कि यह हिन्दू-सभ्यता का प्राचीनतम स्मृति-चिह्न है और इस समय भारतवर्ष में जितने भी धार्मिक विचार मिलते हैं उन सबका उद्गमस्थान ऋग्वेद ही है। इस दृष्टि से ऋग्वेद का अध्ययन आवश्यक है। पर जिनके पास इतना समय नहीं है वे इस लेख से उसके सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

आस्तिक हिन्दुओं का दृढ़ विश्वास है कि उनकी सभ्यता प्राचीन-
न है और एक समय उसका समस्त
श्व में अखण्ड राज्य था। इस
श्वास के समर्थन के लिए वे अपने
ऋग्वेदादि धार्मिक ग्रन्थों का प्रमाण
ते हैं। उनके सौभाग्य से भारतीय
पुरातत्त्व-विभाग की ओर से पंजाब
के मॉन्टगूमरी-ज़िले के अन्तर्गत हरप्पा
में और सिन्ध के लरकाना-ज़िले के अन्तर्गत महेंजोदारो में जो खुदाई हुई है और उस खुदाई से जो प्राचीन वस्तुएँ मिली हैं, उनसे हिन्दू-सभ्यता का समय लगभग पाँच हज़ार वर्ष प्राचीन प्रमाणित होता है। भारतीय पुरातत्त्व-विभाग के भूत-पूर्व डाइरेक्टर जनरल सर जान मार्शल ने इँग्लेंड के 'इलस्ट्रेटेड लण्डन न्यूज़' नामक साप्ताहिक पत्र में उपर्युक्त दोनों स्थानों से निकली हुई प्राचीन वस्तुओं के आधार पर एक लेख लिखा था। उसका शीर्षक था—"चिरकाल-विस्मृत सभ्यता पर प्रथम प्रकाश—भीतर के अज्ञात पूर्व-ऐतिहासिक भूत के नूतन आविष्कार"। श्री मार्शल महोदय ने लाहौर के 'सिविल और मिलिटरी गज़ट' में एक और लेख लिखा था, जिसमें उन्होंने स्वीकार किया है कि "हिन्दू लोग अपनी अति प्राचीन सभ्यता पर सदैव सच्चा ही अभिमान करते रहे हैं। उनका विश्वास है कि उनकी सभ्यता से एशिया की कोई भी दूसरी सभ्यता अधिक प्राचीन नहीं। वे आशा करते हैं कि पुरातत्त्व-शास्त्र उनके विश्वास का समर्थन करने के लिए किसी निश्चित स्मरणीय साक्ष्य का आविष्कार करेगा। उनकी यह आशा अब पूरी हो गई है।...... अब इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि ये पञ्जाब और सिन्ध की प्राचीन वस्तुएँ मेसोपोटेमिया की पुरानी सुमेरियन वस्तुओं से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती हैं और लगभग उन्हीं के समकालीन हैं। प्राचीन सुमेरियन वस्तुओं का काल तीन या चार हज़ार वर्ष ईसा-पूर्व है।"

परन्तु परिताप का विषय है कि श्री ऑर्थर एन्थनी मेकडालन और डाक्टर कीथ आदि पाश्चात्य संस्कृतज्ञों ने ऋग्वेद के निर्माण-काल को अथवा हिन्दू-सभ्यता को १,३०० वर्ष ईसा-पूर्व से अधिक प्राचीन नहीं माना। श्री मेकडानल लिखते हैं—"ऋग्वेद के प्रारम्भिक काल की तिथि को लगभग १,३०० वर्ष ईसा-पूर्व मानकर हमें सन्तुष्ट हो जाना चाहिए। (प्रोफ़ेसर ह्यूगो विङ्कलर ने) लघु एशिया के अन्तर्गत 'बोग़ज़-कोइ' नामक स्थान में सन् १९०७ में जो आविष्कार किये हैं उनसे मेरी धारणा में तनिक भी परिवर्तन नहीं हुआ। उस विद्वान को यहाँ १,४०० वर्ष ईसा-पूर्व का एक शिलालेख मिला है, जिसमें "......मि-इत्-र......उ-रु व् न...... इन्-दर...... न-स-अ-त्-ति इअ-अ.... ." देवताओं के नाम पाये गये हैं। ये नाम ध्वनि के विचार से वैदिक नाम 'मित्र', 'वरुण', 'इन्द्र' और 'नासत्यौ' के अनुरूप

उस भारतीय ईरानी-काल के हैं जब ईरानी भारतीयों से पृथक् नहीं हुए थे। इस शिलालेख की तिथि और भारतीयों के ईरानियों से जुदा होकर भारत के पश्चिमोत्तर-प्रदेश में जाकर वैदिक मन्त्रों के निर्माण करने के काल में लगभग २०० वर्ष का अन्तर मानना अनिवार्य है (Introduction to Vedic Reader)।

इस मत का अब सर्वथा खण्डन हो चुका है। इस खण्डन का आधार यह है कि मेसोपोटेमिया के उक्त शिलालेख के शब्दों का अक्षरविन्यास (Spellings) इस बात को प्रमाणित करता है कि उनका मौलिक आधार ऋग्वेद है। अतएव यह मानना अनिवार्य है कि ऋग्वेद और उसकी सभ्यता १,४०० वर्ष ईसा-पूर्व से बहुत पहले भारत में फैल चुकी थी, जिसका प्रभाव उस समय लघु एशिया पर पड़ा। प्रोफ़ेसर जेकोबी का मत है कि भारतीय और ईरानी ४,५०० वर्ष ईसा-पूर्व एक दूसरे से पृथक् हुए। लोकमान्य तिलक आदि भारतीय संस्कृतज्ञ ऋग्वेद के निर्माण-काल को नक्षत्र-विद्या के आधार पर तीन हज़ार या छः हज़ार वर्ष ईसा-पूर्व मानते हैं। चाहे ऋग्वेद का निर्माण-काल विवाद-ग्रस्त हो, किन्तु इसमें सब संस्कृतज्ञ विद्वानों का एक मत है कि ऋग्वैदिक सभ्यता एशिया की अन्य सभ्यताओं से प्राचीनतम है।

मेकडानल साहब ने ऋग्वेद की भाषा के महत्त्व के विषय में लिखा है—"ऋग्वेद निःसन्देह भारत-योरपीय भाषाओं का प्राचीनतम साहित्यिक स्मृति-चिह्न है।" प्राचीन भारतीय इतिहास के प्रोफ़ेसर डाक्टर राधाकुमुद मुकर्जी ने अपने प्राचीनतम भारत के इतिहास के व्याख्यान में, ऋग्वेद की महत्ता को दर्शाते हुए कहा है—"ऋग्वेद अत्यन्त उत्कृष्ट सभ्यता को प्रकट करता है, उसमें एक भी ऐसा दृष्टान्त नहीं जो आर्यों के भारतवर्ष में आगमन के विषय पर प्रकाश डाले। यह आर्यों की सुनिश्चित स्थिति, संस्थापित समाज और पूर्ण विकास-वाली सभ्यता को सूचित करता है। ऋग्वैदिक सभ्यता में सामाजिक जीवन अतीव साधारण और विचार-प्रवाह अति उच्च है।" ऋग्वेद की भाषा पूर्ण विकसित और परिष्कृत है। इसकी भाषा के विकास में अनुदय से उदय के सूचक परिवर्तन की प्रक्रिया तनिक भी प्रतीत नहीं होती। क्रिया का काल, पुरुष और वचन आदि व्याकरण की प्रक्रिया इसकी सुनिश्चित स्थिति को प्रकट करती है। इसी सम्बन्ध में बनसन साहब ने लिखा है—"वैदिक काव्य के प्राचीनतम उदाहरण भी मानव-जाति के आधुनिक इतिहास को सूचित करते हैं।" ऋग्वेद को वैज्ञानिक, ऐतिहासिक और चाहे धार्मिक दृष्टि से देखा जाय, परन्तु वह अपना जोड़ नहीं रखता।" श्री फ्रैंज, बौप आदि पाश्चात्य विद्वानों ने तो ऋग्वेद की सहायता से भाषा-विज्ञान में ऐतिहासिक, तुलनात्मक और ध्वनि के परिवर्तन के विचार से एक क्रान्ति ही उत्पन्न कर दी है। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य-जाति के इतिहास के साथ भाषा के विकास के इतिहास का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि भाषा-विज्ञान में ऋग्वेद की सहायता न ली जाती तो भाषा-विज्ञान का क्षेत्र बहुत संकुचित ही न हो जाता, बल्कि वह अधूरा ही रह जाता। ऋग्वेद के बिना मानव-जाति के प्राचीनतम इतिहास का बहुत बड़ा भाग अज्ञानान्धकार में ही पड़ा रह जाता। ऋग्वेद की सभ्यता सभ्य-संसार की विभिन्न सभ्यताओं की जननी है।

यहाँ पहले 'धर्म'-शब्द का अर्थ जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। अनेक विद्वानों ने 'धर्म'-शब्द को पारिभाषिक शब्दों-द्वारा यन्त्रित करने का यत्न किया है। वस्तुतः धर्म-शब्द विवाद-ग्रस्त है, उसका अर्थ पारिभाषिक शब्दों-द्वारा बताना ठीक नहीं। भारतीय प्राचीन ऋषियों और मुनियों ने जिस प्रकार धर्म का अनुभव किया और उसको जाना, वह इस तरह है—"प्रत्येक व्यक्ति के अपने परिवार, जाति, देश और ईश्वर के प्रति सामुदायिक रूप से कर्तव्य-समूह को धर्म कहते हैं।"

एक आस्तिक हिन्दू का दृढ़ विश्वास है कि जो कुछ वेदों में लिखा है वह 'सत्य' है—"एकं सत्" [१, १६४ ऋग्वेद], अर्थात् (वेदों में) एकमात्र सत्य ज्ञान है, उसका आदि और अन्त नहीं। वह मानव-जाति-मात्र के लिए है, वह देश-विशेष या कालविशेष के लिए नहीं, अतएव वह 'सनातन' है। उसी को वैदिक धर्म या श्रौत धर्म भी कहते हैं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य प्रतीत होता है कि वह

मानव-जाति का असाधारण दिव्य ईश्वरीय ज्ञान पुस्तकाकार में किस प्रकार आया ? ५०० वर्ष ईसा-पूर्व निरुक्तकार यास्क ने इसकी मीमांसा अपने ग्रन्थ निरुक्त में इस प्रकार की है—"साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयो बभूवुस्ते अवरेभ्योऽ साक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुः" इत्यादि। अर्थात् ऋषियों ने धर्म का साक्षात् अनुभव किया। उन ऋषियों ने उस धर्म-ज्ञान का उपदेश उन्हें दिया जिन्हें धर्म का साक्षात् अनुभव नहीं हुआ। जब दूसरों में उस धर्म-ज्ञान के (मौखिक रूप से) ग्रहण करने की शक्ति भी नहीं रही तब वेद और वेदाङ्ग पुस्तकाकार में लिखे गये। 'ऋषि' कौन थे, इसका निर्वचन निरुक्तकार ने इस प्रकार किया है—"ऋषिर्दर्शनात्," जिन्होंने उस वेद ज्ञान का साक्षात् दर्शन किया वे 'ऋषि' कहलाये। ऋषियों को ईश्वरीय दिव्य ज्ञान का साक्षात्कार हुआ, उन्होंने इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए कोई प्रयास नहीं किया। यह अमूल्य ज्ञान की निधि उनके परम पुनीत मानस में स्वयं आविर्भूत हुई। यदि मानव-रूप में उन ऋषियों को ईश्वर कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी, क्योंकि वह दिव्य ज्ञान की विभूति सर्वप्रथम उन्हीं को प्राप्त हुई थी। परमेश्वर ने सृष्टि के प्रारम्भ में अपनी प्रजा को सुमार्ग प्रदर्शन के लिए दिव्य वैदिक ज्ञान का प्रकाश आदित्य, अग्नि, वायु और अङ्गिरस नामक चार ऋषियों के हृदयों में प्रकट किया था। उन्होंने उसे आगे फैलाया। इसी दिव्य ज्ञान के आलोक से गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वसिष्ठ के हृदय विशेष रूप से प्रभावित हुए और उन्होंने ऋग्वेद के दूसरे मण्डल से सातवें मण्डल-पर्यन्त मन्त्रों का साक्षात् अनुभव किया।

ऋग्वेद के धर्म के रहस्य को जानने के लिए सर्वप्रथम हिन्दू-समाज पर समालोचक-दृष्टि डालनी चाहिए। न केवल वर्तमान 'सनातन-धर्म', 'वैदिक-धर्म', किन्तु 'बौद्ध-धर्म', 'जैन-धर्म' आदि समस्त भारतीय विभिन्न धर्मों का मूल-धर्म केवल ऋग्वेद का ही धर्म है। आज-कल भारतवर्ष में जितने भी धर्म प्रचलित हैं वे सब ऋग्वैदिक धर्म की शाखायें और प्रशाखायें हैं। ऋग्वेद के धर्म का इतिहास इस कारण भी ज्ञातव्य है कि कालान्तर के पौराणिक अथवा स्मार्त-धर्म का उद्गमस्थान भी यही ऋग्वैदिक धर्म है।

ऋग्वेद में देवताओं के पूजन और उनकी उपासना में ही धार्मिक रहस्य प्रतीत होता है। इसमें प्रकृति के विभिन्न अचेतन अंश हस्त-पाद-युक्त मानवों की भाँति दिव्य और सजीव कल्पित किये गये हैं। ऋग्वेद के संसार में ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति की विभिन्न शक्तियाँ मानव-शरीर धारण कर देवताओं के रूप में विचरण कर रही हैं। इन ऋग्वैदिक देवताओं में 'अचेतनता, चेतनता और दिव्य शक्तिमत्ता' क्रमशः ये तीन व्यवस्थायें ज्ञात पड़ती हैं। ऋग्वेद के पूजक और उपासक को समस्त प्राकृतिक ब्रह्माण्ड में विभिन्न वस्तुएँ शरीर धारण कर अतिशक्तिशाली देवताओं के रूप में प्रतीत होती हैं। उसका यह दैवत संसार इतना विस्तृत है कि उसमें आकाश, देवलोक और पाताल भी संयुक्त हैं। ऋग्वेद में 'सूर्य', 'अग्नि', 'पृथिवी', 'वायु' और 'जल' आदि ही केवल दैवत विषय नहीं हैं, किन्तु 'शिला', 'स्थाणु' आदि साधारण वस्तुएँ भी शरीरधारी देवताओं के समान उल्लिखित हैं।

ऋग्वेद के प्रारम्भिक सूक्तों में सर्वास्तिवाद (बहु-देव-उपासना) भक्ति का मुख्य रूप रहा है। यहाँ तक कि आगे चलकर 'प्रजापति' और 'अदिति' न केवल प्रकृति के विभिन्न अंशों के नाम ही मिलते हैं, किन्तु प्रकृति भी इन दो नामों से सम्बोधित हुई है। ऋग्वेद के अन्तिम भाग में इस 'सर्वास्तिवाद' के भाव को हटाकर 'एकवाद' का ही स्थापन किया गया है—एक ही विराट् पुरुष की उपासना और पूजा का वर्णन किया गया है। इसी प्रकरण में बताया गया है कि पुरोहित लोग एक ही ईश्वर को 'प्रजापति', 'हिरण्यगर्भ', 'विश्वकर्मा' और 'अदिति' नामों से पुकारते हैं। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के पुरुषसूक्त में आया है—

"पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्"
[१०, ९०, २]

अर्थात्—यह सब कुछ [विराट् ४ मं०] पुरुष ही है, जो कुछ अतीत और भावी विषय हैं, सब कुछ वही

विराट् पुरुष है। इसका अभिप्राय यह है कि भूत, भविष्य और वर्तमान में जो कुछ दृष्टि-गोचर वस्तु है वह सब उसी विराट् पुरुष का प्रतिबिम्ब है। इस विराट् पुरुष के उद्भव के सम्बन्ध में इसी प्रकरण में बताया गया है कि 'असत्' (शून्य) से 'सत्' वही विराट् पुरुष अग्नि और जल के रूप में उत्पन्न हुआ। इसी एक 'सत्' [एकं सत् १,६४] को ऋषियों ने 'अग्नि', 'यम' और 'मातरिश्वन्' कहा है।

ऋग्वेद में केवल देवलोक और मर्त्यलोक पर ही विश्वास नहीं, किन्तु यमलोक पर भी पूर्ण विश्वास है, जहाँ मृत्यु के अनन्तर जीवात्मा का गमन होता है। उसका वर्णन ऋग्वेद में इस प्रकार है—

"इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते"
[१०,१३५,७]

अर्थात्—यह यम का स्थान है, जिसको देवताओं का निवासस्थान भी कहते हैं।

साधारणतया ऋग्वेद में ३३ देवताओं का उल्लेख हुआ है। ये देवता पृथ्वी, देवलोक और आकाश के सम्बन्ध से तीन सम विभागों में विभक्त किये जा सकते हैं। ऋग्वेद के प्रारम्भ की अवस्था में देवता भी मनुष्यों के समान जरा और मरण की अवस्थाओं से युक्त होते थे, किन्तु कुछ काल के उपरान्त जब उन्होंने सूर्य और अग्नि के द्वारा सोम-रस-रूपी अमृत का पान किया तब वे जरा और मरण से रहित अमर हो गये। ऋग्वेद के समस्त देवता एक ही काल में उत्पन्न नहीं हुए। कुछ देवता प्रारम्भ में उत्पन्न हुए और कुछ उन्हीं देवताओं से उत्पन्न हुए। कभी कभी इन मानव-शरीर-धारी देवताओं के अङ्गों का आलंकारिक रूप से वर्णन किया गया है। सूर्य की रश्मियों का वर्णन उसके हस्तों के रूप में और अग्नि की ज्वाला का वर्णन उसके मुख के रूप में किया गया है। अग्नि की स्तुति उसे पुरोहित [अग्निमीले पुरोहितम् १—१,१] और बृहस्पति सम्बोधित करके भी की गई है। एक सुसज्जित योद्धा के रूप में इन्द्र की स्तुति की गई है—

"यो हत्वाहिमरिणात्सप्त सिन्धून्
यो गा उदाजपधा वलस्य।
यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान
सं वृक्समत्सु स जनास इन्द्रः॥" [२-१२,३]

अर्थात्—जिसने सर्प को मार कर सात नदियों को मुक्त किया, जिसने वल को हटाकर गौओं को बाहर निकाला, और जो दो शिलाओं के मध्य में अग्नि पैदा करनेवाला है, अथवा जो युद्धों में विजय का भागी है, ऐ मानवो! वही इन्द्र है। इसी मन्त्र के अगले मन्त्र में आया है—

"यो दासं वर्णमधरं गुहाकः"

अर्थात् जिसने दास वर्ण (जाति) को पराजित कर गुहाओं में छिपने के लिए बाधित किया वही (इन्द्र है। मित्र (सूर्य) का वर्णन भी आलंकारिक रूप से किया गया है—

"मित्रो जनान्यातयति ब्रुवाणो" [३-५९,१]

अर्थात्—सूर्य बुलाता हुआ मनुष्यों को कार्य पर लगता है। यहाँ बुलाने का अभिप्राय जगाने से है।

ऋग्वेद में देवता ही मनुष्य की कामना को पूर्ण करते हैं, इसलिए उनकी उपासना आवश्यक है। देवता यज्ञ-विधान से प्रसन्न होते हैं, क्योंकि यज्ञ के द्वारा उन्हें 'दूध, घी, अन्न और मांस' प्राप्त होते हैं। या तो अग्नि ही उन्हें यह भोजन देवलोक में पहुँचा देती है या देवता अपने अपने रथों में बैठकर यज्ञ में आते हैं और वहाँ कुशासन पर बैठकर अपना अपना भाग लेते हैं। देवताओं के रथ मनुष्यों के रथों की भाँति अधिकतर अश्व से चलाये जाते हैं।

रथ में बैठकर सूर्य के आगमन का वर्णन ऋग्वेद में इस प्रकार है—

"हिरण्ययेन सविता रथेना
देवो याति भुवनानि पश्यन्।" [१,-३५, २]

अर्थात् अपने सुवर्णमय रथ में बैठकर सूर्य देवता समग्र जीवों को देखते हुए आते हैं।

रथ में बैठी हुई उषा का बड़ा मनोरञ्जक वर्णन ऋग्वेद में इस प्रकार है—

"यूयं हि देवीर्ऋतयुग्भिरश्वैः
परिप्रयाथ भुवनानि सद्यः।

प्रबोधयन्ती रुषसः ससन्तं
द्विपाचतुष्पाचरथाय जीवम् ॥" [४-५१, ५]

अर्थात् हे उषा देवी! अश्ववाले रथ में बैठकर तुम ठीक समय पर शीघ्रता से भुवनों के चारों ओर घूमती हो, तुम दो या चार पैरवाले सोते हुए जीवों को जगाकर उन्हें (अपने अपने) कार्य पर लगाती हो। देवता सोम-रस का पान करने के लिए बहुत लालायित रहते थे। इसी कारण ऋग्वेद में सोम की बड़ी महत्ता दर्शाई गई है। इस सोम-रस (अमृत) के पान से देवता जरा-मरण से रहित हो जाते थे। उनके शरीर में सोम-पान से एक नवीन उत्साह पैदा हो जाता था।

सोम-रस का माहात्म्य ऋग्वेद में इस प्रकार है—

अपाम सोममममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्।
किं नूनमस्मान्कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य ॥
[८-४८; ३]

अर्थात् हमने सोम-रस का पान किया है, हम अमर हो गये हैं, हमारे (शरीर में) एक ज्योति आ गई है, हमने देवता प्राप्त कर लिये हैं, हे अमृत (हे सोम)! अब हमारे शत्रु हमारा क्या कर सकते हैं? अब मानव-सुलभ ईर्ष्या (कलुषित विचार) (हमारे लिए) क्या है? इस सोम-रस के पान का प्रभाव ऋग्वेद में वस्तुतः अपरिमित प्रतीत होता है।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, ऋग्वेद के देवता मनुष्यों की भाँति शरीरधारी हैं, किन्तु वे मनुष्यों से बहुत अधिक शक्तिशाली हैं। प्रकृति के नियमों पर उनका पूर्ण आधिपत्य है। वे मनुष्यों के शुभ कार्यों में आनेवाले विघ्न के हरण करनेवाले और उनकी मनःकामना को पूर्ण करनेवाले हैं। उनमें सत्यता और निष्कपटता—ये स्वाभाविक गुण हैं; वे सुशील और धर्मात्मा के रक्षक और हितचिन्तक हैं, किन्तु पापियों को दण्ड देनेवाले भी हैं। समस्त देवताओं में 'शक्तिमत्ता, बुद्धिमत्ता, दिव्यता और करुणा' समान गुण हैं। देवताओं की आज्ञा का कोई भङ्ग नहीं कर सकता। वे ऋग्वैदिक समाज के मङ्गल-कारी और हितचिन्तक हैं। केवल रुद्र ही एक ऐसा देवता है जिसके स्वभाव में कुछ उग्रता है, किन्तु कालान्तर में वही 'रुद्र' शिव (कल्याणकारक) के रूप में आ जाता है।

ऋग्वेद में देवता देवलोक, पृथिवी और आकाश के आधार पर निम्नलिखित तीन भागों में विभक्त किये जा सकते हैं—

१—देवलोक के साथ सम्बन्ध रखनेवाले देवता—
(क) द्यौः—देवलोक।
(ख) वरुण—आकाश का देवता।
(ग) ऋग्वेद में सूर्य की स्तुति निम्नलिखित ५ नामों से की गई है।
(१) मित्र—(वरुण के साथ) उषा और सूर्य के चालक शक्ति का देवता।
(२) सूर्य—प्रकाश का देवता (मित्रावरुण का चक्षु)।
(३) सविता—सूर्य की तीक्ष्ण शक्ति का देवता।
(४) पूषा—ओषधियों में पोषक-शक्ति पैदा करनेवाला देवता।
(५) विष्णु—सूर्य के प्रारम्भिक प्रकाश का देवता।
(घ) अश्विना—प्रातः और सायंकाल के दो तारे।
(ङ) उषा—उषःकाल की देवी।
(च) रात्रि—निशा काल की देवी।

२—आकाश के साथ सम्बन्ध रखनेवाले देवता—
(क) इन्द्र—आर्यों का जातीय देवता तथा जल-वायु का देवता।
(ख) अपांनपात्—अग्नि का विद्युत्-रूप।
(ग) रुद्र—आँधी या तूफ़ान का देवता।
(घ) मरुत्—जल-वायु के देवता, रुद्र के अनुचर।
(ङ) वायु और वात—पवन के देवता।
(च) पर्जन्य—वर्षा, जल और नदियों का देवता।
(छ) आपः—जल की देवियाँ।

३—पृथ्वी के साथ सम्बन्ध रखनेवाले देवता—
(क) पृथिवी—भूमि की देवी।
(ख) अग्नि—आग का देवता, अग्नि के तीन रूप—
(१) देवलोक में सूर्य,
(२) आकाश में विद्युत्, और
(३) पृथ्वी में अग्नि।

(ग) सोम—सोम-रस का देवता जिसकी शक्ति से अमृतत्व आ जाता था।

इनके अतिरिक्त सप्त-सिन्धु, (पंजाब की नदियाँ) सिन्धु, विपाशा (व्यास), सुतुद्री (सतलज, और सरस्वती की भी स्तुति ऋग्वेद में मिलती है। न केवल नदियों और जल की स्तुति, किन्तु पर्वतों की भी देवता मानकर स्तुति की गई है। आरोग्यता प्रदान करनेवाली शक्ति के देवता के रूप में ओषधियों की भी स्तुति की गई है। ग्रावाणः अर्थात् पेषण गुणवाली शिलाओं की 'अजर, अमर और दिव्यशक्तिवाले' विशेषणों-द्वारा स्तुति की गई है। यही नहीं, ऋग्वेद में सोम का पेषण करनेवाली शिलाओं, और धनुष, बाण आदि अचेतन वस्तुओं की भी स्तुति की गई है।

ऋग्वेद में अनेक विशेषण-वाचक शब्दों के भिन्न देवताओं के रूप में स्वतन्त्र नाम-वाचक शब्द मानकर भी स्तुति की गई है, जैसे—नेता (नायक), त्राता (रक्षक), भर्ता (सहायक) इत्यादि। इन शब्दों को स्वतन्त्र देवता मानकर स्तुति की गई है। कई भाव-वाचक शब्दों को भी स्वतन्त्र देवता मानकर स्तुति की गई है। जैसे—मन्यु (क्रोध), अरमति (भक्ति) और श्रद्धा (शुभ भाव), अदिति (स्वाधीनता)। इन भाव-वाचक शब्दों में 'अदिति'-शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। ऋग्वेद में इस शब्द का बहुत प्रयोग हुआ है। यहाँ तक कि इस नाम का देवता समग्र देवताओं की जननी बन गया है।

ऋग्वेद में कुछ देवता सदैव युग्म के रूप में प्राप्त होते हैं—जैसे, 'द्यावा पृथिवी' (स्वर्ग और पृथ्वी) मित्रावरुण [illegible] में मिलते हैं:
समान अधिकार है, समान प्रेम है। दोनों की ही यह परम प्रेयसी बनी हुई है। इसने पुरुषों के झूठे गर्व को चूरकर सबों को प्रमाणित कर दिखाया है कि पुरुष भी ज़ेवर के प्रेमी होते हैं, उनके हृदय में भी ज़ेवर का अनुराग रहता है। अनेक स्त्री-पुरुषों को तो यह इतनी अधिक प्यारी है कि वे तीन-तीन और चार-चार की संख्या में इन्हें पहनकर तृप्त नहीं होते। इसकी चाह उन्हें बनी ही रहती है। शायद इस असीम प्रेम को पाकर ही यह अपने हृदय में सबकी उँगलियाँ फँसाये रखती है।

गन्धर्व अर्थात् आकाश में चलनेवाला देवता सोम के रक्षक के रूप में मिलता है। गार्हस्थ्य-जीवन को सुख-प्रद बनानेवाले देवताओं का उल्लेख, जैसे—वास्तोष्पति (निवासस्थान का स्वामी), 'क्षेत्रस्य पतिः' (खेत का स्वामी) और सीता (हल की रेखा) भी ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं।

ऋग्वेद में राक्षसों का भी वर्णन आया है। कुछ 'असुर' नाम से और कुछ 'दास' अथवा 'दस्यु' नामों से उल्लिखित हैं। सम्भवतः 'दास' और 'दस्यु' आर्यों के शत्रु और भारत के आदि-निवासी थे। इन्द्र के वृत्र और बल नामक राक्षसों के साथ युद्ध का ऋग्वेद में बड़ा विस्तृत वर्णन मिलता है। विश्वरूप और अर्बुद भी ऋग्वेद में इन्द्र के शत्रु-रूप से मिलते हैं। पिशाच और राक्षस मनुष्यों के सहज शत्रु भी ऋग्वेद में मिलते हैं। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में कुछ मन्त्र तन्त्र-विद्या पर भी प्रकाश डालते हैं।

ऋग्वेद के धार्मिक रहस्य को समझने के लिए पहले यह जानना नितान्त आवश्यक है कि ऋग्वेद में प्रकृति के भिन्न भिन्न अंशों को मानवों की भाँति हस्त-पादादि युक्त अति शक्तिशाली देवता मानकर स्तुति और उपासना की गई है। इसके साथ यह भी जानना अत्यन्त आवश्यक है कि ऋग्वेद के कवियों के सामने काव्य के विषय का क्षेत्र अपरिमित और अत्यन्त विस्तृत था। इस कल्पना के क्षेत्र में वे इतनी दूर पहुँच गये कि उन्हें 'इन्द्र को वृषभ' और 'सूर्य को तीव्रगामी अश्व' लिखने में कोई बाधा उप-स्थित न हुई। उन्हें तो अपनी कल्पना के हृदयङ्गम किये हुए चित्रों को [illegible]

इतना लघु आकार और इतना दुर्बल शरीर पाने पर भी इसका व्यक्तित्व असाधारण है, इसकी शक्ति अनुपम है, इसकी आत्मा बड़ी बलवती है। इसी कारण ज़ेवर

है। अनेक यज्ञों में समय और द्रव्य का अधिक व्यय अपेक्षित है, अतः वे सर्वसाधारण के लिए नहीं थे। किन्तु यह न भूल जाना चाहिए कि यज्ञ करने पर भी शुभ फल के प्रदाता देवता ही हैं जो इसके करने से प्रसन्न होते हैं। ऋग्वेद का कर्मकाण्ड का विषय पूर्ण विकसित है, किन्तु परिमित और नियमित है। परन्तु उसका दार्शनिक (ज्ञान-काण्ड-सम्बन्धी) विषय अत्यन्त उच्च और सङ्कोच की सीमा के भीतर नहीं।

ऋग्वेद का धार्मिक स्वरूप जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, बहुत विस्तृत और अपरिमित है। इसमें प्रारम्भिक अवस्था में 'सर्वास्तिवाद'-सिद्धान्त पूर्ण विकसित होकर पराकाष्ठा को पहुँच जाता है। यहाँ तक कि समस्त प्रकृति देवमयी बन गई है। यही नहीं, 'श्रद्धा' और 'मन्यु' जैसे भाववाचक शब्द भी देवता बन गये हैं। एक कवि इसी भाव को लेकर आश्चर्य के आवेश में अग्नि को सम्बोधित करके कहता है—

"अग्नि देव, तुम प्रारम्भ में वरुण थे, किन्तु जब जलने लगे तब सूर्य बन गये। हे शक्ति-सुत! तुम समस्त देवताओं से केन्द्रित हो, तुम पूजक के लिए इन्द्र हो।"

ऋग्वेद के दसवें मण्डल के अन्तिम सूक्तों में सर्वास्तिवाद के प्रश्न की भलीभाँति समालोचना की गई है और फिर 'एकवाद' के ही सिद्धान्त की स्थापना की गई है। इसी प्रकरण में इस बात का भी उल्लेख आया है कि विभिन्न देवता एक ही जगदुत्पादक उस विराट् पुरुष के अनेक रूपमात्र हैं। इसी 'एकवाद' के सिद्धान्त का दसवें मण्डल के प्रथम सूक्त के ६४ वें मन्त्र में इस प्रकार वर्णन किया गया है—

"एक ही देवता का पुरोहितों ने अनेक प्रकार से वर्णन किया है; वे इसे अग्नि, यम और मातरिश्वा कहते हैं।" इसी मन्त्र के अगले मन्त्र में आया है—

"पुरोहितों और कवियों ने एक ही पक्षी (सूर्य) को अनेक बना डाला है।" [१०, ११४]

यही 'एकवाद' का उच्च सिद्धान्त उपनिषदों में अधिक विकास को प्राप्त हुआ है। उपनिषदों में यही एकवाद "एकमेवाद्वितीयम्" (द्विभाव-रहित एक ही ईश्वर है) आदि दृढ़ प्रतिज्ञा का उपपादन कर बैठा। उपनिषदों की यही घोषणा वेदान्त-दर्शन का कलेवर धारण कर अधिक विकसित और पूर्ण हो गई। वह एकवाद वेदान्त में आकर केवल ब्रह्म का रूप धारण करता है, किन्तु उस ब्रह्म के अतिरिक्त समग्र संसार को मिथ्या प्रदर्शित करता है [ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या]। वेदान्त का यह सिद्धान्त इतना प्रचलित हुआ कि आज भी इस सिद्धान्त की दुन्दुभि भारतवर्ष के घर घर में बज रही है। यही नहीं, भारतवर्ष के इस वेदान्त-दर्शन के प्रकाश से समग्र संसार आलोकित हो रहा है। इसी वेदान्त के उच्च और अद्वितीय सिद्धान्त के कारण आज भी सभ्य संसार में भारतवर्ष का मस्तक सर्वोच्च है। और इस विख्यात वेदान्त-सिद्धान्त का आविर्भाव भारत की प्राचीन ज्ञान-निधि ऋग्वेद से ही हुआ है।

प्रस्थान

करनेवाले हैं। उनमें सत्यता और निष्कपटता स्वाभाविक गुण हैं; वे सुशील और धर्मात्मा के रक्षक और हितचिन्तक हैं, किन्तु पापियों को दण्ड देनेवाले भी हैं। समस्त देवताओं में 'शक्तिमत्ता, बुद्धिमत्ता, दिव्यता और करुणा' समान गुण हैं। देवताओं की आज्ञा का कोई भङ्ग नहीं कर सकता। वे ऋग्वैदिक समाज के मङ्गलकारी और हितचिन्तक हैं। केवल रुद्र ही एक ऐसा देवता है जिसके स्वभाव में कुछ उग्रता है, किन्तु कालान्तर में वही 'रुद्र' शिव (कल्याणकारक) के रूप में आ जाता है।

(ङ) वायु और वात—पवन के देवता।

(च) पर्जन्य—वर्षा, जल और नदियों का देवता।

(छ) आपः—जल की देवियाँ।

३—पृथ्वी के साथ सम्बन्ध रखनेवाले देवता—

(क) पृथिवी—भूमि की देवी।

(ख) अग्नि—आग का देवता, अग्नि के तीन रूप—

(१) देवलोक में सूर्य,

(२) आकाश में विद्युत्, और

(३) पृथ्वी में अग्नि।

अँगूठी

लेखिका
श्रीमती चन्द्रावती त्रिपाठी, एम० ए०

हिन्दी में यह पहला निबन्ध है जिसे कुमारी चन्द्रावती त्रिपाठी एम० ए० ने ख़ास तौर से 'सरस्वती' के लिए लिखा है। साहित्य के इस महत्त्वपूर्ण अङ्ग की ओर बहुत कम लेखकों ने ध्यान दिया है और जिन्होंने ध्यान दिया है वे इतने सफल नहीं हुए हैं। आशा है, पाठकों को यह निबन्ध पसन्द आयेगा। कुमारी चन्द्रावती जी के और भी लेख आगे चलकर हम 'सरस्वती' में प्रकाशित करेंगे।

गूठी की गणना ज़ेवरों में होती है। अन्य गहनों की अपेक्षा यह बहुत साधारण और छोटा ज़ेवर माना जाता है। आकार में छोटी होने के कारण बड़े ज़ेवरों के साथ में इसका व्यक्तित्व छिपा रहता है। उनके सामने तो इसके वास्तविक महत्त्व का ज्ञान, इसके अलौकिक गुणों की परख बहुत कम लोगों को होती है। पर इस छोटे-से आकारवाले ज़ेवर ने अपने जीवन-इतिहास से यह सिद्ध कर दिखाया है कि छोटी वस्तुएँ भी अपने असाधारण गुणों के कारण अमरत्व की अधिकारिणी हो जाती हैं।

अँगूठी में जो सबसे विचित्र गुण है वह यह कि यह एक ऐसा ज़ेवर है जो प्रत्येक देश, प्रत्येक जाति और प्रत्येक समाज को अपने प्रेमपाश में बाँधे हुए है। सारा संसार इस पर मुग्ध है। क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, क्या ईसाई, सभी इसके चिरप्रेमी बने हुए हैं। सभी ने अपने समाज में इसे उच्च स्थान और आदर दे रक्खा है। अन्य ज़ेवरों के समान इस पर केवल स्त्रियों की ही छाप नहीं है। इसका प्रचार और व्यवहार केवल स्त्रियों तक ही सीमित नहीं है। स्त्री और पुरुष दोनों का ही इस पर समान अधिकार है, समान प्रेम है। दोनों की ही यह सम प्रेयसी बनी हुई है। इसने पुरुषों के झूठे गर्व को चूरकर संसार को प्रमाणित कर दिखाया है कि पुरुष भी ज़ेवर के प्रेमी होते हैं, उनके हृदय में भी ज़ेवर का अनुराग रहता है। अनेक स्त्री-पुरुषों को तो यह इतनी अधिक प्यारी है कि वे तीन-तीन और चार-चार की संख्या में इन्हें पहनकर तृप्त नहीं होते। इसकी चाह उन्हें बनी ही रहती है। शायद इस असीम प्रेम को पाकर ही यह अपने हृदय में सबकी उँगलियाँ फँसाये रखती है।

इतना लघु आकार और इतना दुर्बल शरीर पाने पर भी इसका व्यक्तित्व असाधारण है, इसकी शक्ति अनुपम है, इसकी आत्मा बड़ी बलवती है। इसी कारण ज़ेवर

के प्रधान शत्रु फ़ैशन का सामना एकमात्र अँगूठी ही दृढ़ता के साथ कर सकी है। इसने अपने प्रबल शत्रु को सफलता के साथ परास्त किया है। गहनों के इतिहास को देखने से पता चलता है कि फ़ैशन के चंगुल में फँसकर अब तक सैकड़ों ज़ेवर अपना स्वरूप, अपना अस्तित्व सदा के लिए खो चुके हैं। कितनों का विकृतरूप हो गया, कितनों का केवल नाम-मात्र अवशेष है और कितनों का नाम-निशान भी मिट गया है। उदाहरणार्थ पुराने ज़ेवर पचलड़ी चंपाकली, कंठा आदि के स्थान पर आज नेकलेस की पुकार है; छल्ला, कंगन, पहुँची, कड़े और पछेली आदि के स्थान पर ब्रेसलेट का बोलबाला है; बाली, पत्ते, कटियें, कर्णफूल आदि का स्थान ईयररिंग लिये हुए है और बेंदी-बेना के स्थान पर क्लिप्स और हेयर-पिन्स सुसज्जित हैं। सारांश यह कि फ़ैशन सैकड़ों ज़ेवरों की जीवन-लीला क्षण भर में समाप्त कर देता है। किसी एक काल के लोकप्रिय ज़ेवर दूसरे काल में पुराने कहलाकर फ़ैशन के शिकार बन जाते हैं। इसकी प्रबल सत्ता के संमुख बेचारे ज़ेवर चुपचाप ही सिर झुका देते हैं और यह अपने नित्य नवीन परिवर्तन के साथ उनके जीवन-मरण के खेल खेला करता है। पर शाबास है उस अँगूठी को जो फ़ैशन के निष्ठुर हाथों से आज तक बची हुई है। न उसका पहनावा बन्द हुआ, न उसका कोई स्थानापन्न ही मिला। प्राचीन काल से लेकर आज तक अँगूठी अँगूठी ही है। प्राचीन होने पर भी वह नवीन है, सबसे अधिक प्रचलित होने पर भी सर्वप्रिय है। इसी लिए ग़रीब से लेकर राजा तक, बालक से लेकर वृद्ध तक, ग्रामीण अशिक्षित से लेकर आधुनिक शिक्षा और सभ्यता से युक्त विद्वान् तक इसके अनन्य प्रेमी बने हुए हैं। गहनों के घोर विरोधी अति आधुनिक और नवीनता के प्रेमी भी इसके सच्चे भक्त हैं। सचमुच, इसके समान सम्मान और प्रेम पानेवाला ज़ेवर कदाचित् ही कोई दूसरा निकले।

इन गुणों के सिवा इसका एक सर्वश्रेष्ठ गुण और है। वह है इसका अद्भुत आकर्षण और मनोभावनाओं को व्यंजित करने की अनुपम शक्ति। मनोविज्ञान की यह पूर्ण ज्ञाता है। कठोर धातु से निर्मित अपने निर्जीव शरीर में, अपनी छोटी-सी परिधि के भीतर ही मानव-हृदय की गूढ़ से गूढ़ और गहरी से गहरी सुकुमार भावनाओं को केन्द्रीभूत करने की इसमें अपार कुशलता है। शायद इसी गुण के कारण विवाह ऐसे पवित्र अवसरों पर भी इसका समुचित समादर है। ईसाइयों के यहाँ तो सगाई और विवाह के अवसरों पर इसका अत्यधिक महत्त्व है। उनके यहाँ यह विवाह का शुभ चिह्न मानी जाती है। इसी के आदान-प्रदान से ही दो प्राणी पति-पत्नी के रूप में आजीवन के लिए बँध जाते हैं। विभिन्न हृदयों के एकीकरण का और आत्मसमर्पण का कैसा सुन्दर 'प्रणय-चिह्न' है! हिन्दुओं के यहाँ भी विवाह के चौथे दिन 'चतुर्थी' नामक रस्म में अँगूठी का विशेष महत्त्व है। उस दिन वर-वधू एक दूसरे के हाथ का कंगन खोलते हैं और कुछ अन्य कृत्यों के बाद वर अपनी अँगूठी वधू को पहना देता है। इसका अभिप्राय भी यही होता है कि वर इस 'प्रणय-चिह्न' को देकर वधू पर प्रकट कर देता है कि उसके हृदय और प्रेम की एक-मात्र अधिकारिणी अब से वही हुई। प्रेम-प्रदर्शन का कैसा अनूठा ढंग है! दो अपरिचित हृदयों का कितना सुन्दर प्रेमालाप है, भावप्रकाशन की कितनी अर्थ-पूर्ण संकेतमयी भाषा है!

वैवाहिक महत्त्व के सिवा अन्य अवसरों पर भी अँगूठी का महत्त्व कुछ कम नहीं है। परोपकार और मानरक्षा तो इसके प्रधान कर्तव्य हैं। ऐसा कोई नहीं जिसको समय पड़ने पर यह सहायता न देती हो। इसी कारण यह सबको प्यारी है। कम से कम और अधिक से अधिक मूल्यवती होने के कारण इसकी लोकप्रियता अधिक बढ़ी हुई है। इसकी एक मुख्य विशेषता यह है कि प्रत्येक अवसर पर प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह बहुत अनुकूल और उपयुक्त उपहार हो सकती है। इसी कारण इसका प्रचार व्यापक है। यह दो बिछुड़ते हुए प्रेमियों के लिए सर्वोत्तम 'स्मृति-चिह्न' है, विरही जनों को शान्ति पाने का सुखद अवलंब है, प्रेमिका पर प्रेम का प्रथम परिचय देने के लिए प्रेमी का सुन्दर 'प्रेमोपहार' है, ग़रीबों की ज़ेवर की चिरसाध की पूर्त्ति का एक-मात्र साधन है,

अमीरों का ऐश्वर्य और वैभव-प्रदर्शन करने का एक बहुत छोटा पर भाव-पूर्ण संकेत है।

इतने अधिक गुणों के होने पर भी इसमें एक-दो भारी दोष भी हैं। इसकी प्रकृति बड़ी क्रीड़ाशील और विनोदप्रिय है। मनोरंजन से इसे स्वाभाविक प्रेम है। दूसरों के रहस्यों को खोलने का इसे बड़ा मर्ज़ है। दम्पति की शांति भंग करने का इसे ख़ास शौक़ है। दो प्रेमियों का विछोह करा देने में इसे विशेष आनन्द होता है। प्रेम की परीक्षा लेने की एक ऐसी अधीर गुरु है, जो हर-दम प्रेमियों को विरह-व्यथा ही देती रहती है। पर साथ ही इसमें करुण की मात्रा विशेष है। इसी लिए अपने क्षणिक मनोविनोद के बाद यह मिलन कराने में भी जी-जान से लग जाती है। इसी कारण प्रेमी भी इससे रुष्ट नहीं होते।

इसके इन्हीं गुणों पर और मोहिनी शक्ति पर मुग्ध होकर ही भावनाओं के सच्चे पारखी कवियों ने भी एक-मात्र इसी ज़ेवर को काव्यों में महत्त्व-पूर्ण स्थान दिया है। प्राच्य और पाश्चात्य दोनों ही देशों के साहित्य में हम इसके उदाहरण पाते हैं। संस्कृत के महाकवि कालिदास के विश्वविख्यात अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक में अँगूठी का जो महत्त्वपूर्ण स्थान है वह किसी से छिपा नहीं है। नाटक की घटनाओं को तीव्रतम स्थिति पर पहुँचानेवाली, भावनाओं को अंतर्द्वन्द्व दिखलानेवाली, संयोगदशा उपस्थित होने पर भी वियोग करानेवाली और अंत में दुःखान्त होनेवाले नाटक को सुःखान्त बना देनेवाली एक-मात्र यह अँगूठी ही है। अँगूठी की काल्पनिक कथा को निकाल देने से उस नाटक में कुछ भी नहीं रह जाता। वास्तव में नाटक की ख्याति का मुख्य कारण, कवि की प्रतिभा का विकास कराने का मूल आधार अँगूठी ही है। संस्कृत के विशाखदत्तकृत 'मुद्राराक्षस' नाटक में भी अँगूठी ही एक प्रकार से समस्त घटनाओं का सूत्रधार बनी हुई है। राक्षस की नामांकित अँगूठी पा जाने पर ही चाणक्य जाली पत्र तैयार करता है और उस पर अँगूठी की मुहर छाप कर शत्रु में भेद का बीज बो देने में सफल होता है। इसी के सहारे सारी घटनायें राक्षस के विपक्ष में और चाणक्य के पक्ष में हो जाती हैं। राक्षस पकड़ा जाता है। चाणक्य और राक्षस को सफलता और विफलता का खेल अँगूठी ही खेलाती है।

आदि-कवि वाल्मीकि और हिन्दी-कवि तुलसीदास के श्रीरामचन्द्र भी वन जाते समय समस्त ऐश्वर्य निस्पृह-भाव से परित्याग कर देते हैं; पर अँगूठी का मोह त्यागना वनवासी राम के लिए भी कठिन हो जाता है। उसे वे चुपचाप अपने साथ वन को ले ही जाते हैं। उनके इस प्रेम को देखकर वह नाच उठती है। अवसर पड़ने पर वह भी श्रीराम के हाथ के कोमल और सुखद स्पर्श के सुख को त्यागकर हनुमान्-द्वारा लंकापुरी में पहुँचकर सीता की शान्ति का साधन बन जाती है। कविवर केशवदास की 'रामचन्द्रिका' में तो श्रीराम की अँगूठी न मालूम कितनी अनूठी भावनायें सीता के हृदय में जाग्रत् करा देती है। इतना ही नहीं, इसके क्षणिक स्पर्श से केशव की कला भी चमक उठती है। सीता के उस समय के भावों का वर्णन कवि कितने मार्मिक ढंग से करता है—

"आँसु बरषि हियरे हरषि, सीता सुखद सुभाइ।
निरखि निरखि प्रिय मुद्रकहिं, बरनति है बहु भाइ॥
यह सूरकिरण तमदुःखहारि।
शशिकला किधौं उर सीतकारि॥
कल कीरति-सी सुभ सहित नाम।
कै राज्यश्री यह तजी राम॥

× × × ×

सुखदा, सिखदा, अर्थदा, यशदा बस दातारि।
रामचन्द्र की मुद्रिका, किधौं परम गुरु नारि॥"

सीता का भावावेश इतना अधिक तीव्र हो जाता है कि वे क्षण भर के लिए विवेकशून्य हो जड़-चेतन का भेद भूल जाती हैं। वे जड़ 'मुँदरी' से कितने भावपूर्ण शब्दों में प्रश्न कर बैठती हैं—

"श्री पुर में, वन मध्य हौं, तू मग करी अनीति।
कहि मुँदरी अब तियन की, कौ करिहै परतीति॥
× × × ×

कहि कुशल मुद्रिके रामगात।
शुभ लक्ष्मण-सहित समान तात ॥"

पर जब मुँदरी से कोई उत्तर नहीं पातीं तब किस भोले-पन से हनूमान् से उसकी मौनता का कारण पूछती हैं—

"यह उतरु देति नहिं बुद्धिमंत। केहि कारण धौं हनुमंत संत ॥'

सीता की इस मानसिक अव्यवस्था को देखकर हनूमान् भी कितनी चतुराई से उत्तर देते हैं—

"तुम पूछत कहि मुद्रिके, मौन होत यहि नाम।
कंकन की पदवी दई, तुम बिन या कहँ राम ॥"

कितनी ख़ूबी से हनूमान् सीता को उसकी स्थिति का ज्ञान कराकर श्रीराम की विरहावस्था का भी परिचय दे देते हैं। वे कहते हैं कि "हे माता, तुम इसे मुद्रिका नाम से संबोधन करके पूछ रही हो, इसी से इस नाम को सुन-कर यह चुप है। क्योंकि तुम्हारे वियोग में श्रीराम ने इसे कंकण की पदवी दी है। श्रीराम इतने अधिक दुर्बल हो गये हैं कि वे मुँदरी को कंकणवत् पहनते हैं। इसी लिए यह मुँदरी अपने को कंकण समझती है और तुम्हारे 'मुँदरी' कहने से नहीं बोलती।" कितना चमत्कार-पूर्ण उत्तर है।

इसी प्रकार अँगरेज़ी के महाकवि शेक्सपियर ने भी अपने 'मर्चेन्ट आफ़ वेनिस' नामक नाटक में अदालत की कार्रवाई के बाद अँगूठी की अन्तःकथा की ही कल्पना-कर दुःखान्त होनेवाले नाटक का अन्त सुखमय बना दिया है। अदालत के दृश्य में शायलाक-द्वारा एनटो-नियो के हृदय का एक पौंड मांस लेने के हठ से जनता स्तंभित हो जाती है। समस्त घटनाओं तथा दृश्य का वातावरण पाठकों की भावनाओं को उद्दीप्त कर अशान्त बना देता है। पर अँगूठी की कल्पना से कवि क्षण भर में ही सारा वातावरण बदल देता है। बैरिस्टर के वेश में पोर्शिया आकर अपने अकाट्य तर्कों के बल से एनटो-नियो के प्राण बचा लेती है। उस समय वह और उसके क्लर्क के वेश में नेरिसा बसेनियो और ग्रेशियानों से कृतज्ञता के चिह्न-रूप में अँगूठी ही लेते हैं। नाटक के अन्त में जब सब पात्र एक जगह मिलते हैं तब अपनी प्रकृति के अनुसार अँगूठी पोर्शिया और बसेनियो में और नेरिसा और रोशियानो में क्षणिक 'प्रणयकलह' करा-कर अद्भुत आनन्द लूटती है। पोर्शिया बसेनियो पर दोषारोपण करती हुई कहती है—

"If you had known the virtue of the ring,
Or half her worthiness that gave the ring
Or your own honour to contain the ring,
You would not then have parted with
the ring

× × ×

Nerissa teaches me what to believe;
I'll die for 't some woman had the ring"

बात अधिक बढ़ती देखकर अँगूठी के बसेनियो पर दया आ जाती है और वह तत्काल सामने आकर सारा रहस्य खोल देती है। सारे पात्र प्रसन्न हो जाते हैं और ग्रेशियानो के इन शब्दों से—

"Well, while I live I'll fear no other thing
So sore as keeping safe Nerissa's ring."

नाटक का सुखमय अंत होता है।

इसी प्रकार आधुनिक साहित्य में भी इसके अच्छे उदाहरण मिलते हैं। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी "शेषेर कविता" नामक रचना में अँगूठी की अंतः-कथा की सृष्टि करके एक लक्ष्य की ओर बढ़ती हुई घटनाओं की धारा का प्रवाह एक-दम बदल दिया है। नायक अमित अपनी प्रेमिका केतकी को एक दिन शुभ मुहूर्त्त में अपनी अँगूठी प्रेम-चिह्न के रूप में दे देता है। कालान्तर में उसका प्रेम कम हो जाता है और वह लावण्य नामक एक दूसरी लड़की से प्रेम करने लगता है। दोनों की शादी की तिथि भी निश्चित हो जाती है। पर केतकी का प्रेम वैसा ही बना रहता है। जैसे ही वह शादी का हाल सुनती है, वह उस अँगूठी को लेकर अमित के पास अपने प्रेम का दावा करने पहुँचती है। उस प्रेम-चिह्न से वह अपने पूर्व-प्रेम की सुधि दिलाती है। पर जब अमित को उसके विचार से बदलने में अपने को असमर्थ पाती है तब वह अँगूठी को भी वहीं छोड़ रोती हुई चली जाती है। लावण्य समस्त घटना से इतना अधिक प्रभावित होती है कि वह अमित को छोड़ अन्यत्र

चल देती है। अंत में अमित की शादी केतकी से और लावण्य की एक दूसरे व्यक्ति से हो जाती है। अँगूठी के द्वारा ही सारी घटनायें क्षण भर में बदल जाती हैं।

बाबू बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्यायलिखित 'युगलांगुलीय" में तो अँगूठी का एक जोड़ा ही सारे कथानक में प्रधान बना रहता है। नायक पुरंधर और नायिका हिरण्यमयी बचपन से एक दूसरे से प्रेम करते हैं। बड़े होने पर दोनों परस्पर विवाह की इच्छा करते हैं। पर हिरण्यमयी की जन्मपत्री के अनुसार यह निकलता है कि यदि शादी के बाद पाँच वर्ष के पहले वह पति का मुख देख लेगी तो विधवा हो जायगी। हिरण्य का पिता अपने गुरु के आदेश से पुरंधर से शादी करना अस्वीकार कर देता है और उसे दूसरी जगह जाने को कहता है। फिर गुरु हिरण्य को और उसके पिता को बनारस ले जाकर उसकी शादी एक लड़के से कर देते हैं, पर शादी के समय वर और वधू की आँखों में पट्टी बाँधकर ही सब कृत्य कराते हैं। उस समय गुरु प्रत्येक को एक ही समान एक एक अँगूठी देते हैं ताकि पाँच वर्ष के बाद वे उसकी सहायता से एक दूसरे को पहचान सकें। दोनों व्यक्ति अँगूठी को लेकर एक दूसरे से अलग हो जाते हैं। पाँच वर्ष व्यतीत होने पर अँगूठी की सहायता से हिरण्य अपना पति पहचानती है। उसके आश्चर्य और आनन्द की सीमा नहीं रहती जब वह यह देखती है कि वह व्यक्ति कोई और नहीं, बल्कि उसका पहले का प्रेमी पुरंधर है। यहाँ दो निराश प्रेमियों का मिलन अँगूठी करा देती है।

इसके अतिरिक्त राजनैतिक ऐसे नीरस जीवन में भी अँगूठी का अपूर्व प्रेम है। राजनीति की कुटिल चालों में भी इसका हाथ है। प्राचीन काल में राजाओं की सत्ता की निर्देशिका यही रहती थी, राज्य-कार्यों में इसी का हाथ अधिक रहता था। भारत के इतिहास में भी अनेक कथाओं में इसका मुख्य भाग है। अधिकतर राजा रानियाँ और राजकुमारियाँ शत्रु के अपमान से बचने के निमित्त इसी के नग की ओट में विष छिपाये रखती थीं और समय पड़ने पर उसको खाकर अपने धर्म और गौरव की रक्षा करती थीं।

अतः अँगूठी के जीवन-इतिहास के पृष्ठों को देखकर यही कहा जा सकता है कि इसका यौवन अनन्त है, सौभाग्य अखंड है, जीवन अमर है और यश विश्व-व्यापी है।

मेरा यौवन

लेखक, श्रीयुत श्रीप्रकाश पाण्डेय, एम० ए०

मधुर मिलन के ओ! पुलकित क्षण!
फिर अतीत के वैभव से विस्तृत कर लो अपना लघु जीवन।
श्रान्त विरह की गोधूली में,
संशय की कलियाँ मुरझाईं।
प्रियतमपथ रंजित करने को,
नभ से स्वर्ण अरुणिमा आई॥
हो स्नेहार्द्र सजग जल उठते मानस के बुझते दीपकगन।
मन्दस्मित की शुचि विभावरी,
उर-पट पर करती कल नर्तन।
श्वास-सुरभि-मलयानिल करता,
कम्पन की लहरों का चुम्बन॥
पल में हो बेसुध करते हैं मादक भाव-कुसुम उन्मीलन!
मूक प्रणय के रंगमंच पर,
मान-विनय का होता अभिनय।
विस्मृति के वैभव में भूले,
दो व्याकुल हृदयों का विनिमय॥
पीड़ा का मृदु भार लिये सोता है मेरा अलसित यौवन।

रुबाइयात
उमर ख़य्याम

उमर खय्याम की रुबाइयों की आज संसार में धूम है। संसार की प्रायः सभी जीवित भाषाओं में उनका अनुवाद हो गया है। हिन्दी में भी इधर उनके कई अनुवाद प्रकाशित हुए हैं और हो रहे हैं। इस दिशा में सबसे अधिक परिश्रम श्री जगदम्बाप्रसाद मिश्र हितैषी ने किया है। आपने उमर खय्याम की मूल कविता, और उनके सम्बन्ध में प्राप्त सभी प्रकार के साहित्य के अध्ययन के पश्चात् एक वृहत् ग्रन्थ तैयार किया है जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा। यहाँ हम उसी ग्रन्थ का एक अंश प्रकाशित करते हैं। हितैषी जी कवि भी हैं इसलिए आप उसकी रुबाइयों का कविता में अनुवाद करने में भी ख़ूब सफल हुए हैं।

मधु-मन्दिर

व्याख्या

मानस के मधु-मन्दिर में मची,
"साक़िया श्याम! पुकार है सुन्दर!
ये घट है घट, वारुणी-भक्ति,
विवेक-वसन्त-बहार है सुन्दर!
गीत है गीता, सुशान्ति है षोडशी,
झंकृत श्वास-सितार है सुन्दर!
जीवन वार दिया जिस पै, वही—
गायक गोप-कुमार है सुन्दर!

मुक्तक

अवनि क्षितिज पै, औ' अम्बर अटालिका पै,
फैला रहा अंशुमाली अरुण किरण-जाल;
दिवस-सम्राट् पान-पात्र कर संसृति का,
भर रहा सुमन-सुवर्ण-रस लाल लाल;
"खाओ, पियो, आनँद उड़ाओ" ये पुकार उठे,
देखकर अरुणशिखीगण प्रत्यूष काल;
ज्यों ही ज्यों उजाला फैला, त्यों त्यों एक फैला रव
गुललाला हाला ढाल! हाला ढाल!! हाला ढाल!!!

लेखक
श्री जगदम्बाप्रसाद मिश्र
'हितैषी'

खुरशीद कमन्दै-सुब्ह बरबाम अफ़गन्द,
कैखुसरवे रोज़ बादः दर जाम अफ़गन्द;
मै खुर, कि मनादिए सहरगह खेज़ाँ,
आवाज़ए इश्रबू दर अय्याम अफ़गन्द।

शब्दार्थ—सूर्य ने प्रातःकाल की कमन्द अट्टालिका पर फेंक दी। दिवस के कैखुसरो ने मदिरा प्याले में उँड़ेल दी। सुरा-पान कर, क्योंकि प्रातःकाल उठने-वालों की पुकार ने 'पियो पियो' की ध्वनि संसार भर में गुँजा दी।

भावार्थ – उषाकाल है; बालरवि ने अपनी प्रातःपाश-रज्जु अथवा किरण-कमन्द संसाररूपी सौध की अट्टालिका पर प्रसारित कर दी। अर्थात् दिवस-सम्राट् ने अरुणिमारूपी मदिरा से विश्वरूपी पान-पात्र को पूर्ण किया। आनन्दमयी भगवदनुराग की सुरा का पान करो, क्योंकि प्रातःकाल 'उत्थातव्यं जागृतव्यम्' की उद्घोषणा करनेवाले अरुणशिखियों ने 'पियो! पियो!' की ध्वनि संसार भर में गुंजरित कर दी।

भाव-साम्य—प्रातःकालीन रवि अथवा उषाकाल के वर्णन में फ़ारसी तथा उर्दू के कवियों ने प्रायः सुरा-पान का भाव प्रकट किया है। प्रसिद्ध सूफ़ी कवि हाफ़िज़ शीराज़ी लिखता है—

चो आफ़ताबै मयज़ मशरिक़े पियाला बर आयद,
ज़े बाग़ आरिज़े-साक़ी हज़ार लाला बर आयद।

"जब बालरवि-सा सुरा-पूर्ण पात्र पूर्व से प्रकट होता है (तब) साक़ी के कपोलरूपी उपवन से सहस्रों लाला के पुष्प प्रकट होते हैं।" अर्थात् प्रियतम का मुख प्रातः सुरापान करते ही लाला का उपवन-सा ज्ञात होता है। और भी देखिए—

सुब्है-दौलत मी दमद, कू जाम हम चो आफ़ताब,
फ़ुरसते ज़ीं बेह कुजा बाशद, बिदेह जामे शराब।

"स्वर्ण-प्रभात हो रहा है। बालरवि-सा पान-पात्र कहाँ है? भला इससे बढ़कर (सुरापान का) और कौन अवसर होगा? सुरा से पूर्ण पात्र दे दे। और—

"बाम दादाँ कि जै ख़िलवत गहे काखे इबदाअ,
शाह ख़ावर फ़िगनद बरहमा अतराफ़ शौआअ।
बरकशद आइना अज़ जेबे उफ़क़ चर्ख़ ज़नाँ,
बिनुमायद रुखे गेती ब हज़ाराँ अनवाअ।
दरज़वायाय तरबख़ानए-जमशेदै-फ़लक,
अरग़नूँ साज़ कुनद जौहरा ब आहंग समाअ।
चंग दर ग़ुलग़ुला आयद कि कुजा शुद मुनकिर,
जाम दर क़हक़हा आयद कि कुजा शुद मन्नाअ।
वज़अ दौराँ बनिगर साग़रे इश्रत बरगीर,
कि बहरहाल हमीं नस्त बेहीने औज़ाअ।
तुर्रए शाहिदे दुनिया हमा मकरस्तो फ़रेब,
आरिफ़ाँ बर सरे ईं नुक्ता न जोयन्द निज़ाअ" ॥

"प्रातःकालीन अनादि के सौध के अनन्तर-भाग से प्राची-दिशा का सम्राट् जो किरणें विस्तीर्ण करे, और आकाश की सीमा के अंचल से नृत्य करते हुए मुकुर अथवा सुन्दर मुख प्रदर्शन करे और सृष्टि की सुन्दरता को सहस्र गुणा अधिक करके दिखा दे एवं जमशेदरूपी आकाश के विलास-भवन के कक्ष में (अनुराग-रंग भरा) शुक्र गायन करने के विचार से वीणा को ठीक करे और, चंग चीत्कार करे कि 'सांसारिक सुख का त्यागी कहाँ है',

और सुरा-पूर्ण सुराही (कर्म-काण्डियों पर व्यंग्य करती हुई) अट्टहास करे कि 'सुरापान का निषेध करनेवाला कहाँ है' उस समय तू संसार की श्रेष्ठ प्रणाली को देख और आनन्द-सुरा का पान कर' क्योंकि यही प्रणाली विशिष्टतर है। क्योंकि प्रिय संसार की शोभा (जो प्रकट है या) प्रियतम की केशराशि-सी मायाजाल है। सभी विद्वान् विना तर्क के इस बात को स्वीकार करते हैं।

और भी,

जे आफ़तावे-क़दह इरतिफ़ाये ऐश वेगीर,
चिरा कि तालये वक्ताँ चुना नमी वीनम।

"(ज्ञानमय) सुरा-पूर्ण पात्रवत् बालरवि से ब्रह्मानंदोपभोग की अत्यधिकता प्राप्त कर, क्योंकि मुझे ऐसी शुभ लग्न दृष्टिगोचर नहीं होती।"

और

हर सुब्ह दर हवाए दरत मी कुनद सुबूह,
जमशेद तख्ते-चर्ख़ बजामे जहाँ नुमाय।

"हे प्रियतम! आकाश-सिंहासन का सम्राट् (जमशेदरूपी सूर्य) विश्व-दर्शक पान-पात्र लेकर प्रति प्रातःकाल तेरे द्वार की प्राप्ति की आशा में उदय होता है अथवा उषारूपी मदिरा का पान करता है।"

उमर ख़य्याम ने सुरा-पान की बात को जिस अस्पष्ट रूप में लिखा था, हाफ़िज़ शीराज़ी ने उसी को बिलकुल स्पष्ट कर दिया! जो भाव कई सौ वर्षों पूर्व ख़य्याम ने अपनी रुबाइयों में यत्र-तत्र लिखे थे उन्हीं भावों को लेकर हाफ़िज़ ने विस्तारपूर्वक लिखा है! ख़य्याम की भाव-भित्ति का अपहरण करके हाफ़िज़ ने अपना सुन्दर सौध निर्माण किया है। उर्दू के प्रसिद्ध कवि सर मोहम्मद एक़बाल ने भी इसी भाव के आधार पर अपने दो निम्नोक्त शेर-सूर्य को सम्बोधित करके कहे हैं—

शोरिशे मैख़ानए इन्साँ से बालातर है तू,
ज़ीनते-बज़्मे-फ़लक हो जिससे वह साग़र है तू॥

× × ×

क्या भली लगती है आँखों को शफ़क़ की लाली!
मये-गुलरंग ख़ुमे-सुबह में तूने डाली॥

जैसे ख़य्याम ने अस्पष्ट रूप में—अरुणशिखी की ध्वनि 'कुकुड़ूँ कूँ' में 'कुलू वश्र बू वला तुस्रिफ़ू' (क़ुरान)—'खाओ पियो किन्तु अपव्यय न करो'—को सुन लिया, वैसे ही हाफ़िज़ ने भी अरुणशिखी की ध्वनि में सुना कि—

'सफ़ीर मुर्ग़ वर आमद बते शराब कुजास्त
फ़ुग़ाँ फ़िताद बबुलबुल नक़ाबे-गुल कै दरीद'।

अरुणशिखी ने ध्वनि की कि बत्तख जैसा सुरा-घट कहाँ है; बुलबुल व्याकुल हो गई कि सुमन का अवगुण्ठन किसने जर्जरित किया।

जो लोग ख़य्याम के सूफ़ी होने में सन्देह करते हैं वे देखें कि सूफ़ियों का शिरोमणि हाफ़िज़ ख़य्याम का कैसा पद-पद पर अनुसरण करता है! जब हाफ़िज़ ऐसे कवियों पर भी ख़य्याम की छाप लगी हुई है तब औरों का तो कहना ही क्या है, ऐसा ज्ञात होता है, मानो ख़य्याम हाफ़िज़ के मुख से कह रहा है कि—

हर दिलेरा इत्तिलाए नेस्त बर असरारे-ग़ैब,
महरमे ईं सिर्रे मानीदार उलवी जाने मास्त।

"प्रत्येक हृदय को अलौकिक भेदों की अभिज्ञता नहीं प्राप्त है। इस गुप्त भेद आकाशीय रहस्य का अभिज्ञ हमारी ही आत्मा है।"

अन्यान्य अनुवाद—

The Sun carts the noose of morning
upon the roofs,
Kai-Khosru of the day, he throws
a stone into the bowl:
Drink wine! for the Herald of the Dawn
rising up,
Hails into the days the cry of
"Drink Ye!"

(हैरेन एलेन)

सूर्य अपना प्रातःकालीन जाल छतों पर फेंकता है। दिवस का कैखुसरो (सम्राट्) प्याले में पत्थर फेंकता है। मदिरा पियो, क्योंकि उषा का चारण उदय हो रहा है। "तू! पी!" की पुकार दिवसों में प्रसरित करता है।

The Sun doth smite the roofs
with orient ray,
And Khosru-like, his wine red
sheen display;
Arise, and drink! the Herald
of the dawn
Proclaims the advent of another day.

(विन्फ़ील्ड)

सूर्य अट्टालिकाओं को पूर्वीय किरण से मारता है, और ख़ुसरो की भाँति अपनी मदरक्त ज्योति प्रदर्शित करता है; उठो, और पियो! प्रभात-सूचक एक अन्य दिवस के आगमन की घोषणा कर रहा है।

Awake! for Morning in the Bowl of Night
Has flung the stone that puts the stars
to Flight:
And Lo! the Hunter of the East
has caught
The Sultan's Turret in a noose of Light.

(फ़िट्ज़ेरल्ड)

उठो! निशारूपी पानपात्र में प्रभात ने पत्थर फेंका, तारकदल भाग कर अन्तर्धान हो गया; वह देखो। प्राच्य के अहेरी ने (अपने) प्रकाश-पाश में राजभवन की अट्टालिका को जकड़ लिया।

सूरज ने कमन्द अपनी फेंकी सरे बाम,
कैख़ुसरवे-रोज़ ने भरा नूर का जाम;
आवाज़े इश्रतुआ चला दौर उठे,
ऐ दफ़ा ख़ुमारे-शब सुबूही का पयाम।

(शौकत)

ख़ुरशीद ने कमन्द सी फेंकी है सूए बाम,
फ़रमा रवाए रोज़ ने मय से भरा है जाम;
मय पी, कि उठनेवालों ने हंगामे सुब्ह के
भेदों को तेरे खोल दिया सब पै ला कलाम।

(ताजुल-कलाम)

आलोचना—हैरेन एलेन और फ़िट्ज़रेल्ड ने इस रुबाई के द्वितीय चरण में 'बादः' के स्थान पर 'मोहरा' पाठ लिखा है। किन्तु दोनों ही अनुवादकों ने 'मोहरा-दरजाम अफ़गन्दन' के मुहावरे का ठीक अनुवाद नहीं किया है। बात यह कि ईरान में प्राचीन काल में 'कैयानी'-कुटुम्ब के सम्राट् जिस समय यात्रा किया करते थे और गजारूढ़ होते थे उस समय गज के एक पार्श्व में लटके हुए सप्तधातु के एक पात्र में सप्तधातु का एक गोला इस प्रकार से डाला जाता था जिससे घनघनाहट गूँज उठती थी और इसके संकेत के द्वारा सहयात्रीगण सम्राट् के गजारूढ़ होने की सूचना पा लेते थे। उपर्युक्त रुबाई में यदि यह संकेत दृष्टि में रक्खा जाय तो 'मोहरा' पाठ ठीक माना जा सकता है। उसका अर्थ यही होता है कि तमपूर्ण या कृष्णक्षितिज-रूपी गज पर सूर्यरूपी सम्राट् आरूढ़ हो गया। यह बात 'कमन्दे सुब्ह' के सम्बन्ध में भी है। फ़िट्ज़रेल्ड ने कमन्द के कारण मृगया का जो भाव रक्खा है वह ठीक नहीं है, क्योंकि इससे भी सूर्य का गगन पर उत्थित होना ही सूचित किया गया है। चतुर्थ चरण में 'आवाज़े ज़े सर्रे नौ' यह पाठ जिन लोगों ने रक्खा है वे भी भ्रम में पड़ गये हैं। शब्द 'सर' है, न कि 'सर्र'। अतः रुबाई में यदि द्वित्व करके 'सिर्र' (भेद) मान लें तो अशुद्ध हो जाता है। जलालुद्दीन, कासुल्कराम, और ताजुल कलाम के संस्करणों में 'आवाज़े ज़े सिर्रे तो' पाठ है, जिसका अर्थ होता है—तेरे भेद की प्रसिद्धि, परन्तु इससे यह नहीं स्पष्ट होता कि यह किसका छिपा हुआ भेद है जिसकी प्रसिद्धि मुनादी करनेवालों ने की है। अतः जो पाठ हमने लिखा है वही हमें अधिक शुद्ध तथा सार्थक जान पड़ा। कवि ने तृतीय चरण में 'मय ख़ुर' (सुरा पान कर) का आदेश किया है, अतः चतुर्थ चरण में क़ुरान की आयत से, जिसको हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं, सम्बन्धित 'वश्रबू' शब्द ही हमें अधिक उपयुक्त जान पड़ता है, क्योंकि इससे ख़य्याम के भाव की उड़ान और भी ऊँची हो जाती है।

शौकत साहब तृतीय और चतुर्थ चरण का ठीक अनुवाद नहीं कर सके हैं। फ़िट्ज़रेल्ड ने रुबाई के मुख्य

भाव सुरापान को ही उड़ा दिया है। 'कमन्द' के कारण सूर्य को शिकारी बना कर 'बाम' का अर्थ अट्टालिका होते हुए भी राजमहल का शिखर लिखा है। परन्तु इससे कोई भावोत्कृष्टता नहीं आ सकी। विशेष कर शिकारी की 'कमन्द' में कोई वास्तविक शिकार न फँसाकर, सुलतान के राजभवन के शिखर को पाशबद्ध करके, ख़य्याम के भाव को बिलकुल ही भ्रष्ट कर दिया है। हमें ऐसा ज्ञात होता है कि फ़िट्ज़रेल्ड ने हाफ़िज़ के निम्नलिखित अशआर की भित्ति पर ही अपने पद्य में उपर्युक्त भाव व्यक्त किया है। हाफ़िज़ के अशआर ये हैं—

चूँ बादशह बतेग़ ज़र अफ़शाँ जहाँ गिरफ़्त,

× × ×

शहे सिपहरे चो ज़र्री सिपर कशद बरसर,
बतेग़े सुव्हो अमूदे उफ़क़ जहाँगीरद।

(सूर्य ने) सम्राट् की भाँति संसार को स्वर्णीय कृपाण से बन्दी कर लिया।

× × ×

गगन-सम्राट् सूर्य जब अपनी स्वर्णीय ढाल अपने शीश पर उत्तोलन करता है तब किरण की कृपाण से और उषा की गदा से संसार को पराभूत करता है।

उपर्युक्त द्वितीय शेर के अन्तिम चरण में जो 'अमूद' शब्द आया है उसके गदा और खम्भा या स्तम्भ दोनों ही अर्थ होते हैं। जान पड़ता है कि इसी भाव के आधार पर उसने मीनार के बन्दी करने की बात लिखी है।

इस रुबाई में चारों ही चरणों का अर्थ सम्बन्धित है। परन्तु दुःख का विषय है कि किसी अनुवादक ने भी इन चारों चरणों के अर्थ का ठीक सम्बन्ध नहीं प्रकट किया। जो सूर्य ऊँचे उठता है वही सम्राट् भी है और सुरापान भी वही करता है। प्रातःकाल के चारण ताम्रचूड़ उसी की प्रशंसा करते हुए संसार को 'यथा राजा तथा प्रजा' के सिद्धान्त के अनुसार सुरापान का आदेश देते हैं।

विशेष—उपर्युक्त रुबाई में सनअते इस्तिआरा या रूपक अलंकार है। इसमें खुर्दन (खाना) क्रिया का पान करने के अर्थ में प्रयोग किया गया है। फ़ारसी-भाषा में इस क्रिया को खाने-पीने दोनों ही अर्थों में प्रयोग करते हैं। यथा—

अबे हुक्म शरअ आब खुर्दन ख़तास्त
(शेख़ सादी)

"बिना शास्त्र की आज्ञा के जलपान भी अपराध है," इस अर्ध-पद में भी 'खुर्दन' का पीने के अर्थ में प्रयोग है। भारतीय भाषाओं में भी 'जल खा लो' ऐसा प्रचलित प्रयोग देखा जाता है, विशेषकर बँगला में।

कमन्द—शिकार फँसाने और छतों पर चढ़ने के लिए जो रस्सी काम में लाई जाती है उसे कमन्द कहते हैं। यह शब्द वास्तव में 'ख़मन्द' है। इसमें 'ख़म' और 'पेंच' अधिक होते हैं, इसी से इसका ऐसा नाम है। हिन्दी में इसका ठीक अर्थ फन्दा या पाश है।

कैख़ुसरो—ईरान-सम्राट् कैकाउस के पुत्र का यह नाम है। इसकी कौटुम्बिक उपाधि 'कै' है और नाम खुसरो है।

इश्रबू (आ)—यह क़ुरान शरीफ़ की एक आयत का एक टुकड़ा है। पूरी आयत है 'कुलू वश्र बू वला तुस्रिफ़ू' खाओ-पियो पर अपव्यय न करो।

सहरगहख़ेजाँ—इसका मुख्य अर्थ है प्रातःकाल उठने वाले। परन्तु हमने इसका अर्थ ताम्रचूड़ या अरुण-शिखी इस हेतु किया है कि उषा की तथा सुरा की अरुणिमा के साथ इस अरुण पक्षी का विशेष सम्बन्ध जान पड़ता है। और प्रातःकाल उठकर यह लोगों को जाग्रत करने के लिए उच्चस्वर से आवाज़ भी देता है। अतएव हमको यही अर्थ उपयुक्त जँचा। कहा जाता है कि ईरान में दो प्रकार के प्रातःकाल होते हैं, सुब्हे काज़िब (मिथ्या प्रातः) और सुब्हे सादिक़ (सत्य सकाल)। रात में पहले ऐसा ज्ञात होता है जैसे सवेरा हो गया, पर उसके बाद फिर गहरा अँधेरा हो जाता है। परन्तु वास्तविक प्रातःकाल होने पर ही ताम्रचूड़ बोलता है और वह यही प्रातःकाल है जिसका वर्णन ख़य्याम ने किया है।

बड़ा संकट

लेखक, पण्डित मोहनलाल नेहरू

घूँघट के बहुत दिनों तक समर्थक रहने के बाद रामलगन उसके शत्रु हो गये और उसे ज़िन्दा स्त्री के चेहरे पर कफ़न समझने लगे। तथापि वे अपनी स्त्री के चेहरे से घूँघट हटा न सके। अन्त में एक बी० ए० पास महिला से सलाह माँगी गई कि क्या करना उचित है? उसने क्या सलाह दी यह पंडित जी ने इस कहानी में नहीं लिखा पर यदि सरस्वती के पाठक रामलगन को कोई उपाय बता सकते हों तो बताने की कृपा करें।

[१]

मिश्र जी का ख़ानदान कई पीढ़ी से ज़िला बलिया के एक देहात में रहता चला आया था। बहुत बड़े तो नहीं, किन्तु मामूली दर्जे के ज़मींदार थे, बेटे को वकील बनाने की बड़ी अभिलाषा थी। उन्हें यह क्या मालूम था कि वकीलों की दशा में बहुत बड़ा परिवर्तन होनेवाला है।

देहाती स्कूल की पढ़ाई ख़त्म करने में रामलगन को देर न लगी। वह बहुत तेज़ लड़कों में था। छोटे बच्चे को अकेला घर से दूर भी नहीं भेज सकते थे। अतएव घर पर ही मास्टर रखकर उसे अँगरेज़ी, संस्कृत, गणित, विज्ञान इत्यादि विद्यायें पढ़ाने का प्रबन्ध कर दिया। घर पर जितना हो सका था वह सब भी रामलगन जल्दी ही चाट गया और एफ़० ए० का इम्तिहान 'प्राइवेट कैन्डिडेट' हो कर दिया, जिसे उसने धूम-धाम से पास किया। अब तो कलेजे पर पत्थर रखना ही था। मतलब यह कि मिश्राइन जी और मिश्र जी दोनों ही उस अपनी आँखों के तारे को शहर भेजने के वास्ते विवश हो गये।

दूर के ढोल सोहावने होते हैं। इलाहाबाद की पढ़ाई की बड़ी धूम थी। "वहाँ के पढ़े लड़के कितने ही तो डिप्टी कलेक्टर तक हो चुके हैं। शायद राम भी हो जाय। मगर कम से कम वकील तो हो ही जायगा।" इलाहाबाद-यूनिवर्सिटी में रामलगन भर्ती हो गये।

अठारह बरस की उम्र तक देहात से बाहर नहीं निकले थे। कोई स्वजाति का होस्टल शहर भर में नहीं था। किसी दूसरे के हाथ का पकाया खा नहीं सकते थे। पढ़ाई में हर्ज होने लगा। कुछ दिनों तक तो अपने बाप-दादों के धर्म पर डटे रहे, मगर और लड़कों की देखा-देखी का कहाँ तक असर न होता। पुरानी आदतें छोड़ते बहुत दुख तो होता है, किन्तु इसी तरह देखा-देखी छूट जाती हैं।

जब से रामलगन पैदा हुए थे, हिन्दू स्त्री के सदाचार की प्रशंसा सुनते आये थे और यह उन्हें विश्वास था कि सदाचारिणी वही स्त्री है जो किसी भी पुरुष के सामने चाहे वह उसका पुत्र ही क्यों न हो, कम से कम आये और जब आये, मुँह पर से घूँघट न हटने दे। उन्होंने अपनी माता तक का होश सँभालने के बाद से पूरी तरह शायद मुँह नहीं देखा था, और पिता जी से कभी बोलते तो सुना ही न था। उन्हें पूरा विश्वास था कि जो स्त्री मुँह खोलकर किसी भी पुरुष से बात करती है वह सदाचारिणी हो ही नहीं सकती। अभी तक उनकी समझ में वही आदर्श स्त्री थी जो रंग की साफ़ हो किन्तु घूँघट काढ़े रहे और उस पर भी आँखें ज़मीन में गड़ी रहें, साड़ी का पल्ला हाथ से चादर की तरह लपेटे हो, कमर को ज़रा-सा झुकाकर चलती हो, उस पर भी अगर किसी पुरुष की आहट पा जाय तो अगर घबराई हुई हिरनी की तरह भाग न सके तो कम से कम पीठ फेर-

कर अवश्य खड़ी हो जाय,-जब तक कि पुरुषरूपी बला दूर न हो जाय। हाँ, इस बीच में यदि वह बला उसे खा जाय तो उस बेचारी का दोष नहीं। उनके गाँव की सारी स्त्रियाँ ऐसी ही थीं। अपनी १८ वर्ष की अवस्था तक उन्होंने अपनी माता को घर के दरवाज़े के बाहर जाते न देखा था और वे उसी में ख़ुश थीं। उनके पिता मिश्र जी मित्रों में बैठकर अपनी अर्धांगिनी के सदाचार की रात-दिन प्रशंसा किया करते। आनन्द-मग्न होकर वे कहते—"वाह क्या देवी है! संतोष की मूर्ति है। सिवा मुझे आराम देने के उसे दुनिया में किसी बात की फ़िक्र ही नहीं। गृहिणी को चाहिए ही क्या? उसे इस बात से क्या मतलब कि अड़ोस-पड़ोस में क्या होता है या देश की क्या दशा है? असल में उसे इन बातों के लिए फ़ुर्सत ही कहाँ? अजी अपने ही धन्धे उसे क्या कम होते हैं जो दूसरों के धन्धों में पड़े? उसे दुनिया में कोई चाहना है तो यह कि मेरी सूरत दिन में कम से कम दो दफ़े देख पावे। वाह! क्या स्त्री-रत्न है!"

ऐसी सामाजिक शिक्षा और ऐसे विचार लेकर बलिया के एक ग्राम से ज़मींदार के पुत्र रामलगन इलाहाबाद ऐसे शहर में आये थे। यहाँ आते ही उन्होंने दूसरी दुनिया देखी। जिस सड़क पर से निकल जाते वहीं दो-चार हिन्दुस्तानी स्त्रियों के दर्शन हो जाते, न कहीं घूँघट, न कमर झुकी और न उन्हें देखकर कोई पीठ ही फेरती। बहुत घबराये। सोचने लगे कि "हे राम, क्या यहाँ की सभी स्त्रियाँ कुलटायें हैं? ये तो कालेज तक में लड़कों के साथ पढ़ती हैं। मोटरों, गाड़ियों, इक्कों तक पर मुँह खोले घूमती हैं। ग़ज़ब तो यह है कि सड़कों पर हँसती भी हैं।"

स्त्रियों का यह हाल देखकर वे शुरू में बहुत घबरा उठे और पिता जी को लिखा कि "यहाँ व्यभिचार इतना फैला हुआ है कि मुझे लिखते लज्जा आती है। न लड़कियों में शर्म है, न हया। जिसे ही देखो, उचकती फिरती है। सभी से बात-चीत करती हैं, बहुधा गेंद तक खेलती हैं।" मिश्र जी ने उत्तर में बहुत कुछ शिक्षा दी। उन्होंने लिखा—"इलाहाबाद की दुनिया रसातल को खिंची जा रही है, मगर तुम्हारे ऐसे सज्जन पुरुष ही उसे बचा सकते हैं। तुम उस चाल में न पड़ना।" पत्र पढ़कर रामलगन ने कहा—"वास्तव में पिता जी ने सच लिखा है। मैं इन लोगों से मेल-जोल न रक्खूँगा।" उस दिन से रामलगन ने अपने क्लास की लड़कियों की तरफ़ देखना तक छोड़ दिया। "वे अगर मुँह नहीं ढँकतीं तो मैं ही ढँक लूँगा। वे पुरुषों के सामने से नहीं भागतीं तो मैं ही भाग जाऊँगा।"

इस डर से कि इन निर्लज्ज स्त्रियों की संगति से रामलगन बिगड़ न जाय, मिश्र जी ने बड़े दिन की छुट्टी में रामलगन को घर बुलाकर झट उनका विवाह कर डाला। ठाकुरसिंह जो रामलगन का सहपाठी था, बलिया का रहने वाला था। वह उनकी सब बातों को ढकोसलेबाज़ी समझता। उसके प्रश्न का उत्तर देते हुए रामलगन ने अपनी धर्मपत्नी की बड़ी प्रशंसा की। उन्होंने कहा—"वह बड़ी सुन्दर है। मैं तो मुँह देखते ही लट्टू हो गया। हाँ हाँ, पढ़ी भी काफ़ी है। भागवत पढ़ लेती है। वह बी० ए० सी० ए० तक नहीं पढ़ी है। नहीं तो वह भी इन्हीं लोगों की तरह फुदकती फिरती। उसने तो मुझ तक को बड़ी मुश्किल से मुँह दिखाया। वह भी केवल माथे तक घूँघट हटाकर।"

(२)

गर्मी की छुट्टी तक रामलगन वे रामलगन न रह गये थे। उनके विचारों में बड़ा परिवर्तन हो गया था। वे अब स्त्रियों की सूरत देखकर न आँखें ज़मीन में गड़ाते थे, न भाग ही जाते थे। जितनी लड़कियाँ कालेज में पढ़ती थीं, किसी के बुरे चरित्र के बारे में उन्होंने उस साल न सुना, न देखा। अब वे दूसरे ही स्वप्न देख रहे थे। "बुरा और अच्छा शायद अपने स्वभाव की बात है। पिता जी को भ्रम ही भ्रम है। मैं इस भ्रम को दूर करूँगा और इसी छुट्टी से अपनी देवकी को अँगरेज़ी पढ़ाना शुरू कर दूँगा। चतुर लड़की है। तीन बरस में इंट्रेंस पास कर लेगी। और फिर कालेज भेज दूँगा। वह भी ग्रेजुएट हो जायगी।"

रेल गाँव में ही ठहरती थी। रामलगन तड़के पाँच बजे घर पहुँच गये। दिन भर श्रीमती जी के दर्शन न मिले। वे थीं घर में ही और रामलगन ने भी देखा कि

एक दुबली-पतली जीती-जागती दो पैर की कोई मूर्ति इधर से उधर चल रही है। उन्हें पूरा पूरा विश्वास था कि वह मूर्ति उन्हीं की देवकी है। मगर कमरे में क्यों नहीं आती? कहाँ तक यह रहस्य न खुलेगा? कई दफ़े वह उस तरफ़ भी आती दिखाई दी जिधर उनका कमरा था। और एक दफ़े तो वह इतने पास आ गई कि शायद वे हाथ पकड़कर कमरे में खींच ही लेते, यदि वह कतरा-कर दूर न चली जाती। असल में कोई सूरत तो उन्होंने देखी न थी, केवल एक मूर्ति सिर से पैर तक मैली साड़ी में लिपटी थी और ऊपर से पेट तक लटकता घूँघट दिखाई देता था। जब वह उन्हें देखकर कतरा गई तब हुआ विश्वास हो गया कि वह कहार की बहू होगी। अब पूछें तो किससे? न पूछें तो जी की घबराहट कैसे मिटे? पूछें तो सारा गाँव उन्हें हँसे। मिश्र जी मिश्राइन जी दोनों ही अपने सुपुत्र से मिल कर चले गये थे। नौकर-चाकर सब ख़ैरियत पूछ जयराम जी कर गये थे। किन्तु किसी ने दुलहिन की हवा तक न दी। उनकी घबराहट का ठिकाना न रहा। उदास बैठे बैठे नींद पड़ गई और ११ बजने का समय हो गया।

कहार घर का पुराना नौकर था। उसके घर में एक १५ या १६ वर्ष की बहू थी। उसकी सास मर गई थी अतएव अब वही उनके घर धन्धा करने आती थी। जब रामलगन ११ बजे तक कमरे से नहीं निकले तब मिश्राइन जी ने बुधिया को पुकारा और कहा, जा भैया को बुला ला। बुधिया ने दरवाज़े पर पहुँचकर अपनी साड़ी का पल्ला खींचा और घूँघट लम्बा किया, फिर दरवाज़ा को थोड़ा-सा खोला और भीतर घुसी। रामलगन सो रहे थे और देवकी को ग्रेजुएट बनाने के स्वप्न देख रहे थे। जब बुधिया कुर्सी के पास पहुँची तब उनकी आँख खुल गई। एकदम कुर्सी से उचककर बुधिया को दोनों हाथों से पकड़ लिया। नई बहू होने से बुधिया मालिक के लड़के से बात करते झिझकती थी। उनकी वह हरकत देखकर उसके होश उड़ गये। रामलगन ने उसके हाथ छोड़कर उसके कन्धों पर हाथ रख दिया और साड़ी को सिर पर से हटाने ही को थे कि बुधिया ने घूँघट को ज़ोर से पकड़ लिया। उसने कहा—"हैं हैं बाबू जी! क्या करते हो? हमका अम्मा रौरे का बुलावे का भेजिन हैं।" बुधिया घबराकर पीछे हट गई।

रामलगन को मानो बिजली मार गई हो। उनके दोनों हाथ नीचे गिर पड़े, सिर झुक गया और मुँह लाल हो गया। कुर्सी पर धड़ाम से अपना सिर पकड़कर बैठ गये, बोले—"जा, अम्मा से कह दे, भूख नहीं है। थोड़ी देर में आता हूँ।"

बुधिया ने जाकर यही बात मिश्राइन जी से कह दी। उन्होंने पूछा कि इतनी देरी क्यों लगी। उसने कहा कि बाबू जी सो रहे थे। जब उसकी खटपट से उठे तब उत्तर मिला। यदि उसके मुँह पर घूँघट न होता तो उसके घबराये हुए चेहरे से और गालों की लाली से देर हो जाने का भेद खुल जाता। किन्तु भला हो इस घूँघट का कि वह काम आ गया।

सारा दिन पहाड़ हो गया। रात को जब चारों तरफ़ सन्नाटा छा गया और रामलगन भी इन्तज़ार करके थक गये, और क़रीब था कि सो जाते तब दबे पैर देवकी ने कमरे में पदार्पण किया। कहते हैं कि साँप का काटा रस्सी से डरता है। सुबह की घटना से चिढ़े हुए थे और घूँघट को उखाड़ फेंकने की प्रतिज्ञा कर चुके थे। अपनी जगह से भी न उठे। चारपाई पर बैठे ही बैठे ज़रा तेज़ स्वर में बोले—"कौन"?

श्रीमती जी ने अपनी ठोड़ी तक घूँघट उठाकर बहुत धीमी शर्माती हुई आवाज़ से कहा—"अच्छा! आपने पहचाना भी नहीं।"

"तो मैं इस तरह कफ़नी में लिपटे किसी को कैसे पहचान सकता हूँ? क्या मालूम आपने फिर बुधिया को तो मेरे पास नहीं भेजा?" रामलगन ने तीव्र स्वर में उत्तर दिया।

"बुधिया को तो अम्मा ने आपको बुलाने को भेजा था। थके-माँदे आये थे, उन्होंने समझा था, ज़रा जल्दी ही भोजन कर लोगे। मैं सुबह से ही रसोई में लगी थी। आपके वास्ते भोजन बना रही थी।" देवकी ने बड़े गर्व से कहा।

"जी हाँ, मेरा स्वागत छः महीने बाद खूब हुआ। दिन भर मैंने इन्तज़ार में मक्खियाँ मारा कीं। किसी ने टके को नहीं पूछा, और आप मेरे स्वागत में लगी थीं। मुझे ऐसा स्वागत नहीं चाहिए। मैं कल ही इलाहाबाद चला जाऊँगा। वहाँ बात करनेवाले तो मिलेंगे।" तेज़ स्वर में रामलगन ने उत्तर दिया।

"आप तो मुझसे नाहक़ ही ख़फ़ा होते हैं। मेरा क्या दोष है? दिन को मैं कैसे आती? चारों तरफ़ तो आदमी थे। और न भी होते तो अम्मा को कैसे अकेली छोड़ती? वहाँ से हटते ही उन्हें शक हो जाता। फिर मैं मुँह दिखाने योग्य भी न रहती। आपकी भी बदनामी थी। लोग क्या कहते?" देवकी ने गिड़गिड़ाती आवाज़ में कहा।

रामलगन के क्रोध का पारा और भी चढ़ गया, बोले—"तो अच्छी बात है। आप लोगों को यहाँ ख़ुश कीजिए। मैं अपने कालेज के साथियों में चला जाऊँगा।" इतना कहकर वे लेट रहे।

देवकी अपनी खटिया पर उसी तरह बैठ गई और अपने उस हथियार से काम लेने लगी जो गृहिणी के पास सदा ही मौजूद रहता है। थोड़ी देर में उस घूँघट के पीछे से सिसकियों की आवाज़ आने लगी। आँसुओं की वर्षा ने रामलगन के क्रोध की ज्वाला को शान्त कर दिया और वे उठकर बैठ गये। पहले तो चुप सुनते रहे। फिर देवकी के बिलकुल पास जा बैठे और उसी की साड़ी से उसकी आँखें पोंछते हुए ज़रा बनावटी क्रोध से बोले—"तो रोती क्यों हो? मैंने क्या कोई पत्थर खींच मारा?"

अब अपनी विजय पास देखकर सिसकियों के बीच में ज़रा तेज़ स्वर में देवकी रानी बोलीं—"अगर पत्थर मार देते तो अच्छा ही न होता। एक-दम ख़त्म हो जाती। रोज़ रोज़ की हाय हाय से तो अच्छा ही था।"

"तुम ख़ुद ही कहो कि मुझे बुरा लगने की बात थी या नहीं। छः महीने के बाद तो मैं घर आऊँ और तुम्हारा बीस घंटे तक पता न चले। तो क्या मैं सिर्फ़ यहाँ मक्खियाँ मारने आऊँ? मुझे यह घूँघट भी आँखों में खटकता है।" इतना कहते कहते रामलगन ने सिर पर से पल्ला खींच लिया और देवकी को अपनी तरफ़ खींचने लगा।

"हैं हैं! क्या करते हो? लम्प जल रहा है। कोई बाहर से झाँक रहा हो तो?" देवकी ने अपना पल्ला फिर सँभाला, उठ खड़ी हुई और लम्प बुझा दिया!

पहले ही दिन रामलगन ने सुधार का काम शुरू कर दिया। अपने साथ पढ़नेवाले लड़कों और लड़कियों का हाल सुनाया।

"क्या लड़कियाँ तुम लोगों के साथ ही बैठती हैं?"

"हाँ और क्या? हम लोग बराबर ही बैठते हैं। और छुट्टी के समय भी मिलते हैं, बात-चीत भी होती है।"

"अरे राम राम! वे कैसी निर्लज्ज स्त्रियाँ हैं? उनके पति लोग इस बात को क्या पसन्द करते हैं?"

"वे पढ़ने के बाद विवाह करेंगी।"

"फिर तो हो चुका। रोज़ ही घर में कलह रहेगी।"

"शायद ऐसा हो। मगर कम से कम उनके पति किसी कहारिन को तो उनकी जगह नहीं पकड़ लेंगे। वे उनसे बोलेंगी तो सही। वे दिन भर उनसे मक्खियाँ तो नहीं मरवायेंगी।" यह बात रामलगन ने ज़रा गर्म होकर कही।

"कहारिन का क्या आपने कहा?" देवकी ने पूछा।

रामलगन उस बात को कहना नहीं चाहते थे, किन्तु मुँह से गर्मा-गर्मी में निकल गई तब छिपाने की भी कोई आवश्यकता न समझी। सब सच्ची बात कह सुनाई। और बोले—"इस घूँघट का सत्यानाश हो जाय, जिसने मुझे इतना ज़लील कराया। मैं तुम्हें कभी घूँघट न करने दूँगा।"

देवकी कुछ देर के वास्ते चुप हो गई। रामलगन समझे कि उसके दिल पर बड़ा असर हुआ। वास्तव में यह बात न थी। उसे सवेरे बुधिया का कमरे में जाना और देर से लौटना याद आ गया और सब बात भूलकर वह मन ही मन बुधिया को सबक़ सिखाने की तरकीबें सोचने लगी। उसने अपने मन में कहा—'उफ़! यह पापिन आते ही मुझे नीचा दिखाने लगी। निकाल कर ही दम लूँगी। बेचारी बाबू जी को जगाने के वास्ते खटका कर रही थी! ज़रा-सी तो छोकरी और ऐसे चरित्र!'

देवकी बेचारी का क्या दोष था? एक दफ़े शक भर हो जाय तो क्या गृहिणी, क्या मिसेज़, क्या लेडी और

ना खाली मेहरारू उस स्त्री का शत्रु हो जाती है जिस पर उसे ग़लत या सही संदेह हो जाता है। वास्तव में स्त्री स्त्री ही पर अधिक शक करती है। उसके विचार में पुरुष को बिगाड़नेवाली स्त्री ही है। वह यह बात मुश्किल से मानेगी कि इसका अधिक दायित्व पुरुष देव ही पर है। देवकी कुछ देर बाद जब बोली तब बुधिया पर बौछार लगा दी। रामलगन को समझाते-बुझाते पौ फट गई, किन्तु देवी जी का क्रोध नहीं शान्त हुआ। बुधिया के वास्ते वह चण्डी देवी ही हो गई। कहीं अकेले-दुकेले में पा जाती तो कच्चा ही निगल जाती। स्त्री का क्रोध चाहे देर में आता हो, किन्तु एक दफ़े आ जाने पर ज़रा शान्ति आने में देर भी लगती है।

दिन निकल चला था। जाना ज़रूरी था। वह उसी क्रोध को लिये चली गई। जैसे चन्द्रमा ग्रहण लिये डूबकर हिन्दू-जाति को असमंजस में छोड़ जाता है, वैसे ही वह कम से कम १८ घंटे के वास्ते रामलगन को असमंजस में छोड़ गई। वह तो जाकर अम्मा की चारपाई के नीचे घुसकर सो रही, मगर ये देर तक करवटें बदलते रहे और सोचते रहे कि "नाहक़ ही मैंने कहा। नीयत क्या थी, क्या हो गया? मगर भूल शायद मेरी ही थी। मुझे जानना चाहिए था कि एक ही लेक्चर में सुधार नहीं हो सकता।" ख़ैर अब तो बात वापस आ नहीं सकती। मैं ही अम्मा से कह दूँ तो शायद अधिक ठीक हो।" रात भर के जगे थे। सो गये और ११ बजे तक सोते ही रह गये। दोपहर होने को आया तब मिश्राइन जी स्वयं ही जगाने गईं। रामलगन ने उठते ही माता को देखकर समझा कि देवकी ने शिकायत कर दी और वह उसे डाँट-डपट करने आई हैं। इससे वे स्वयं ही कहने लगे—"अम्मा, इस घूँघट का सत्यानाश हो जाय। कैसी बुरी चीज़ है! तुम भी अब छोड़ दो।"

"हाँ है तो बुरी चीज़, मगर पुरखों ने कुछ समझकर ही तो इसे चलाया है। अब थोड़े ही छूट सकता है।"

"मैं तो हर्गिज़ पसन्द नहीं करता। धोखे में मैं तो ज़लील हो गया।" यह कहकर उन्होंने पहले दिन का सच्चा हाल बता दिया और कहा कि मैं तो मैं, बुधिया बेचारी मुफ़्त बुरी बनी।

मिश्राइन जी को मानो बुधिया पर शक होने लगा। वे बोलीं—"अरे! वह बड़ी चरित्तरवाली है। तुम अभी बच्चे हो। इन लोगों की चालबाज़ी क्या जानो? उसने जानबूझ कर तुम्हें... मैं आज ही उस मुई को गाँव से निकाल दूँगी। उसकी यह मजाल कि तुम्हारे बदन में हाथ लगाये।

रामलगन ने माता से सहानुभूति की आशा की थी, वहाँ उलटा ही असर पड़ा। उन्हें भी क्रोध आ गया। सीधा होकर बैठ गये और बोले—तुम लोगों की तो अक़्ल पर पत्थर पड़े हैं। किसे समझाऊँ? मगर अम्मा, सुनो। यदि तुमने इस बात को किसी से भी कहा तो मैं घर छोड़कर चला जाऊँगा और फिर तुम मेरी सूरत कभी न देखोगी। किसी लड़की को बदनाम करना जैसे कोई बात ही न हो!

"तो फिर ऐसी लड़की को घर में कैसे रहने दूँ?"

"अगर किसी का दोष है तो मेरा। उसने क्या पाप किया जो वह दंड भोगे? मैं यह बात नहीं सह सकता। मैं घर से पहले जाऊँगा, वह पीछे।"

मिश्राइन जी को अब पूरा विश्वास हो गया कि बुधिया ने इस 'भोले बालक' पर जादू कर दिया है। किन्तु रामलगन की धमकी का पूरा असर पड़ा। उन्होंने मिश्र जी से रिपोर्ट कुछ नमक-मिर्च लगा कर की तो सही, मगर इस समय चुप ही रहने की सलाह दी। बुधिया पर कड़ा पहरा रहने लगा।

[३]

देवकी को ग्रेजुएट बनाने के फेर में रामलगन ख़ुद ग्रेजुएट होना भूल गये। चार दिन की भी छुट्टी होती तो घर दौड़ जाते और दो-एक दिन कालेज खुलने के बाद ही आते। देवकी का दिल पढ़ने में नहीं लगता था, वह कोई चीज़ भी याद न रखती। समझाना, बुझाना, लड़ना, झगड़ना, रूठना, न आने की धमकी देना, एक भी जुगत न लगती।

"हमको फिर फिर वही वही पढ़ना अच्छा नहीं लगता। नई नई पुस्तक पढ़ने में जी लगता है। हम पागलों की तरह वही वही किताब नहीं रटेंगी।"

रामलगन की आशाओं को धक्का लगता। वह कहता—"इम्तिहान के वास्ते तो घड़ी बड़ी बड़ी किताब पढ़नी ही पड़ेगी।" यही समझा-बुझा कर वह चला जाता।

दो वर्ष बीतने के आये और श्रीमती जी की पढ़ाई में कोई तरक्की न हुई। स्वयं रामलगन इम्तिहान में फ़ेल हो गये और इसका दोष देवकी के सिर मढ़ा गया और आपस में इस बात पर कुछ झगड़ा भी हुआ। ठाकुरसिंह ऊँचे दर्जे में चला गया था, किन्तु उसकी छोटी बहन मैना रामलगन के क्लास में पढ़ने आ गई थी। इन्हीं तीनों में आपस में मित्रभाव भी था।

ठाकुरसिंह और मैना, रामलगन के कमरे में पहुँचे और देवकी की पढ़ाई पर बातचीत करने लगे। इन्होंने पढ़ाई की रिपोर्ट देते हुए कहा—"पढ़ने में जी नहीं लगता है, मगर इस दफ़े दोहराते रहने का वादा तो किया है। बिलकुल देहातीपन भरा है। बात बात पर दूसरी स्त्रियों पर शक करती है। ख़ाली वही नहीं अम्मा तक की यही हालत है। यह देहाती लोगों का क़ायदा है। इनमें उनका अधिक दोष भी नहीं है।"

दोनों भाई-बहनों के ज़ोर देने पर कुल दोनों वर्ष का क़िस्सा रामलगन ने सुना दिया। इस पर तीनों खूब हँसे और हँसते ही हँसते ठाकुरसिंह ने कहा—"असल में तुम्हीं आज तक यह न समझे कि यह दस्तूर ख़ाली देहाती स्त्री का ही नहीं, बरन तमाम दुनिया की स्त्रियों का है, चाहे वे इसी देश के किसी शहर की रहनेवाली हों या योरप अमरीका के किसी देश की। भाई साहब, इस मामले में बड़ी बड़ी सभ्य, बड़ी बड़ी शिक्षित भी अपनी असभ्य और अशिक्षित बहनों से कम नहीं। अरे साहब, कोई भी स्त्री किसी भी पुरुष के बड़े से बड़े दोषों को क्षमा कर देगी, किन्तु दूसरी स्त्री के मामूली दोष या दोष के संदेह को वह कभी क्षमा न करेगी।"

भाई के ये विचार मैना देवी को मालूम थे, किन्तु वह उनसे सहमत न थी। वहाँ वह स्त्री-जाति की प्रतिनिधि थी। दूसरे आदमी के सामने अगर चुप रहे तो मानो मुक़द्दमा एकतरफ़ा डिगरी हुआ। वह गर्म हो गई और बोली—"इसी तरह पुरुषों ने स्त्रियों को बदनाम किया है। मर्द क्या ऐसे नहीं होते जो किसी स्त्री के किसी दोष को क्षमा न करें? आप तो जान-बूझकर दुनिया भर में कीड़े बटोरते फिरें और अगर किसी स्त्री का भूल से या पुरुषों के अत्याचार से या बलात्कार से पैर फिसल जाय तो उसे आजन्म बल्कि जन्मान्त तक के लिए नरक में ढकेल दें।"

रामलगन ने मैना का ही पक्ष लिया। उन्होंने कहा—"सच तो कहती है। क़ुसूर तो हमारा-तुम्हारा ही है। उन बेचारियों को क्यों दोष देते हो?"

"क़ुसूर किसी का भी हो। किन्तु बात जो मैंने कही वह तो सच है।" ठाकुरसिंह ने ज़ोर से हँस कर कहा।

मैना देवी फिर ज़रा तेज़ी से बोलीं—"यही पुरुषों की ज़्यादती है। अपने क़ुसूर पर स्त्रियों को दोष देते हैं। मास्टर मिश्र जी आप भैया की बातों में न आइएगा। इनकी चले तो सबका रास्ता खो दें। आप अपनी देवकी देवी को खूब पढ़ाकर देख लें।"

× × ×

इम्तिहान अब पास आने लगा था। रामलगन इस दफ़े फ़र्स्ट क्लास में पास करना चाहते थे। घर को लिख दिया कि दशहरे की छुट्टी में गाँव न आना होगा।

जब यह पत्र मिश्र जी घर में लाये तब मिश्राइन जी देवकी के कमरे में बैठी थीं। वे बोले—"अरे कहाँ गई! सुनती भी हो। भैया की चिट्ठी तो सुन जाओ।"

मिश्राइन जी तुरंत ही उठीं। माथे तक घूँघट खींचा और बाहर आ गईं। देवकी ने दरवाज़े के पास आकर कान लगा दिये और जब यह सुना कि वे दशहरे की छुट्टी में नहीं आवेंगे तो ठंडी साँस ली। पर इतमीनान इस बात का था कि बुधिया भी गर्मी के पहले ब्याह कर चली जायगी। बुधिया का डर अभी तक उनका पीछा कर रहा था। मिश्राइन जी ने पत्र के बारे में देवकी से कुछ न कहा। पुत्र-वधू से उसके पति के बारे में बात ही कैसे कर सकती थीं? उन्होंने अपने समय में इसी तरह कान लगाये थे और यह मान लिया था कि उसने भी कान लगाकर खबर पा ली होगी। किन्तु देवकी ऐसी भोली बन गई, जैसे उसे कुछ खबर ही नहीं। ऐसी धोखेबाज़ी समाज में ठीक मानी जाती है। ठीक ही होगी। × ×
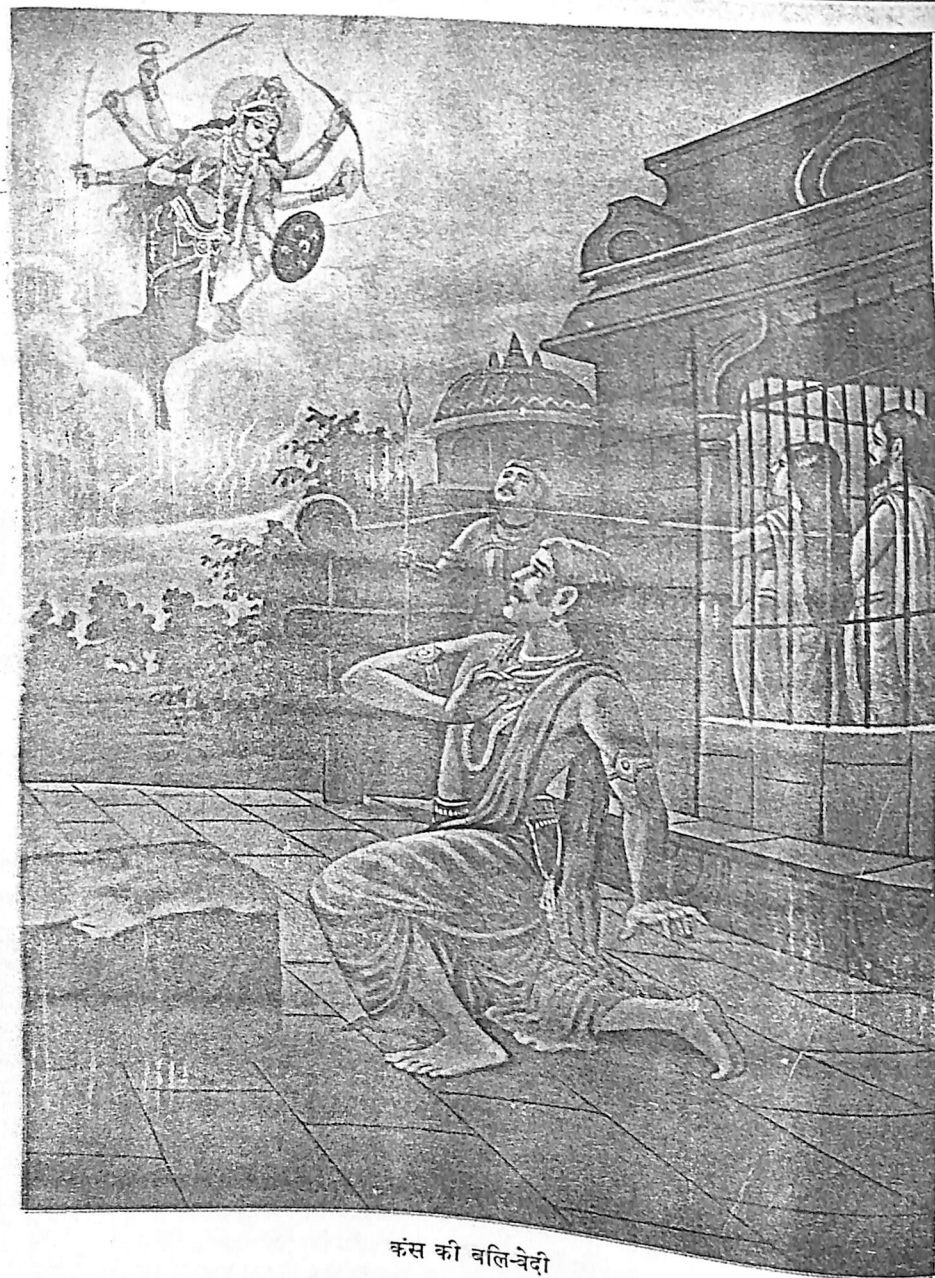
कंस की बलि-वेदी

[चित्रकार—श्रीयुत उपेन्द्रकुमार मित्र

...क्टर मोहनलाल अग्रवाल आप वायना (आस्ट्रिया) से नेत्र-चिकित्सा में विशेष ...यता प्राप्त करके लौटे हैं। इस समय ...लीगढ़ में हैं।

सैयद रज़ा अली—आप दक्षिण अफ्रीका में गवर्नर जेनरल के एजंट नियुक्त होकर गये हैं।

मुहम्मद अबू ज़फर, इंडियन पुलिस सर्विस के लिए यू० पी० के उम्मीदवारों में आप सर्वप्रथम आये हैं।

श्री सत्यवती देवी—प्रान्तीय सहयोग-समिति की इन्सपेक्ट्रेस

...सेठ, एम० ए०—आपका हाल ही में स्वर्गवास हो गया है।

——

डाक्टर एन० बी० खरे—श्री अभ्यङ्कर की मृत्यु के पश्चात् आप नागपुर डिवीज़न से कांग्रेस की ओर से एसेम्बली के लिए ख... हुए और अविरोध चुन लिये गये।

डाक्टर बी० ए० अग्निहोत्री—आप सांस्कृतिक सद्भाव की वृद्धि के उद्देश से आस्ट्रिया के एक प्रतिनिधि-मंडल के सभापति के रूप में भारत का दौरा कर रहे हैं।

——

शाहजहाँपुर के ज़मींदार कुँवर ज्योतिप्रसाद—आपने यह शेर नवीनगर के जगल में मारा है। यह शेर ६ फुट १० इंच है।
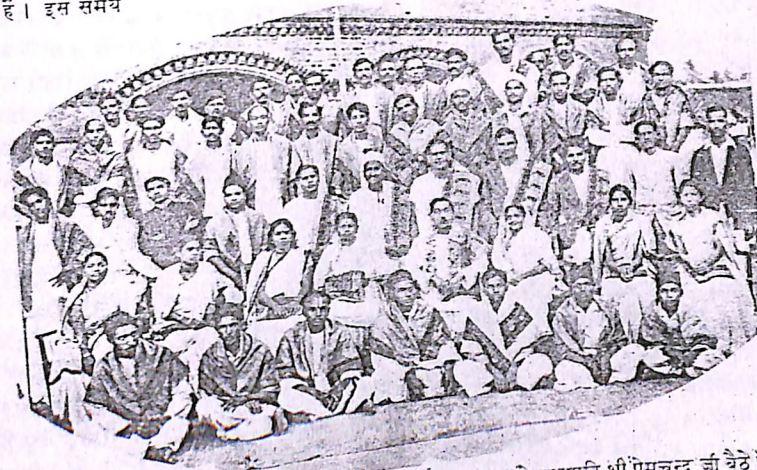
...कुमार मानसिंह (...ड़ा)—आप प्रथम ...कुमार हैं जो ...यत से बैरिस्टरी ... करके लौटे हैं।

दक्षिण-भारत-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, मदरास—बीच में माला पहने सभापति श्री प्रेमचन्द जी बैठे हैं।

निज़ाम के द्वितीय पुत्र की वधू

...लाला नन्दलाल—आप पंजाब के एक पक्के समाज-सुधारक थे।

ट्रेनिङ्ग कालेज, इलाहाबाद के प्रिन्सिपल मिस्टर डब्ल्यू० जी० पी० वाल और उनकी पत्नी।

बाबू रामेश्वर-प्रसाद वर्मा, ए० आर० सी० ए० (लन्दन)—पाँच वर्ष के बाद विलायत से भारत लौटे हैं। आपकी चित्रकला के कुछ नमूने अन्यत्र छपे हैं।

अशोक का राज्य-दान

[चित्रकार—श्रीयुत शम्भूनाथ मिश्र

गर्मी की छुट्टी में रामलगन घर आया। उसे जब मालूम हुआ कि देवकी ने साल भर में कुछ नहीं पढ़ा तब क्रोध में होकर बोला—

"जो कुछ भी मैं पढ़ा कर गया था, तुमने सब भुला दिया। मेरे किये-कराये पर पानी फेर दिया। शायद पिछले नौ महीने में एक दफ़े भी किताब न खोली होगी। पढ़ना तक तो भूल गईं। पहाड़ा याद करना तो दूर की बात थी। मैं क्या अपने दोस्तों को मुँह दिखाने क़ाबिल रहा? बड़ी बड़ी बातें कह आया था। इन्हें ग्रेजुएट बनाऊँगा अपना सिर।"

श्रीमती जी पहले तो हँसती रहीं, फिर गम्भीर हो गईं और उसके बाद गर्म होकर बोलीं—"हमसे पढ़ा-बढ़ा न जायगा! हमसे दूसरी दफ़े कोई पुस्तक नहीं पढ़ी जाती। हम इम्तिहान-विम्तिहान नहीं देंगी, चाहे जो हो।" इतना कहकर वे मुँह लपेट कर लेट रहीं।" मगर सोने के पहले कुछ रोना-धोना हो गया। और यद्यपि रामलगन को मालूम हुआ और साफ़ सिसकियों की आवाज़ उसने सुनी, तो भी वह पास आकर न बैठा।

(४)

मैना इस साल बी० ए० पास हो गई। ठाकुरसिंह यूनिवर्सिटी में क़ायम मुक़ाम लेक्चरर मुक़र्रर हुआ था। ठाकुरसिंह ने कालेज से आते ही बहन से पूछा कि रामलगन की कुछ याद है या भूल गई।

"उसे भला कोई भी भूल सकता है। क्यों, आज कैसे याद आये?"

"उसका पत्र आया है। तुम्हें बधाई दी है। जोरू की तरफ़ से बड़ा दुखी है। यह लो, पढ़ो।"

मैना ने पढ़ा—

"प्रिय मित्र, मुझे समाचार-पत्र में यह देख कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि तुम अपनी ही यूनिवर्सिटी में लेक्चरर नियुक्त हो गये। उससे भी अधिक मुझे इस बात की ख़ुशी हुई कि मैना देवी ग्रेजुएट हो गईं। क्या करूँ? मेरे लड़कपन के सारे विचारों पर पानी पड़ गया। कहाँ तो अपनी अर्धाङ्गिनी को ग्रेजुएट बनाने चला था, कहाँ मैं स्वयं ही कोरा रह गया। पिता जी ने मुझे एक देहातिन को मेरे पल्ले बाँधकर मेरे साथ कैसा अन्याय किया है, यह तुम ख़ूब समझ सकते हो।

मैंने बड़ी बड़ी कोशिशें कीं कि थोड़ा-बहुत पढ़ना-लिखना सीख ले इसकी उसे ज़रा भी परवा नहीं कि मैं क्या चाहता हूँ। वह धर्म से ज़रा न टलेगी। और वह धर्म क्या? घर से बाहर न निकलना, मुँह से घूँघट न हटना, मेरे दोस्तों को शोहदा-लुच्चा बनाना और फिर यह चाहना कि मैं उसकी हाँ में हाँ ही मिलाता रहूँ। मज़ा तो देखो कि पिता जी तक उसकी तरफ़दारी करते हैं और मुझे अत्याचारी बताते हैं। वह केवल इस वास्ते कि दो-एक दफ़े उसकी ढिठाई या उसकी कड़वी बोली पर मेरा हाथ चल गया। कहाँ तक मैं सब्र करता। मैंने उसे सुधारने को ही ताड़ना दी थी, जब से पूज्य माता जी का स्वर्गवास हो गया है तब से घर में मेरा तरफ़दार भी तो कोई नहीं रहा।

"मैं यदि स्वाधीन होता तो उसके सिर पर एक सौत बिठा देता, किंतु पिता जी उसकी तरफ़ हैं। क्या खाऊँगा, क्या उसे खिलाऊँगा? यदि ज़मींदारी का काम मैं ही न देखता होता तो घर में घुटकर मर जाता। काम-काज में समय कट जाता है। परन्तु यह ख़याल रहे कि घर में स्त्री से महीनों तक साक्षात् तक नहीं होता। मैं तो घुला जाता हूँ, किंतु वह खुश मालूम होती है। सच कहता हूँ, उसे मेरी परवाह नहीं और न पिता जी को ही है। अपना दुखड़ा रोकर तुम्हें सुनाया कि उससे दुखी मन ज़रा हलका हो जाय। तुम मुझे सलाह दो कि मुझे इस स्थिति में क्या करना उचित है।"

मैना पत्र पढ़कर हँसने लगी और पूछा—

"फिर तुमने क्या सलाह दी?"

"यही तो तुमसे पूछता हूँ कि क्या लिखूँ।"

"और लिखोगे भी कैसे? बिना दूसरी तरफ़ की सुने? ऐसी सलाह देने का ठेका तो समाचार या मासिक पत्रिकाओं के सम्पादक लोग ही ले सकते हैं।"

ठाकुरसिंह ने क्या सलाह दी, इसकी हमें ख़बर न हो सकी।

जाग्रत महिलायें

महिला-महत्त्व

लेखिका, श्रीमती कमलाबाई किबे

सौभाग्यवती कमलाबाई किबे मराठी की श्रेष्ठ लेखिका हैं साथ ही हिन्दी से भी आपका अगाध प्रेम है। इस लेख में आपने स्त्रियों की स्थिति के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। स्त्रियों की समस्याओं पर प्रकाश डालनेवाले आपके और भी कई उपयोगी लेख सरस्वती में प्रकाशित होंगे।

आधुनिक सुधारक समाज के अन्दर जब महिलाओं के सम्बन्ध में वाद-विवाद होने लगता है तब बहुत-से विद्वान् वक्ता बड़े अभिमान के साथ स्त्रियों का पक्ष और उनके श्रेष्ठत्व का समर्थन करते हुए दृष्टि आते हैं। उनके उस समर्थन में गंभीरता, सहानुभूति और आदर की कितनी मात्रा रहती है, उसके माप का सहज और सुलभ साधन हमारा वर्तमानकालीन समाज और उसकी मौजूदा परिस्थिति ही है। किसी व्यक्ति के भाषण की सत्यता उसके कार्यों-द्वारा जानी जा सकती है, सच्चे आचार की उच्चता उसके चाल-चलन से जानी जाती है और समाज के सेवक की महत्ता उसकी सामाजिक सेवाओं में निहित रहती है। आपको संसार में ऐसे बहुत कम लोग मिलेंगे जो अपनी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न न हो जायँ। प्रशंसा का प्रभाव ही ऐसा होता है कि हमारी सहानुभूति प्रशंसक की ओर अज्ञात रूप से स्वयं आकृष्ट हो जाती है। मन की यह प्रवृत्ति कहाँ पर रोकी जाय और कहाँ जाने दी जाय, इस बात को तो सुसंस्कृत मन के विचारवान जन ही जान सकते हैं। हाँ, यह बात सत्य है कि स्त्रियों के सम्बन्ध में यह प्रश्न ज़रा कठिन और साथ ही नाज़ुक उत्तरदायित्व का है। बात यह है कि आज-कल नये और पुराने का मिश्रण हो रहा है—यह समय संक्रामक काल है। ऐसे समय में हमें इस बात को ज़रूर देख लेना चाहिए कि उपयुक्तता की दृष्टि से सभी पुरानी बातें त्याज्य और सभी नई बातें ग्रहणीय नहीं हो सकतीं। हमें तो नफ़े-नुक़सान का ख़याल करके ही नये का ग्रहण करना चाहिए। नहीं तो भविष्यकाल के निरीक्षणकर्ता लोग यही कहेंगे कि हमारे पूर्वजों ने अमुक बात अविचार के द्वारा ग्रहण की थी।

वर्तमान समय के हमारे घर आर्यों के ध्वंसावशेष हैं। हम महिलाओं का जीवन आज-कल इन्हीं घरों में व्यतीत होता है, और बड़ी बेफ़िक्री के साथ व्यतीत होता है। हमें स्त्री-जीवन का महत्त्व, संसार की एक विभूति आदि दृष्टियों से संसार में भ्रमण करने का कुदरती अधिकार है या नहीं? अभी इन बातों पर विचार करने की शक्ति लाखों स्त्रियों में आना बाक़ी है। किन्तु प्रश्न यह है कि इस प्रकार की जागृति कौन करेगा। यह सत्य है कि प्रत्येक घर के विशाल नारी-हृदय में इस प्रकार की घोर मानसिक दुर्बलता में से जागृत होने का उन्नत पथ विद्यमान है। हमारी अनेक भगिनियाँ चूल्हे में नित्य ही दहकती हुई अग्नि को दबा देती हैं, किन्तु वे इस बात से बेख़बर हैं कि वही अग्नि कितनी व्यापक और विशाल है। इसी प्रकार वे मानवीय हृदय की महत्ता को भी नहीं पहचानतीं। उनकी भावना तो यही रहती है कि यह तो एक साधारण दैनिक कार्य है, किन्तु यदि उसी समय विचारों की शृंखला जोड़ी जाय तो उन्हें विदित होगा कि उनके अन्दर अर्थों की कड़ियाँ कितनी गम्भीर और गहरी हैं। यह बात सत्य है कि जहाँ विचारशक्ति की वृद्धि रुक जाती है, वहाँ मानवीय जीवन का पतन होना अवश्यम्भावी है। हमारी गृहस्थी के अन्दर जिस दिन से यह भ्रामक कल्पना शुरू हुई कि 'घर और उसके निश्चित व्यक्ति ही सब संसार है', उसी दिन से स्त्री-जीवन की श्रेष्ठता रसातल को चली गई। उसी दिन से हमारे घरों का विध्वंस होना शुरू हुआ, उसी दिन से घर के देवताओं के देवत्व का लोप हुआ और अज्ञानतारूपी अन्धकार को ही सब लोग प्रकाश का रूप समझने लगे। इस प्रकार के समाज में जीवित जागृति का प्रकाश आना असम्भव है। क्या इस दुर्दैव को बताने के लिए भी ज्योतिषी की आवश्यकता है? विशाल देवरेखा का अधःपतन आँखों के सामने दीख रहा है, फिर भी मरणासन्न के समान स्तब्धता धारण किये रहने में कौन बड़ाई है? रात-दिन की पीड़ा, कष्टमय जीवन, पगपग पर अपमान और तिरस्कार, इस तरह के बीसियों प्रकार के भारों से दबा हुआ जर्जरित नारी-जीवन प्रसन्नतापूर्ण, उन्नत और तेजस्वी क्योंकर हो सकता है?

स्त्री-जाति क्या है? यदि हम कहें कि वह नैसर्गिक सौन्दर्य की खानि, अत्युच्च मानवीय बुद्धिमत्ता की निधि, माता के स्नेह का बहता हुआ झरना, महान् सतियों की तेजस्विता का स्मृति-चिह्न, मानव-समाज का अद्वितीय रक्षक और ध्रुव धर्म की जीती-जागती ज्योति है तो कोई अत्युक्ति न होगी। स्त्रीजाति की इतनी बड़ी महत्ता के होते हुए भी आज-कल हम असहाय और निराश्रित जीवन व्यतीत कर रही हैं, यह कितनी लज्जा की बात है? यदि हम अपनी थोड़ी-सी गृहस्थी को ही समस्त संसार समझती रहेंगी तो फिर इस विशाल संसार पर शासन करने की हमारी महत्त्वाकांक्षा कैसे सफल होगी? हमारी नारी-जाति इस बात पर कब विचार करेगी? अब तो हमें चाहिए कि हम अपने सम्मुख यह उच्च ध्येय रक्खें कि हम अपना योग्य अधिकार, कर्तव्य और सेवा के मार्गद्वारा अवश्य ही प्राप्त करके छोड़ेंगी। इसी ध्येय के विस्मृत हो जाने से अज्ञानतारूपी राक्षस हमारे ही हाथों से समस्त कुल का नाश करा रहा है। यह रफ़्तार कब तक बनी रहेगी? यदि हम स्वयं अपनी आत्मा को विचारों-द्वारा जागृत करके अपने बिगड़े हुए गृह-राज्य को पुनः सुधारने का प्रयत्न करेंगी तो उसका फल अच्छा ही होगा। वर्तमान समय का निर्बल नारी-जीवन संकुचित परिवारों के अन्दर ही नष्ट हो रहा है। उसकी ओर महत्त्वपूर्ण दृष्टि से देखनेवाला द्रष्टा समाज के अन्दर कोई बिरला ही होता है। अभी तक घर के सभी प्रमुख पुरुषों का ध्यान स्त्रियों के सम्बन्ध में जैसा चाहिए वैसा नहीं गया है। नारियों के जिस सौन्दर्य पर अनेक जन मोहित होते हैं, श्री शुक्राचार्य जी उसी सौन्दर्य पर अखण्ड विजय प्राप्त करते हैं। बड़े दुःख और सन्ताप की बात है कि अनेक लोग स्त्रियों के उसी सौन्दर्य पर अमानुषीय अत्याचार करके उसे नष्ट कर रहे हैं! जिस पवित्र दृष्टि में संसार का समस्त

मातृ-स्नेह भरा हुआ है, उस दृष्टि को केवल चौके-चूल्हे में सीमित करने का उपदेश करनेवाले लोग कितना अन्याय करते हैं, कितनी उन्मत्तता दिखाते हैं? एक ऊँचे दाम्पत्य जीवन में सेवा, त्याग और निर्मल पवित्रता होनी चाहिए, किन्तु आज-कल के दाम्पत्य जीवन का चित्र अण्टसण्ट और भद्दा क्यों नज़र आता है? यथायोग्य संयम, त्याग की पराकाष्ठा, सीधे-सच्चे मार्ग से चलने की धुन इत्यादि प्रकार के सद्गुणों से भरा हुआ नारी-जीवन आज-कल के अनेकानेक घरों में सड़ रहा है और मूक पशुओं की नाईं भारवाही जीवन व्यतीत कर रहा है! यद्यपि कतिपय महिलायें नूतन शिक्षा से सुशिक्षित दृष्टि में आती हैं, तथापि अभी तक बहु-संख्यक स्त्री-समुदाय देशी राज्यों की दुखी और मूक प्रजा के समान सती-धर्म के अनुसार चलकर जीवन व्यतीत कर रहा है। इन बहनों का उद्धार कौन करेगा? अभी तो महिला, पत्नी, माता, समाज-सेविका और राष्ट्र के अवयव के नाते बहुत-से स्थानों में हम लोग नहीं के बराबर हैं। इन बातों की ओर भी हमें ही ध्यान देना चाहिए।

स्कूली शिक्षा से साक्षरता अवश्य बढ़ती है, किन्तु मानसिक विचारों की प्रगति रुक जाती है। अतएव शिक्षा में सुधार करने का मुख्य कार्य भी स्त्रियों को ही करना होगा। यदि वही स्त्रियाँ केवल चौके-चूल्हे को ही अपना मुख्य कार्य-क्षेत्र समझती रहेंगी तो फिर समाज, देश और उसकी अमूल्य प्राचीन संस्कृति की शिक्षा कौन देगा? इस समय विदेशी संस्कृति हमारे दरवाज़ों पर खड़ी होकर झाँक रही है और हमारे घरों के भीतर प्रवेश करना चाहती है। उसका इस प्रकार से झाँकना ठीक है या नहीं, इस बात का निर्णय क्या पुरुष ही करेंगे? यदि उन्होंने ऐसा किया तो यह उनका एक बड़ा भारी अन्याय होगा। यह तो एक तरह का दमन का राज्य ही होगा। पुरुषगण तो सत्याग्रह करके स्वराज्य प्राप्त करेंगे, पर महिलाएँ क्या करें? महिलाओं को भी जागृत होकर अपने दृढ़ निश्चय पर चलना चाहिए। वे भी झूठे मोह को तिलांजलि देकर अपने सुदृढ़ सदाचार पर भरोसा करना सीखें और उद्धार के कार्य में अपने भाइयों का साथ दें। यही एक ज़रिया है कि वे घरों में, समाज में और सारे संसार में अपने गुणों की प्रशंसा करा सकती हैं। व्यसनी मनुष्य और उसका उन्मत्त आचरण, फ़िज़ूल बातों के सम्बन्ध में निरर्थक स्वतंत्र कल्पनायें आदि बातों में अधिक सतर्क रहकर जब हम उनके साथ निर्भयता का बर्ताव करेंगी, तभी जाकर अच्छी बातों की रक्षा हो सकेगी और त्याज्य बातों पर हमारा श्रेय नियंत्रण रह सकेगा। अधिक जल्दबाज़ी, बिना विचारे कार्य करना, जो कुछ दृष्टि आ जाय उसी का अंध अनुकरण करने लगना इत्यादि बातों के सम्बन्ध में हमारी जागृत बहनों को अधिक सतर्क रहना चाहिए। भावी स्वराज्य में हिन्दुओं का जीवन बड़े महत्त्व का रहेगा। उस समय हमारे देशभक्तों को यह चिन्ता रहेगी कि प्रत्येक हिन्दू का शरीर बलवान कैसे बने, मन की उदारता कैसे बढ़े और विचारों की वृद्धि कैसे हो। कारण यह है कि राष्ट्र को बना कर उसे जीवित बनाये रखने की जोखिम देशभक्तों पर ही रहती है। दासता के पंक में फँसे हुए राष्ट्र का जीवन व्यर्थ ही जाता है और उसका कोई मूल्य भी नहीं होता। इसके विपरीत जिस देश का मनुष्य स्वराज्य का उपभोग करता है, उसका मस्तक गर्व से ऊँचा रहता है। उसके सम्मुख एक ही ध्येय रहता है और वह यह कि मैं भी राष्ट्र का एक मनुष्य हूँ, मेरा जन्म देश को स्वतंत्र रखने के लिए हुआ है और मेरी मृत्यु भी उसी कार्य के लिए होगी।

जिन लोगों का जीवन और मृत्यु एक स्थान पर एक ही उद्देश के लिए होता है वही लोग संसार में जीवित राष्ट्र के नाम से बने रहने के पात्र हैं। इस स्थान पर स्त्री-पुरुष का भेद नहीं होता। वहाँ पर स्त्रियों के लिए भी सामाजिक, राजनैतिक और औद्योगिक क्षेत्र खुले रहते हैं। इसके अतिरिक्त घर के

कार्यकर्ता पुरुष ही उनके लिये ऐसा वातावरण तैयार कर देते हैं जिसके कारण स्त्रियों को इन क्षेत्रों में कार्य करने का विशेष उत्साह होता है। इन कार्यों-द्वारा समाज का हित तो होता ही है, पर साथ ही स्त्रियों का भी गौरव होता है। उसी में भावी परिस्थिति की भाग्य-रेखा छिपी रहती है। हमारे यहाँ के वर्तमानकालीन स्त्री-जीवन के प्रति पुरुषों की ओर से कोरी दया, पराकाष्ठा का उपहास, आवश्यकतानुसार रक्षा आदि के समान अनुदारता-पूर्ण कार्य होते हैं। हमें चाहिए कि हम नारियाँ इन बातों का न्यायमार्ग-द्वारा, आदरसहित और कठिन त्याग के साथ प्रतिकार करें। साथ ही हमारी शिक्षित बहनें इस बात का विचार करें कि हमारी अज्ञ बहनें वर्तमानकालीन अन्यायपूर्ण प्रथाओं से किस प्रकार मुक्त हो सकेंगी। ऐसी बहनें समाज-सेविका बनकर अपने सेवा-कार्य-द्वारा अज्ञ भगिनियों को ज्ञान का दान दें और इस प्रकार से अपने आर्य-महिला नाम को सार्थक और सुशोभित करें। इस कार्य में सिर्फ़ वृद्ध जनों का आशीर्वाद, ईश्वर की उपासना और दृष्टि की विशालता ही पर्याप्त है। हाँ, मन की क्षुद्रता, परिस्थिति को टालने की शीघ्रता, पारस्परिक द्वेष और व्यर्थ का गर्व अनावश्यक तथा कार्य-सिद्धि के बाधक हैं।

हरिजन-उद्धार के कार्य में लगे हुए भाइयों को भी उचित है कि वे अपने घरों की अछूत (अज्ञानी) बनी हुई भगिनियों की उन्नति करने में भी प्रसन्नता-पूर्वक योग दें तथा इस ओर भी कुछ प्रयत्न करके अन्यायपूर्ण बातों को बन्द कराकर पुण्य के भागी बनें। इस कार्य में उनका भी हित है और समाज का भी। यह बात सत्य है कि परिस्थिति अपना कार्य कर रही है, परन्तु इतने पर भी समाज के नेतागण उसे उचित मार्ग पर चलाने का प्रयत्न करते ही हैं। स्त्रियों की मानसिक अधोगति का ज्वलन्त चित्र दृष्टि के सम्मुख रहते हुए भी उस ओर से आँखें बन्द कर लेना हमारे भाइयों को शोभा नहीं देता। नारी-जीवन के उन्नत विचारों का ह्रास होने देना, इसका अर्थ तो यही होगा कि वे स्वयं अज्ञानता के कारण अपनी सुख-सुविधाओं को दूर ढकेल कर दुखरूपी खाई में पड़ना चाहते हैं। नारियाँ घरों की देवियाँ, समाज की शोभा और राष्ट्र के महान् नेताओं की जननी हैं। कम से कम इस नाते से भी भारत के आर्य-पुत्रों के हृदय में नारियों की मानसिक अवनति को यथाशक्ति दूर करने के लिए सतत प्रयत्न करने की प्रेरणा उत्पन्न हो, ऐसी आशा करके मैं इस समय लेखनी को विश्राम देती हूँ।

गीत

लेखक, श्रीयुत रामविलास शर्मा, एम० ए०

मंजरित डाल रसाल की।
सखि, धृत-सुछवि मधु-गन्ध-आकुल
गुंजरित अलि-माल की।
रँगता अरुण-रँग तरुण-रवि
मुकुलित नवल-कलि-दल मृदुल,
छाई चतुर्दिक भुवन-वन
उपवन-गगन में श्री अतुल
घन-किरण-सुवरण-जाल की।
चिर-पीत-कुसुमासव-अनिल-चल
विकंपित-शस्यांबरा,
करती तपन-कर-स्पर्श-क्रीड़ा-
चारु अवगुंठित धरा
प्रिय-रूप-द्युति निज भाल की।
बैठी किसलोयत विटप शाखा
पर, विजन में साध स्वर,
गा रही पिक, किसका हृदय में
आज यों अनुराग भर,
नव रागिनी मधुकाल की?

हास-परिहास

दलबंदी में पड़ा हुआ मनुष्य पक्षपात के कारण कभी कभी किस प्रकार उपहासास्पद बन जाता है, इसका ताज़ा उदाहरण पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने देव-पुरस्कार के निर्णय के बाद उपस्थित किया है।

× × ×

त्रिपाठी जी चाहते थे कि यह पुरस्कार हरिऔध जी को उनके 'रसकलस' पर मिले। परन्तु ऐसा न होकर यह पंडित दुलारेलाल भार्गव को उनकी 'दुलारे-दोहावली' पर मिल गया।.

× × ×

त्रिपाठी जी की रुचि के अनुसार यह कार्य्य नहीं हुआ इसलिए आप आपे से बाहर हो गये हैं। आश्चर्य्य तो यह है कि निर्णायकों को त्रिपाठी जी की रुचि का पहले से पता था, तब भी उन्होंने उसकी उपेक्षा क्यों की?

× × ×

यह षड्यन्त्र! यह स्वेच्छाचारिता!! यह हिन्दी का अहित!!! त्रिपाठी जी इसे सहन नहीं कर सकते। कोई भी निर्णायक हो त्रिपाठी जी उसे मूर्ख कहेंगे।

× × ×

किसी ने त्रिपाठी जी के कान में कह दिया—महात्मा गांधी भी निर्णायक थे। बस त्रिपाठी जी ने बिना इस बात का पता लगाये कि इसमें कुछ सचाई है या नहीं महात्मा गांधी को भी फटकार डाला।

× × ×

वे बोले—"महात्मा गांधी व्रजभाषा की कविता में कितना दख़ल रखते हैं, यह अभी तक हिन्दीवालों को मालूम नहीं है।" ख़ूब! क्रोध आये तो इस तरह आये!

× × ×

त्रिपाठी जी महात्मा गांधी से अपनी रचनाओं पर सम्मति प्राप्त कर चुके हैं। और उनके बल पर दूसरों पर रोब भी ग़ालिब करते आये हैं। पर वे ही महात्मा गांधी जिन्होंने त्रिपाठी जी जैसे श्रेष्ठ कवि की कृति पर सम्मति दी, इतना नीचे क्यों गिर गये कि उन्होंने व्रजभाषा की ओर भी दृष्टिपात किया! सचमुच यह महात्मा गांधी की अनधिकार चेष्टा है! त्रिपाठी जी के साथ किसे सहानुभूति न होगी।

× × ×

काशी के पंडित प्रसन्न होंगे कि उनकी संख्या में एक की वृद्धि तो हुई। वे चिल्लाते थे कि महात्मा गांधी को धार्मिक मामलों में बोलने का क्या अधिकार है! अब त्रिपाठी जी भी उनके स्वर में स्वर मिलायेंगे और कहेंगे कि महात्मा जी को साहित्यिक मामलों में बोलने का क्या अधिकार है। इस युग में धर्म के ठीकेदार काशी के पंडित हैं और साहित्य के ठीकेदार प्रयाग के पंडित रामनरेश त्रिपाठी हैं!

× × ×

सबसे आश्चर्य्य की बात तो यह है कि त्रिपाठी जी के इतना पास रहते हुए भी हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के प्रधान मंत्री पंडित जगन्नाथप्रसाद शुक्ल

वैद्य ने व्रजभाषा के मामले में टाँग क्यों अड़ाई? अगर कोई बीमार होता, किसी की नब्ज़ देखनी होती, किसी को दवा पिलानी होती तो एक बात भी थी। ऐसे वैद्य ने व्रजभाषा की कविता का निर्णायक होना स्वीकार कर लिया यह उनकी नियुक्ति से भी अधिक आश्चर्य्यजनक है।'

× × ×

समझ में नहीं आता कि ओरछा के महाराज ने देव-पुरस्कार का निर्णय करने के लिए त्रिपाठी जी को क्यों नहीं बुलाया? क्या उन्होंने यह समझा कि त्रिपाठी जी का सेठों और राजाओं से परिचय नहीं है? त्रिपाठी जी भी बड़े बड़े सेठों से और राजाओं से हाथ मिला चुके हैं।

× × ×

इसके अतिरिक्त त्रिपाठी जी की कृतियों पर अँगरेज़ों तक ने सम्मति दी है। एक अँगरेज़ कलेक्टर ने उनके ग्राम्य गीतों की प्रशंसा 'पायनियर' में छपाई थी और सो भी उस समय जब अँगरेज़ उसका सम्पादक और अँगरेज़ ही उसके पढ़नेवाले थे।

× × ×

उस अँगरेज़ को त्रिपाठी जी के ग्राम्य गीतों पर सम्मति देने का क्यों अधिकार था और महात्मा गांधी को व्रजभाषा की कविता पर सम्मति देने का क्यों अधिकार नहीं है, यह त्रिपाठी जी से पूछने का साहस हम नहीं कर सकते, क्योंकि वे हिन्दी-साहित्य के मुल्ला हैं और उनका काम तर्क सुनना नहीं 'फ़तवा' देना है।

× × ×

गुस्से में त्रिपाठी जी ने एक और बात कह डाली है—'हिन्दी-साहित्य ग़रीब कवियों और लेखकों की सम्पत्ति है'। ......'तुलसीदास एक मँगते थे।' ख़ैर, गुस्से में ही सही, ग़रीबों और भिखमँगों के साथ त्रिपाठी जी को सहानुभूति तो हुई!

× × ×

तुलसीदास मँगते नहीं थे, त्यागी थे। त्रिपाठी जी हिन्दी का इतिहास तैयार कर रहे हैं। यदि उन्होंने उस इतिहास को भी क्रोध की हालत में ही लिखा होगा तो बहुत-सी नई और अजीब बातें हमें पढ़ने को मिलेंगी।*

× × ×

इस समय त्रिपाठी जी की इन साहित्यिक सेवाओं की कोई भले ही क़द्र न करे, पर आनेवाली पीढ़ी उनकी बिना कृतज्ञ हुए न रहेगी, क्योंकि उसे त्रिपाठी जी की ये क्रोध-भरी बातें 'सिकन्दरी भुजा' की भाँति 'यहाँ न आ न आ' का उपदेश देंगी।

× × ×

संसार से अनुचित पक्षपात तभी दूर हो सकता है जब कोई महापक्षपाती पुरुष अवतार ले और क्रोध का नग्न रूप दिखाकर संसार के नागरिकों में उसके प्रति अरुचि उत्पन्न कर दे। हम त्रिपाठी जी के कृतज्ञ हैं कि वे समस्त संसार न सही तो कम से कम हिन्दीवालों को तो भाषा के क्रोध और असंयम का सच्चा स्वरूप दिखाने पर तुल गये हैं।

—सदानन्द

* भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जैसे लोग सड़कों पर भीख माँगते दिखाई पड़ेंगे।
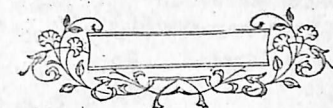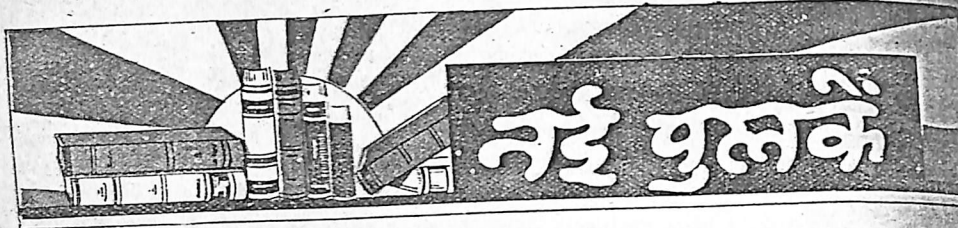
नई पुस्तकें

[प्रतिमास प्राप्त होनेवाली नई पुस्तकों की सूची। परिचय यथासमय प्रकाशित होगा।]

१—काव्यकल्पद्रुम (प्रथम भाग) (रस-मंजरी)—लेखक, श्रीयुत सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, प्रकाशक, गंगा-ग्रंथागार, लखनऊ हैं। पुस्तक का मूल्य २॥) है।

२—आँख और कविगण (साहित्यिक पुस्तक)—सम्पादक, पण्डित जवाहरलाल चतुर्वेदी, प्रकाशक साहित्य-सेवा-सदन, काशी हैं। सजिल्द का मूल्य ३॥) है।

३—भक्त और भगवान (भक्ति-काव्य)—सम्पादक, पण्डित जवाहरलाल चतुर्वेदी, प्रकाशक, हिन्दी-साहित्य-कुटीर, बनारस सिटी हैं। सजिल्द पुस्तक का मूल्य १॥) है।

४—भारतीय बैंकिङ्ग (बैंक-सम्बन्धी)—लेखक, श्रीद्वारिकालाल गुप्त, प्रकाशक, रायसाहब रामदयाल अगरवाल, २१६ कटरा, इलाहाबाद हैं। सजिल्द पुस्तक का मूल्य १॥) है।

५—श्री श्रीचैतन्य-चरितावली (तृतीय खंड)—लेखक, श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, प्रकाशक, गीताप्रेस, गोरखपुर हैं। सादी पुस्तक का मूल्य १) है।

६—कसक (कविताओं का संग्रह)—लेखक श्री हृदय-नारायण पांडे, 'हृदयेश, प्रकाशक—दि आइडिअल लिटरेरी पब्लिशिंग हाउस, कानपुर हैं। साधारण संस्करण का मूल्य २॥) है।

७—भाव-विलास (देव-कृति)—सम्पादक, पण्डित लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी, 'साहित्य-रत्न,' प्रकाशक, तरुण-भारत-ग्रंथावली-कार्यालय, दारागंज, प्रयाग हैं। सजिल्द पुस्तक का मूल्य १॥) है।

८—संसार किधर (साम्राज्यवाद का नंगा नाच)—लेखक, बाबू गोविन्दसहाय बी० काम०, प्रकाशक, सोशलिस्ट पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली हैं। मूल्य १।) है।

९—गीता का व्यवहार-दर्शन (प्रथम भाग)—लेखक, सेठ रामगोपाल जी मोहता, प्रकाशक, चाँद प्रेस, लिमिटेड, इलाहाबाद हैं। सजिल्द पुस्तक का मूल्य २) है।

१०—संगीतसुधा—लेखक, पण्डित सिद्धनाथ तिवारी 'संगीत-विशारद', प्रकाशक, संगीतशाला, कानपुर हैं। मूल्य १।) है। विद्यार्थियों से १)।

११—चतुभुज-सतसई (पद्य)—लेखक, श्रीराव चतुर्भुजदास चतुर्वेदी, भरतपुरराज्य हैं। पुस्तक का मूल्य १॥)।

१२—दुबवलियाँ की याद में (कविता)—लेखक, श्रीविश्वनाथसिंह, भारत प्रिन्टिंग वर्क्स, भुजबीर, बनारस कैंट हैं। मूल्य ।=) है।

१३-१८—पण्डित काशीनाथ त्रिवेदी, स्नेहलतागंज की बालोपयोगी छः पुस्तकें—

(१) दिवास्वप्न, मूल्य १); (२) शरारती साके, मू० =)॥; (३) हरिश्चन्द्र, मूल्य -)॥; (४) भले रहो चंगे रहो, मूल्य =); (५) स्वदेशी की प्रतिज्ञा, मूल्य -)॥; (६) भय का भेद, मूल्य -)॥ है।

१९—अनुवाद-चन्द्रिका (संस्कृत)—प्रणेता—कवि-रत्न पण्डित चक्रधर 'हंस' नौटियाल, एम० ए०, प्रकाशक सुन्दरलाल जैन, पंजाब पुस्तकालय, सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर हैं। मूल्य १) है।

२०—मधुवन (कविता)—लेखक, श्रीआनन्दकुमार, प्रकाशक, पुस्तकमाला-कार्यालय, लखनऊ हैं। मूल्य ।) है।

२१—रूप-निघंटु—रचयिता श्री रूपलाल वैश्य, प्रकाशक, नागरी-प्रचारिणी सभा काशी हैं। मूल्य १॥) है।

२२—कठोपनिषत्—व्याख्याकार, श्री भगवदाचार्य ब्रह्मचारी वेदरत्न, प्रकाशक, श्रीरामानन्द साहित्य-प्रचारक-मंडल, बड़ोदा हैं। प्रथम अध्याय का मूल्य ≡) है।

२३-२८—ब्रह्मचारी श्री भगवदाचार्य श्रीरामानन्द, साहित्यप्रचारक-मंडल, लहरीपुरा, बड़ोदा की ६ पुस्तकें—

(१) वर्ण-विचार, मूल्य =); (२) रामेश्वर-मीमांसा, मूल्य ।); (३) श्रीभगवत्तत्त्वः मूल्य -); (४) लोकोत्तराम्बाचरणाश्रयणम् और (५) श्रीमारुतिस्तवः (स्तोत्र प्रत्येक का मूल्य =); (६) श्री सम्प्रदाय और अस्पृश्य स्पर्श, मूल्य =) है।

२९—संगीत (मासिक पत्र)—संचालक, श्री प्रभुलाल गर्ग, गर्ग एंड कम्पनी, हाथरस। वार्षिक मूल्य ३) है।

३०—शान्ति (वसन्त-उपहार) (मासिक पत्र)—संचालिका, श्रीमती शान्तिदेवी, सम्पादक, श्रीवासुदेव वर्मा, धर्म-आदर्स, बाज़ार सध्यां, लाहौर, वार्षिक मूल्य २) है।

३१—महाभारत (सचित्र मासिक पत्र)—प्रकाशक महाभारत का प्रकाशक-मण्डल, चाँदनी चौक, देहली है। वार्षिक मूल्य ॥) है।

३२—विज्ञान-सागर (मासिक पत्र)—सम्पादक, वैद्य श्री गजानन्द शर्मा, एम० ए०, प्रकाशक, चन्द्र प्रिंटिंग प्रेस, कूचा घासीराम, देहली हैं। वार्षिक मूल्य ३) है।

३३—आदर्श (मासिक पत्र)—सम्पादक, श्रीरामचन्द्र शर्मा, शान्ति प्रिंटिंग प्रेस, सहारनपुर यू० पी० हैं। वार्षिक मूल्य २) है।

१—आहार, संयम और स्वास्थ्य—लेखक, श्रीयुत भगवतीप्रसाद, बी० ए०, एल-एल० बी०, प्रकाशक, कायस्थ-पाठशाला-प्रेस, प्रयाग हैं। पृष्ठ-संख्या १३ + ३०५। मूल्य १॥) है।

पुस्तक का विषय उसके नाम से ही स्पष्ट है। लेखक महोदय ने सुपाठ्य शैली में इसमें बहुत कुछ उपयोगी सामग्री एकत्र कर दी है। इसकी रचना में इस विषय की दूसरी पुस्तकों से काफ़ी सहायता ली गई है, जिसके साथ ही लेखक महोदय ने अपने रोगी जीवन के अनुभवों से प्राप्त ज्ञान को भी सम्मिलित कर दिया है। इस कारण पुस्तक विशेष उपयोगी हो गई है। इस प्रकार की पुस्तकों से जनसाधारण में स्वास्थ्य आदि प्रश्नों-सम्बन्धी बहुत कुछ जानकारी प्राप्त हो सकती है, अतएव इसका प्रचार होना आवश्यक है।

२—युवक और स्वाधीनता—लेखक तथा प्रकाशक, श्रीयुत रघुनाथदास परसाई, नवसंदेश पुस्तकमाला, खण्डवा सी० पी० हैं। पृष्ठ-संख्या ७६, मूल्य ॥) है।

पुस्तक सामयिक है। किस प्रकार युवकों ने प्रत्येक राष्ट्र को नवजीवन तथा स्वाधीनता प्रदान की है, यही इस पुस्तक में ऐतिहासिक उदाहरणों के आधार पर बताने का प्रयत्न किया गया है। युवकों का राष्ट्रीय जीवन से कितना गहरा सम्बन्ध है, यह बात इससे स्पष्ट हो जाती है। और इस सबके प्रदर्शन के बाद लेखक महोदय ने भारतीय युवकों में वही भाव जाग्रत करने का प्रयत्न किया है तथा अन्य राष्ट्रों के युवकों-द्वारा प्रदर्शित मार्ग की ओर अग्रसर होने को उनका आह्वान किया है।

पुस्तक में कहीं कहीं दुरूहता आ गई है, क्योंकि ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख संक्षेप में किया गया है, जिससे अनेक स्थानों पर उनका तारतम्य टूट गया है।

पुस्तक काफ़ी रोचक है, भाषा भी ओजपूर्ण है।

३—गढ़वाल-गाथा—लेखक तथा प्रकाशक, पंडित जयवल्लभ खँडूड़ी, न्यूरोड, देहरादून हैं। पृष्ठ-संख्या १५५ और मूल्य ॥।) है।

स्वर्गीय डाक्टर हीरालाल बी० ए० ने सागर-सरोज, मंडला-मयूख आदि पुस्तकें जिस दृष्टि-कोण से लिखी थीं उसी को ग्रहण कर खँडूड़ी जी ने यह गढ़वाल-गाथा लिखी है। परन्तु इस पुस्तक में न तो वैसी ऐतिहासिकता ही आ पाई है, न लेखन-शैली में गम्भीरता ही है।

आधुनिक सभ्यता-आदर्श तथा अँगरेज़ों के आधिपत्य के पहले गढ़वाल किस प्रकार स्वाधीन और सुखी था, क्योंकर वहाँ के सामाजिक तथा आर्थिक संगठन में

सम्पूर्णता पाई जाती थी, इस विषय पर इस पुस्तक में पूर्ण प्रकाश डाला गया है। गढ़वाल के एक-मात्र अधिपति टिहरी-नरेश का उस प्रान्तीय समाज में राजनैतिक तथा धार्मिक दृष्टि से क्या स्थान था, इसकी भी विशद विवेचना की गई है। आधुनिक गढ़वाल की नवीन समस्याओं तथा वहाँ की वर्तमान दशा का वर्णन कोई सौ से अधिक पृष्ठों में किया गया है। यद्यपि अनेक स्थानों में यह विवरण आधुनिक सभ्यता आदि की निन्दामात्र का स्वरूप ग्रहण कर लेता है, तो भी उस एकान्त में स्थित सुदूर पार्वतीय प्रदेश की दशा को इस प्रकार लेखबद्ध करके लेखक महोदय ने उपयोगी काम किया है। इसके चौदहवें अध्याय में अनेक उपयोगी अंक संग्रह किये गये हैं।

लेखक का प्रयत्न सराहनीय है। यदि इस रचना में कुछ अधिक गम्भीरता होती और उसके ऐतिहासिक परिच्छेद अधिक सर्वांगपूर्ण हो सकते तो यह स्थायी साहित्य का एक उपयोगी ग्रन्थ हो जाता।

४—सम्पत्ति का उपभोग—लेखक, पण्डित दयाशंकर दुबे, एम० ए०, एल-एल० बी० तथा मुरलीधर जोशी, एम० ए०, प्रकाशक, साहित्य-मन्दिर, दारागंज, प्रयाग हैं। पृष्ठ ८+१३+१७२ और मूल्य १।) है।

अर्थ-शास्त्र के विभिन्न अंगों में उपभोग (Consumption) का बहुत महत्त्व है, परन्तु अब तक अर्थशास्त्र के विद्वानों-द्वारा यह अंग एक प्रकार से उपेक्षित ही रहा। अब इस अंग पर अधिक विचार किया जाने लगा है। यद्यपि एक प्रकार से उपयोग अर्थशास्त्र की अन्तिम घटना है, तो भी इसके अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तथा दूसरी दृष्टि से अर्थशास्त्र के प्रारम्भ की जड़ होने के कारण ही इस अंग की विवेचना आज-कल प्रायः अर्थशास्त्र के ग्रन्थ में प्रारम्भ में ही की जाती है।

ऐसे महत्त्व के विषय पर ऐसी सरल तथा सुपाठ्य पाठ्य-पुस्तक लिख कर हिन्दी के अर्थशास्त्रीय विभाग को पूर्ण करने का लेखक-द्वय ने प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। दुबे जी ने अब तक अनेक अर्थशास्त्र-सम्बन्धी पुस्तकों की रचना की है और इस पुस्तक में उन्होंने अपने विद्यार्थी को भी सम्मिलित करके इस विषय पर लिखने के लिए एक और लेखक तैयार कर दिया है।

उपभोग का महत्त्व, आवश्यकतायें, उपयोगिता, माँग, फ़िज़ूलखर्ची, रहन-सहन का दर्जा, सरकार और उपभोग आदि प्रायः सब विषयों की इस पुस्तक में बहुत ही उपयुक्त विवेचना की गई है। भारतीय अर्थशास्त्र का भी यत्किंचित् समावेश कर दिया गया है। साथ ही यह भी कह देना अनुचित न होगा कि कुछ महत्त्व के प्रश्न छूट गये हैं। किस प्रकार की आवश्यकताओं की विवेचना अर्थशास्त्र के अन्तर्गत होती है तथा कौन-सी आवश्यकतायें अर्थशास्त्र से परे हैं, इस प्रश्न की मीमांसा छूट गई है। इसी तरह व्यय और बचत के सम्बन्ध जैसे महत्त्व के प्रश्न पर भी विचार नहीं किया गया। आशा है कि ऐसी छोटी-मोटी त्रुटियाँ दूसरे संस्करण में दूर कर दी जायँगी।

पुस्तक सुन्दर तथा उपयोगी है। स्थान स्थान पर जो चित्र (Diagram) देकर आर्थिक प्रश्नों को समझाया है उससे बहुत-सी बातें स्पष्ट और सरल ही नहीं हो गई हैं, किन्तु उससे पुस्तक में इस अंग का (Geometrical economics) भी समावेश हो गया है। पुस्तक इण्टरमीजियेट कक्षाओं तथा अर्थशास्त्र के प्रारम्भिक विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

लेखक-द्वय ऐसी सुन्दर पुस्तक लिखने के लिए बधाई के पात्र हैं।

५—ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती—लेखक, श्रीयुत ब्रजमोहन झा; प्रकाशक, मोहन पुस्तकालय, जीवनीमंडी, आगरा हैं। पृष्ठ ८+९२, मूल्य ॥) है।

यह पुस्तक उक्त ख्वाजा साहब की जीवनी या उनके धार्मिक विचारों आदि का ऐतिहासिक या धार्मिक ग्रन्थ नहीं है, बल्कि उनके विरुद्ध प्रोपोगेण्डा-पूर्ण एक पुस्तक है। लेखक ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि जिन ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की क़ब्र पर सैकड़ों हिन्दू भेंट चढ़ाते हैं और जहाँ अनेक हिन्दू स्त्री-पुरुष मनौती लेते हैं वे हिन्दुओं के कट्टर विरोधी तथा घातक थे, और उनके महत्त्व के विषय में जो कुछ भी कहा जाता है उसमें सत्य का अंश बिलकुल नहीं है। लेखक का उद्देश

यह है कि "पूरा सन्तोष मुझे उस दिन होगा जब कि किसी भी क़ब्र पर एक भी हिन्दू न जाय और हिन्दुओं की एक पाई भी इस मुर्दापरस्ती में व्यय न हो।" यह देखकर दुख होता है कि लेखक ने इसे अच्छे ढंग से नहीं लिखा है। मुर्दा या क़ब्र-परस्ती के सम्बन्ध में तात्त्विक विचार तथा उसका तात्त्विक विरोध किया जा सकता है, परन्तु इन दोनों में पाई जानेवाली गम्भीरता का नामोनिशान भी इस पुस्तक में नहीं पाया जाता।

ऐतिहासिकता का पुस्तक में पूर्ण अभाव है। यद्यपि प्रारम्भ में कोई २५ से अधिक पुस्तकों की सूची दी गई है, तो भी लेखक ने उनका उपयोग नहीं किया है। ख्वाजा साहब की जीवन-सम्बन्धी घटनायें भी बहुत थोड़ी हैं। कई स्थानों पर कुछ मतमतान्तर देकर ही लेखक ने सन्तोष कर लिया है।

ऐसी पुस्तकें सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय दृष्टि से हानिकारक होती हैं।

६-८—जैन-इतिहास-सम्बन्धी तीन ग्रन्थ

आधुनिक नवजीवन की लहर ने जैन-समाज को भी अछूता नहीं छोड़ा। कहाँ तक जैन-समाज इससे प्रभावित होकर भविष्य में अपने अस्तित्व को बनाये रक्खेगा, यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु यह स्पष्ट है कि जैन-समाज अपने विगत इतिहास को प्रकाश में लाने के लिए प्रयत्नशील अवश्य है। प्राचीन भारत में जैन-धर्म का भारतीय राष्ट्रीय जीवन में एक विशेष स्थान था तथा उसका भारतीय राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक इतिहास पर गहरा प्रभाव पड़ा है। अतएव जैनों की यह प्रगति अभिनन्दनीय है, क्योंकि इससे प्राचीन भारत के इतिहास पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ने की आशा है।

इसी प्रगति के फलस्वरूप जो साहित्य हिन्दी में प्रकट हो रहा है उसकी तीन पुस्तकों का परिचय यह है—

(१) भगवान् महावीर और उनका समय—लेखक, पंडित जुगलकिशोर मुख्तार, प्रकाशक, हीरालाल पन्नालाल जैन, दरीबा कलाँ, देहली हैं। पृष्ठ-संख्या ५४, मूल्य ।) है।

यह पुस्तिका लेखक के इसी शीर्षकवाले लेख का संशोधित, परिवर्धित स्वरूप-मात्र है। भगवान् महावीर के जीवन, तत्कालीन परिस्थिति आदि का वर्णन करने के बाद लेखक ने विशेष रूप से भगवान् महावीर के समय-निरूपण पर विचार किया है। अनेकानेक प्रमाणों के आधार पर यह साबित करने का प्रयत्न किया है कि शक-संवत् के प्रारम्भ से ६०५ वर्ष ५ महीने पहले महावीर का निर्वाण हुआ था। लेखक का यह निश्चय है कि जो वीर-संवत् आज-कल प्रचलित है, ठीक है तथा श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल और अन्य अन्वेषकों का यह मत कि इसमें कुछ ग़लती है, भ्रमपूर्ण है। लेखक ने जहाँ तक हो सका है, अपने पक्ष का समर्थन करने का प्रयत्न किया है, परन्तु अभी इस प्रश्न पर अधिक विचार किये बिना निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। जिस शक राजा के चलाये हुए संवत् के आधार पर लेखक वीर-संवत् की गिनती करता है उस शक राजा के व्यक्तित्व आदि के विषय में कोई भी निश्चित बात अभी इतिहासकार नहीं कह सके हैं। पुस्तक में अध्ययन-शीलता का अभाव पाया जाता है।

(२) स्थानकवासी जैन इतिहास—मूल लेखक, श्री केसरीचन्द भण्डारी 'अन्वेषक', अनुवादक व प्रकाशक, एस० के० भण्डारी, इन्दौर हैं। पृष्ठ ९२, मोटे पुट्ठे की जिल्द है, मूल्य ॥) है।

यह पुस्तक श्री अन्वेषक जी के अँगरेज़ी ग्रन्थ का अनुवाद-मात्र है। यह अँगरेज़ी ग्रन्थ सन् १९१९ में प्रकाशित हुआ था और अब कोई २३ वर्ष बाद उनके पुत्र ने उसका अनुवाद प्रकाशित किया है। अनुवादक ने टिप्पणियाँ आदि लिखने का कष्ट नहीं उठाया। यह पुस्तक इस उद्देश से लिखी गई है कि यह बात साबित हो जाय कि जैन-धर्म सबसे प्राचीन तथा तत्कथित वैदिक धर्म से भी अधिक पुराना है। पुनः जैनियों में भी श्वेताम्बर जैन, विशेषरूप से केवल स्थानकवासी ही जैन धर्म्म के असली और सबसे प्राचीन अनुयायी हैं तथा उनका मत ही सच्चा जैन-धर्म है। पुस्तक में ऐतिहासिकता नहीं है और न पुरातत्त्व का आधार ही कहीं लिया गया है।

(३) संक्षिप्त जैन-इतिहास (भाग २ खण्ड २)—सन् २५० ईसवी पूर्व से सन् १३०० ईसवी तक—लेखक, श्रीयुत कामताप्रसाद जैन, प्रकाशक, कापडिया भवन, सूरत हैं। पृष्ठ-संख्या २० + १८१ और सजिल्द का मूल्य १=) है।

उपर्युक्त दोनों पुस्तकों को पढ़ने के बाद इस पुस्तक को पढ़कर सन्तोष हुआ। यह पुस्तक उनके विपरीत विद्वत्ता से पूर्ण है और लेखक की अध्ययन-शीलता का पता इस ग्रन्थ के प्रत्येक पृष्ठ पर दी गई पाद-टिप्पणियों से लगता है।

इस पुस्तक का उद्देश लेखक के शब्दों में "जैन इतिहास के साथ साथ भारतवर्ष के इतिहास" का वर्णन करना भी है। भारत के महान् सम्राटों पर तथा उनके समय में जैन-धर्म का क्या महत्त्व था, उसका प्रभाव कितना विशद रहा, यह सब बताने का प्रयत्न लेखक ने प्रारम्भिक अध्यायों में किया है। सम्राट् खारवेल जैनी जी के मतानुसार जैन-धर्मावलम्बी था तथा उसके राज्यकाल का विशद विवरण लेखक ने किया है। प्रचलित विक्रमी संवत् को गौतमपुत्र शातकर्णी विक्रम की शकों पर होनेवाली विजय के उपलक्ष्य में चलाया गया संवत् बताया है।

जैन-धर्म के विभिन्न फ़िर्क़े श्वेताम्बर, दिगम्बर किस प्रकार उत्पन्न हुए, किस प्रकार उपजातियाँ बनीं, इनका भी वर्णन लेखक ने प्रमाण देकर विशद रूप से किया है।

अन्त में लेखक ने यह बताया है कि भारतीय साम्राज्य के अन्त के साथ ही बौद्ध-धर्म के समान जैन-धर्म का पतन नहीं हुआ, बल्कि राजपूत नरेशों ने जैन-धर्म को प्रश्रय दिया और अनेक राजघरानों में इसका प्रचार भी हुआ।

विषय के प्रतिपादन तथा विवरण को देखते हुए यह मानना पड़ता है कि पुस्तक लिखने में लेखक को सफलता प्राप्त हुई है।

पुस्तक संग्रहणीय है और भारतीय ऐतिहासिक साहित्य में एक ऐसे नवीन दृष्टिकोण को विद्वानों के सम्मुख रखती है जो आज तक उपेक्षित ही रहा है। लेखक इसके लिए बधाई के पात्र हैं।

(महाराजकुमार) रघुवीरसिंह, एम॰ ए॰, एल-एल॰ बी॰

९-१०—दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकें—

गत जनवरी में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की अर्द्ध-शताब्दी मनाई गई थी। इस अवसर पर तथा इसके आगे पीछे हिन्दी में तीन महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। उनमें मिश्रबन्धु-विनोद (चौथा भाग) की समालोचना हम सरस्वती के जनवरी के अंक में विस्तार के साथ कर चुके हैं। यद्यपि उसका प्रकाशन अर्द्धशताब्दी को उपलक्ष्य में रखकर नहीं किया गया था, तथापि उसके उपलक्ष्य में जो उपयुक्त पुस्तक लिखी जानी चाहिए थी उसके अभाव की पूर्ति बहुत कुछ उस पुस्तक से हो जाती है। इस दृष्टि से 'विनोद' का उक्त भाग अधिक सामयिक तथा उपयोगी हुआ है।

अब रही ये पुस्तकें सो इनमें 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' को 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' ने अर्द्धशताब्दी के उत्सव के पहले प्रकाशित किया था। इसे भारतेन्दु जी के नाती बाबू ब्रजरत्न दास जी ने लिखा है। इस कारण यह ग्रन्थ अधिक प्रामाणिक है। बाबू ब्रजरत्न दास एक विद्वान् लेखक हैं। इसके सिवा उनको भारतेन्दु जी का चरित लिखने की सारी प्राप्य सामग्री भी सुलभ थी। अतएव उन्होंने इस चरित-ग्रन्थ की रचना में कोई कोर-कसर नहीं रक्खी। ग्रन्थ के आधे भाग में भारतेन्दु जी का चरित विस्तार के साथ वर्णित है और आधे में उनके साहित्यिक कार्यकलाप का विशद वर्णन किया गया है। पुस्तक में भारतेन्दु बाबू के कतिपय चित्र भी दिये गये हैं, जिनमें से कुछ अभी तक कहीं नहीं छपे थे। इस प्रकार यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण बन गया है। हिन्दी के प्रेमियों को इसका संग्रह करना चाहिए। इसके आकलन से हम हिन्दी के इन जन्मदाता का पूरा परिचय ही नहीं प्राप्त कर सकेंगे, किन्तु उसके साथ ही उनकी साहित्यिक प्रतिभा का भी, और सो भी सबका सब प्रामाणिक। सजिल्द पुस्तक का मूल्य ५॥) और सादी का ५) है। पता—इंडियन प्रेस, लि॰, इलाहाबाद है।

दूसरी है 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली' (दूसरा खण्ड)। भारतेन्दु-अर्द्धशताब्दी के उपलक्ष्य में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के ग्रन्थों को 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली' के नाम से प्रकाशित करने का निश्चय किया था। तदनुसार उक्त अवसर पर उक्त ग्रन्थावली का यह दूसरा खण्ड प्रकाशित हुआ। इसमें भारतेन्दु जी की प्रायः समस्त पद्य-रचनायें संग्रह की गई हैं। इसमें उनके २१ काव्य-ग्रन्थ और ४८ छोटे प्रबन्ध काव्य तथा मुक्तक एवं स्फुट रचनायें एकत्र की गई हैं। और यह महत्त्वपूर्ण कार्य भी उनके नाती बाबू ब्रजरत्न दास बी॰ ए॰, एल-एल॰ बी॰ ने ही किया है। इस प्रकार 'सभा' ने ग्रन्थावली का यह संस्करण प्रामाणिक रूप से तैयार करने का प्रयत्न किया है। इसके इस दूसरे खण्ड में भारतेन्दु जी की समस्त छोटी-बड़ी पद्य-रचनायें एक स्थान पर आ गई हैं, जिससे साहित्यप्रेमियों को विशेष सुविधा हो गई है। इस ८६६ पृष्ठ के सजिल्द ग्रन्थ का मूल्य केवल ३) है। हिन्दी के प्रेमियों को इस ग्रन्थावली का अवश्य संग्रह करना चाहिए।

११-१४—साहित्य-समिति, रायगढ़ की चार पुस्तकें—

मध्यप्रदेश में रायगढ़ नाम का एक देशी राज्य है। इसके अधिपति राजा चक्रधरसिंहजी हिन्दी-साहित्य के प्रेमी ही नहीं, किन्तु स्वयं भी एक सुलेखक तथा सत्कवि हैं। उक्त समिति कदाचित् उनके साहित्य-प्रेम का ही निदर्शक है, क्योंकि श्रीमान् की दो सुन्दर रचनायें तथा उनके दीवान पण्डित बलदेवप्रसाद जी मिश्र की भी एक रचना उसके द्वारा प्रकाशित हुई हैं। आशा है, राज्य के संरक्षण में उक्त समिति से हिन्दी-साहित्य की काफ़ी वृद्धि होगी, अस्तु।

उक्त समिति ने जो तीन पुस्तकें समालोचनार्थ भेजी हैं उनमें राजा साहब की दो पुस्तकें हैं—एक 'रम्यरास' और दूसरी 'अलकापुरी'। रम्यरास खड़ी बोली का एक खण्ड-काव्य है और इसकी रचना राजा साहब ने 'प्रियप्रवास' के तर्ज़ पर विविध छन्दों में की है। इसमें श्रीमद्भागवत के अनुसार भगवान् कृष्णचन्द्र की रासलीला का विशद वर्णन ललित शैली में किया गया है। इसकी रचना में राजा साहब ने सफलता प्राप्त की है। रम्यरास काफ़ी सजावट के साथ छापी गई है और विषय के उपयुक्त इसमें पाँच तिरंगे चित्र लगाकर इसकी शोभा और भी बढ़ा दी गई है। प्रारम्भ में एक विस्तृत प्राक्कथन और अन्त में पुस्तक-गत कठिन शब्दों की टिप्पणियाँ दे दी गई हैं, जिससे इसकी उपयोगिता और भी बढ़ गई है। इसके साधारण संस्करण का मूल्य १।) और राजसंस्करण का २॥) है।

राजा साहब की दूसरी रचना 'अलकापुरी' है जो एक तिलस्मी उपन्यास है। इसकी रचना 'चन्द्रकान्ता' के तर्ज़ पर हुई है। किसी समय इस तरह के उपन्यासों की हिन्दी में बड़ी धूम थी और इधर इनका आकर्षण घट चला था। परन्तु इस अलकापुरी के पढ़ने से, जान पड़ता है, अभी ऐसे उपन्यास पढ़े जायँगे। क्योंकि अलकापुरी में 'चन्द्रकान्ता' के सभी गुण मौजूद हैं, साथ ही एक यह विशेषता भी है कि उसकी अपेक्षा इसकी भाषा अधिक प्राञ्जल है। अभी इसके तीन ही भाग निकले हैं और कथानक भी बढ़ता जा रहा है। इससे जान पड़ता है कि यह भी कई एक भागों में समाप्त होगा। इसके प्रत्येक भाग का मूल्य १॥।) है।

तीसरी पुस्तक दीवान साहब की है। इसका नाम है 'कौशल किशोर'। यह एक खण्ड काव्य है। दीवान साहब की यह विद्यार्थी-काल की रचना है और उस दृष्टि से यह एक सुन्दर रचना है।

इसमें रामचन्द्रजी के किशोर कालीन जीवन का विशद रूप से वर्णन नाना छन्दों में किया गया है। इसमें उनके विवाह तक की कथा आ गई है और आवश्यक स्थलों में वे विष्णु के अवतार के रूप में स्पष्ट रूप से चित्रित किये गये हैं। ऐसे स्थलों को छोड़कर शेष कथा 'मानस' की कथा से मिलती-जुलती है। इसमें सन्देह नहीं कि मिश्र जी छन्द-रचना में कुशल हैं और भाषा पर उनका पूरा अधिकार है। आशा है, उनकी यह रचना साहित्य-रसिकों और भक्त-जनों दोनों को रुचिकर प्रतीत होगी। इसका मूल्य १।) है।

१५—साम्यवाद ही क्यों?—लेखक, श्रीयुत राहुल सांकृत्यायन, प्रकाशक, युगान्तर-पुस्तकमाला-कार्य्यालय, महेन्द्र, पटना हैं। आकार डबल क्राउन सोलहपेजी; पृष्ठ-संख्या ६४ और मूल्य ।=) है।

एक मनुष्य सुखी और दूसरा दुःखी क्यों है ? एक ग़रीब और दूसरा धनी क्यों है ? एक दिन भर काम करता है और पेट भर भोजन नहीं पाता और दूसरा कुछ काम नहीं करता तो भी मौज करता है। मनुष्य मनुष्य में यह असमानता क्यों है ? इन प्रश्नों का उत्तर मनुष्य, विशेष कर वह मनुष्य जिसके हिस्से में दुःख और ग़रीबी पड़ी है, अनादि-काल से सोचता आ रहा है। इतना ही नहीं, उसने यह भी सोचा है कि मनुष्य मनुष्य में प्रेम, सहानुभूति और समता-पूर्ण व्यवहार कैसे सम्भव हो सकता है। जब धर्म और ईश्वर से मनुष्य के हृदय को शान्ति नहीं मिल सकी तब उसने साम्यवाद का पल्ला पकड़ा। इस पुस्तक में श्रीयुत राहुल सांकृत्यायन ने साम्यवाद की बड़ी सुन्दर ढङ्ग से वकालत की है।

मशीन के साथ पूँजीवाद का जन्म हुआ। अनेक के परिश्रम पर एक को आलस्य और आराम में दिन काटने का अवसर मिला। परन्तु अब यदि कोई यह कहे कि मशीनों का नाश करके फिर आदिम अवस्था की ओर लौटो तो वह भी सम्भव नहीं। तब संसार की बढ़ती हुई ग़रीबी और बेकारी का इलाज क्या है ? "सारे देश या विश्व को एक सम्मिलित परिवार बना देना और देश की सम्पत्ति को उस परिवार की सम्पत्ति क़रार देना।" यही साम्यवाद है। भारतवर्ष में भी यह सम्भव है, क्योंकि आर्य्यों और अनार्य्यों का रक्त एक में मिल गया है। अछूतों का उद्धार मंदिर और शास्त्र से नहीं, आर्थिक स्वाधीनता पर निर्भर होगा। व्यक्तिगत पूँजी न रहने से वेश्यालय नहीं चल सकते और न रोगों की वृद्धि हो सकती है। यदि व्यक्ति के भरण-पोषण का भार राष्ट्र ले ले तो लोग भविष्य की चिन्ता में अयोग्य सन्तान भी नहीं उत्पन्न कर सकते। विवाह इस समय स्त्रियों का पेशा है। उन्हें आर्थिक स्वाधीनता मिल जाय तो पतिव्रत-धर्म के नाम पर उनके विकास की बलि नहीं हो सकती। युद्ध और बेकारी वर्तमान पूँजीवाद के अनिवार्य फल हैं। ये सब तभी जा सकते हैं जब सब मनुष्यों का एक कुटुम्ब बने, सबको समान आर्थिक स्वाधीनता हो। इन सब बातों को राहुल जी ने बड़े ही ज़ोरदार तर्कों के साथ उपस्थित किया है। यह पुस्तक आपने ल्हासा (तिब्बत) में बैठकर लिखी है। वहाँ आपके लिए आवश्यक ग्रन्थों से सामग्री लेना असम्भव था। जो कुछ लिखा है, सिर्फ़ काग़ज़, स्याही और दिमाग़ के सहारे लिखा है। कदाचित् यही कारण है कि पुस्तक में जो विचार उपस्थित किये गये हैं वे अत्यन्त स्पष्ट और हृदय-ग्राही हैं। साम्यवाद के सम्बन्ध में जो लोग बहुत-से ग्रन्थ पढ़ने का समय नहीं निकाल सकते और वे हिन्दी में हैं भी नहीं, उन्हें इस अकेली पुस्तक से यथेष्ट जानकारी हो सकती है।

१६—सनातनधर्म-सोपान—इस पुस्तक में 'सनातन-धर्म' की व्याख्या की गई है और उसके प्रामाणिक मुख्य मुख्य धार्मिक ग्रन्थों का नाम-परिचय दिया गया है। इसके द्वारा सनातनी लोग यह जान सकेंगे कि उनके धर्मग्रन्थ कौन हैं और उनमें किन विषयों का वर्णन है तथा उनमें कितने नष्ट हो गये हैं और कितने मौजूद हैं। पुस्तक गुरु-शिष्य-संवाद-रूप में लिखी गई है। हिन्दी में यह पुस्तक अपने विषय की पहली पुस्तक है और लेखक महोदय ने इसे सनातनी दृष्टिकोण से लिखा है। सनातनी विद्यार्थियों के सिवा वयस्क लोग भी इससे लाभ उठा सकते हैं। इसके रचयिता पण्डित सत्यनारायण मिश्र शास्त्री हैं। इसकी पृष्ठ-संख्या १९० और मूल्य ॥) है। पता—संस्कृत बुकडिपो, कचौड़ीगली, काशी।

ञेनम् की ओर

लेखक, श्रीयुत राहुल सांकृत्यायन

प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु श्रीयुत राहुल सांकृत्यायन हाल ही में तिब्बत की दूसरी बार यात्रा करके लौटे हैं। आपके इस लेख से मार्ग की कठिनाइयों और उतराई पर बसे हुए लोगों की स्थिति का परिचय मिलता है।

अक्टूबर को सत्रहवें दिन स-स्क्य को आठ बजे सवेरे छोड़ा। यदि भोट में किसी स्थान को अफ़सोस के साथ छोड़ना पड़ा तो वह स-स्क्य ही है। यहाँ सबसे अधिक सहृदय जन मिले। जिस दिन स-स्क्य आये थे तब से अब सर्दी अधिक बढ़ गई थी। रास्ते में पानी की नालियाँ बर्फ़ हो गई थीं। चङ्-मा (बीरी) की पत्तियाँ सूख गई थीं, और गिरने के लिए हवा के झोकों की प्रतीक्षा कर रही थीं। स-स्क्य-उपत्यका की जो कभी हरे मख़मल के फ़र्श के समान दिखाई पड़ती थी, सभी घासें पीली हो गई थीं। हमारे रास्ते से हट हटकर लाल-काली-सफ़ेद खड़ी रेखाओं से अंकित कितने ही घर पड़े। कुछ उजड़े गाँवों की खड़ी दीवारों को दाहने-बायें छोड़ते हम जनशून्य उपत्यका की ओर चढ़ने लगे। आख़िरी दो मील को छोड़ कर चढ़ाई आसान रही। इस जोत का नाम डोङ्-मो-ला है। डोङ् जंगली चँवरियों को कहते हैं, जिनका अब इधर नाम नहीं है। शायद पहले रहती होंगी ! उतराई उतरकर हम पानी की धार के किनारे आये। हमने साथियों से कहा—यह गंगा-नदी का पानी है। और यह है ही, क्योंकि इस धार का पानी कोसी से होकर गंगा में जाता है। डेढ़ बजे हम लोग छु-शोर-ग्य-पोन् गाँव में पहुँचे। यहाँ घोड़ों को चारा दिया गया, और हम लोगों ने चाय पान की। इस उपत्यका में भी कितने ही मठों और बस्तियों के ध्वंसावशेष हैं। धार की दाहनी ओर थोड़ा-सा ऊपर कितने स्तूप हैं और नीचे जाने पर दाहने तट पर ल्ह-दोंङ् गाँव है, जो कभी बड़ा गाँव था और जिसके पास में एक बड़ा मठ था। किन्तु अब कुछ ही घर बच रहे हैं। एक हमारा देश है, जहाँ लोगों को जोतने के लिए ज़मीन नहीं मिल रही है, और एक यह देश है, जहाँ पहले के आबाद खेत छोड़ दिये गये। इसका कारण घर भर के लिए एक पत्नी की प्रथा के अतिरिक्त अधिक लोगों का साधु होना है। एक तरह कहा जा सकता है कि इतने गाँवों के उजाड़ने का दोष यहाँ के धर्म को है। बाईं ओर हटकर असाधारण ऊँची दीवारोंवाला एक ध्वस्त गाँव दिखाई पड़ा। पूछने पर मालूम हुआ कि पहले यहाँ मोन लोग रहते थे, जिन्हें राजा मि-बङ-स्तोब्-ग्यंल् (१७२७ ई०) ने उजाड़ दिया। सूर्यास्त के समय हम मब्-जा गाँव में पहुँचे। कु-शो-डोङ्-यिग्-छेन्-पो के साले तथा श्रीमती दीर्घायु श्री के बड़े भाई कु-शो-डोङ्-यिक्-ला ने चाय से स्वागत किया। यह स्थान पन्द्रह हज़ार फ़ुट से ऊपर होने के कारण अधिक सर्द था, ऊपर से हवा चल रही थी। दस वर्ष पहले के बने
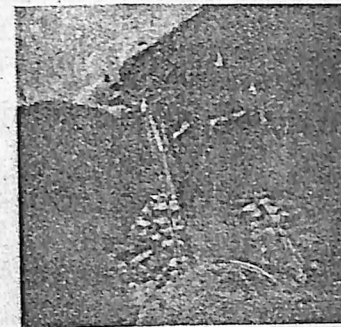
एक झूले का पुल (छक्सद के पास)

पद्मसंभव के मंदिर में हमारा आसन लगा। मंदिर साफ़ तथा सुन्दर रीति से चित्रित है।

२८ तारीख़ (अक्टूबर) को मब्-जा में ही रहना था। हवा के तेज़ होने से बाहर निकलने की हिम्मत नहीं थी।

तिङ्रीकी चाम्कुशो

कु-शो से बात करते वक्त मालूम हुआ कि स-स्क्य मठ के पास अब भी एक छोटा-सा राज्य है, जिसमें प्रायः दो सौ गाँव और दो हज़ार घर हैं। इनके अतिरिक्त खम् प्रदेश में भी कुछ मिलकियत है।

कु-शो-डोङ्-यिक्-छेन-पो को कोई सन्तान नहीं है, यह पहले कह आये हैं। तिब्बत में पुत्र न होने पर पुत्री के लिए घर जमाई (मग्-पा) लिया जा सकता है। कोई सन्तान न होने पर किसी दूसरे सम्बन्धी या प्रिय व्यक्ति को उत्तराधिकारी बना सकते हैं। इसी नियम के अनुसार कु-शो-डोङ्-यिक्-छेन्-पो ने अपने साले को उत्तराधिकारी बनाया। किन्तु उनको भी कोई सन्तान नहीं। इसी बात-चीत में हमने कु-शो से उत्तराधिकार के बारे में पूछा। मालूम हुआ, सम्पत्ति का स्वामी बड़ा लड़का होता है। छोटा लड़का यदि अलग शादी करे तो उसे खाने के लिए कुछ मिल जाता है, पूरा बराबर का हिस्सा नहीं। लड़का न होने पर पुत्री मालिक होती है। उसके भी न होने पर किसी दूसरे को उत्तराधिकारी बना सकते हैं, किन्तु गाँव के मालिक का सहमत होना ज़रूरी है। सरकार के पास या स-स्क्य जैसे राज्य के दफ़्तर में हर गाँव के प्रत्येक खेत का नाम (नंबर नहीं, क्योंकि यहाँ अभी तक नक़्शा नहीं बना) तथा परिमाण (खेत में बोये जानेवाले बीज के हिसाब से*) और मालिक के घर का नाम लिखा रहता है। मालिक घर समझा जाता है, आदमी नहीं। पुत्रों में खेत का बँटवारा न होने से यहाँ दाख़िल-ख़ारिज का झगड़ा नहीं।

मब्-जा से तिङ्-रि तक के लिए ३३ साङ् (प्रायः नौ रुपये) पर तीन खच्चर मिले, और २९ अक्तूबर को आठ बजे सवेरे हमने मब्-जा छोड़ा। यद्यपि हम नीचे की ओर जा रहे थे, तो भी रास्ता समतल-सा था। उपत्यका भी बहुत चौड़ी थी। उपत्यका के दाहने छोर पर एक योगिराज एकान्तवास कर रहे हैं। पाँच वर्ष से ये एक कोठरी में बन्द हैं। सिर्फ़ एक छोटा-सा छेद है, जिससे भक्त लोग हर तीसरे-चौथे पानी, ईंधन और खाने की चीज़ें पहुँचा दिया करते हैं। जब तक सिद्ध न हो जायँगे तब तक बाहर नहीं निकलेंगे—यही उनकी प्रतिज्ञा है। एक गाँव को पारकर हमारा रास्ता दाहनी ओर को मुड़ा। नीचे दूर तक नदी के बाँयें ओर छोन्-दु का मठ है। किसी समय यह एक सुन्दर विशाल मठ था, किन्तु अब दो-तीन देवालयों और कुछ स्तूपों को छोड़कर बाक़ी ध्वस्त हो गये हैं। हमारा रास्ता बिलकुल दाहनी ओर मुड़ गया। और थोड़ा आगे नदी भी भूल-भटक कर उधर ही चली आई। एक पहाड़ी की परिक्रमा कर हम नि-शा की उपत्यका में पहुँचे।

× × × ×

आज दो सप्ताह बाद बाक़ी यात्रा को आरम्भ करता हूँ। कारण इस वर्णन से ही मालूम हो जायगा। ३ नवम्बर को सवेरे ही चलना था, किन्तु घोड़े १० बजे से पहले नहीं आ सके। इस बीच में मेज़बान से तरह तरह की बातें होती रहीं। एक बात से तो वे बड़े चकित और कुछ भयभीत-से हो गये, यद्यपि मेरे साथी धर्मवर्धन को उस वक्त अपनी हँसी रोकना मुश्किल हो रहा था। गृहपति ने कहा—देखिए, पिछले साल (३ अप्रेल १९३३) हमारे च-मो-लोङ्-मा (गौरीशंकर) पर्वत पर कोई अँगरेज़ हवाई जहाज़ पर उड़ कर पहुँचा था। ये लोग किस वास्ते ऐसा करते हैं? मैंने कहा—वह संसार का सबसे ऊँचा पर्वत है, इसलिए उस पर पहुँच कर अपने नाम को अमर करने की सबकी इच्छा होती है। इस पर उन्होंने देवी-देवताओं की नाराज़गी की बात कही। मैंने कहा—यहाँ देवी-देवता की नाराज़गी की बात नहीं। वे तो बेचारे सहानुभूति के पात्र हैं। यदि इस प्रकार दो-चार बार जहाज़ उड़े तो उन्हें अपने स्थानों को छोड़कर भाग जाना पड़ेगा।

* भारत में भी पहले यही नाम था। पाणिनि ने "तस्य वापः"—सूत्र से इसे प्रकट किया है।

"क्यों और कहाँ?"

"क्योंकि हवाई जहाज़ में लगनेवाले तेल (पेट्रोल) की गंध देवताओं के लिए भयंकर है। कोयला-पानी आदि सभी कल में लगनेवाली चीज़ें उनके शत्रु हैं; किन्तु यह पेट्रोल तो ज़हर-हलाहल है। और मुझे तो तुम्हारे यहाँ के लिए ही नहीं, बल्कि अपने भारत से प्रवासित बहुत-से देव-भूतों के लिए बहुत अफ़सोस है।"

"सो, क्यों?"

"जानते हो, जिस समय तुर्कों ने आकर भारत के पूजा-स्थानों को बर्बाद कर दिया उस वक्त भारत में लाखों देवता और भूत भूखों मरने लगे। लोग बलि ही नहीं दे सकते थे। उस समय एक भारतीय भूत जो तिब्बत में कई वर्ष से रह रहा था, जन्मभूमि के देखने की इच्छा से भारत लौटा। वहाँ उसने अपने जाति-बन्धुओं की फ़ाक़ेकशी देखी। उसने उनसे कहा—भाइयो! तिब्बत में वैसी मीठी मीठी बलि भेंट तो नहीं मिलती, किन्तु शाम-सवेरे घर घर हमारी जाति के लिए लोग सत्तू की धूप देते हैं। कोई जाति भाई भूखा नहीं रह सकता। यह सुनकर लोग आपस में सलाह करने लगे। अन्त में कुछ अत्यन्त चटोरों को छोड़ कर सब उत्तराखंड की ओर चल पड़े। क्या पूछते हो? एक एक दिन में दस दस हज़ार भूत भारत से भोट की ओर चले।"

"दस दस हज़ार!"

"अरे! दस हज़ार से भी अधिक। सो वे बेचारे आज तक यहाँ शान्तिपूर्वक जीवन-यापन करते थे। वे तुम्हें सताते नहीं थे, और तुम उनका साग-सत्तू से सत्कार करते रहे। भारत में जो भूत रह गये, पीछे रेल-मोटर आदि के आने पर वे भी भारत से भागने लगे। यदि हवाई जहाज़ इधर आये तो यहाँ भी उनकी ख़ैरियत न होगी।"

"तो कहाँ जायँगे?"

"शायद चाङ्-थङ् (तिब्बत का उत्तरी जन-शून्य

छकसम्का

मैदान) में चले जायँ। किन्तु वहाँ भी कितने दिन ठहरेंगे? हवाई जहाज़ों को उधर भी कौन रोकेगा?"

"अच्छा होगा, हम लोग बीमारी-बीमारी से बच जायँगे।"

"और तिब्बत के हज़ारों लामा जो भूखों मरने लगेंगे। भूतों-देवताओं के भाग जाने पर उनके डर से होनेवाले पुरश्चरण, जप, पाठ आदि लामों से करवाकर कौन उन्हें दक्षिणा देगा?"

बेचारे हमारे गृहपति तो बड़ी चिन्ता में पड़ गये। इसी बीच घोड़ेवाले आ गये। यद्यपि घोड़े एक तरह से मालिक की बेगार में हमें मिल रहे थे, तो भी दाम काम में उस्ताद थे। वहाँ से कुत्ती भर (तीन दिन) के लिए पहले तो उन्होंने फ़ी घोड़ा ६४ सङ् (१७ रुपये के ऊपर) माँगे। मैं तो झुँझला गया। फिर उन्होंने ३२ सङ् कहे। अन्त में १६ सङ् पर फ़ैसला हुआ। ग्यारह बजे हम किसी तरह रवाना हुए।

आज ६-७ मील आगे लङ्-कोर में ही रहना था। घोड़े भी हमारे तेज़ मालूम होते थे। धर्मवर्धन का घोड़ा तो एक बार भड़ककर उन्हें बेरास्ते थोड़ी दूर खींच भी ले गया, लेकिन रास्ता मैदान का था। ज़मीन में कीचड़ थी। एक जगह पानी से हमारे घोड़े का पैर फिसल गया, और वह धीरे से ज़मीन पर आ बैठा। हमारे सारे कपड़ों पर कीचड़ पड़ गई। रास्ते में घोड़ेवालों ने अपने गाँव में दो
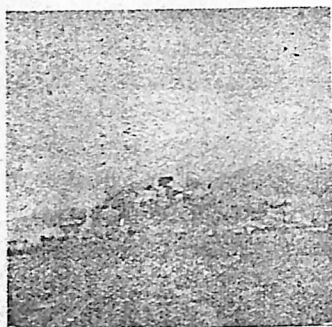
मब्-जा उपत्यका

घंटे रोक रक्खा। जब चले तब हवा तेज़ और सामने की थी। सर्दी का क्या पूछना—प्रायः पन्द्रह हज़ार फ़ुट की उँचाई और नवम्बर के दिन। ख़ैर, किसी तरह चार बजे लङ्-कोर् पहुँचे। लङ्-कोर् भारतीय सिद्ध फ-दम्-प-सङ्स्-ग्यंस का बहुत दिनों तक निवास स्थान रहा है। यहाँ रह-कर उन्होंने कितनी ही पुस्तकें भी भोट-भाषा में अनूदित की थीं। यद्यपि किसी संस्कृत-पुस्तक की आशा तो न थी, तो भी वहाँ के पुराने मठ और उक्त सिद्ध की मूर्ति के देखने की बहुत इच्छा थी। सामान गाँव के वैद्य के घर में रक्खा गया, और हम एक साथी को ले कर मन्दिर में पहुँचे। पुजारी के कुछ देर बाद आने पर भीतर गये। विहार और उसके बनाने का ढंग पुराना है। बड़े और अँधेरे सभा-मण्डप के भीतर गर्भ-मन्दिर है। सभा-मण्डप की एक तरफ़ पुराने हस्तलिखित कन्जुर की पुस्तकें ईंटों की छतरी की भाँति रक्खी गई हैं। गर्भगृह में प्रधान मूर्ति फ-दम-पा की है। साथ ही तीन-चार पीतल की सुन्दर मूर्तियाँ हैं, जो बनावट से भारतीय जान पड़ती हैं। प्रकाश की अल्पता और पुजारी के रूखेपन से फोटो नहीं ले सके। कल सवेरे चलने का निश्चय कर सो गये। रात को साथियों की आवाज़ से आँख खुल गई। वे घोड़ों को कस रहे थे। समझा, समय हो गया होगा। सब ठीक होने पर घड़ी देखी! अभी ढाई ही बजे थे। हमने कहा, अभी रात तीन घंटे से अधिक है। थोड़ी देर तक वे चुप रहे।

किन्तु वहाँ घड़ी की बात कौन मानता है? अन्त में सवा तीन बजे ही हमें चलने पर मजबूर होना पड़ा। एक ओर अँधेरे में इस निर्जन रास्ते में चोरों का भय था, और दूसरी ओर ऊँचे-नीचे और संकीर्ण रास्ते में ठोकर खाकर पचीस पचास हाथ नीचे गिरने का डर था। तो भी सोचते थे, अधिक दिन चढ़ने पर हवा के तेज़ होने से ऊपर ठिठुरना पड़ेगा। धर्मवर्धन तो पहले से ही सवार हो लिये, किन्तु हम संकीर्ण पहाड़ी घुमाव के डर से कुछ देर पैदल चले। थोड़ी देर घोड़े पर चलने के बाद फिर हमें उतर कर ही उजाला होने तक चलना पड़ा। हवा तेज़ तथा हड्डी को बेधकर निकल जानेवाली थी। किसी तरह काँपते-कूँपते हम आगे बढ़ रहे थे। साढ़े आठ बजे तक चलने के बाद एक चट्टान की ओट में ख़ूब ओढ़ना ओढ़ कर घंटे भर विश्राम के लिए पड़ रहे। अन्त में साढ़े बारह बजे थोङ्-ला जोत के ऊपर पहुँचे। आज बादल नहीं था, इससे दिल बहुत मज़बूत था। थोङ्-ला पर बर्फ़ पड़ने पर कितनी ही बार यात्रियों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ता है—विशेष-कर जाड़े के दिनों में।

तीन मील के क़रीब उतरने पर नीचे के गाँववालों की उदारता से बने एक छोटे टिकाव पर हमारे साथी फिर कुछ खाने-पीने के लिए ठहर गये। इसकी आड़ में आकर हम थोड़ी देर के लिए ठंडी हवा के झोंकों से बच गये। बर्फ़ पड़ते वक्त तो यह स्थान कितने ही बटोहियों की जान बचाता होगा।

बहुत काफ़ी उतराई उतर कर अन्त में अँधेरा होते वक्त थु-लुङ् गाँव में पहुँचे। पिछली यात्रा में भी इस गाँव में मैं ठहर चुका हूँ। किन्तु उस समय का ठहरना अपने स्वर्गीय मित्र सुमतिप्रज्ञ के परिचय से हुआ था। कई घरों में पूछने पर हम दो आदमियों के लिए जगह मिल रही थी, किन्तु हमें अपने तीन घोड़ेवालों को भी तो साथ रखना था। आख़िर एक ग़रीब आदमी हमें अपने घर ले गया। जगह जैसी उसके पास थी, प्रदान की। चूल्हे के पास आसन लगा। आज कुछ बुख़ार हो आया था। इसलिए हमारी इच्छा तो पड़ रहने की थी, तो भी उसके लिए काफ़ी इन्तिज़ार करना पड़ा। घरवालों को

तीन सेर चावल और काफ़ी चाय देकर हमने अपनी उदारता प्रकट की। वस्तुतः अब इन चीज़ों की दुष्प्राप्यता और आवश्यकता कम होती जा रही थी। इसलिए हम अपने बोझे को हलका करना चाहते थे।

५ नवम्बर को जब हम चलने को तैयार हुए तब हमें ञे-नम् (कुत्ती) के लिए नये तीन घोड़े मिले। साथियों ने गाँववालों से ऐसा इन्तिज़ाम कर लिया था। उसी दिन ञे-नम् पहुँच जाने की लालसा में बिना जल पान के ही चल पड़े। पानी की धारें जम गई थीं, जिन पर चलने से घोड़े कितनी बार इनकार कर देते थे। वस्तुतः बर्फ़ जमे पानी पर चलना शीशे पर चलने की भाँति ही ख़तरनाक है। कहीं कहीं तो हमारे साथ जानेवाले को धूल बटोर कर बर्फ़ पर बिखेरना पड़ा। सर्दी की इस विशेषता के अतिरिक्त रास्ता वही था जिसे पाँच वर्ष पहले हमने पार किया था। नदी के बायें रास्ते भर तो कोई वैसी बात न हुई। हम साथी को छोड़कर घोड़ों को जल्दी हाँकते आगे बढ़ आये थे। किन्तु जहाँ रास्ता नदी पार हो दाहने से चला, कठिनाई बढ़नी शुरू हुई। यहाँ के चार-पाँच मील रास्ते को पिछली यात्रा में हमने नहीं काटा था। ञे-नम् तक के अन्तिम पाँच मील को यद्यपि पिछली बार भी मैंने पीठ पर बोझ लादे पार किया था, किन्तु यात्रा करने के वर्षों बाद वर्णन लिखते समय उस कठिनाई को भूल गया था। अब की बार दो-तीन जगह उतरते वक्त तो रोंगटे खड़े हो गये। एक जगह की उतराई के बारे में तो मुझे डर होने लगा कि घोड़ा हमारी पुस्तकों को लादे इस रास्ते से कैसे उतर सकेगा। और आख़िरी तीन मील तो हमें घोड़े से बिलकुल उतर जाना पड़ा। सारी परेशानी भूल गई, जब हम पहाड़ की बाँही पार हो दूसरी ओर आये और ञे-नम् हमें सामने दिखाई पड़ा। कहाँ, पिछली यात्रा में "कहाँ" पूछ देने पर तालू सूखने लगता था, और कहाँ आज निधड़क अपने को भारतीय बता रहा था।

चार बजे ञे-नम् में पहुँचे। ने-बु-तङ् के चो-ला के लिए तिङ्-रि से चिट्ठी लाये थे, किन्तु उनका दिया स्थान प्रतिकूल पड़ रहा था। पूछने पर ल्हासा के किसी

ञेनम् से नीचे की ओर

व्यापारी की दूकान भी यहाँ न मिली। अन्त में पाटन नेपाल, के साहु जोगमान् से भेंट हुई, और उन्होंने अपनी एक ख़ाली दूकान का ऊपरी कोठा हमें प्रदान किया। दूसरी चिन्ता थी हमें ल्हासा से लाये छु-सिन्-स्या के पिस्तौल को ज़िम्मे लगाने की। पिस्तौल तिब्बत की यात्रा में आवश्यक चीज़ है, इसलिए धर्मवर्धन को यहाँ तक लाना जरूरी था, किन्तु अब वह गोर्खासीमा में जा नहीं सकता था। जागमान साहु ने उसकी भी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ले ली और उस रात हम ख़ूब आनन्द से पैर पसार कर सो रहे।

(२)

बुख़ार पीछा नहीं छोड़ रहा था, इसलिए हमें जल्दी पड़ रही थी। ६ नवम्बर को सवेरे उठे। देखा, सब जगह छः अंगुल मोटी बर्फ़ की चादर बिछ गई है। सवेरे भी बर्फ़ पड़ ही रही थी। उस दिन दिन भर यही हालत रही। हम चाहते थे कि एक दिन रहकर अपने सब कपड़ों को धुलवा लें। लेकिन अब उसकी सम्भावना न थी। स-स्क्य से मिली तेरह मूर्तियाँ (६ लकड़ी की, ७ पीतल की) और एक पोथी तालपत्र के बारे में दिक़्क़त यह थी कि नेपाल-सरकार ने देश से बाहर (विशेषकर भारत की ओर से) मूर्ति, पुस्तक आदि के ले जाने का निषेध कर दिया है। इसलिए बिना पहले से प्रबन्ध किये इन चीज़ों को नेपाल ले जाने पर नीचे जाते वक्त वह नेपाल की नहीं है,

सम्भ्रान्त गृह
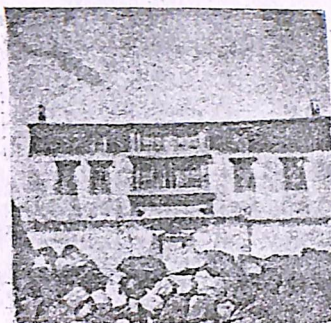
इसका क्या प्रमाण होगा। इसी लिए हम चाहते थे कि कुत्ती के नेपाली प्रतिनिधि (डीठा) को दिखाकर एक पत्र ले लें। डीठा सज्जन हैं। उन्होंने चीज़ें देख लीं, किन्तु चिट्ठी के बारे में कहा कि हम भन्सार (कस्टम्-विभाग के मुख्य कार्यालय) को चिट्ठी लिख देंगे। नेपाल में लोगों को हर बात में बहुत सावधानी रखनी पड़ती है। इसलिए बेचारों को वैसा करना उचित ही था।

उस दिन दीवाली थी। दिन भर हमने ज्वर के कारण उपवास किया था। शाम को साहु जोगरल का बार बार आग्रह घर में आकर खाने के लिए देखकर भी हम न समझे कि आज कोई विशेष दिन है। बाहर निकल कर देखा तो जगह जगह नेपालियों के घरों पर बहुत-से दीपक जल रहे थे। भोजन करने की इच्छा तो न थी, किन्तु अब तो कल से पैदल चलना था, इसलिए जैसे हो, दो कौर भीतर रखने में ही कुशल था। भोजन में कई तरह के मांस और तरकारियाँ थीं, जिन्हें चूरे के साथ खाना था।

रात को यह सोचकर बहुत सन्तोष हो रहा था कि कल यहाँ से प्रस्थान करेंगे। तीन बोझा ढोनेवालों को नेपाल तक के लिए तेरह तेरह मुहर (५ रुपये से कुछ अधिक) पर ठीक किया।

७ को सबेरे आकर भारवाहकों ने सामान बाँध लिया। कहा, हम कुछ खा पीकर चलेंगे। उनके इस कहने पर विश्वासकर हम दोनों ग्यारह बजे चल पड़े। जब तक हम पहाड़ की मोड़ से घूमकर दूसरी ओर नहीं आये तब तक हमारे चारों ओर बर्फ़ ही बर्फ़ थी। बादल था, किन्तु नीचे जाने के कारण हमें बर्फ़ पड़ने का उतना डर नहीं लग रहा था। अपनी पहली यात्रा में हम इसी रास्ते से गुज़रे थे, तो भी यात्रा को वर्ष भर बाद लिखने से वे कठिनाइयाँ मन से दूर हो गई थीं। अब की यात्रा की स्मृति ताज़ी रहने के साथ लिखने से इसमें कुछ अतिशयोक्ति-सी मालूम होगी, किन्तु वह बिलकुल सच है। हमें आज छु-कम् (या छक्-सम्) पहुँचना था। सबसे कठिन रास्ता छक्-सम् से नीचे डाम् तक है। उसके बाद आगे का रास्ता, और तीसरा डाम् से सीमावाले पुल तक के रास्ते का है। उतराई कितनी ही जगह बहुत मुश्किल थी। इधर बीती बरसात के पानी ने भी कितनी ही जगह रास्ते को बहा दिया था। बीच में एक-आध बार बनारसी रामदाने जैसी बर्फ़ भी पड़ी। ढाई बजे हम छक्-सम् पहुँच गये। यहाँ गर्म पानी के सोते में स्नान करना था। दो घंटा इन्तिज़ार करने पर देखा, भारवाहकों का कहीं पता नहीं। अन्त में बिना साबुन के ही जाकर देर तक स्नान किया। ढाई महीने की जमी मैल के उतर जाने से चित्त का प्रसन्न हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था।

शाम हो रही थी, लेकिन आदमियों के आने का कोई पता नहीं। दिल विश्वास करने को मानता था कि हमारे ओढ़ने-बिछौने को लिये वे लोग आज नहीं आयेंगे। सूर्यास्त हो गया। अँधेरा हो चला। अब विश्वास हो गया, आज नहीं आयेंगे। ज़रा ज़रा-सी गल्ती के लिए भोटवालों को कोसना और बात है, किन्तु ऐसे दोष और जगह भी पाये जाते हैं। अपरिचित स्थान में जाने पर भारत में भी ऐसे बेपरवा आदमी मिल सकते हैं। प्रश्न था, हम लोग देह पर के कपड़ों को ही लेकर चले आये थे, अब रात की सर्दी का क्या इन्तिज़ाम हो। संयोग से हमारे निवास में एक और आदमी ठहरा था, जो ञे-नम् के एक साहु का गद्दा-तकिया-रज़ाई सब लिये जा रहा था। हमने घरवाले से रात की धूनी के लिए लकड़ी माँगी तब उस आदमी ने अपने साहु के बिस्तरे के देने का प्रस्ताव

किया। धर्मवर्धन को घरवाले ने कुछ कपड़े दे दिये। इस प्रकार रात भर ठिठुरने से जान बची। साथ ही यह भी शिक्षा मिली—आदमियों को चलाकर स्थान छोड़ना चाहिए।

आज आठ नवम्बर था। सोचने लगा, आदमी दस बजे तो ज़रूर पहुँच जायेंगे। शायद वे रास्ते में ठहर गये होंगे। दोपहर तक प्रतीक्षा करते रहे। अब तक ञे-नम् से चले कितने ही आदमी पहुँच गये। मालूम हुआ, उन्होंने हमारे आदमियों को रास्ते में कहीं नहीं देखा। डरने लगे, कहीं आज भी न आवें। खाने-पीने की चीज़ें भी हमारे पास न थीं। हम घरवाले से कुछ चीज़ें उधार लेकर खा रहे थे। ओढ़ने-बिछौने की समस्या कल जैसी ही थी। अन्त में धर्मवर्धन ञे-नम् की ओर जाने को तैयार हुए। बारह बजे वे उधर गये, और हम एक चट्टान पर बैठ उस मार्ग-द्वार की ओर देखने लगे, जो ऊपर की ओर रास्ते पर बना था। आज भी गर्म पानी में डट कर स्नान हुआ था। ३ बजे रात को बिस्तरा देनेवाला आदमी सबेरे ञे-नम् जाकर लौट आया। उसने कहा—आदमी आज भी नहीं आयेंगे। निराश हो गये। किन्तु सूर्यास्त

निङ्-रिके शि-का और उनकी चाम्

के साथ देखा, लोग आ रहे हैं। धर्मवर्धन को ञे-नम् के पास तक जाना पड़ा।

११ नवम्बर को तैयारी करते करते १० बज गये। आज आदमियों के चल देने ही पर चले। दूध का जला छाछ को भी फूँक कर पीता है। छक्-सम् बस्ती के आँख की आड़ में जाते ही रास्ते की कठिनाई मालूम होने लगी। वैसे तो ञे-नम् से ४-५ मील उतरते ही वृक्ष मिलने लगे।

जीवन-सरिता

लेखक, श्रीयुत आरसीप्रसादसिंह

यह पथ अनन्त, तू मृदु आली;
अलबेली, यौवन-मतवाली!
सुकुमारि, अकेली; तस्कर जग,
यह—हृदय-तरङ्ग छिपाती चल!
हो जायँ शिथिल जब चरण चपल;
इन कल कुंजों में ही कोमल—
बिरमाती चल दो क्षण, दो पल,
श्रम-सीकर-निकर सुखाती चल!
पथ में न कहीं तू पड़े मचल,
खो जाय न यह लघुतम संबल,

[illegible] मन गुन-गुन गाती चल!
[illegible], बहती चल; कुछ कहती चल;
कल-कल सङ्गीत सुनाती चल!
[illegible] क्या, यदि पथ में पड़ा अचल;
[illegible] शिला-शकल, नग का शृङ्खल!
[illegible]ती—बाधा से टकराती,
इतराती, इठलाती चल!
[illegible]जित कर गुंजन से बनतल,
[illegible]-तमाल-तट का अंचल;
[illegible]क्ता-समूह पर धवलांकित,
चंचल पद-चिह्न मिटाती चल!

बावली, ग्रन्थि सुलझाती चल,
जगती की प्यास बुझाती चल!

सुन; रह न जाय कोई प्यासा;
अविपूर्ण किसी जन की आशा!
गृह-गृह में निस्पृह मन से करुणा—
जल छल छल छलकाती चल!
अज्ञात मार्ग, संकट दुर्गम;
सुनता न तनिक प्रियतम निर्मम!
पद-पद पर अलि, महामिलन का,
उत्सव-मोद मनाती चल!

लखनऊ का कवि-सम्मेलन

लेखक, श्रीनाथसिंह

त १० मार्च को लखनऊ में जो अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन हुआ उसमें दो विशेषतायें थीं। पहली यह कि उसमें हमारे एक-मात्र हिन्दी-कविता-प्रेमी नरेश ओरछा के महाराज सभापति के रूप में विराजमान थे और दूसरी यह कि उसमें उपस्थिति का नियन्त्रण टिकटों-द्वारा किया गया था। सबसे अधिक टिकट १०) का था।

यह मैं नहीं कह सकता कि उपस्थित सज्जनों में कितने टिकट खरीदकर उस कवि-सम्मेलन में सम्मिलित हुए थे और कितने लोगों को 'फ़्री पास' मिले थे। सम्भव है, सबने टिकट खरीदे हों और सम्भव है सभी फ़्री पास के सहारे वहाँ पहुँचे हों। पर इस बात को सभी लोग जो उस कवि-सम्मेलन में सम्मिलित हुए थे, स्वीकार करेंगे कि उपस्थित जनता शिष्ट, शिक्षित और कविता समझने की बुद्धि रखती थी और महाराज ने बड़ी ही व्यवस्था-पूर्वक उस कवि-सम्मेलन का संचालन किया। उन्होंने सर्व-सम्मति से इस बात का पहले से ही निश्चय कर लिया था कि पाँच मिनट से अधिक कोई कविता न पढ़ सकेगा। और हम महाराज साहब की यहाँ बिना प्रशंसा किये नहीं रह सकते कि उन्होंने इस नियम का कड़ाई के साथ पालन किया। तथापि दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि इस अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन में भी आधी से अधिक रद्दी कवितायें पढ़ी गईं और उस सभ्य शिष्ट जनता को भी बीच बीच में शोर-गुल के द्वारा ऐसी कविताओं के प्रति अपना विरोधभाव प्रकट करना पड़ा। इस सिलसिले में एक मज़ेदार घटना का उल्लेख अनुचित न होगा।

एक महाशय कविता पढ़ने के लिए खड़े हुए। उनके पढ़ने का ढङ्ग हास्यास्पद था और उपस्थित जनता उनका एक शब्द भी सुनने को तैयार नहीं जान पड़ती थी। सारी सभा के साथ सभापति भी हँस पड़े। पत्थर की दीवारें भी बोल उठीं कि आप बैठ जाइए, आपका एक शब्द भी न सुना जायगा, पर वे अपने आसन से डगमग नहीं हुए। अधिक नहीं तो पाँच मिनट के लिए वे उस सभा के बच्चा बना दिये गये थे, अतएव अपना यह अधिकार समझते थे कि वे पाँच मिनट चाहे जो बक सकते हैं। ज्यों ज्यों सभा का शोर बढ़ा, त्यों त्यों उन्होंने अपना भी मुँह खोला और स्वर ऊँचा किया। पर अनेक स्वरों का मुक़ाबला एक स्वर कब तक करता? उन्हें हार माननी पड़ी। तो भी वे आसन से नहीं डिगे। शायद उस समय इतना हल्ला मच गया था कि उनकी बात महाराज साहब भी न सुनते इसलिए वे घूँसा घुमाकर, आँखें चमकाकर, पैर पटककर और अपने रोम-रोम में गति पैदा कर अन्त में यह कहने की चेष्टा करते हुए दिखाई पड़े कि भाई नियम के अनुसार पाँच मिनट तो मुझे भी अपनी सुना लेने दो। उनकी इस बेचैनी के साथ बहुतों ने सहानुभूति प्रकट की और बहुतों ने उपस्थित जनता को और शिष्ट बनने का स्मरण दिलाया, पर उन्हें सफलता न मिली। इस बढ़ते हुए शोर, घड़ी की सुई और सभापति की घंटी ने उन्हें ठेलकर हटा दिया।

यदि हम वास्तव में हिन्दी-कवि-सम्मेलनों की सफलता देखना चाहते हैं और भविष्य में उन्हें सुन्दर रूप में देखना चाहते हैं तो इस प्रकार के प्रदर्शनों का हमें अन्त कर देना चाहिए। सर्वत्र नहीं तो अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन में तो ऐसे दृश्यों को ज़रूर ही बचाना चाहिए। कवियों को भी कम से कम इतना तो समझ ही लेना चाहिए कि धैर्य्य के साथ रद्दी कवितायें पत्थर की दीवारें भी नहीं सुन सकतीं।

यह नहीं कहा जा सकता कि यह सम्मेलन असफल रहा। मैंने दो रायें सुनीं। कवियों का कहना था कि खूब सफल रहा और उपस्थित जनता में इधर-उधर सुनाई पड़ा कि कुछ मज़ा न आया। बात यह थी कि लखनऊ शिष्टाचार का शहर है। श्रोतागण एक सीमा तक सबकी कवितायें सहन कर सकते थे। इसलिए कवियों का उसे सफल समझना स्वाभाविक हो सकता है। पर कुछ सुन्दर कवितायें भी पढ़ी गईं। श्रीबचन की 'शराब पी' और उसके जवाब में श्रीयुत अभिराम शर्मा की 'नहीं भंग छान' की बहस में लोगों को काफ़ी मज़ा आया। एक कविता 'ताजमहल' पर पढ़ी गई, वह भी सुन्दर थी। सनेही जी का 'बुझा हुआ दीपक' और हितैषी जी का 'मज़दूर' जिसने सुना उसके पैसे वसूल समझे गये। आशु कवि श्री जगमोहन 'अवस्थी' ने दी गई समस्याओं की तत्काल पूर्ति करके लोगों का खूब मनोरञ्जन किया। महिला-विद्यालय की कतिपय बालिकाओं ने भी कवितायें सुनाईं। उनकी चाहे हम प्रशंसा न करें, पर उनके साहस और उत्साह पर हम उन्हें बिना बधाई दिये नहीं रह सकते। हमारा ख़याल है कि कवि-सम्मेलनों में स्त्रियाँ भाग लेने लगें तो सुरुचि और मर्यादा की अधिक रक्षा हो सकती है।

कवि-सम्मेलन बीच में एक घंटे के विश्राम के बाद २ बजे दिन से ८ बजे रात तक होता रहा और महाराज साहब अन्त समय तक जमे रहे। उनकी दिलचस्पी देखकर हमारे मन में बार बार यह बात आई कि दिल्ली के अखिल भारतीय साहित्य-सम्मेलन का सभापति उन्हें न बनाकर हमने भूल की थी। हमारी समझ में नहीं आता कि जो सम्मेलन से उदास रहता है या उसमें दिलचस्पी नहीं लेना चाहता या नहीं लेता उसे सम्मेलन का सभापति बनाने की क्यों ज़िद की जाती है। पिछली बार हमने देखा कि सम्मेलन के अधिवेशन में सभापति (बड़ौदा के महाराज) के स्थान पर केवल उनकी तसवीर आई थी। जान पड़ता है कि इस बार भी इन्दौर-सम्मेलन में हमें पूज्य पंडित मदनमोहन मालवीय के स्थान पर उनकी तसवीर के दर्शन प्राप्त होंगे। ख़ैर, इस चर्चा से यहाँ कोई प्रयोजन नहीं।

इस कवि-सम्मेलन के अवसर पर लखनऊ में काफ़ी साहित्यिक चर्चा भी हुई। उसका ज़िक्र न किया जायगा तो यह लेख अधूरा ही रहेगा। कुछ लोगों का यह ख़याल है कि इन पंक्तियों का लेखक पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी का विरोधी है और उनके सम्बन्ध में प्रत्येक अनुचित उचित बात को मान लेगा। कुछ लोग 'सम्मेलन' में 'दुलारे-दोहावली' की आलोचना करने के कारण पंडित बनारसीदास जी के प्रति एक निन्दात्मक प्रस्ताव लिये घूम रहे थे। उस प्रस्ताव में जिन शब्दों का प्रयोग किया गया था वे गंदे और कुरुचि-पूर्ण थे। जब मुझसे पूछा गया कि क्या मैं उक्त प्रस्ताव का समर्थन कर सकता हूँ तब मुझे वास्तव में दुःख हुआ और मेरे हृदय में चतुर्वेदी जी के प्रति बजाय अप्रसन्नता के सहानुभूति का भाव उदय हुआ। मुझे स्पष्ट कहना पड़ा कि यदि ऐसा प्रस्ताव आया तो मैं उसका विरोध करूँगा। चतुर्वेदी जी ने चाहे जिस उद्देश से दुलारे-दोहावली का विरोध किया हो। हम इस बात को मानते हैं कि उन्हें अपनी सम्मति प्रकट करने का अधिकार था और मैं यह देखता हूँ कि जो लोग चतुर्वेदी जी को संयम का पाठ पढ़ाना चाहते हैं वे उनसे कहीं अधिक असंयमी हो गये हैं। सभाओं में निन्दात्मक प्रस्ताव पास कराकर जो लोग लेखकों की स्वाधीनता का अपहरण करना चाहते हैं वे यह क्यों नहीं सोचने का कष्ट उठाते कि वे स्वयं साहित्य के कितने बड़े शत्रु हो रहे हैं।

यहाँ मैं द्विवेदी-युग के हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि पंडित गयाप्रसाद शुक्ल सनेही की बिना प्रशंसा किये नहीं रह सकता। हिन्दी-कवि-सम्मेलनों के संचालन में सनेही जी सबसे अधिक सफल माने जाते हैं। इसका कारण कदाचित् यह है कि वे कवियों की प्रवृत्तियों से खूब वाक़िफ़ हैं। सनेही जी ने मुस्कराते हुए कहा—"ऐसे प्रस्ताव साहित्य-सम्मेलन में न आने चाहिए, उनके लिए यह उपयुक्त स्थान नहीं है।" यह अच्छा ही हुआ कि सनेही जी ने अपनी व्यवहार-कुशलता से एक अप्रिय

घटना को उठाकर ताक पर रख दिया और मेरा विश्वास है कि वह वहाँ सदैव रक्खी रहेगी।

पंडित सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला ने हम सबका ध्यान अधिक आकर्षित किया। इसमें सन्देह नहीं कि निराला जी के साहित्यिक विचारों से बहुतों को मतभेद है। पर क्या हिन्दी के लिए यह गर्व की बात नहीं है कि उसका एक साहित्यकार अनेक कठिनाइयों में पड़ा हुआ भी इस बात की परवा नहीं करता कि उसकी रचना के विषय में कौन क्या कहता है और वह अपने विश्वास के अनुसार लिखता चला जा रहा है। इस सम्मेलन में मिश्रबन्धुओं ने भी बड़ी दिलचस्पी ली और तीनों भाई बराबर उपस्थित रहे। उनके मिश्रबन्धुविनोद की 'सरस्वती' में हाल में ही कड़ी आलोचना छप चुकी थी। मेरे और उनके बीच में अप्रिय पत्र-व्यवहार भी हो चुका था। और मेरा ख़याल था कि हिन्दी के अन्य लेखकों की भाँति मिश्रबन्धुओं में भी अपने आलोचकों से नाराज़ हो जाने की बान होगी। सम्भव है, पहले किसी समय में यह बात रही हो। पर अब बिलकुल नहीं है। मेरे प्रणाम करने पर तीनों भाइयों ने स्नेह-पूर्वक मुझे आशीर्वाद दिया और इतनी प्रसन्नता के साथ पेश आये, मानो कुछ हुआ ही न था। इतना ही नहीं, उनमें सबसे बड़े भाई पण्डित गणेशबिहारी मिश्र ने, होटल की कई सीढ़ियाँ चढ़कर उस कमरे में भी आकर हमें दर्शन दिया जिसमें हम ठहरे थे।

इस कवि-सम्मेलन के सिलसिले में एक प्रीति-भोज की व्यवस्था की गई थी जिसमें महाराज साहब भी सम्मिलित हुए थे। जलपान के पश्चात् ही मुझे महाराज साहब से बातें करने का अवसर मिला। उनके देव-पुरस्कार के सम्बन्ध में मैंने उनसे काफ़ी देर तक बातें कीं। यहाँ उन बातों का उल्लेख करना अनुपयुक्त होगा। पर पाठकों को यहाँ मैं यह बता देना आवश्यक समझता हूँ कि महाराज साहब के हृदय में हिन्दी के प्रति अगाध प्रेम है और उसके साहित्य के सब अङ्गों की वृद्धि के लिए वे शीघ्र ही आठ पुरस्कारों की व्यवस्था करनेवाले हैं। बात-चीत के सिलसिले में मुझे यह भी मालूम हुआ कि वे गद्य और पद्य की भाषाओं को अलग अलग रखने के पक्ष में नहीं हैं।

प्रीति-भोज में इधर-उधर नज़र दौड़ाने पर ज्ञात हुआ कि यद्यपि इसमें स्त्रियाँ नहीं सम्मिलित हुई हैं, तथापि बिना मूँछवाले चेहरों की कमी नहीं है। महाराज साहब उनके दीवान, राव राजा पंडित श्यामबिहारी मिश्र, राय-बहादुर पंडित सुखदेव बिहारी मिश्र, श्री दुलारेलाल भार्गव और कविवर हितैषी आदि सभी मुछमुंडे हैं। हितैषी जी के आस-पास यह चर्चा शुरू हुई कि हरिऔध जी ने अपने 'रसकलस' में मुछमुंडों की अच्छी खबर ली है। बिना दाढ़ी-मूँछ का मर्द भी कोई मर्द है। इस पर हितैषी जी ने मुछमुंडों के पक्ष में तत्काल बनाकर एक छप्पय पढ़ा जो मैं नीचे देता हूँ—

> जाने मुच्छ मरोरि दीन-उपकार न कीन्हे।
> जाने मुच्छ मरोरि दुष्ट पर वार न कीन्हे।
> जाने मुच्छ मरोरि शत्रु-संहार न कीन्हे।
> जाने मुच्छ मरोरि देश-उद्धार न कीन्हे।
> हैं निमुच्छ उनते भले,
> मुच्छ धरे वे तुच्छ हैं।
> कायर जन के मुखन पर,
> मुच्छ नहीं खरपुच्छ हैं।

हितैषी जी का यह छप्पय सुनने के बाद ही मेरी दृष्टि पंडित दुलारेलाल भार्गव पर पड़ी। मैं उनके मुच्छ-विहीन चेहरे को ध्यान से देखने लगा और हितैषी जी के छप्पय के अनुसार उनके उस चेहरे में उन उपकारों आदि को पढ़ने लगा जो उन्होंने हिन्दी के लेखकों और कवियों पर किये हैं। इस सम्बन्ध में कुछ समय पहले मेरी भार्गव जी की बातें हो चुकी थीं। मैं उनके मुच्छविहीन मूक चेहरे में उन बातों के प्रमाण की रेखायें खोजने लगा। मैंने अनुभव किया कि वे रेखायें बड़ी साहसी हैं और वे धड़क मुझसे कह रही हैं—"जनाब, मैं किसी को कुछ समझता हूँ? ऐसा कौन है जिसकी मैंने मदद न की हो! लीजिए यह तार पढ़िए। आपके कथनानुसार इस समय हिन्दी में एक-मात्र यही कवि हैं। पर इन्होंने मुझसे २००) माँगे हैं। ऐसी सैकड़ों चिट्ठियाँ हैं। सभी माँगते रहते हैं। सबों को देता हूँ। और उस चतुर्वेदी की मैंने कितनी मदद की थी? यह लीजिए चिट्ठी पढ़िए। ये सरस्वती के भूतपूर्वक सम्पादक हैं। देखिए कितना रुपया माँग रहे हैं। आपको मालूम है, वहाँ इलाहाबाद में मैं बेचारे—को ५) आपके सामने दे रहा था। मेरे खिलाफ़ कौन बोलने का साहस कर सकता है? मैं सबको खरीद सकता हूँ।"

मैं अपना हृदय टटोल रहा था कि मैंने तो भार्गव जी से कभी कुछ नहीं माँगा। ध्यान में आया, ज़रूर पुरस्कार माँगा है। 'सुधा' में मैंने लेख लिखे थे और उसकी लिखाई माँगी थी। गंगा-पुस्तकमाला-द्वारा मेरे एक उपन्यास या कहानियों के संग्रह के प्रकाशन की बात-चीत चल रही थी। मेरे पैरों के नीचे से ज़मीन खिसकती जान पड़ी। मैं जैसे पाताल में चला गया। तो क्या सचमुच सब लेखक भिखारी हैं? क्या अपनी रचनाओं और पुस्तकों का पारिश्रमिक माँगना नीचता है?

पाठक स्वयं सोचें कि यदि कोई लेखक लेख लिखकर भार्गव जी को दे तो उसकी मज़दूरी का अर्थ क्या दान है? मेरा विश्वास है कि जिन लोगों की चिट्ठियाँ भार्गव जी ने मुझे दिखाईं उन्होंने उनसे दान न माँगा होगा। कोई चीज़ उन्हें लिखकर दी होगी, उसी के बदले में कुछ माँगा होगा। पंडित दुलारेलाल भार्गव का मैं आदर करता हूँ। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि उनमें जो अवगुण हों उनकी ओर से भी मैं आँख बन्द कर लूँ। हिन्दी के नामी नामी लेखकों और कवियों के प्रति उनके पीठ पीछे उनकी अनुपस्थिति में भार्गव जी से ऐसी बातें सुनकर मुझे दुःख हुआ—हार्दिक दुःख। मेरा यह विश्वास है कि पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी चाहे जितने दम्भी और पाखंडी हों, रुपये-पैसे के मामले में ईमानदार हैं, किसी के सामने हाथ नहीं फैला सकते। यह कहकर कि मैंने चतुर्वेदी जी की सहायता की है, श्री दुलारेलाल जी ने अक्षम्य अपराध किया है। उनकी यह प्रवृत्ति निन्द्य है।

पंडित लोकनाथ सिलाकारी ने 'सरस्वती' के परम विख्यात लेखक पंडित वेंकटेश नारायण तिवारी के लेख 'हरिऔध का बुढ़भस' का 'सुधा' में उत्तर देने का प्रयत्न किया है। मैंने सिलाकारी जी से पूछा, आपने वह लेख क्या सोचकर लिखा है। आप तो विद्वान् और निष्पक्ष समालोचक हैं। सिलाकारी जी मेरे इस प्रश्न का उत्तर देने लगे तब मैंने देखा कि उनकी आँखों में आँसू आ गये हैं। वे बोले—मित्र! तिवारी जी ने जो कुछ लिखा है ठीक लिखा है। परन्तु उनके विरुद्ध मैंने जो कुछ लिखा है वह विवश होकर लिखा है। मैं तिवारी जी को कड़वा उत्तर देने को मजबूर किया गया हूँ।

सिलाकारी जी सरल, सहृदय और सच्चे लेखक हैं। मैं चाहता तो इस बात को छिपा सकता था। पर मैं जान-बूझकर इसे लिख रहा हूँ। क्योंकि मैंने देखा था कि अपनी इस निर्बलता को मुझसे स्वीकार करके वे हलके हुए थे और यदि मैं इसे प्रकाशित कर दूँगा तो वे और भी हलके हो जायँगे।

कवि-सम्मेलन के बाद हम लोगों की इच्छा (मेरे साथ पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी, श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी और श्री व्यथितहृदय भी थे) पंडित वेंकटेश नारायण तिवारी से मिलने की हुई क्योंकि तिवारी जी सम्मेलन में नहीं आये थे। तिवारी जी से उनके स्थान पर मिलने पर मालूम हुआ कि वे इसलिए नहीं सम्मिलित हुए थे कि उन्हें अँगरेज़ी में निमन्त्रण-पत्र भेजा गया था। इसे तिवारी जी ने अपना और हिन्दी का अपमान समझा था। यदि हम लोग वास्तव में हिन्दी का राष्ट्र-भाषा के रूप में सम्मान करना चाहते हैं तो क्या यह उचित नहीं है कि इस सम्मेलन के संयोजक लोग निमन्त्रण-पत्र आदि हिन्दी में ही छपवाया करें। आशा है, सम्मेलन के संयोजक लोग भविष्य में इसका ध्यान रक्खेंगे।

श्रीयुत रामेश्वरप्रसाद वर्मा की चित्रकला

श्रीयुत रामेश्वरप्रसाद वर्मा भारत के प्रसिद्ध चित्रकारों में हैं। 'सरस्वती' में आपके चित्र कई र्ष पूर्व छप चुके हैं। चित्रकला का विशेष रूप से ध्ययन करने के लिए आप विलायत ये थे। वहाँ आप पाँच वर्ष रहे और सार के प्रसिद्ध प्रसिद्ध चित्रकारों से मिले था उनकी प्रवृत्तियों का अध्ययन किया। ाथ ही विलायत में आपने अपने बनाये ए चित्रों का भी प्रदर्शन किया और बहुत याति प्राप्ति की। आपने इटली, स्वीज़र-ंड, स्काटलेंड और फ़्रांस का भी भ्रमण किया। अब आप अपनी कला में पूरे क्ष और अनुभवी होकर भारत लौटे हैं। म आपका सादर स्वागत करते हैं और स दिशा में आपकी अधिकाधिक उन्नति चाहते हैं। विलायत में आपके जो चित्र बहुत पसन्द किये गये थे उनमें से कुछ हम यहाँ देते हैं।

[इस चित्र को हर मैजिस्टी कुइन मैरी ने बहुत अधिक पसन्द किया था।]

[स्केच फ़्राम लाइफ़]

[राधाकृष्ण—आपका यह चित्र इंडिया हाउस, लन्दन में टँगा हुआ है।]
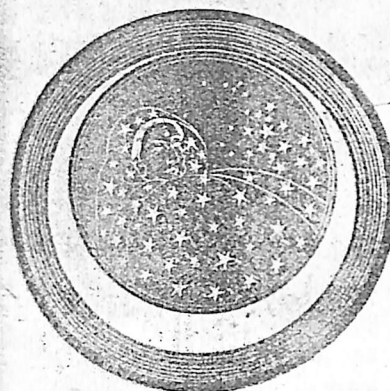
[चन्द्रमा]

[सूर्य]
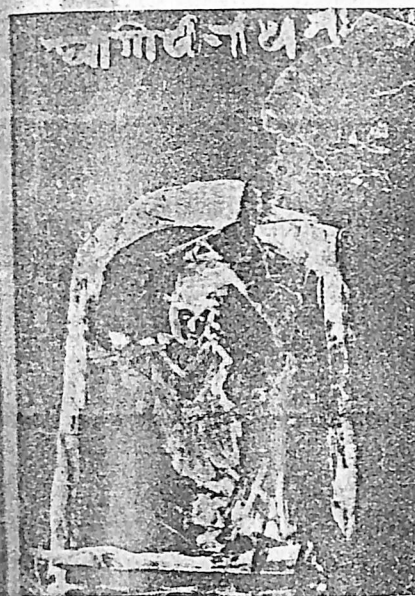
[श्रीयुत रामेश्वरप्रसाद वर्मा ने अपने जीवन में जो सबसे पहला चित्र बनाया था उसका फोटो]

[स्केच फ़्राम लाइफ़]

डाक्टर गणेशप्रसाद

[स्वर्गीय डाक्टर गणेशप्रसाद]

डाक्टर बद्रीनाथप्रसाद स्वर्गीय डाक्टर गणेशप्रसाद के परमप्रिय छात्र ही नहीं रहे हैं। ये उनके अन्तरङ्ग मित्रों में से भी हैं। इन्होंने स्वयं उच्च कोटि का मौलिक गणितीय अनुसन्धान प्रचुर मात्रा में किया है। तीन वर्ष तक इँग्लेंड, फ्रांस, जर्मनी और इटली के विश्व-विद्यालयों में रहने से इन्हें योरप के अधिकतर बड़े बड़े गणितज्ञों तथा वहाँ की वर्तमान गणित-स्थिति से पूरी जानकारी है। आधुनिक गणितोत्कर्ष में डाक्टर गणेशप्रसाद तथा भारत का क्या भाग रहा है इस विषय पर लिखने के लिए डाक्टर बद्रीनाथप्रसाद से अधिक योग्य कोई दूसरा नहीं है। यह लेख आपने खास तौर से सरस्वती के लिए लिखा है।

लेखक, श्रीयुत डाक्टर बद्रीनाथप्रसाद, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, डी० एस-सी०

क्टर गणेशप्रसाद की अचानक अकाल मृत्यु से भारतवर्ष में एक ऐसे संसार-प्रसिद्ध गणितज्ञ और सर्वोच्च कोटि के शिक्षा-प्रवन्धक की कमी होगई है कि उनके रिक्त-स्थान की पूर्ति होना प्राय: असम्भव-सा प्रतीत हो रहा है। भारत में बहुत-से धुरन्धर विद्वान् हुए हैं और हैं, किन्तु एक ही व्यक्ति में अनेक प्रकार के सर्वोत्कृष्ट गुणों, जैसे अलौकिक प्रतिभा, मानसिक तीक्ष्णता, अनुसन्धान-कुशलता, कार्य-तन्मयता, संयम, निग्रह, अनुशीलन इत्यादि का परिपूर्ण समावेश होने के दृष्टिकोण से डाक्टर गणेशप्रसाद अपने समय में अद्वितीय ही रहे हैं।

डाक्टर साहब का (जैसा उन्हें प्राय: सभी लोग सम्बोधित करते थे) जन्म बलिया में २९ कार्तिक सं० १९३३, तदनुसार १५ नवम्बर सन् १८७६ को हुआ था। उनके पिता स्वर्गीय श्रीयुत रामगोपालसिंह क़ानूनगो थे। बलिया के स्कूल से १५ वर्ष की अवस्था में उन्होंने एंट्रेंस परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। तत्पश्चात् वे प्रयाग के म्योर-कालेज में प्रविष्ट हुए। सन् १८९५ ईसवी में उन्होंने बी० ए० की परीक्षा गणित में आनर्स कोर्स लेकर प्रथम श्रेणी में पास की और सारे विश्वविद्यालय में उनका स्थान सबसे ऊँचा रहा। सन् १८९६ में कलकत्ता और प्रयाग-विश्वविद्यालय की एम० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर दो वर्ष के पश्चात् वे प्रयाग-विश्वविद्यालय के प्रथम डी० एस-सी० हुए। इस सफलता पर भारत-सरकार ने ५ वर्ष के लिए छात्रवृत्ति देकर उन्हें गणित का विशेष अध्ययन करने के लिए योरप भेजा। वहाँ उन्होंने इँग्लेंड के केम्ब्रिज और जर्मनी के गेटिंगेन (Göttingen) विश्वविद्यालय में विशेष अनुशीलन किया। प्रोफ़ेसर हाब्सन् (Hobson) जिन्होंने पीछे केम्ब्रिज-यूनिवर्सिटी में शुद्ध गणित के सबसे ऊँचे पद को सुशोभित किया, उनके मुख्य शिक्षक थे। गेटिंगेन में प्रोफ़ेसर फ़ेलिक्स क्लाइन के निरीक्षण में जिनका स्थान संसार के गणितज्ञों में प्रथम या द्वितीय समझा जाता था, उन्होंने गणितीय अनुसन्धान का प्रशस्य कार्य किया।

सन् १९०४ में देश लौट आने पर डाक्टर साहब की नियुक्ति म्योर-कालेज में लगभग एक वर्ष के लिए एक अस्थायी पद पर हुई। इसके पश्चात् बनारस के क्वीन्स कालेज में गणित के प्रोफ़ेसर के स्थायी पद पर वे नियुक्त किये गये। जब सन् १९१४ में कलकत्ता-विश्व-विद्यालय के अन्तर्गत कालेज आफ़ सायंस (विज्ञान-विद्यालय) खुला तब सर रासबिहारी घोष-द्वारा नव स्थापित गणित के आचार्य की गद्दी को सुशोभित करने के लिए स्वर्गवासी सर आशुतोष मुकर्जी को डाक्टर साहब के अतिरिक्त और कोई व्यक्ति नहीं जँचा। अत: सर आशुतोष की प्रेरणा पर डाक्टर साहब क्वीन्स कालेज की सरकारी नौकरी छोड़कर कलकत्ता चले गये। चार वर्ष के बाद जब काशी में हिन्दू-विश्वविद्यालय खुला तब उसके संस्थापक पंडित मदनमोहन मालवीय जी के अनुरोध पर डाक्टर साहब फिर काशी लौट आये और वे हिन्दू-विश्वविद्यालय में गणित के मुख्य प्रोफ़ेसर और सेन्ट्रल हिन्दू कालेज के अवैतनिक प्रिंसिपल नियुक्त हुए। सन् १९२३ में जब कलकत्ता-विश्वविद्यालय में हार्डिंज प्रोफ़ेसर का स्थान जिसका मान भारत में सर्वोपरि है, ख़ाली हुआ तब डाक्टर साहब सर आशुतोष की प्रार्थना पर पुन: कलकत्ता चले गये और तब से आजीवन उसी पद पर विराजमान रहे।

डाक्टर साहब ने भारत के गणित-क्षेत्र में युगांतर पैदा कर दिया। उनके पहले गणित के जितने बड़े बड़े प्रोफ़ेसर भारतीय विश्वविद्यालयों में काम करते थे, वे प्राय: सभी साधारण तौर से क्लास में गणित-अध्यापन कर देने से ही अपना कर्त्तव्य पालन हुआ समझते थे; उन्हें इस बात की ज़रा भी परवा न थी कि वे कुछ गवेषणा-कार्य भी करें। इसका फल यह हुआ कि संसार के गणितज्ञों के सामने भारत का नाम तक न आता था। डाक्टर साहब ने इस कलंक को दूर करने का दृढ़ संकल्प किया। समुचित पुस्तकालयों का अभाव तथा अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाओं के होने पर भी उन्होंने गणित-विषयक मौलिक अनुसन्धान का कार्य बड़ी तत्परता से आरम्भ किया। उनके लेख पर लेख जो उच्च कोटि के मौलिक परिणामों से भरे रहते थे, योरप की सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगे। कालांतर में गणितीय अनुसन्धान करने के लिए उन्होंने अनेक होनहार शिष्य भी तैयार कर लिये और फिर भारत में भी गणित-सम्बन्धी गवेषणा-कार्य प्रचुर मात्रा में होने लगा। कलकत्ता की गणित-परिषत् की स्थापना करने में डाक्टर साहब ने पूरी सहायता की और बनारस की गणित-परिषत् तो पूर्णतया उनकी ही कृति है। सम्प्रति उत्तरी भारत के अधिकतर गणितज्ञ या तो डाक्टर साहब के छात्र हैं या उनके छात्रों के छात्र रह चुके हैं।

डाक्टर साहब केवल गणित के एक धुरन्धर आचार्य ही नहीं थे, वरन वे एक बहुत बड़े शिक्षा-संचालक और सुधारक भी थे। कलकत्ता, प्रयाग, आगरा, काशी आदि विश्वविद्यालयों की विविध संस्थाओं के वे सदस्य थे और तीन वर्ष तक प्रयाग-विश्वविद्यालय की ओर से संयुक्त-प्रान्त की व्यवस्थापिका सभा के भी मेंबर रह चुके थे। कर्त्तव्य-परायण वे ऐसे थे कि रुग्णावस्था में भी सैकड़ों मील की यात्रा कर वे इन संस्थाओं की बैठकों में सम्मिलित होते थे। ८ मार्च सन् १९३५ को प्रयाग-विश्वविद्यालय की एकेडमिक कौंसिल (Academic Council) की बैठक के बाद उन्होंने ७½ बजे संध्या की ट्रेन से आगरा के लिए प्रस्थान किया। स्टेशन पर डाक्टर गोरखप्रसाद और इस लेख का लेखक उनको पहुँचाने गये थे। डाक्टर साहब बहुत स्वस्थ और प्रसन्न मालूम होते थे। ९ मार्च को आगरा-विश्वविद्यालय की एक्जेक्यूटिव कौंसिल में कुछ भाषण करने के बाद दो बजे के लगभग वे एकाएक कुर्सी पर बैठते ही बेहोश हो गये। डाक्टरों ने जाँच कर कहा कि उनका रुधिर-दबाव एकबारगी बहुत अधिक बढ़ गया है और इसी बेहोशी में ७ बजे संध्या तक उनका देहावसान हो गया। डाक्टर साहब अपने अन्त-काल तक शिक्षा-सम्बन्धी कार्य में जुटे ही रहे।

डाक्टर साहब में कुछ दुष्प्राप्य अद्भुत गुण विद्यमान थे। स्मरणशक्ति तो ऐसी दृढ़ थी कि एक बार जो उन्होंने पढ़ा या सुना वह उनके मस्तिष्क में पत्थर पर लकीर के समान हो जाता था। हिन्दू-विश्वविद्यालय में जब तक प्रिंसिपल रहे, वे सब लड़कों के जिनकी संख्या एक हज़ार से ऊपर थी, नाम जानते थे। इतना ही नहीं, वे उनके पिता, भाई, नगर, ग्राम इत्यादि के नाम भी याद रखते थे और लड़कों से अक्सर उनके रिश्तेदारों का कुशल-समाचार भी पूछा करते थे। पचीस-तीस वर्ष पहले के पढ़ाये छात्र या कोई मुलाक़ाती सज्जन आते तो डाक्टर साहब उन्हें तुरन्त पहचान लेते थे और उनको उनके नाम से सम्बोधित करते थे। इस बात से सभी लोग चकित हो जाया करते थे।

डाक्टर साहब में अविरत परिश्रम करने की अपार शक्ति थी। हिन्दू-विश्वविद्यालय के प्रारम्भिक काल में जब नई इमारतें नहीं तैयार हो चुकी थीं, कालेज ६ बजे प्रातःकाल से ६ बजे सायंकाल तक होता था। अन्य प्रोफ़ेसर तो २-३ घंटे काम करके घर चले जाते थे, किन्तु डाक्टर साहब ठीक ६ बजे बराबर कालेज पहुँच जाया करते थे और फिर ६ बजे संध्या को वापस जाते थे। प्रायः प्रत्येक सप्ताह में दो-एक दिन मीटिंग होने के कारण उनको ११ बजे रात तक कालेज में ही रुक जाना पड़ता था। किन्तु इस दशा में भी घर पर जाकर वे रात में अपने गणित-विषयक अनुसन्धान का कार्य किया करते थे। इसी कारण मौलिक लेखों के अतिरिक्त डाक्टर साहब ने उच्च गणित पर बहुत-सी सुन्दर पुस्तकें भी लिख डाली हैं।

डाक्टर साहब का रहन-सहन और भोजन इत्यादि अत्यन्त सादा और संयमशील था। बनारस की मई-जून की गर्मी में भी बिना पंखे के वे काम किया करते थे। गर्मी बिताने के लिए वे कभी किसी पहाड़ पर नहीं गये। विश्वविद्यालय-सम्बन्धी संस्थाओं की बैठकों में सम्मिलित होने के लिए उन्हें अक्सर लम्बा लम्बा सफ़र करना पड़ता था, किन्तु न तो वे नौकर लेकर चलते थे और न उन्हें एक-दो कम्बलों को छोड़ कर किसी सामान की आवश्यकता होती थी। गर्मी के दिनों में लोहे की खाट पर अख़बार के काग़ज़ बिछा कर सोते और तकियों के बदले पुस्तकों का प्रयोग करते उन्हें लेखक ने स्वयं देखा है। योरप से वापस आने के बाद से बीस वर्ष से ऊपर तक दैनिक भोजन में चन्द पूड़ियों और एक तरकारी (प्रायः आलू) के अतिरिक्त उन्होंने कुछ नहीं खाया। हाल में पेट की एक बीमारी हो जाने के कारण उन्होंने पूड़ियों के बदले चपाती खाना आरम्भ कर दिया था।

डाक्टर साहब अपने छात्रों के प्रति बहुत दया और स्नेह का भाव रखते थे। मित्रों की भी सहायता करने का वे पूरा प्रयत्न सर्वदा किया करते थे। गणित के अतिरिक्त इतिहास इत्यादि विषयों का भी अध्ययन डाक्टर साहब किया करते थे। फ़ारसी के वे ख़ासे विद्वान् थे, जर्मन धड़ल्ले से बोल सकते थे और फ्रेंच और इटैलियन भाषायें भी जानते थे।

डाक्टर साहब का विवाह विद्यार्थी रहने के समय ही हो गया था। उनकी पत्नी का देहान्त सन् १८९६ में हो गया। माता-पिता, बन्धु-बान्धवों के बहुत ज़ोर देने पर भी उन्होंने फिर विवाह नहीं किया। उन्हें गणित से फ़ुर्सत ही कहाँ थी कि गृहस्थी का झंझट मोल लेते। सन्तान के नाते उनके एक कन्या उत्पन्न हुई थी, जो विवाहयोग्य होते होते १९१२ में मर डाक्टर साहब को वियोग के शोक-सागर में छोड़कर चल बसी। उनका जीवन किसी योगी-तपस्वी के जीवन से किसी प्रकार कम कठोर और संयमशील न था।

डाक्टर गणेशप्रसाद चले गये, किन्तु उनकी कीर्ति रह गई। उन्हीं की कर्मवीरता के प्रताप से आज भारत भी संसार के गणितज्ञों के सामने सिर ऊँचा कर सकता है।
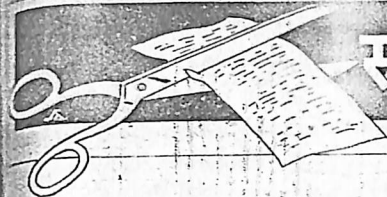
संकट-निवारण के उपाय

कटापन्न लोगों में मुफ़्त भोजन और वस्त्र बाँटना संकटनिवारण का उचित उपाय नहीं है। हाल में ही 'हरिजन' में एक लेख लिखकर महात्मा गांधी ने समस्या के इस पहलू को [स्प]ष्ट कर दिया है। महात्मा जी की सम्मति में भूखे [आ]दमियों को परिश्रम करके खाने का भाव उत्पन्न [क]रना ही उनकी सच्ची सेवा है। वे लिखते हैं—

एक ग्रेजुएट लिखते हैं—

"मैं रायलासीमा गाँव (आन्ध्रप्रदेश) का रहनेवाला [हूँ] जो इस समय दुर्भिक्ष का शिकार हो रहा है। उसकी [इ]स दयनीय दुर्दशा के कारण निम्न प्रकार हैं; जिन्हें [सु]नकर सब भारतवासियों के दिल हिल उठने चाहिए—

(१) इस वर्षाविहीन और नदियों से रहित सूखे [दे]श में आदमियों और खेती की ज़रूरत के लिए पानी [की] जो नहरें आदि होनी चाहिए उनके प्रति भयानक [उपे]क्षा।

(२) आपकी प्रेरणा से देश के अन्य भागों में हाथ [की] कताई-बुनाई आदि के जिन गृह-उद्योगों को पुन[र्]जीवन मिला है उनकी ओर यहाँ ध्यान नहीं दिया गया।

(३) लोगों का घोर अज्ञान और नई-पुरानी सब [तर]ह की शिक्षा का अज्ञान तथा सदा आपस के लड़ाई-[झग]ड़ों और दीवानी-फ़ौजदारी के मुक़दमों में उलझे [रह]ना। इसलिए यहाँ के लोगों की ज़िन्दगी सुधारनी [है] तो दुर्भिक्ष-निवारण के बजाय दुर्भिक्ष को रोकने का [ही] काम ज़्यादा ज़रूरी है।

इनमें से तीसरी बात शायद कारण नहीं, पहले दो कारणों का परिणाम है। और अगर पहला कारण ठीक हो, और उसे दूर न किया जा सकता हो या नहीं किया जाता है, तो इस प्रदेश के अभागे निवासियों के लिए दो में से एक ही रास्ता रह जाता है—या तो वे भूखों मर जायँ या इस सूखे प्रदेश को छोड़ दें। लेकिन पत्र-लेखक ने वहाँ की स्थिति का जैसा वर्णन किया है वह बिलकुल वैसा ही ख़राब न हो, यह भी हो सकता है। जो हो, मैं तो यह समझता हूँ कि जलकष्ट निवारण की व्यवस्था करना सार्वजनिक (निजी) कार्यकर्त्ताओं के बूते की बात नहीं है। लेकिन अगर वहाँ किसी भी तरह जीवन-निर्वाह हो सकता हो तो निश्चय ही लोगों की रोज़ी के लिए ईमानदारी के साथ बहुत-कुछ सच्चा प्रयत्न किया जा सकता है। हमारे देश में इतनी साधन-सामग्री फ़ालतू पड़ी हुई है और इतना अधिक श्रम बिना किसी उपयोग के रह रहा है कि उन दोनों का उपयोग किया जा सके तो एक आदमी को भी भूखों न मरना पड़े। और इसमें कोई शक नहीं कि संकट-निवारण के साथ-साथ उस संकट की रुकावट के उपाय भी न किये जायँ तो उस संकट-निवारण से कोई लाभ न होगा। उसमें तो लोग ईमानदारी के साथ परिश्रम करने के बजाय उलटे भिखारी बन जायँगे। ऐसा नहीं होना चाहिए। बल्कि संकट-निवारण का काम भी इस तरह किया जाना चाहिए जिससे अपने आप आगे के लिए उसकी रुकावट हो। इसलिए बजाय इसके कि लोगों को मुफ़्त खाना दिया जाय, संकट-निवारण का काम करनेवालों को चाहिए कि वे स्थानीय उद्योग-धन्धों की शुरूआत करके संकटग्रस्त लोगों से उनमें काम करने के लिए कहें।

जो मनुष्य अपंग न हो, जब तक वह अपने हिस्से का काम न कर ले, उसे खाना नहीं देना चाहिए। मेरी

राय में वहाँ पर जहाँ कि करोड़ों आदमी भूखों मर रहे हैं, बच्चों और बड़ों को फ़िलहाल बुद्धिपूर्वक किये जानेवाले शारीरिक परिश्रम की ही शिक्षा दी जानी चाहिए। अक्षर-ज्ञान तो हस्तकौशल की शिक्षा के बाद की बात है, क्योंकि हाथ से काम करने से ही तो मनुष्य और पशु के बीच का ज़ाहिरा फ़र्क़ मालूम पड़ता है। यह एक मिथ्या धारणा है कि लिखना-पढ़ना जाने बिना मनुष्य का पूर्ण विकास नहीं हो सकता।

इसमें शक नहीं कि अक्षर-ज्ञान से मनुष्य-जीवन का सौन्दर्य बढ़ जाता है। लेकिन ऐसी कोई बात नहीं है कि इसके बिना उसका नैतिक, शारीरिक और आर्थिक विकास ही नहीं हो सकता। इसलिए मैं चाहता हूँ कि यह पत्र लिखनेवाले ग्रेजुएट और वे सब कार्यकर्ता जिन्हें हम जुटा सकें, संकटग्रस्त लोगों के बीच जाकर रहें और उन्हें आजीविका पहुँचाने लायक रचनात्मक कार्य में लग जायँ। संकटग्रस्त लोगों को ऐसा काम दिया जा सके तभी उनके अन्दर ईमानदारी के साथ खरे पसीने की कमाई पर गुज़र करनेवाले आदमी के जैसा आत्मगौरव पैदा होगा।

बंगाल में नारीहरण-समस्या

बंगाल में गुण्डों-द्वारा स्त्रियों के अपहरण की समस्या दिन-दिन भयकर रूप धारण करती जाती है। उस दिन वहाँ की 'कौंसिल' में इस सम्बन्ध में एक सदस्य ने प्रश्न किया था, जिस पर सरकार ने तत्सम्बन्धी घटनाओं के अङ्क दिये थे। उस सम्बन्ध में 'भारतमित्र' में जो अग्र लेख छपा है उसका मुख्यांश यह है—

भारतीय दण्ड-विधान में स्त्रियों का अपहरण करनेवालों को दण्ड देने के लिए व्यवस्था है और उसके अनुसार अभियुक्तों को दण्ड भी दिया जाता है, परन्तु दुर्घटनाओं के अङ्क देखकर ऐसा समझ पड़ता है कि वर्तमान दण्ड-व्यवस्था लोगों की उच्छृङ्खल प्रवृत्ति पर नियन्त्रण रखने में असमर्थ प्रमाणित हो रही है! अन्यान्य प्रान्तों में इन अपराधों की संख्या कितनी है, यह नहीं कहा जा सकता, परन्तु बंगाल के अङ्क इस प्रान्त की शोचनीय अवस्था बतलाने के लिए काफ़ी से बहुत ज़्यादा हैं।

सन् १९३१, १९३२ और १९३३ में इस प्रकार के जो मामले अदालत में गये उनकी संख्या क्रमशः ३३३, ३५५ और ३०६ थी! इनमें से क्रमशः १८६, १०२ और १०० मामले तो कामयाब हुए, अर्थात् इन मामलों में अभियुक्तों को दण्ड मिला और शेष २४७, २५३ और २०६ मामलों में इस्तगासा नाकामयाब हुआ और अभियुक्त छूट गये! कामयाब और नाकामयाब होनेवाले इन मामलों के अङ्कों से प्रान्त की शोचनीय अवस्था पर प्रकाश पड़ता है।

यह हम जानते हैं कि अनेक अवस्थाओं में सही मामले को भी साबित करना कठिन हो जाता है, परन्तु कुल वारदातों में आधी से कुछ ही अधिक वारदातों का अदालत तक पहुँचना और उनमें से भी एक तिहाई से भी कम में अभियुक्तों का दण्ड पाना क्या यह नहीं प्रकट करता कि बंगाल सरकार के पुलिस-डिपार्टमेंट की कारगुज़ारी और योग्यता कैसी बढ़ी-चढ़ी है! अपने इस कथन को स्पष्ट करने के लिए हम कुछ अङ्कों का ब्योरा यहाँ लिखेंगे।

सन् १९३१ में कुल वारदातें ५६५ हुई थीं जिनमें से कुल ३३३ मामले अदालत में गये और अभियुक्तों को दण्ड मिला कुल ८६ मामलों में! सन् १९३२ की [illegible] वारदातों में से ३५५ मामले अदालत में पहुँचे, जिनमें से दण्ड मिला केवल १०२ मामलों में। इसी भाँति [illegible] १९३३ की ५४७ वारदातों में से अदालत में जो [illegible] मामले पहुँचे उनमें से केवल १०० मामलों में अभियुक्तों को दण्ड मिल सका। जहाँ गुण्डे इतनी आसानी से [illegible] के शिकंजे से निकल जाते हों, वहीं इतनी अधिक संख्या में नारीहरण की घटनायें यदि हुआ करें तो कोई आश्चर्य नहीं है। सरकार की दृष्टि में पुलिस-विभाग के लिए यह प्रतिष्ठा की बात हो तो हो, परन्तु जनता को प्रान्त की इस अवस्था पर क्षोभ ही हो सकता है।

आँख खोलकर समाज के शुभ चिन्तकों को [illegible] पढ़ना चाहिए कि सन् १९३१, १९३२ और १९३३ में [illegible]०४, ४६६ और ४३० स्त्रियों का अपहरण हुआ उसके लिए क्रमशः केवल १९७, २३८ और २३७ व्यक्ति दण्डित हुए। ऊपर बतलाई हुई तीन सालों में स्त्रियाँ तो हरण की गईं १,४०३ और इस जघन्य कार्य के लिए दण्ड मिला केवल ६७२, अर्थात् आधे से भी कम व्यक्तियों को। इन अङ्कों पर किसी टीका-टिप्पणी की ज़रूरत नहीं है। ऐसी अवस्था में नारी अपहरण की घटनायें यदि बंगाल में नहीं हों तो और कहाँ होंगी?

कर नहीं घटेंगे!

भारत के किसानों के उद्धार के जहाँ बहुत-से उपाय बताये जाते हैं वहाँ एक यह भी है कि सरकार लगान में कमी करे। परन्तु सन् १९३५-३६ का बजट पेश करते हुए अर्थ-मंत्री सर जेम्स ग्रिग ने सरकारी बजट में ३२७ लाख रुपये की बढ़ती बताते हुए भी इस बात पर ज़ोर दिया है कि वर्तमान स्थिति में कर न घटाना ही श्रेयस्कर है। इस पर टिप्पणी करते हुए 'वर्तमान' ने गत मास में एक अग्र लेख प्रकाशित किया था, जिसका एक महत्त्व-पूर्ण अंश यह है—

सरकारी क्षेत्रों से ऐसी बातें निकलना कोई असम्भव नहीं है, क्योंकि जब पिछले पाँच वर्षों के आर्थिक संकट में सरकार ने कर नहीं घटाये तब फिर ज़रा-सी सुधरती हुई हालत में इसे सरकार क्योंकर कम करने का साहस करेगी। लोग तो समझते हैं कि सरकार पिछले वर्षों में [illegible] उदार रही। उसने लगान माफ़ कर दिया या छूट दी। लेकिन सरकार की असली कसौटी तो यह होना [illegible] कि उसने टेक्सों को कम किया या नहीं। बीस वर्ष से [illegible]क हो गये जब कि भूमि-कर का बन्दोबस्त किया गया [illegible]। तब से यू० पी० में लगान को दुरुस्त करने की बात [illegible] की ही नहीं गई। अर्थशास्त्रवाले जानते हैं कि एक [illegible] अन्तकाल तक पहली जैसी उपज नहीं दे सकता। ज़मीन [illegible] उपजाऊ शक्ति की भी एक सीमा है और वह कभी [illegible] पार हो चुकी है। खेतों में पहले से आधा अनाज [illegible]कल से होता है। लेकिन कर पहले जैसा ही है।

दुर्भाग्य से न पिछले वर्षों में उसे कम करने की चेष्टा की गई, और अब तो आनेवाले कई सालों तक उसके कम होने की कोई आशा ही नहीं है। अर्थ मंत्री ने साधारण जनता के कर न घटाने की नीति पर अपनी बजट स्पीच द्वारा मुहर लगा दी है।

फिर मज़ा तो यह है कि सरकार ग्रामों के उद्धार के लिए १०० लाख रुपया खर्च करने का प्रोग्राम अलग बना चुकी है। हम पूछते हैं कि ३० करोड़ किसानों में यह रुपया क्या असर ला सकता है? मुश्किल से एक किसान को ।–) ३ पाई का लाभ पहुँचाया जा सकेगा। सरकार की जनता के प्रति कितनी अधिक 'कृपादृष्टि' है कि वह एक-दम किसानों के नाम पर प्रति किसान ५ आना ३ पाई खर्च करने को तैयार हो गई जब कि वे अपनी आमदनी का एक तिहाई हिस्सा सरकार को कर के रूप में दे रहे हैं।

इस सहायता को मज़ाक समझने का सबसे बड़ा कारण यह है कि कर-दाताओं को अपने पैसे के बदले में जो लाभ मिल रहा है वह नहीं के बराबर ही है। दुनिया भर में हिन्दुस्तान का किसान ही ऐसा है जो सबसे कम कमाई करके भी उसका सबसे अधिक प्रतिशत सरकार को देता है। जहाँ इँगलेंड में २३५) वार्षिक आमदनी का १६ वाँ हिस्सा, जर्मनी में ७५) वार्षिक आमदनी पर १४ वाँ हिस्सा, अमेरिका में ८१) सालाना आय पर १८ वाँ हिस्सा कर के रूप में लिया जाता है, वहाँ भारत में ६) वार्षिक आमदनी का एक तिहाई हिस्सा कर के रूप में ले लिया जाता है।

साहित्य क्या है?

कर्मवीर-संपादक पंडित माखनलाल चतुर्वेदी ने नागपुर-विश्व-विद्यालय की हिन्दी-समिति के प्रथम वार्षिकोत्सव में सभापति के आसन से जो कवित्वपूर्ण भाषण किया था उसका एक महत्त्व का अंश यह है—

कुछ लोग गर्व के साथ कहते हैं अजी साहब, हमें साहित्य-वाहित्य से कुछ नहीं करना, हम तो राजनीतिज्ञ

। हमारे यही विचार हमें उठने नहीं देते। हम अपने
वन को साहित्य के अमृत से दूर रखकर अमर बनाने
पुरुषार्थ करने का स्वप्नमात्र देखा करते हैं। इँग्लैंड
प्राइम मिनिस्टर मैकडोनल्ड शासन के सूत्र हाथ में लेने
पहले बोलती हुई क़लम हाथ में लेता है। कुशल
जनीतिज्ञ बर्कनहेड राजनीति की गद्दी से उतरने के बाद
ाहित्य के चरणों में बैठकर लेखनी की सेवा करते करते
प्रपने दिन गिनता है। हम लोग जब तक साहित्य की
यापक शक्ति को भली भाँति नहीं समझ सकते तब तक
दुनिया के सभ्य राष्ट्रों की बराबरी में नहीं बैठ सकते।
साहित्य-कल्पनाओं के मन्दिर में ज्ञान की बिजली की
चकाचौंध है। वह मानव-हृदय का मुग्ध संस्कार है।
मानव-सुख के फूलों और लड़ाके सिपाहियों के रक्तबिंदुओं
का संग्रह है। साहित्य वह है जहाँ कल्पना की जीभ
लिखने लगे, और क़लम की जीभ बोलने लगे। साहित्य
अनन्त जाग्रत् आत्माओं के ऊँचे और गहरे स्वप्न हैं। वह
मानव-जीवन की आज तक की पनपी हुई सुसंस्कृत महत्ता
का मन्दिर है। वह प्रयत्नों की ज़मीन को परिणामों के
आसमान से मिलानेवाला सुनहरा ज़ीना है। साहित्य
पशुत्व और मानवत्व के बीच की सीमा-रेखा है। यदि
साहित्य के नाम पर भगवान् व्यास और वाल्मीकि, श्रीकृष्ण
और राम का निर्माण न करते तो पतित और पीड़ित
मानव-समाज किसका नाम लेकर अपने दुःखों में सेहत
पाता? यदि साहित्य स्वर्ग न उतार दे तो मन्दिरों में
किसकी आरती उतरे? वहाँ उल्लू बोलें, चमगीदड़ टँगे
रहें। मस्तिष्क के मन्दिर में भी जो साहित्य की मूर्ति से
ख़ाली है, यही तो हो रहा है। हम साहित्य के प्रति
उदासीन तो रह ही नहीं सकते। साहित्य को तलाक़ देकर
न तो राष्ट्रीयता ही पनप सकती है, न मानवता।

महाकोशल या महाकोसल

नागपुर से 'महाकोशल' नाम का एक सुन्दर अर्द्ध-साप्ताहिक पत्र इधर कई मास से प्रकाशित हो रहा है। उसके नाम पर आपत्ति करते हुए पण्डित लोचनप्रसाद पाण्डेय ने उसके पत्र में हाल में एक लेख प्रकाशित कराया है। उस लेख का एक अंश इस प्रकार है—

शुद्ध शब्द 'महाकोशल' है या 'महाकोसल'? बहुतों की धारणा है कि दन्त्य 'स'-युक्त 'महाकोसल' शब्द अशुद्ध है। जब जबलपुर से 'लोकमत' दैनिक पत्र निकलता था तब मैंने अपने लेखों में, जो उस पत्र में प्रकाशनार्थ भेजे गये थे—दन्त्य 'स'-युक्त 'महाकोसल' का प्रयोग किया था। विद्वान् सम्पादकों ने दन्त्य 'स' के स्थान पर तालव्य 'श' संशोधन-पूर्वक उन लेखों को छापने की कृपा की थी।

अभी हाल में मैंने 'महाकोशल' में दन्त्य 'स' युक्त महाकोसल-शब्द-सहित एक पद्य प्रकाशनार्थ भेजा था—मेरा पद्य मेरे ही प्रति के अविकल रूप में प्रकाशित किया गया। पर सम्पादकीय विभाग से इस बात की जिज्ञासा का एक पत्र हस्तगत हुआ कि शब्द 'महाकोशल' है या 'महाकोसल'।

इस सन्देह को दूर करने के लिए निवेदन है कि संस्कृत-व्याकरण के अनुसार दोनों शब्द शुद्ध हैं। पर 'इतिहास' और 'भूगोल' को ध्यान में रखते हुए 'दक्षिण-कोसल' या 'महाकोसल' में दन्त्य 'स' का प्रयोग प्राचीन शिलालेखों और ताम्र-शासनों में मिला करता है। अष्टाध्यायी—चतुर्थ अध्याय प्रथम पाद के सूत्र १६६ "वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ्" में भी दन्त्य 'स'-युक्त 'कोसल' शब्द आया है जो 'दक्षिण-कोसल' का द्योतक है। मेरे अनुमान में यदि "महा" "उत्तर" और "दक्षिण" के साथ 'कोसल' शब्द जोड़ा जाय तो उसमें चाहे दन्त्य 'स' हो या तालव्य 'श' विशेष हानि नहीं। यदि केवल 'कोसल' लिखा जाय तो वह 'महाकोसल' या 'दक्षिण-कोसल' का परिचायक है और "कोशल" (तालव्य 'श'-युक्त शब्द अयोध्या या सरयू-तटस्थ श्रीरामराज्य का द्योतक है। 'महाकोशल' शब्द आज तक किसी शिलालेख या ताम्र-पत्र में नहीं मिला है। इससे निश्चय नहीं किया जा सकता कि उसका उस रूप में प्रयोग पूर्वकाल में प्रचलित रहा है।

सरकार का रेलवे प्रबन्ध

सरकार का रेलवे प्रबन्ध अभी सन्तोष-जनक नहीं है। रेलों में भारतीयों को ऊँचे दर्जे की नौकरियाँ बहुत कम मिलती हैं और तीसरे दर्जे में यात्रा करनेवाले भारतीयों के कष्ट का तो कुछ कहना ही नहीं है। इस बार असेम्बली में रेलवे-बजट पर बहस के समय मेम्बरों ने इस कार्यप्रणाली की तीव्र निन्दा की। पटने के साप्ताहिक 'नवशक्ति' ने इस पर अपना अग्र लेख लिखा है, जिसका कुछ अंश यह है—

रेलवे-प्रबन्ध में सबसे बड़ी शिकायत तीसरे दर्जे के सम्बन्ध में है। वह शिकायत इतनी अधिक और इतनी प्रसिद्ध हो गई है कि इस बार असेम्बली में इसके लिए न केवल निर्वाचित और विरोधी दल के सदस्यों ने ही, बल्कि नामज़द तथा एँग्लो-इंडियन और योरपीय सदस्यों तक ने सरकार की तीव्र निन्दा की और वोटिंग में गवर्नमेंट के ख़िलाफ़ वोट दिया। ऐंग्लो-इंडियनों के नेता और प्रतिनिधि सर हेनरी गिडनी ने तो यहाँ तक कहा कि भारत में सबसे बड़ा निरंकुश शासक रेलवे एजेंट है और उसकी छाया उसके अधीनस्थ नीचे के रेलवे कर्मचारियों पर भी पड़ती है। आपने यह भी कहा कि मैंने स्वयं अपनी आँखों मुसाफ़िरों के साथ रेलवे-कर्मचारियों को अमानुषिक व्यवहार करते देखा है। तीसरे दर्जे के मुसाफ़िरों को टिकट लेने में अनेक मुसीबतें उठाने, डिब्बों और मुसाफ़िरख़ानों में उनके जानवरों की तरह भर दिये जाने, पानी और खाद्य पदार्थों का बहुत ही कम और वह भी अत्यन्त गन्दा प्रबन्ध रहने, पाखाने और सफ़ाई का अभाव, मुसाफ़िरों के साथ रेल-कर्मचारियों का अशिष्ट और असभ्यतापूर्ण व्यवहार, मुसाफ़िरों का लगातार १५-१५ और २०-२० घंटे खड़े-खड़े या बैठे बैठे ही सफ़र करना, प्रतिवर्ष हज़ारों व्यक्तियों की जान रेल-दुर्घटनाओं में जाना आदि निन्दनीय बातों के सम्बन्ध में ध्यान न देने के लिए सदस्यों ने सरकार की ख़ूब ख़बर ली। असेम्बली में मुख्यतः एन० डब्ल्यू० और बी० एन० डब्ल्यू० रेलवे के तीसरे दर्ज़े के मुसाफ़िरों के ही कष्टों की बात कही गई। पर ये असुविधायें और कष्ट न केवल इन दो ही रेलवे में, बल्कि सब कहीं विद्यमान हैं।

अगर रेलवे मेम्बर, रेलवे एजेंट तथा गवर्नमेंट और रेलवे के अन्य बड़े बड़े नौकरशाह दो-चार बार तीसरे दर्जे में सफ़र करने को मजबूर किये जायँ, तो अलबत्ता उन्हें पता चले कि तीसरे दर्जे के मुसाफ़िरों को कितना कष्ट होता है और उस ओर ध्यान देने की कितनी जल्द और ज़्यादा ज़रूरत है। पर क्या वे तीसरे दर्जे के डब्बे में पैर रखने की तकलीफ़ भी गवारा करेंगे?

× × × ×

अमेरिका, इँग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों में काम के अलावा सैर-सपाटे के लिए भी लोग रेलों-द्वारा सफ़र करते हैं। पर हिन्दुस्तान में यह बात नहीं है। यहाँ के दरिद्र निवासियों के पास अपनी अनिवार्य आवश्यकता के लिए भी रेल से सफ़र करने के निमित्त जब पैसे नहीं, तब वे सैर-सपाटे में कहाँ से ख़र्च कर सकते हैं? किन्तु इस दशा में भी उनसे इतना अधिक रेल-भाड़ा लिया जाता है और वह भी उनके आराम और सुविधा के लिए नहीं, बल्कि दूसरों के लिए। इससे बढ़कर लज्जास्पद और निन्दनीय बात और क्या हो सकती है? अस्तु, यह अत्यन्त आवश्यक है कि रेल-किराया में जल्द से जल्द अधिक से अधिक कमी की जाय। किराये में कमी तो इसलिए भी की जानी चाहिए कि इससे सरकारी आय घटने के बजाय बढ़ेगी ही। स्वयं रेलवे मेम्बर सर जोज़ेफ़ भोर का कहना है कि एक रेलवे का किराया कम करने से उसमें उस वर्ष मुसाफ़िरों की तादाद में ६० लाख की वृद्धि हुई यानी उस रेलवे की आमदनी बढ़ी। फिर क्या उक्त रेलवे की बात और रेलवे के सम्बन्ध में भी लागू नहीं हो सकती? इसके अलावा सरकार को चाहिए कि वह सभी प्राइवेट रेलवे कम्पनियों को ख़रीदकर उन्हें सरकारी रेलवे कर दे तथा असेम्बली में की गई अन्य सभी शिकायतों को जल्द से जल्द दूर करने की व्यवस्था करे। असेम्बली-द्वारा रेलवे प्रबन्ध की इतनी तीव्र निन्दा होने के बाद भी अगर रेलवे प्रबन्ध में पर्याप्त परिवर्तन न किया गया और

खासकर तीसरे दर्जे के मुसाफ़िरों के कष्टों को दूर न किया गया तो भारतीय पार्लियामेंट और लोकमत की इससे बढ़ कर और क्या उपेक्षा हो सकती है ?

स्वदेशी का अर्थ

पंजाब के युवक-सम्मेलन में श्री लाला दुनीचन्द ने हाल में ही स्वदेशी के सम्बन्ध में एक निबन्ध पढ़ा था। उसका कुछ अंश हम नीचे उद्धृत करते हैं—

स्वदेशी की भावना एक व्यापक धर्म है। यह न तो किसी खास फ़िरक़े का बीज है और न कोई नारा लगाने की बात अथवा जोश में आकर किया गया काम ही है। यह किसी एक वस्तु या अनेक वस्तुओं के व्यवहार तक ही सीमित नहीं है। यह वह भावना है जिसको राष्ट्र के जीवन में प्रवेश कर जाना चाहिए। यह ऐसा उत्साह है जो देश भर की आत्मा में व्याप्त हो जाना चाहिए। यह ऐसा विचार है जिसे देश के प्रत्येक स्त्री और पुरुष के दिमाग़ में रहना चाहिए। इस तरह हमें अपने नित्यप्रति के जीवन में अमल करना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि यह मातृ-भूमि की पूजा है।

स्वदेशी से मेरा क्या तात्पर्य है, यह मैं आपको बता देना चाहता हूँ। यदि बचाव हो सके तो ऐसी किसी भी वस्तु का व्यवहार न करना चाहिए जो इस देश में पैदा न होती हो या बनाई न जाती हो जिस प्रकार ब्रिटिश लोगों का मुख्य वाक्य 'ब्रिटिश माल खरीदो' हो रहा है, उसी प्रकार आप लोग भी 'भारतीय माल को खरीदो', इस वाक्य को जपते रहिए। यह कहना ही पर्याप्त न होगा कि जिस वस्तु की आपको आवश्यकता है वह आपके पड़ोस की दूकान में या आपके नगर अथवा गाँव में मिलती है। आपको इस बात का पूर्ण-ज्ञान होना चाहिए कि आपके व्यवहार की कौन-सी वस्तु किस स्थान पर मिलती है। यह जानना चाहिए कि किस वस्तु को कौन किस स्थान पर तैयार करता है। केवल अपने ही प्रति इतना कर लेने से काम नहीं चलेगा। यदि आपने स्वदेशी-धर्म को धारण किया है तो आपके सम्बन्धियों, आश्रितों और मित्रों को भी उसकी आवश्यकता है। यदि आपके जीवन को उससे ही मुक्ति मिलती है— जो एक बिलकुल सच बात है—तो फिर उसका कहना ही क्या है। युवकों में पीड़ित मानव-समाज की सेवा करने की अनन्त शक्ति है। प्रत्येक युवक में मानव-समाज की सेवा करने की अनन्त शक्ति होती है। क्या यह हमारी अयोग्यता को नहीं प्रमाणित करता कि वे सैकड़ों उद्योग-धन्धे जिनके द्वारा विदेशी लोग देश का बहुत-सा धन बटोरे लिये जाते हैं उन पर हम लोगों ने अभी तक प्रयोग भी नहीं किया है। हमारे देश के करोड़पति लोग रुई अथवा अनाज के सट्टे में लाखों के वारे-न्यारे भले ही कर डालें, परन्तु उनमें ऐसा एक भी नहीं है जो मोटर बनाना या इसी प्रकार का कोई और बड़ा व्यवसाय प्रारम्भ कर दे।

आपकी विचारधारायें और आपका दृष्टिकोण दोनों ही स्वदेशी होने चाहिए। नक़ली चेहरे से न तो आपका सौन्दर्य ही बढ़ता है और न आपके गौरव की ही वृद्धि होती है। शहद की मक्खी के समान आपको सभी स्थानों में मधुसंचय करना चाहिए, किन्तु आपको अपना निजी व्यक्तित्व अवश्य ही बनाये रखना चाहिए।

स्वदेशी का अर्थ है प्रत्येक भारतीय वस्तु से प्रेम करना। हमारे देश के पर्वत, मैदान, नाले, जंगल और रेगिस्तान सभी प्रशंसा और प्रेम के योग्य हैं। हममें सिर्फ़ कमी इतनी ही है कि उनके सौन्दर्य और ओज की परख करना हम नहीं जानते। भारतीय जंगलों और पहाड़ों में भ्रमण करने के समान कोई दूसरा सुख नहीं है। योरपीय देशों में आपको अनेक युवतियाँ और युवक मिलेंगे जो बड़ी बड़ी टोलियों में एक स्थान से दूसरे स्थान को तथा विभिन्न देशों में भ्रमण करते फिरते हैं। उन्हें आप सौन्दर्य-पूर्ण एवं मनोरञ्जक स्थानों का भ्रमण करते पायेंगे। पहाड़ों, घाटियों और जंगलों को देखकर उनके हृदय प्रसन्नता से उमड़ उठते हैं। खोज और अनुसन्धान की भावना योरपीयों में कूट-कूट कर भरी रहती है, किन्तु हमारे देशवासियों में उसका कहीं पता भी नहीं लगता।

स्वदेशी का अर्थ यह है कि हम अपने देश से भूखे और नंगे रहनेवालों की तकलीफ़ तथा ग़रीबी को दूर कर सकें। जहाँ कहीं भी स्वदेशी की भावना मौजूद होगी, वहाँ आप को कोई भूखा पेट और नंगा बदन नहीं दिखाई देगा। जब तक आपको अपने चारों ओर ग़रीबी दिखाई दे तब तक आप यह नहीं कह सकते कि आपमें स्वदेशी की भावना पूर्ण रूप से आगई है। चूँकि ये भीषण बुराइयाँ देश में उपस्थित हैं, इसलिए मैं आप लोगों में से पञ्जाब देश के युवकों और युवतियों से अनुरोध करता हूँ कि आप इन्हें दूर कीजिए जिसमें कि आपकी मातृभूमि का मुख उज्ज्वल हो।

शक्कर-व्यवसाय का भविष्य

'वर्तमान' में पण्डित गयाप्रसाद द्विवेदी एम० ए० ने शक्कर-व्यवसाय के सम्बन्ध में एक उपयोगी लेख लिखा है। वे लिखते हैं—

भारतवर्ष में शक्कर का व्यवसाय बहुत पहले से होता आ रहा है। इसमें किञ्चित् सन्देह नहीं कि पूर्वकाल में यह एक परिमित सीमा के अन्दर ही सीमित था। शनैः शनैः इसकी आवश्यकता यहाँ तक बढ़ी कि इसकी पूर्ति के हेतु इसे अन्य वस्तुओं की भाँति विदेश का मुँह ताकना पड़ा। अवकाश मिलते ही विदेशों ने इस पर अपनी छाप जमा दी और जैसा कि नीचे के आँकड़ों से स्पष्ट हो जायगा, अल्पकाल में ही इसकी करोड़ों की सम्पदा अपने अधीन कर ली—

वर्ष	शक्कर का आयात (टनों में)	मूल्य
१९१३-१४	८,०३,०००	१,४२९ लाख रु०
१९२६-२७	८,२६,९००	१,८३६ ,,
१९२७-२८	७,२५,८००	१,४५० ,,
१९२८-२९	८,६८,८००	१,५८६ ,,
१९२९-३०	९,३९,६००	१,५१५ ,,
१९३०-३१	९,०१,२००	१,०५० ,,
१९३१-३२	५,१६,१००	६,०१ ,,
१९३२-३३	४,०१,१००	४,२२ ,,

इन रुपया खींचनेवाले देशों में जावा, मारीशस प्रधान थे, किन्तु सन् १९१४ के पश्चात् मारीशस का शक्कर का निर्यात दिनोंदिन घटता गया और सन् १९२७ में वह प्रायः लुप्तप्राय हो गया। किन्तु जावा अपने व्यवसाय में डटा ही रहा। १९३०-३१ में ९,०१,२०० टन में से अकेले जावा ने ८,०९,७०० टन शक्कर भारत को भेजी थी। निम्नांकित आँकड़ों से यह साफ़ मालूम हो जायगा कि इस छोटे से देश में भारत की बदौलत कितने कारख़ाने हैं।

वर्ष	मिलों की संख्या	शक्कर की पैदावार (टनों में)
१९२४	१७९	१९,६६,२३७
१९२५	१७९	२२,६९,४७९
१९२६	१७८	१९,४१,६४९
१९२८	१७८	२९,०१,७५१
१९३१	१७८	२७,२८,७०६

जावा में उसकी आवश्यकता के लिए लगभग ४,२०,००० टन शक्कर की खपत है, शेष सब वह विदेशों को भेज देता है।

यद्यपि समय समय पर इम्पोर्ट ड्यूटी (आयात कर) लगा लगाकर भारत की भारी क्षति रोकने के लिए भारत-सरकार ने उद्योग किया। यहाँ तक कि सन् १९१६ में वह आयात कर ५ प्रतिसैकड़ा से बढ़ाकर १२ प्रतिशत कर दिया गया। अन्त में कुछ देशभक्तों के उद्योग से भारत सरकार ने भारत में शक्कर के व्यवसाय की सफलता के विषय में जाँच-पड़ताल करने के लिए सन् १९२० में 'सुगर इनक्वायरी कमिटी' नियुक्त की। कमिटी ने बड़े परिश्रम के पश्चात् अपनी पूरी रिपोर्ट प्रकाशित की। यद्यपि कमिटी की संपूर्ण सिफ़ारिशों पर ध्यान नहीं दिया गया, तथापि यह मानना ही पड़ेगा कि सन् १९३२ का 'शुगर इंडस्ट्रीज़ प्रोटेक्शन एक्ट' जिसकी बदौलत हमें आज देश में इतनी शक्कर-मिलों के दर्शन हो रहे हैं, इन्हीं सिफ़ारिशों का प्रतिफल है।

संख्या की वृद्धि ही किसी व्यवस्था की वास्तविक उन्नति का द्योतक नहीं है। शक्कर मिलों की संख्या की असाधारण वृद्धि से हम यह तात्पर्य कदापि नहीं निकाल सकते कि शक्कर के व्यवसाय ने वैसी ही असाधारण उन्नति की है। मिल मालिकों को इस बात का ध्यान तक नहीं है कि यह संरक्षण केवल परिमित समय के लिए है और

उस अवधि के समाप्त होते ही उन्हें अपने पुराने प्रतियोगी जावा का पुनः मुक़ाबला करना होगा।

जंज़ीबार में हिन्दुस्तानियों की दशा

'प्रताप' में लिखा है—

अभी हाल में जंज़ीबार की सरकार ने ऐसे छः क़ानून बनाये हैं, जिनसे वहाँ के भारतीयों के रहे-सहे अधिकारों का ख़ात्मा कर दिया गया है। जंज़ीबार में भारतीय, अरबी, अफ़्रीका-निवासी और चन्द योरोपीय रहते हैं। वहाँ पर अधिकतर लौंग की पैदावार होती है और विदेशों को इस लौंग का निर्यात वहाँ का प्रमुख व्यापार है। जंज़ीबार में लौंग की जो खेती होती है, उसमें भारतीयों का बहुत-सा धन लगा हुआ है। इसी तरह वहाँ के बहुत-से भारतीय लौंग का व्यापार भी करते हैं।

जंज़ीबार के भारतीयों की शिकायतों की जाँच करने के लिए भारत-सरकार ने अपने कर्मचारी मिस्टर मेनन को वहाँ भेजा था। उन्होंने इस सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट दी है।

जंज़ीबार की सरकार ने भारतीयों के ख़िलाफ़ जो क़ानून पास किये हैं, इन क़ानूनों के परिणामस्वरूप जंज़ीबार में जो हिन्दुस्तानी बस गये हैं, उन्हें वहाँ से भाग जाना पड़ेगा। लौंग उत्पादक और लौंग-निर्यातकर क़ानूनों का यह असर पड़ेगा कि वहाँ के भारतीयों के हितों को बड़ी हानि पहुँचेगी और जंज़ीबार में हिन्दुस्तानी व्यापारी एक प्रकार से रह ही न सकेंगे।

जंज़ीबार में हिन्दुस्तानियों ने खेती में लगभग ८० लाख रुपया लगा रक्खा है। उक्त क़ानून का नतीजा यह होगा कि अपने रुपये की अदायगी में हिन्दुस्तानी अरबियों और अफ़्रीकानिवासियों से उनकी ज़मीन ब्रिटिश राजदूत की अनुमति के बिना न ख़रीद सकेंगे। जंज़ीबार की सरकार ने जायदाद रेहन-बय के क़ानून के समर्थन में यह दलील दी है कि भारतीय ऋणदाताओं के कारण अरबी और अफ़्रीकानिवासियों की ज़मीन जो भारतीयों के क़र्ज़दार हैं, उनके हाथ से निकली जा रही है, इसलिए अफ़्रीका-निवासी और अरबी क़र्ज़दारों को भारतीय ऋणदाताओं के चंगुल से छुड़ाना ज़रूरी है। मिस्टर मेनन ने अपनी रिपोर्ट में जंज़ीबार की सरकार की इस दलील का ज़ोरदार शब्दों में खण्डन किया है।

मिस्टर मेनन की रिपोर्ट से पता चलता है कि १९३१ की जन-संख्या के अनुसार जंज़ीबार में १४ हज़ार से अधिक भारतीय रहते हैं। इनमें से बहुसंख्यक हिन्दुस्तानी वहीं पैदा हुए हैं और बस गये हैं। योरपीयों की संख्या सिर्फ़ २७८ है। जंज़ीबार को आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न बनाने का अधिकांश श्रेय भारतीयों को ही है। अब उन्हीं को असुविधाओं और कष्टों का सामना करना पड़ रहा है और उन्हीं के नागरिक अधिकार छीने जा रहे हैं।

वर्णव्यवस्था और साम्यवाद

महात्मा गांधी 'हरिजन-सेवक' में लिखते हैं—

मैं यह मानता हूँ कि उचनीच भावों के समर्थन में जो स्मृतिवचन आज दिखाई देते हैं वे सबके सब प्रक्षिप्त हैं। वर्ण की मान्यता का आधार एक वैदिक ऋचा है। उसमें चार वर्णों की शरीर के चार मुख्य अंगों से उपमा दी गई है। यह कोई ही कहेगा कि शरीर का एक अंग दूसरे अंग से ऊँचा है अथवा नीचा। सब एक सरीखे ही हैं। वर्ण में समानता का मान ही धर्म हो सकता है। उच्च-नीच का भेदभाव निश्चय ही अभिमान-मूलक है, इसलिए अधर्म है।

ब्राह्मण हो या शूद्र, जिसने स्वधर्म तज दिया है वह पतित हो गया। पतित दशा में वह किसी भी वर्ण का नहीं है। वह पुनः स्वधर्म का पालन—अपने धंधे का पालन—करके अपनी भूल सुधार सकता है।
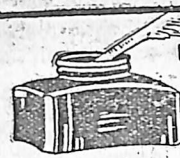
अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

रप का वायु अभी प्रसुप्त है। परन्तु यह कोई नहीं कह सकता कि यह शान्ति कब तक रहेगी। यदि कोई बात निर्विवाद मानी जा सकती है तो केवल यह कि जब तक दूसरा युद्ध न होगा तब तक शान्ति रहेगी। यह निरी धारणा नहीं है। राष्ट्र-संघ की स्थापना ही इस उद्देश से हुई थी कि शान्ति की रक्षा हो और युद्ध बचाया जाय। यदि दो राष्ट्रों में मत-भेद होगा तो राष्ट्र-संघ से कहा जायगा कि वह बीच-बचाव करे और समझौते की ऐसी सूरत निकाले जिसे दोनों दल स्वीकार कर सकें। युद्ध की घोषणा एकाएक न हो जायगी। बिना राष्ट्र-संघ को सूचित किये कोई युद्ध न छेड़ेगा। यदि इसका व्यावहारिक स्वरूप बना रहा तो योरप बचा रहेगा और उसके साथ संसार बचा रहेगा। संसार इसलिए कि गत युद्ध से यह प्रकट है कि योरपीय युद्ध का विश्वव्यापी हो जाना अवश्यम्भावी है।

× × × ×

राष्ट्र-संघ के प्रभाव के कम होते जाने के लक्षण प्रकट हो रहे हैं। कुछ राष्ट्रों ने उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है और उनके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की गई। राष्ट्र-संघ अपने मंतव्यों को बल-पूर्वक किसी के लिए मान्य नहीं बना सकता, क्योंकि उसका अर्थ युद्ध होगा।

वह केवल नैतिक अनुशासन कर सकता है। फिर स्वयं योरप के राष्ट्रों पर बहुत कुछ निर्भर है। गत महायुद्ध से उन्हें कोई स्थायी शिक्षा नहीं मिली। पारस्परिक विश्वास की अपेक्षा पारस्परिक सन्देह की ही वृद्धि अधिक हुई है। प्रत्येक राष्ट्र अपने पड़ोसी को संदेह की दृष्टि से देख रहा है। फिर निःशस्त्रीकरण की वास्तविक इच्छा नहीं है। राष्ट्र-संघ के कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सदस्य युद्ध की पूर्ण तैयारी किये बैठे हैं या कर रहे हैं। किसी की हवाई-शक्ति ठोस है तो किसी की स्थल-शक्ति। जङ्गी बेड़ों में यथेष्ट कमी करने के किसी प्रस्ताव पर विचार नहीं हुआ। समय समय पर सेनाओं का निरीक्षण होता जाता है और प्रत्येक राष्ट्र अस्त्र-शस्त्र से लैस प्रतीत होता है।

× × × ×

सभ्यता का अन्तिम और सर्वोच्च लक्ष्य क्या है? शान्ति या युद्ध? जङ्गली जातियाँ और बड़े बड़े राष्ट्र युद्ध में निमग्न हैं। यदि सभ्य राष्ट्रों की भी यह स्थिति है तो उनमें और असभ्यों में भेद ही क्या रहा? और सभ्य राष्ट्र जङ्गली जातियों से बड़े किस बात में हैं? योरप के राष्ट्रों में सबसे बड़ा दोष यह है कि वे सब धन-लिप्सा से प्रेरित हैं। उनमें से प्रत्येक दूसरे दूसरे महाद्वीपों में देश जीतने में यत्नशील है। इससे लोभ और संदेह दोनों की वृद्धि होती है। योरप को बाहर से खतरा नहीं है। अफ़्रीका या एशिया से कोई उनमें से किसी पर आक्रमण करने भी नहीं जा रहा है। परन्तु योरप स्वयं अपना शत्रु है। लिप्त होने से यह प्रवृत्ति और भी बढ़ती है। फ़्रांस और जर्मनी दोनों के उपनिवेश हैं और दोनों में लिप्सा का भाव है। योरप के प्रत्येक राष्ट्र ने शक्तिशाली होने पर अपने पड़ोसियों पर आक्रमण किया है। वे यह भी नहीं विचार करते कि दूसरा युद्ध होने पर योरप का अस्तित्व ही मिट जा सकता है। राष्ट्र-संघ को योरपीय राष्ट्रों का हृदय परिवर्तन करने में सफलता नहीं मिली और इसके बिना योरप स्वयं अपने खतरे से कभी मुक्त नहीं हो सकता।

× × × ×

अमरीका के संयुक्त-राज्य को लीजिए। वह महान् देश योरप के कुछ राष्ट्रों के वंशजों से आबाद है। वे अन्तर्जातीय विवाह करके एक हो गये हैं। वे मुख्य रूप से अँगरेज़ों, आयरिशों, फ़्रांसीसियों और डचों के वंशज हैं।

यदि उनमें उनके पूर्वजों की महत्त्वाकांक्षा काम करती होती तो वे बड़ी सरलता के साथ सम्पूर्ण नई दुनिया को जीत ले सकते थे। इँग्लैंड उन्हें कनाडा पर कब्ज़ा करने से नहीं रोक सकता था। मेक्सिको, ब्राज़ील, पेरू और समस्त दक्षिणी अमरीका पर अधिकार करके वे संसार में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना कर सकते थे। परन्तु उन्होंने यह इच्छा नहीं की। इसका परिणाम यह हुआ है कि संसार के साथ उनका सम्बन्ध शान्तिपूर्ण है और वे आज संसार में सबसे धनी और सबसे बड़े राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

राज्यों के भीतर ही अभी बड़े विस्तार की गुंजाइश है और उन्होंने आत्म-विकास और आत्म-निर्भरता को ही अधिक पसन्द किया है। उन्हें राष्ट्रसंघ में भी सम्मिलित होने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

× × × ×

जापान ने एक अशुभ घड़ी में योरप के राष्ट्रों का अनुकरण करना आरम्भ किया है, और चीन में उसने राज्य-विस्तार का प्रयत्न किया है। जापान को यह सोचना चाहिए था कि वह इस प्रकार के आक्रमणों से सदैव बचा रहा है। उसकी अखंडता को कभी कोई भय नहीं रहा है। जापान और चीन संसार के दो महत्त्वपूर्ण पीत वर्ण के लोगों के राष्ट्र हैं। जापान को चीन पर विजय प्राप्त करने की कभी आशा न करनी चाहिए। इस समय चीन एक परिवर्तन काल से गुज़र रहा है। इस समय उसकी शक्तियाँ बिखरी हुई हैं। परन्तु इसी से उस चीन का निर्माण होगा जो पूर्ण और सब प्रकार से बलिष्ठ होगा। तब जापान की बारी आयेगी और चीन उससे बदला लेगा। प्रत्येक आक्रमणकारी पर बदले में आक्रमण हुए हैं और जो तलवार का प्रयोग करता है वह तलवार के घाट उतरता भी है। दुःख की बात केवल यही है कि पश्चिम की यह छूत पूर्व में भी पहुँच गई।

—नगेन्द्रनाथ गुप्त

——

भारत की राजनीति

भारत की भविष्यत् संघ-सरकार का बिल पार्लियामेंट में पेश है और कुछ ही दिनों में वह यदि ज्यों का त्यों नहीं तो यत्किञ्चित् संशोधित होकर पास हो जायगा। वर्तमान राष्ट्रीय सरकार का पार्लियामेंट में बहुमत है, अतएव उसको पास करवा लेने में उसे कुछ भी कठिनाई नहीं होगी। मज़दूरदल तथा अनुदारदल का एक समूह चर्चिल साहब के नेतृत्व में उसका ज़ोरों के साथ विरोध कर रहे हैं। मज़दूरदल उसे अपर्याप्त बता रहा है। उधर चर्चिल का दल यह कह रहा है कि अयोग्य भारत को इतना अधिक शासन-सम्बन्धी अधिकार दिया जा रहा है कि वह अँगरेज़ों के हाथ से निकल जायगा। राष्ट्रीय सरकार के कर्णधार दोनों दलों को यथाबुद्धि समाधान करते हुए अपने बहुमत के बल से उक्त बिल की पृथक् पृथक् धाराओं को विचारपूर्वक पास करवाते चले आ रहे हैं, और वह दिन निकट आ गया है जब वह क़ानून का रूप धारण कर लेगा।

इधर भारत में उक्त बिल का प्रारम्भ से ही विरोध रहा है। देश के सभी श्रेणी के राजनीतिज्ञों ने उसके विरोध में आवाज़ उठाई है। यहाँ तक कि डाक्टर सप्रू जैसे निरपेक्ष लोकनेता तक उससे सन्तुष्ट नहीं हैं। और तो और, उन मुसलमान संस्थाओं तथा नेताओं तक ने उसके प्रति असन्तोष प्रकट किया है जो उन्हें विशेष सुविधायें प्रदान करता है। और मुसलमान ही क्यों? राजभक्त देशी नरेशों ने तो हाल में यहाँ तक स्पष्ट कह दिया है कि यदि उनकी निश्चित माँगों के अनुसार बिल में सुधार नहीं किया जायगा तो देशी राज्य भारतीय संघ में नहीं शामिल होंगे। हिन्दू लोग तो सबसे अधिक असन्तुष्ट हैं, क्योंकि वे साम्प्रदायिक निर्णय को अन्यायपूर्ण समझते हैं और सम्मिलित निर्वाचन की माँग करते हैं। कांग्रेस तथा उन जैसी अन्य राजनैतिक संस्थाओं के नेता तो यह कहते हैं कि सौ रुपये में केवल बारह रुपये दिये जा रहे हैं और सो भी सदा अपनी निगाह में रखते हुए।

इस भारतीय विरोध में भी एकरूपता नहीं है। कांग्रेसी लोग उसे एक-दम अस्वीकार करते हैं। वे उसकी अपेक्षा वर्तमान शासन-पद्धति का ही जारी रहना अच्छा समझते हैं। उनकी स्वराज्य की माँग है, जो इस बिल से उन्हें नहीं मिल रहा है। हिन्दू और सिक्ख इसलिए विरोध करते हैं कि उनके हक़ों की उपेक्षा की गई है और मुसलमानों के साथ प्रकट रूप से रियायत की गई है। यहाँ तक कि जिन प्रान्तों में वे अल्पसंख्या में हैं, वहाँ उनको वे अधिकार भी नहीं दिये गये हैं जो मुसलमानों को उन प्रान्तों में दिये गये हैं जिनमें वे अल्पमत में हैं। और मुसलमान इसलिए असन्तोष प्रकट करते हैं कि उनकी सब माँगें सरकार ने नहीं स्वीकार कीं। परन्तु भारतीयों के विरोध का विलायत की सरकार पर रत्ती भर प्रभाव नहीं पड़ा है। हाँ, राजाओं के विरोध का कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा है और भारतमंत्री ने उसका समाधान कर देने का आश्वासन भी दे दिया है। रहा दूसरों का विरोध सो उनकी सुनवाई होने के लक्षण नहीं दिखाई देते। हाँ, इस बात के लक्षण ज़रूर दिखाई देते हैं कि सरकार अपने निश्चय के अनुसार बिल के पास हो जाने पर उसे अवश्य कार्य में परिणत करेगी। भारत की राजनीति का इस समय यही रूप है।

——

साम्प्रदायिक समझौते की विफलता

साम्प्रदायिक समझौता नहीं हो सका। राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसाद और श्रीयुत मुहम्मदअली जिन्ना अपने प्रयत्न में नहीं सफल हुए। राष्ट्रपति का कहना है कि दूसरे साम्प्रदायिक नेता नहीं राज़ी हुए, अतएव उन्हें समझौते की बात-चीत बन्द कर देनी पड़ी। इस प्रयत्न के विफल हो जाने से यद्यपि राष्ट्रपति और जिन्ना साहब निराश नहीं हुए हैं, तो भी यह स्पष्ट हो गया है कि समझौता यदि होगा तो उसके होने में समय लगेगा।

परन्तु राष्ट्रीय कांग्रेस को साम्प्रदायिक निर्णय पसन्द नहीं है, क्योंकि उससे देश में पृथक् निर्वाचन-प्रणाली का प्रचलन होता है, जो राष्ट्र की एकता का घातक है। इसी से कांग्रेस के नेता लाचार होकर सम्प्रदायवादियों से समझौता करने को प्रवृत्त हुए और आगे भी उसके लिए प्रयत्न करने को उत्सुक हैं। परन्तु कुछ लोगों का कहना है कि इस पद्धति से काम नहीं चलेगा, क्योंकि सम्प्रदायवादी अपना दृष्टिकोण नहीं छोड़ेंगे। अतएव कांग्रेस को कोई दूसरा मार्ग ग्रहण करना चाहिए। एक मार्ग पूना के 'मरहठा' ने सुझाया है। उसका कहना है कि सम्प्रदायवादियों से कांग्रेस का समझौता नहीं हो सकेगा। अतएव उसे जनता का पल्ला पकड़ना चाहिए। इन साम्प्रदायिक नेताओं के संग्रह करने का प्रयत्न छोड़कर उसे अपने कार्यकर्ताओं-द्वारा जनता में ऐसा प्रचार करना चाहिए कि वह अगले चुनाव में ऐसे लोगों को चुने जो उनको नागरिकता के पूरे अधिकार दिलाने की प्रतिज्ञा करके कौंसिलों में जायँ। तब सम्प्रदायवाद का दुर्ग अपने आप ढह जायगा। निस्सन्देह इस व्याधि से देश को मुक्त करने का यही एक उत्तम उपाय है कि जनता को वास्तविक अवस्था का परिज्ञान कराया जाय। परन्तु यह प्रयत्न कष्ट-साध्य है।

——

योरप की परिस्थिति

अभी हाल में फ़्रांस ने एक बार अपने राजनैतिक कौशल का ख़ासा परिचय दिया था। यह बात प्रकट है कि जर्मनी से उसकी शत्रुता है। और जब यह देखा गया कि उसकी आड़ में फ़्रांस धीरे धीरे योरप का सर्वेसर्वा बना जाता है तब ब्रिटेन और इटली उससे खिंचकर जर्मनी के प्रति सहानुभूति दिखलाने लगे। यह देखकर फ़्रांस ने रूस से सन्धि कर ली और मध्य-योरप तथा बाल्कन के अपने मित्र राज्यों के संघ को अधिक दृढ़ता प्रदान कर दी। इसका एक असर यह हुआ कि इटली ने आस्ट्रिया और हंगरी से मिलकर अपना एक गुट अलग बना लिया। यही नहीं, यहाँ तक आशंका होने लगी कि जर्मनी भी, ऐसी अवस्था में, एक दिन या तो इटली या ब्रिटेन के गुट में चला जायगा; और इस तरह की गुटबन्दी योरप की शान्ति के लिए भविष्य में जोखिम की बात होगी। फ़्रांस के कुशल राजनीतिज्ञों की निगाहों से यह अवस्था छिपी नहीं रह सकती थी फलतः उन्होंने इसके प्रतीकार के लिए प्रयत्न किया। पहले तो उन्होंने इटली को मिलाने का प्रयत्न किया। इसके लिए उसे फ़्रांस को अफ़्रीका में एक बड़ा भूभाग देना पड़ा। इटली ज़मीन का भूखा है ही। वह राज़ी हो गया,

और आज वह अपने मित्र आस्ट्रिया और हंगरी के सहित फ़्रांस के साथ है। इस प्रकार इटली को अपने हाथ में करके उसने ब्रिटेन की ओर ध्यान दिया। ब्रिटेन उसका घनिष्ठ मित्र था ही। पिछले महायुद्ध में उसने उसके कन्धे से कन्धा भिड़ाकर उसके लिए अपना ख़ून बहाया था। निस्सन्देह, वह इस समय भविष्य में किसी वैसे ही नरसंहार के कार्य में शामिल होने से इनकार कर रहा है। साथ ही फ़्रांस के बढ़ते हुए महत्त्व की वह उपेक्षा भी नहीं कर सकता। परन्तु इधर जब फ़्रांस ने भविष्य के हवाई हमलों की बात उठाकर ब्रिटेन को सावधान किया तब उसने भी उसके साथ हवाई समझौता कर लेने में ही भलाई देखी। इसके साथ ही इन दोनों ने यह भी तय किया कि इस समझौते में इटली और जर्मनी भी शामिल किये जायँ। इटली ने अपनी सहमति प्रकट कर दी थी और जर्मनी ने भी ब्रिटेन के वैदेशिक मंत्री को उस सम्बन्ध में बातचीत करने के लिए अपने यहाँ बुलाया। इस प्रकार फ़्रांस ने अपनी कूटनीति का पूरा परिचय दिया और राजनीतिज्ञ उसके उक्त समझौते की नींव पर योरप में स्थायी शान्ति स्थापित करने के लिए एक बार फिर कार्रवाई करने को प्रयत्नशील हुए।

परन्तु जर्मनी ने इस किये-कराये पर पानी फेर दिया है। उसने घोषणा निकाली है कि १ ली अप्रेल से जर्मनी की सैन्य-संख्या ३,९६,००० हो जायगी। सन्धि के अनुसार वह एक लाख से अधिक सेना नहीं रख सकता। उसने कहा है कि वर्सेलीज़-सन्धि के अनुसार विजयी राष्ट्रों ने अपना अपना सैनिक बल नहीं घटाया है, अतएव आत्मरक्षा के लिए वह सशस्त्र होता है। हर हिटलर ने खुल्लम-खुल्ला वर्सेलीज़-सन्धि का उल्लंघन कर यह डंके की चोट पर प्रकट कर दिया है कि परस्पर के अविश्वास और ईर्ष्या के कारण योरप में एक बार फिर विकट परिस्थिति उत्पन्न हो गई है। देखना है कि इस बार ऊँट किस करवट बैठता है।

इटली और अबीसीनिया

अबीसीनिया अफ़्रीका का एक छोटा सा राज्य है। दुर्भाग्यवश वह स्वाधीन भी है। कदाचित् अफ़्रीका में पुराने राज्यों में यही एकमात्र स्वाधीन रह भी गया है। यह राज्य लालसागर के समीप स्थित है। और इसके आस-पास ब्रिटेन, फ़्रांस और इटली के राज्य हैं। इनमें इटली की इससे पुरानी खटपट है। हाल में इसका इटली से सीमा-सम्बन्धी कुछ झगड़ा हो गया है। इस झगड़े के कुछ ही समय पहले इससे भी भीषण झगड़ा फ़्रांस से भी हो गया था। अबीसीनिया के एक जाति के लोगों ने फ़्रांस के राज्य के निवासी अपने एक विरोधी क़बीले पर आक्रमण कर दिया था और उन सबको क़त्ल कर डाला था। उस संघर्ष में संयोगवश एक फ्रेंच अधिकारी भी मारा गया था। तो भी फ़्रांस ने उस घटना को उतना महत्त्व नहीं दिया। उसको अब दूसरों का राज्य हथियाने की ज़रूरत भी नहीं है। परन्तु इटली तो दूसरे देशों का भूखा बैठा है। सन् १९११ में उसने तुर्की का ट्रिपोली देश शस्त्रबल से ही लिया था, और अब अबीसीनिया ने मौक़ा उपस्थित कर दिया है। अबीसीनिया उतना सबल भी नहीं है और न आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से ही सज्जित है। इधर इटली सब उपकरणों से ही लैस नहीं है, किन्तु उसका सर्वेसर्वा मुसोलिनी युद्ध-देवता का उपासक भी है। ऐसी दशा में इन दोनों का युद्ध अनिवार्य है और मंचूरिया के मसले की तरह इस मामले में भी राष्ट्रसंघ कुछ कर-धर न सकेगा। अब रहे ब्रिटेन और फ़्रांस, सो वे दूसरों की बला अपने सिर क्यों मोल लेने लगे? प्रसन्नता की बात है कि इस बार इन दोनों में जो सशस्त्र संघर्ष अभी हाल में हो गया था और जिसके कारण दोनों देश युद्ध को मुस्तैद हो गये थे वह विवाद शान्तिपूर्वक आपस में तय हो आया है। पर यह स्थिति अधिक समय तक क़ायम नहीं रह सकती। इसका एक कारण यह है कि अबीसीनिया में जापानियों ने अपना व्यवसाय स्थापित कर लिया है और यह इटली के हित का विघातक है। देखना है कि यहाँ की स्थिति भविष्य में क्या रूप धारण करती है।

जापान की चिन्ता

जापान के आगे कम विकट समस्यायें नहीं हैं। और संयुक्तराज्यों से उसकी जैसी चाहिए, मैत्री नहीं है।

क्यों, इनसे उसका युद्ध छिड़ जाने की आशंका प्रायः बड़े बड़े राजनीतिज्ञ प्रकट किया ही करते हैं। स्वयं जापानी लेखक भी इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते रहते हैं। ऐसी दशा में यदि जापानी अपनी रक्षा के लिए अपना सामरिक बल बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं या अँगरेज़ों के सिंगापुर के जहाज़ी अड्डे तथा अमरीका के अलास्का के हवाई अड्डे का विरोध करते हैं तो यह उनके लिए स्वाभाविक ही है। और उनका पड़ोसी रूस ब्लाडीवोस्टक में जो सामरिक आयोजन कर रहा है वह तो जापान के लिए और भी चिन्ता का कारण हो गया है।

इधर ब्लाडीवोस्टक की आबादी एक लाख से बढ़कर दो लाख हो गई है। सैबेरिया के इस ओर के भाग की राजधानी खब्रोवस्क है। इसकी आबादी साठ हज़ार से डेढ़ लाख हो गई है। अमूर नदी पर कोम्सोमोलक नाम का जो बन्दरगाह है उसकी भी आबादी चालीस हज़ार है। एक हज़ार मील की एक नई रेल-लाइन बिछाई गई है और इस प्रदेश की उन्नति करने के लिए १९३५ में ७० लाख पौंड ख़र्च करने का निश्चय किया गया है। यही नहीं, प्रतिवर्ष दस लाख नये आदमियों के बसाने की योजना भी की गई है। ऐसी दशा में ब्लाडीवोस्टक का डल्नीवोस्टोक नाम का उक्त प्रदेश एक महत्त्वपूर्ण भूभाग हो जायगा।

जापान के राजनीतिज्ञों से उपर्युक्त अवस्था छिपी नहीं है। वे जानते हैं कि ब्लाडीवोस्टक को शस्त्र-बल से स्वाधिकार करना हँसी-खेल का काम न होगा। अतएव विश्वशान्ति के नाम पर वे उस सारे प्रदेश को रूस से मोल ले लेना चाहते हैं। न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी। यही नहीं, उस प्रदेश के जापान के हाथ आ जाने पर रूस का राज्य जापान के द्वीपों से अति दूर ही नहीं हो जायगा, किन्तु वे चारों ओर से सुरक्षित भी हो जायँगे। परन्तु क्या ऐसा होने पायेगा? कम से कम इस समय ऐसे शुभ लक्षण तो नहीं दिखाई दे रहे हैं। जापान का वर्तमान अभ्युदय उसके आगे नित्य नई समस्यायें ही खड़ी करता जा रहा है।

जापान और चीन

जापान के वैदेशिक विभाग के मंत्री श्री हिरोता ने अभी हाल में बड़े मार्के की बात कही है। उससे जापान के आत्मबल और सूझ-बूझ दोनों का परिचय मिलता है। उन्होंने कहा है कि अगली २६ वीं मार्च से जापान का राष्ट्र-संघ से अलग हो जाना निश्चित माना जायगा। इस बात से जापान पर बड़ी भारी ज़िम्मेदारी आ गई है, और वह अब पहले से मनोनीत मार्ग को ही ग्रहण करेगा। अतएव उन्होंने अपने पड़ोसी चीन को सावधान किया है कि वह जापान से सहयोग करे और प्राच्य के उस भाग में शान्ति बनाये रखने में सहायता दे। इसके बदले में वह चीन की श्वेत जातियों के अत्याचारों से मुक्त होने में सहायता करेगा। उन्होंने यह भी कहा है कि जापान चीन की धन-जन से पूरी सहायता करेगा, परन्तु वह मंचूको की स्वाधीनता और उत्तर-चीन और मंगोलिया में उसके विशेष अधिकारों को स्वीकार कर ले, उसके सिवा किसी दूसरे से देशोद्धार के कार्य में धन या जन की सहायता न ले। जापान के इस प्रस्ताव से जहाँ जापान की प्रबलशक्ति का बोध होता है, वहाँ चीन की दुर्बलता तथा दीनता का भी पता लगता है। श्री हिरोता का यह प्रस्ताव गम्भीर अर्थ-गर्भित है। इससे यह भी प्रकट होता है कि संसार के उस भाग की स्थिति आशंकाजनक है। यदि चीन उस प्रस्ताव को नहीं स्वीकार करेगा तो जापान उत्तरी चीन तथा मंगोलिया में अपने 'विशेष हितों' की आड़ में अपने हाथ-पाँव फैलाना शुरू करेगा। वह और चीन भी जानता है कि ऐसी छोटी बात के लिए ब्रिटेन या संयुक्तराज्य कोई भी जापान के विरुद्ध चीन के लिए शस्त्र न ग्रहण करेगा। जापान जैसे प्रबल राष्ट्र से लोहा लेना हँसी खेल भी नहीं है। उसने पेट्रोल के सम्बन्ध में जो नया क़ानून बनाया है उससे ग्रेट ब्रिटेन, संयुक्तराज्य आदि बड़ी चिन्ता में पड़ गये हैं। बात यह है कि जापान को तेल की कमी है और वह अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए बाहर से तेल मँगाता है। किसी बड़ी शक्ति से युद्ध छिड़ जाने पर वह बाहर से तेल न मँगा सकेगा। अतएव वह अपने यहाँ तेल का ज़्यादा से ज़्यादा रक्षित भांडार रखना

चाहता है। इसलिए उसने क़ानून बना दिया है कि प्रत्येक बड़े फ़र्म को छः महीने की ज़रूरत भर के लिए अपने यहाँ तेल का रक्षित भांडार रखना पड़ेगा, जिसे आवश्यकता पड़ने पर सरकार मनमाने दाम देकर ले सकेगी। विदेशी फ़र्म इसका विरोध कर रहे हैं, पर जापान टस से मस नहीं होता। इस समय जापान का ऐसा ही दबदबा है। और मंचूरिया तथा शंघाई के मामलों में चीन देख चुका है कि वास्तविक सहायता मौक़ा पड़ने पर कोई नहीं करेगा। इस परिस्थिति में देखना है कि चीन क्या करता है। यदि वह जापान के प्रस्ताव को स्वीकार करता है तो एक दिन उसकी भी वही दशा हो जायगी जो आज कोरिया या मंचूरिया की है। यदि नहीं स्वीकार करता तो 'अशान्ति' के घटित होने का भय है। निस्सन्देह यह चीन के लिए संकट का समय है। परन्तु जापान इसी 'मार्ग' में अपने अभ्युदय को निहित पाता है। कैसी विचित्र अवस्था है ?

सर विक्टर सैसून

इस समय सैसून-घराने की बड़ी प्रतिपत्ति है। इनके पूर्वज ईराक के निवासी थे। वहाँ से आकर वे बम्बई में आबाद हुए थे। अब ये लोग इँग्लेंड चले गये हैं और वहाँ के रईसों में गिने जाते हैं। उनमें से एक ब्रिटिश मंत्रि-मण्डल में हैं और हवाई मार्गों के मन्त्री हैं। दूसरे ने आधुनिक अँगरेज़ी-साहित्य के क्षेत्र में ख्याति प्राप्त की है। तीसरे सर विक्टर एशिया के राथचाइल्ड कहलाते ही हैं।

सर विक्टर सैसून बम्बई में ही व्यापार करके आज संसार के बड़े भारी व्यवसायियों में गिने गये हैं। इस समय ये चीन में बड़े बड़े कारखाने खोल रहे हैं। शंघाई का सारा व्यापार भी उन्हीं के हाथ में हो गया है। आज-कल ये योरप में हैं और वहाँ के बैंकों का सहयोग प्राप्त कर चीन में तरह तरह के कारखाने खोलने की अपनी योजना को कार्य में परिणत करना चाहते हैं।

मसजिदों के आगे बाजा

मसजिदों के सामने बाजा बजने की समस्या की जड़, जान पड़ता है, गहरे पहुँच गई है। बहुत दिनों तक देशी रियासतों में इसने अपना रूप नहीं प्रकट किया था; परन्तु बाद को वहाँ भी उठ खड़ा हुआ। इस सम्बन्ध में हैदराबाद में अभी हाल में कुछ नये नियम बनाये गये हैं। इनके अनुसार किसी भी मसजिद के सामने से १०० फ़ुट की दूरी तक कोई भी जुलूस बाजा बजाते हुए नहीं जाने दिया जायगा। यदि हैदराबाद की सड़कें तथा आम रास्ते कम से कम १०४ फ़ुट चौड़े होंगे तो बाजेवाले जुलूस मसजिदों के सामने से निकल सकेंगे अन्यथा उन्हें मसजिदों के सामने से निकलते समय बाजा बजाने बन्द करने पड़ेंगे। इसी प्रकार जो मकान या मन्दिर किसी मसजिद से ४० क़दम की दूरी के भीतर स्थित होंगे उनमें भी नमाज़ के समय बाजे आदि न बजने पायेंगे। ये नियम कहाँ तक उपयोगी सिद्ध होंगे, यह तो बाद को मालूम होगा, पर इनके बन जाने से इस समस्या की नींव वहाँ भी पड़ गई है। हिन्दुओं ने इन नियमों का निज़ाम साहब की सेवा में आवेदन-पत्र भेजकर विरोध किया है। इन नियमों के कारण वहाँ के हिन्दू वास्तव में कठिनाई में पड़ गये हैं।

आशा है, निज़ाम की सरकार हिन्दुओं की उचित माँगों पर सहृदयतापूर्वक विचार करेगी।

वर्णसंकरता का भय

बीसवीं सदी का योरप, जान पड़ता है, वर्णसंकरता से भयभीत हो उठा है। लन्दन की हार्ली स्ट्रीट में डाक्टर के० बी० ऐकमैन नाम के एक विद्वान् रहते हैं। उन्होंने वेस्टमिनिस्टर के विक्टोरिया इन्स्टिट्यूट में वर्णसंकरता के विपक्ष में एक महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध पढ़ा है। उनका कहना है कि वर्णसंकरता को प्रोत्साहन देना एक प्रकार का जुआ खेलना है जो अन्यायमूलक है। संयुक्त राज्यों में कौटुम्बिक जीवन में स्थिरता का अभाव है। इसका कारण वहाँ की वर्ण-संकरता है। वहाँ की आबादी में एक तिहाई विशुद्ध वर्ण-संकरों की है, दूसरी तिहाई में वे लोग हैं जिनकी माता या पिता विदेशी हैं। ऐसी अवस्था में वहाँ के विवाहितों का जीवन एक ही प्रकार के आदर्श, रुचि और दृष्टिकोण पर कैसे आश्रित होगा ? वहाँ तो लोग शारीरिक आकर्षण के ही कारण विवाह-बन्धन में पड़ने को प्रवृत्त होंगे। परन्तु ऐसे विवाह-बन्धन सदा दृढ़ नहीं बने रहते। विद्वानों का मत है कि भविष्य में संयुक्त-राज्य में वर्णसंकरों की ही सारी आबादी हो जायगी और वह गोरों, हब्शियों, रेड इंडियनों और मंगोलों का मिश्रण होगी। डाक्टर साहब का कहना है कि उनकी जाति के लोग संयुक्त-राज्य, ब्रिटिश उपनिवेशों और इँग्लेंड तक में यही भारी भूल कर रहे हैं, जिसका भयंकर परिणाम हुआ है। गोरी जातियों को इस सम्बन्ध में सबसे अधिक भय एशिया के मंगोलों से है। उनमें से एक की व्यापारी प्रतिद्वन्द्विता का उन्हें इस समय काफ़ी अनुभव हो रहा है। भविष्य में एशिया का एक बार योरप पर फिर आक्रमण होगा, यह धारणा सर्वथा निर्मूल नहीं कही जा सकती।

वर्ण की विशुद्धता का यह नया भाव योरप में, जान पड़ता है, दृढ़ता प्राप्त करेगा। जर्मनी ने तो इस क्षेत्र में काफ़ी सफलता प्राप्त की है। इसका प्रभाव वहाँ के अन्य देशों में पड़े बिना कैसे रह सकेगा ? आश्चर्य तो यह है कि डाक्टर ऐकमैन जैसे आधुनिक युग के वैज्ञानिक वर्ण-संकरता को सामाजिक दोष मानकर पुरातन काल के उन धर्माचार्यों की प्रशंसा करने में नहीं अघाते जिन्हें उनके भाई-बन्धु अभी तक दकियानूस कहकर अपना मनोविनोद किया करते हैं।

स्याम-नरेश का सिंहासन-त्याग

स्याम के राजा प्रजाधिपोक ने एक घोषणा द्वारा अपने राजपद का परित्याग कर दिया है। राजा चाहते थे कि प्रजा को लिखने और बोलने की स्वाधीनता दी जाय, राजनैतिक क़ैदी छोड़ दिये जायँ तथा राजकर्मचारी एवं सैनिक राजनीति में भाग न लिया करें। परन्तु राजा की ये शर्तें उन लोगों को नहीं मंज़ूर हुईं जो इस समय स्याम के सर्वेसर्वा बने हुए हैं। फलतः उन्होंने राजा प्रजाधिपोक के स्थान पर उनके भतीजे को अपना राजा मनोनीत किया है। स्याम के ये नये राजा अभी छः वर्ष के हैं और इस समय स्वीज़लैंड में हैं, जहाँ से वे स्वदेश को अभी नहीं जाना चाहते। वास्तव में स्याम में इस समय वहाँ के प्रधानमंत्री जनरल फिया बहोल की प्रभुता है। इनका दल राजघराने के सरदारों का विरोधी है। उसने राज्याधिकार अपने हाथ में करके राज्यशासन के कार्य से राजवंशीय सरदारों को पदच्युत कर दिया है। कदाचित् इसी कारण अब स्वयं राजा को भी सिंहासन छोड़ना पड़ा है। राजा और रानी इधर कई महीने से योरप में भ्रमण कर रहे हैं और वहीं से उन्होंने उक्त घोषणा की है। इसमें सन्देह नहीं कि वर्तमान शासक-मण्डल से साधारण जनता सन्तुष्ट है। परन्तु कठिन समस्या तो यह है कि स्याम ब्रिटेन, फ्रांस और जापान के राजनैतिक दाँव-पेंच का केन्द्र बन गया है। स्याम की यह अवस्था वास्तव में भय-प्रद है। अब देखना है कि इस परिवर्तन से स्याम में कैसे गुल खिलते हैं।

लीडर की सिल्वर जुबली

'लीडर' इन प्रान्तों का ही नहीं, समग्र उत्तर-भारत का एक सुसम्पादित तथा सुव्यवस्थित अँगरेज़ी दैनिक है। उसको यह गौरव उसके प्रधान सम्पादक श्रीयुत सी० वाई० चिन्तामणि ने प्रदान की है। श्री चिन्तामणि एक ऐसे तेजस्वी पत्रकार तथा बहुज्ञ विद्वान् सिद्ध हुए हैं कि लीडर उनका हो गया और वे उसके हो गये। गत पचीस वर्षों में उन्होंने उस लीडर के द्वारा देश की बहुत बड़ी सेवा की है। उसके इस सफल जीवन को देखते हुए उसकी सिल्वर जुबली का उत्सव सर्वथा सार्थक हुआ है। हम उसे इस अवसर के लिए बधाई देते हैं और चाहते हैं कि चिर काल तक वह देश और लोक की सेवा में इसी प्रकार निरत रहे।

'सरस्वती' का दृष्टिकोण

क्रान्ति का नाम सुनकर संसार की बड़ी बड़ी सरकारें काँप उठती हैं। तब यदि उसके नाम से साहित्य के क्षेत्र में तूफ़ान आ जाय तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। गत वर्ष हमने पण्डित वेंकटेश नारायण तिवारी के साहित्यिक लेख 'सरस्वती' में लगातार छापे थे और अपने

सम्पादकीय नोट में उन्हें 'क्रान्ति-मूलक' लेख लिखकर उनकी ओर पाठकों का ध्यान दो बार आकृष्ट किया था। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि वे लेख ख़ूब पढ़े गये, यहाँ तक कि उन साहित्य-प्रेमियों ने भी उन्हें मनोनियोग-पूर्वक पढ़ा जो सामयिक पत्र-पत्रिकायें बहुत कम पढ़ते हैं। परंन्तु जो लोग क्रान्ति से घबराते हैं उन्हें वे लेख रुचिकर नहीं प्रतीत हुए और जो लोग उन लेखों की भाव-धारा का अवगाहन नहीं कर सके उनमें से कुछ ने तो उन्हें मज़ाक में उड़ा देना चाहा और कुछ ने वितण्डावाद खड़ा करने का निन्द्य प्रयत्न किया और इन्हीं में कुछ ऐसे लालबुझक्कड़ भी निकल आये जिन्हें उन लेखों में धर्म-द्रोह की गन्ध आने लगी। जिन दिनों वे लेख 'सरस्वती' में छप रहे थे तभी हमने कतिपय अधिकारी विद्वानों से उन पर विचार करने का आग्रह किया था, पर न तो उस समय, न आज ही उनमें से कोई उनके सम्बन्ध में कुछ लिख या कह रहा है। अलबत्ता तीन-चार व्यक्ति अपना वितण्डावाद इस समय भी खड़ा किये हैं। जो व्यक्ति उन लेखों में उठाये गये प्रश्नों पर विचार नहीं करना चाहता, जो लेखक और सम्पादक दोनों का मज़ाक उड़ाकर या उन्हें धर्मद्रोही बता कर अप्रासंगिक चर्चा छेड़ रहा है, उससे उलझना सर्वथा बेकार है। 'सरस्वती' ऐसी उलझनों में कभी नहीं पड़ी है। तो भी यहाँ यह व्यक्त कर देना उपयुक्त होगा कि 'सरस्वती' में जो कुछ निकलता है, साहित्य के ही दृष्टिकोण से निकलता है। रह गये वे लेख, सो सर्वसाधारण के समक्ष आज भी मौजूद हैं, साथ ही वे भी हैं जो उनके विरुद्ध लिखे गये हैं। अतएव सुधीजन अपने आप निश्चय कर लेंगे कि कौन ठीक बात है।

कराची की दुर्घटना

कुछ दिन हुए, कराची की अदालत में दिन-दोपहर नाथूराम महाराज नामक एक हिन्दू सज्जन को एक पठान ने छुरा भोंक कर मार डाला था। नाथूराम जी ने मुसलमान-धर्म के विरुद्ध एक पुस्तक लिखी थी, जिसके कारण नीचे की सरकारी अदालत से उन्हें उपयुक्त दण्ड मिल चुका था और उस निर्णय के विरुद्ध उनकी अपील ऊँची अदालत में दायर थी। जब वे मारे गये थे तब वे उक्त अपील के सिलसिले में ही अदालत में उपस्थित थे। अस्तु, सरकार ने उनके मारनेवाले उक्त पठान पर मुक़द्दमा चलाया और उसे फाँसी का दण्ड दिया गया। गत २० मार्च को उसे कराची में फाँसी दे दी गई। परन्तु इस सिलसिले में उस दिन कराची में जो हंगामा मुसलमानों ने किया उसके फलस्वरूप सरकार को गोली चलानी पड़ी, जिसमें कोई २०० व्यक्ति आहत हुए हैं जिनमें ३६ व्यक्ति मर भी गये हैं। इस घटना से प्रकट होता है कि मुसलमान लोग धर्म का किस तरह दुरुपयोग करते हैं। मुसलमाननेताओं को चाहिए कि वे अपने समाज में अपने धर्म के उदार सिद्धांतों का प्रचार करें। परन्तु इस सम्प्रदायवाद के युग में उनका ध्यान इस ओर क्यों जाने लगा। वे तो उल्टा इस दुर्घटना को लेकर उसे और अधिक महत्त्वपूर्ण बनाकर अपना उल्लू सीधा करेंगे। दुख तो इस बात का है कि ऐसे अवसरों पर बेचारे ग़रीबों का सर्वनाश होता है—उनके नेताओं का बाल तक नहीं बाँका होता। क्या ही अच्छा हो, यदि सरकार ऐसी उत्तेजित भीड़ों का दमन करने में गोली चलाने के स्थान में किसी दूसरे उपाय से काम लिया करे।

बकरीद

इधर कुछ समय से हिन्दुओं और मुसलमानों के धार्मिक पर्व-त्योहारों पर मारपीट की घटनायें प्रतिवर्ष की घटनायें हो गई थीं। प्रसन्नता की बात है कि इस वर्ष की बकरीद सारे देश में शान्ति के साथ मनाई गई है। केवल अयोध्या में कुछ मुसलमानों ने सरकार की आज्ञा की अवज्ञा करके गाय की कुर्बानी की, जिसके फल-स्वरूप उन्हें दण्ड दिया गया। इसके सिवा और कहीं कोई हंगामा नहीं हुआ। इसके लिए हिंदुओं और मुसलमानों के साथ साथ सरकार भी प्रशंसा की पात्र है। यदि यही रवैया रहा तो भविष्य में ये धार्मिक हंगामे इतिहास की घटनायें हो जायँगे, और देश इनकी अवाञ्छनीय परिस्थितियों से मुक्त हो जायगा। परन्तु जान पड़ता है, यह आशा आशा ही रहेगी। क्योंकि अयोध्या के प्रश्न को लेकर इन प्रान्तों के मुसलमान

होता दूसरे ही ढंग की मनोवृत्ति व्यक्त कर रहे हैं। वास्तव में देश में साम्प्रदायिक मनोभावना बहुत आगे बढ़ गई है और उसका उन्मूलन होने में काफ़ी समय लगेगा। तथापि यदि सरकार का आज का सा ही रुख़ बना रहेगा तो सम्प्रदायवादी नेताओं का महत्त्व अपने आप नष्ट हो जायगा, और तब ये झगड़े भी जहाँ के तहाँ पड़े रह जायँगे। निस्सन्देह, वह दिन देश के सौभाग्य का दिन होगा।

भारत-सरकार का बजट

भारत-सरकार एवं प्रान्तीय सरकारों के बजट फ़रवरी से मार्च तक असेम्बली और कौंसिलों में विचारार्थ पेश हो जाते हैं और वहाँ उन पर ख़ूब बहसें और मुबाहिसे होते हैं। इसी अवसर पर लोकनेताओं को अपनी भाषण-शक्ति के प्रदर्शन करने का मौक़ा मिलता है और इस अवसर को वे भूलकर भी अपने हाथ से जाने नहीं देते। परन्तु उनके उन पाण्डित्य-पूर्ण भाषणों का बजट पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और वह जैसा उपस्थित किया जाता है, या तो वैसा ही पास हो जाता है और यदि पास नहीं होता तो वायसराय महोदय उसे अपने विशेष अधिकार से पास कर देते हैं। इस बार असेम्बली में कांग्रेस का ज़ोर है और बजट की कई मदों के विरुद्ध उसके कटौती के प्रस्ताव भी पास हो चुके हैं। परन्तु उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। ऐसी दशा में विरोध करनेवालों का सारा परिश्रम व्यर्थ जाता है। सरकार अपने दृष्टिकोण से आय तथा व्यय दोनों करती है। इसमें वह प्रजाप्रतिनिधियों के दृष्टि-कोण की उपेक्षा ही करती रही है।

इस बार भारत-सरकार के सन् १९३५-३६ के बजट के अनुसार सरकार की आय ९० करोड़ १६ लाख रुपये होगी। और व्यय ८८ करोड़ २६ लाख होगा। बचत होगी १ करोड़ ३० लाख रुपया। परन्तु इतने पर भी आय-कर, नमक-कर आदि कर जनता पर पहले जैसे ही लगे रहेंगे! प्रसन्नता की बात केवल यह है कि इस बार सरकार अपनी आय का ९० वाँ भाग अर्थात् १ करोड़ रुपया ग्राम-सुधार के काम में ख़र्च करेगी।

प्रान्तीय बजट

संयुक्त-प्रान्त की सरकार के बजट के अनुसार उसकी आय १४ करोड़ २७ लाख रुपया होगी। पर व्यय होगा १४ करोड़ ५९ लाख ३४ हज़ार रुपया। अर्थात् ३१ लाख ९७ हज़ार का घाटा होगा। यह घाटा नया कर लगा कर पूरा किया जायगा। कहाँ सारा देश आर्थिक संकट के कारण संकट-ग्रस्त है, कहाँ सरकार और नया कर लगाने की तदबीर कर रही है! स्टाम्प और तम्बाकू पर कर बढ़ाकर १५ लाख रुपये की आय की व्यवस्था भी कर ली है। सो इस तम्बाकू के नये कर से बेचारे देहातियों को अपनी एक-मात्र विलासिता की वस्तु की अब विशेष रूप से इज़्ज़त करनी पड़ेगी। कौंसिल में प्रजापक्ष की ओर से इन करों का ज़ोरदार विरोध किया गया है, तो भी सरकार जो उचित समझेगी वही करेगी। वह अपना बजट पहले से ही ख़ूब सोच-समझकर बनाती है। ऐसी दशा में यदि कोई उनका विरोध करता है तो उसका प्रयत्न अधिकांश में निष्फल जाता है।

एक आदर्श विवाह

सरस्वती के गताङ्क में हमने उपर्युक्त शीर्षक का श्रीयुत देशदीपक जी का एक नोट प्रकाशित किया था। खेद है कि उस नोट में एक भद्दी भूल हो गई है। डाक्टर नारायणप्रसाद अस्थाना के दामाद का नाम श्रीयुत भूपेन्द्र निगम है न कि श्री अनन्दीप्रसाद निगम जैसा कि चित्र के नीचे छपा है। श्री अनन्दीप्रसाद निगम वर के पिता हैं। आशा है, पाठक यह भूल सुधार कर उक्त नोट को पढ़ेंगे।

अमृतधारा-औषधालय की रियायत

लाहौर की प्रसिद्ध अमृतधारा फ़ार्मेसी २४ वर्षों से स्थापित है। पहले की भाँति इस वर्ष भी उसने अप्रेल महीने भर के लिए अपनी प्रसिद्ध ओषधि अमृत-धारा, उसके मिश्रण और अन्य ओषधियों एवं पुस्तकों के मूल्य में भारी

रियायत कर दी है जैसा कि अन्यत्र छपे हुए विज्ञापन से प्रकट होगा। हम आशा करते हैं कि पाठक इस रियायत से लाभ उठावेंगे।

शेरवानी साहब का स्वर्गवास

प्रसिद्ध कांग्रेसी-नेता श्रीयुत तसद्दुक अहमद शेरवानी का दिल्ली में २१ मार्च को देहावसान हो गया। आप संयुक्त-प्रान्त के राष्ट्रीय मुस्लिम नेता थे। कांग्रेस की ओर से आप असेम्बली में गये थे। आप उन इने-गिने मुसलमान नेताओं में थे जो साम्प्रदायिकता के हृदय से विरोधी हैं और जिन्होंने राष्ट्रीय महासभा का बराबर साथ दिया है। आपकी मृत्यु से देश का एक ऐसा निर्भीक और विचारवान् राष्ट्रीयतावादी नेता उठ गया है जिसके अभाव की पूर्ति जल्दी नहीं होगी।

श्री गंगा-प्रेमियों से नम्र निवेदन

संवत् १९८९ के माघ मास में श्री गंगा जी के पवित्र तट पर मेरे हृदय में श्री नर्मदा जी और श्री गंगा जी के सम्बन्ध में पुस्तकें लिखने की प्रेरणा हुई। मैंने इस कार्य में हिन्दी-प्रेमी सज्जनों से सहायता लेने का निश्चय किया। पत्र-सम्पादकों की कृपा से मेरी सूचना प्रायः सभी पत्रों में प्रकाशित हो गई और उसके द्वारा हिन्दी-प्रेमी सज्जनों से दोनों पवित्र नदियों के सम्बन्ध में बहुत सामग्री प्राप्त हुई। ईश्वर की कृपा से श्री नर्मदा जी के सम्बन्ध में पुस्तक लिखने का कार्य समाप्त होगया है और वह इसी मास में प्रकाशित हो गई है।

अब मैं श्री गंगा जी के सम्बन्ध में पुस्तक लिखने का कार्य आरम्भ कर रहा हूँ। इसके लिए गंगोत्री से गंगा-सागर-संगम तक के ३५ नक़शे तैयार किये जा चुके हैं।

श्री गंगा जी के प्रेमियों से मेरा नम्र निवेदन है कि—

(१) यदि वे श्री गंगा जी अथवा उसकी सहायक नदियों के किनारे के किसी ग्राम या महत्त्वपूर्ण स्थानों से परिचित हों तो उनका संक्षिप्त वर्णन मेरे पास नीचे लिखे पते से भेजने की कृपा करें। इस वर्णन में प्राकृतिक दृश्यों, घाटों, देवस्थानों, प्राचीन और नवीन मंदिरों तथा ऐतिहासिक बातों को स्थान देना आवश्यक है। साथ में यह भी बतलाना आवश्यक है कि वह स्थान किस ज़िले में है, किसी बड़े नगर से कितनी दूर है, नदी के किस किनारे पर है और रेल-द्वारा तथा सड़क से उस स्थान को किस प्रकार पहुँच सकते हैं।

(२) यदि उनके पास श्री गंगा जी के सम्बन्ध में कोई प्रकाशित या अप्रकाशित कविता या स्तोत्र हो तो उसे मेरे पास भेज दें।

(३) यदि उनके पास श्री गंगा जी या उसकी सहायक नदियों के किनारे के किसी दर्शनीय स्थान (मन्दिर, घाट, प्राकृतिक दृश्य) का फ़ोटो या चित्र हो तो उसे मेरे पास अवश्य भेज देने की कृपा करें। फ़ोटो या चित्रों में किनारे के दृश्यों का महत्त्व प्रकट होना आवश्यक है।

(४) यदि उनके पास श्री गंगा जी के किनारे रहनेवाले किसी महात्मा, साधु, संत, वीर या प्रसिद्ध पुरुष का फ़ोटो हो तो वे उसे भी उनके संक्षिप्त जीवन-चरित-सहित मेरे पास भेजने की कृपा करें।

(५) इस सम्बन्ध में अपनी योग्य सम्मति भी देने की कृपा करें।

जो सज्जन मुझे इस ग्रंथ के लिखने में उपर्युक्त किसी भी तरह से सहायता देने की कृपा करेंगे उनका शुभ नाम पुस्तक में सधन्यवाद प्रकाशित कर दिया जायगा और प्रकाशित होने पर पुस्तक भी उनको बिना मूल्य भेज दी जायगी। जो सज्जन फ़ोटो या चित्र भेजने की कृपा करेंगे उनको, यदि वे लेना स्वीकार करेंगे, तो उसका उचित खर्च भी भेज दिया जायगा। यदि वे चाहेंगे तो ब्लाक बन जाने पर फ़ोटो या चित्र सधन्यवाद वापस कर दिये जायँगे।

—दयाशंकर दुबे (दारागंज, प्रयाग)

Printed and published by K. Mittra, at the Indian Press, Ltd., Allahabad.

सरस्वती

सचित्र मासिक पत्रिका

सम्पादक

देवीदत्त शुक्ल श्रीनाथसिंह

जून १९३५ } भाग ३६, खंड १
संख्या ६, पूर्ण संख्या ४२६ { ज्येष्ठ १९९२

अल्मोड़े का वसन्त

लेखक, श्रीसुमित्रानन्दन पन्त

विद्रुम औ' मरकत की छाया,
सोने-चाँदी का सूर्यातप;
हिम-परिमल की रेशमी-वायु,
शत-रत्न-छाय, खग-चित्रित नभ!

पतझड़ के कृश पीले तन पर
पल्लवित तरुण लावण्य-लोक,
शीतल हरीतिमा की ज्वाला
फैली दिशि-दिशि कोमलाऽलोक।

आह्लाद, प्रेम औ' यौवन का
नव स्वर्ग, सद्य सौन्दर्य सृष्टि।
मञ्जरित प्रकृति, मुकुलित दिगन्त,
कूजन-गुञ्जन की व्योम-वृष्टि।

—लो, चित्रशलभ-सी, पंख खोल
उड़ने को उद्यत है घाटी,—
यह है अल्मोड़े का वसन्त
खिल पड़ी निखिल पर्वत-पाटी!
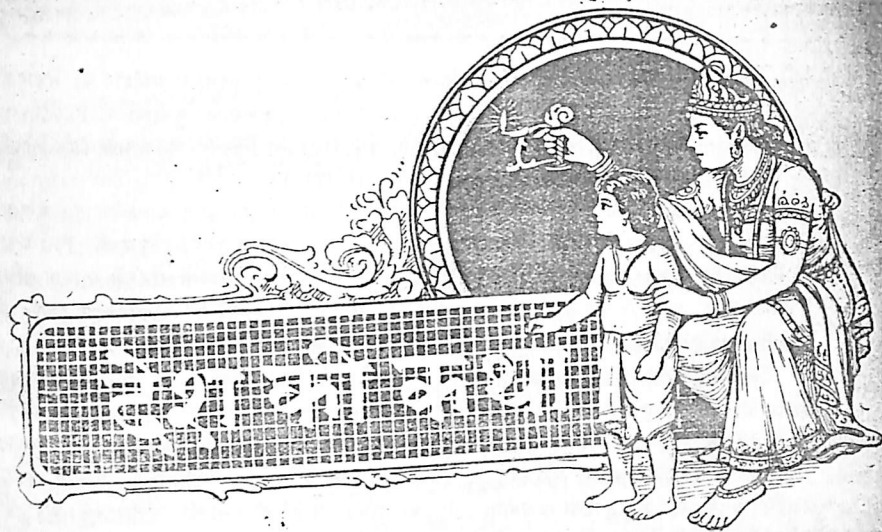
लेखक, श्रीयुत सीतलासहाय

देशभक्त बाबू शिवप्रसाद गुप्त के विशाल पुस्तकालय में बहुत-सी ऐसी बहुमूल्य पुस्तकें हैं जिनसे हमें यह ज्ञात हो सकता है कि हमारे देश की वर्तमान स्थिति क्या है और वह संसार के उन्नतिशील राष्ट्रों से कितना पिछड़ा है। सब पाठकों की पहुँच उन पुस्तकों तक नहीं हो सकती और हो भी तो उनको सबके पढ़ने के लिए काफ़ी समय चाहिए। इसलिए 'सरस्वती' के प्रसिद्ध लेखक बाबू सीतला-सहाय जी ने उक्त पुस्तकालय में बैठकर यह सुन्दर लेख तैयार किया है। कहना नहीं होगा कि यह लेख अपने ढङ्ग का निराला है और जिन्हें देश से प्रेम है उन्हें इस लेख को बार बार पढ़ना और इस पर विचार करना चाहिए।

सी वैशाख मास में मुझे प्रसिद्ध साहित्यसेवी और देशभक्त बाबू शिवप्रसाद जी गुप्त के विशाल पुस्तकालय में कुछ समय व्यतीत करने का अवसर मिला। नीचे लिखे नोट उसी अवसर के हैं, जिन्हें लेख का रूप दे दिया गया है। मुझे विश्वास है कि 'सरस्वती' के पाठकों को ये निस्सन्देह रुचिकर होंगे, विशेषकर उन्हें जिनको इस देश की वर्तमान आर्थिक दशा जानने की उत्सुकता है।

कृषि-सम्बन्धी नोट

भारतवर्ष का क्षेत्रफल १ करोड़ ८० लाख वर्गमील है। इसमें से १ करोड़ १० लाख वर्गमील अँगरेज़ी राज्य में है। और अँगरेज़ी राज्य में ४ लाख ६ हज़ार २४० वर्गमील पर अर्थात् २ अरब ६१ करोड़ ६० लाख एकड़ पर खेती होती है, यानी धरातल के ३७·५ प्रतिशत पर।

हिन्दुस्तान के ७३ फ़ी सदी आदमी कृषि से अपना पेट पालते हैं। भारत इसी लिए कृषि-प्रधान देश कहा गया है। जो देश एकमात्र कृषि पर ही अवलम्बित होने के कारण कृषि-प्रधान है वह आज-कल की राजनैतिक

शब्दावली में मूर्खता-प्रधान भी माना जाता है, क्योंकि अर्वाचीन युग में जितने उन्नतिशील, सम्पन्न और सभ्य राष्ट्र हैं उन सबका प्रधान पेशा व्यापार और व्यवसाय है। जापान की केवल ५०·३ प्रतिशत काम-काजी जनता कृषि पर निर्भर है, जर्मनी की ३०·५ प्रतिशत, फ़्रांस की ३८·३ प्रतिशत, कनाडा की ३१·२ प्रतिशत, अमरीका की २२ प्रतिशत, इँग्लैंड और वेल्स की ७·१ प्रतिशत; लेकिन जैसा ऊपर कहा गया है, ७३ प्रतिशत भारतीय कृषि पर निर्भर हैं।

विशेष नोट करने की बात तो यह है कि भारतवर्ष की यह ग्रामीणता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। पश्चिम के संसर्ग में आकर भारत ने अँगरेज़ियत की हज़ारों बातें सीखीं, लेकिन अँगरेज़ियत का प्रधान गुण व्यापार और व्यवसाय इस देश ने नहीं सीखा। सन् १८९१ में ५६·८ भारतीय कृषि पर निर्भर थे, १९११ में ७१·३ प्रतिशत हो गये, और आज १९३१ में ७३ प्रतिशत भारतीय खेती ही करके अपनी जीविका उपार्जन कर रहे हैं!

किसानी में हम इतने चतुर हैं कि और देशवाले एक एकड़ में अगर १० मन अन्न पैदा करते हैं तो हम एक एकड़ में केवल १ मन ही पैदा कर पाते हैं। इटली एक एकड़ भूमि में औसतन ५७ मन धान पैदा कर लेता है, जापान ३४ मन, मिस्र २९ मन, अमरीका २८ मन। हमारे यहाँ एक एकड़ में १६ मन से अधिक नहीं होता। इटली में एक एकड़ में १५½ मन गेहूँ पैदा हो जाता है, जापान में १९ मन, मिस्र में २० मन, इँग्लैंड में २३ मन, जर्मनी में २१ मन, लेकिन भारतवर्ष में गेहूँ की औसत पैदावार प्रति एकड़ केवल ८ मन है।

जर्मनी का प्रत्येक किसान (आश्रित जनों को छोड़-कर) अपने खेत से ६८०) प्रतिवर्ष पैदा करता है, जापान का ३५२), अमरीका का १९३१), कनाडा का २०५५) और इँग्लैंड का २२०१)। लेकिन भारतवर्ष का किसान प्रतिवर्ष १९६) ही पैदा कर पाता है।

कृषि-प्रधान देश होते हुए भी भारतवर्ष इतना अन्न पैदा नहीं कर सकता कि देशवासियों के भोजन के लिए काफ़ी हो। अपने खर्च के लिए हमें प्रतिवर्ष ८½ से ९ करोड़ टन अन्न की आवश्यकता पड़ती है, लेकिन साधारण वर्ष में २० करोड़ एकड़ भूमि पर अन्न बोते हुए भी हम ६ करोड़ या ७ करोड़ टन से अधिक अन्न पैदा नहीं कर पाते।

पंजाब और सीमा-प्रान्त में तो खेत की औसत प्रति-किसान १०½ एकड़ है, लेकिन अन्य प्रान्तों में यह औसत २½ और ३ एकड़ के दरमियान आती है। बंगाल में प्रति किसान २½ एकड़ की औसत पड़ती है और अन्य प्रान्तों में ३ की। गवर्नमेंट की १९३१ की 'इंडिया' नामक रिपोर्ट में लिखा है कि 'भारत के दक्षिण और पूर्व में औसत खेत पाँच एकड़ का होता है, लेकिन अन्य स्थानों में आधे से अधिक खेत इतने भी बड़े नहीं होते। लाखों किसान ऐसे हैं जिनके खेत एक एकड़ भी नहीं और ये छोटे छोटे खेत भी इतने बँट गये हैं और इतने दूर दूर हैं कि इनकी खेती बिना पड़ोसी के खेत में घुसे हुए की ही नहीं जा सकती!" (पृष्ठ १५८) इँग्लैंड में खेतों का औसत क्षेत्रफल प्रति किसान २६ एकड़ है, अमरीका में ८७, कनाडा में १४०, जर्मनी में १२, फ़्रांस में १३, जापान में ४·२ और हिन्दुस्तान में ३·३ है। खेतों का औसत क्षेत्रफल जर्मनी में २१ एकड़ है, कनाडा में १९८ एकड़ है, इँग्लैंड में ५५ एकड़ है, अमरीका में १५७ एकड़ है, लेकिन भारत में केवल ५ एकड़ है।

अर्थ-शास्त्रज्ञों के मतानुसार योरप ऐसे वैज्ञानिक देश में एक वर्गमील भूमि पर ज़्यादा से ज़्यादा २५० आदमी कृषि करके रह सकते हैं। हिन्दुस्तान में अनेक स्थान ऐसे हैं जहाँ प्रतिवर्ग मील पर ६०० से अधिक मनुष्य किसानी करके जीविका निर्वाह करते हैं।

किसान अशिक्षित हैं। अर्वाचीन ढंग से खेती कर सकने का न तो इनमें उत्साह है और न सामर्थ्य। पैसे की कमी के कारण ये लोग अपने अपने खेतों में उचित मात्रा में खाद भी नहीं दे पाते और न सिँचाई ही कर सकते हैं। हमारे किसान उन बीजों को काम में नहीं ला सकते जो बढ़िया और अधिक उपजाऊ हैं। वैज्ञानिक पाँस का प्रयोग इन्हें नहीं मालूम। इनकी फ़सल को कीड़े-मकोड़े नष्ट कर देते हैं, लेकिन इनके पास कोई साधन नहीं जिससे

ये अपनी फ़सल बचा सकें। गहरे जोतनेवाले हलों का इस्तेमाल या मशीन का उपयोग तो इनके लिए असम्भव है ही। पशु इनके दुर्बल और अस्वस्थ रहते हैं। चरी-चारे की बड़ी कठिनाई है। युक्तप्रान्त में विशेषकर अवध में तो चरागाहों का अभाव-सा होता जाता है। चप्पा चप्पा भूमि जोती जा रही है। मनुष्य और पशु में इस सम्बन्ध में लाग-डाँट आरम्भ हो चुकी है। जो भूमि पहले पशुओं के लिए पड़ी रहती थी उससे अब मनुष्य अपने लिए भोजन पैदा करता है और पशु को निराश्रित छोड़ दिया है। किसानों के पास पूँजी का अभाव है। यदि गाँवों में फल-फूलों की खेती की जाय तो उनके लिए मण्डी नहीं मिलती, अर्थात् बिक्री की सुविधा नहीं।

एकमात्र कृषि का उद्यम होने की वजह से किसान लोग साल में क़रीब ५ महीने बेकार रहते हैं। अर्थ-शास्त्र के विशेषज्ञों ने हिसाब लगाकर निश्चित किया है कि सम्पूर्ण भारतवर्ष के किसानों पर कम से कम ८ अरब रुपया का क़र्ज़ है। कुछ लोग इस क़र्ज़ का परिमाण १२ अरब रुपया बताते हैं। प्रत्येक किसान इस हिसाब से ५०) का ऋणी हुआ।

भारतवर्ष	३१ करोड़	किसानों से	२० अरब ६३ करोड़	रुपये	पैदा	करता है
इँग्लैंड	८० लाख	,,	३ अरब १२ करोड़	,,	,,	,,
अमरीका	५ करोड़	,,	२६ अरब ६३ करोड़	,,	,,	,,
कनाडा	४८ लाख	,,	३ अरब १६ करोड़	,,	,,	,,
जापान	२½ करोड़	,,	३ अरब ४ करोड़	,,	,,	,,

व्यवसाय की दशा

आज-कल का ज़माना व्यवसाय का है। जिस देश में व्यवसाय की उन्नति नहीं वह यही नहीं कि नितान्त दरिद्र रहेगा बल्कि सभ्यता के क्षेत्र में भी पतित हो जायगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि व्यावसायिक क्रान्ति के पहले भारतवर्ष बड़ा भारी व्यावसायिक (कृषक नहीं) देश था। यह देश कपड़े के, लोहे के, धातु के, नमक के और गुड़ के व्यापार में इतना उन्नत था कि अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद विदेशों को अपने यहाँ का बना हुआ माल भेजता था। अब दशा यह है कि ये सब व्यवसाय जिनमें भारत सर्व-श्रेष्ठ था, नष्टप्राय हो गये हैं। भारतीयों के पास खेती के अलावा कोई उद्यम नहीं और उनका देश विलायती चीज़ों की मण्डी बन गया है। वे अपनी प्रारम्भिक आवश्यकताओं के लिए परदेशों पर निर्भर हैं।

भारतवर्ष में सन् १९३० में कुल ९,४२२ व्यावसायिक कारख़ानें थे, जिनमें ८,९४८ अँगरेज़ों के थे। इन कार-ख़ानों में क़रीब ७ अरब की पूँजी लगी थी, जिसमें ३ अरब हिन्दुस्तानियों की होगी। इँग्लैंड में जिसकी जन-संख्या भारत की अपेक्षा १३ प्रतिशत है, सन् १९२८ में १,७५,००० व्यावसायिक कारख़ाने थे, जिनकी पूँजी ७० अरब रुपये थी, अर्थात् भारतवर्ष की पूँजी से ३५ गुना अधिक। अमरीका की आबादी भारतवर्ष की आबादी की अपेक्षा ३५ प्रतिशत है, लेकिन वहाँ १९२९ में १,७४,१३६ व्यावसायिक कारख़ाने थे और उनमें २३० अरब रुपया लगा था। अर्थात् भारतवर्ष की अपेक्षा ७५ गुना ज़्यादा। कनाडा की आबादी भारत की ३ प्रतिशत है। सन् १९२९ में यहाँ २४,०२० कारख़ाने थे जिनकी पूँजी १४ अरब ४५ करोड़ रुपये थी, अर्थात् भारत से पँचगुनी। जापान की आबादी भारत के मुक़ाबिले में १९ फ़ी सदी है। इस देश में ६३,७०० कारख़ाने हैं, जिनमें १० अरब रुपया लगा है। अर्थात् भारतवर्ष से तिगुना।

इँग्लैंड की परिश्रमी जनता का ४७ प्रतिशत व्यवसाय से रुपया कमाती है, अमरीका की ३२ प्रतिशत, कनाडा की २५, जर्मनी की ४१, फ़्रांस की ३३ और जापान की २०, किन्तु भारतवर्ष की परिश्रमी जनता केवल १० प्रतिशत ही व्यवसाय से धनोपार्जन करती है।

हम इसके पहले दिखा चुके हैं कि कृषि से प्रति भारतीयों को क्या आमदनी है और अन्य देशवासियों को क्या आमदनी है। व्यवसाय से भारतीय तो बहुत ही कम कमा पाता है। अमरीका में व्यवसाय से प्रत्येक मनुष्य की आमदनी ७२१) है, कनाडा में ४७०), इँग्लैंड में ४१२), स्वीडन में ३८४), जापान में १५८) और भारतवर्ष की व्यावसायिक आमदनी प्रतिमनुष्य केवल १२) है।

ग्रामीण उद्योग-धंधे

भारतवर्ष के व्यवसाय का आधार ग्रामीण उद्योग-धंधे थे और ये आज नष्टप्राय हो चुके हैं। जिस दिन भारत के ग्रामीण उद्योग-धंधे नष्ट हुए उस दिन भारत की व्यावसायिक मृत्यु होगई। महात्मा गांधी इन मृत्यु-प्राय धंधों को पुनर्जीवित करने का बहुत दिनों से प्रयत्न कर रहे हैं। खादी का आन्दोलन जो उन्होंने १९२० से ही उठाया है, इसी बात का प्रयत्न है और १९३५ में जो अखिल भारतीय ग्रामीण उद्योग-धंधा-संघ निर्मित हुआ वह भी इसी लिए हुआ है।

खेती करते हुए किसान लोग अपनी छुट्टी के समय में अनेक उद्योग-धंधे करके अपनी आमदनी बढ़ा सकते हैं। पहले ये लोग यह करते ही थे। हिन्दू-समाज की उपजातियाँ वास्तव में उनके उद्योग-धंधे का द्योतक थीं। चमार, लोहार, तेली इत्यादि उपजातियाँ वास्तव में एक एक उद्योग की सभायें थीं, जैसे आज-कल ट्रेड्स यूनियन होती हैं। लेकिन समय के परिवर्तन से हिन्दुस्तानी समाज का प्राचीन आर्थिक संगठन टूट गया। नवीन युग ने केवल एक खेती को छोड़कर बाक़ी समस्त उपजातियों की रोज़ी पर प्रबल आक्रमण करके उनका तहस-नहस कर दिया। अगर भारतवर्ष में ग्रामीण उद्योग-धंधों को उत्साहित करने की भावना पैदा हो जाय तो आज भी गाँवों की दशा कुछ सुधर सकती है। किन्तु इस समय तो दशा यह है कि कोरी और जुलाहे तथा उनके साथ सूत कातनेवाली स्त्रियाँ बेरोज़गार हैं। लोहारों की लोहारी जाती रही है। गड़रिया लोगों का कमरी का व्यापार ठण्डा होगया है। ठठेरों का व्यवसाय जाता रहा है। गाँव के चमार को कोई नहीं पूछता। मनिहार भी बेकार हो गये हैं। खिलौना बनानेवाले कुम्हारों के खिलौनों को जापानी और विलायती खिलौनों के सामने कोई धेले को भी नहीं मोल लेता।

अध्ययन करने की बात है कि अर्वाचीन युग में हमारे ग्रामीण उद्योग-धंधे किस प्रकार नष्ट हुए और किस प्रकार गाँवों की सम्पूर्ण जातियाँ अपनी रोटी से एकदम वञ्चित होगईं। तथापि निम्नलिखित उद्योग-धंधे अब भी प्रोत्साहित किये जा सकते हैं—

(१) लोहारी, (२) घी-दूध की दृष्टि से गोपालन, (३) गाय-बैलों की दृष्टि से गोपालन, (४) बकरी और भेड़ों का पालना, (५) अमरूद, बेर, आम, नींबू, पपीता इत्यादि फलों का बोना, (६) कछियाना, अर्थात् हलदी, मिरचा, आलू आदि सब्ज़ियों की खेती, (७) गुड़ और शक्कर का काम, (८) मछुआगिरी, (९) बढ़ई का काम, (१०) खद्दर का काम, (११) भट्ठे का काम, खपरा, नरिया, ईंट इत्यादि, (१२) ठठेरों का काम, (१३) चमड़े का काम, (१४) बाध बनाना, (१५) बाँस से पंखा, बक्स इत्यादि बनाना, (१६) काढ़ने का (सुई का) काम, (१७) चूड़ी का काम, (१८) हलवाई का काम, (१९) मिट्टी का बर्तन तथा खिलौना, (२०) बीड़ी व सिगरेट का काम, (२१) साबुन बनाना।

लोग कह सकते हैं कि ग्रामीण उद्योगों की उन्नति का ज़माना नहीं रहा। अर्वाचीन युग में मशीनों के सामने ग्रामीण उद्योग-धंधे भारत में नहीं उठ सकते। जैसे संसार के अन्य भागों में मशीन के सामने ये नष्ट हो गये हैं और मशीन-युग आरम्भ हो गया है, उसी प्रकार भारत में भी होगा। यह आक्षेप अनेक बार हो चुका है और अनेक बार इसका जवाब भी दिया जा चुका है। यह स्थान इस उत्तर के दोहराने का नहीं। मैं केवल यहाँ इतना नोट करूँगा कि अगर हम ऊपर का आक्षेप मान भी लें तो भी बहुत बड़े दुःख की बात तो यह है कि हमारे देश के ग्रामीण व्यवसाय तो नष्ट हो गये, लेकिन उनके स्थान में न तो मध्यवर्ग के व्यवसाय क़ायम हुए और न उच्च वर्ग के।

अर्थात् हमारे ग्रामीण उद्योग-धंधे तो नष्ट हो

गये, लेकिन उनके स्थान पर मशीन-युग के बड़े या छोटे व्यवसाय क़ायम नहीं हुए। धोबी के कुत्ते के समान हम न घर के रहे, न घाट के।

व्यापार की दशा

व्यापार की दशा लज्जाजनक है। जितना माल हम अपना बीसों वर्ष से विदेशों में बेचते चले आये हैं, उतना ही माल अभी तक बेच रहे हैं। कोई वृद्धि नहीं हुई। विदेशी माल निस्सन्देह हम पहले से ज़्यादा ख़रीदने लगे हैं। तीस वर्ष पहले भारतवर्ष का व्यापार कनाडा के व्यापार से दुगुना था और जापान के व्यापार से तिगुने से भी ज़्यादा। लेकिन आज हमारा व्यापार इन दोनों देशों के व्यापार से कम हो गया है। कनाडा जिसकी जन-संख्या भारत की अपेक्षा केवल तीन प्रतिशत है, सन् १९२९ में भारत से व्यापार में १५ प्रतिशत आगे था। हालाँ कि युद्ध के पहले भारत का व्यापार इस देश से ६३% प्रतिशत अधिक रहा करता था। युद्ध के पूर्व कनाडा का व्यापार प्रति मनुष्य ४४) हुआ करता था, आज १०५) है। युद्ध के पहले अमरीका का व्यापार १३२) प्रति मनुष्य था, आज २७६) है। युद्ध के पहले भारत का व्यापार १८) प्रति मनुष्य था, आज १८ रुपया ही है।

निम्नलिखित आँकड़े देखिए—

व्यापार प्रति मनुष्य

	१९२९ रुपये	१९३२-३३ रुपये
इँग्लैंड	५९७	३२४
अमरीका	२१४	८४
कनाडा	९२०	३०४
जर्मनी	२९६	१०५
फ़्रांस	२८४	१२७
जापान	९०	४७
भारत	१७	७·६

इँग्लैंड का व्यापार भारत की अपेक्षा ४० गुना ज़्यादा है, कनाडा का ३८ गुना और जापान का ६ गुना।

ऊपर लिखे आँकड़ों की सहायता से पाठक अन्य देशों के साथ भारत की तुलना कर सकते हैं।

स्वदेशी राज्य-काल में भारत से कपड़ा, नमक और शक्कर का बहुत बड़ा व्यापार होता था। दक्षिण-भारत संसार को फ़ौलाद और लोहा भी पहुँचाया करता था। १८१४ में इस देश से ९० लाख रुपये का रुई का सामान विदेशों में भेजा गया था। आज भी हम विदेश में ९० लाख रुपये का रुई का माल बेच रहे हैं। १८१४ में इस देश में ५० हज़ार रुपये का विदेशी कपड़ा आया था। लेकिन आज हम ६६ करोड़ रुपया का विदेशी कपड़ा ख़रीद रहे हैं। १८६० में हमने १ करोड़ ३ लाख रुपये की शक्कर परदेशों में बेची थी, १९१० में केवल ४ लाख रुपये की। १८६० में इस देश में केवल २३ लाख रुपये की विलायती शक्कर आई थी, किन्तु १९१० में पौने सोलह करोड़ रुपये की विलायती शक्कर इस देश में बिकी थी।

एक बात और विचारणीय है। हमारा देश सन्तानोत्पत्ति में बहुत तेज़ है, पिछले पचास वर्ष से भारतवर्ष की जन-संख्या १० करोड़ अधिक हो गई है, अर्थात् ३९% प्रतिशत बढ़ गई है। एक हज़ार की आबादी पर हमारे देश की सन्तानोत्पत्ति की संख्या ३२·९ है। संसार का कोई देश इस सम्बन्ध में हमारा मुक़ाबिला नहीं कर पाता है। इँग्लैंड में पैदाइश १६·३ प्रति हज़ार है, जर्मनी में १७·५, फ़्रांस में १७·४ और जापान में ३२·३५ है। किन्तु हमारे देश में मृत्यु भी जितनी होती है, अन्य देशों में नहीं होती। इँग्लैंड में प्रति हज़ार १२·५ मृत्यु होती है, अमरीका में ११·३, कनाडा में १०·७, जर्मनी में ११·१, फ़्रांस में १६·३ और जापान में १८·१७। भारतीयों की हिन्दुस्तान में २४·५ मृत्यु प्रति हज़ार है। भारतीयों की जीवन-अवधि भी बहुत कम है। अँगरेज़ लोग औसतन ५८ वर्ष की आयु पाते हैं, अमरीकन ५७ वर्ष की, जर्मनी वाले ५० वर्ष तक जीते हैं। फ़्रांसवालों की भी आयु इसी के लगभग है। जापानी ४५ वर्ष तक औसतन जीते हैं, लेकिन हम लोगों की आयु २६ वर्ष से अधिक नहीं होती। ईश्वर हमारा भला करे।

सहशिक्षा की महाव्याधि

लेखक, श्रीयुत सन्तराम, बी०, ए०

रतन्त्र और दास होने में अनेक हानियाँ हैं। परन्तु सबसे बड़ी हानि यह है कि परतन्त्र जाति अपने शासकों के सद्गुणों को ग्रहण न करके उनके दुर्गुणों को ही बेतरह अपनाने लगती है। उनकी इस अन्धी नक़ल के लिए लज्जित होने के बजाय वह उल्टा उसका गुण-गान करते नहीं थकती। ऐसी ही एक अन्धी नक़ल सहशिक्षा या लड़के और लड़कियों का एक साथ स्कूलों और कालेजों में पढ़ना भी है। इसकी कुछ हानियाँ तो मैं अपने पहले लेख में बता चुका हूँ, परन्तु जान पड़ता है, इस महाव्याधि की रोक-थाम के लिए अभी और लिखने की आवश्यकता है।

> इधर कुछ दिनों से चर्चा चल रही है कि बालक बालिकाओं के समस्त विद्यालय एक में मिला दिये जायँ। परन्तु श्री सन्तरामजी का कहना है कि इससे लाभ के बदले उलटी हानि होगी। इस लेख में आपने योरप अमरीका आदि में सहशिक्षा से होनेवाली हानियों का वर्णन करते हुए यह बताने का प्रयत्न किया है कि भारत इस ओर क़दम न बढ़ावे तभी अच्छा है।

शिक्षा एक साधन-मात्र है, वह उद्देश नहीं है। इसका उद्देश तो व्यक्ति की बुरी प्रवृत्तियों को दबाना और अच्छी प्रवृत्तियों को विकसित करके उसे मनुष्य-समाज के लिए उपयोगी बनाना है। जो शिक्षा यह काम नहीं करती वह शिक्षा नहीं, कुशिक्षा है। सुशिक्षा से मनुष्य का शारीरिक और नैतिक स्वास्थ्य सुधरता है और कुशिक्षा से दोनों की हानि होती है। सहशिक्षा जिन जिन देशों में प्रचलित हुई है, वहाँ का अनुभव बताता है कि इससे हानि ही हुई है। मैंने अपने पिछले लेख में बताया था कि जापान में सहशिक्षा नहीं है। जर्मनी और इटली में इस पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। इसका सबसे अधिक प्रचार अमरीका में है। सो वहाँ इसने क्या क्या गुल खिलाये हैं, इसका पता हाल में प्रकाशित जज लिण्डसे की 'रिवोल्ट आफ़ यूथ' और 'कम्पेनियनेट मैरिज' नामक दो पुस्तकों के पाठ से लग सकता है। न्यूयार्क से निकलनेवाले 'हार्पर्स मेगज़ीन' की जुलाई १९३४ की संख्या में जान हाईड प्रस्टन नामक एक महाशय लिखते हैं कि "इस बात का पता लगाने के लिए कि हमारे कालेजों में पढ़नेवाली युवतियों में से कितनी ऐसी हैं जिनके पास वह रहस्यमय वस्तु सुरक्षित है जिसे कौमार्य कहते हैं, अमरीका के कुछ बहुत बड़े बड़े सम्भ्रान्त कालेजों में लड़कियों की गुप्त रूप से परीक्षा और गणना की गई तब मालूम हुआ कि कुमारी कन्याओं की संख्या असाधारण रूप से बहुत ही कम है। ऐसा प्रतीत हुआ कि अमरीका ऐसी अविवाहिता लड़कियों से भरा पड़ा है जिनको लोग १८ वर्ष की आयु के बाद या उससे पहले से भी केवल सौजन्य से ही कुमारी कहते हैं।" आप कहेंगे कि जब इस दशा में भी अमरीका इतना उन्नत है तब भारत ही इससे क्यों डूब जायगा? इसका उत्तर यह है कि अमरीका में जहाँ सदाचार इतना ढीला है, देश-भक्ति, कर्तव्य-परायणता, व्यायामप्रियता, समता, भ्रातृभाव, ज्ञान-लिप्सा, परस्पर सहायता प्रभृति कई दूसरे ऐसे भी सद्गुण हैं जो उस

जाति को गिरने से बचा रहे हैं। फिर भी वहाँ के मनीषी इस नैतिक पतन से भयभीत होकर इसको रोकने के उपाय सोच रहे हैं। कारण यह है कि वे अनुभव करते हैं कि यदि यह अनाचार रोका न गया तो धीरे धीरे यह जाति के शरीर को घुन की तरह खा जायगा और अन्त को इसका अधःपतन अनिवार्य हो जायगा। जज लिण्डसे प्रभृति महानुभावों ने उक्त पुस्तकें अपने देशबन्धुओं को चेतावनी देने के लिए ही लिखी हैं।

यही दशा रूस की है। इसमें सन्देह नहीं, वहाँ स्त्री-पुरुषों को आपस में मिलने की बड़ी स्वतन्त्रता है। वे जब चाहें विवाह-सम्बन्ध भी भङ्ग कर सकते हैं। परन्तु साथ ही यह याद रहना चाहिए कि रूस में केवल दो ही ऐसे अपराध हैं जिनके लिए मृत्युदण्ड दिया जाता है। उनमें से एक तो है बोल्शेविज़्म के विरुद्ध प्रचार और दूसरा किसी स्त्री पर बलात्कार। कहते हैं, रूस में स्त्री-पुरुषों को मेल-जोल की खुली छुट्टी होने से बलात्कार की घटनायें बहुत बढ़ गई थीं। एक दिन एक युवती को प्राप्त करने के लिए पाँच-छः युवक उस पर टूट पड़े। जब इसकी रिपोर्ट लेनिन को मिली तब उसने उन युवकों को फाँसी दे देने की आज्ञा दी। वे लड़के प्रतिष्ठित घरानों के थे। उनकी प्राण-रक्षा के लिए अपीलें की गईं। परन्तु लेनिन बढ़ते हुए अनाचार से तंग आ गया था। उसे रोकने के लिए सिवा इस कठोर दण्ड के उसको और कोई उपाय नहीं सूझता था। उसने दण्डाज्ञा को वापस लेने से इनकार कर दिया। तब से बलात्कार के लिए रूस में प्राण-दण्ड ही दिया जाता है।

रूस, जर्मनी, इटली आदि वे देश हैं जहाँ डिक्टेटर राज्य करते हैं। डिक्टेटरों ने अपने नगरों और गाँवों को नागरिक बस्तियाँ नहीं रहने दिया। उन्होंने उनको फ़ौजी छावनियों का रूप दे दिया है। उन देशों में एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक आपको सारी प्रजा एक सेना-सी देख पड़ेगी। वहाँ सभी युवकों को रोज़ फ़ौजी क़वायद करनी पड़ती है। डिक्टेटरों ने सारी जाति के अन्दर यह भाव भर दिया है कि हमारा देश चारों ओर से शत्रुओं से घिरा हुआ है; हमारे तनिक-सा निर्बल या असावधान होते ही विदेशी लोग हमारी मातृ-भूमि पर अधिकार करके हमें दास बना लेंगे। इसलिए सारा का सारा राष्ट्र हर वक्त अपने को युद्ध की अवस्था में समझता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि वहाँ से विलासिता का प्रायः लोप-सा हो गया है। लोगों को हर वक्त अपने को मज़बूत और युद्ध के लिए तैयार रखना पड़ता है। इटली में जब से मुसोलिनी ने राज्य की बागडोर अपने हाथ में ली है, यूनिवर्सिटी-कालेजों में दर्शन, गणित और ललितकलाओं की शिक्षा पानेवाली लड़कियों की ही संख्या नहीं, वरन लड़कों की भी संख्या बहुत कम रह गई है। इसके विपरीत भारत के नव-युवकों के सामने जाति या देश-रक्षा का कोई प्रश्न ही नहीं। इसलिए सिवा विलासिता के उन्हें और कुछ सूझ ही नहीं सकता। इधर देखो सिनेमा, थियेटर, कविता, नृत्य, सहशिक्षा और हास्य-विलास का ही प्रचार हो रहा है। मानो योरप के सब गुणों में से हमें यही सबसे अधिक पसंद आये हैं। कुछ समय पूर्व पंजाब-यूनिवर्सिटी ने एक जाँच-कमिटी नियुक्त की थी। उसकी रिपोर्ट प्रकाशित हो चुकी है। उसमें मुक्तकंठ से यह स्वीकार किया है कि विद्यार्थियों में विलासिता और अनाचार भयंकर रूप से बढ़ रहा है। बम्बई में सहशिक्षा पर व्याख्यान देते हुए एक लड़की ने कहा था कि लड़कों से अलग रहने में जीवन नीरस ज्ञान पड़ता है।

सहशिक्षा के पक्षपातियों का कहना है कि भारत के स्त्री-समाज में उच्च शिक्षा प्राप्त करने की लालसा बड़े ज़ोर से जागृत हो उठी है; परन्तु स्त्रियों के लिए उच्च कोटि के पृथक् कालेज पैसे के अभाव से देश में खुल नहीं सकते, इसलिए उन्हें अपनी ज्ञान-पिपासा को बुझाने के लिए लड़कों के साथ पढ़ने देना चाहिए। इसके उत्तर में एक बंगाली विद्वान् के शब्दों में मेरा निवेदन यह है कि "सामाजिक रूप से स्त्रियों का कर्म-क्षेत्र अन्तःपुर ही तक परिमित है। वंश-परम्परागत कर्म-धारा के अनुसार सन्तान का गर्भ में धारण करना और उनका पालन-पोषण करना ही स्त्री का मुख्य कार्य है। सर्वथा इसी कर्म के योग्य उसके शरीर का गठन भी है। नारी-जाति अनादिकाल से पुरुषों के सहयोग से मातृत्व की ही साधना करती आई है और उसके शरीर के भीतर और बाहर प्रत्येक अंश में, उसकी चेतना में, अनुभव में, मातृत्व का ही एक विराट् आयोजन है। युवाकाल में इस प्रवृत्ति को यदि स्वाभाविक रूप से विकसित होने के साधन न मिलें तो वह तरह तरह के पुरुषोचित कर्मों में प्रकाशित होती है। यही कारण है कि पश्चिमी देशों में स्त्रियाँ फ़ुटबाल खेलती हैं, बाक्सिङ्ग करती हैं और व्यायाम-संबंधी प्रतिद्वन्द्विता में पुरुषों से टक्कर लेती हैं। हमारे देश में पति का वियोग होने पर कितनी ही युवतियों में जो एकाएक धर्म का आवेग और पूजा-पाठ की बाढ़ दिखाई पड़ती है, उसका मुख्य कारण भी यही है। पुरुष और नारी-जीवन के कर्म-क्षेत्र और उनके विकास के मार्ग भिन्न भिन्न हैं। अतएव उनकी शिक्षा-दीक्षा की धारा भी एक दूसरे से बिलकुल भिन्न है। यह कोई नहीं कहता कि स्त्रियाँ उच्च शिक्षा से वंचित रक्खी जायँ। परन्तु यह बात अवश्य है कि गार्हस्थ्य जीवन को ही केन्द्र मानकर स्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा का विधान होना चाहिए।"

अब देखना यह है कि क्या लड़कों के कालेजों में स्त्री-शिक्षा का ऐसा प्रबंध हो सकता है, जिससे उपर्युक्त उद्देश की पूर्ति हो सके। इसका उत्तर मैं अपने शब्दों में न देकर प्रसिद्ध कांग्रेसी-नेता श्रीयुत भूलाभाई एम० एल० ए० के शब्दों में देता हूँ—

"जीवन के कर्तव्यों, ज़िम्मेदारियों और अधिकारों के योग्य बनाने के लिए भावी सार्वजनिक जीवन में स्त्रियों को पुरुषों के पहलू ब-पहलू शिक्षा देने की आवश्यकता है। इस दृष्टि से भी लड़कियों के लिए पृथक् शिक्षणालयों का होना अधिक हितकर है। लड़कों के शिक्षणालयों में लड़कों की संख्या बहुत अधिक और लड़कियों की आटे में नमक के बराबर होती है। वहाँ पढ़कर लड़कियाँ बढ़िया स्त्रियाँ नहीं बन सकतीं। वहाँ तो वे पुरुष की एक बहुत घटिया 'नक़ल' ही बन सकती हैं। जो कुछ प्रकृति स्त्रियों को बनाना चाहती है, यह 'नक़ल' उससे कुछ कम और निकृष्ट होगी। कई ऐसे विशेष प्रयोजन और आवश्यकतायें हैं, कई ऐसे हितकर विषय हैं, कई ऐसे खेल और व्यायाम हैं, जो केवल कन्या-पाठशालाओं में ही सिखाये जा सकते हैं। लड़कियों के लिए अलग शिक्षणालयों की इसलिए आवश्यकता नहीं कि वे लड़कों का मुक़ाबिला नहीं कर सकतीं, बरन इसलिए कि लड़की लड़के से भिन्न है, प्रकृति उसे लड़के से भिन्न रखना चाहती है, और इस कारण उसके शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और विकारतंत्र गुणों की सर्वोत्तम संस्कृति और पूर्णतम विकास के लिए उसे विभिन्न परिस्थिति में रखना आवश्यक है। इसका मतलब यह नहीं कि लड़कियाँ पर्दे में रक्खी जायँ, बरन इसका उद्देश हमारी शिक्षा-पद्धति के सद्गुणों को बढ़ाना और दुर्गुणों को दबाना या बिलकुल निकाल देना है। कारण यह कि यह शिक्षा-पद्धति केवल पुरुषों के हित को दृष्टि में रखकर बनाई गई थी और उनके लिए भी निर्दोष नहीं कही जा सकती। लड़कियों के लिए सङ्गीत, बुनाई, गृह-प्रबन्ध, शिशु-मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र प्रभृति जिन विशेष विषयों के पढ़ाने की आवश्यकता है, उनका समुचित प्रबन्ध लड़कों के शिक्षणालयों में नहीं हो सकता। केम्ब्रिज और ऑक्सफ़ोर्ड जैसे पुराने विश्वविद्यालयों में भी लड़कियों के कालेज अलग हैं।"

लड़के और लड़कियों को एक साथ पढ़ाकर जाति के नैतिक और शारीरिक स्वास्थ्य का नाश करने के बजाय यह कई गुणा अच्छा है कि जब तक लड़कियों के लिए पृथक् कालेज खोलने के लिए हमारे पास पर्याप्त पैसा न हो तब तक हम लड़कियों को पदार्थ-विज्ञान और दर्शन की उच्च शिक्षा से वंचित रक्खें। इसके अभाव में जाति की कोई बड़ी भारी हानि भी नहीं हो रही है। लड़कों ने कालेज की शिक्षा पाकर जो देश को उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया है, अभी उतना ही बस है! यह बात भी सत्य नहीं कि हमारी स्त्रियों में ज्ञान-पिपासा बढ़ रही है। यहाँ तो लड़के भी नौकरी के लिए ही पढ़ते हैं, फिर स्त्रियों में ज्ञान-पिपासा कहाँ?

लड़कियों के पढ़ने के दो कारण हैं। एक तो यह कि पढ़ी-लिखी लड़की को अच्छा पति मिलने की सम्भावना होती है। दूसरे यह कि अब पुरुषों को तो नौकरी मिलना

बहुत कठिन हो गया है, पर स्त्रियों के लिए अभी थोड़ी गुंजायश है। प्रायः उसी लालच से लड़कियाँ पढ़ या पढ़ाई जा रही हैं। परन्तु यह लालच भी जल्दी ही दूर हो जानेवाला है। वह दिन दूर नहीं जब ग्रेजुएट लड़कियाँ भी उसी प्रकार धक्के खाती फिरेंगी, जैसे ग्रेजुएट लड़के अब धक्के खा रहे हैं। परन्तु इन लड़कियों का उदाहरण हमारे सारे समाज को पतन की ओर ले जायगा। मेरी राय में तो भारत में लड़कियों को नौकरी करने की ज़रूरत ही नहीं। यहाँ उनकी संख्या पुरुषों से बहुत कम है। यहाँ वे गृहस्थी के लिए भी पर्याप्त नहीं। हाँ, इँग्लेंड में उनकी संख्या पुरुषों से बहुत अधिक है। वहाँ उनके फ़ालतू अंश को अपनी रोटी आप कमानी पड़ती है। इसलिए वहाँ की समस्या हमसे बिलकुल भिन्न है। ऐसी अवस्था में कुछ ना-समझ लड़कियों का किसी लड़कों के कालेज में भरती होने के लिए धरना देकर बैठना सर्वथा अनुचित है।

कहा जाता है कि सहशिक्षा से लड़के-लड़कियाँ एक दूसरे को समझने लगते हैं और भावी जीवन में अच्छे नागरिक बन सकते हैं। परन्तु अनुभव इस बात की पुष्टि नहीं करता। प्रत्येक बात अपने उचित समय पर ही हितकर होती है। बाल्यावस्था में विवाह और युवावस्था में वानप्रस्थ सुखदायक नहीं होता। पुरुष को स्त्री-जाति के सहवास से जो लाभ हो सकते हैं वे बाल्यावस्था में मां-बहन, ताई, चाची और भाभी आदि घर की स्त्रियों से और जवानी में पत्नी से हो सकते हैं। कालेज का चार घंटे का सहवास घर के चौबीस घंटे के सहवास से अधिक असर नहीं डाल सकता। फिर यह भी कोई बात नहीं कि उत्तम नागरिक बनने के लिए स्त्रियों की संगति परम आवश्यक हो। गस्टेव फ़्लौबर्ट, मिचल एञ्जेलो, सर आइज़क न्यूटन, शोपनहार, हर्बर्ट स्पेंसर, हेनरी कैवेंडिश, विलियम पिट, लार्ड बालफ़ोर, गिबन, ह्यूम, लार्ड मकाले, एडम स्मिथ, चेम्फ़ोर्ट, नीट्शे, शङ्कराचार्य, ईसा और ऋषि दयानन्द प्रभृति अनेक महापुरुष अविवाहित थे। उन्होंने स्त्रियों की संगति का भी कुछ लाभ नहीं उठाया। परन्तु हम उन्हें किसी से कम अच्छे नागरिक नहीं कह सकते। उन्होंने मानव-समाज के कल्याण के लिए कुछ कम काम नहीं किया।

सहशिक्षा के समर्थक इसकी प्रशंसा में ज़मीन-आसमान के कुलाबे मिलाते हुए कहते हैं कि इससे यह हो जायगा, इससे वह हो जायगा—इससे स्त्री-जाति दासता के गहरे गर्त से निकल कर स्वतन्त्रता के आकाश में उड़ने लगेगी। परन्तु परीक्षित बात की दुबारा परीक्षा करना हानि का कारण होता है। जब सहशिक्षा का जन्मदाता पश्चिम ही इसके कुफलों से तंग आकर इसे छोड़ने पर उतारू हो रहा है तब भारत जैसे सहशिक्षा के लिए सर्वथा अनुन्नत देश में जहाँ के लोगों के रीति-रवाज़, रहन-सहन, ऐतिह्य, इतिहास और परिस्थिति इसके बिलकुल प्रतिकूल हैं, यह कैसे अच्छे परिणाम पैदा कर सकती है? पंजाब में ५६ प्रतिसैकड़ा मुसलमान हैं। इनका धर्म ही लड़के-लड़कियों को एक दूसरे का मुँह देखने से रोकता है। वे अपनी लड़कियों को लड़कों के कालेजों में भेजने के लिए बिलकुल तैयार नहीं। फलतः हिन्दू लड़कियाँ ही लड़कों के कालेजों में जाती हैं और जाति के लिए हानि का कारण बनती हैं।

प्राचीन काल का कोई ऐसा उदाहरण भी नहीं मिलता, जहाँ विभिन्न परिवारों के लड़के और लड़कियाँ एक साथ पाठशाला में पढ़ते हों। जो राजघरानों की स्त्रियाँ युद्ध में भाग लेती थीं वे युद्ध-विद्या की शिक्षा अपने घर पर अपने भाइयों के साथ पाती थीं, न कि किसी ऐसे स्कूल में जाकर जहाँ भिन्न भिन्न परिवारों और धर्मों के लड़के शिक्षा पाते थे।

सारांश यह कि सहशिक्षा हमारे देश के लिए पतन का कारण सिद्ध हो रही है, और यदि यह न रोकी गई तो हमारे समाज के लिए प्राणघातक हो जायगी।

अनुरगान

लेखक, श्री रामनाथ 'सुमन'

(१)

रुँधे कलेजे के फूलों को आँखों में भर लानेवाली।
कुहक पड़ेगी मरती बुलबुल हँस देगी यह सूनी डाली॥
मधु-ऋतु की झंकार सुना मत, सोता है जीवन का माली।
पतझड़ ही रहने दे आग जला मत निशि-दिन जलनेवाली॥

(२)

कौन समझ पाता है, किसे दिखाती हो जीवन का मोती।
आँसू से मत हँसी ख़रीदो इसमें कोरी विस्मृति सोती॥
उग आवेगा हृदय विश्व ने जिसको पाकर कुचल दिया है।
यही समाधि बनी रहने दो जिसको तुमने धूल किया है॥

(३)

प्रेम न होगा क्या वह जिसको दुनिया में न भुलाया जावे।
किसे प्राण वे प्राप्त हुए हैं जिनको नित्य रुलाया जावे॥
अन्तर की शाश्वत क्रीड़ा है इसे खेलना खेल नहीं है।
जीवन-दीप बुझाकर देखो यह अभाव बे-मेल नहीं है॥

(४)

आत्म-प्रदर्शन में अनुभूति नहीं है इसको भूल न जाना।
अन्तर में जो सत्य छिपा है उसे किसी को मत दिखलाना॥
इन्द्रिय-लब्ध जगत की आस्थायें हैं जिसका ताना-बाना।
उसे प्रबल करके क्या होगा ऐसा मत संसार बनाना॥

(५)

शून्य बनाती चलो न लग जाये इस पथ में भ्रम का मेला।
भीतर आँख मूँद कर देखो प्राण तुम्हारा नहीं अकेला॥
निखर गये ये प्रतिकण आज मिलन का हैं संदेश सुनाते।
क्यों रोती हो? मेरे ये निस्तब्ध प्राण हैं तुम्हें बुलाते॥

(६)

ईंधन मुझे बनाकर विश्व जला ले अपने विष की ज्वाला।
किन्तु नाश जो हो न सकेगा वह तो तेरा है मधु-प्याला॥
यह असत्य इस स्वार्थ-हाट में बैठा है क्रय करनेवाला।
यहाँ न तुम मुझको पहनाओ अपने अमर प्रणय की माला॥

———

तलाक़ के सम्बन्ध में

तलाक़ के पक्ष तथा विरुद्ध दोनों प्रकार के लेख 'सरस्वती' में छापे गये हैं। श्रीमती पिस्तादेवी ने तलाक़ के विरुद्ध जो विचार प्रकट किये हैं आशा है, इस विषय पर विचार करने-वाले पाठक उन्हें ध्यान देकर पढ़ेंगे।

लेखिका, श्रीमती पिस्तादेवी

ने 'सरस्वती' के नववर्षाङ्क में श्रीयुत रामरखसिंह जी सहगल का तलाक़-सम्बन्धी लेख पढ़ा। पहले मैं भी तलाक़ के पक्ष में थी। किन्तु कुछ नवयुवकों और नवयुवतियों के ऐसे उदाहरण मिले जिनसे मुझे अपना विचार बदल देना पड़ा और हिन्दू लॉ में तलाक़ न होने की बात ठीक जान पड़ी। हिन्दुओं में विवाह की प्रथा इतनी उत्तम और उसका उद्देश इतना ऊँचा रहा है कि उन्हें तलाक़ की आवश्यकता ही न थी।

यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व जन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥

१—स्वयंवर की प्रथा और ब्रह्मचर्याश्रम के बाद गृहस्थाश्रम की योजना कैसी सुन्दर व्यवस्थायें थीं? उस समय तक वर और कन्या दोनों ही समुचित ज्ञान प्राप्त कर चुकते थे और भले-बुरे की पहचान भी कर सकते थे, अतएव अनमेल विवाह की आशंका ही न थी।

२—विवाह का उद्देश भोग-विलास नहीं था, वरन उत्तम सन्तान की उत्पत्ति के द्वारा देश और राष्ट्र की भलाई, सृष्टि का उत्थान तथा 'सर्वस्तपसः मूलं आचारः' का आदर्श देशवासियों के सामने रक्खा जाता था।

३—वैवाहिक संबंध केवल शारीरिक ही नहीं, बल्कि धार्मिक संबंध समझा जाता था, जिसे पति-पत्नी परस्पर आजीवन निबाहते थे। एक की मृत्यु के पश्चात् दूसरा अपनी सन्तान का पालन-पोषण दूनी ज़िम्मेदारी से करता था। सारांश यह कि विवाह के पश्चात् दम्पति-प्रेम सन्तान में केन्द्रित हो जाता था, और स्वाभाविक भी यही है। संतान में माता तथा पिता दोनों मिले हैं—ईश्वर को भी यही अभीष्ट था। अन्यथा वह पेड़ों में बच्चे न लगा देता! इन नियमों का यदि कोई पालन न करे तो मनुस्मृति में उसके लिए भी उपाय बताया गया है, जो लगभग तलाक़ के ही बराबर है।

आज-कल उन नियमों का सर्वथा उल्लंघन होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है, और जैसा कि श्री सहगल जी ने अपनी पाँचों कहानियों में लिखा है, ऐसी ही हालत है भी कि न पत्नी पति पर श्रद्धा अथवा विश्वास रखती है, न अपने धर्म को समझती है, और न पति अपने धर्म और उत्तरदायित्व की परवा करता है। किन्तु सहगल जी ने लिखा है कि "क्या वह अनुचित संबंध जो प्रेम-सहित एक कुँवारी किसी युवक के साथ रक्खे, इस कटु वैवाहिक जीवन से भी बुरा है?" मेरी सम्मति में हमारे देश में बुरा है। अन्य देशों में भी इसके जो परिणाम हो रहे हैं वे शिक्षा लेने योग्य हैं। वे देश स्वतंत्र हैं। वहाँ की सरकारों ने ऐसे संबंध से पैदा होनेवाले बच्चों के पालन-पोषण के लिए ऐसे आश्रम बना रक्खे हैं कि कोई भी स्त्री बिना परिचय बताये सुगमता से अपने बच्चे उनमें छोड़ आ सकती है। फिर भी यह विचारणीय विषय है कि क्या उन बच्चों का जैसा उत्थान और विकास होना चाहिए, हो पाता है। क्या माता-पिता के वात्सल्य और उनकी देख-रेख में रहने से जो लाभ बच्चों को प्राप्त होता है वह सब उन बच्चों को उस दशा में प्राप्त हो सकता है? कभी नहीं। बल्कि वे बच्चे फ़ौजों में ही मशीन की तरह काम करते पाये गये हैं। न वे सहृदयता का पाठ पढ़ सके, न उन्हें संसार का ही ज्ञान हो सका। वे जीवित ही मशीन बने हुए किसी भी कार्य्य का न तो

महत्त्व ही जानते हैं, न महत्ता ही रखते हैं। मान लिया कि यदि तलाक़-प्रथा भारत में क़ानून-द्वारा जारी हो गई तो उन अभागे बच्चों का हमारे देश में क्या प्रबन्ध होगा? भारत की आर्थिक स्थिति वैसे ही इतनी शोचनीय है कि उसके तथा दूसरी अनेक कठिनाइयों के कारण उसकी जैसी उन्नति होनी चाहिए, नहीं हो पाती। मान लीजिए, बच्चे मा के साथ जा रहे हैं, पिता उन्हें अपने पास रखना नहीं चाहता और उनके लिए दावा नहीं करता तो जिस आदमी से वह दूसरी शादी करेगी क्या वह बच्चों की शिक्षा आदि का प्रबन्ध स्नेहपूर्वक करेगा? कदापि नहीं। बल्कि वह तो उन्हें भार-स्वरूप समझेगा, उनसे ईर्ष्या करेगा और उनके कारण स्त्री का भी पूर्णरूप से आदर न कर सकेगा। थोड़े ही दिनों में तलाक़ की योजना करके उस स्त्री को अपने उस नये पति से भी विदा लेनी पड़ेगी। क्योंकि जो उचित-अनुचित भर्त्सना वह बच्चों की करेगा, एक भारतीय माता का हृदय उसे कदापि न सहन कर सकेगा। फिर दोनों ओर यह धारणा कि पराये बच्चों के कारण ऐसा होता है, और भी दुःखदायिनी तथा शीघ्र मनमोटाव उत्पन्न करनेवाली बात होगी। और जैसा कि क़ानून है कि बच्चे बाप को मिलने चाहिए, उस दशा में जब वहाँ नई दुलहिन आवेगी तब वह उन पर अत्याचार करेगी। पिता भी उसकी झूठी शिकायतों के कारण तथा अपनी नववधू की प्रसन्नता रखने के लिए उन बच्चों की उपेक्षा करेगा और वे उसके लिए आँगन का पीपल हो जायँगे, और उनकी प्रत्येक बात अक्षम्य समझी जायगी जैसा कि होता है कि मा हुई दूसरी तब बाप हुआ तीसरा।

इस स्थान पर यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि मा समझदार आवे या पिता ही अच्छा बुद्धिमान् हो तो ऐसा कैसे होगा। पर मेरा तो अनुभव ऐसा ही है कि ऐसे मौक़े पर अच्छे अच्छे बुद्धिमान् चकरा जाते हैं।

कभी कभी इसके विपरीत भी होता है। पर ऐसे उदाहरण शायद एक-दो ही मिल सकेंगे। यह भी ठीक है कि सबको अपने वैवाहिक जीवन से असन्तुष्ट होने की शिकायत भी नहीं होती। मैं लेखक पर आक्षेप नहीं करती, और यह भी बताने में मुझे संकोच नहीं कि हिन्दू स्त्री पर जो जो पारिवारिक अत्याचार हुआ करते हैं, मेरे ऊपर वे सब ही अन्तिम अवस्था तक हो चुके हैं। मैं उन्हें पार कर गई हूँ और अच्छी तरह समझती भी हूँ। परन्तु मेरी तुच्छ सम्मति में जहाँ तलाक़-प्रथा में रत्ती सुविधा होगी, वहाँ असंख्य बुराइयाँ भी उत्पन्न होंगी।

चरित्रगठन तो हो ही नहीं सकता। कोई भी दम्पति विश्वास और मनोयोग-पूर्वक गृहस्थाश्रम जमा ही नहीं सकते जब उन्हें यह मालूम है कि न जाने कब उन्हें इससे विदा लेनी पड़े। जैसे एक किरायेदार मकान की कुछ परवा नहीं करता और ज़रा सी भी असुविधा होने पर मकान-मालिक को अच्छा मकान बदल लेने की धमकी देता है, और चला भी जाता है। मकान चाहे टूटे चाहे फूटे, इससे उसे कुछ मतलब नहीं। वह किराया देता है तब कष्ट क्यों सहन करे? उतने ही किराये पर उसे अधिक अच्छा मकान मिल सकता है। वह क्यों न उसे ले ले? इसी प्रकार जब अटूट वैवाहिक सम्बन्ध की धारणा ही न रहेगी तब ज़रा ज़रा-सी बात पर मनोमालिन्य होने पर तलाक़ देने की भावना का ज़ोर बढ़ेगा, जिससे समाज छिन्न-भिन्न हो जायगा, जीवन का आदर्श गिर जायगा, बच्चों की अधिकता होगी जो आर्थिक कठिनाइयों के कारण समाज और देश के लिए भारस्वरूप प्रतीत होंगे। पति-पत्नी में पाशविक भावना का ही प्राबल्य होगा, जो आदर्श मनुष्य-जीवन के उपयुक्त बात न होगी।

जहाँ कुछ योरपीय विद्वानों का यह मत है कि व्यभिचार अथवा द्विविचार कोई पाप नहीं है, वहाँ भी इस तलाक़ के जो दुष्परिणाम हो रहे हैं वे किसी से छिपे नहीं हैं। वहाँ तो शायद कुछ घंटों या कुछ दिनों में ही पत्नी को पति और पति को पत्नी बदलने पड़ते हैं। ऐसे विवाह केवल शारीरिक सुख के भाव को लेकर ही होते हैं। और हमारे यहाँ सुन्दर और त्यागपूर्ण भावना से विवाह होते हैं। उत्तरदायित्व पूर्ण प्रतिज्ञायें होती हैं, और दम्पती भूल जाते हैं कि उनका कोई अलग स्वत्व है।

भारत की स्त्री का गौरव तलाक़ में नहीं है, किन्तु सन्तान के रक्षण और पोषण में है। मैं ऐसी विधवाओं

...था लम्पट पतियों की परित्यक्ता पत्नियों को जानती हूँ जिन्होंने अशिक्षिता होने के कारण पीस-कात कर अपनी सन्तान का भरण-पोषण और शिक्षण किया है, तथा धूर्तों के फ़ुसलाने में धर्म की धारणा के कारण नहीं आईं और आज उन्हीं बालकों के कारण वे सुखी और गौरवशालिनी हो रही हैं। तात्पर्य्य यह कि भारतीय महिला-समाज शिक्षा से वञ्चित है। इसी कारण यह नौबत आती है। इसका एकमात्र उपाय भारतीय स्त्रियों में अधिक से अधिक शिक्षा का प्रचार करना और पुरुषों में भारतीय संस्कृति का भाव भर देना है। आज जो यह कहा जाता है कि पढ़ी-लिखी लड़कियाँ शादी करना पसन्द नहीं करतीं, इसका कारण यह नहीं कि वे भारतीय गार्हस्थ्य-जीवन से डरती हैं, प्रत्युत अधिकतर जात-पाँत और शिक्षा-पद्धति, पश्चिमीय आचार-विचार, तथा यह भावना कि स्त्री पुरुष से नीची और पुरुष श्रेष्ठ है। मैं ऐसी कई लड़कियों को जानती हूँ जो शिक्षिता हैं, कुलीन हैं, पर कुलीन घरों में शिक्षित योग्य वर नहीं पा सकतीं, अतएव मजबूर होकर कुमारी रहती हैं। ऐसी पुस्तकें पढ़ने का भी काफ़ी प्रभाव पड़ता है जिनमें यह दर्शाया जाता है कि मनुष्य जीवन कर्त्तव्य-पालन के निमित्त नहीं, बल्कि ऐश व आराम के लिए है।

एक और भी कारण हो सकता है। वे अपनी सुन्दरता और स्वास्थ्य के नष्ट हो जाने के भय से गर्भ-धारण करने से भी डरती हैं। परन्तु मुझे ऐसे लड़के भी मिले हैं जिनका यह कहना था कि "बाबा, ग्रेजुएट लड़कियों का ख़र्च कौन बर्दाश्त करेगा—बे-पढ़ी-लिखी से ही शादी करना अच्छा होगा। साँसत में तो न पड़ना होगा"। यह बिलकुल ठीक बात है। शिक्षापद्धति के दूषित होने के कारण ही यह अवस्था हो गई है। इस अभागे देश में आय तो कुछ नहीं और इस शिक्षा के कारण तड़क-भड़क अनिवार्य हो गई है। ऐसी दशा में शिक्षिता लड़की का व्यय-भार उठाना सब किसी के मान की बात नहीं है।

संक्षेपतः तात्पर्य्य यह है कि किसी बुराई के सुधारने का उपाय यह नहीं है कि उसको देखा जाय और क्षणिक निवारण का उपाय किया जाय, प्रत्युत यह विचार किया जाय कि वह उत्पन्न क्यों हुई और उसके मूल कारणों का अन्त कर दिया जाय। यह भारतीय सुसंस्कृति और शिक्षा का ही फल था कि सुकन्या ने, इतने बड़े राजा की लाड़िली कन्या होने पर भी, अन्धे च्यवन ऋषि को कर्त्तव्य-पालन के हेतु अपना पति बनाया था और वल्कल धारण कर, कन्द-मूल खाकर भी प्रसन्नचित्त रहती थी। इसी का यह परिणाम था कि सावित्री ने वनवासी सत्यवान के गुण को देखकर और उनको अल्पायु जानकर भी वरा था, और संसार को चमत्कृत कर दिया था। आज भी ऐसी विदुषियों के उदाहरण मिलते हैं जो सारा गृह-कार्य्य भारतीय ललना की भाँति करती हैं, उच्च शिक्षा प्राप्त करने पर भी पति से अटूट स्नेह करती हैं।

सहगल जी के पास दुःखित स्त्रियों के ही पत्र आते हैं सुखी स्त्रियों के नहीं, और ऐसी स्त्रियों के प्रति जो किसी दूसरे से प्रेम करने लगी हैं या करना चाहती हैं—उनको सहानुभूति दिखलाना ही चाहिए। इस सम्बन्ध में मैं भी उनसे सहमत हूँ, परन्तु प्रार्थना यह है कि सुधार करने में सुधार का आधार न छोड़ देना चाहिए। यदि भारत की संस्कृति का रूप बिगड़ गया है तो उसके सुधारने की चेष्टा आवश्यक है। हमारे यहाँ नीच जातियों में तलाक़ की प्रथा होने के कारण जो दुष्परिणाम हुए हैं उनका उदाहरण मैं यहाँ दे सकती थी, लेख के बड़े हो जाने की आशङ्का से उनका उल्लेख नहीं किया।

अब दूसरी बात यह है। पुरुष शास्त्रानुसार कई पत्नियाँ कर सकते हैं। स्त्रियों को भी यह अधिकार मिलना चाहिए। विशेषावस्था में यह अधिकार स्त्रियों को भी दिया गया है। परन्तु शास्त्र में इस सम्बन्ध में विशेष नियम स्त्री-पुरुष दोनों के लिए बने हुए हैं। यदि पुरुष चित्त की चंचलता के कारण किसी नियम को तोड़ कर चलना चाहता है और उसके लिए क़ानून बना लेता है (क्योंकि नियम भी पुरुष ही बनाते हैं) तो क्या स्त्री को भी यह आवश्यक है कि वह उनकी बुरी बात का अनुसरण करे या अनुसरण करने के लिए प्रोत्साहन दे। इस विषय का पुरुषों के समान अधिकार लेना क्या सचमुच अनिवार्य्य है? कम से कम मैं तो अपनी

बहनों को यही सम्मति दूँगी कि वे कदापि इस गर्हित विचार को अपने हृदय में स्थान न दें कि यदि पुरुष पुनर्विवाह करता है तो हम भी करेंगी। पुरुष पर धन कमाने और बाहरी प्रबन्ध करने की ज़िम्मेदारी है, परन्तु स्त्रियों के ऊपर सन्तान के बनने-बिगड़ने का सारा भार है, जो भारत के उत्थान और पतन का कारण है। समाज और देश का भविष्य स्त्रियों के हाथ में है। जब वे पुरुषों की प्रतिद्वंद्विता और कर्तव्य को भुलाकर सन्तान की अवहेलना कर देंगी तब इस अभागे भारत का क्या परिणाम होगा? गर्म लोहे से ठंडा लोहा नहीं कटता, वरन ठंडे लोहे से गर्म लोहा कटता है। इस प्रकार की प्रतिहिंसा से कोई ऊँचा आदर्श नहीं बनता।

त्याग और चरित्र की दृढ़ता तथा कर्त्तव्यपरायणता ही बहुतों पर प्रभाव डालकर भूलों को भी ठिकाने लगाती है। स्त्री मातृ-शक्ति है। उसी के अनुकूल सन्तान होती है—सभी पुरुषों ने स्त्री के उदर में वास किया है, और उसके विचार उसके हृदय के रक्त के साथ लिये हैं।

मेरा स्थान

लेखक, श्रीयुत रामचरित उपाध्याय

(१)

मिला दम्भ से ज्ञान होगा जहाँ पर,
वहाँ पर रहेगा नहीं नाम मेरा।
जहाँ छद्म का सद्म ऊँचा बना हो,
वहाँ झाँकने का नहीं काम मेरा॥

(२)

जहाँ साम्य है मूर्ति मेरी वहाँ है,
जहाँ एकता है वहाँ गेह मेरा।
जहाँ धैर्य्य है पूर्ति मेरी वहाँ है,
जहाँ शिष्टता है वहाँ स्नेह मेरा॥

(३)

जहाँ सत्य-गंगा निरन्तर बहेगी,
चलाऊँगा मैं भी वहीं न्याय-नैया।
जहाँ प्रेम-सद्भाव का बोलबाला,
चराऊँगा गैया वहीं बन कन्हैया॥

(४)

जहाँ प्रेम का भाव होगा परस्पर,
वहाँ तान मेरी अनूठी छिड़ेगी।
जहाँ ध्यान स्वाधीनता का रहेगा,
वहाँ शक्ति मेरी समूची भिड़ेगी॥

(५)

जहाँ प्राण से भी बड़ा प्यार प्रण का,
सुदर्शन लिये मैं वहीं घूमता हूँ।
जिसे लालसा मृत्यु को भेंटने की,
उसी के पगों को सदा चूमता हूँ॥

(६)

जहाँ दुन्दुभी वीरता की बजेगी,
वहीं व्यक्त हो जायगी भक्ति मेरी।
जहाँ त्यक्त होवें बुरी वासनायें,
वहाँ ही न क्यों न अनुरक्ति मेरी?

आत्म-परिचय

लेखक, श्रीयुत बच्चन

मैं जग-जीवन का भार लिये फिरता हूँ,
फिर भी जीवन में प्यार लिये फिरता हूँ;
कर दिया किसी ने झङ्कृत जिनको छू कर,
मैं साँसों के दो तार लिये फिरता हूँ।

मैं स्नेह-सुरा का पान किया करता हूँ,
मैं कभी न जग का ध्यान किया करता हूँ;
जग पूछ रहा उनको जो जग की गाते,
मैं अपने मन का गान किया करता हूँ।

मैं निज उर के उद्गार लिये फिरता हूँ,
मैं निज उर के उपहार लिये फिरता हूँ;
है यह अपूर्ण संसार न मुझको भाता,
मैं स्वप्नों का संसार लिए फिरता हूँ।

मैं जला हृदय में अग्नि रहा करता हूँ,
सुख-दुख दोनों में मग्न रहा करता हूँ;
जग भव-सागर तरने को नाव बनाये,
मैं मन-मौजों पर मस्त बहा करता हूँ।

मैं यौवन का उन्माद लिये फिरता हूँ,
उन्मादों में अवसाद लिये फिरता हूँ;
जो मुझको बाहर हँसा रुलाती भीतर,
मैं, हाय, किसी की याद लिये फिरता हूँ।

कर यत्न मिटे सब सत्य किसी ने जाना?
नादान वही है, हाय, जहाँ पर दाना!
फिर मूढ़ न क्या जग जो इस पर भी सीखे,
मैं सीख रहा हूँ सीखा ज्ञान भुलाना।

मैं निज रोदन में राग लिये फिरता हूँ,
शीतल वाणी में आग लिये फिरता हूँ;
हों जिस पर भूपों के प्रासाद निछावर,
मैं वह खंडहर का भाग लिये फिरता हूँ।

मैं रोया, इसको तुम कहते हो गाना!
मैं फूट पड़ा, तुम कहते छंद बनाना!
क्यों कवि कहकर साहित्य मुझे अपनाये,
मैं दुनिया का हूँ एक नया दीवाना।

मैं दीवानों का वेष लिये फिरता हूँ,
मैं मादकता निःशेष लिये फिरता हूँ;
जिसको सुनकर जग झूम झुके लहराये,
मैं बस्ती का सन्देश लिये फिरता हूँ।

स्याम-यात्रा

लेख के इस भाग में श्री कौसल्यायन जी ने स्याम के अपने प्रवास का जो वर्णन किया है उससे हमें स्याम की वर्तमान राजनैतिक तथा धार्मिक अवस्था का परिचय मिलता है। अन्त में उन्होंने हवाई यात्रा का जो वर्णन किया है वह विशेष रूप से मनोरम है।

हाँ हम स्याम में बौद्ध-धर्म के इतिहास के सम्बन्ध में विस्तार-पूर्वक अधिक नहीं लिख सकते। उसकी वर्तमान अवस्था के समझने के लिए कुछ बातों की जानकारी अनिवार्य है।

१—स्याम में बौद्ध-धर्म के प्रवेश की तिथि निश्चित नहीं है। वहाँ के पण्डितों का कहना है कि अशोक ने अपने जो धर्म-प्रचारक 'स्वर्णद्वीप' को भेजे थे वे हमारे ही यहाँ आये थे। लेकिन ब्रह्मदेशीय बौद्ध कहते हैं कि उन्हीं का देश 'स्वर्णद्वीप' है।

२— प्रथम-नगर) पतम-नकन आदि स्थानों से जो पुरातत्त्व की सामग्री मिली है उसके अध्ययन से पता लगता है कि स्याम में पहले स्थविरवाद (=हीनयान) का प्रचार था। लेकिन बाद की शताब्दियों में दक्षिण-भारत से महायान भी वहाँ पहुँचा।

३—तेरहवीं शताब्दी में जब ब्रह्मदेश और स्याम की परस्पर की लड़ाइयों में स्याम से बौद्ध-धर्म का लोप होगया तब सिंहल-द्वीप ने अपने यहाँ से बौद्ध-संघ को स्याम भेज कर वहाँ फिर से स्थविरवाद की स्थापना की।

४— अठारहवीं शताब्दी में जब सिंहल-द्वीप में भी संघ की आन्तरिक दुर्बलताओं और बाहरी आक्रमणों के कारण बौद्ध-धर्म का दीपक बुझने लगा था, उस समय स्याम ने महास्थविर उपाली की अधीनता में भिक्षुओं का एक संघ सिंहल-द्वीप भेजकर अपना पाँच सौ बरस का पुराना ऋण चुकाया।

जिन उद्देशों को लेकर मैं स्याम गया था उनमें एक उपाली महास्थविर की आचार्य-परम्परा का पता लगाना भी था। श्रद्धेय राहुल जी का इसके लिए विशेष आग्रह था। अशोक-पुत्र महेन्द्र की शिष्य-परम्परा की एक अनुश्रुति सिंहल-द्वीप में सुरक्षित है। यदि इधर की बीच की कुछ कड़ियाँ मिल जातीं तो हम अपना गुरु-शिष्य-परम्परा का सम्बन्ध सीधा महास्थविर महेन्द्र से जोड़ सकते। मैंने इस विषय में बहुत पूछ-ताछ की। परन्तु यही पता लगा कि महास्थविर उपाली की गुरु-परम्परा हमेशा के लिए लुप्त हो गई है। इसके दो कारण हो सकते हैं—

१. सत्रहवीं शताब्दी की ब्रह्मदेश और स्याम की लड़ाइयों में बहुत-कुछ तहस-नहस हो गया।

लेखक, भदन्त आनन्द कौसल्यायन

[स्याम के राजा और रानी]

डेढ़ दो-सौ बरस पुराने धार्मिक इतिहास को कुछ भी लिखित सामग्री शेष नहीं रही।

२—स्याम में अधिकांश विहारों का प्रबन्ध राज्य के अधीन है। वहाँ यह आवश्यक नहीं है कि गुरुविशेष का शिष्य ही अपने गुरु के विहार का उत्तराधिकारी हो। जहाँ किसी विहार को किसी योग्य भिक्षु की आवश्यकता हुई, किसी भी विहार से कोई योग्य भिक्षु बुलाकर वह विहार उस भिक्षु के सिपुर्द कर दिया जाता है।

यों तो सभी जगहों के भिक्षु एक ही भिक्षु-संघ के सभासद् हैं; लेकिन अन्य देशों की तरह स्याम के भिक्षु भी एक से अधिक निकायों (=सम्प्रदायों) में बँटे हुए हैं। पहले स्याम में केवल एक निकाय था, जिसका नाम है महानिकाय। पिछली शताब्दी में एक सुधार-प्रेमी राजा ने ब्रह्मदेश से धम्मयुत्तिक नामक एक नये निकाय को निमन्त्रित कर उसे राज्याश्रित बनाया। तब से धम्मयुत्तिक निकाय फलने-फूलने लगा, और महानिकाय राज्याश्रय से वञ्चित हो गया।

मुझे बौद्ध-देशों की यात्रा करते समय ऐसा अनुभव हुआ है कि सिंहल, ब्रह्मदेश और स्याम, स्थविरवाद के इन तीनों केन्द्रों में स्याम-देश के भिक्षु सबसे अधिक संगठित हैं, और ऐसा होना है भी स्वाभाविक। यदि एक स्वतन्त्र बौद्ध-राज्य के भिक्षु संगठित न होंगे तो क्या परतन्त्र सिंहल और ब्रह्मदेश के होंगे? भिक्षुओं में सर्वोपरि पद प्राप्त करनेवाले भिक्षु को संघराज कहते हैं। स्याम में प्रायः राजकीय परिवार के ही किसी न किसी भिक्षु को यह पद प्राप्त रहता है। संघ-राज के आवश्यक खर्च के लिए राजकीय कोष से ८० टिकल* मासिक का प्रबन्ध है। और भी बहुत-से भिक्षुओं के लिए राजकीय कोष से खर्च किया जाता है। यह रुपया किसी भिक्षु को सीधा नहीं मिलता। हर विहार का एक कप्पिय-कारक होता है। रुपया उसके पास रहता है। वह उस रुपये से भिक्षु की आवश्यक चीज़ें उसे ला देता है और हिसाब रखता है। साधु शीलसंवर जी की कृपा से मैं स्यामी संघ के सभी पदाधिकारियों और उन पर राज्य की ओर से जो खर्च होता है उसका कुछ पता पा सका हूँ, जो यह है—

* एक टिकल एक रुपया से कुछ ही अधिक होता है।

[बंकाक्—फलों का बाज़ार]

पद	पदाधिकारी संख्या	राजकीय कोष से व्यय
१ संघराज	१	८० टिकल
२ सोम डैट	४	४० टिकल (एक एक को)
३ चौरवना रो	५	३८ टिकल (प्रत्येक को)
४ थम	८	३५ टिकल (,,)
५ थेप	७	२८ टिकल (,,)
६ राट्	७	२५ टिकल (,,)
७ नायक	११८	२४ से १६ टिकल (,,)
८ बलत्	अज्ञात	१६ से १३ टिकल (,,)
९ प्रकू	८००	६ टिकल (,,)

इतना होने पर भी धम्मयुत्तिक निकाय की अपेक्षा महानिकाय के विहारों और भिक्षुओं की संख्या बहुत अधिक है। महास्थविर साधु शीलसंवर से मालूम हुआ था कि स्याम में इस समय विहारों और भिक्षुओं की संख्या इस प्रकार है—

निकाय	विहार	भिक्षु
१ महानिकाय	१६,३१७	१,२६,६५१
२ धम्मयुत्तिक निकाय	१८६	३,४०७
	१६,५०३	१,३०,०५८

लगभग एक करोड़ की आबादी में सोलह हज़ार पाँच सौ तीन विहार और एक लाख तीस हज़ार अट्ठावन भिक्षुओं का नम्बर कुछ कम खटकनेवाली संख्यायें नहीं हैं। प्रश्न होता है कि स्याम-देश इतनी बड़ी बैठी-ठाली जन-संख्या को कैसे और क्यों खिलाता है? इसका उत्तर यह है कि स्याम के अधिकांश विहार एक प्रकार के शिक्षणालय हैं और उनमें रहनेवाले भिक्षु हैं विद्यार्थी। स्याम और ब्रह्मदेश में जो लोग भिक्षु बनते हैं वा बनाये जाते हैं वे प्रायः संसारत्याग की भावना से भिक्षु नहीं बनते। उनके भिक्षु बनने का कारण होता है प्रायः एक धार्मिक संस्कार की पूर्ति। वे सोचते हैं कि चाहे कम से कम तीन ही महीने के लिए क्यों न हो, हर एक व्यक्ति को अपने जीवन में एक बार भिक्षु अवश्य बनना चाहिए। हो सकता है कि इस विचार के कारण भिक्षु-जीवन का गाम्भीर्य्य कुछ हलका हो गया हो (और हो गया है), लेकिन इसका एक फ़ायदा यह हुआ है कि सारी की सारी जाति की एकता बनी रहती है और भिक्षुओं तथा गृहस्थों को एक-दूसरे के जीवन का पता और अनुभव रहता है।

संघराज का भिक्षु-संघ पर काफ़ी प्रभाव है। धार्मिक मामलों में भिक्षु-संघ को काफ़ी स्वतन्त्रता है। यदि भिक्षु-संघ आवश्यक समझता है तो वह कभी कभी राजकीय इच्छा के विरुद्ध भी काम कर लेता है।

मेरे स्याम पहुँचने से कुछ समय पहले नई सरकार की स्थापना का दिन मनाया गया था। सुनने में आया

[बंकाक्—एक संघाराम]

कि उस दिन के कार्य-क्रम में सरकार ने भिक्षुओं को खाद्य-सामग्री देना भी एक कार्य रक्खा था। जिस जगह उत्सव मनाया जाने को था, उस जगह श्रद्धालु नगर-निवासियों ने खाद्य-सामग्री तथा अन्य चीज़ों के ढेर लगा दिये। लेकिन संघराज तथा भिक्षुओं को यह आयोजन अच्छा नहीं लगा। उनका कहना था कि भिक्षुओं को दो ही तरह दान दिया जा सकता है- (१) भिक्षु-संघ को सम्मान-पूर्वक घर पर निमन्त्रित करके अथवा (२) भिक्षुओं के भिक्षा माँगने के समय। खाद्य-सामग्री तथा अन्य चीज़ों का ढेर लगाकर उन्हें बेढंगे तरीक़े पर बाँटना अनुचित है। बस, संघराज ने अपनी आज्ञा निकाल दी और एक भी भिक्षु 'दान' ग्रहण करने नहीं गया।

ऊपर हमने पदाधिकारी भिक्षुओं के लिए राजकीय खर्च की जो सूची दी है उसे देखकर यह प्रश्न किया जा सकता है कि यह रक़म किन किन चीज़ों पर खर्च होती होगी, क्योंकि भिक्षुओं की दो बड़ी आवश्यकतायें—भोजन और वस्त्र तो उन्हें श्रद्धालु बौद्धों से ही मिल जाते हैं।

अपने थोड़े-से दिनों के प्रवास के आधार पर ऐसे प्रश्नों का जिनका संघ की आन्तरिक अवस्था से सम्बन्ध है, उत्तर देना कठिन है। लेकिन जहाँ तक हमारे देखने में आया है हमें प्रतीत होता है कि भिक्षु इस रुपये को अपने अधीनस्थ विद्यार्थियों के भरण-पोषण पर खर्च करते हैं। जिस वट (=विहार) में मैं ठहरा हुआ था, उसी विहार का उदाहरण लेता हूँ। यह विहार ऐसे १३७ विहारों में से जिनका सम्बन्ध सीधा राजकीय घराने से है, एक है और मुख्य है। राजकीय परिवार के किसी व्यक्ति को जब भिक्षु बनना होता है तब उसका दीक्षा-संस्कार इसी विहार में होता है। वहाँ इस विहार में दो स्कूल हैं—एक पाली और धर्म पढ़ाने के लिए, दूसरा आधुनिक ढंग का, जिसमें आज-कल के सभी विषय पढ़ाये जाते हैं। पाली स्कूल की बात छोड़िए। उसमें तो भिक्षु ही पढ़ते हैं। लेकिन जो आधुनिक ढंग का स्कूल है उसमें विहार के बाहर से आनेवाले और विहार के अन्दर रहनेवाले सभी लड़के पढ़ते हैं। विहार में रहनेवाले लड़कों को फ़ीस आदि कुछ नहीं देनी पड़ती। वे किसी स्थविर के अधीन रहते हैं उसकी सेवा के लिए तत्पर रहना ही उनकी एकमात्र फ़ीस होती है। महास्थविर साधु शील-संवर के पास इस प्रकार के कोई बारह लड़के हैं, जिनका सारा भरण-पोषण वे अपनी ओर से करते हैं। मुझे उन्होंने एक बार बताया था कि उनके लिए जो कुछ राज से मिलता है, उन्हीं लड़कों पर खर्च होता है। लड़के अपने अपने परिवारों से भी कुछ थोड़ी-बहुत सहायता पास कर लेते हैं।

मैं लगभग बीस दिन उस विहार में रहा, और मेरा काफ़ी समय इन लड़कों में ही व्यतीत हुआ। भिक्षुओं के प्रति बहुत ही अधिक सम्मान प्रदर्शित करने के अभ्यस्त इन लड़कों में मुझे उस दब्बूपन का सर्वथा अभाव दिखाई दिया

[बंकाक्—छटे राम का पुल]

जो ग़ुलाम देश के हवापानी में पलनेवाले बच्चों का सहज स्वभाव बन जाता है। प्रातःकाल ही जैसे मैं नहाकर लौटता, एक लड़का आकर चाबी ले दरवाज़ा खोल चीज़ों को ठीक-ठाक रख चला जाता। फिर दूसरा लड़का साधु शील-संवर के लिए आई हुई भिक्षा में से कुछ 'भिक्षा' मेरे लिए ले आता। इस 'भिक्षा' में मांसाहार का सर्वथा अभाव रहने से मैं समझता हूँ कि कोई न कोई गृहस्थ मेरे लिए विशेष रूप से बनाकर भेज रहा था।

मेरे पहुँचने के दिन ही आर्य-समाज के चपरासी से कई भारतीय सज्जनों को मेरे आने का पता लग गया। वे कदाचित् पण्डित विश्वबन्धु जी से मेरे बारे में कुछ सुन चुके थे। शाम होते होते कई सज्जन मिलने आये। रात को स्वयं पण्डित विश्वबन्धु जी ने तीन-चार सज्जनों के साथ आने का कष्ट किया। वर्षा होनी आरम्भ हो गई, और जब तक नहीं रुकी तब तक बातें होती रहीं। कैसे स्यामी सरकार ने उनके भाषण पर प्रतिबन्ध लगाया, कैसे उसके पीछे ब्रिटिश कौंसिल का हाथ था, कैसे उन्हें स्याम की सी० आई० डी० से मिलना पड़ा, कैसे उनकी ब्रिटिश कौंसिल से खरी-खरी बातें हुईं, कैसे अन्त में सरकार ने आज (मेरे स्याम पहुँचने के दिन) ही प्रतिबन्ध उठाया है, यह सब उन्होंने विस्तार के साथ वर्णन किया।

अन्त में जब वे जाने लगे तब एक तो यों ही रात थी, उस पर बादलों और वर्षा ने उसे और भी काला बना दिया था। जैसे ही उन्होंने अपना मोटर हाँका, एक दूसरा मोटर भी तुरन्त उनके पीछे पीछे हो गया। पण्डित विश्वबन्धु जी के मोटर का ड्राइवर था एक भारतीय मुसलमान और था कुछ मन-चला। उसने प्रस्ताव किया कि आज कुछ देर तक यों ही इधर से उधर निरुद्देश मोटर दौड़ाया जाय, और अपने साथ पीछे पीछे गन्ध सूँघते आनेवालों को हैरान किया जाय। कुछ इसी धुन में जा रहे थे कि धड़ाम से गाड़ी किसी चीज़ से टकरा गई। सड़क के एक ओर अँधेरे में एक बिगड़ी हुई लारी खड़ी थी, उसके साथ टक्कर लगते ही, गाड़ी घुमाने का चक्कर शास्त्री जी की छाती में लगा। लोगों को चोटें आईं और गाड़ी के कई पुर्ज़े टूट-फूट गये।

ज्यों ही यह खबर मिली, मैं मध्याह्नानन्तर शास्त्री जी के निवास-स्थान पर गया। आप एक सिन्धी व्यापारी की दूकान की चौथी मंज़िल पर एक अत्यन्त हवादार कमरे में लेटे हुए थे। मैंने पूछा—आपने अपनी चोट किसी डाक्टर को दिखाई या नहीं?

"नहीं, डाक्टर यों ही वहम पैदा कर देगा। प्रातः सायं मालिश हो रही है। अपने आप फ़ायदा हो जायगा।"

"तो दवाई कुछ नहीं?"

"नहीं, पं०—जी की दवाई हो रही है।"

"क्या?"

"दूध में घी डालकर पिला रहे हैं।"

मैंने मन में कहा कि उधर के लोगों को पाणिनि ने यों ही 'क्षीरपायी' नहीं लिखा है।

बड़ी कठिनाई से शास्त्री जी कुछ दो-चार शब्द कह सकते थे। सरकारी बाधा उठ जाने पर, उस नियम के

इराव को पक्का करने के लिए, एक दिन बोलना आवश्यक था। स्याम के भारतीय उसके लिए उतावले हो रहे थे। आखिर उस दिन आर्य-समाज के भवन में एक विराट् सभा की गई। सनातनी, आर्य-समाजी, सिक्ख सभी में जोश था। लोग हज़ारों की संख्या में आये। भवन के पर्य्याप्त बड़ा न होने के कारण अनेक सज्जन भाषण नहीं सुन सके और दर्शनों पर ही सन्तोष करना पड़ा।

अब इसके बाद से तो सभाओं का ताँता ही बँध गया। प्रायः प्रतिदिन सभा होती। किसी दिन नामधारी सिक्खों के मन्दिर में, किसी दिन सनातनधर्मी मन्दिर में, किसी दिन आर्य-समाज के मन्दिर में और किसी दिन इन सबके सम्मिलित मन्दिर में—अर्थात् हिन्दू-सभा के भवन में। देश से बाहर जाने पर घर के छोटे छोटे भेद-भाव बहुत क्षीण पड़ जाते हैं, लेकिन कुछ लोग इन विष-बीजों को विदेशों तक में अपने साथ ले जाने से बाज़ नहीं आते। दया के पात्र हैं वे अधम नर!

मैं अपने पहले लेख में लिख आया हूँ कि रेलगाड़ी में आते समय मुझे विदेशी आगन्तुक-कार्यालय के एक कार्यकर्त्ता ने २६ तारीख को अपने आफ़िस में आने के लिए कहा था। मुझे चाहिए था कि मैं किसी सम्भ्रान्त व्यक्ति को अपने साथ लेकर जाता। लेकिन मुझे किसी प्रकार की कोई आशंका नहीं थी, इसलिए मैं साधारण स्थिति के एक पंजाबी सज्जन को रास्ता दिखाने भर के लिए साथ ले ठीक समय पर दफ़्तर में जा पहुँचा। विदेशी आगन्तुक-कार्यालय के अफ़सर एक तरुण सज्जन थे। आपको खासी अँगरेज़ी आती थी, लेकिन आप बात-चीत करते थे अपने दुभाषिये के ही द्वारा। आपने मुझसे पूछा—

"स्याम में कितने दिन रहेंगे?"

"लगभग एक महीना।"

"एक मास के अन्दर चले जायँगे?"

"आशा, ऐसी ही है।"

"तब १०० टिकल की सेक्योरिटी दीजिए।"

"मुझे किसी ने नहीं बताया कि मुझसे सेक्योरिटी माँगी जायगी। अतः मैं इसके लिए किसी को साथ नहीं लाया।"

"आप किस रास्ते वापस लौटेंगे?"

"मेरा विचार उत्तरी स्याम की यात्रा करते हुए स्याम और ब्रह्म देश की सीमा को पैदल पार करने का है।"

"आप उधर से पैदल न जाकर पीनाङ्ग के रास्ते समुद्र से लौटें।"

"उधर से तो मैं आया ही हूँ। उसी रास्ते वापस नहीं जाना चाहता। जहाज़ी सफ़र से तबीयत उकता गई है।"

"अगर आप उसी रास्ते वापस लौटने का वचन दें तो आप ही अपनी सेक्योरिटी दे सकते हैं।"

"क्या आप एक भिक्षु के लिए यह उचित समझते हैं कि वह किसी ऐसी सेक्योरिटी पर जिसका १०० टिकल के लेन-देन से सम्बन्ध हो, हस्ताक्षर करें?"

अफ़सर समझदार थे, समझ गये। हाथ जोड़कर बोले—"आप ठीक कहते हैं।" और चुप हो रहे।

कल की २८ तारीख़ की सभा में एक सिक्ख तरुण उपस्थित था। उसने मुझे सभा में शास्त्री जी के साथ बैठे देखा था, इसलिए पहचान लिया। वही मेरे और अफ़सर के बीच में दुभाषिये का काम कर रहा था। मैं पंजाबी में बोलता, अफ़सर स्यामी में और हमारा दुभाषिया दोनों में। उसने बुद्धिमानी से काम लिया। मुझसे पूछकर हिन्दू-सभा के प्रधान लाला मङ्गलदास तथा एक-दो और सज्जनों को टेलीफ़ोन कर दिया। थोड़ी देर प्रतीक्षा करनी पड़ी। लाला मङ्गलदास और बाबू अमरनाथ आ पहुँचे। सारा काम दो मिनट का था। हस्ताक्षर करके मुझे गाड़ी में बिठा ले गये।

भोजन का समय नज़दीक आने पर अफ़सर महोदय ने भोजन के लिए आग्रह किया। लेकिन आज एक निमंत्रण स्वीकार किये रहने से मैं उनका आग्रह न मान सका। जिस समय दफ़्तर से चला, बारह बज चुके थे। निमंत्रणदाता के घर पहुँचा। शास्त्री जी बैठे प्रतीक्षा कर रहे थे। भोजन का समय गुज़र जाने से उस दिन उनके साथ शामिल न हो सका। कुछ संतरों के रस पर ही गुज़र करनी पड़ी।

ज्यों ज्यों शास्त्री जी की चोट का प्रभाव घटता गया, त्यों त्यों हमारा सैर करने का प्रोग्राम बढ़ता गया। प्रायः ऐसा होता कि सुबह ही किसी न किसी भारतीय घर से मेरे लिए कुछ जलपान की सामग्री आ जाती। कुछ ख़ुद खाता, कुछ साथी विद्यार्थियों में बाँटता। एक दिन की बात है, कलाकन्द या पेड़े थे। मैंने ख़ुद न खाकर विद्यार्थियों को खिलाने चाहे। कोई स्वीकार ही न करता था। बहुत आग्रह करने पर एक-दो विद्यार्थियों ने ज़रा ज़रा-सा टुकड़ा लिया। एक तो नाक के समीप ले जाकर उसे तुरन्त बाहर फेंक आया। दूसरा? दूसरे ने मेरे आग्रह से टुकड़े को मुँह में डाल लिया। कलाकन्द क्या खा लेता, ज़हर खा लिया। लड़के की शकल वैसे ही बिगड़ गई, जैसी कुनीन या कोई और सख्त कड़वी दवाई खाने पर बिगड़ जाती है। बड़ी देर तक बेचारा थू थू करता फिरता रहा। पाठक! हँसी न समझें। स्वाद ऐसी ही चीज़ है।

[बंकाक्—राजप्रासाद]

मेरे लिए और शास्त्री जी के लिए दोपहर को प्रायः एक ही घर से निमंत्रण आता। आतिथ्य-सत्कार करने में आनन्द लेना पंजाब-प्रान्त की एक विशेषता है। वह विशेषता स्याम-निवासी पंजाबियों में भी ज्यों की त्यों देखी। धूप ढलने पर शास्त्री जी, मैं तथा मेरे जर्मन भिक्षु मित्र या उनके स्थान में कोई और साथी—इकट्ठे होकर किसी दिन राजकीय पुस्तकालय देखने गये, किसी दिन पुरातत्त्व-विभाग का संग्रहालय, किसी दिन भिक्षुओं का कोई विहार, और एक-आध दिन राजकीय महल। राजकीय पुस्तकालय के तथा पुरातत्त्व-विभाग के अध्यक्ष बड़े सज्जन निकले और कदाचित् महास्थविर साधु शीलसंवर के अतिथि होने के कारण भी हम अनेक जगह सम्माननीय दर्शक थे।

स्थानों के देखने की अपेक्षा मुझे व्यक्तियों से मिलने का कहीं अधिक शौक़ है। लेकिन राजनैतिक गड़बड़ के कारण स्याम का वायु-मण्डल उन दिनों कुछ ऐसा अविश्वास से भरा हुआ था कि किसी व्यक्ति से कोई भी काम की बात करना कठिन था।

एक दिन बीस-पचीस मित्रों की एक पार्टी हवा-ख़ोरी के लिए निकली। वहीं बाहर खाने-पीने का आयोजन था। और लोगों को हँसी-ख़ुशी खाते देख, मुझे निठल्ले बैठे रहने में ही बड़ा आनन्द आया। लौटते समय सवारी की कमी मालूम हुई। एक सज्जन मुझे अपने मोटर में छोड़ आने को तैयार हुए। रास्ते में बताया कि वे सी॰ आई॰ डी॰ के आदमी हैं। मेरा नाम पूछा, मैंने बता दिया।
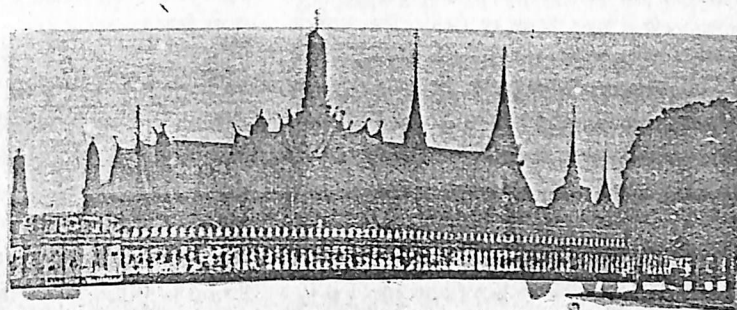
एक दूसरे दिन की बात है! हमारे बन्धु स्वामी सत्यनारायण जी* ने स्याम के कुछ संस्कृतज्ञों को अपने घर पर निमन्त्रित किया ताकि कुछ 'चाय-पानी' हो जाय और उनका तथा पण्डित विश्वबन्धु जी का परस्पर परिचय हो जाय। किसी एक मित्र ने मुफ़्त में निमन्त्रण-पत्र छापना

---

* आप पूर्व तथा पाश्चात्य दोनों दर्शनों के गहरे जानकार हैं। पिछले तीन वर्षों से स्याम में रहकर स्यामी भाषा पर अधिकार कर लिया है, और अपने समस्त ज्ञान का उपयोग आर्य-विचारों के प्रचार में कर रहे हैं। आप साहस, विनय और नम्रता की मूर्ति हैं।

स्वीकार कर लिया था। इसलिए स्वामी जी ने वे भी छपवा लिये। निमन्त्रण-पत्र लोगों के पास भेजने भी न पाये थे कि सरकारी हुक्मनामा आया—"आपके यहाँ कोई चाय-पानी नहीं हो सकती।"

ऐसी ऐसी बातों के लिए हम उस समय की परिस्थिति को छोड़ और किसे दोषी ठहरावें ? कुछ हद तक रूस की राजनैतिक अवस्था और उस समय की स्याम की राजनैतिक अवस्था में समानता थी। रूस की राज्य-क्रान्ति की तरह ही स्याम की क्रान्ति भी इस युग के युग-धर्म का परिणाम थी। क्रान्ति के बाद से नई सरकार की शासन-व्यवस्था अभी तक सुचारु रूप से स्थापित नहीं हुई थी। पुरानी सरकार के पक्षपाती फिर इस सरकार को उलट देना चाहते थे। नई सरकार की इच्छा थी कि स्याम की शासन-पद्धति में राजा का पद रहे (उसके बिना साधारण राज-भक्त प्रजा के असन्तुष्ट होने का डर था); लेकिन राजा का एकाधिकार न रहे।

इधर स्याम-नरेश इँग्लैंड में थे। वे नहीं चाहते थे कि जब उनके पक्ष के बहुत-से आदमियों को सरकार ने देश-निकाला दे दिया है तब वे नाम-मात्र के राजा बनकर स्याम में लौट आवें। लोगों का कहना था कि अँगरेज़-सरकार— जिसका स्याम बहुत ऋणी है, यही चाहती है कि स्याम-नरेश तख़्त पर बने रहें।

इसी बीच में भारतीय समाचारपत्रों में खबर छपी कि स्याम-नरेश अपने सिंहासन से दस्त-बरदार हो गये। स्यामी सरकार ने न इस समाचार का खण्डन किया और न शायद अपने पत्रों में छपने दिया। लेकिन उन्हीं दिनों स्याम के बड़े बड़े पदाधिकारियों का एक डेपुटेशन 'राजा के स्वास्थ्य की क्या दशा है' मालूम करने के लिए इँग्लैंड गया।

इस अस्थिर राजनैतिक परिस्थिति का प्रभाव हमारी छोटी छोटी बातों पर भी पड़ रहा था। हमें स्याम में और तो कुछ करना ही न था—यही थोड़ा धार्मिक और सांस्कृतिक कार्य, लेकिन उसमें भी बाधा पर बाधा पड़ रही थी। शास्त्री जी की और मेरी दोनों की इच्छा थी कि स्याम छोड़ने के पहले एक बार हिन्दी-चीन में जाकर अङ्कोर-वट का प्रसिद्ध मन्दिर देख आवें। स्यामी सरकार से पूछा तब उत्तर मिला कि यदि शास्त्री जी एक बार स्यामी सीमा से बाहर निकल जायँगे तो फिर वे भीतर न आने पायँगे। इस हालत में अङ्कोर-वट जाने का मतलब था बड़ा लम्बा सफ़र करना और मुफ़्त का सिर-दर्द मोल लेना। क्योंकि तब हमें एक अपरिचित भाषा-भाषी देश की लम्बाई पार करके, चीनी समुद्र में से होकर सिंगापुर के रास्ते भारत आना पड़ता। आख़िर अङ्कोर-वट जाने का विचार छोड़ना पड़ा। उसके बजाय एक दिन पन्द्रह बीस मित्रों की मण्डली स्याम की प्राचीन राजधानी अयोध्या देख आई। इस मित्र-मण्डली के साथ जो आनन्द उस दिन अयोध्या की सैर करने में आया वह हम दोनों को अङ्कोर-वट में अकेले भटकने में कभी न आता। मन को समझा लिया।

अब हमारे स्याम-निवास के एक मास के थोड़े ही दिन रह गये थे। शास्त्री जी का महीना तो ख़त्म ही हो चला था। स्याम छोड़ने की बातचीत होने लगी। मुझे जहाज़ से वापस लौटना अच्छा न लगता था; शास्त्री जी के पास स्याम और ब्रह्मदेश की सीमा को पैदल पार करते हुए धक्के खाने के लिए समय और स्वास्थ्य न था। शास्त्री जी ने प्रस्ताव किया कि हवाई-ज़हाज़ से उड़ा जाय। मुझे विरोध न था। सवाल था किराये का। मेरे पास सफ़र-ख़र्च के जो रुपये थे उन्हें शास्त्री जी के रुपयों में मिलाकर देखा, तो हवाई जहाज़ का किराया निकल आया। बात पक्की हो गई। और हमने अपने मित्रों को हवाई-जहाज़ की कम्पनी से बातचीत करने के लिए कह दिया।

उन दिनों दो-तीन कम्पनियों के दो-तीन जहाज़ बङ्काक से रंगून आनेवाले थे। हमने रायल-डच-एयर-लाइन के फ्राइज़ नामक जहाज़ को चुना। यह वही जहाज़ था, जो हवाई जहाज़ों की पिछली संसार-व्यापी दौड़ में दूसरे नम्बर पर रहा था, और सुना है कि अपने आकार की बड़ाई और भारीपन के कारण इसे अव्वल नम्बर का इनाम मिला था।

पहले हमने कम्पनी के एजेंट से टेलीफ़ोन-द्वारा सब

आवश्यक बातें मालूम कर लीं। उसके बाद कम्पनी के दफ़्तर में जाकर किराये का एक हिस्सा पेशगी देकर अपनी ओर से दो स्थान बुक कर आये। अपनी ओर से इसलिए क्योंकि अभी जब तक कम्पनीवाले सिंगापुर से तार-द्वारा बात-चीत करके हमें वचन न दे दें तब तक हमारे स्थान पक्की तरह बुक नहीं समझे जा सकते थे। कम्पनीवालों के उत्तर आने में वा हमें उत्तर देने में देर हो रही थी। हम तो उन्हें अपनी ओर से पेशगी दे ही चुके थे, लेकिन वे इस बात के लिए स्वतन्त्र थे कि यदि उन्हें हमसे अधिक दूर की मुसाफ़िरी करनेवाला कोई मुसाफ़िर मिल जाय, तो वे हमारी पेशगी हमें लौटा दें, और हमारे बजाय दूसरे मुसाफ़िर को टिकट दे दें।

चलने के ठीक एक-आध दिन पहले पता लगा कि अब स्थान पक्की तरह नियत हो गये हैं। १५ तारीख़ को ज़रा करारा जलपान करके शास्त्री जी और मैं अपने परिचित मित्रों के सहित रेलवे स्टेशन पर आये। वहाँ लगभग १०० भारतीय जिनमें एक-दो स्यामी तथा मेरे जर्मन मित्र भी थे, स्टेशन पर खड़े हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे। रेल के स्टेशन से हवाई जहाज़ के अड्डे तक हमें रेलगाड़ी में जाना था। कम्पनी से कह-सुनकर और साठ-सत्तर आदमियों के साथ पहुँचाने जाने और जहाज़ देख आने का प्रबन्ध हो गया था। मुझे याद नहीं कि इन 'साथ पहुँचाने जानेवाले' साठ-सत्तर आदमियों के लिए भी कम्पनी को रेल-भाड़ा देना पड़ा था वा नहीं। हाँ, अपना याद है कि बंकाक से रंगून तक एक टिकट के २४० टिकल अर्थात् २७०) जो थे और भिक्षु होने पर भी जो मैंने पुस्तकों आदि का इतना बोझा साथ लाद रक्खा था, उसके लिए १८ टिकल पृथक् भरने पड़े थे। शास्त्री जी का और मेरा यह सारा किराया स्थानीय बन्धुओं ने अपने सिर लिया।

लगभग ग्यारह बजे हम जहाज़ के अड्डे पर पहुँचे। १२ बज रहे थे, इसलिए प्रतीक्षागृह में बैठकर पहले सबने कुछ खाया-पिया। समुद्री यात्रा के अपने कड़ुवे अनुभव के कारण मैं खा तो रहा था, लेकिन साथ ही डर भी रहा था कि ज़हाज़ में उड़ते समय कहीं सब हिसाब बराबर न हो जाय।

डेढ़-दो घंटे की प्रतीक्षा के बाद हमारा जहाज़ आया और बड़ी शान के साथ ज़मीन पर उतरा। सैकड़ों की संख्या में लोग इसे देखने पहुँचे थे। जहाज़ क्या था, पूरी रेलगाड़ी थी। एक नहीं, दो नहीं, उसमें एक साथ चौदह सवारियाँ चढ़ सकती थीं। सब लोग, बड़े ध्यान से इधर-उधर घूम कर जहाज़ को देख रहे थे और आपस में टीका-टिप्पणियाँ कर रहे थे। कुछ उदास भाव से देखनेवाले यदि थे तो हम दो यात्री। थोड़ी देर में उसी में चढ़कर जाना ही था।
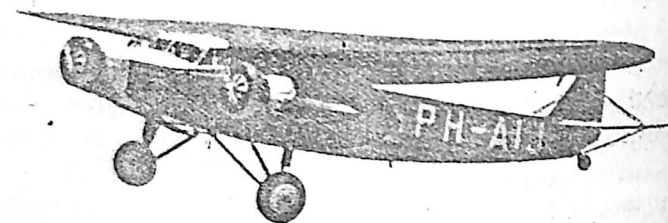
[बंगकाक से रंगून का हवाई जहाज़]

लगभग दो बजे हवाई जहाज़ के पहले से चले आने-वाले यात्रियों ने अपना मध्याह्न का भोजन समाप्त किया और जहाज़ ने पैट्रोल की गाड़ी की गाड़ी पी डाली। अब जहाज़ के पंखे हिलने शुरू हुए। यह हमारे लिए जहाज़ में बैठने का और दर्शकों के लिए दूर दूर हट जाने का सिग-नल था। जैसे ही हम सब यात्री छोटी-सी सीढ़ी के द्वारा जहाज़ के गर्भ में प्रविष्ट हो अपनी अपनी जगहों पर जा बैठे, वैसे ही सीढ़ी हटा दी गई और दरवाज़ा बन्द कर दिया गया। अब हमारे पास नज़दीक के शीशों में से अपने साथियों के हिलते रूमालों को देखने के अतिरिक्त कोई काम न था।

जहाज़ तेज़ी से ज़मीन पर दौड़ने लगा। फिर वह ऊपर उठने लगा। अन्दर से हमें प्रतीत होता था कि वह चींटी की चाल से जा रहा है। लेकिन जब ज़रा ज़रा देर

में घर, खेत और दरिया पीछे रहते जा रहे थे उससे अनुमान होता था कि वह कितना तेज़ जा रहा है। स्याम में गमनागमन ज़्यादातर जल-मार्ग से ही होता है, यह बात तभी समझ में आई, जब आकाश-मार्ग से जाते हुए हमने देखा कि सारे देश में पानी ही पानी है। बड़े बड़े घर, लकड़ी की छोटी छोटी डिबियों से भी छोटे देख पड़ रहे थे। बाग़ों के हरे हरे वृक्षों और खेतों के धान की उँचाई में एक-आध इंच से अधिक का अन्तर नहीं जान पड़ता था।

जहाज़ हलके हलके और ऊपर उठता गया था। अब हम रुई के कुछ कुछ सफ़ेद गालों के पास गुज़र रहे थे। ये तो हमारे बादल थे।

अब हम बादलों से भी ऊपर उड़ रहे थे। जिस प्रकार भू-लोकवासियों को बादलों के कारण आकाश दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार हमें अब पृथ्वी नहीं दिखाई दे रही थी।

अब हम और ऊपर चले गये। खेतों और वृक्षों में तमीज़ करना कठिन हो गया। जिन बादलों को हम आकाश में समझते रहे थे वे पृथ्वी पर चलते दिखाई दे रहे थे।

अब हमारी भेंट इन्द्रधनुष से हो गई। देखते देखते वह भी विलीन हो गया। छोटे छोटे झरोखों में से आनेवाली हवा ठंडी से ठंडी होती गई। अब हम पृथ्वी से बहुत ऊपर हो गये। आकाश की नीली सतह पर जितने बादल मँडरा रहे थे, लगभग उतने ही हमसे बहुत नीचे पृथ्वी पर थे। इन्द्र-धनुष बार बार दिखाई देता और फिर विलीन हो जाता।

जहाज़ आराम से जा रहा था। अन्दर आवाज़ उससे कुछ थोड़ी ही अधिक सुनाई देती थी, जितनी योरप की एक्सप्रेस गाड़ियों में। तो भी सिर में कुछ भारीपन-सा मालूम होने लगा। एकबारगी जहाज़ ने एक छलाँग-सी लगाई। ज़रा झटके के साथ नीचे को गया। उससे ज़रा-सा दिल को धक्का लगा, लेकिन डर बिलकुल नहीं लगा। पचास साल से दुनिया वायुयानों की यात्रा कर रही है। उससे मन में कुछ विश्वास हो गया है।

अब हम और भी ऊँचे जा रहे थे। कहीं कोई बस्ती दिखाई नहीं देती थी, जंगल में हरियाली की ऊँची-नीची लकीरें खिंची जान पड़ती थीं। शास्त्री जी ने कहा, अब हम हरियाली से ढँके पर्वतों के ऊपर से गुज़र रहे हैं।

अनेक बार जहाज़ बादलों के पेट को चीर कर निकल चुका था। छोटे-से झरोखे में से बादलों ने आकर अन्दर के शीशे को मैला कर दिया। रूमाल से साफ़ करने पर कुछ दिखाई देने लगा।

अभी हम ऊँचे ही ऊँचे जा रहे थे। बीच में कहीं कहीं ज़रा हलका-सा झटका लग जाता था। यद्यपि साँस अच्छी तरह से आ रही थी, तो भी हवा का हलकापन महसूस होने लगा था। बीच बीच में लम्बी साँस लेने को जी चाहता था।

अब अधिक स्थानों पर तो बादलों के मारे कुछ दिखाई ही नहीं दे रहा था। कुछ जगहों पर—जहाँ जहाँ बादलों की छाया पृथ्वी पर पड़ती थी और वृक्षों की हरियाली के साथ मिल गई थी—ऐसा प्रतीत होता था कि नीलाम्बर आकाश पृथ्वी पर उतर गया है। अन्य जगहों पर—जहाँ धूप और पृथ्वीतल में बादल बीच की रुकावट नहीं बने थे, वहाँ के पहाड़ों पर छोटी छोटी बूटियाँ उगी हुई दिखाई देती थीं और बीच बीच में जहाँ शायद नंगी चट्टानें थीं, मालूम होता था कि किसी सुन्दर बाग़ में सफ़ेद सफ़ेद सड़कें हैं।

अब हमने एक नदी पार की, जिसकी चौड़ाई एक गज़ से और अधिक नहीं जान पड़ती थी।

अब जहाज़ इतना ऊँचा चढ़ गया कि यह निश्चय करना आसान नहीं था कि अभी वह और भी ऊँचा जा रहा है वा नहीं? मालूम होता था, अब यह बीच बीच में कभी ऊँचा और कभी नीचा जा रहा है। चारों ओर बादल ही बादल थे। कहीं कुछ दिखाई नहीं देता था।

नीचे के झरोखे से जो हवा आ रही थी उसने टाँगें ठंडी कर दीं और ऊपर के झरोखे से आनेवाली ने सिर को। कपड़ा सँभालने की, पाँवों को ज़रा गर्म रखने की ज़रूरत जान पड़ने लगी। एक विश्वस्त आदमी से पूछा।

उसने कहा कि हम समुद्र-तल से १४,००० फ़ुट ऊँचे उड़ रहे हैं।

ज़रा ज़रा सिर दुखने लगा, और सरदी भी लग रही थी। मैंने अपना दूसरा चीवर सिर पर गुलूबन्द की तरह लपेट लिया। इससे सिर को आराम मिला और हवा भी कम लगने लगी। ज़्यादा देर जहाज़ की यात्रा करनेवालों को कुछ न कुछ गर्म कपड़ा पहने रहना मुफ़ीद है।

अब दरिया, पहाड़, जंगल—सब पार हो गये। मर्तबान की खाड़ी पर से—समुद्र पर से—गुज़र रहे थे। नीचे भी 'नीला आकाश' था, और ऊपर भी 'नीला आकाश'। निचला 'नीला' तो जल-मय था, और ऊपर का 'नीला'?

तो अब जहाज़ के अन्दर के बारे में भी कुछ लिख दूँ। चौदह आरामदेह सीटों का यह लम्बा कमरा था। हर सीट के साथ एक खिड़की थी, जिसमें बाहर देखने के लिए शीशा लगा हुआ था। शीशे में से सब कुछ साफ़ साफ़ दिखाई देता था। सीटों के ऊपर सामान रखने के लिए एक जाली थी। जहाज़ में चौदह सीटें थीं, लेकिन यात्रियों की संख्या कुल आठ थी और सफ़र भी कुल दो घंटे का था। इसलिए हम लोगों का अधिक सामान अन्य सीटों पर ही पड़ा था।

सीटों के पिछली ओर पेशाब आदि के लिए एक छोटा-सा कमरा था। यदि उसका प्रबन्ध रेलगाड़ियों की ही तरह का होता तो कोई न कोई यात्री अवश्य किसी न किसी गाँव पर कृपा करते चलते। लेकिन हवाई जहाज़ के निचले हिस्से में मैले के इकट्ठा होने का प्रबन्ध था।

उसके साथवाले कमरे में कुछ खाद्य-सामग्री रक्खी थी। पिछली ओर डाक और दूसरे भारी बोझे रखने के लिए कमरा था। वायु-यान का सारथी आगे बैठा था। उसका कमरा बन्द होने से कुछ दिखाई नहीं देता था।

अब जहाज़ कुछ नीचे उतर आया। झरोखे से आनेवाली हवा उतनी ठण्डी नहीं रह गई थी। समुद्र ख़त्म हो गया। हम ज़ोरों से झटके खा-खाकर नीचे उतर रहे थे।

खेतों की क्यारियाँ और उनसे गुज़रनेवाली पानी की नालियाँ स्पष्ट दिखाई दे रही थीं। एक-आध मिनट से भी कम में दरिया पीछे रह गया। अब स्थान स्थान पर स्तूप दिखाई दे रहे थे। हम निश्चित रूप से ब्रह्मदेश में थे।

सड़कों पर चलनेवाले आदमी, खेतों में चरनेवाले पशु, वृक्षों पर बसनेवाले पक्षी तक दिखाई देने लग गये। हरे हरे धान की क्यारियों में से गुज़रनेवाली सड़कें अत्यन्त सुन्दर प्रतीत हो रही थीं, रंगून का बड़ा दरिया आ गया। अब दूसरी ओर शहर स्पष्ट दिखाई दे रहा था। प्रसिद्ध श्वेदागान चैत्य के दर्शन हुए।

अब हम नगर के ऊपर से गुज़रते हुए नीचे उतर रहे थे। और यह लो सवा दो घंटे तक गगनविहारी बने रह कर हम पृथ्वी पर उतर आये। इस प्रकार हमारी स्याम-यात्रा समाप्त हो गई।

उपेक्षित दीप

लेखक, श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'

आज शिखा प्रज्वलित हुई है
इस दीपक की अन्तिम बार।
मेरे चारों ओर विदा का
विस्तृत हुआ करुण संसार॥
पूरी एक रात भी जलकर किया न कुटिया का शृङ्गार।

अब बुझता हूँ किसी हृदय ने
डाली नहीं स्नेह की धार॥
जग तो बिजली पर मरता है,
जहाँ स्नेह का नहीं निशान।
मेरी इस छोटी-सी लौका, यहाँ नहीं हो सकता मान॥

घर, खेत और दरिया पीछे रहते जा रहे थे उससे
मान होता था कि वह कितना तेज़ जा रहा है।
म में गमनागमन ज़्यादातर जल-मार्ग से ही होता है,
बात तभी समझ में आई, जब आकाश-मार्ग से जाते
हमने देखा कि सारे देश में पानी ही पानी है।
बड़े घर, लकड़ी की छोटी छोटी डिबियों से भी छोटे
पड़ रहे थे। बाग़ों के हरे हरे वृक्षों और खेतों के
की ऊँचाई में एक-आध इंच से अधिक का अन्तर
जान पड़ता था।

जहाज़ हलके हलके और ऊपर उठता गया था।
हम रुई के कुछ कुछ सफ़ेद गालों के पास गुज़र रहे
ये तो हमारे बादल थे।

अब हम बादलों से भी ऊपर उड़ रहे थे। जिस
ार भू-लोकवासियों को बादलों के कारण आकाश
ाई नहीं देता, उसी प्रकार हमें अब पृथ्वी नहीं
ाई दे रही थी।

अब हम और ऊपर चले गये। खेतों और वृक्षों में
ेज़ करना कठिन हो गया। जिन बादलों को हम आकाश
समझते रहे थे वे पृथ्वी पर चलते दिखाई दे रहे थे।

अब हमारी भेंट इन्द्रधनुष से हो गई। देखते देखते
भी विलीन हो गया। छोटे छोटे झरोखों में से आने-
ती हवा ठंडी से ठंडी होती गई। अब हम पृथ्वी से
ुत ऊपर हो गये। आकाश की नीली सतह पर जितने
दल मँडरा रहे थे, लगभग उतने ही हमसे बहुत नीचे
वी पर थे। इन्द्र-धनुष बार बार दिखाई देता और
र विलीन हो जाता।

जहाज़ आराम से जा रहा था। अन्दर आवाज़ उससे
ड़ थोड़ी ही अधिक सुनाई देती थी, जितनी योरप
एक्सप्रेस गाड़ियों में। तो भी सिर में कुछ भारीपन-सा
लूम होने लगा। एकबारगी जहाज़ ने एक छलाँग-
लगाई। ज़रा झटके के साथ नीचे को गया। उससे
ा-सा दिल को धक्का लगा, लेकिन डर बिलकुल नहीं
ा। पचास साल से दुनिया वायुयानों की यात्रा कर
ी है। उससे मन में कुछ विश्वास हो गया है।

अब हम और भी ऊँचे जा रहे थे। कहीं कोई बस्ती दिखाई नहीं देती थी, जंगल में हरियाली की ऊँची-नीची लकीरें खिंची जान पड़ती थीं। शास्त्री जी ने कहा, अब हम हरियाली से ढँके पर्वतों के ऊपर से गुज़र रहे हैं।

अनेक बार जहाज़ बादलों के पेट को चीर कर निकल चुका था। छोटे-से झरोखे में से बादलों ने आकर अन्दर के शीशे को मैला कर दिया। रूमाल से साफ़ करने पर कुछ दिखाई देने लगा।

अभी हम ऊँचे ही ऊँचे जा रहे थे। बीच में कहीं कहीं ज़रा हलका-सा झटका लग जाता था। यद्यपि साँस अच्छी तरह से आ रही थी, तो भी हवा का हलकापन महसूस होने लगा था। बीच बीच में लम्बी साँस लेने को जी चाहता था।

अब अधिक स्थानों पर तो बादलों के मारे कुछ दिखाई ही नहीं दे रहा था। कुछ जगहों पर—जहाँ जहाँ बादलों की छाया पृथ्वी पर पड़ती थी और वृक्षों की हरियाली के साथ मिल गई थी—ऐसा प्रतीत होता था कि नीलाम्बर आकाश पृथ्वी पर उतर गया है। अन्य जगहों पर—जहाँ धूप और पृथ्वीतल में बादल बीच की रुकावट नहीं बने थे, वहाँ के पहाड़ों पर छोटी छोटी बूटियाँ उगी हुई दिखाई देती थीं और बीच बीच में जहाँ शायद नंगी चट्टानें थीं, मालूम होता था कि किसी सुन्दर बाग़ में सफ़ेद सफ़ेद सड़कें हैं।

अब हमने एक नदी पार की, जिसकी चौड़ाई एक गज़ से और अधिक नहीं जान पड़ती थी।

अब जहाज़ इतना ऊँचा चढ़ गया कि यह निश्चय करना आसान नहीं था कि अभी वह और भी ऊँचा जा रहा है वा नहीं? मालूम होता था, अब वह बीच बीच में कभी ऊँचा और कभी नीचा जा रहा है। चारों ओर बादल ही बादल थे। कहीं कुछ दिखाई नहीं देता था।

नीचे के झरोखे से जो हवा आ रही थी उसने टाँगें ठंडी कर दीं और ऊपर के झरोखे से आनेवाली ने सिर को। कपड़ा सँभालने की, पाँवों को ज़रा गर्म रखने की ज़रूरत जान पड़ने लगी। एक विश्वस्त आदमी से पूछा।

उसने कहा कि हम समुद्र-तल से १४,००० फ़ुट ऊँचे उड़ रहे हैं।

ज़रा ज़रा सिर दुखने लगा, और सरदी भी लग रही थी। मैंने अपना दूसरा चीवर सिर पर गुलूबन्द की तरह लपेट लिया। इससे सिर को आराम मिला और हवा भी कम लगने लगी। ज़्यादा देर जहाज़ की यात्रा करनेवालों को कुछ न कुछ गर्म कपड़ा पहने रहना मुफ़ीद है।

अब दरिया, पहाड़, जंगल—सब पार हो गये। मर्तबान की खाड़ी पर से—समुद्र पर से—गुज़र रहे थे। नीचे भी 'नीला आकाश' था, और ऊपर भी 'नीला आकाश'। निचला 'नीला' तो जल-मय था, और ऊपर का 'नीला'?

तो अब जहाज़ के अन्दर के बारे में भी कुछ लिख दूँ। चौदह आरामदेह सीटों का यह लम्बा कमरा था। हर सीट के साथ एक खिड़की थी, जिसमें बाहर देखने के लिए शीशा लगा हुआ था। शीशे में से सब कुछ साफ़ साफ़ दिखाई देता था। सीटों के ऊपर सामान रखने के लिए एक जाली थी। जहाज़ में चौदह सीटें थीं, लेकिन यात्रियों की संख्या कुल आठ थी और सफ़र भी कुल दो घंटे का था। इसलिए हम लोगों का अधिक सामान अन्य सीटों पर ही पड़ा था।

सीटों के पिछली ओर पेशाब आदि के लिए एक छोटा-सा कमरा था। यदि उसका प्रबन्ध रेलगाड़ियों की ही तरह का होता तो कोई न कोई यात्री अवश्य किसी न किसी गाँव पर कृपा करते चलते। लेकिन हवाई जहाज़ के निचले हिस्से में मैले के इकट्ठा होने का प्रबन्ध था।

उसके साथवाले कमरे में कुछ खाद्य-सामग्री रक्खी थी। पिछली ओर डाक और दूसरे भारी बोझे रखने के लिए कमरा था। वायु-यान का सारथी आगे बैठा था। उसका कमरा बन्द होने से कुछ दिखाई नहीं देता था।

अब जहाज़ कुछ नीचे उतर आया। झरोखे से आनेवाली हवा उतनी ठण्डी नहीं रह गई थी। समुद्र ख़त्म हो गया। हम ज़ोरों से झटके खा-खाकर नीचे उतर रहे थे।

खेतों की क्यारियाँ और उनसे गुज़रनेवाली पानी की नालियाँ स्पष्ट दिखाई दे रही थीं। एक-आध मिनट से भी कम में दरिया पीछे रह गया। अब स्थान स्थान पर स्तूप दिखाई दे रहे थे। हम निश्चित रूप से ब्रह्मदेश में थे।

सड़कों पर चलनेवाले आदमी, खेतों में चरनेवाले पशु, वृक्षों पर बसनेवाले पक्षी तक दिखाई देने लग गये। हरे हरे धान की क्यारियों में से गुज़रनेवाली सड़कें अत्यन्त सुन्दर प्रतीत हो रही थीं, रंगून का बड़ा दरिया आ गया। अब दूसरी ओर शहर स्पष्ट दिखाई दे रहा था। प्रसिद्ध श्वेदागान चैत्य के दर्शन हुए।

अब हम नगर के ऊपर से गुज़रते हुए नीचे उतर रहे थे। और यह लो सवा दो घंटे तक गगनविहारी बने रह कर हम पृथ्वी पर उतर आये। इस प्रकार हमारी स्याम-यात्रा समाप्त हो गई।

उपेक्षित दीप

लेखक, श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'

आज शिखा प्रज्वलित हुई है
इस दीपक की अन्तिम बार।
मेरे चारों ओर बिदा का
विस्तृत हुआ करुण संसार॥
पूरी एक रात भी जलकर किया न कुटिया का शृङ्गार।

अब बुझता हूँ किसी हृदय ने
डाली नहीं स्नेह की धार॥
जग तो बिजली पर मरता है,
जहाँ स्नेह का नहीं निशान।
मेरी इस छोटी-सी लौका, यहाँ नहीं हो सकता मान॥

चन्दबरदायी और जयानक कवि

लेखक, साहित्याचार्य पंडित मथुराप्रसाद दीक्षित विद्यावारिधि

प्रचलित 'रासो' विश्वास-योग्य नहीं है। उसकी अपेक्षा विद्वानों ने पृथ्वीराज-विजय-काव्य को प्रामाणिक माना है। परन्तु इस लेख के विद्वान लेखक का कहना है कि पृथ्वीराज विजय-काव्य प्रामाणिक नहीं है, साथ ही रासो की विश्वासयोग्य कापी भी मिल गई है, अतएव विद्वानों को जयानक की अपेक्षा चन्द का महत्त्व पूर्ववत् स्थिर रखना चाहिए।

हिन्दुओं के माननीय अन्तिम राजाधिराज पृथ्वीराज थे। उनका प्रामाणिक इतिहास चन्द के 'पृथ्वीराजरासो' में मिलता है। परन्तु जो 'रासो' प्रचलित है वह विश्वसनीय नहीं है, उसका अधिकांश प्रक्षिप्त है। परन्तु सौभाग्यवश प्रक्षेपादि दोष-रहित रासो की एक प्रति मिल गई है। इसका प्रचलित रासो से मिलान करने पर चन्द की कविता और प्रक्षिप्त कविता का भेद प्रकट हो जाता है। नागरी-प्रचारिणी, काशी, और कलकत्ता से जो रासो छपे हैं उन दोनों में प्रक्षेप है, और प्रक्षेप भी ऐसी घटनाओं का है जिन घटनाओं का पृथ्वीराज जी के संवतों से और उन घटनाओं से बहुत ही अन्तर है, इसी से महामहोपाध्याय हीराचन्द ओझा जी ने कह दिया है कि रासो जाली है, चन्द का बनाया हुआ नहीं है; और चन्दकवि पृथ्वीराज जी के यहाँ नहीं था, इत्यादि इत्यादि।

ओझा जी यह भी कहते हैं कि पृथ्वीराज जी के यहाँ प्रधान पण्डित जयानक कवि था, और उसने जो 'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' लिखा है वह ऐतिहासिक पुस्तक है। वह काव्य पृथ्वीराज जी के समकाल में लिखा गया है और उसमें वर्णित घटनायें सत्य हैं। ओझा जी ने कहा है, इसलिए लोगों ने मान लिया, और किसी ने ननु न च नहीं किया, और जिन लोगों ने कुछ कहा भी उन्होंने जयानक का काव्य अच्छी तरह नहीं देखा था और न प्रक्षेपादि दोषरहित विशुद्ध रासो ही उनके दृष्टिगोचर हुआ था। अतएव विद्वानों को इस विषय पर निष्पक्ष होकर विचार करना चाहिए। मैं निश्चय से कहता हूँ कि ओझा जी का कथन ठीक नहीं है।

पृथ्वीराज-विजय-काव्य के श्लोक उद्धृत करके मैं दिखाऊँगा कि जयानक कवि न पृथ्वीराज जी के यहाँ था और न पृथ्वीराज जी के समकाल में ही हुआ है। इसके विपरीत जयानक श्लेष रूप से चन्द-कवि का खुद वर्णन करता हुआ कहता है कि चन्द उत्तम कवि है। यही नहीं, जयानक ने कुछ ऐसी बातें उक्त काव्य में लिखी हैं जिनसे यह निश्चय होता है कि जयानक ने कभी अजमेर देखा भी नहीं था। जान पड़ता है कि जयानक का विद्वानों ने अपमान किया था और राजा ने उनसे उसकी रक्षा नहीं की थी। यदि ऐसा हुआ था और वह पृथ्वीराज के यहाँ था तो वह पृथ्वीराज-विजय कैसे लिखता, यह सोचने की बात है।

उसने पृथ्वीराज-विजय-काव्य में मङ्गलाचरण के उक्त प्रसंग में पूर्वकालिक घटना का संकेत इस प्रकार किया है—

सत्काव्यसंहारविधौ खलानां
दीप्तानि वह्नेरपि मानसानि।
भासस्य काव्यं खलु विष्णुधर्मात्
सोऽप्याननात्पारतवन्मुमोच॥

१ सर्ग, पत्र ३

अर्थात् दुष्टों के मन उत्तम काव्य का विनाश करने में अग्नि से भी बढ़ कर हैं। तो क्या जयानक का कोई काव्य नष्ट कर दिया गया था, जिससे उत्तप्त होकर वह ऐसा कह रहा है। यदि साधारण रूप से दुष्ट-निन्दामात्र में ही उक्त श्लोक का भाव लिया जाय तो भी यह अवश्य प्रतीत होता है कि उसके किसी काव्य की निन्दा अविद्वानों ने की थी। परन्तु उक्त श्लोक का सत्काव्यसंहारविधौ पद यही सूचित करता है कि वैसा व्यवहार उसके ही साथ हुआ था। वह पण्डितों को कवियों से पृथक् बताता हुआ कहता है—

कवित्वपाण्डित्यतटद्वयेन
सरस्वती सिन्धुरिव प्रवृत्ता।
एकत्र पीयूषमयो रसोऽय-
मन्यत्र मात्सर्यविषात्मकोऽस्याः॥

तात्पर्य यह है कि जैसे नदी के दो किनारे हैं उसी प्रकार सरस्वती के भी कवित्व और पाण्डित्य दो किनारे हैं। कवित्व के किनारे पर अमृतमय रस बह रहा है, और पाण्डित्य के तरफ़ मत्सरतारूप विष बह रहा है।

इससे भी यही प्रतीत होता है कि किसी विद्वान् ने उसकी पुस्तक का खण्डन आदि किया, जिसका वह उत्तर नहीं दे सका। वह कवियों को विद्वानों की कोटि से पृथक् और नीचा मानता है। जयानक का यह कहना कि कवित्व-पाण्डित्य दो तट हैं और पाण्डित्य तट पर मत्सरता-रूप विष बह रहा है, अनुचित है। इससे स्पष्ट है कि उसके साथ विद्वानों ने कुछ अप्रिय व्यवहार किया था। वह उत्तप्त होकर आगे कहता है—

ज्वलन्ति चेद्दुर्जनसूर्यकान्ताः
किं कुर्वते सत्कविसूर्यभासाम्।
महीभृतां दोः शिखरेऽनुरूढां
पार्श्वस्थितां कीर्तिलतां दहन्ति॥ पत्र ६

अर्थात् यदि दुर्जन जलते हैं तो उत्तम कवियों का कुछ नहीं बिगाड़ सकते। प्रत्युत वे जिन राजाओं के पास रहते हैं उनकी भुजदण्ड-समुत्पन्न कीर्तिलता को ही जलाते हैं। ऐसी दशा में यह विचार करने की बात है कि यदि जयानक पृथ्वीराज के यहाँ रहा होता तो वह पृथ्वीराज को नायक बनाकर अपना काव्य न लिखता। इसमें सन्देह नहीं है कि जयानक जहाँ रहता था उस राजा के यहाँ उसका अपमान अवश्य हुआ था। इसी आशय को छः श्लोकों-द्वारा वर्णन करके वह कहता है—

मागाद्दिवं दुर्मतिरात्तविद्यो
न वेद कर्तव्यमिहापि लोके।
खमुत्पतन्मातिमयः सपक्षाः
स्थलेऽपि जानन्ति न जातु यातुम्। पत्र १२

अर्थात् पढ़ा-लिखा दुष्ट (दुष्टता के कारण मर कर) स्वर्ग को न जाय, परन्तु वह लौकिक व्यवहार को भी नहीं जानता है। वह दृष्टान्त-द्वारा उसका समर्थन करता है कि पक्षयुक्त होकर भी मछलियाँ आकाश में न उड़ सकें, परन्तु वे ज़मीन पर भी चलना नहीं जानती हैं।

वह स्पष्ट करता हुआ आगे लिखता है—

कवीनवाप्यापि मनोज्ञभावान्
राजा न यः पाति कुपण्डितेभ्यः।
उपेक्षते केलिशुकानवध्यान्
क्रीड़ा विडालैर्भुवि हन्यमानान्॥

अर्थात् जो राजा उत्तम कवियों की दुष्ट पण्डितों से रक्षा नहीं करता है वह राजा मानो पालतू बिल्लों से मारे जाते हुए उत्तम शुकों की रक्षा नहीं करता है। इससे अधिक स्पष्ट और वह क्या कहता? संभवतः किसी विद्वान् ने राजा के समक्ष ही उस पर हाथ तक चला दिया था, जिसका वह स्वयं उल्लेख करता है—

दिक्पालतेजोमयमूर्तिभाजां
कवीन् जिघांसन्ति बुधाः पुरो यत्।
राज्ञामिदं तद् वरुणोपदिष्टं
मात्स्यं प्रति न्यायमुपेक्षकत्वम्॥ पत्र १४

अर्थात् दिक्पाल-स्वरूप राजा के सामने ही पण्डित लोग कवियों को मारते हैं। फिर भी राजा उपेक्षा

करता है। यह उपेक्षा करना वरुण ने मात्स्य न्याय राजा को सिखाया है। तात्पर्य यह कि वरुण के घर में वरुण के समक्ष ही एक बड़ी मछली छोटी मछली को खाती है, परन्तु वरुण उपेक्षा-बुद्धि से कुछ नहीं कहता। वही अपना मात्स्य न्याय वरुण ने राजा को सिखा दिया है। कहने का आशय यह कि राजा देख रहा है कि बड़े बड़े विद्वान् कवियों को पीट रहे हैं फिर भी वह कुछ नहीं कहता, उपेक्षा करता है। यह वरुण की ही शिक्षा है। इस अप्रासङ्गिक वर्णन को जयानक ने तेईस श्लोकों में कहा है। इससे स्पष्ट है कि उसके साथ कुछ विद्वानों ने अवश्यमेव दुर्व्यवहार किया था, साथ ही राजा के समक्ष में वह दुर्व्यवहार हुआ था।

वास्तव में जयानक पृथ्वीराज के यहाँ नहीं था। जो लोग कहते हैं कि वह पृथ्वीराज के यहाँ था उनको संभवतः निम्नश्लोक से भ्रम हुआ है—

गतस्पृहोऽप्यादिकविः प्रबन्धं
बबन्ध रामस्य भविष्यतोऽपि।
संमान्यमानस्तु नरेश्वरेण
मादृक् कथं काव्यविधावुदास्ताम्। पत्र १६

अर्थात् राजा से सम्मानित मेरे सदृश पुरुष काव्य बनाने से क्यों उदासीन रहेगा, जब होनेवाले रामचन्द्र जी के काव्य को वाल्मीकि जी ने पहले ही बना दिया था? तात्पर्य्य यह कि जब मुझे वृत्ति मिली है तब मैं काव्य बनाने से क्यों उदासीन रहूँ? मैं भी पृथ्वीराज जी का वर्णन करूँगा। इससे यह नहीं निकलता है कि वह पृथ्वीराज जी के ही यहाँ था अथवा पृथ्वीराज जी ने उसको वृत्ति देकर अपना काव्य बनवाया था। इस श्लोक के साथ पूर्व-घटना का संवाद करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि वह प्रथम किसी अन्य राजा के यहाँ रहा था। वहाँ उसके साथ दुर्व्यवहार हुआ। अतएव वहाँ से निकलकर वह अन्य किसी नरेश के यहाँ जाकर रहा और वहाँ पृथ्वीराज को नायक बनाकर 'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' बनाया। वह कहता है—

नरेश्वराणामुपमानतायै
कवीश्वराणामपि वर्णनाय।
जगाम यो राममयं शरीरम्
श्रोता स एवास्तु हृदि स्थितो मे॥

अर्थात् जो पृथ्वीराज राजाओं की उपमानता के लिए और कवीश्वरों के वर्णन करने के लिए रामस्वरूप को प्राप्त हुआ था वही पृथ्वीराज मेरे हृदय में ठहरा हुआ इस काव्य का सुननेवाला हो। अब यहाँ 'जगाम' इस परोक्ष भूतकालिक क्रिया के प्रयोग से यह प्रतीत होता है कि जयानक से बहुत पहले पृथ्वीराज हो चुका है। यदि उस समय पृथ्वीराज जीता होता तो वह परोक्ष भूतकालिक क्रिया का प्रयोग न करके 'जागर्ति', 'अस्ति', 'विन्दति', 'विद्यमानः', 'वर्तते', इत्यादि किसी वर्तमान कालिक क्रिया-द्वारा वर्णन करता। दूसरी बात यह है कि यदि पृथ्वीराज जीता होता तो जयानक पृथ्वीराज को 'मे हृदि स्थितः एव श्रोता अस्तु' कभी न कहता। कवियों का वर्णन व्यङ्ग्य से ही हुआ करता है। परन्तु यहाँ तो जयानक परोक्ष कालिक क्रिया और मेरे हृदय में ठहरा हुआ ही सुननेवाला हो इन दो बातों से स्पष्ट कहता है कि अब पृथ्वीराज जी नहीं हैं और मैं कथावशेष पृथ्वीराज जी का वर्णन करता हूँ। फिर भी न मालूम महामहोपाध्याय हीराचन्द ओझा जी को यह धुन कैसे सवार होगई कि 'जयानक पृथ्वीराज के यहाँ था' और उनके समकाल में उक्त काव्य बनाया गया। जयानक तो परोक्षभूत के प्रयोग-द्वारा और हृदि स्थित-द्वारा पृथ्वीराज की अविद्यमानता सूचित करता है। अस्तु।

जयानक ने 'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' में श्लेषरूप से चन्द कवि का भी उल्लेख किया है। वह पञ्चम सर्ग में वंश का वर्णन करता हुआ कहता है कि विग्रहराज बड़े प्रतापी तेजस्वी हुए, उनके चन्द्रराज हुए। फिर—

तनयश्चन्द्रराजोऽस्य चन्द्रराज इवाभवत्।
संग्रहं यः सुवृत्तानां सुवृत्तानामिव व्यधात्॥ १५॥

अर्थात् विग्रहराज के चन्द्र नामक कवि के सदृश चन्द्रराज नामक पुत्र हुआ, जिसने उत्तम, वृत्त, भुजंगप्रयात, साटक, शार्दूलविक्रीडित आदि छन्दों के समान सुवृत्त, सदाचारी पुरुषों का संग्रह किया। इसकी व्याख्या करते हुए जोनराज ने भी कहा है—"चन्द्रो ग्रन्थकारः शोभनानां वृत्तानां वसन्ततिलकादीनां संग्रहम् अकरोत्।"

अब ओझा जी बताने की कृपा करें कि यह चन्द्र कवि कौन है, इस पद्य से स्पष्ट है कि जयानक से पूर्व 'चन्द्र-कवि' हुआ है। और यह वही 'चन्द्र कवि' है जो पृथ्वीराज का अभिन्न हृदय मित्र था। कदाचित् इसी लिए पृथ्वीराज जी का काव्य लिखते हुए जयानक ने प्रकारान्तर से पृथ्वीराज के अभिन्न हृदय मित्र का वर्णन कर दिया है।

अब इससे यह निर्विवाद है कि जयानक पृथ्वीराज के यहाँ नहीं था, किन्तु चन्द ही था। और जयानक पृथ्वीराज के समकाल में भी नहीं हुआ है, किन्तु पृथ्वीराज के बाद हुआ है। संभवतः अब ओझा जी तथा उनके अनुयायी निष्पक्षपात विचार करके 'पृथ्वीराज-रासो' को चन्दकृत मानने में संकोच न करेंगे, और प्रक्षिप्त छन्दों के आधार पर 'रासो' में ऐतिहासिक घटनाओं का जो विरोध वे दिखाते हैं वह विरोध प्रक्षेपादि दोषरहित शुद्ध रासो के प्रकाशित होने से स्वतः दूर हो जायगा। ओझा जी कहते हैं कि जयानक ने जिस वंशावली का वर्णन किया है वह ठीक है, साथ ही उसका चौहानों को सूर्यवंशी लिखना भी ठीक है, क्योंकि वह शिलालेखों के अनुकूल है, और चन्द ने जो वंशावली लिखी है वह ठीक नहीं है। अब इसका निर्णय माननीय ओझा जी ही पर मैं छोड़ता हूँ। इस बात का वे ही निर्णय करेंगे कि जो पृथ्वीराज का अभिन्नहृदय और भाट है, वह ठीक ठीक वंशावली का वर्णन करेगा अथवा जो सैकड़ों कोस दूर रहता हो और सुने-सुनाये कुछ नामों को ही उलट-पलट कर कहता है वह ठीक वर्णन करेगा। जब यह निर्विवाद सिद्ध है कि चन्द पृथ्वीराज के यहाँ था तब यह भी निश्चित है कि चन्द ने जिस वंशावली का वर्णन किया है वही ठीक है। मैं आगे कतिपय श्लोकों को उद्धृत करके दिखाऊँगा कि जयानक ने वंशावली में कल्पित नामों का उल्लेख किया है। साथ ही यह भी कि पृथ्वीराज-विजय-काव्य का वर्णन इतिहासादि के विरुद्ध है।

जयानक कवि ने प्रथम मङ्गलाचरण के अनन्तर कवियों के साथ विद्वानों के व्यवहार को दिखाकर प्रायः सर्ग की समाप्ति तक पुष्कर-राज का वर्णन किया है। पुष्कर-राज के माहात्म्य के वर्णन में वह कहता है कि आज-कल वहाँ म्लेच्छ मातङ्ग अमुक अमुक कार्य कर रहे हैं। यह वर्णन उस समय का है जब चौहान नहीं उत्पन्न हुआ था। इस अत्याचार को विष्णु भगवान् के पास देवता आदि सुना रहे हैं कि आपके प्यारे पुष्कर-राज में म्लेच्छादि हिंसा आदि कर रहे हैं, जिनसे आप उत्पन्न होकर उनका नाश करें। वह कहता है-

निवासभूमिर्मम पुष्करं त-
दास्कन्दि मातङ्गमहाभयेन।
१ सर्ग, २४ पत्र।

यहाँ मातङ्ग शब्द म्लेच्छ का वाचक है। क्या चौहान की उत्पत्ति से पूर्व उधर कोई यवनों का घोर उपद्रव हुआ था? क्या इन घटनाओं का उल्लेख देखकर भी ओझा जी इस काव्य को ऐतिहासिक मानते हैं?

वह आगे कहता है--

तत्राधुना देवगृहाग्रहार-
हिंसाक्रमं म्लेच्छचमूश्छिनत्ति।

इसी प्रकार और भी कई श्लोकों में उसने म्लेच्छोपद्रव का वर्णन किया है। देखो—

वेविश्यतेऽवश्यमुपान्तभाजा-
मुच्छिष्टमप्यद्य जनङ्गमानाम्॥

तथा—मातङ्गवन्दी कृतविप्रवाष्पैः
कोष्णाद्य सा पुष्करकूललेखा।

तथा--'मज्जन्ति तत्राधमपुष्पवत्यः'
पिबन्ति तान्यद्य पयांसि पापाः॥

इत्यादि अनेक श्लोकों के द्वारा यवनों का लक्ष्य करके वह उपद्रवों का वर्णन करता है। क्या इतने पर भी ओझा जी इस ग्रन्थ को ऐतिहासिक और प्रामाणिक मानेंगे? पुष्कर-राज जी की बात तो दूर रही संभवतः चहुआन की उत्पत्ति से पहले कोई भी म्लेच्छ न इधर आया और न पूर्वोक्त प्रकार का उपद्रव ही पुष्कर-राज में हुआ। इससे यह सिद्ध है कि प्रथम सर्ग में जो जयानक ने कहा है वह इतिहास की दृष्टि से असंबद्ध और अनुपादेय है।

द्वितीय सर्ग में जयानक ने चौहान को सीधे सूर्यमण्डल से निकला हुआ माना है। किसी का पुत्र हो, अवतार हों, यह कुछ नहीं, सीधा अस्त्र-शस्त्र आदि से सुसज्जित मनुष्य सूर्यमण्डल से उतर आया, और इसी कवि-कल्पना के भरोसे पर ओझा जी चौहान को सूर्यवंशी मानते हैं। ऐसा लोक-विरुद्ध वर्णन जयानक ही कर सकता है और ओझा जी ही उसे प्रामाणिक भी मान सकते हैं। उस पर तुर्रा यह कि जयानक प्रामाणिक है और इतिहास-सम्बन्धिनी सत्य घटना का उल्लेख करता है। ऐसी असंबद्ध कल्पना किसी भी कवि ने न की होगी, राम, कृष्ण आदि ने अवतरित होकर दुष्टों का संहार किया, परन्तु अजन्मा सीधा सूर्य के समान तेजोमय स्वरूपधारी भूमण्डल में साक्षात् सूर्य अथवा विष्णु मनुष्यरूप से आवें, यह सूझ जयानक को हुई और उसके आधार पर, चौहानों को सूर्यवंशी मानने की धुन ओझा जी को हुई, जो सर्वथा अनुचित और लोकशास्त्र-विरुद्ध है। यदि आप यह कहें कि चन्द ने भी तो साक्षात् अग्नि से उत्पत्ति बताई है जो अलौकिक है। इसका उत्तर सीधा है कि इसमें भविष्यपुराण बीज है, और व्यास जी भी इस अलौकिक घटना का अपने ऊपर उत्तरदायित्व न रखते हुए कहते हैं कि वेदमन्त्र के प्रभाव से प्रमार आदि चारों क्षत्रिय उत्पन्न हुए। उसी मूल को लेकर चन्द ने चौहान आदि का अग्नि से समुत्पन्न होना लिखा है। और ओझा जी का शिलालेख के प्रमाण-द्वारा इनको सूर्यवंशी कहना ठीक नहीं है। शिलालेख केवल समकालीन घटना में प्रमाण हो सकता है।

जयानक ने द्वितीय सर्ग में चौहान का सीधा सूर्यमण्डल से उत्पन्न होना लिखा है। उसका यह वर्णन कवितारूप में नहीं है, किन्तु वस्तुस्थितिरूप में है। और उस चौहान के देखने के लिए ब्रह्मा-विष्णु आये। वह कहता है—

महात्मनः षोडशभिर्विलोचनै-
महाभिषेकं विधिना सहाच्युतः ॥३७॥

अर्थात् ब्रह्मा के साथ विष्णु ने घटरूपी सोलह विलोचनों से अभिषेक किया। इन दो के सोलह नेत्र कैसे हो गये? उसी जगह एक और ऐतिहासिक घटना है। विष्णु ने एक बार महादेव जी से सुदर्शन चक्र माँगने के लिए हाथ पसारा था और अब दूसरी बार चौहान के आगे संसार की अभय-दक्षिणा माँगने के लिए हाथ पसारा। वह कहता है—

सुदर्शनस्य प्रतिपादकं प्रति
त्रिनेत्रमुत्तानितपूर्वमेकदा।
पुरोऽस्य विश्वाभयदक्षिणाकृते
प्रसारयामास करं जनार्दनः ॥४३॥

क्या ही बुद्धि को तिलाञ्जलि देकर जयानक ने यह कहा है? जो विष्णुस्वरूप चौहान हुआ उसी चौहान से विष्णु भगवान् भिक्षा माँगते हैं! अस्तु, संभवतः ऐसे ही असंबद्ध वर्णनों के कारण विद्वानों ने जयानक के काव्य को अनुपादेय और निन्द्य मानकर उसका तिरस्कार किया होगा। वास्तविक वस्तुस्थिति के वर्णन में उक्त प्रकार का वर्णन नितान्त अनुचित है। यही नहीं, किन्तु संपूर्ण प्रथम सर्ग का ऐसा ही असंबद्ध वर्णन है और द्वितीय सर्ग में भी ऐसा ही असंबद्ध असंभवित वर्णन है। ऐसे ही ग्रन्थ को ओझा जी सत्य इतिहास कहते हैं।

जयानक द्वितीय सर्ग के साठवें श्लोक में कहता है कि विष्णु भगवान् ने चौहान को स्यमन्तक मणि दी। व्याख्या करता हुआ जोनराज कहता है—"स्यमन्तकः सुवर्णस्रावी जाम्बवज्जयप्राप्तो मणिः"। स्यमन्तक मणि कृष्ण के पास थी। कब कृष्ण हुए और कब चौहान हुए? ठीक है, "कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा।" फिर चौहान को प्रधान नायक बनाकर ब्रह्मादिकों को उसके अभिषेक में बुलाया। परन्तु चौहान का किसी भी दैत्य से या म्लेच्छ के साथ युद्ध आदि नहीं हुआ और सातों द्वीपों को बिना गये, बिना लड़े, 'छूमन्तर' करके उसने अपने अधीन कर लिया! फिर चौहान के वंशजों का इन्द्र की सहायता करना इत्यादि असंभवित घटनाओं से युक्त द्वितीय सर्ग संपूर्ण हुआ है।

तदनन्तर तृतीय सर्ग से लेकर सप्तम सर्ग तक वंश-वर्णन करता हुआ जयानक ने नितान्त लोक-शास्त्र-विरुद्ध और असंबद्ध वर्णन किया है। चौहान के वंश के कई राजाओं को बिना नाम के ही वर्णन करके वह

वासुदेव नामक राजा का उल्लेख करता हुआ कहता है कि इसने 'शरभ' को मारा। क्या मारवाड़ में शरभ होता भी है? मेघदूत में शरभ आठ पैर का बताया गया है। उसके भी शिकार का पृथ्वीराजविजय-काव्य में वर्णन हो, यही जयानक का इतिहास है। चौहान का वंश-वृक्ष जयानक ने यह दिया है—

(१) चौहान (मध्य में कई राजा हुए) फिर—

(२) वासुदेव हुए। वासुदेव के—

(३) सामन्तराज। उसके—

(४) जयराज हुए।

(५) जयराज के विग्रहराज हुए। विग्रहराज के दो पुत्र हुए—

(६ चन्द्रराज और गोपेन्द्रराज।

(७) चन्द्रराज के दुर्लभराज हुए। इनके दो पुत्र हुए—

(८) गोविन्दराज और चन्द्रराज

महानुभाव हीराचन्द ओझा जी तथा उनके अनुयायी जयानक-कृत वंश-वर्णन को सत्य और प्रामाणिक मानते हैं। परन्तु क्या वह ठीक है? जो पिता का नाम वही पुत्र का! दुर्लभराज के पिता का भी नाम चन्द्रराज और पुत्र का नाम भी चन्द्रराज! ऐसा वर्णन व्यास जी ने कहीं नहीं किया है, और न मारवाड़-प्रान्त में ही कभी इस प्रकार नाम रक्खे जाते थे। खैर, आगे देखिए—

(९) गोविन्दराज के गोवाक हुआ। उसके

(१०) वाक्पतिराज हुआ। वाक्पतिराज ने आत्म-भुजाओं से एक सौ अट्ठासी संग्राम जीते, (सर्ग ५वाँ श्लोक ४१) और इसने पुष्करराज में प्रासाद बनवाया। परन्तु जोनराज अपनी व्याख्या में इस नाम के स्थान में विग्रहराज नाम देते हैं। इस काव्य की दोनों बातों के प्रामाण्य को ओझा जी ही समझ सकते हैं। जयानक ने यह नहीं सोचा कि एक सौ अट्ठासी संग्राम जीतने में कितने दिन लगेंगे। इसी को ओझा जी सत्य और ऐतिहासिक मानते हैं। अस्तु,

(११) वाक्पतिराज के विग्रहराज और दुर्लभराज हुए। विग्रहराज के—

(१२) गोविन्दराज और उसके—

(१३) वाक्पतिराज हुआ। यहाँ भी उसी प्रकार लोक-विरुद्ध नाम-कल्पना है, गोविन्दराज के पितामह का नाम वाक्पतिराज और फिर पुत्र का भी नाम वाक्पतिराज है। यदि जोनराज की व्याख्या की बात मान लें कि विग्रहराज का ही नाम वाक्पतिराज है तो भी गोविन्दराज के पिता का नाम वाक्पति और पुत्र का भी नाम वाक्पति होता है। इसी प्रकार (९) गोवाक के पितामह का नाम दुर्लभराज है और पौत्र का भी नाम दुर्लभराज है। ये सब कल्पित मिथ्या नाम हैं। कदाचित् जयानक के यहाँ इसी प्रकार नाम रक्खे जाते थे, इसी लिए वह इस प्रकार नामों की कल्पना करता है। अनन्तर वह कहता है कि वाक्पतिराज के—

(१४) वीर्यराम हुआ। इसको अवन्त्यधिपति भोजराज ने मारा। इसका छोटा भाई चामुण्डराय था। इसके—

(१५) दुर्लभराज और विग्रहराज दो पुत्र हुए। दुर्लभराज को मुसलमानों ने मार डाला। उस समय तक पुष्कर-राज में अथवा अजमेर की तरफ़ कोई मुसलमान नहीं गया था। अस्तु, विग्रहराज के—

(१६) पृथ्वीराज हुआ। उसके—

(१७) अजयराज हुआ। इसका एक सल्हण भी नाम था। अजयराज के—

(१८) अर्णोराज हुआ। इसका मुसलमानों के साथ घोर संग्राम हुआ। इसने हज़ारों मुसलमानों को मार और फिर उस भूमि को स्वच्छ बनाकर बड़ा भारी तालाब खुदा कर उसमें इन्दुनदी का जल लाकर डाला जो पुष्करराज के वन में से बहती है। इस प्रकार देश-काल और इतिहास के विरुद्ध इस (पृथ्वीराजविजय) काव्य में वर्णन किये गये हैं, अतएव यह सर्वथा अप्रामाणिक है और मनगढ़न्त है।

ब्रिटिश राज्य

लेखक, श्रीयुत मैथिलीशरण गुप्त

['प्रताप' में प्रकाशित एक सम्पादकीय नोट से हमें ज्ञात हुआ कि गत सिलवर जुबिली के अवसर पर श्रीयुत मैथिलीशरण गुप्त की 'शुभ कामना' शीर्षक रचना 'सरस्वती' में छापकर हमने उनके साथ अन्याय किया है क्योंकि वह रचना पुरानी थी और गुप्त जी को विशेष परिस्थिति में लिखनी पड़ी थी। नीचे हम गुप्त जी की एक दूसरी रचना 'भारत-भारती' के नवीन संस्करण से जो तेरहवीं बार सन् १९३४ में प्रकाशित हुआ है, उद्धृत करते हैं। देखें इस पर 'प्रताप'-संपादक जी क्या कहते हैं।—सं०]

अन्यायियों का राज्य भी क्या अचल रह सकता कभी ?
आख़िर हुए अगरेज़ शासक, राज्य है जिनका अभी।
सम्प्रति समुन्नति की सभी हैं प्राप्त सुविधाएँ यहाँ,
सब पथ खुले हैं, भय नहीं विचरा जहाँ चाहा वहाँ॥

अन्याय यवनों का हमें निज दोष से सहना पड़ा,
है किन्तु नारायण अहा ! न्यायी तथा सकरुण बड़ा !
देते हुए भी कर्म्म-फल हम पर हुई उसकी दया,
भेजा प्रसिद्ध उदार जिसने ब्रिटिश राज्य यहाँ नया॥

शासन किसी पर-जाति का चाहे विवेक-विशिष्ट हो,
सम्भव नहीं है किन्तु जो सर्वांश में वह इष्ट हो।
यह सत्य है, तो भी ब्रिटिश-शासन हमें सम्मान्य है,
वह सु-व्यवस्थित है तथा आशा-प्रपूर्ण, वदान्य है॥

सम्प्रति सभी साधन हमें हैं सुलभ आत्मविकास के,
पथ, रेल, तार मिटा रहे हैं सब प्रयास प्रवास के।
प्रायः चिकित्सालय, मदरसे, डाकघर हैं सब कहीं,
बस, पास पैसा चाहिए फिर कुछ असुविधा है नहीं॥

सचमुच ब्रिटिश साम्राज्य ने हमको बहुत कुछ है दिया,
विज्ञान का वैभव दिखाया, समय से परिचित किया।
उससे हमारी कीर्ति का भी हो रहा उपकार है,
बहु पूर्व चिह्नों का हुआ वा हो रहा उद्धार है॥

सुख शान्तिमय सरकार का शासन समय है अब यहाँ;
सुविधा समुन्नति के लिए है प्राप्त हमको सब यहाँ।
है ब्रिटिश शासन की कृपा ही यह कि हम कुछ जग गये,
स्वाधीन हैं हम धर्म में सब भय हमारे भग गये॥

[केप पेनिनसुला में छुट्टी का आनन्द, पानी पर खेल।]

छुट्टियाँ हमें स्वास्थ्य और आनन्द की वृद्धि करने का अवसर देती हैं। छुट्टियों के बाद मनुष्य फिर ताज़ा होकर अपने काम में लगता है। बालक वृद्धि स्त्रियाँ सभी को छुट्टी से लाभ पहुँचता है। इस लेख में विद्वान् लेखक ने संक्षेप पर बड़े सुन्दर ढङ्ग से छुट्टियों का महत्त्व बतलाया है।

ट्टी का प्रयोग सब उम्र के, सब स्थितियों के और सब विचारों के तथा सब रुचियों के लोगों के लिए हो सकता है। अतएव हर एक आदमी अपनी अवस्था, स्थिति, अवकाश और रुचि के अनुसार छुट्टी का प्रयोग करे और उसे अपने अनुकूल बना ले। यह बतलाना कि अमुक प्रकार की छुट्टी किसके लिए आनन्ददायक होगी, असम्भव है। हर एक आदमी स्वयं सोचे। जिस प्रकार भोजन के सम्बन्ध में यह कहावत ठीक है कि "किसी को बैंगन बादी और किसी को बैंगन पथ्य," उसी प्रकार यह छुट्टी के लिए भी लागू है।

आनन्द और स्वास्थ्य

छुट्टी का उपयोग करनेवाले स्वभावतः दो श्रेणियों में विभक्त होते हैं। एक तो वे लोग जो आनन्द के लिए छुट्टी मनाते हैं और दूसरे वे जो स्वास्थ्य के लिए छुट्टी का उपयोग करते हैं। किन्तु जिस प्रकार ये भेद पहले-पहल दो दिखलाई देते हैं, वैसे ये वास्तव में दो नहीं हैं। वे यथार्थ में एक ही हैं। ऐसा कोई कारण नहीं है कि जो मनुष्य स्वास्थ्य-लाभ करने के लिए अवसर प्राप्त करता है वह उस अवसर से खूब आनन्द क्यों न उठाये। या इसकी भी कोई वजह नहीं है कि जो मनुष्य केवल अपने को प्रसन्न करने के लिए कहीं प्रस्थान करता है वह आनन्द के साथ स्वास्थ्य-लाभ क्यों न करे।

जीवन-बीमा

छुट्टियाँ एक प्रकार का जीवन-बीमा हैं। यह जीवन-बीमा मृत्यु या बुढ़ापे के विरुद्ध नहीं होता है, किन्तु घटती शक्तियों और अस्वास्थ्य के विरुद्ध रक्षा का रूप है। बहुधा ऐसा होता है कि लोग छुट्टियाँ बिताने पर घर लौट

आने के पश्चात् यह सोचते हैं कि जो धन और समय हमने व्यय किया है, क्या उससे हमें उचित लाभ प्राप्त हुआ है। वे कभी कभी सोचते हैं कि समय तो खूब अच्छा कटा, परन्तु क्या इतना धन किसी अन्य स्थायी कार्य में खर्च करना अधिक अच्छा न होता।

[छुट्टियों में नौका-विहार से भी चित्त स्वस्थ और प्रसन्न होता है। उमसिन्दूसी नदी (द० अफ्रीका) में बोटिंग का एक दृश्य।]
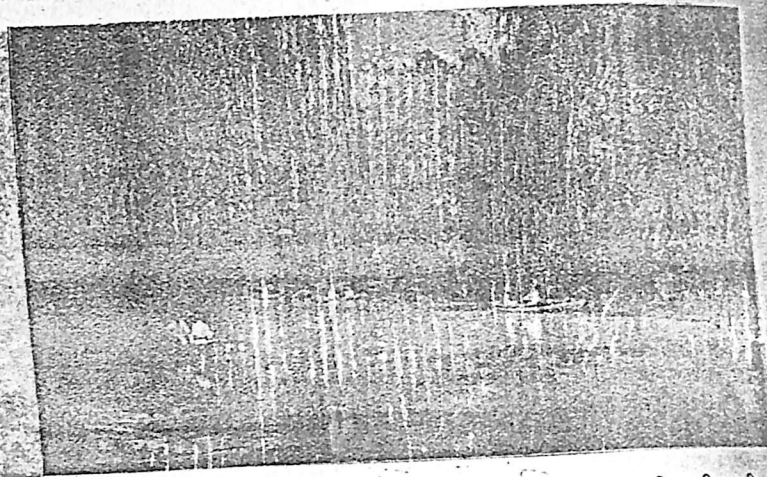
किन्तु यह उनकी भूल है। छुट्टियों को 'भले प्रकार खर्च करने' से जो लाभ होता है, उससे अधिक स्थायी और कोई कार्य्य नहीं है। तत्त्व की बात तो यह है कि 'खर्च भले प्रकार' हुआ हो।

परिवर्तन

छुट्टी का मुख्य लाभ यह है कि विचार-धारा और परिस्थितियों का परिवर्तन हो जाता है। परिवर्तन जीवन की आवश्यक वस्तुओं में से एक ऐसी चीज़ है जो अच्छे स्वास्थ्य के लिए बहुत ज़रूरी है। छुट्टी की आवश्यकता उन लोगों के लिए भी है जो स्वस्थ हैं और अपने काम में सुख से जीवन व्यतीत करते हैं। नियमित रूप से भोजन करना और अपनी आदतों को ठीक बनाये रखना हमारे स्वास्थ्य के लिए परमावश्यक है। किन्तु ये ही दोनों बातें जब स्वर-समता अथवा एकरसता का रूप धारण कर लेती हैं तब उनसे भय की भी आशंका हो जाती है।

एकरसता

जिस प्रकार एक तरह का भोजन पेट में एक विशेष प्रकार का असर पैदा करता है, उसी तरह इर्द-गिर्द की परिस्थितियाँ भी मन पर अपना प्रभाव डालती हैं। मस्तिष्क उनसे थक जाता है और कभी कभी चिड़चिड़ा भी उठता है। यदि हम एक ही घर में वर्षों बने रहें, प्रति दिवस दिन में एक ही कमरे में बैठें, रात को सदा एक ही स्थान पर सोवें, घर की सारी वस्तुएँ एक ही स्थान पर जहाँ की तहाँ देखते रहें, तो हममें से प्रत्येक स्त्री और पुरुष का मन उचाट हो जायगा।

एक रस रहने से मनुष्य में नये विचार उत्पन्न करने की शक्ति का ह्रास हो जाता है। वह कोई नई बात या कोई नई तदबीर सोच भी नहीं सकता, और इस कमी को वह स्वयं अनुभव भी करने लगता है। जब ऐसी अवस्था हो जाय तब छुट्टी मनाने से जो लाभ हो सकता है वह किसी दूसरी बात से नहीं हो सकता। इस प्रकार की छुट्टी के लिए जो समय और धन खर्च होता है उसका बदला मिल जाता है। इसे तो धन और समय का सदुपयोग ही समझना चाहिए बल्कि इसे अपने रोज़गार के खर्च का एक भाग समझना उचित है।

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को छुट्टी की अधिक आवश्यकता रहती है। क्योंकि वे बेचारी तो सदा एक ही मकान में भोजन बनाती, भोजन करती और सोती हैं।
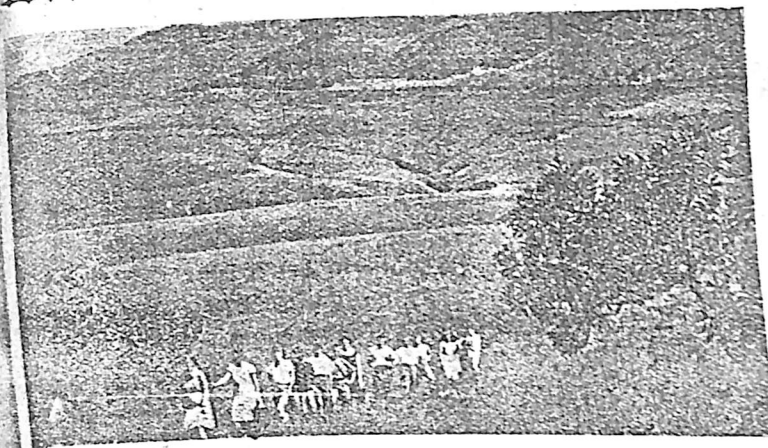
[डारकेन्स व में छुट्टी बिताने वाला एक पर्वतारोही दल]

पुरुष सुबह से शाम तक काम करता है, परन्तु एक स्त्री का काम कभी समाप्त नहीं होता। कोई गृहिणी अपने गृह-कार्य से चाहे जितना प्रेम करती हो, किन्तु कभी कभी ऐसा समय आता है जब वह उससे ऊब जाती है, और प्रतिदिन का एक-सा नीरस काम उसके स्नायु-मण्डल पर अपना प्रभाव डालता है। मन के उचाट होने पर उसे कुछ समय के लिए अवश्य बाहर जाना चाहिए। लौटने पर उसका शरीर और मन ताज़ा हो जायगा और वह दूने उत्साह से काम करेगी। छुट्टी में दूना आनन्द प्राप्त होता है।

बालक

बालकों के लिए छुट्टी परमावश्यक है। चाहे घर पर उन्हें पर्याप्त स्वच्छ वायु मिलती हो, मैदान में खेलने का काफ़ी अवसर प्राप्त होता हो, चाहे स्कूल की छुट्टियों में उन्हें प्रातःकाल से रात्रि तक खेलने को मिलता हो, परन्तु एक दिन के लिए उन्हें किसी देहात में घुमाने ले जाइए; फिर देखिए वे चमचमाती हुई आँखें, खिला हुआ मुख, गालों पर झलकता हुआ स्वस्थता का रंग और शिकारियों की-सी क्षुधा लेकर घर लौटते हैं।

थके हुए लोग

जो पुरुष अपने काम से थक जाते हैं, अर्थात् जिनका शरीर और मन काम करते करते मुर्झा जाता है, जो स्त्रियाँ अपने बच्चों और अपने घरबार की चिन्ताओं से परेशान हो जाती हैं और अपनी शक्ति के बाहर काम करने से हार जाती हैं, ऐसे थके-माँदे स्त्री पुरुषों के लिए छुट्टियाँ भोजन की तरह परमावश्यक हैं, बल्कि भोजन से भी अधिक ज़रूरी हैं। क्योंकि थकावट में भोजन से इतना लाभ नहीं होता जितना स्थान-परिवर्तन से होता है। थके हुए मस्तिष्क और पीड़ित अंगों के लिए पूरा पूरा परिवर्तन एक-मात्र ओषधि है।

शरीर और मन दोनों को अपनी अपनी शक्तियों के ह्रास की पूर्ति करने की आवश्यकता पड़ती है। और यह कमी पूर्ण रूप से आराम करने से प्राप्त होती है, जो घर पर कदापि नहीं मिल सकता। ऐसे लोगों को अपनी साधारण परिस्थितियों से एक-दम अलग हट जाना चाहिए; क्योंकि ये परिस्थितियाँ उन चिन्ताओं और मानसिक व्यथाओं से सम्बन्धित रहती हैं जो उन्हें घुलाये डालती हैं। इस प्रकार के लोगों की छुट्टियों पर जो धन खर्च होगा उसका सौगुना लाभ उन्हें प्राप्त होगा।

छुट्टियाँ सबके लिए आवश्यक हैं, चाहे कोई मनुष्य काम करते करते थक गया हो या एक प्रकार के काम से ऊब गया हो और उसका मन उचाट हो गया हो। छुट्टियों से केवल परिवर्तन का ही लाभ नहीं होता, किन्तु इतनी स्वच्छ वायु प्राप्त होती है जो घर पर कदापि नहीं मिल सकती। आराम और व्यायाम की आवश्यकता भिन्न भिन्न प्रकृति के लोगों को भिन्न भिन्न मात्रा में होती है। थके हुए और एकरस काम करनेवालों को ऐसी

छुट्टियाँ चाहिए जिसमें आराम भी हो और विनोद भी। जिन लोगों को बैठे रहने का अधिक काम पड़ता है उन्हें ऐसी छुट्टियाँ मनानी चाहिए जिनमें अधिक दौड़-धूप पड़ती हो।

[पूर्वी लन्दन में छुट्टी का एक दिन—लोग समुद्र-स्नान का मज़ा ले रहे हैं।]

छुट्टियों में बाहर जाकर बच्चों के भोजन के सम्बन्ध में लापरवाही करने से उनकी तबीअत ख़राब हो जाती है। अपने बच्चों को अधिक दुलार करनेवाले माता-पिता उन्हें प्रसन्न करने के अभिप्राय से ज़रूरत से ज़्यादा मिठाई खिला देते हैं। कभी कभी थोड़ी-सी मिठाई खिला देने में कोई हर्ज नहीं। किन्तु अनेक प्रकार की बहुत-सी मिठाइयाँ खिलाकर उनमें अजीर्ण पैदा करना ठीक नहीं। उन्हें स्वास्थ्यकारक और सादा भोजन दो। और अगर आप चाहते हैं कि आपके बच्चे अपने भोजन से पूरा पूरा लाभ उठावें तो उन्हें ऐसा अवसर दीजिए कि वे खुले मैदान में खेलते जायँ और खाते जायँ। लोगों में यह भ्रमात्मक विचार फैला हुआ है कि बच्चों को और बड़े लोगों को भी बैठकर भोजन करना चाहिए। इसका परिणाम यह होता है कि बच्चे छुट्टी के दिन जल्दी जल्दी उलटा-सीधा अपना भोजन कर लेते हैं ताकि उन्हें खेलने का मौक़ा मिले। अतएव वे भोजन को अच्छी तरह चबाते भी नहीं। किन्तु भोजन का भले प्रकार चर्वण करना पाचन के लिए परमावश्यक है। यदि बच्चों का भोजन उनके हाथ में हो और जब उसकी इच्छा हो तब वे उसमें से एक ग्रास कुतर लें और खेलते-कूदते रहें तो बहुत ही अच्छा है। इस प्रकार वे अपने भोजन को ख़ूब चबायँगे और अंत तक चबायँगे, जिससे उनकी पाचन-क्रिया ठीक होगी और वे प्रसन्न भी रहेंगे। उपर्युक्त दोनों ही बातें स्वास्थ्य के लिए बड़ी लाभदायक हैं।

पर्वत-यात्रा

पर्वत-यात्रा करने से छुट्टियाँ बड़े आनन्द से कटती हैं। शिखरों की स्वच्छ और तीक्ष्ण वायु का सुख मिलता है और साथ ही अनन्त दूर तक के दृश्यों को देखने का आनन्द भी प्राप्त होता है। ज्यों ज्यों आप ऊपर चढ़ते जायँगे, हवा हलकी और लचीली होती जायगी और चारों ओर विस्तृत मैदान का दृश्य विशाल होता जायगा।

किन्तु शिखर पर चढ़कर सुन्दरता और चमत्कार का पूर्णानन्द उठाने के लिए यह आवश्यक है कि आप वहाँ पहुँचकर थककर शिथिल न हो जायँ। नहीं तो वहाँ पहुँचकर तो आपको कुछ मज़ा न आयेगा। वहाँ पहुँचकर तो आपको बिलकुल ताज़ा और प्रसन्नचित्त होना चाहिए। अपनी शक्ति का अन्दाज़ लगा लेना चाहिए। अगर आप बहुत ऊपर नहीं चढ़ सकते तो थोड़ा ही चढ़कर सन्तोष

कीजिए। अधिक ऊपर चढ़ने से कुछ अधिक आनन्द नहीं मिलता। अगर आपके साथी आपसे ज़्यादा ऊँचा चढ़ जाते हैं और आप कम चढ़ पाते हैं तो इसमें कोई शर्माने की बात नहीं है। थोड़ी-सी भी उँचाई पर चढ़कर प्रसन्नचित्त रहने पर और न थककर वह आनन्द मिल सकता है जो अधिक ऊँचा चढ़कर और साथ ही थक जानेपर कदापि नहीं प्राप्त हो सकता।

[बहुत-से लोग एकान्त प्रकृति में मछली फँसाने में छुट्टी का पूरा आनन्द ले लेते हैं। यह दृश्य दक्षिणी अफ़्रीका नेटाल का है!]

यद्यपि नीचे पहाड़ों से बहुत विशाल और विस्तृत मैदान नहीं दिखलाई देते, तथापि वहाँ से बड़े सुन्दर दृश्यों का आनन्द मिल सकता है। ऊँचे पहाड़ों पर चढ़कर पूर्ण शान्ति का वह साम्राज्य दिखलाई देता है जो पृथ्वी पर कहीं नहीं मिल सकता।

पहाड़ों के दृश्यों का आनन्द प्राप्त करने और उससे पूर्ण लाभ उठाने के लिए यह आवश्यक है कि यात्री के पास आने-जाने के लिए पर्याप्त समय हो। भगदड़ में आने-जाने से हृदय में चिन्ता उत्पन्न होती है जिसका, थकने की अपेक्षा, स्वास्थ्य पर अधिक बुरा प्रभाव पड़ता है। और चढ़ने में जल्दी करना तो और भी बुरा है। अगर समय थोड़ा हो तो बहुत ऊपर जाने का प्रयत्न न करे। थोड़ा चढ़कर सुख लूट ले। अपने को हद से
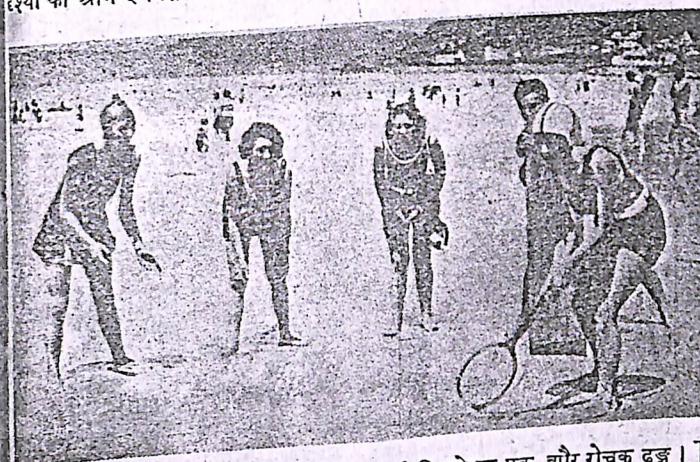
[केप पेनिनसुला में बालू पर क्रिकेट का खेल, छुट्टी बिताने का एक और रोचक ढङ्ग।]

ज़्यादा थका लेने की अपेक्षा यह अच्छा है कि नीचे से ही पहाड़ी दृश्यों का आनन्द ले लिया जाय और चढ़ने का नाम भी न लिया जाय। पर्वत-यात्रा के लिए दूसरी आवश्यक वस्तु यह है कि यात्री के जूते ख़ूब मज़बूत हों और उनके तल्लों में काफ़ी कीलें जड़ी हों; अन्यथा पहाड़ों पर फिसलने का भय रहेगा। और अगर फिसल गये तो जान जोखिम में आ जायगी।

अगर चढ़ते समय पिंडलियों में दर्द मालूम दे तो कोई चिन्ता न करनी चाहिए और धीरे धीरे आगे ही बढ़ते जाना चाहिए। थोड़ी देर में दर्द जाता रहेगा। किन्तु अगर आप बैठकर आराम करने लगें तो आपकी टाँगें जकड़ जायँगी और फिर आपसे आगे न बढ़ा जायगा। अगर चढ़ने में दम फूलने लगे तो रुक जाना चाहिए, और अगर थोड़ी देर दम लेने के पश्चात् दुबारा चढ़ने पर फिर साँस उखड़े तो चढ़ना एक-दम बन्द कर देना चाहिए और आगे न बढ़ना चाहिए। नहीं तो जन्म भर के लिए हृदय पर आघात आ जायगा।

पहाड़ों पर यात्रा करते समय कोहरे से बहुत सावधान रहना चाहिए। जब तक कोहरा पड़ता रहे तब तक वहाँ घूमना नहीं चाहिए। क्योंकि कोहरे में घूमने से केवल कष्ट और थकावट ही अधिक नहीं होती किन्तु खड्ड में गिरने का भी पूरा पूरा भय रहता है। यदि कहीं गहरे गढ़े में जा गिरे, तो जान भी चली जायगी।

पर्वत-यात्रा का थोड़ा-सा वर्णन करके आनन्द से छुट्टियाँ बिताने का एक उदाहरण-मात्र यहाँ दिया गया है। अन्यथा छुट्टियाँ मनाने के लिए ग्राम-यात्रा और पर्वत-यात्रा के अतिरिक्त साइकिल-यात्रा, मोटर-यात्रा, समुद्र-यात्रा, पैदल-यात्रा, कैम्प-यात्रा, वार्षिक यात्रा आदि अनेक प्रकार की यात्रायें हैं। सबकी सब प्रत्येक यात्री की सुविधा के अनुसार मनोविनोद और आनन्द-प्राप्ति के लिए की जा सकती है।

माधवी

लेखक, प्रो० मनोरञ्जन, एम० ए०

हल्की हल्की सुन्दर सुवास,
यह किस रमणी की मधुर साँस।
सीठी-सी चुटकी लेती है,
मन के अन्दर इसकी मिठास?
यह किस ललना की ललित लता,
प्रेमिक अलिकुल को रही सता?
यह किसके तन की मधुर गंध,
इसका दे सकता कौन पता?
सुर-बालाओं के कर्णफूल,
क्या इस लतिका पर रहे भूल?
क्या यहीं महाश्वेता अपनी।
वह मृदुल मञ्जरी गई भूल?
डालियाँ लिये सुषमा अपार,
हैं लचक रही ले रूप-भार।
यह हरित पत्र परिधान रम्य,
फूलों के बूटों की बहार॥
कोमल कपोल से श्वेत लाल,
ये विहँस रहे हैं डाल डाल।
यह मृदुल गन्ध, यह मधुर रूप,
लख मन का होता अजब हाल॥
ये क्या मनसिज के कुसुम-तीर,
प्रेमी मन को करते अधीर?
इनके सौरभ से उलझ उलझ,
धीरे धीरे चलता समीर॥
व्याकुल अलिकुल, व्याकुल बतास,
सिर धुन धुन लेते मृदु उसास।
रे कर इनकी मधुगंध पान,
क्या बुझ सकती है कभी प्यास?
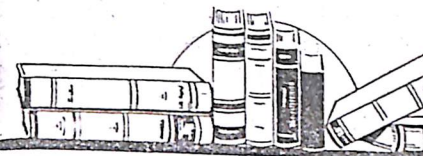
नई पुस्तकें

[प्रतिमास प्राप्त होनेवाली नई पुस्तकों की सूची। परिचय यथासमय प्रकाशित होगा।]

१—ऋग्वेद-संहिता (चतुर्थ अष्टक)—टीकाकार, पंडित रामगोविन्द त्रिवेदी, वेदान्त-शास्त्री, प्रकाशक, पण्डित गौरीशङ्कर झा, संचालक, वैदिक-पुस्तक-माला, सुल्तानगंज (ई० आई० आर०) और मूल्य २) है।

२-६—गीता-प्रेस, गोरखपुर की ५ पुस्तकें—

(१) गीतावली (अनुवादसहित)—अनुवादक, श्री मुनिलाल, मूल्य १) है।

(२) श्री श्री चैतन्य-चरितावली (खंड ४ और ५)—लेखक, श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, मूल्य क्रमशः ॥=) और ॥।) है।

(३) Mind its Mysteries and Control (Part I अँगरेज़ी) लेखक, श्रीयुत स्वामी शिवानन्द सरस्वती, मूल्य ॥) है।

(४) श्री तुकाराम-चरित्र—अनुवादक, श्रीलक्ष्मण नारायण गर्दे, मूल्य १≡) है।

(५) गोपी-प्रेम—लेखक, श्री हनूमानप्रसाद पोद्दार, मूल्य -)॥ है।

७-१०—श्री अवधकिशोरदास, जानकीघाट अयोध्या, की ४ पुस्तकें—

(१) गीतागुह्यतमोपदेश, मूल्य ॥) है।

(२) श्री वैष्णवी दीक्षा, मूल्य)॥ है।

(३) श्री रामानन्द-सङ्कीर्तन, मूल्य -) है।

(४) मन-प्रबोध-माला, मूल्य)॥ है।

११—वे मौत से खेले थे (शिक्षा-विषयक पुस्तक)—रूपान्तरकार, श्री काशीनाथ त्रिवेदी, बी० ए०, प्रकाशक, ओझा-बन्धु-आश्रम, इलाहाबाद और मूल्य १) है।

१२—जीवन-सुधार—लेखक, महर्षि शिवव्रतलाल एम० ए०, अनुवादक, दीवान वंशधारीलाल, प्रकाशक, संत कार्यालय, प्रयाग, मूल्य ॥।) है।

१३—रसायन-इतिहास—लेखक, श्री आत्माराम एम० एस-सी०, प्रकाशक, विज्ञान-परिषद्, प्रयाग, मूल्य ॥।) है।

१४—संगीत-सुधा—लेखक, पंडित सिद्धनाथ तिवारी, प्रकाशक, संगीत-शाला, कानपुर, मूल्य १।) है।

१५—मधुबन (कहानी)-लेखक, श्री वृन्दावनविहारी, प्रकाशक, श्री मानिकचन्द जैन, बिहार-प्रकाशन-भवन, आरा और मूल्य १) है।

१६—सुषमा (कविता)—लेखक, श्री हरशरण शर्मा, प्रकाशक, ओझा-बन्धु-आश्रम, इलाहाबाद, मूल्य ।=) है।

१७ १८—बिहार-प्रकाशन-भवन, आरा, की २ पुस्तकें—

(१) मिठाई का दोना (बाल-साहित्य)—लेखक, श्री त्रिवेणीप्रसाद बी० ए०, मूल्य ।=) है।

(२) भैया की कहानी—लेखक, श्री त्रिवेणीप्रसाद बी० ए०, मूल्य ।=) है।

१९—दो खुदाई ख़िदमतगार—लेखक, श्री महादेव देसाई, प्रकाशक, हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस, देहली, मूल्य ॥।) है।

२०—प्रवासियों के धर्म-प्रेम की एक झलक—(महासम्मेलन फ़ीजी की सचित्र रिपोर्ट) लेखक व प्रकाशक, पंडित रामचन्द्र शर्मा, फ़ीजी द्वीप, मूल्य—धर्म, प्रेम तथा प्रचार है।

२१—रिलीफ़ पञ्चाङ्ग— प्रकाशक, मारवाड़ी रिलीफ़ सोसाइटी, नं० १३ सरकार लेन, कलकत्ता।

२२—डावर पञ्चाङ्ग—डाबर (डा० एस० के० बर्म्मन) लि०, कलकत्ता।

२३—बड़ा बाज़ार-कुमार-सभा पुस्तकालय का कार्य-विवरण—लेखक, श्री राधाकृष्ण नेवटिया, प्रकाशक, श्यामसुन्दर जयपुरिया, १५६ हरीसन रोड, कलकत्ता।

२४—होमियोपैथी— (मासिक पत्र) सम्पादक, डा० दिवसपति भट्ट, एक प्रति का मूल्य =) और वार्षिक मूल्य १॥) है।

२५—सर्प—लेखक, श्रीयुत श्यामापति बनर्जी, एम० एस-सी०, प्रयाग।

१—सिन्दूर की होली (समस्या नाटक —लेखक, श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र बी० ए०, प्रकाशक, भारती भंडार, काशी, हैं। पृष्ठ-संख्या १७२ और मूल्य १।) है।

२—राजयोग (समस्या नाटक)—लेखक और प्रकाशक वही, पृष्ठ-संख्या १७८ और मूल्य १।) है।

हिन्दी में नाटक-साहित्य का जन्म हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव पड़ने का साथ हुआ और भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को ही हमें अपने साहित्य के इस अंग का जन्मदाता मानना चाहिए। उस समय से लेकर अब तक हिन्दी में नाटकों की रचना एक ही परिपाटी तथा ढाँचे के अनुसार होती रही। अँगरेज़ी नाटकों-द्वारा प्रभावित एक बँधा हुआ आदर्श हमारे नाटककारों के सामने उपस्थित था। यह स्वाभाविक ही था कि अँगरेज़ी सभ्यता एवं साहित्य के और भी घनिष्ठ सम्पर्क में आने पर हमारे साहित्य पर उसका प्रभाव बढ़े और अँगरेज़ी साहित्य के नवीन आदर्शों को हमारे साहित्यकार अपनावें। फलतः इब्सन तथा बर्नार्डशा जैसे अँगरेज़ी-साहित्य के महान् नाटककारों से प्रभावित होकर श्री लक्ष्मीनारायण जी मिश्र ने अपनी रचनाओं-द्वारा हिन्दी-नाटकों की प्रचलित परिपाटी को एक-दम बदल दिया है। इस कार्य में मिश्र जी की सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि उनके बाद कितने ही लेखक उनके निर्धारित मार्ग पर चले। अब तो 'एकांकी' नाटकों और 'समस्या' नाटकों का हिन्दी में बहुत काफ़ी चलन दिखाई देने लगा है। परन्तु मिश्र जी ने अँगरेज़ी के इन साहित्यकारों के दृष्टिकोण-मात्र को ही अपनाया है और उसे अपने निजी तथा मौलिक ढंग से अपनी रचनाओं-द्वारा प्रकट किया है। आपकी कृतियों में आपका निजी व्यक्तित्व तथा भारतीयता पूर्णरूप से स्थापित है। प्रचलित सामाजिक समस्याओं को अपने इस नये दृष्टिकोण के अनुसार आपने सुलझाने का अपने नाटकों में प्रयत्न किया है।

'सिन्दूर की होली' तथा 'राजयोग' दोनों ही नाटक विभिन्न सामाजिक समस्याओं को उठाते हैं और उनका बहुत ही अच्छा निर्वाह दिखाई देता है। मिश्र जी के अन्य नाटकों के समान ही इन दोनों नाटकों की भी यही विशेषता है कि समस्त कथानक थोड़े से ही समय के भीतर तीन या चार वार्तालापों के अन्दर समाप्त हो जाता है। न तो उनमें अनेक दृश्य बदलते हैं और न पात्रों की ही भरमार है। थोड़े से ही समय के अन्दर कम से कम पात्रों-द्वारा घोर मानसिक संघर्ष दिखाना ही इन नाटकों की विशेषता है। इतने संकुचित क्षेत्र के अन्दर सफलतापूर्वक निर्वाह कर दिखाना वास्तव में योग्यता की बात है। चरित्र-चित्रण मिश्र जी की एक और विशेषता है। आप प्रत्येक पात्र का चरित्र बड़े सामंजस्य के साथ चित्रित करते हैं और प्रत्येक पात्र के प्रति आपकी सहानुभूति प्रकट होती है। प्रत्येक पात्र की मानसिक परिस्थिति का अत्यन्त स्पष्ट परिचय थोड़े ही वार्तालाप के द्वारा मिल जाता है और पाठकों को स्वयं प्रत्येक पात्र चिरपरिचित-सा मालूम होने लगता है। दोनों नाटकों में किसी भी स्थल पर अस्वाभाविकता अथवा कृत्रिमता की झलक नहीं दिखाई देती। इन नाटकों की दो-एक विशेषतायें और हैं, जिनका उल्लेख उचित ही है। एक तो आपके नाटकों में एक दूसरे के बीच में बहुत ही कम अन्तर दिखाई देता है। ऐसा जान पड़ता है कि आपने कथानक का एक विशेष ढाँचा बना लिया है और उसी में विभिन्न समस्याओं को उपस्थित एवं निर्वाह करके अलग अलग नाटक रच डाले हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि आपका एक नाटक पढ़ चुकने के बाद जब हम दूसरा नाटक पढ़ते हैं तब उसमें पहले से भिन्न मानसिक विचार एवं समस्यायें अवश्य मिलती हैं, परन्तु परिस्थिति तथा वातावरण की नवीनता कम मिलती है। इसी प्रकार आपके नाटकों में मानसिक उथल-पुथल का इतना अधिक और इतना अच्छा समावेश होते हुए भी चलने-फिरने, उठने-बैठने आदि की शारीरिक क्रियाओं की शायद अनावश्यक कमी है, जिससे संभवतः नाटकों के खेले जाने में कुछ अड़चन पड़ सकती है। यह हम मानते हैं कि साधारणतया नाटकों में जो उछल-कूद की अधिकता दिखाई देती है, वैसी साधारण जीवन में नहीं होती। परन्तु यदि इस दृष्टि से ही देखा जाय तो संसार के साधारण पुरुषों के जीवन में मानसिक समस्याओं की ऐसी आँधी भी तो नहीं आती जो मिश्र जी के इन 'समस्या' नाटकों में देखने को मिलती है।

फिर भी कुल मिला कर यही कहना है कि श्रीयुत लक्ष्मीनारायण जी ने एक बिलकुल ही नया क्षेत्र हिन्दी-साहित्य के सामने रक्खा है और अपनी कृतियों के द्वारा हिन्दी के नये साहित्यकारों में एक विशेष स्थान के अधिकारी हो गये हैं। हिन्दी के प्रेमियों को इन रचनाओं का रसास्वादन करना चाहिए।

ब—

३—शूल-फूल—लेखक, श्रीयुत नरेन्द्र बी० ए०, प्रकाशक, साहित्य-भवन लिमिटेड, प्रयाग हैं। पृष्ठ-संख्या ...१२, मूल्य ॥) है।

'शूल-फूल' नरेन्द्र जी की रचनाओं का पहला संग्रह है। नरेन्द्र जी 'सरस्वती' के पाठकों से परिचित हैं। इन पर ...त जी की शैली की पूरी छाप पड़ी है। कोमलकान्त-पदावली और भाव-प्रौढ़ता तथा शब्द-सौष्ठव इनकी रचना की विशेषतायें हैं। जीवन के कई पहलुओं पर इन्होंने मार्मिक ढंग से प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।

हमारे जीवन में सुख-दुख दोनों का ही अस्तित्व है। दोनों आवश्यक भी हैं। बिना दुख के हम सुख का मूल्य नहीं आँक सकते। इसके विपरीत यदि हम कोरे दुख के गीत गाते रहें तो भी हम इस जीवन से अवश्य ऊब जायँगे। वास्तव में दुख-सुख एक-दूसरे के अनिवार्य पहलू हैं। नरेन्द्र जी कहते हैं—

मेरी डाली के शूल-फूल
सखि, नित्य विकसते जीवन में।
सुख-दुख, दुख-सुख के शूल-फूल
ये फूल फूल बहलाते मन
सखि, शूल बेधते जब मृदु तन

ऐसी ही सुन्दर रचनाओं से यह संग्रह अलंकृत है। इसकी भूमिका प्रयाग-विश्वविद्यालय के अँगरेज़ी-विभाग के प्रधान अध्यापक पण्डित अमरनाथ झा जी ने लिखी है, जो उचित है। नरेन्द्र जी हिन्दी के एक होनहार कवि हैं और थोड़े दिनों के भीतर ही इस क्षेत्र में उन्होंने आशातीत सफलता प्राप्त की है। हिन्दी-कविता के प्रेमियों को नरेन्द्र जी के इस संग्रह को अपनाकर अपने एक सुकवि को प्रोत्साहन देना चाहिए।

४—मयंकमुखी—लेखक, विद्या-भूषण श्री मोहन शर्मा, विशारद, प्रकाशक, सरस्वती-सदन, दारागंज, प्रयाग हैं। पृष्ठ-संख्या १२४, सजिल्द पुस्तक का मूल्य १।) है।

यह पुस्तक छः कहानियों का संग्रह है, जिनमें से तीन बँगला की कहानियों के आधार पर लिखी गई हैं। शेष तीन कहानियाँ मौलिक हैं। भूमिका पंडित भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने लिखी है। भूमिका में वाजपेयी जी ने कहानियों की जो प्रशंसा की है वह ठीक है। कहानी-प्रेमियों को इस संग्रह का उपयोग करना चाहिए।

—मुकुटबिहारी द्विवेदी, "प्रभाकर"

५—श्री देवीदान-अनुभव-प्रकाश—सम्पादक एवं प्रकाशक, श्री गुरुप्रसाद टण्डन, देवीदान देवस्थान, जोधपुर, पृष्ठ-संख्या २३२, सजिल्द का मूल्य १।) है।

स्वर्गीय महात्मा देवीदान जी महाराज मारवाड़ के ब्रह्मनिष्ठ आत्मज्ञानी और परोपकारी महात्मा थे। आपने अपने जीवनकाल में सहस्रों असाध्य रोगों से आक्रान्त व्यक्तियों को स्वास्थ्य-लाभ कराया था; यहाँ तक कि भूतपूर्व जोधपुर-नरेश के कंठमाला के रोग का निवारण प्रस्तुत पुस्तक में लिखी ओषधियों से ही कर

दिया था—जिसके लिए पाश्चात्य चिकित्सक भी रोग दूर करने में असफल हो चुके थे। पुस्तक में उक्त महात्मा के आज़मूदा प्रायः सभी रोगों के अनुभूत और सुलभ नुस्खों का संग्रह है और नुस्खों को तैयार करने में जिन देशी ओषधियों की आवश्यकता पड़ेगी वे सब कौड़ियों के मोल उपलब्ध हो सकती हैं। अतएव श्रीमन्तों से लेकर साधारण वृत्ति के लोग इस पुस्तक से आरोग्य-लाभ कर सकते हैं। पुस्तक के अन्त में उक्त महात्मा के उपदेशों का भी समावेश है। पुस्तक गृहस्थों के काम की है।

—किशोरीरमण

६—मौलसिरी—रचयिता, श्रीयुत सत्यव्रत शर्मा 'सुजन' बी० ए०, प्रकाशक, पाण्डेय पुण्यआत्मा 'आत्मा' 'विशारद', आत्मकुटीर, पो० बरेजा (सारन), पृष्ठ-संख्या २८ + २०३, मूल्य १ रुपया ४ आना है।

सुजन जी विहार के एक होनहार कवि हैं। यह उन्हीं की कविताओं का संग्रह है। इसमें सुजन जी की १०० से अधिक रचनायें संग्रह की गई हैं। आरंभ में हिन्दी के विख्यात कवि 'निराला जी' की लिखी हुई भूमिका है; जिसमें भाषा-विज्ञान के साथ साथ विहार के साहित्य-सौष्ठव पर प्रकाश डाला है। 'वियोगी' जी के भी "दो शब्द" में कवि और कविता पर एक सरसरी दृष्टि दौड़ाई गई है। इस संग्रह की अधिकांश कवितायें आधुनिक शैली पर लिखी गई हैं। अंत में कुछ व्रजभाषा की भी कवितायें हैं। कविताओं में कवि की भावुकता पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है। इस संग्रह में कुछ साधारण श्रेणी की कवितायें भी हैं। नवीन शैली की कविताओं में अर्थ-दुरूहता का जो दोष पाया जाता है, सुजन जी की कवितायें उस दोष से मुक्त-सी हैं। एक बार पढ़ने से कविताओं का भाव अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है। कविता-प्रेमियों को सुजन जी की सरस रचनाओं का रसास्वादन करना चाहिए। पुस्तक की छपाई-सफ़ाई अच्छी है।

७—नवदुर्गा का तिरंगा चित्र—यह चित्र पौराणिक वर्णन के आधार पर तैयार किया गया है। अष्ट-कमल-दलों पर नवदुर्गा के ६ चित्र अलग अलग बनाये गये हैं। शक्तियों का रूप, रंग, पहनावा और आयुध ठीक वैसे ही चित्रित किये गये हैं, जैसा पौराणिक ग्रन्थों में उनका वर्णन किया गया है। शक्ति के उपासकों के लिए यह चित्र विशेष मतलब का है। यह सुन्दर चित्र प्रसिद्ध चित्रकार श्री रामप्रसाद की रचना-चातुर्य का नमूना है। इस चित्र का मूल्य ।=) है। पता—श्री गिरधर दास जगमोहनदास, लक्ष्मी स्टोर्स, ज्ञानवापी, बनारस सिटी।

८—ख़ुदा की राह पर—हास्यरस-प्रधान पाक्षिक पत्र, सम्पादक मुंशी ख़ैराती ख़ाँ, वार्षिक मूल्य १), एक प्रति)॥, प्रकाशक, श्रीराधारमण, मस्त-मंडल, काशी।

'ख़ुदा की राह पर' और 'मुंशी ख़ैराती ख़ाँ' ये दोनों परिचित नाम हैं। काशी के 'आज' में कुछ समय पूर्व 'ख़ुदा की राह पर' शीर्षक स्तम्भ में ख़ैराती ख़ाँ के नाम से समय समय पर व्यङ्ग्य-विनोद की बातें प्रकाशित हुआ करती थीं। ये बातें बहुत पढ़ी जाती थीं और यह बहुत ऊँचे दर्जे का मज़ाक समझा जाता था। 'आज' के ख़ैराती ख़ाँ कोई एक व्यक्ति न थे। उनकी आड़ में स्वर्गीय सूर्यनाथ तकरू जैसे काशी के अनेक प्रतिभाशाली नवीन लेखक थे। मतभेद के कारण मुंशी ख़ैराती ख़ाँ को 'आज' से सम्बन्ध विच्छेद करना पड़ा। परन्तु एक दृष्टि से यह अच्छा ही हुआ क्योंकि इससे उन्हें 'ख़ुदा की राह पर' चलने की और भी अधिक स्वाधीनता मिल गई है। हिन्दी में हास्यरस के बहुत-से पत्र निकले और बन्द हो गये। पर 'ख़ुदा की राह पर' उन सबों से निराला है और हम चाहते हैं, यह अपनी अलख जगाता हुआ बराबर चलता रहे।

हास-परिहास

जो लोग चिल्लाते हैं कि किसान भूखों मरते हैं, लगान घटना चाहिए और ज़मींदारी की प्रथा उठा देनी चाहिए उनकी अब कौन सुनेगा? उन्हें आगरे के एक 'निर्भय' कवि ने 'सैनिक' में मुँहतोड़ उत्तर दिया है—

कृषीसृष्टिं सरजै मही, पालै हरै हमेस।
दिखते साँचु किसान ही ब्रह्मा विसुनु महेस॥

अरे भाई! किसान ब्रह्मा-विसुनु-महेस के समान सर्वशक्तिमान हैं। पता नहीं महात्मा गान्धी ने उनका नाम 'दरिद्र नारायण' कैसे रख दिया। निर्भय जी ने ऐसे सात सौ दोहों में किसानों की वकालत की है। धन्य है। × × ×
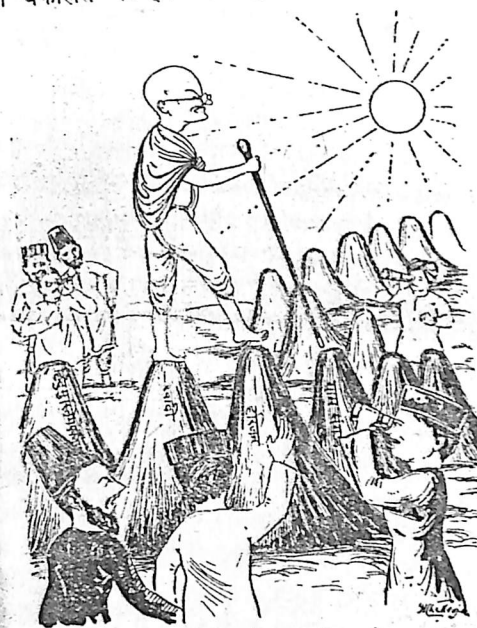
[गांधी का मार्ग—आगे क्या है? कौन जाने]
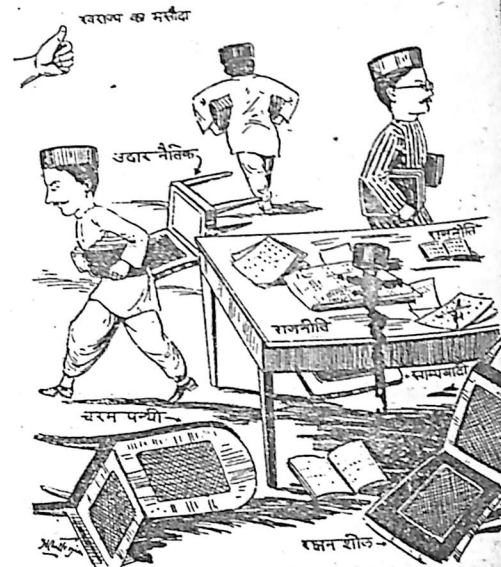
[यह उदासीनता क्यों?]

गत १४ मई के 'वर्तमान' में एक समाचार इस प्रकार छपा है—"लाहौर का समाचार है कि सिलवरजुबली-उत्सव के कारण गुण्डों की बन आई। उन्होंने दिल भर कर स्त्रियों को तंग किया, उनके बुर्के फाड़ डाले, साड़ियाँ उतार लीं और स्त्रियों को उड़ा ले जाना चाहा।"

'वर्तमान' के संपादक महोदय ने यह नहीं बताया कि गुंडों को इस महान् अवसर पर यह 'लाइसन्स' किसने दिया था। लाहौर के नागरिकों ने या वहाँ की पुलिस ने? आख़िर इसके लिए हम प्रशंसा किसकी करें।

× × × ×

[हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न दिन पर दिन विकराल रूप धारण करता जा रहा है। कदाचित् अब भाग कर ही लोग इससे जान बचा सकते हैं।]

अभी उसी दिन बोलपुर से कलकत्ते आते हुए ट्रेन में पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी को एक विचार सूझा—"भारत की सहस्रों ही विधवा स्वेच्छा से अपना जीवन संयम-पूर्वक व्यतीत करती हैं, उनके त्याग और तप तथा साधना के वृत्तान्त कोई नहीं लिखता; पर किसी एक विधवा से कुछ भूल हो जाय तो उसका वृत्तान्त छापनेवाले आपको बहुत-से मिल जायँगे।" यह अच्छा ही हुआ कि चतुर्वेदी जी को यह विचार देर से सूझा, क्योंकि यदि जल्दी सूझता तो उनके मित्र सत्यनारायणजी की विधवा की कहानी हमें कौन सुनाता?

× × × ×

'माधुरी' में एक 'हिन्दी-भक्त' ने राजाओं की बड़ी वकालत की है। लिखा है, वे भी कविता लिख सकते हैं। पर यह भी लिखा है कि प्राचीन काल से यह धारणा चली आती है कि राजा लोग काव्य-रचना करने के योग्य नहीं होते। दोनों बातों को आपने बड़े ज़ोरदार तर्कों से साबित किया है। हमारी समझ में यह न आया कि इस लेख का उद्देश क्या है? पर शायद आप यह मानते हैं कि कला का कोई उद्देश नहीं होता।

× × × ×
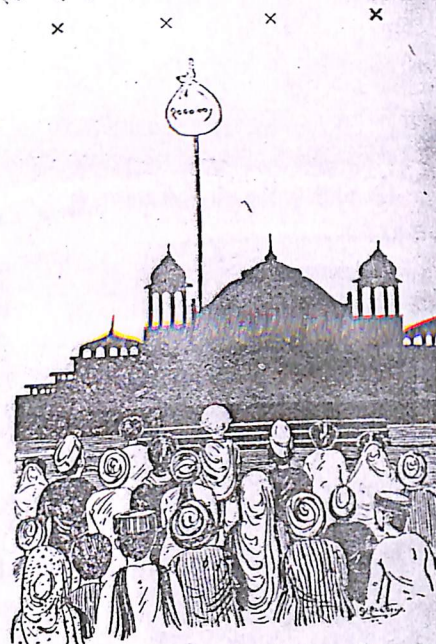
[एक लाख की थैली जो इन्दौर के साहित्याकाश में उदित हुई थी परन्तु किसी के हाथ नहीं आई।]
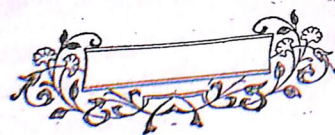
मधुप

राजकवि अम्बिकाप्रसाद भट्ट 'अम्बिकेश'

(१)

रहते न कभी पल भी थिर हो,
इससे उस द्रुम पै जा रहे हो।
धुन में किसके बने पागल-से,
चुपके चुपके गुन गा रहे हो।
कलियों में कहीं सुमनों में घनी,
निज मोहनी तान सुना रहे हो।
यह कौन क्या मंत्र जगा रहे हो,
कह दो, कह कौन कथा रहे हो॥

(२)

जिन फूलों को आँखों से देखते हो,
उनको जग में छवि मूल बनाते।
बने प्रेम-पराग के पुंज वही,
बस देखे गये रस-धार बहाते।
कुछ जान नहीं पड़ता है अहो,
यह कौन-सा प्रेम का पाठ पढ़ाते।
जिनसे दिल खोल मिले तुम तो,
मिलते उनके उर हैं खिल जाते॥

(३)

कितनी कलियाँ उर खोले हुए,
दृग को तव राह गहा रही हैं।
कितनी तव चाह में मत्त बनी,
अनुराग के रंग नहा रही हैं।
कितनी करके अधरामृत पान,
सुधा-रस स्रोत बहा रही हैं।
अलि हे! तुम पै बलि जा रही हैं,
वसुधातल धन्य कहा रही हैं॥

(४)

किसी को नव नेह के सिन्धु ही में,
तुम खे रहे हो पतवार बने।
किसी से रंगरेलियाँ ही कर के,
रहे प्याले पिला मनुहार बने।
किसी के उर से उर लेते मिला,
रहते हो किसी पै निसार बने।
किसी के तुम प्राण-अधार बने,
किसी के रहते गलहार बने॥

(५)

तुम देखते हो सबको सम भाव,
सभी से समान ही प्रेम निभाते।
यतियों के समान सभी गृह में,
जहाँ जाते वहीं बस आदर पाते।
कितना बना सुन्दर जीवन है,
अपना या पराया का भेद मिटाते।
यदि जीते हो तो सबके लिए जीते,
मरे तो सभी के लिए मर जाते॥

क्या आपने कभी भूत देखा है ?
यदि नहीं तो यह कहानी पढ़िए !

करतूत का भूत

लेखक, श्रीयुत केशवदेव शर्मा

रात्रि का लगभग मध्य आ चुका था। पानी की बाढ़ से टूटे हुए मकान जंगल के धुँधले अन्धकार में कहीं कहीं चमक रहे थे। अगर बादल का कोई गहरा टुकड़ा आकाश में आ जाता था तो बाहर के सारे विस्तार पर स्याही-सी पुती हुई मालूम होती थी। ऐसी ही नीरवता में एक ऊँचे से स्थान पर हमारा खीमा लगा हुआ था। यहाँ दिन में तो प्रायः धूप खिलती थी और बड़ी दूर तक के छोटे छोटे वृक्षों का एक दृश्य दिखाई पड़ता था, परन्तु रात को वही विस्तार मानो एक अर्थपूर्ण और गम्भीर मूकता ग्रहण कर लेता था। मुझे ऐसा आभास होने लगता था कि बाहर की यह गाढ़ भयंकरता किसी न किसी रूप में हमारे खीमे में भी आ ही जायगी। उस समय मैं अपने वहाँ आने के लिए पश्चात्ताप करने लगता।

अपने जिस मित्र के साथ मैं वहाँ आया था वह एक धनी किन्तु उद्योगी समाज-सेवक था। मेरे व्यर्थ कलामय जीवन पर वह प्रायः हँसा करता था; और जीवन की सच्ची सार्थकता का पाठ सिखाने के लिए ही वह अपनी बाढ़-सहायक-समिति के साथ मुझे भी यहाँ ले आया था। यहाँ मेरा सारा दिन जंगल में घूमते हुए उन भग्न झोंपड़ियों के और उनके दुखी निवासियों के रेखाचित्र बनाने में या उनसे असम्बद्ध बातें करने में बड़े रोचक ढंग से निकल जाता था। मैं उन लोगों का एक दोस्त हो गया था। मुझे देखते ही वे खुश हो जाते थे और तरह तरह की बातें करने लगते थे।

परन्तु रात में—उस जंगल की भीगी निस्तब्ध रात में—जब मैं अपने बिस्तर पर लेटे हुए दिन भर के विभिन्न अनुभवों की एक मधुर-सी स्मृति लिये सो जाना चाहता था तब मेरे मित्र और उनके सहयोगी उसी समय अपने भोजन-वस्त्रों के वितरण का हिसाब-किताब बड़े शोर-गुल से किया करते थे। काम पूरा हो जाने पर भी वे प्रायः अपने अंक-गणित को नहीं भूलते थे। उनकी बातें अत्यन्त भावहीन और आवश्यकता से अधिक स्पष्ट होती थीं। इसलिए कोई अवसर मिलते ही मैं उनके विषय को पलट देता था।

उस दिन की रात कुछ विशेष डरावनी मालूम हो रही थी। कुछ दूरी पर मेंढक टर्रा रहे थे, और जगह जगह भरे हुए पानी की नमी से चारों तरफ़ की हवा भारी हो रही थी। कभी बादल फट जाते थे और चन्द्रमा की
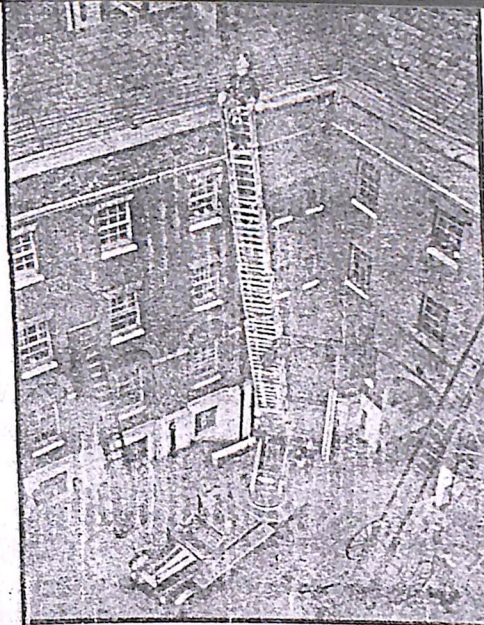
लन्दन का नया फ़ायर इंजन जिसकी सीढ़ी १०५ फ़ुट ऊँची उठ जाती है और उसे किसी आधार की ज़रूरत नहीं पड़ती।
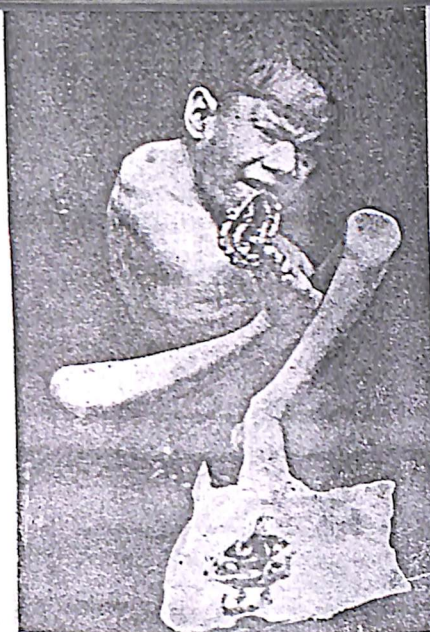
खर्कसिंह (अलमोड़ा)—बिना हाथ का १२ वर्ष का लड़का। यह पैर से खाता, पीता, चलता और चोट करता है।

श्रीमती पार्वतीदेवी—अग्रवाल-महिला-सम्मेलन की सभानेत्री। दिल्ली की पर्दा छोड़नेवाली आप प्रथम मारवाड़ी महिला हैं।

कुमारी फिलम्मा थम्बू चेट्टी—आप वीणा बजाने में बहुत प्रवीण हैं। हाल में आपने लन्दन में वीणा बजाकर वहाँ के लोगों को मुग्ध किया है।

कोचीन राज्य (मदरास) के हिन्दी सीखनेवाले राजकुमार। अध्यापक श्रीयुत चन्द्रहासन बीच में बैठे हैं।

आर्य्य-कन्या-महाविद्यालय की छात्रायें—इन्होंने हिन्दू-महासभा के कानपुर के अधिवेशन में अपने व्यायाम का प्रदर्शन किया है।

श्रीयुत एन० सी० राय। इन्होंने गत मास में अजमेर में बिना रुके हुए ६१ घंटे साइकिल चलाई थी।

एक क्षीण रोशनी नीचे फैल जाती थी या वे फिर घिर आते थे और सारे जंगल को काला कर देते थे। बहुत दूरी पर क्षितिज की गहन कालिमा में बिजली की एक तीव्र रेखा उठती और लोप हो जाती थी, जैसे किसी दूरस्थ और अज्ञात लोक में कोई अभिनय खेला जा रहा हो।

ऐसे समय में मेरे मस्तिष्क में जीवन की अँधेरी और भय-प्रद बातें घूमने लगती हैं, और मैं एक प्रकार की विवशता में फँसकर फिर उसी में लीन हो जाना अच्छा समझता हूँ। उस समय दूसरे आदमी भी यदि वैसी ही बातें करते हैं तो अपने ही हृदय के उतार-चढ़ाव में मुझे एक भय-पूर्ण आनन्द आता है।

रात के ग्यारह बजे थे। हमारा खेमा बहुत बड़ा था। कई एक कार्यकर्ता और स्वयं-सेवक उसी में बैठे हुए थे। उनका काम पूरा हो चुका था, लेकिन मैंने अभी तक कोई बात नहीं छेड़ी थी। आज उन्होंने मुझसे कुछ सुनाने के लिए कहा। मैंने अनायास ही कह दिया—"इस गाँव के लोग भूतों को बहुत मानते हैं।"

एक आदमी ने भय के भाव से पूछा—"क्या आपने भी कोई देखा है?"

मैंने कहा—"मैंने देखा नहीं है, लेकिन सुना बहुत है। जगह भी यह बड़ी सुनसान मालूम देती है।"

मेरे मित्र ने कहा—"ये सब मूर्खता-पूर्ण बातें हैं। धोखेबाज़ी या एक मनोवैज्ञानिक भ्रम के सिवा यह और कुछ नहीं होता। संसार से ऐसे मूढ़ विश्वास अब उठते जा रहे हैं।"

हमारी बात से पास बैठे हुए लोगों के दिलों में अँधेरा-सा होने लगा था, लेकिन मेरे मित्र के शब्दों से वातावरण की गहनता बहुत कुछ नष्ट हो गई। मैं यह नहीं चाहता था। मैंने कहा—"तुम यह कैसे कह सकते हो? प्रकृति के साथ मानवीय आत्मा के गूढ़ सम्बन्धों का पता लगाना क्या कोई सरल बात है? इस विषय का हमको अभी बोध भी नहीं हुआ है।"

एक बार फिर सन्नाटा छा गया। बाहर की नीरवता और हमारे खेमे की मूकता जैसे आपस में मिल गईं। बिना किसी कारण के ही लोग एक अज्ञात अशान्ति से हिलने-डुलने-से लगे।

भूतों का विषय थोड़ी देर में अच्छी तरह जम गया। लोगों ने कितनी ही कहानियाँ सुनाईं। हममें से एक व्यक्ति ज़रा विरोध कर रहा था। उसने एक बार तेज़ी से कहा—"किसी ने अपनी आँखों से कभी भूत देखा भी है?"

जिस व्यक्ति ने यह बात पहले मुझसे पूछी थी उसी ने कहा—"हाँ, मैंने आँखों से देखा है।"

"कैसा था?"

"ठीक वैसा ही जैसा मैं हूँ या तुम हो।"

"अच्छा तो क्या वह तुम्हारा दोस्त था? तुमसे मिलने आया था?"

"हाँ, दोस्त ही था। अगर आप विरोध ही करना चाहते हैं तो मैं नहीं कहूँगा। लेकिन ध्यान से सुनने पर शायद आप भी मेरी बात पर विश्वास करने लगेंगे।"

मैंने कहा "तुम कहो। ये सब चुप रहेंगे।"

वह आदमी हमारी समिति का नहीं था। कहीं बाहर से अकेला ही सहायता-कार्य्य के लिए आया था। उसकी उम्र अधेड़ थी, लेकिन तन्दुरुस्ती बहुत खराब होने के कारण वह बुड्ढा-सा मालूम होता था। उसे साधारणतया बोलने में भी ज़ोर-सा लगाना पड़ता था। फिर भी उसकी आवाज़ बहुत भारी और धीमी-सी रहती थी। अपनी पीली और बहुत भीतर तक बैठी हुई आँखों को मींजते हुए वह कहने लगा—

"जिस भूत को मैंने अपनी आँखों से कितनी ही बार देखा है वह मेरा एक पुराना दोस्त था। मैं और वह चार मील तक साथ साथ चलकर लखनऊ पढ़ने जाया करते थे। वह मुझसे छोटा था। मैं उससे तीन दर्जे ऊपर पढ़ता था। लेकिन रास्ते में घंटों साथ साथ रहने और बातें करने से हम लोगों में बिलकुल समानता आ गई थी। यह बात मुझे ज़रा शुरू से ही नापसन्द थी कि मेरी ऊँची पढ़ाई और उम्र का वह किसी बात में खयाल न रक्खे। स्कूल के खेल-कूद या सेवा-समिति में वह निरा अपने भरोसे पर भाग लेता था। मेरी सहायता से वह बिलकुल

ला परवाह रहता था। बल्कि कभी कभी वह अपने हृदय में मुझे एक विश्वसनीय मित्र मानते हुए भी मेरे ख़िलाफ़ बोलने लगता था। अपनी हिम्मत, सचाई और शारीरिक बल के कारण वह हमारे स्कूल के लड़कों का एक नेता-सा हो गया था।

"धीरे धीरे जब हम बड़े हो गये और स्कूल को छोड़ दिया तब भी देश और समाज की सेवा के कामों में हम साथ साथ रहते थे। सभी जगहों और सभी अवसरों पर वह मेरी अपेक्षा कहीं अच्छा आदमी समझा जाता था। उसके परिश्रम, सहन-शक्ति और उत्साह पर मुग्ध होकर लोग उस पर विश्वास करते थे और उसकी प्रशंसा करते थे। लेकिन मेरा कोई ज़िक्र भी न करता था, यद्यपि मैं और वह हर वक्त साथ-साथ रहते और काम करते थे। मुझे इस बात पर कभी कभी दुख और आश्चर्य होता था कि मुझमें और उनमें लोग इतना फ़र्क़ क्यों मानते हैं, तो भी ऐसी बातों को मैं अधिक नहीं सोचता था और उनको अक्सर भूल जाता था।

"परन्तु दो वर्ष पहले जब इस प्रान्त में घोर अकाल पड़ा था तब हम दोनों अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए स्वयंसेवक-दल में शामिल हुए। अनेक समितियों में शामिल होते हुए अन्त में हम बहुत दूर तक इस प्रदेश में घुस गये—ऐसे स्थानों पर जहाँ पहले कोई नहीं गया था। चारों तरफ़ भयंकर हवायें चलती थीं, जिनकी आवाज़ से डर लगता था। सारा जंगल एक विचित्र सन्नाटे से भरा हुआ था। स्त्री-पुरुषों के चलते-फिरते कंकाल कहीं कहीं खड़े या बैठे दिखाई पड़ते थे। घरों के दरवाज़े खुले हुए थे। बहुत-सी झोंपड़ियों में स्त्री-बच्चे आदि मर गये थे, जिनमें से दुर्गन्ध आने लगी थी। जीवन का वैसा कठोर दृश्य हमने कभी नहीं देखा।

"ऐसे एक स्थान पर केवल हम दोनों ही थे। कोई भी सहायक-समिति अभी वहाँ नहीं आई थी। रात को हम एक मन्दिर में घुस गये और मोमबत्ती जला कर ज़मीन पर लेट गये।

"मैंने अपने साथी से कहा, जीवन कितना भयंकर है! फिर भी हम कैसे स्वार्थी हैं। यहाँ के मनुष्य कुएँ तक जाकर पानी पीने में भी असमर्थ हैं, लेकिन हम लोग मेवा खा रहे हैं। मेरे मित्र ने इस बात को सुना और चुप हो गया। मैंने सोचा, वह अपनी इस मानवीय कमज़ोरी के बारे में मुझसे बातें करना नहीं चाहता। मुझे सन्तोष-सा हुआ कि इतने आत्म-त्याग के लिए वह भी असमर्थ है। थोड़ी देर के बाद हम दोनों को नींद आ गई।

"प्रातःकाल उठकर हम फिर चल पड़े। मेरे मित्र में आज एक विशेष साहस और स्फूर्ति-सी मालूम होती थी। कई दिनों से हमको भी रोटियाँ न मिलने के कारण बहुत कमज़ोरी आ गई थी। उसकी तेज़ चाल के साथ चलने में मुझे तकलीफ़ हो रही थी; लेकिन अपनी असमर्थता को मैं बड़े कष्ट से छिपा रहा था। उसकी अदम्य और निर्दय-शक्ति पर मुझे क्षोभ हो रहा था।

"थोड़ी ही दूर चलने पर पाँच-सात सूखे हुए बच्चों ने हमको घेर लिया। उनकी ऊपर उठी हुई पीली और काँच की-सी आँखों में मृत्यु जैसे नाच रही थी। उन्हें देखते ही हमारी आँखों में आँसू भर आये, लेकिन आँखों में ही सूख गये। उनके लकड़ी के-से हाथ और पतले तार की तरह हिलती हुई उँगलियों को देख कर हमारी अन्तरात्मा भय से व्याकुल हो उठी। मैंने अपने मित्र की तरफ़ देखा और पूछा, बताओ, अब क्या करना चाहिए। लेकिन वह रो रहा था। उसे देखकर मैं भी रोने लगा।

"इसके बाद अपनी बाँह से आँसू पोंछते हुए वह बैठ गया। उसने बड़े धैर्यपूर्वक अपने थैले को कंधे से उतारा और उसमें रक्खी हुई अपनी सारी भोजन-सामग्री ज़मीन पर बिखेर दी। एक क्षण भर में उन बच्चों ने उसका दाना दाना समेट लिया और वे खाने लगे। मेरी आँखों के सामने ही यह सब हुआ था, परन्तु जैसे कुछ देर बाद मुझे इसका होश आया। यह बात मेरी कल्पना के बाहर थी। चालीस चालीस मील तक भोजन का एक दाना भी हमको नहीं मिल सकता था। हम लोग पहले ही से बहुत थक रहे थे। किसी समिति के भी शीघ्र उधर आने की कोई सम्भावना नहीं थी। मुझे अपने थैले की सामग्री अब रत्नों के ढेर से भी अधिक क़ीमती और प्यारी मालूम होने लगी। मैंने कहा—तुमने यह क्या किया। क्या तुम भी अकाल में मरना चाहते हो। वह बोला—मैं एक ताक़तवर आदमी हूँ। बहुत दिनों तक बिना खाये ज़िन्दा रह सकता हूँ। लेकिन ये बच्चे दो-तीन दिन में ज़रूर मर जाते। यह कहते हुए उसका चेहरा एक प्रकार के गर्व से दमकने लगा—कम से कम मुझे ऐसा ही मालूम हुआ! लेकिन मेरे अन्दर जलती हुई एक नारकीय भट्ठी को अगर वह देख पाता तो शायद वह मुझे उसी समय छोड़ देता, और यह अच्छा ही होता। इतनी बड़ी हार मैंने पहले उससे कभी नहीं खाई थी। अपना भोजन फेंक कर भी वह एक बादशाह की तरह निश्चल भाव से मुझसे बातें कर रहा था। मेरे पास भोजन था, लेकिन मैं मर रहा था। मेरे शरीर से जान-सी निकली जा रही थी और मेरी आत्मा को भी उसके स्वाभिमान की चोट ने अच्छी तरह कुचल दिया था।

"मैं उस दिन सायंकाल तक सिर्फ़ दो-तीन बार ही बोला। मैशीन के आदमी की तरह सिर्फ़ उसके पीछे पीछे चलता रहा। मैं भी अपने भोजन को फेंक दूँ या न फेंकूँ, यह प्रश्न किसी प्रकार भी सरल नहीं होता था।

"दूसरे दिन प्रातःकाल तक मैंने अपना निश्चय पक्का कर लिया और पास की ही एक झोंपड़ी में जाकर अपने थैले को उलट दिया।

"यह देखकर वह कहने लगा—तुमने अच्छा नहीं किया। तुममें इतना शारीरिक और आत्मिक बल नहीं है कि अधिक दिनों तक जी सको। क्या मालूम, अभी कितने दिनों तक किसी समिति से मुलाक़ात न हो। मैंने कहा—देखा जायगा। मृत्यु से अधिक और क्या हो सकता है?

"दस-बारह दिन तक हम किसी प्रकार घूमते रहे। मैं हर वक्त अपने मित्र की थकान को देखा करता था। उसका चेहरा पीला पड़ गया था और आँखों की पुतलियाँ दिन पर दिन छोटी-सी होती जाती थीं। मैंने उससे पूछा—तुम्हारी हालत बहुत गिरी हुई मालूम होती है। उसने जवाब दिया—हाँ, मेरा शरीर थक गया है, परन्तु मेरी आत्मा अब एक स्वर्गीय शान्ति से तरल हो रही है। इस तरह के मरने में भी शायद एक खास आनंद आयेगा ......लेकिन तुमसे मुझे इतनी आशा नहीं थी। मैं जानता हूँ, हर एक आदमी में एक दैवी शक्ति होती है जो उसके केवल महाबलिदान के समय ही काम में आती है। मैंने कहा—मरते समय आदमी की दीपक की-सी दशा हो जाती है। हो सकता है, मेरी यह जाग्रति केवल एक अन्तिम ज्योति ही हो।

"इसी तरह दो-तीन दिन और निकल गये। हमने चलना बन्द कर दिया था। एक अध-सूखे से वृक्ष के नीचे करवटें बदलते हुए सामने के आकाश या ज़मीन की सूखी रेत को देखा करते थे।

"एक दिन, रात पूरी हो चुकी थी। सुबह होने को ही थी। मेरे मित्र ने मुझे धीरे से आवाज़ दी और कहा—क्या मेरे लिए थोड़ा-सा पानी ला सकते हो?

"पानी वहाँ से बहुत दूर था। रात का भरा हुआ पानी वह सब पहले ही पी चुका था। मुझे उठना तक भारी मालूम होता था, तो भी मैं गया।"

यह कहानी यहाँ कुछ रुक-सी गई, इसलिए ख़ीमे के सब लोग एकटक होकर कहनेवाले की तरफ़ देखने लगे। उसने गर्दन झुका ली थी, इसलिए उसका आधे सफ़ेद बालोंवाला सिर उस समय की एक महत्त्वपूर्ण-सी चीज़ हो गई। किसी ने पूछा—"फिर क्या हुआ?"

कुछ देर चुप रहकर वह बोला—"फिर जो हुआ वह मैं कह सकता हूँ, अगर आप, बात को बिना सोचे ही, मुझे एक हत्यारा या नीच आदमी न समझने लगें।"

मैंने कहा—"अपने पाप भी अगर दूसरों के सामने सुना दिये जायँ तो ईश्वर उन्हें क्षमा कर देता है।"

इससे वह कुछ उत्साहित-सा हुआ, परन्तु शीघ्र ही ज़रा रुख़ बदल कर कहने लगा—"नहीं नहीं! वह कोई पाप नहीं है। मैंने जान-बूझकर कुछ नहीं किया।........मैं पानी लाने चला गया। सुबह के पूर्व की ठंडी हवा चल रही थी। कुँए से पानी खींचकर, मैं एक पत्थर पर दम लेने को बैठ गया। मुझे अपनी नस-नस में आराम का-सा अनुभव होने लगा, और मन में भी एक तरह की शान्ति बह रही थी। जीवन की सारी ग्लानि दूर होने का जैसे मेरे लिए वह एक-मात्र समय था। अपने मित्र के सामने मैं दूसरों की नज़र में और अपनी भी नज़र में हमेशा एक

हीन आदमी समझा जाता था। लेकिन आज मैं बुरा आदमी भी कुछ ऐसे काम में आ सका जिस पर मेरे मित्र के जीवन और मरण की बात निर्भर थी। ऐसे ही खयालों में जीवन की बहुत ही पुरानी और छोटी से छोटी घटनाओं का मेरे सामने एक बाइसकोप-सा होने लगा। हाँ. हाँ...यह—मैं कहना भूल गया कि अपना भोजन फेंकने के पहले मैंने उसका आधा भाग अपने कोट के अस्तर में सी लिया था, जिसमें से मैं दो बार पहले भी खा चुका था। बहुत थोड़ा-सा अब भी मेरे सीने से लगा हुआ था। मैंने उसे निकालकर खाया और ऊपर से ठंडा पानी पिया। इसके बाद मैं नहीं कह सकता कि मुझे कैसे नींद आ गई। आँखें खुलने के वक्त आकाश में सूर्य्य बड़े ज़ोर से तमतमा रहा था। क़रीब तीन बजे होंगे।

"आप लोग चाहे मुझे कितना भी नीच आदमी समझें, लेकिन मैं वैसा नहीं हूँ। आप जान सकते हैं कि आँखें खुलने पर फिर मेरी क्या दशा हुई।

मैं चाहता था कि अभी ज़मीन फट जाय और मैं उसमें समा जाऊँ। ओफ़! उस समय मेरे कहीं पर दर्द नहीं हो रहा था, लेकिन शरीर का रोम रोम जैसे फटा जाता था। मैं नहीं जानता था कि मैं क्या करूँ। मैं बहुत तेज़ी से भागकर अपने मित्र के पास पहुँचना चाहता था, परन्तु नसें ऐंठ गई थीं और कलेजा छुटा हुआ मालूम होता था। चारों तरफ़ की हवा मुझे गहरे पानी की तरह घेरे हुए खड़ी थी। एक तरह से वह आत्म-हत्या करने के लिए सबसे अच्छा समय था।

"किसी तरह अपने मित्र की तरफ़ आते हुए मैंने दूर से ही देखा कि उस पेड़ के नीचे बहुत-से आदमी खड़े हुए हैं। उनके कपड़े सफ़ेद थे। मैंने जान लिया, कोई समिति आ गई है। मैं बड़ी उत्सुकता से उनकी तरफ़ बढ़ने लगा। अपने मित्र का प्रसन्न चेहरा बार बार मेरी आँखों के सामने आने लगा। मैं अपना पूरा ज़ोर लगा कर दौड़ा और वहाँ की भीड़ को चीरकर अपने मित्र ......मरे हुए मित्र के पास जाकर उससे लिपटकर रोने लगा। फिर न जाने कब मैं वहाँ से हटा दिया गया—मुझे याद नहीं। मैं बेहोश हो गया था।"

कुछ देर रुककर वह फिर कहने लगा—"मुझे बहुत दिनों से अब खाना हज़म नहीं होता है। खाने के थोड़ी ही देर बाद उलटी हो जाती है, ख़ून गिरने लगता है। और अब तो शरीर एकदम गिरकर बिलकुल मिट्टी में मिल जाना चाहता है।"

इसके बाद वह बिलकुल चुप होकर कुछ सोचने-सा लगा। हम सब लोग भी सिर्फ़ एक दूसरे की तरफ़ देखने लगे, मानो हम बोल सकते ही न थे। थोड़ी देर के बाद मैंने पूछा—"लेकिन भूत का इस कहानी से क्या सम्बन्ध है?"

वह बोला—"भूत का सम्बन्ध! भूत का सम्बन्ध तो मेरे जीवन और मरण से है। ..मेरे लिए मेरा मित्र अब भी जीवित है। मैंने कितनी ही बार उसको अँधेरी और चाँदनी रातों में देखा है। उसके चलने से पत्तियों की सरसराहट को सुना है। परन्तु मेरे पास पहुँचते ही वह लुप्त हो जाता है, जैसे वह मुझसे बहुत नफ़रत करता हो। मैं घर में भी जब उसकी आवाज़ सुनता हूँ तब उसे ढूँढ़ने लगता हूँ। लेकिन हमेशा उसकी आवाज़ दूरी पर ही सुनाई पड़ती है। मैं दुखी होकर चिल्लाने लगता हूँ तब वह चुप हो जाता है। लेकिन धीरे धीरे मुझे उसकी फुसफुसाहट फिर मालूम होने लगती है, जैसे वह अपने बहुत-से साथियों के साथ समिति में काम कर रहा हो।"

थोड़ी देर के लिए फिर सन्नाटा हो गया। मैंने अपनी टाइमपीस की तरफ़ देखते हुए कहा, एक बज गया।

इसके बाद भी कुछ लोग बैठे ही रहे जैसे उन्हें थोड़ी नींद-सी आ गई थी।
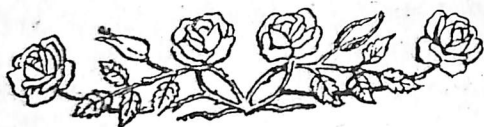
जाग्रत महिलायें

आदर्श माता का अभाव

लेखिका, सौभाग्यवती श्री कमलाबाई किबे

श्रीमती किबे ने इस लेख में मातृत्व के सम्बन्ध में जो उच्च व्यावहारिक विचार प्रकट किये हैं, आशा है विदुषी महिलायें, साथ ही पुरुष भी उन्हें ध्यानपूर्वक पढ़ेंगे और उनसे समुचित लाभ भी उठायेंगे।

स्त्री-जाति पर विवाह के उत्तर-दायित्व के साथ साथ अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व आ पड़ते हैं। विवाह के आनन्द में, उसकी मंगल-वाद्य-ध्वनि में, परिचितों की खुशी में और अत्यन्त निकटस्थ सखी-सहेलियों के हँसी-मज़ाक में हमारी अनेक नववधुएँ इस बात को भूल जाती हैं कि विवाह का अर्थ जीवन का परिवर्तन है। क्या विवाह का अर्थ इतना ही हो सकता है कि उसमें आनन्दानुभव किया जाय अच्छी अच्छी दावतें खाई जायँ तथा भाग्यानुसार प्राप्त हुए दो-चार आभूषण पहनकर सन्तुष्ट हुआ जाय? अथवा प्रत्येक नव-वधू का यह कर्तव्य समझा जाय कि पत्नी-पद प्राप्त होते ही उस पर अपने परिवार, समाज और देश की नीति और धैर्य के साथ सेवा करने का उत्तरदायित्व भी आ पड़ता है? हाँ, विवाह का महत्त्व रखने के लिए उपर्युक्त बातें आवश्यक हैं। एक सुयोग्य कुल-वधू में इतनी हिम्मत होनी चाहिए कि वह अपने परिवार के सुख-दुख का उत्तरदायित्व सँभाल सके। वह समाज से मान प्राप्त करने के लिए इस नाते से इच्छुक न रहे कि वह एक बड़े आदमी की पत्नी है, किन्तु इसलिए कि वह स्त्री-जाति के उदर से उत्पन्न हुई है। अतएव उसके द्वारा कोई ऐसा कार्य न हो जिसके कारण स्त्री-जाति के नाम को कुछ हीनता प्राप्त हो।

एक सुयोग्य कुल-वधू सन्तान की माता होने के लिए जितने भी गुण प्राप्त करे, 'स्त्री-धन' समझकर अपने बाल-बच्चों के सुपुर्द कर दे। इस बात पर हमेशा ध्यान रक्खे कि उस पर स्त्री-जाति का जन्मसिद्ध अधिकार है। वह अभिमान न करे, किन्तु अपने अधिकारों को सँभालने में सदा सतर्क रहे। सामाजिक हलचलों पर अवश्य ध्यान रक्खे, किन्तु इस बात पर भी विचार कर ले कि जल्दबाज़ी और निरर्थक बातें कौन-सी हैं और क्यों हैं। जिस देश में हमारा जन्म हुआ है, जिस देश ने हमारा पोषण किया है, हमें उसकी महत्ता को बढ़ाना चाहिए। देश की अधोगति देखते हुए भी मृत मनुष्य के समान निकम्मी निष्क्रियता धारण किये रहना क्या योग्य है? मेरे विचार

से इन समस्त बातों पर विचार करना 'विवाह' या 'भावी माता' शीर्षक के अन्तर्गत अवश्य ही आता है। लेकिन हमें तो विवाह करना है, फिर चाहे उसकी योग्यता परखने की पात्रता हममें हो या न हो! कुल का नाम ऊँचा होना चाहिए, परन्तु हम उसके लिए प्रयत्न कुछ भी न करेंगी! समाज को चाहिए कि वह हमारी प्रशंसा करे, पर हम कभी समाज की सेवा नहीं करेंगी! देश की अधोगति स्पष्ट दीख रही है, तो भी हमारी विवेक-शक्ति जाग्रत नहीं होती! मन में इच्छायें तो बहुत-सी हैं, पर हमारे हाथ से कार्य कुछ भी नहीं होता! इन समस्त बातों के रहते हुए हमें ज़रा सोच लेना चाहिए कि हम पत्नी के नाते विवाह करने के योग्य हैं या नहीं।

फिर बतलाइए कि विद्वत्ता, चतुरता और सद्गुण आदि किस काम के हैं? ये सभी सद्गुण अब तक मानवीय सत्ता के अधिकार-क्षेत्र में निवास कर रहे हैं, किन्तु अब हम उनका मूल्य घटा रही हैं। यह क्या विद्वत्ता की महिमा है, चतुराई की मलीनता है या सद्गुणों के ह्रास की पराकाष्ठा है? जो कुछ भी कहना हो कह लीजिए, जैसा विचार करना हो, कीजिए। किन्तु यह सब परिणाम की ओर दृष्टि देकर तथा द्रुत मानसिक भावनाओं के वश में न होकर किया जायगा तो उसके द्वारा यह लाभ होगा कि जनता में स्त्री-शिक्षा की चर्चा को योग्य मार्ग मिल जायगा। महिला-समाज का भी आवश्यकीय कर्तव्य है कि वह अपने श्रेष्ठ आचरण-द्वारा स्त्री-शिक्षा की चर्चा का महत्त्व बढ़ाने की चेष्टा करे। हमें स्त्री-जाति का खोया हुआ सम्मान पुनः प्राप्त करना चाहिए। जो बहनें इस बात का जितना अधिक प्रयत्न करेंगी उन्हें उतना ही अधिक सुयश प्राप्त होगा। अन्य बहनें भी इसी मार्ग का अवलम्ब करें। यद्यपि मंज़िल दूर है, तो भी हमें निराश न होना चाहिए। हमें तो अपने मन में दृढ़ आशा रखनी चाहिए कि हम कभी न कभी अपने इच्छित स्थान पर पहुँच जायँगी! श्रेष्ठ भावना और अथक परिश्रम को सफलता मिलती ही है। हो सकता है कि उसमें कुछ देरी लग जाय, पर सफलता अवश्य होगी। अतएव प्रयत्न करना कभी न छोड़े!

जिस तरह कभी कभी अकस्मात् वातावरण विक्षुब्ध हो उठता है, आँधियाँ चलने लगती हैं, घरों के छप्पर उड़ने लगते हैं, लगातार मूसलाधार वृष्टि होने लगती है और मेह भी दो-चार दिन तक आँख नहीं खोलता, उस समय वही मनुष्य जो चार दिन पहले कहता था कि यदि पानी बरसे तो बड़ा अच्छा हो, कहने लगता है कि अब तो अति वृष्टि से सब लोग डूब जायँगे। हमारे हिन्दू-समाज की नारियों की भी आज-कल ठीक वही दशा हो रही है। सबसे पहले तो वह नारी-जाति ठहरी, फिर शरीर की निर्बल और उस पर मानसिक अज्ञानता का गाढ़ अन्धकार। ऐसी दशा में नारी-जाति की प्रतिष्ठा कौन करेगा? उसकी शारीरिक दुर्बलता को दूर करके शक्ति की वृद्धि कौन करेगा? उसके मानसिक अज्ञान को दूर करके उसमें ज्ञान-सूर्य कौन चमकावेगा? पुरुषों ने नारी-जाति से अब तक यथाशक्ति सुविधायें प्राप्त की हैं। अतएव स्वार्थी समाज की जितनी भी अवनति होना शक्य है, उतनी आज-कल भारतवर्ष की हो गई है। इस प्रकार अवनत समाज में अपने सुख-दुख की विवेचना कौन करेगा?

हम स्त्रियों को कुमारीपन की पवित्रता, विवाहोपरान्त पत्नी-पद के महत्त्व, कुल की प्रतिष्ठा, समाज-सेवा और देश-सेवा के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न कार्य करने पड़ते हैं। ज़रा छाती पर हाथ रख कर कहिए तो सही कि इन भिन्न भिन्न कार्य-क्षेत्रों में कितनी महिलाओं के नाम चमक रहे हैं? साथ ही बुद्धिमान् उपाधि-प्राप्त महिलाओं में स्त्रियों की संख्या बहुत ही न्यून है। प्रकृति ने हमारे ज़िम्मे मातृ-पद की थाती स्वाभाविक रूप से सौंप दी है, परन्तु इस बात में भी सन्देह ही है कि हम उसके महत्त्व को पहचानती हैं या नहीं। सन्देह ही नहीं, पर यह बात निश्चित है कि हम उसके महत्त्व को नहीं पहचानतीं। हम तो बस इतना ही जानती हैं कि विवाह कर लें, फिर सन्तानोत्पत्ति हो जाय और हम माता कहलाने लगें। फिर यदि सन्तान भी जीवित रही तो दुर्बलेन्द्रिय रही, और नहीं तो हमारी दीन-हीन स्थिति के कारण अकाल में ही काल-कवलित हो गई! बस, जीवन का यही उद्देश है!

क्या आज-कल की माताओं का सच्चा चित्र इससे अधिक उन्नत और भाव-प्रधान हो सकता है?

प्रत्येक माता चाहती है कि उसका बच्चा आदर्शरूप हो, पर दुःख है कि वे तदनुसार प्रयत्न नहीं करतीं। अतएव इच्छा-शक्ति का अनुकूल प्रभाव नहीं होता, अर्थात् बच्चा जैसा चाहिए वैसा नहीं बनता। जो दम्पति श्रेष्ठाचारी होते हैं, जिनके मन में आदर्श पुत्र की तीव्र लालसा होती है और साथ ही अपने दैनिक व्यवहार में सेवा-धर्म का अनुसरण करते हैं, उनके घर में आदर्श और कुल-दीपक सन्तान का उत्पन्न होना अधिक सम्भव होता है। इसके विपरीत अन्य लोगों के घर में साधारण सन्तान ही होती है। यह विधि का विधान है और यह सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। वर्तमान काल के विवाहों में धार्मिक और सामाजिक बल साधारण श्रेणी में गिना जाता है। ऐसा क्यों होता है? यह परिवर्तन किसने किया? यदि ये प्रश्न एक ओर रख दिये जायँ तो यह बात निश्चित है कि ऐसा होता अवश्य है।

सन्तान-निग्रह के लेख लिखे जाते हैं, पर उसके बजाय क्या ब्रह्मचर्य-व्रत से रहने में अधिक तेज और बल नहीं आता? किन्तु यह बात कहे कौन, और इस तरह के लेख पढ़कर उसके वास्तविक अर्थ के अनुसार कौन चलता है? कारण-यह है कि आजकल के सभी काम एकतन्त्री रूप से पुरुषों के हाथ में हैं। यदि महिलायें अपने हित की कुछ चर्चा भी करती हैं तो उनके ज़रा ज़रा-से शब्द को लेकर उन पर विनय-भंग का दोष लगाया जाता है। यह बात सत्य है कि प्रायः कई महिलायें प्रारम्भ में अनुभव, उपयोगिता और कार्य के महत्त्व को न समझती हुई किसी बात पर एक-दम अमल करना शुरू कर देती हैं। फलस्वरूप समाज उनके इस प्रकार के अपरिपक्व विचारों को उपहास की दृष्टि से देखने लगता है। ऐसा क्यों होता है? इसका कारण यह है कि हम अपने सम्मुख कोई आदर्श तो रखती नहीं और ऊपरी मन से आदर्श आदर्श चिल्लाती हैं। अतएव इस प्रकार के कार्य को महत्त्व कौन देगा? योग्य विचार के अभाव से निरन्तर असफलता होती है। फिर उस बात को सँभालते सँभालते नाक में दम हो जाता है। प्रायः नेताओं को दोष दिया जाता है, पर यह बात क्यों नहीं देखी जाती कि दोष देनेवाला स्वयं नेता नहीं होता। यह कितना हास्यास्पद विचार है कि आगे जानेवाला आगे क्यों चला गया, लेकिन क्या करूँ मेरे पैर दुखते थे इसलिए मैं पीछे रह गया! क्या इस प्रकार की परिस्थिति का सामना करनेवाला कोई वीर पुरुष समाज में नहीं है? जिस घर में आदर्श पत्नी है उसी घर में आदर्श माता होती है। इसके विपरीत सब प्रयत्न व्यर्थ हैं। जिस घर में आदर्श विवाह हो, जहाँ दैनिक घरेलू व्यवहारों में नियमबद्धता हो, जहाँ ध्येय के अनुसार पूरा चाल-चलन हो, उसी घर में आपको आदर्श माता के भी दर्शन होंगे। इसके विपरीत केवल शब्दों का जाल और गौरव ही दृष्टि में आवेगा, अर्थ का कहीं पता भी न होगा। गृहस्थाश्रमी मनुष्यों को और खासकर हमारी महिलाओं को चाहिए कि वे जीवन को इस प्रकार अर्थ-शून्य न बनावें। यदि देखने में भूल हुई होगी तो परिणाम भी कुछ न निकलेगा। फिर पछताने से क्या होता है? जो प्रारम्भ में भूल करता है, बाद में वही पश्चात्ताप से मरता है। यदि अन्त में जाकर ठीक मार्ग की ओर ध्यान गया तो फिर वह निरर्थक होता है। पर लोगों की दृष्टि में उसका कोई मूल्य नहीं होता। जो मनुष्य अपने जीवन में भूल न करने की सतर्कता रखता है वही सच्चा मनुष्य कहलाने का अधिकारी है। अन्य लोग मनुष्य तो हैं, पर उनका कोई मूल्य नहीं। प्रायः अधिकतर ऐसे ही मनुष्य दृष्टिगोचर होते हैं। इसी प्रकार के मनुष्यों में अवनति का जन्म होता है। फिर इस बात की चिन्ता ही कौन करे कि उस अवनति की रक्षा की जाय या वह समूल नष्ट कर दी जाय। यह कार्य तो ज़िन्दादिल जन-समुदाय का है। आवश्यकता है संगठन, सहकारिता और मनोनिग्रह की। इसके अतिरिक्त अन्य विषय गौण समझे जायँ।

यदि अर्थ की ओर दृष्टि दी जाय तो कहना होगा कि हमारी भाषा के अनेक शब्द और वाक्य-समुदाय सिर्फ़ ज्ञान-कोश की शोभा बढ़ानेवाले हैं। कभी कभी तो मन में यह भी प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या संसार के अन्दर

हमारे हिन्दू लोग ही ऐसे हैं जो शब्दों के अर्थ की ओर ध्यान देकर तदनुसार आचरण नहीं करते? उसी समय हमारा मन शब्द के सच्चे अर्थ की ओर अज्ञात रूप से आकृष्ट हो जाता है। स्वतंत्र देशों में बच्चों का बड़ा महत्त्व रहता है, और परतंत्र देशों में वे केवल मनुष्य-गणना की सामग्री होते हैं। इस बात को कौन जान सकता है कि स्वतंत्र देशों के वातावरण में पले हुए बच्चों का प्यार और दुलार परतंत्रता के भार से दबी हुई माताओं को सुखदायक प्रतीत होता है या दुखदायक। जिस अभागे देश में अनेक महामारियाँ आती हैं, जहाँ निरन्तर जल-प्रलय होता रहता है, जहाँ के लोग परतंत्रता की बेड़ी में जकड़े हुए हैं, उस देश के बच्चों की गिनती 'बच्चों' के शीर्षक में कैसे हो सकती है। हाँ, उस देश की मातायें बच्चों से प्रेम करती हैं, अपने मन को प्रसन्न कर लेती हैं, भविष्य-काल की बड़ी बड़ी आशायें बाँधती हैं और अन्त में सभी कुछ बालू की भीत के समान गिर कर अन्तरिक्ष में लीन हो जाता है। फिर कभी संसार में कोई जानता भी नहीं कि कभी इस प्रकार की घटना हुई थी।

बड़े आदमियों के सुख-दुःख को देखकर छोटे बच्चों की वृद्धि करते समय एक खास ध्येय को सम्मुख रखकर ही कार्य की रूपरेखा बनाई जाती है। बालकों की मृत्यु-संख्या में वृद्धि हो रही है, इस बात के खासकर दो ही मुख्य कारण हैं। एक तो कुसमय में बालक का जन्म होना, अर्थात् किसी स्त्री को दो वर्ष में दो बार का प्रसव होना और दूसरा गाय के दूध का अभाव। इन दो बातों में आदर्श माता की क्या आवश्यकता है? उसका कर्तव्य तो यही रहता है कि वह अपनी तन्दुरुस्ती सँभाले रहे और बच्चे के जन्म के साथ उसके रुदन को सहा करे। इस प्रकार की हालत का प्रतीकार करना आदर्श माता के हाथ में है। नारियों के सम्बन्ध में पुरुषों की स्वच्छन्द वृत्ति बनने का खास कारण बहु-पत्नी-प्रथा है। अर्थात् पुरुष चाहे जितने विवाह कर सकते हैं। कई मनुष्य तो ऐसे देखे गये हैं कि उनकी पत्नी की मृत्यु का उन्हें कोई शोक ही नहीं होता, बल्कि वे समझते हैं कि घर की एक बाधा टली। यह वृत्ति हिन्दूसमाज के रीति-रवाजों के द्वारा उत्पन्न हुई है। यह प्रश्न केवल मन में ही विचार करने योग्य नहीं है। इसमें सुधार होना चाहिए और वह सुधार केवल एकांगी ही न हो। जब दोनों ही अंग सुधार-पथ पर कटिबद्ध होंगे तब उन्नति होना दूर की बात न रह जायगी। आदर्श माता के विचारों का विरोध पहले घर के लोगों से ही प्रारम्भ होता है। उनमें भी जो अत्यन्त निकटस्थ लोग हैं, उन लोगों पर इस बात का विशेष उत्तरदायित्व है। हम आदर्श माता बनने के लिए पुरुषों की पत्नी बनती हैं, परन्तु हिन्दुओं की परिस्थिति, दैनिक कार्य और अपनी योग्यता के ज्ञान का अभाव, ये बातें आदर्श माता बनने के प्रतिकूल हैं। अज्ञानता और ग़रीब गृहस्थी में मानसिक श्री-संपन्नता के उत्साह की आवश्यकता है। किन्तु प्रतिकूल सामाजिक अवस्था में उसका साध्य करना दुष्कर है। ऐसी हालत में यदि स्त्री को पूरा सुख, परिस्थिति का परिवर्तन और कीर्ति की इच्छा है तो उसे चाहिए कि पहले वह स्त्री-जीवन के रहस्य और महत्त्व को भली भाँति विचार कर निश्चित कर ले। स्त्री-संघ, नारियों की सामाजिक योग्यता आदि जिन जिन बातों से नारी-सम्मान का बढ़ना सम्भव हो, उन बातों को अपने बड़े आदमियों की सलाह से उपयोग करके आदर्श माता का पद प्राप्त करना चाहिए। निमित्त चाहे जिस पर हो, पर कहना होगा कि ये सभी बातें निर्विवाद हैं, निरुपद्रवी हैं। हमारे पुरुषों को यह बात शोभास्पद नहीं है कि वे रोग तो दूसरा होता है और दवा तीसरे की करते हैं। यदि आदर्श माता चाहिए तो उसके अनुसार प्रयत्न भी करना होगा। मन का निग्रह, सुख-प्राप्ति की झूठी कल्पनायें और सामाजिक तत्त्वों को व्यापक दृष्टि से देखना आवश्यक है। मन की उच्छृंखल लहरें विवेक-द्वारा रोकी जायँगी तभी जाकर स्त्रियों की महत्ता क़ायम होगी। महिलाओं को उत्साह प्रदान करनेवाला केवल एक ही मार्ग है। वह यह कि उनके मार्ग से वे समस्त बाधायें दूर कर दी जायँ जो आदर्श माता बनने में रुकावट डालती हैं। पर्याप्त रक्षा और ग़रीबी हालत के कारण नवजात शिशुओं की मृत्यु-संख्या बढ़ रही है।

उसे रोकना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है। किन्तु दुःख है कि इन बातों पर कोई ध्यान ही नहीं देता। बच्चों की मृत्यु को रोकने का प्रयत्न सबसे पहले पिता को ही करना चाहिए। इसका कारण यह है कि पत्नी के अशिक्षित होने से यद्यपि वह उसके महत्त्व को समझती है, तो भी अज्ञान-जन्य व्यर्थ के भय से वह प्रतिकूल उपायों की योजना नहीं कर सकती। पुरुषगण महिलाओं के सौन्दर्य को भ्रमर-वृत्ति से देखते हैं। उस समय वे नहीं सोचते कि उनके कार्य से स्त्रियों के सद्गुणों का कितना भारी ह्रास होता है। स्त्रियों पर उपदेशों का कोई प्रभाव नहीं होता। अज्ञानता के कारण स्त्रियों के ध्यान में यह विकट परिस्थिति नहीं आती, किन्तु पुरुषों के लिए वही अहितकर होती है। कई लहरी पिताओं को देखकर मन में यह प्रश्न होता है कि क्या कभी इन लोगों के मन में भी आदर्श पिता बनने की इच्छा उत्पन्न होती है? यह प्रश्न वाजिब है या नहीं, इसका निर्णय समाज को ही करना चाहिए। अब तो सब ओर से निराश हुए भारत के बच्चों के अन्दर ही उन्नति की प्रकाश-किरण देखनी चाहिए। जब हमारे मन में यह प्रश्न उत्पन्न हो कि आदर्श माताओं का अभाव क्यों है तब हमें लोकमान्य तिलक, देश पर सर्वस्व अर्पण करनेवाले महात्मा गांधी और चित्तरञ्जनदास की माताओं का वंदन करना चाहिए। यदि कोई माता सच्ची और एकनिष्ठ भावना-द्वारा ईश्वर से देशभक्त और पराक्रमी पुत्र माँगेगी तो उसके तप और देशभक्ति के कारण उसके घर अवश्य ही वैसा पुत्र उत्पन्न होगा। किन्तु आज-कल हमारे मन में ईश्वरभक्ति की इच्छा ही नहीं है और इसी लिए हमारी आशा निराशा में परिणत होती है। अतएव सात्विक उपासना करके स्त्री-समाज की उन्नति कीजिए। जिस जीवन में उपासना की पवित्रता और उससे उत्पन्न हुआ तेज नहीं है वह इस शीर्षक में कभी न आयेगा। देवी-स्वरूप नारियों को देवीरूप ही बनना चाहिए और अब वे साधारण श्रेणी की मानवीय नारियाँ न बनी रहें।

जीवन-यात्रा

श्रीयुत पद्मकान्त मालवीय

जीवन-यात्रा कैसी कठोर?
कितने बीते निशि, दिवस, भोर।
चलते चलते थक गया किन्तु,
दिखलाता है अब तक न छोर॥

पीड़ित है तन का पोर पोर,
चिन्तायें मन में अमित घोर।
ले गया तोड़ दिल भी मेरा,
जो कुछ था कोई चतुर चोर॥

है अन्धकार अति सभी ओर,
दीपकविहीन मग है अछोर।
अपने पन का मैं लिये भार,
चलता जाता हूँ मन-मरोर॥

बढ़ता जाता है वय-तुरंग,
मुझको ले सरपट किसी ओर।
रोके रुकता ही नहीं, हाय!
कर सकता भी मैं नहीं शोर॥

अपने पर अपना ही न ज़ोर,
इसकी पीड़ा है और घोर।
कैसी यात्रा, कैसे साथी?
कैसा है यह मालिक कठोर॥

सबको चलना है उसी ओर,
जिस ओर गये बहराम-गोर।
जीवन है चलना ही चलना,
है मृत्यु शान्ति की कृपा-कोर॥

एक ज्योतिषी की कहानी

क्या हत्यारा ?

लेखक, श्रीयुत मोहनलाल नेहरू

रेल का सफ़र भी एक विचित्र चीज़ है। इसमें दुनिया भर के आदमियों से भेटमुलाक़ात होती रहती है; विचित्र कहानियाँ सुनने में आती हैं, अनोखे हाल मालूम होते हैं। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति को नहीं, केवल उसी को जो आँख खोल कर बैठे और कान खोल कर सुने। आप कहेंगे, आँख खोल-कर तो अंधों के सिवा सभी बैठते हैं और बहरों को छोड़कर कान सभी के खुले रहते हैं। मगर वास्तव में ऐसा नहीं है। आँख खुली होने पर भी बाज़ वक्त नहीं दिखता और कान खुले होने पर भी नहीं सुनाई देता। यदि ऐसा न होता तो जो कहानी मैंने अब सुनी है, कब सुन ली होती।

मैं मंसूरी पहाड़ बहुधा जाया करता था। मुझे वहाँ की हवा से बहुत लाभ

पहुँचता था। यों तो मेरा स्वास्थ्य बिलकुल ठीक था। किन्तु गर्मी बर्दाश्त न कर सकना ही क्या कम बीमारी है? गर्मी में जब ज़रा भी काम से फ़ुर्सत मिलती, मैं मंसूरी पहाड़ को चल खड़ा होता। भट्टेवाली सड़क बनने के पहले राजपुर से मैं पैदल ही जाया करता था, और फिर नई सड़क से भी पैदल जाने लगा। जब कभी मैं उधर से सुबह जाता, अपने ही ऐसे एक व्यक्ति को वहाँ बैठे देखता। मैं सैर करने भी उसी सड़क पर उतर जाया करता था। वहाँ भीड़ नहीं होती थी।

गत दो वर्षों में मेरी उससे कई दफ़े भेंट हो चुकी थी। मैं उसे पहचान गया था, वह मुझे। मगर मैं अपरिचित व्यक्ति से क्यों बोलता? शायद वह मुझे झिड़क दे तो क्या इज्ज़त रह जायगी? मुझे इज्ज़त का बड़ा ख़याल रहता है।

वह अकेला ही एक पत्थर पर बैठा सड़क और खड्ड की सैर किया करता। उसके आस-पास तक कोई न जाता। वह सुस्त दिखाई देता था। उसकी फ़ुट भर की लम्बी डाढ़ी तीन हिस्से सफ़ेद हो गई थी,
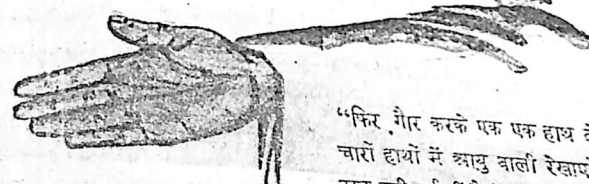
"फिर गौर करके एक एक हाथ देखा। चारों हाथों में आयु वाली रेखाएँ उसी तरह कटी हुई थीं जैसी मेरे हाथ की।"

उसके सिर के बाल भी लगभग सारे ही सफ़ेद थे। चाँद गंजी थी। उसके चौड़े माथे पर सिकुड़नें पड़ गई थीं। किसी आदमी को देखकर उसकी आँख तुरन्त ही नीचे हो जाती थी, मानो वे शरमा जाती हों। वह छोटी-सी लठिया लेकर या तो वहाँ आता या बैठा मिलता था।

मुझे उसका परिचय प्राप्त करने की बड़ी उत्सुकता थी। मैं यह जानने को उत्सुक था कि उसके बाल-बच्चे हैं या वह अकेला ही है और उसकी उदासी का क्या कारण है। मैं रोज़ उधर ही जाता कि शायद कोई मौक़ा उससे परिचित हो जाने का मिल जाय। एक दिन वह वहाँ न था। शायद मैं ही जल्दी आ गया था। आज उस पत्थर पर मैं बैठ गया। बैठे ही बैठे आँख झपक गई। एकदम चौंक कर देखता हूँ कि वह लौट रहा है। मैंने पुकारा, कहा—भाई साहब, क्षमा करना, आप विराजें। मैंने आपका स्थान लेकर आपको कष्ट दिया।

उसने दबी ज़बान से कहा—नहीं, नहीं, आप बैठे रहें, मैं भी बैठ जाऊँगा। जगह तो बहुत है, मैं तो आपको सोता देखकर इस डर से लौट चला था कि आप जाग न जायँ।

हम दोनों कुछ देर चुप बैठे रहे। अन्त में मैंने बात-चीत शुरू करना मुनासिब समझा। अगर हम दोनों चुप बैठे रहते तो कोई बात ही न मालूम

होती। परन्तु दो आदमियों का चुप्पी मारे बैठे रहना कुछ अच्छा भी नहीं मालूम होता था। मैंने पूछा—क्या आप यहीं के रहनेवाले हैं या मेरी ही तरह प्रति वर्ष यहाँ आ जाते हैं?

"मैंने यहीं खड्ड में वह छोटी-सी बँगलिया मोल ले ली है, अकेला वहीं पड़ा रहता हूँ।"

"आपके बाल-बच्चे कहाँ हैं?"

"वे सब अपने घर में हैं। काम-काज में लगे हुए हैं।"

"आप उनके साथ क्यों नहीं रहते?"

"यों ही, एकांत पसंद है।"

इसके बाद रोज़ ही कुछ न कुछ बातचीत हो जाती। किन्तु वह केवल मेरी बात का ही उत्तर देता और अधिक न कहता। फिर उसी तरह मुँह लटकाकर बैठ जाता। कभी कभी वह मुझे अपने घर ले जाता, परन्तु वहाँ भी वाजबी बातचीत के सिवा कुछ न होता। मैंने एक दिन उसके घर में कुछ ज्योतिष की किताबें देखीं।

"अच्छा, आप ज्योतिष पर भी विश्वास रखते हैं।" मैंने कहा।

"हाँ, काफ़ी। क्या आप उसे नहीं मानते?" उसने बड़े आश्चर्य से पूछा।

"मैं तो ढकोसलेबाज़ी समझता हूँ। यह कैसे कोई जान सकता है कि किसी के हाथ में क्या लिखा है? लकीरें सभी की एक-सी होती हैं।"

"नहीं भाई, यह ग़लत है। जाननेवाले पढ़ ही लेते हैं।"

"क्या आप पढ़ सकते हैं? मेरा हाथ पढ़िए।" यह कहते हुए मैंने दाहना हाथ फैला दिया। उसके मुँह का रहा-सहा रंग ग़ायब हो गया।

"नहीं, मैं पढ़ूँगा नहीं। मैंने उस दिन से क़सम खा ली है.........।"

वह एकाएक रुक गया, कुछ देर चुप रहकर फिर बोला—अब अधिक खून अपने सिर न लूँगा।

कुछ देर सन्नाटा रहा। मैंने सोचा, क्या यह खूनी है। मैं बाल-बच्चोंदार आदमी क्या खूनी से भाई-चारा जोड़ रहा हूँ? क्या अच्छा होता यदि मैं इससे परिचय ही न बढ़ाता! अगर इस समय पुलिस आ गई तो मैं मुफ़्त में बँधा फिरूँगा। उफ़! बहुत ज्यादा मेल-जोल बढ़ाने का यही नतीजा होता है। फिर भी हिम्मत करके पूछा—मगर हाथ देखने में खून कैसा?

उसने ठंडी साँस लेते हुए कहा—इसकी बड़ी कहानी है। कहाँ तक सुनिएगा? बहुत समय लगेगा। सुनना ही चाहें तो फिर किसी दिन सुना दूँगा। आज तो देर होगई है।

(२)

मैं तीसरे दिन फिर उसके घर जा पहुँचा। वह अभी लौट कर आया था, शाम हो चली थी। पुलिस का डर परसों से आज कम था। मैंने कहा—आज वह कहानी ज़रूर सुनाइए।

उसने बिना किसी दूसरे तक़ाज़े के कहना शुरू कर दिया। उसने कहा—

"बहुत दिन की बात है, परन्तु मेरी आँखों के सामने हर दम दिखाई देती रहती है। ऐसा मालूम होता है, जैसे वह घटना अभी घटी हो। तभी से मेरा चित्त शान्त नहीं रहता। न किसी से बात ही करने को, न कहीं आने-जाने को। परमेश्वर की कृपा से पिता जी ने मेरे वास्ते बहुत धन जमा कर रक्खा था। रात और दिन परिश्रम करके जो कुछ भी कमाते उसमें से नाम-मात्र को ख़र्चते थे, बाक़ी सब बैंक में बंद हो जाता था और वह सब मेरे अधीन कब का हो चुका था। मैं कालेज छोड़ चुका था और धनोपार्जन के वास्ते काम करने की कोई ज़रूरत न थी। मुझे ज्योतिष सीखने का शौक़ पैदा हुआ। समय काफ़ी था। मैं ज्योतिष सीखने में बहुत समय देने लगा। थोड़े ही दिनों में जन्मपत्री देखना और हाथ की रेखायें पढ़ना जान गया।

"जब मैं दूसरों का भविष्य जान सकता था,

भला अपना क्यों न जान सकता? अपने हाथ की रेखायें मैंने पढ़ीं। मेरी आयु की रेखा बीच में कुछ टूटी हुई थी। या तो मैं युवावस्था में मर जाऊँगा या कम से कम मौत के दरवाज़े तक ज़रूर पहुँचूँगा। यह मैं नहीं मालूम कर सकता था कि ठीक कौन-सी अवस्था में यह घटना होगी। शायद २५ वर्ष में हो या ३० में। यही लगभग आदमी की आधी अवस्था होती है। मैं केवल मित्रों के या उनके परिचितों के हाथ या जन्मपत्रियाँ देखा करता था। उनमें से कितने ही मेरा मज़ाक उड़ाते और कितने ही मेरी बातों का यक़ीन कर लेते।

"मैं ३० वर्ष की अवस्था को पार कर चुका था, परन्तु बीमार तक न हुआ था। मेरे कुछ मित्र मुझसे कहा करते कि मैं कच्चा ज्योतिषी हूँ। मुझे पूरा यक़ीन था कि मैं रेखायें ठीक पढ़ सकता हूँ, फिर भी मैंने हाथ देखना छोड़ दिया। एक दफ़ा मैं एक विवाह में सम्मिलित हुआ, जहाँ और कई स्त्री-पुरुष जमा थे। उनमें से कितनों ही को मैंने पहले-पहल वहीं देखा था।

"किसी ने वहाँ मेरे हाथ देखने की शक्ति का भंडा फोड़ दिया। फिर क्या कहना था? जितनी भी स्त्रियाँ वहाँ एकत्र थीं, सभी हाथ दिखाने के वास्ते जमा हो गईं। मैंने सभी को यह कह कर टाल दिया कि मैं केवल नौसिखिया हूँ।

"विवाह की रस्में ख़त्म होने पर मैं घर जाने को एक्सप्रेस गाड़ी पर सवार हुआ। और लोग भी वहाँ से लौट रहे थे। मेरे डिब्बे में दो परिचित स्त्रियाँ और दो पुरुष आ बैठे। रेल चल दी।

"चारों ने अपने अपने हाथ फैला दिये। और देखने का आग्रह करने लगे। मैंने बहुतेरा बहाना किया, पर उन्होंने किसी तरह न माना। मैं लाचार हो गया।

"चारों हाथ मेरे सामने थे, सभी पर मेरी निगाह पड़ी। मैं दंग रह गया। फिर ग़ौर कर के एक एक हाथ देखा। मुझे भ्रम न था, ठीक ही देखा था। उन चारों हाथों में आयुवाली रेखायें उसी तरह कटी हुई थीं जैसी मेरे हाथ की। मैंने फिर फिर ग़ौर किया, परन्तु वहाँ तो कोई दूसरी चीज़ थी ही नहीं।

"मैं कुछ न बोला, मानो शक में था। रेल बहुत तेज़ भागी जा रही थी। डसना स्टेशन छूट रहा था। जी में आया, दौड़कर ज़ंजीर खींच लूँ कि रेल रुक जाय, मगर उठ न सका। सोच में ही पड़ा रह गया। होनहार टल नहीं सकता।

"चारों साथी बार बार मुझसे बोलने को कह रहे थे और मेरे चुप्पी साधने पर हँस रहे थे कि एक-दम हमारी रेल लड़ गई और मैं बेहोश हो गया। जब मुझे होश आया तब मैं अपने घर में पलँग पर पड़ा था और मेरी स्त्री मेरे सिरहाने उदास बैठी थी। मुझे आँख खोलते देख उसका चेहरा खिल गया।

"मुझे स्वस्थ होने में ४ महीने लगे। दो महीने तक तो बचने की कोई आशा न थी। मेरे चारों साथी उसी डसना की घटना में सैकड़ों स्त्री-पुरुषों के साथ मर चुके थे। मुझे तो अभी अपनी भूल, अपनी मूर्खता, अपनी कमज़ोरी पर पश्चात्ताप करना था। यह जानते हुए कि उस डिब्बे में सबकी आयु की रेखायें कटी हुई हैं, मुझे यह मालूम हो गया था कि हम सबका अंत आ पहुँचा है जो साथ ही होगा। वह सिवा रेल लड़ने के और कुछ नहीं हो सकता था। रेल रोकने की इच्छा होने पर भी न रोक सका। ज़रा ज़ंजीर खींचने से सैकड़ों जानें मैं बचा सकता था, मगर नहीं बचाईं। उस दिन से मुझे आज तक यही ध्यान रहता है कि मैं उन मौतों का ज़िम्मेदार हूँ। आप ही बतावें क्या मैं हत्यारा नहीं?"

मुझे तुलसीदास जी का एक दोहा याद आगया। वही मैंने उसे सुना दिया—

सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कहेउ मुनिनाथ।
हानि लाभ जीवन मरन, जस अपजस विधि हाथ॥

मैं पहले इस पर यक़ीन नहीं रखता था, किन्तु अब कैसे ग़लत मानता।

लन्दन में जुबिली की धूम

लेखक, श्रीयुत श्रीमन्नारायण अग्रवाल, एम० ए०

अँगरेज़ों के लिए ६ मई बड़े महत्त्व का दिन था। जिस जुबिली के लिए कई महीनों से बड़े उत्साह के साथ तैयारियाँ हो रही थीं उसको देखने के लिए लोग बहुत उत्सुक थे। इँग्लैंड के शहरों और गाँवों से तो हज़ारों स्त्री और पुरुष लन्दन में आये ही थे, लेकिन योरप के अन्य देशों के लोग भी इस अवसर पर उपस्थित थे। भारत से भी कई महाराज जुबिली के जलूस में भाग लेने को आये थे। लन्दन में कई दिन पहले ही क़रीब हर एक घर झंडी और 'यूनियन जैक' से सजाया गया था। सड़कों के दोनों ओर के खम्भे और झंडियाँ खूब सजाई गईं। मकानों की दीवारों और खिड़कियों पर फूल लगाये गये। स्थान स्थान पर बिजली के द्वारा "लाँग लिव दी किंग" लिखा गया।

जुबिली के जलूस को देखने के लिए बहुत-से लोग ५ मई की शाम से ही सड़कों के किनारे जगह ढूँढ़ने लगे। कितने ही लोग पार्कों में रात भर बैठे और घूमते रहे ताकि सुबह जलूस अच्छी तरह देख सकें। जिस रास्ते से जलूस निकलनेवाला था उसकी सड़कों के दोनों ओर सूरज के निकलने के पहले ही हज़ारों लोग खड़े हो गये। अक्सर यहाँ सूर्य्य भगवान् के दर्शन बहुत देर तक नहीं होते। लेकिन ६ मई को वे भी सुबह से शाम तक बराबर चमकते रहे। धूप और गर्मी के होते हुए भी लोग अपनी अपनी जगहों से नहीं हटे। क़रीब ७ हज़ार लोग खड़े रहने से बेहोश हो गये। इनमें से ज्यादातर स्त्रियाँ ही थीं। तो भी उत्साह में किसी प्रकार की कमी नहीं हुई।

मेरे कई मित्र जलूस देखने के लिए बड़े तड़के ही चले गये थे। मुझको जाने में देर हो गई। जलूस बादशाह के बकिंहम-पैलेस से शुरू होनेवाला था। मैं वहीं पहुँचा। समुचित स्थान मिलने की कोई आशा न थी। लेकिन भाग्य से इतनी देर हो जाने पर भी काफ़ी अच्छा स्थान मिल गया। चारों ओर बड़ी भीड़ थी और सब लोग खुशी से भरे हुए थे। तो भी यहाँ के लोगों में इतनी नियम-पाबन्दी है कि किसी तरह पुलिस के प्रबन्ध में रुकावट नहीं डाली जा रही थी। एक दूसरे को धक्का देकर आगे निकलना तो यहाँ कोई जानता ही नहीं। जिन स्थानों में जाना मना था वहाँ भूल कर भी कोई क़दम नहीं रखता था। लोगों के इस आत्म-संयम और नियम-पाबन्दी को देखकर मुझे बड़ी खुशी हुई। लेकिन भारत की भीड़ की याद आकर बड़ा दुःख हुआ। मुझे पूरा विश्वास है कि हिन्दुस्तान में इतनी भीड़ सँभालने के लिए पुलिस को अपने डंडों से काफ़ी सहायता लेनी पड़ती। जुबिली के दिन स्टेशनों पर बहुत भीड़ थी। लेकिन टिकट लेने के लिए लोग अपनी अपनी लाइन बना कर खड़े हो जाते थे। अगर भारत में भी लोग इसी तरह काम करें तो कितना अच्छा हो।

लगभग पौने ग्यारह बजे जलूस निकलना शुरू हुआ। पहली गाड़ी में यार्क के ड्यूक और डचेस कुमारी एलीज़ाबेथ और मार्गरेट के साथ निकले। लोगों ने खूब खुशी की आवाजें लगाईं। दूसरी गाड़ी में केन्ट के ड्यूक और डचेस थीं। तीसरी में प्रिन्स

आफ़ वेल्स, नार्वे की महारानी और ड्यूक आफ़ ग्लोस्टर थे। सब गाड़ियों के आगे घुड़सवार रंग-बिरंगी चमकीली पोशाकों में थे। जब चौथी गाड़ी निकली तब बड़ा शोर हुआ। लोग खुशी के मारे उछल पड़े। चारों ओर टोप हिलते हुए दिखलाई पड़ते थे। इस गाड़ी में जिसमें छः सफ़ेद घोड़े जुते हुए थे, बादशाह और महारानी थीं। बकिंहम पैलेस से निकलकर और हाइड पार्क के पास से पिकेडली और स्ट्रेंड से होकर, क़रीब साढ़े ग्यारह बजे, जलूस सेन्ट पल्स कैथेड्रल पहुँचा, जहाँ जुबिली का मुख्य संस्कार होनेवाला था। इग्लेंड, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलेंड, कनेडा, दक्षिणी अफ़्रीका के प्रधान मंत्रियों और हिन्दुस्तान के प्रतिनिधि सर जोज़फ़ भोर और कई महाराजों आदि की भी गाड़ियाँ शहर से होकर सेन्ट पल्स कैथेड्रल पहुँचीं, रास्ते में जलूस के निकलने पर खूब हर्ष मनाया गया। लोगों के चीखते चीखते गले बैठ गये। लेकिन अँगरेज़ों को अपने बादशाह और उनके कुटुम्ब के प्रति इतना प्रेम है कि वे उनके देखने की खुशी के सामने किसी और बात की परवा नहीं करते। हज़ारों लोग, विशेष कर स्त्रियाँ घंटों धूप में इतनी भीड़ में खड़ी रहीं। लेकिन किसी के चेहरे से कष्ट का भाव प्रतीत नहीं होता था। बहुत-से लोग बेहोश हो गये, लेकिन किसी को इसका विशेष रञ्ज नहीं था।

सेन्ट पल्स कैथेड्रल में धार्मिक संस्कार लगभग एक घंटे तक हुआ। गिर्जे की वेदी के सामने बादशाह और महारानी बैठे थे। उनके पास उनके कुटुम्बी और हिन्दुस्तान के महाराजे थे। बाहर के बहुत-से महमान भी मौजूद थे। लगभग चार हज़ार लोगों ने गिर्जे के अन्दर जुबिली की कार्य्यवाही को देखा और सुना। राष्ट्रीय गान होने के बाद और कई धार्मिक प्रार्थनायें की गईं। उसके बाद केन्टरबेरी के आर्च बिशप ने महत्त्वपूर्ण स्पीच दी, जिसमें उन्होंने बादशाह के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें कहीं और परमेश्वर को धन्यवाद दिया कि उनके बादशाह
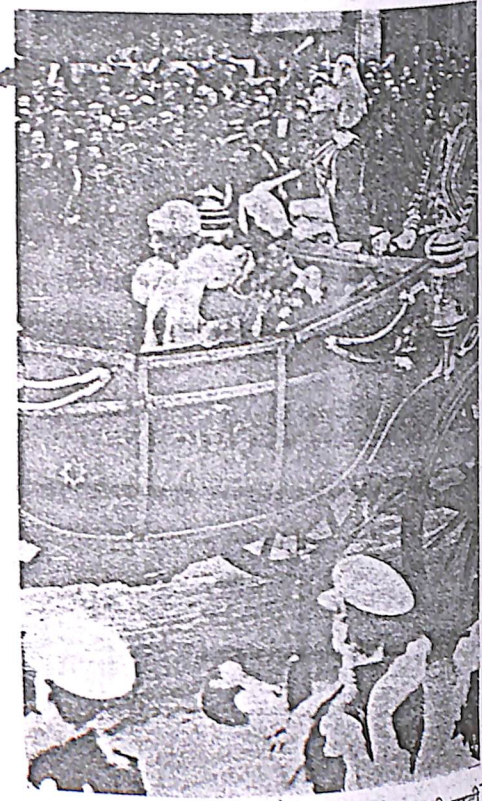
[जलूस का एक दृश्य—बादशाह और महारानी की गाड़ी]

बड़ी योग्यता-पूर्वक पचीस वर्ष तक राज्य कर सके। उनका हृदय सच्चे प्रेम से परिपूर्ण था। सचमुच सारी ही ब्रिटिश जाति बादशाह को सच्चे हृदय से प्यार करती है।

इस धार्मिक संस्कार के बाद जलूस वापस चला। रास्ते में फिर खूब हर्ष मनाया गया। क़रीब एक बजे बादशाह अपने जलूस के साथ बकिंहम पैलेस पहुँच गये। पैलेस के सामने बड़ी भीड़ थी। लोगों को धन्यवाद देने के लिए बादशाह और उनका कुल कुटुम्ब पैलेस के छज्जे पर आकर खड़े हुए। लोगों के हर्ष का कुछ ठिकाना न था। खूब ही खुशी मनाई
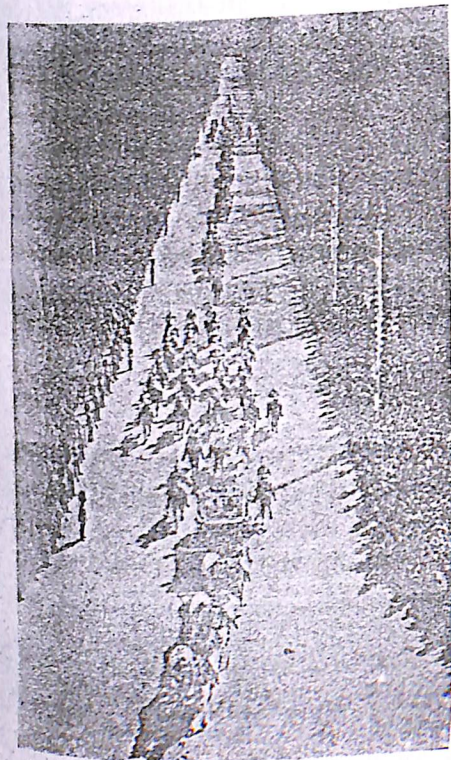
[बादशाह का जलूस कान्स्टीट्यूशन हिल होकर जा रहा है।]

गई। उसके बाद बादशाह महल के अन्दर चले गये और भीड़ धीरे धीरे घटती गई।

शाम को आठ बजे बादशाह ने बेतार के तार द्वारा सारे राष्ट्र को अपना सन्देश दिया। उन्होंने अपने 'प्यारे देशवासियों' को उनके प्रेम और सदिच्छाओं के लिए हार्दिक धन्यवाद दिया। बच्चों के लिए उन्होंने विशेषकर अपना सन्देश दिया। उन्होंने कहा—"हमारे इस महान् साम्राज्य के भावी नागरिक तुम्हीं हो। इस बात का विचार तुमको सदैव रखना चाहिए, जिससे तुम बड़े होकर अपने कर्म, मन, और हृदय से देश की सेवा कर सको।"

रात के समय हम लोग शहर की रौनक़ देखने को गये। सारे लन्दन की ख़ास ख़ास इमारतें बिजली-द्वारा प्रकाशित की गई थीं। बकिंहम पैलेस, सेन्ट जेम्स पैलेस, काउन्टी हाल इत्यादि सभी जगमगा रहे थे। पार्कों में भी फूलों और पेड़ों पर रोशनी की गई थी। बहुत ही सुहावना लगता था। मैं टेम्स नदी के वेस्ट मिनिस्टर-ब्रिज पर गया। वहाँ से शहर के दोनों ओर की रोशनी और
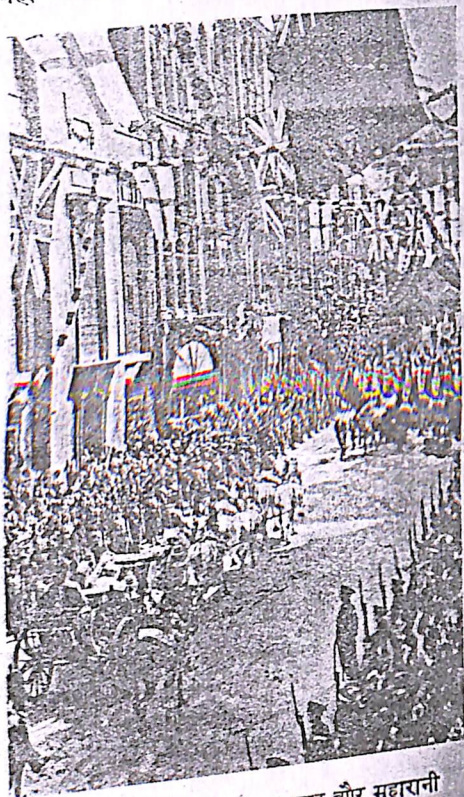
[जलूस का दूसरा दृश्य—बादशाह और महारानी की गाड़ी 'केथेड्रल' के पास जा रही है।]

प्रकाशित इमारतें दिखलाई देती थीं। नदी के किनारे की इमारतों की परछाईं पानी में बड़ी सुन्दर लगती थी। कई रंग की रोशनी और झंडियों की सजावट रात को बहुत अच्छी मालूम पड़ती थी। हज़ारों लोग सड़कों पर घूमते हुए शहर की सुन्दरता को देखते फिरते थे। पार्कों में भी ख़ूब भीड़ थी। चारों ओर घूमकर मैं लगभग बारह बजे घर वापस आकर सो गया। बहुत-से लोगों ने रात भर नाचने, गाने और घूमने में ही बिताया। इस प्रकार ६ मई जिसके लिए इतने दिनों से तैयारियाँ हो रहीं थीं, समाप्त हुई।

इस जुबिली के जलसे में सबसे अनोखी बात जो मुझे लगी वह है एक प्रजातन्त्र जाति का अपने बादशाह के प्रति प्रेम। ब्रिटेन के बादशाह को शासन करने का अधिकार नहीं है। वे केवल नाम के लिए ही बादशाह हैं। देश का शासन पार्लमेन्ट के द्वारा ही होता है। तो भी अँगरेज़ों में अपने बादशाह के प्रति इतनी भक्ति है। उसके लिए वे अपना जीवन देने को तैयार रहते हैं। वैसे तो देश में कई राजनैतिक दल हैं, जिनमें अक्सर फूट रहती है। श्रमजीवी लोग धनाढ्यों की शक्ति को छीनना चाहते हैं। अक्सर मिलों में हड़तालें हो जाया करती हैं। लेकिन इस भेद-भाव के होते हुए भी जब "गाड सेव दि किंग" गाया जाता है तब सब वर्ग और दल आपस में मिल कर एक हो जाते हैं। बादशाह के नाम में एक अनूठा जादू है। उसी के द्वारा सारा राष्ट्र एक प्रेम के धागे में बँधा हुआ है। योरप के अन्य देशों में प्रजातन्त्र राज्य होने के बाद बादशाहों का प्रभाव घटता चला जा रहा है, लेकिन ब्रिटेन में बिलकुल उलटी बात दिखलाई देती है। बादशाह के हाथ में कुछ भी अधिकार न होते हुए भी उनके लिए वहाँ वालों का प्रेम बढ़ता ही चला जा रहा है। वे सारे राष्ट्र की एकता के चिह्न हैं। प्रधान मंत्री तो आते और जाते रहते हैं, किन्तु बादशाह राष्ट्र को बहुत दिनों तक अपने प्रेम-सूत्र में बाँधे रहता है।

[जलूस में प्रिन्स आफ़ वेल्स और नार्वे की महारानी]

बादशाह के इस महत्त्व का कारण राजनैतिक नहीं है। लोग उनकी महिमा इसलिए नहीं गाते कि उनको बादशाह कुछ धन या अधिकार दे देंगे। उनकी ख़ुशामद या चापलूसी करना ही व्यर्थ है क्योंकि उनके हाथ में कुछ अधिकार हो नहीं हैं। अँगरेज़ लोग अपने बादशाह को राष्ट्र-रूपी कुटुम्ब का पिता समझकर उनके प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित करते हैं। इसी लिए बादशाह का प्रभाव सामाजिक क्षेत्र में है, राजनैतिक क्षेत्र में नहीं। बादशाह भी अपनी प्रजा को पुत्र के समान प्यार करते हैं।

उनके जुबिली-सन्देश से सच्चा प्रेम टपकता है। ग़रीब और अमीर का भेद-भाव छोड़ कर बादशाह और महारानी अक्सर जनता के बीच में आकर सबसे मिलते-जुलते हैं। कितनी ही बार वे ग़रीबों के घरों में जाकर उनके साथ चाय पीते हैं। ख़ुशी और दुःख में हमेशा वे अपनी प्रजा के साथ रहते हुए उनकी सेवा में लगे रहते हैं। इसी लिए जनता का उनके प्रति इतना प्रेम है। जुबिली का हर्ष सचमुच इसी प्रेम से पूर्ण था।

दूसरी विशेष बात जो मैंने पाई वह थी राजनैतिक भाव की न्यूनता। जुबिली की ख़ुशी में यहाँ के लोगों ने अपने साम्राज्य के महत्त्व को बढ़ाने की इच्छा नहीं दिखलाई जैसे कि हाल में हर हिटलर की वर्ष-गाँठ के अवसर पर जर्मनी में दिखलाई गई थी। लन्दन में दूसरी जातियों के प्रति किसी प्रकार के कुविचार न थे। आज-कल जब संसार की जातियों में परस्पर इतनी ईर्ष्या और भेद-भाव है, जुबिली के अवसर पर ऐसे शान्ति और प्रेम के विचारों का होना सचमुच सराहने योग्य है।

[सेंट पाल्स केथेड्रल में धार्मिक संस्कार—बीच में बादशाह और महारानी खड़े हैं]

तीसरी बात थी धार्मिक भाव की प्रधानता। जुबिली का मुख्य कार्य्य गिर्जे में किया गया था। आज-कल पाश्चात्य देशों में धर्म का अभाव है। जर्मनी और इटली, हिटलर और मुसोलिनी को ही ईश्वर समझने लगे हैं। रूस में गिर्जे की जगह अजायबघर बनाये जा रहे हैं। लेकिन ब्रिटेन ईश्वर को नहीं भूला है। हिन्दुस्तान में हमारा ख़याल है कि इँग्लेंड आध्यात्मिक बातों की परवा नहीं करता और स्थूल वस्तुओं के संग्रह में लिप्त है। लेकिन यह विचार ग़लत है। यहाँ के लोग अपनी ख़ुशी, उन्नति और बादशाह के प्रेम में ईश्वर को नहीं भूले हैं। यही कारण है कि आज-कल जब अन्य राष्ट्रों में अशान्ति फैली हुई है, ब्रिटेन शान्ति-पूर्वक, ईश्वर पर विश्वास रखता हुआ, अपने पथ पर चला जा रहा है।

सत्रह वर्ष

लेखक, श्रीयुत रवीन्द्रनाथ ठाकुर

अनुवादक, श्रीयुत धन्यकुमार जैन

सत्रह वर्ष से मेरी उसकी जान-पहचान है। कितना आना-जाना, देखना-भालना, कहना-सुनना; उसी के आस पास कितने स्वप्न, कितने अनुमान, कितने इशारे; साथ ही कभी पौ फटने से पहले उचटी हुई नींद में ध्रुवतारे की चमक। कभी आषाढ़ की संध्या में चमेली की ख़ुशबू, कभी वसन्त के शेष प्रहर में थकी हुई नौबत की पीलू-बरवाँ तान, लगातार सत्रह वर्ष से ये सब गुँथे हुए थे उसके मन में।

और उन सबके साथ मिलाकर वह मेरा नाम लेकर पुकारती। उस नाम से जो आदमी बोलता वह अकेले विधाता की रचना तो नहीं थी। वह तो उसी के सत्रह वर्ष की पहचान से बना था; कभी आदर से और कभी अनादर से; कभी काम से और कभी बिना काम के; कभी सबके सामने और कभी अकेले छिप हुए। सिर्फ़ एक आदमी के मन की जान-पहचान से बना हुआ था वह आदमी।

उसके बाद और भी सत्रह वर्ष बीत गये। पर इनके दिन इनकी रातें तो उस नाम के राखी-बन्धन से एक होकर मिलतीं नहीं;—ये तो बिखर गईं।

इसी से ये रोज़ मुझसे पूछती हैं—"हम रहेंगी कहाँ? हमें बुलाकर घेरे कौन रहेगा?"

मैं उसको कोई जवाब नहीं दे पाता, चुपचाप बैठा रहता हूँ और सोचा करता हूँ। और वे हवा में उड़ी चली जाती हैं। कहती हैं—"हम ढूँढ़ने चलीं।"

"किसे?"

किसे, सो ये नहीं जानतीं। इसी से कभी इधर जाती हैं, कभी उधर; संध्याकाल के इधर-उधर बिखरे हुए मेघों की तरह अँधेरे में पार हो रही हैं, देखने में नहीं आतीं।

उनके जुबिली-सन्देश से सच्चा प्रेम टपकता है। ग़रीब और अमीर का भेद-भाव छोड़ कर बादशाह और महारानी अक्सर जनता के बीच में आकर सबसे मिलते-जुलते हैं। कितनी ही बार वे ग़रीबों के घरों में जाकर उनके साथ चाय पीते हैं। ख़ुशी और दुःख में हमेशा वे अपनी प्रजा के साथ रहते हुए उनकी सेवा

[सेंट पाल्स केथेड्रल में धार्मिक संस्कार—बीच में बादशाह और महारानी खड़े हैं]

में लगे रहते हैं। इसी लिए जनता का उनके प्रति इतना प्रेम है। जुबिली का हर्ष सचमुच इसी प्रेम से पूर्ण था।

दूसरी विशेष बात जो मैंने पाई वह थी राजनैतिक भाव की न्यूनता। जुबिली की ख़ुशी में यहाँ के लोगों ने अपने साम्राज्य के महत्त्व को बढ़ाने की इच्छा नहीं दिखलाई जैसे कि हाल में हर हिटलर की वर्ष-गाँठ के अवसर पर जर्मनी में दिखलाई गई थी। लन्दन में दूसरी जातियों के प्रति किसी प्रकार के कुविचार न थे। आज-कल जब संसार की जातियों में परस्पर इतनी ईर्ष्या और भेद-भाव है, जुबिली के अवसर पर ऐसे शान्ति और प्रेम के विचारों का होना सचमुच सराहने योग्य है।

तीसरी बात थी धार्मिक भाव की प्रधानता। जुबिली का मुख्य कार्य्य गिर्जे में किया गया था। आज-कल पाश्चात्य देशों में धर्म का अभाव है। जर्मनी और इटली, हिटलर और मुसोलिनी को ही ईश्वर समझने लगे हैं। रूस में गिर्जे की जगह अजायबघर बनाये जा रहे हैं। लेकिन ब्रिटेन ईश्वर को नहीं भूला है। हिन्दुस्तान में हमारा ख़याल है कि इँग्लेंड आध्यात्मिक बातों की परवा नहीं करता और स्थूल वस्तुओं के संग्रह में लिप्त है। लेकिन यह विचार ग़लत है। यहाँ के लोग अपनी ख़ुशी, उन्नति और बादशाह के प्रेम में ईश्वर को नहीं भूले हैं। यही कारण है कि आज-कल जब अन्य राष्ट्रों में अशान्ति फैली हुई है, ब्रिटेन शान्ति-पूर्वक, ईश्वर पर विश्वास रखता हुआ, अपने पथ पर चला जा रहा है।

सत्रह वर्ष

लेखक, श्रीयुत रवीन्द्रनाथ ठाकुर

अनुवादक, श्रीयुत धन्यकुमार जैन

त्रह वर्ष से मेरी उसकी जान-पहचान है। कितना आना-जाना, देखना-भालना, करना-सुनना; उसी के आस पास कितने स्वप्न, कितने अनुमान, कितने इशारे; साथ ही कभी पौ फटने से पहले उचटी हुई नींद में ध्रुवतारे की चमक। कभी आषाढ़ की संध्या में चमेली की ख़ुशबू, कभी वसन्त के शेष प्रहर में थकी हुई नौबत की पील-बरवाँ तान, लगातार सत्रह वर्ष से ये सब गुँथे हुए थे उसके मन में।

और उन सबके साथ मिलाकर वह मेरा नाम लेकर पुकारती। उस नाम से जो आदमी बोलता वह अकेले विधाता की रचना तो नहीं थी। वह तो उसी के सत्रह वर्ष की पहचान से बना था; कभी आदर से और कभी अनादर से; कभी काम से और कभी बिना काम के; कभी सबके सामने और कभी अकेले छिप हुए। सिर्फ़ एक आदमी के मन की जान-पहचान से बना हुआ था वह आदमी।

उसके बाद और भी सत्रह वर्ष बीत गये। पर इनके दिन इनकी रातें तो उस नाम के राखी-बन्धन से एक होकर मिलती नहीं;—ये तो बिखर गईं।

इसी से ये रोज़ मुझसे पूछती हैं—"हम रहेंगी कहाँ? हमें बुलाकर घेरे कौन रहेगा?"

मैं उसको कोई जवाब नहीं दे पाता, चुपचाप बैठा रहता हूँ और सोचा करता हूँ। और वे हवा में उड़ी चली जाती हैं। कहती हैं—"हम ढूँढ़ने चलीं।"

"किसे?"

किसे, सो ये नहीं जानतीं। इसी से कभी इधर जाती हैं, कभी उधर; संध्याकाल के इधर-उधर बिखरे हुए मेघों की तरह अँधेरे में पार हो रही हैं, देखने में नहीं आतीं।

विलायत से ब्याह करके लौटे हुए एक भारतीय बैरिस्टर की प्रेम-कहानी।

विदेशी और स्वदेशी

लेखक,
श्रीयुत नगेन्द्रनाथ गुप्त
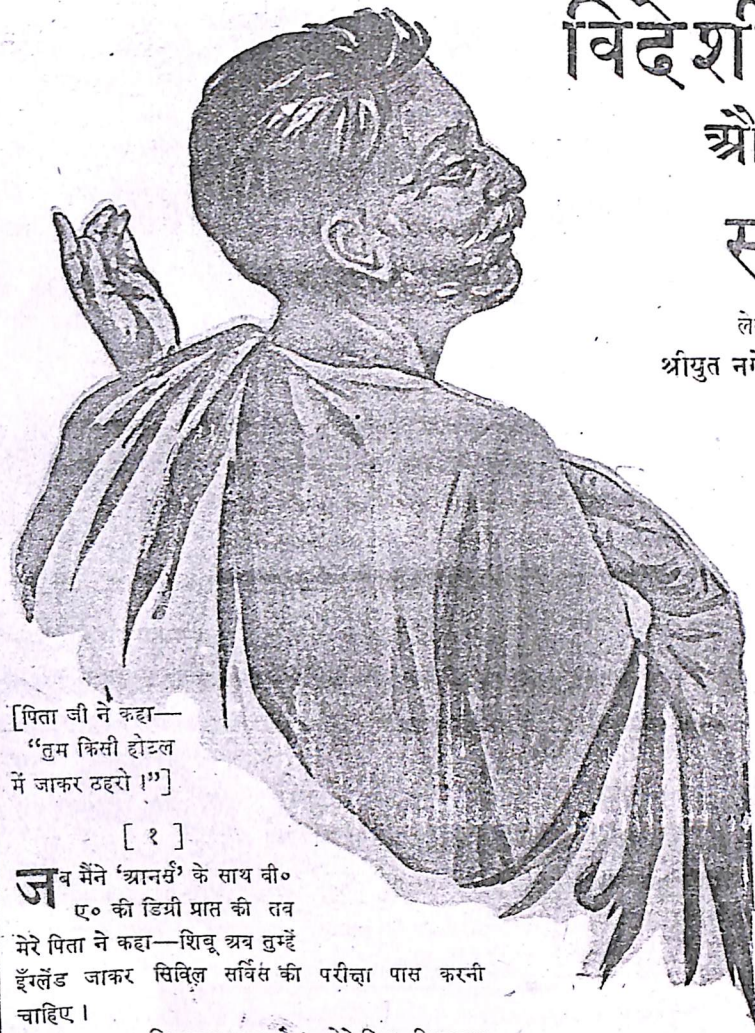
[पिता जी ने कहा—
"तुम किसी होटल में जाकर ठहरो।"]

[१]

जब मैंने 'आनर्स' के साथ बी० ए० की डिग्री प्राप्त की तब मेरे पिता ने कहा—शिबू अब तुम्हें इँगलैंड जाकर सिविल सर्विस की परीक्षा पास करनी चाहिए।

मेरा नाम शिवचन्द्र राय है। मेरे पिता विश्वनाथ अलीपुर की ज़िला-कचहरी के एक अच्छे वकील हैं। परन्तु वे कलकत्ता में अपने मकान में रहते हैं और यथेष्ट सम्पन्न समझे जाते हैं।

मैं अविवाहित था। कुछ समय पूर्व माया के साथ मेरे ब्याह की बातचीत हुई थी। वह हमारी ही बिरादरी में एक धनी पिता की अकेली लड़की थी और मुझसे चार वर्ष छोटी थी। मैं उससे खूब परिचित था। वह सुन्दर और पढ़ने में बहुत तेज़ थी। उसने हाल में ही मेट्रिकुलेशन की परीक्षा पास की थी और सर्वप्रथम आई थी। मैं उसे प्रायः छेड़ा करता था। पर वह भी उत्तर देने में पटु और बड़ी प्रसन्नचित्त लड़की थी। इस विवाह की चर्चा हम दोनों ने सुनी थी, पर आपस में कभी उसका ज़िक्र नहीं किया था। यह चर्चा अपूर्ण ही रह गई, क्योंकि माया आगे पढ़ना चाहती थी और उसके पिता ने उसका विरोध नहीं किया।

मैं इँग्लैंड चला गया। मैंने सिविलियन और बैरिस्टर दोनों होने का प्रयत्न किया ताकि एक में असफल होने पर दूसरा मार्ग खुला रहे।

परन्तु कहना सरल होता है, करना कठिन। घर पर मैं बन्धन में था, यहाँ स्वच्छन्द हो गया। लन्दन की विशालता ने मुझे आश्चर्य-चकित कर दिया और उसकी सुषमाओं ने मुझे आकर्षित किया। मुझे यथेष्ट भत्ता मिलता था। मैंने अपनी पोशाक और वेश-विन्यास पर ध्यान देना आरम्भ किया। मैंने ईटन के कालर पहनना और आक्सफ़र्ड के फ़ैशन के अनुसार बालों में उलटी कंघी फेरना आरम्भ किया और लन्दन के आमोद-प्रमोद में सिर के बल कूद पड़ा।

["अपने समाज के अदबक़ायदों को मैं भूल नहीं गया था।"]

SUDHIN SAHA

परिणाम यह हुआ कि मैं सिविल सर्विस की परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सका। इसका मुझे बड़ा धक्का लगा। मैंने परिश्रम किया और किसी प्रकार बार-एट-ला हो गया। मैंने अपना ब्याह भी कर लिया, परन्तु घर में किसी को इसका पता नहीं चला। मेरी इस क़ानूनी स्त्री का नाम 'डोरा' था। यह नीली आँखोंवाली एक परम सुन्दरी बाला थी। बहुत पढ़ी-लिखी नहीं थी, परन्तु इसका और इसकी माता का विश्वास था कि मैं किसी बड़े धनी आदमी का पुत्र हूँ। उनका यह भ्रम दूर करने के लिए मैंने भी कुछ नहीं कहा।

ऐसे विवाह प्रायः होते ही रहते हैं। परन्तु जब मैं घर लौटने लगा तब मुझे अपनी दादी के कारण भारी आशंका हुई। वे बहुत कट्टर थीं और मेरे घर में जो वे कहती थीं वही क़ानून था। मेरे पिता उनके बड़े आज्ञाकारी थे और स्वप्न में भी उनकी अवहेलना नहीं करना

चाहते थे। स्वदेश लौटते समय अदन में मेरी इच्छा हुई कि इस सम्बन्ध में पिता जी के नाम एक तार भेज दूँ, परन्तु ऐसा करने का साहस नहीं कर सका।

जहाज़ पर भी हमें बड़े कटु अनुभव हुए। वहाँ कुछ पर्यटक थे और उनका व्यवहार अच्छा था। परन्तु कुछ अँगरेज़ सिविलियन भी थे, जो बड़ी रुखाई से पेश आते थे। डोरा कुछ स्त्रियों से परिचय प्राप्त करना चाहती थी, क्योंकि वे उसी के देश की थीं। परन्तु उन स्त्रियों ने उसे ऐसी तीक्ष्ण दृष्टि से देखा कि उसे जान पड़ा मानो वह हाड़-मांस की नहीं, काँच की बनी है। मुझे भी कुछ ऐसा ही अनुभव हुआ। इसके पहले मुझे इसका ज्ञान नहीं था कि मानवीय आँखें एक्स-रे का भी काम करती हैं। हताश होकर डोरा ने यह कह कर कि बिल्लियों की परवा कौन करता है अपनी केबिन में आकर शान्ति ग्रहण की।

मैं जानता था कि डोरा 'अंगूर खट्टे हैं' की कहावत चरितार्थ कर रही है, पर मैं चुप रहा।

[२]

जब हम जहाज़ से उतरे तब मैंने देखा कि मेरे पिता जी सम्बन्धियों के साथ हमारी प्रतीक्षा में खड़े हैं। अपने समाज के अदब-क़ायदों को मैं सर्वथा भूल नहीं गया था, इसलिए मैंने झुककर उन्हें प्रणाम किया और उनके दोनों चरणों का स्पर्श किया। इसके बाद सामने जो संकट उपस्थित था उससे छुटकारा पाने के लिए मैंने शून्य को संबोधित करके कहा—मेरी पत्नी का स्वागत कीजिए।

मेरी पत्नी ने आगे बढ़कर पिता के हाथ को अपने हाथ से पकड़कर बड़ी गर्माहट के साथ झटका और कहा—आपसे मिलकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। आप लोगों से मिलने के लिए मेरी बहुत इच्छा हो रही थी।

यह व्यर्थ हुआ। मेरे पिता ने कुछ मंत्र-सा पढ़कर अपना पिंड छुड़ाया। वे किंकर्तव्यविमूढ़-से हो उठे। क्षण भर के बाद वे मुझे अलग ले जाकर बोले—तुम किसी होटल में जाकर ठहरो। जब तक मेरी मा आज्ञा न देंगी, तुम्हारा घर में आना सम्भव नहीं है। मैं फिर तुमसे मिलूँगा।

मैंने पूछा—क्या मैं आपके साथ घर चल कर मा और दादी के दर्शन नहीं कर सकता?

"तुम अकेले चाहो तो आ सकते हो?" यह कहकर पिता जी सम्बन्धियों के साथ तुरन्त चले गये।

डोरा उदास हो उठी। उसने पूछा—क्या हम उनके साथ घर नहीं चल रहे हैं?

"इस समय नहीं! अभी मैं तुम्हें सब बताऊँगा।"

हम एक होटल में गये। भोजन के बाद मैंने डोरा से थोड़ी देर के लिए छुट्टी ली और मा से मिलने घर चला गया।

मा मेरी प्रतीक्षा कर रही थीं। जैसे ही मैंने उनके चरण स्पर्श किये, उन्होंने मुझे एक बच्चे की भाँति खींचकर छाती से लगा लिया और मेरे सिर को आँसुओं से भिगो दिया। उन्होंने दुःख के आवेश में कहा—मेरे बेटे! यह तुम्हारा कैसा घर लौटना है? तुम्हारी पत्नी का समुचित रूप से स्वागत करने का स्वप्न मैं देखती ही रह गई। मेरी बाँह पकड़ कर उन्होंने मेरे कमरे का द्वार खोलकर कहा—"यहाँ देखो, मैंने तुम्हारे कमरे को कैसा सजा रक्खा है और तुम्हारे और तुम्हारी बहू के लिए दो बिस्तर लगा रक्खे हैं। तुम अपने साथ बहू के स्थान पर एक ऐसी स्त्री लाये हो जिसे मैं छू नहीं सकती और जिसे तुम्हारी दादी घर में आने की इजाज़त नहीं दे सकतीं। हाय! जिस आनन्द की मैं अब तक प्रतीक्षा कर रही थी वह मुझसे छिन गया।

मेरा हृदय बैठ गया और मैं अपनी मा के साथ रोने लगा। क्षण भर के बाद वे शान्त होकर बोलीं—ख़ैर, दादी के पास जाओ, पर पहले मुँह धो डालो।

दादी बरामदे में अपनी कोठरी के सामने बैठी थीं। जैसे ही मैं उन्हें नमस्कार करने के लिए झुका वे चिल्लाकर बोलीं—मुझे छूना मत, नहीं तो फिर नहाना पड़ेगा।

बिना उनके चरणों का स्पर्श किये ही, मैंने पृथ्वी पर माथा टेक कर उन्हें प्रणाम किया। उन्होंने मेरी ओर देखा, पर उनके मुँह से एक वाक्य भी न निकला। अन्त में मैंने कहा—दादी! यदि मुझसे भूल हो गई है तो क्षमा करो। आख़िर मैं तुम्हारा पौत्र ही तो हूँ।

["कुछ क्षण तक हम लोग पानी और आकाश के तारों को देखते हुए चुपचाप बैठे रहे।"]

उन्होंने रुखाई के साथ कहा—अपनी म्लेच्छ बहू को यहाँ लाकर रहोगे तो मैं कहीं और जगह चली जाऊँगी।

खैर किसी तरह दादी को मैंने इस बात पर राज़ी किया कि वे बाहर के कमरे में मेरी पत्नी को दर्शन दें।

दूसरे दिन पिता जी मुझसे मिलने आये। बाहर ही मुझे बुलाकर उन्होंने कहा—तुम्हारे लिए मैंने एक मकान अँगरेज़ों के मुहल्ले में ठीक किया है। मकान बड़ा नहीं है, पर सुविधायें उसमें सब हैं। मैंने मजूमदार से तय किया है कि वे तुम्हें अपना सहयोगी बना लें। वे अच्छे वकील हैं और तुम्हें तनख़्वाह भी देंगे। दूसरे मुक़द्दमे भी तुम ले सकते हो। मैं तुम्हें जब तक आवश्यकता होगी, कुछ भत्ता भी देता रहूँगा। इससे अधिक मैं इस समय कुछ नहीं कर सकता।

मैंने पिता जी के इस व्यवहार के प्रति बड़ी कृतज्ञता प्रकट की। पर मुझे दुःख रहा कि वे मेरी पत्नी से बिना मिले ही चले गये।

भोजन के बाद मैं डोरा को एक टैक्सी में बैठाकर घर ले गया। 'ड्राइङ्ग रूम' सुरुचि-पूर्ण ढङ्ग से सजाया गया था, जिसे डोरा ने पसन्द किया। तुरन्त ही मेरी माता जी वहाँ आ गईं। उन्होंने उसे हृदय से लगा लिया और बदले में डोरा ने उनका चुम्बन किया।

मैंने डोरा को सावधान किया कि ऐसा व्यवहार दादी के साथ न करना। उनमें कुछ बातें हुईं और मैंने दुभाषिये का काम किया।

कुछ देर बाद दादी आईं। डोरा ने दूर से आदर-पूर्वक उन्हें प्रणाम किया और उनके बैठ जाने पर वह बैठी। मेरी दादी ने उसकी ओर देखकर कहा—वह सुन्दर है और उसकी आँखें नीली हैं। शायद उसके देश में ऐसी ही आँखें होती हैं।

थोड़ी देर तक वार्तालाप करने के बाद हम लोग विदा हुए।

[३]

दूसरे दिन हम अपने नये मकान में रहने चले गये। डोरा ने इस मकान को पसन्द किया और ऊपर-नीचे दौड़ दौड़कर उसका निरीक्षण किया। अलग मकान में रहने की व्यवस्था से उसे कोई आश्चर्य नहीं हुआ। उसके देश में तो यह प्रथा ही है कि विवाहित लोग अपना अलग मकान बनाकर रहते हैं।

श्रीयुत मजूमदार ने मुझे बड़े स्नेह से लिया और मैं शीघ्रतापूर्वक अपने कार्य्य में लग गया। इँग्लैंड में जो मूर्खतापूर्ण विचार मेरे मस्तिष्क में घुस गये थे वे सब एकाएक ग़ायब हो गये। सुख की चिन्ता मैंने छोड़ दी। सिनेमा या थियेटर जाना मैंने कम कर दिया। क्लब में जाना या ताश खेलना मैंने बन्द कर दिया। मैंने जी तोड़कर परिश्रम आरम्भ किया। दिन भर के काम के बाद मैं शाम को ज़रा टहलता और फिर चला आता। सिर्फ़ रविवार और अन्य छुट्टी के दिनों में मैं डोरा को मोटर पर घुमाने और मा से भेंट करने जाता। कभी कभी पिता जी से भी भेंट हो जाती, पर दादी से कभी भेंट न होती। वे प्रायः अपने पूजा-पाठ में लगी रहती थीं।

छः महीने में मैंने मोटर ख़रीदने भर की सम्पत्ति अर्जित कर ली। मुझे पृथक् कार्य्य भी मिलने लगा। नये वकीलों में मैं बहुत होनहार समझा गया। श्रीयुत मजूमदार ने मुझे ख़ूब प्रोत्साहन दिया और मेरे पिता से मेरी ख़ूब प्रशंसा की।

सामाजिक उत्सवों और सहभोजों में भी मैं कम जाने लगा। कार्य्य बढ़ने पर मैं उसे घर में लाकर रात में पूरा करने लगा। कदाचित् मैं डोरा की उपेक्षा कर रहा था। पर करता क्या? लाचार था। एक वर्ष के बाद मैंने पिता जी से अपना अलाउन्स बन्द कर देने के लिए कहा, क्योंकि मैं आराम से रहने के लिए यथेष्ट धन का उपार्जन करने लगा था और कुछ बचा भी लेता था। मेरे पिता ने इस पर प्रसन्नता प्रकट की और कहा कि मैं मजूमदार से सुन चुका हूँ कि तुम कुछ ही वर्षों में यहाँ के श्रेष्ठ वकीलों में गिने जाने लगोगे।

एक दिन तीसरे पहर श्रीयुत मजूमदार ने एक प्रसिद्ध ज़मींदार को जो अपनी सार्वजनिक सेवाओं के लिए बड़े विख्यात हो रहे थे, पार्टी दी। मैं इससे विरत न हो सका। अब डोरा की निज की मोटर हो गई थी और वह चलाना भी सीख गई थी। पार्टी में मैंने अँगरेज़ी पोशाक में जाना व्यर्थ समझा। मैंने धोती, पंजाबी कुर्ता और पंजाबी जूता पहना और एक रेशमी चादर कंधे पर रक्खी।

डोरा भी पार्टी में जाने के लिए अपनी पोशाक में तैयार हुई। मुझे देखकर उसने आश्चर्य से कहा—ओह! आप तो 'रोमन सिनेटर'-से प्रतीत होते हैं! ख़ूब!

"डोरा! हमारी यही पोशाक है।"

"सो तो मैं तमाम कलकत्ता में देखती हूँ। पर तुम इस पोशाक में सबसे श्रेष्ठ दिखाई पड़ते हो।"

पार्टी में कुछ क्षणों के पश्चात् हम और डोरा अलग अलग हो गये। वह मेरे कतिपय वकील मित्रों से परिचित थी, इसलिए उनमें से एक के साथ टहलने लगी। मैं अकेला ही फिरता रहा। इतने में एकाएक माया से मेरा साक्षात्कार हुआ।

पिछले तीन या कुछ अधिक वर्षों में जब हम एक दूसरे से अलग हो गये थे, माया कुछ लम्बी हो गई थी और उसका सौंदर्य्य भी बहुत निखर आया था। रेशमी साड़ी के भीतर से उसके अङ्ग बहुत सुन्दर प्रतीत हो रहे थे। चूड़ियों के अतिरिक्त उसके शरीर पर कोई और आभूषण न था।

माया खड़ी हो गई। एक मधुर मुस्कुराहट के साथ उसने मुझसे पूछा—मुझे भूल गये क्या?

भला उसे कैसे भुला सकता था? माया भावुक, चमकदार आँखोंवाली, हँसोड़, सहृदया और प्रतिभावान थी! मैंने प्रार्थना की—माया! मुझे लज्जित मत करो। तुम बड़े ही आश्चर्यजनक रूप से बढ़ी हो।

"तुम विवाहित हो। मेरी प्रशंसा रहने दो। पर क्या मुझे अपनी पत्नी से मिलाओगे?"

इसी समय मुस्कुराती हुई डोरा वहाँ आगई। मैंने उसका माया से परिचय कराया।

कुछ क्षण तक दोनों युवतियों ने एक दूसरे को परखा। तब डोरा ने कहा—तुम्हें कैसा सुन्दर मुख और शरीर मिला है? क्या तुम दोनों एक दूसरे को अर्से से जानते हो?

माया शुद्ध और धारावाहिक अँगरेज़ी बोलती थी। अँगरेज़ी में उसने लड़कों से भी बाज़ी मारी थी और कई एक इनाम जीते थे। वह हँसकर बोली—जब ये कालेज में थे तब मैं स्कूल में पढ़ती थी और हम प्रायः मिलते थे। ये मुझे बहुत चिढ़ाते थे। अब ये एक मशहूर बैरिस्टर हो गये हैं। तुम्हें अपने ऐसे पति के लिए गर्व करना चाहिए।

मैं डोरा से बोला—ज़रा सोचो, एक साँस में ये क्या क्या कह गईं। हमारे तेज़ विद्यार्थियों में ये एक हैं।

डोरा ने कहा—तुम बड़ी बुद्धिमान् हो। पर मैं कुछ नहीं जानती हूँ। मैं जब छोटी थी तभी स्कूल से अलग हो गई थी। क्या तुम हमारे यहाँ चाय पीने आओगी?

माया ने उत्तर दिया—क्यों नहीं? परन्तु मैं बी० ए० की परीक्षा की तैयारी कर रही हूँ। मैं आने का प्रयत्न करूँगी, पर वादा नहीं करती।

माया हमारे घर कभी नहीं आई।

[४]

कुछ समय के बाद श्रीयुत मजूमदार की आज्ञा से मैंने अपना दफ़्तर अलग बनाया और स्वाधीनतापूर्वक वकालत करने लगा। मैं बहुत व्यस्त रहता था और मेरी आय प्रतिमास बढ़ती जाती थी। डोरा अपना जीवन अलग व्यतीत कर रही थी। उसकी अलग मोटर गाड़ी थी। जहाँ चाहती थी जाती थी, जो चाहती थी करती थी।

एक दिन इन्द्रनाथ दे नामक एक व्यक्ति से हमारी भेंट हुई। वे बहुत धनी थे। इँग्लैंड जाने से कुछ पूर्व से ही मेरा उनका परिचय था। वे लगभग २८ वर्ष के थे। देखने में सुन्दर थे और एक वर्ष हुए उनकी पत्नी का स्वर्गवास हो चुका था। उन्होंने दूसरा ब्याह नहीं किया था और उनके बच्चे भी नहीं थे।

एक रविवार को इन्द्रनाथ हमारे यहाँ आये और उन्होंने हमारे साथ चाय पी। इसके बाद से वे बराबर आने लगे। कभी कभी वे भोजन के लिए भी बुलाये जाते थे। एक दिन डोरा ने मुझसे पूछा कि क्या वह इन्द्रनाथ के साथ सिनेमा जा सकती है। मैंने उसे जाने दिया। यह घटना कई बार घटी। यहाँ तक नौबत पहुँची कि प्रायः शाम को जब मैं घर आता, डोरा ग़ैर-हाज़िर मिलती।

इन दिनों अदालत के काम से मुझे बाहर भी जाना

उन्होंने रुखाई के साथ कहा—अपनी म्लेच्छ बहू को यहाँ लाकर रहोगे तो मैं कहीं और जगह चली जाऊँगी।

ख़ैर किसी तरह दादी को मैंने इस बात पर राज़ी किया कि वे बाहर के कमरे में मेरी पत्नी को दर्शन दें।

दूसरे दिन पिता जी मुझसे मिलने आये। बाहर ही मुझे बुलाकर उन्होंने कहा—तुम्हारे लिए मैंने एक मकान अँगरेज़ों के मुहल्ले में ठीक किया है। मकान बड़ा नहीं है, पर सुविधायें उसमें सब हैं। मैंने मजूमदार से तय किया है कि वे तुम्हें अपना सहयोगी बना लें। वे अच्छे वकील हैं और तुम्हें तनख्वाह भी देंगे। दूसरे मुक़द्दमे भी तुम ले सकते हो। मैं तुम्हें जब तक आवश्यकता होगी, कुछ भत्ता भी देता रहूँगा। इससे अधिक मैं इस समय कुछ नहीं कर सकता।

मैंने पिता जी के इस व्यवहार के प्रति बड़ी कृतज्ञता प्रकट की। पर मुझे दुःख रहा कि वे मेरी पत्नी से बिना मिले ही चले गये।

भोजन के बाद मैं डोरा को एक टैक्सी में बैठाकर घर ले गया। 'ड्राइङ्ग रूम' सुरुचि-पूर्ण ढङ्ग से सजाया गया था, जिसे डोरा ने पसन्द किया। तुरन्त ही मेरी माता जी वहाँ आ गईं। उन्होंने उसे हृदय से लगा लिया और बदले में डोरा ने उनका चुम्बन किया।

मैंने डोरा को सावधान किया कि ऐसा व्यवहार दादी के साथ न करना। उनमें कुछ बातें हुईं और मैंने दुभाषिये का काम किया।

कुछ देर बाद दादी आईं। डोरा ने दूर से आदर-पूर्वक उन्हें प्रणाम किया और उनके बैठ जाने पर वह बैठी। मेरी दादी ने उसकी ओर देखकर कहा—वह सुन्दर है और उसकी आँखें नीली हैं। शायद उसके देश में ऐसी ही आँखें होती हैं।

थोड़ी देर तक वार्तालाप करने के बाद हम लोग विदा हुए।

[३]

दूसरे दिन हम अपने नये मकान में रहने चले गये। डोरा ने इस मकान को पसन्द किया और ऊपर-नीचे दौड़ दौड़कर उसका निरीक्षण किया। अलग मकान में रहने की व्यवस्था से उसे कोई आश्चर्य नहीं हुआ। उसके देश में तो यह प्रथा ही है कि विवाहित लोग अपना अलग मकान बनाकर रहते हैं।

श्रीयुत मजूमदार ने मुझे बड़े स्नेह से लिया और मैं शीघ्रतापूर्वक अपने कार्य्य में लग गया। इँग्लैंड में जो मूर्खतापूर्ण विचार मेरे मस्तिष्क में घुस गये थे वे सब एकाएक ग़ायब हो गये। सुख की चिन्ता मैंने छोड़ दी। सिनेमा या थियेटर जाना मैंने कम कर दिया। क्लब में जाना या ताश खेलना मैंने बन्द कर दिया। मैंने जी तोड़कर परिश्रम आरम्भ किया। दिन भर के काम के बाद मैं शाम को ज़रा टहलता और फिर चला आता। सिर्फ़ रविवार और अन्य छुट्टी के दिनों में मैं डोरा को मोटर पर घुमाने और मा से भेंट करने जाता। कभी कभी पिता जी से भी भेंट हो जाती, पर दादी से कभी भेंट न होती। वे प्रायः अपने पूजा-पाठ में लगी रहती थीं।

छः महीने में मैंने मोटर ख़रीदने भर की सम्पत्ति अर्जित कर ली। मुझे पृथक् कार्य्य भी मिलने लगा। नये वकीलों में मैं बहुत होनहार समझा गया। श्रीयुत मजूमदार ने मुझे ख़ूब प्रोत्साहन दिया और मेरे पिता से मेरी ख़ूब प्रशंसा की।

सामाजिक उत्सवों और सहभोजों में भी मैं कम जाने लगा। कार्य्य बढ़ने पर मैं उसे घर में लाकर रात में पूरा करने लगा। कदाचित् मैं डोरा की उपेक्षा कर रहा था। पर करता क्या? लाचार था। एक वर्ष के बाद मैंने पिता जी से अपना अलाउन्स बन्द कर देने के लिए कहा, क्योंकि मैं आराम से रहने के लिए यथेष्ट धन का उपार्जन करने लगा था और कुछ बचा भी लेता था। मेरे पिता ने इस पर प्रसन्नता प्रकट की और कहा कि मैं मजूमदार से सुन चुका हूँ कि तुम कुछ ही वर्षों में यहाँ के श्रेष्ठ वकीलों में गिने जाने लगोगे।

एक दिन तीसरे पहर श्रीयुत मजूमदार ने एक प्रसिद्ध ज़मींदार को जो अपनी सार्वजनिक सेवाओं के लिए बड़े विख्यात हो रहे थे, पार्टी दी। मैं इससे विरत न हो सका। अब डोरा की निज की मोटर हो गई थी और वह चलाना भी सीख गई थी। पार्टी में मैंने अँगरेज़ी पोशाक में जाना

व्यर्थ समझा। मैंने धोती, पंजाबी कुर्ता और पंजाबी जूता पहना और एक रेशमी चादर कंधे पर रक्खी।

डोरा भी पार्टी में जाने के लिए अपनी पोशाक में तैयार हुई। मुझे देखकर उसने आश्चर्य से कहा—ओह! आप तो 'रोमन सिनेटर'-से प्रतीत होते हैं! ख़ूब!

"डोरा! हमारी यही पोशाक है।"

"सो तो मैं तमाम कलकत्ता में देखती हूँ। पर तुम इस पोशाक में सबसे श्रेष्ठ दिखाई पड़ते हो।"

पार्टी में कुछ क्षणों के पश्चात् हम और डोरा अलग अलग हो गये। वह मेरे कतिपय वकील मित्रों से परिचित थी, इसलिए उनमें से एक के साथ टहलने लगी। मैं अकेला ही फिरता रहा। इतने में एकाएक माया से मेरा साक्षात्कार हुआ।

पिछले तीन या कुछ अधिक वर्षों में जब हम एक दूसरे से अलग हो गये थे, माया कुछ लम्बी हो गई थी और उसका सौंदर्य्य भी बहुत निखर आया था। रेशमी साड़ी के भीतर से उसके अङ्ग बहुत सुन्दर प्रतीत हो रहे थे। चूड़ियों के अतिरिक्त उसके शरीर पर कोई और आभूषण न था।

माया खड़ी हो गई। एक मधुर मुस्कुराहट के साथ उसने मुझसे पूछा—मुझे भूल गये क्या?

भला उसे कैसे भुला सकता था? माया भावुक, चमकदार आँखोंवाली, हँसोड़, सहृदया और प्रतिभावान थी! मैंने प्रार्थना की—माया! मुझे लज्जित मत करो। तुम बड़े ही आश्चर्य्यजनक रूप से बढ़ी हो।

"तुम विवाहित हो। मेरी प्रशंसा रहने दो। पर क्या मुझे अपनी पत्नी से मिलाओगे?"

इसी समय मुस्कुराती हुई डोरा वहाँ आ गई। मैंने उसका माया से परिचय कराया।

कुछ क्षण तक दोनों युवतियों ने एक दूसरे को परखा। तब डोरा ने कहा—तुम्हें कैसा सुन्दर मुख और शरीर मिला है? क्या तुम दोनों एक दूसरे को अर्से से जानते हो?

माया शुद्ध और धारावाहिक अँगरेज़ी बोलती थी। अँगरेज़ी में उसने लड़कों से भी बाज़ी मारी थी और कई एक इनाम जीते थे। वह हँसकर बोली - जब ये कालेज में थे तब मैं स्कूल में पढ़ती थी और हम प्रायः मिलते थे। ये मुझे बहुत चिढ़ाते थे। अब ये एक मशहूर बैरिस्टर हो गये हैं। तुम्हें अपने ऐसे पति के लिए गर्व करना चाहिए।

मैं डोरा से बोला—ज़रा सोचो, एक साँस में ये क्या क्या कह गईं। हमारे तेज़ विद्यार्थियों में ये एक हैं।

डोरा ने कहा—तुम बड़ी बुद्धिमान् हो। पर मैं कुछ नहीं जानती हूँ। मैं जब छोटी थी तभी स्कूल से अलग हो गई थी। क्या तुम हमारे यहाँ चाय पीने आओगी?

माया ने उत्तर दिया—क्यों नहीं? परन्तु मैं बी० ए० की परीक्षा की तैयारी कर रही हूँ। मैं आने का प्रयत्न करूँगी, पर वादा नहीं करती।

माया हमारे घर कभी नहीं आई।

[४]

कुछ समय के बाद श्रीयुत मजूमदार की आज्ञा से मैंने अपना दफ़्तर अलग बनाया और स्वाधीनतापूर्वक वकालत करने लगा। मैं बहुत व्यस्त रहता था और मेरी आय प्रतिमास बढ़ती जाती थी। डोरा अपना जीवन अलग व्यतीत कर रही थी। उसकी अलग मोटर गाड़ी थी। जहाँ चाहती थी जाती थी, जो चा[illegible] थी करती थी।

एक दिन इन्द्रनाथ दे नामक एक व्यक्ति से हमारी भेंट हुई। वे बहुत धनी थे। इँग्लैंड जाने से कुछ पूर्व से ही मेरा उनका परिचय था। वे लगभग २८ वर्ष के थे। देखने में सुन्दर थे और एक वर्ष हुए उनकी पत्नी का स्वर्गवास हो चुका था। उन्होंने दूसरा ब्याह नहीं किया था और उनके बच्चे भी नहीं थे।

एक रविवार को इन्द्रनाथ हमारे यहाँ आये और उन्होंने हमारे साथ चाय पी। इसके बाद से वे बराबर आने लगे। कभी कभी वे भोजन के लिए भी बुलाये जाते थे। एक दिन डोरा ने मुझसे पूछा कि क्या वह इन्द्रनाथ के साथ सिनेमा जा सकती है। मैंने उसे जाने दिया। यह घटना कई बार घटी। यहाँ तक नौबत पहुँची कि प्रायः शाम को जब मैं घर आता, डोरा ग़ैर-हाज़िर मिलती।

इन दिनों अदालत के काम से मुझे बाहर भी जाना

पड़ता। कभी कभी मैं तीन-चार दिन बाहर रहता। मैंने कभी यह जानने की कोशिश नहीं की कि मेरी ग़ैरहाज़िरी में डोरा अपना समय कैसे व्यतीत करती है। परन्तु मैं यह जानता था कि इन्द्रनाथ से उसकी भेंट प्रायः होती रहती है। एक दिन मेरे एक वकील मित्र ने एकान्त पाकर मुझसे कहा—राय! लोग तुम्हारी पत्नी और इन्द्रनाथ दे की ओर उँगली उठा रहे हैं। वे प्रायः साथ रहते हैं। दे बदनाम व्यक्ति हैं। तुम्हारे मित्र चाहते हैं कि तुम्हें यह बात बताई जाय।

मैंने उन्हें धन्यवाद दिया और कहा—मैं देखूँगा। उसी दिन शाम के मैंने डोरा से बातें कीं। मैंने धैर्य्य नहीं खोया और न क्रोध ही प्रकट किया। शान्तिपूर्वक पर दृढ़ता के साथ मैंने कहा—डोरा मैंने तुम्हारे मामले में कभी दखल़ नहीं दिया और तुम्हें सदैव स्वाधीनता दी है। परन्तु लोग तुम्हारी और इन्द्रनाथ की चर्चा कर रहे हैं। दे बदमान व्यक्ति है। मैं चाहता हूँ, तुम उनसे घनिष्ठता मत रक्खो।

मैंने सोचा था कि डोरा क्रोध प्रकट करेगी या आँसू बहायेगी। परन्तु उसने कुछ न किया। उसने शान्तिपूर्वक कहा—क्या तुम चाहते हो कि मैं घर में क़ैदी की भाँति बन्द रहूँ?

"मेरा यह तात्पर्य्य नहीं है, पर तुम जिन आदमियों के साथ जाओ वे मेरी पसन्द के होने चाहिए।"

डोरा बिना कुछ उत्तर दिये कमरे से चली गई।

दूसरे दिन जब मैं घर लौटकर आया, मुझे मेज़ पर डोरा की लिखी हुई एक 'चिट' मिली। उसने लिखा था—मैं जा रही हूँ। तुम जान सकते हो कि किसके साथ। मैं वापस नहीं आऊँगी। मैं तुम्हारे आभूषण नहीं लिये जा रही हूँ। केवल अपने कपड़े लिये जा रही हूँ।

मुझे चिन्ता नहीं हुई। बहुत आश्चर्य्य भी नहीं हुआ। आभूषणों की परवा मुझे न थी। वह उन्हें भी ले जा सकती थी। मैंने पत्र के हिफ़ाज़त के साथ रख दिया और खाना खाया मानो कुछ हुआ ही न हो!

बदनामी का डर ज़रूर हुआ, पर वह अनिवार्य्य था। संतोष की बात यह थी कि बच्चे नहीं थे। मेरा मार्ग स्पष्ट था। क़ानून-द्वारा अपनी रक्षा करने में मैं समय नहीं गँवाना चाहता था।

दूसरे दिन सारे शहर में यह कहानी फैल गई। मेरे पिता मुझसे मिले और निज के घर में रहने के लिए ज़ोर दिया। उन्होंने इस सम्बन्ध में मा और दादी की भी रज़ामन्दी बताई। पर मैंने कहा—मेरे लिए चिन्ता न करें। मैं इस शर्म से विचलित नहीं हुआ हूँ। यदि मैं इस मकान के छोड़ दूँगा तो मेरे व्यवसाय के हानि पहुँचेगी। मैं शीघ्र से शीघ्र 'तलाक़' की शरण लूँगा और अपना काम जारी रक्खूँगा।

इन्द्रनाथ और डोरा खुल्लमखुल्ला एक पर्वतीय स्थान पर साथ साथ रह रहे थे। मैंने गवाहियाँ प्राप्त कीं और तलाक़ की अर्ज़ी दी।

मैंने हर्जाने के लिए कोई दावा नहीं किया। इसके लिए जज ने मेरी प्रशंसा की। दूसरी ओर से कोई हाज़िर नहीं हुआ, इसलिए मुझे तलाक़ देने की आज्ञा मिल गई।

[५]

बदनामी तो हुई पर उसके साथ ही मेरे व्यवसाय में वृद्धि भी हुई। बदनामी के कुछ दिनों में लोग भूल गये, पर उन्नति में फ़र्क़ न पड़ा, चारों तरफ़ मेरी माँग बढ़ गई। मेरी आय दूनी हो गई। मैंने सहायता के लिए दो सहयोगी रक्खे और श्री मजूमदार ने मेरी बड़ाई के पुल बाँध दिये।

काम बहुत बढ़ गया, पर नियमित रूप से मा का दर्शन करने में मैंने कभी त्रुटि नहीं की। मेरी दादी ने रुलाई छोड़ दी और मुझसे फिर विवाह करने का आग्रह करने लगीं। मेरी मा कुछ न कहती थीं, पर सहानुभूति से भरे उनके दीर्घ नेत्रों से उनका मौन संकेत मुझे आच्छादित कर रहा था। कुछ समय के बाद उन्होंने स्नेहपूर्वक मुझसे कहा—बेटा, इस दुःखद स्वप्न के भुला दो और संसार की बात सुनो।

क्या किसी की मा कभी ऐसी हो सकती है? उनके हृदय में करुणा की कैसी मंदाकिनी लहरा रही थी। मैंने सिर झुकाकर उनका चरण पकड़कर कहा—मेरी मा, अब मैं तुम्हें और नहीं सताऊँगा। अब तुम जो आज्ञा दोगी, मैं उसका पालन करूँगा।

मेरी माता ने मेरे झुके हुए मस्तक के खींचकर हृदय से लगा लिया और आँसुओं के रूप में अपने हृदय से निकले हुए आशीर्वाद से उसे सींच दिया। उनके उन आँसुओं में हास्य भर गया था। वे बोलीं—कैसा भोला लड़का है? भला इसके सिवा मैं और क्या चाहूँगी कि तुम ब्याह कर लो।

"तब तुम जिसके साथ चाहो मेरा ब्याह करा दो।"

"दुलहिन के तलाशने हमें दूर नहीं जाना है। माया के साथ ब्याह करने में तुम्हें कोई आपत्ति है?"

माया! प्रतिभावान् और ज्योतिर्मयी माया! उषा के समान सुन्दर और स्वयं माया के समान मोहक! मैं पतित! क्या मैं उसके योग्य हूँ? तलाक़ के मुक़द्दमे में मेरा नाम घसीटा गया। क्या मेरे जैसे व्यक्ति के लिए एक कुमारी, सम्पन्न और बुद्धिमान् युवती की ओर देखना उचित है?

मैंने खिन्न होकर कहा—मा, यह मेरी इच्छा का प्रश्न नहीं है। तुम जानती हो, मुझे लज्जित होना पड़ा है। माया मेरे साथ ब्याह करना कभी स्वीकार न करेगी। परन्तु मेरी मा ने मेरे वादे का मुझे स्मरण दिलाया और कहा—क्या तुम रविवार को जाओगे और माया और उसके पिता से भेंट करोगे?

"हाँ, मैं जाऊँगा।" मैंने कहा। यह बृहस्पति की बात थी।

रविवार को तीसरे पहर मैं माया के घर गया। उसके पिता श्रीयुत भवानीचरण दर्शनीय वृद्ध पुरुष थे। उन्होंने प्रसन्नता के साथ मेरा स्वागत किया। मैं अत्यन्त साधारण बंगाली वेश में था। उन्होंने कहा—शिबू, तुम्हें देखे एक युग हो गया। पर हम सब जानते हैं कि तुम कितने व्यस्त रहते हो। तुम्हें देखकर कौन कहेगा कि तुम एक ऊँचे दर्जे के बैरिस्टर हो। एक प्याला चाय नहीं पिओगे?

"बड़े शौक से।"

"पर यह माया के कार्य्यक्षेत्र की बात है।" यह कहकर भवानीचरण ने माया को बुलवाया और बोले—शिबू को अपने कमरे में ले जाकर ज़रा चाय नहीं पिलाओगी?

माया ने मुस्कुराते हुए उत्तर दिया—अवश्य।

मैं माया के साथ उसके कमरे में गया। वह सुन्दर कमरा पुस्तकों की आलमारियों से सजा हुआ था। बीच में चाय पीने की एक छोटी-सी मेज़ थी। हम दोनों आमने-सामने बैठ गये। माया ने चाय मँगाई।

मैंने माया की ओर देखा। वह असाधारण रूप से गम्भीर हो रही थी। वे पुरानी उमङ्गें नहीं थीं। चितवन में वह शरारत नहीं थी। क्या वह मुझसे खिन्न थी? शायद नहीं। वह मुझे देखकर प्रसन्न हुई थी।

चाय तैयार करते समय मैंने उसकी अँगुलियों का नृत्य देखा। उसकी सुन्दर कलाई में सुन्दर चूड़ियाँ पड़ी थीं। चाय और मामूली वार्तालाप के बाद मैंने उससे अपने साथ हवा खाने के लिए निकलने का प्रस्ताव किया। इस पर उसने कहा—हमें पिता जी से आज्ञा ले लेनी चाहिए।

हम दोनों उनके कमरे में गये। हमारी प्रार्थना सुनकर उन्होंने कहा—यह तो मैं खुद ही कहनेवाला था। माया, तुम शिबू को अपने स्कूल के दिनों से जानती हो। इन्हें घुमाने के लिए ले जाओ।

पिता के कमरे से बाहर निकलने पर माया ने अपना मोटर मँगाया, पर मैंने कहा—मेरा मोटर तैयार है। उसने उत्तर दिया—बहुत अच्छा। मैं कुछ मिनटों में तैयार हो कर आती हूँ।

तीन मिनट में वह बाहर निकली। इतने ही समय में उसने एक नवीन साड़ी पहन ली थी। स्त्रियों को इतना शीघ्र तैयार होते किसने सुना है? माया आश्चर्य्यमयी युवती थी।

सूर्य्यास्त हो चुका था। हम ईडन-गार्डेन में गये। मार्ग में मैंने पूछा—माया, तुम्हें बीते दिनों की कुछ याद है?

"मुझे कुछ नहीं भूला है और न मैं कुछ भुलाना चाहती हूँ।"

कुछ भी हो, थोड़ी ही देर में मुझे विश्वास हो गया कि माया की सहानुभूति मुझे प्राप्त है।

नदी के सामने हमारा मोटर दूर तक चला गया। जब हम बाग़ में पहुँचे, तारे निकल आये थे।

बर्मी पगोडा के पीछे नहर के क़रीब हम एक बेंच पर बैठ गये। एक विद्युत् लैम्प का प्रकाश पानी में प्रतिबिम्बित हो रहा था। विक्टोरिया रेज़िया का एक फूल पानी के ऊपर एक बड़ी तश्तरी की भाँति खिला हुआ था।

कुछ क्षण तक हम लोग पानी और आकाश के तारों को देखते हुए चुपचाप बैठे रहे। इसके पश्चात् मैंने माया का कर स्पर्श किया और मेरा हृदय आन्दोलित हो उठा। भावावेश में मैंने कहा—माया, मैंने अपने माथे पर भारी कलंक का टीका लगा लिया है और मेरा चरित्र निर्मल नहीं रहा। मुझे तुमसे कोई वस्तु माँगने का अधिकार नहीं है?

माया ने मेरी वकालत की, उसने कहा—तुम कलङ्की नहीं हो। तुम्हारे साथ अन्याय हुआ है, परन्तु तुमने किसी के साथ अन्याय नहीं किया।

वह क्रमशः मेरी ओर खिंचती गई और मैंने उसकी कमर में हाथ डाल दिया। मैंने उसके कान में कहा—तब क्या मेरे ऊपर दया करके मेरे साथ ब्याह करोगी?

मेरे कन्धे पर हाथ रखकर उसने नम्रता से कहा—दया नहीं, प्रेम के साथ। प्यारे! मैंने सदैव तुम्हारा प्यार किया है।

हमारे होंठ परस्पर मिल गये। हम उठ खड़े हुए और परस्पर हाथ मिलाये हुए बाग़ के बाहर आये। घर पहुँचने पर मैं माया को उसके पिता के पास ले गया और उनसे बोला—महाशय, मैं आपकी पुत्री के साथ विवाह करने के लिए आपकी अनुमति माँगने आया हूँ।

वे प्रसन्न हो उठे और मुस्कुराये। उन्होंने कहा—इस प्रश्न का उत्तर माया ही दे सकती है। वे दिन गये जब पिता लड़की की सम्मति को अपनी ही समझता था।

उत्तर में माया ने मुझसे अपना हाथ छुड़ाकर अपने सिर को अपने पिता के हृदय में छिपा लिया। पिता ने उसे एक हाथ से पकड़कर दूसरे से उसका सिर थपथपाया। उन्होंने कहा—इससे अधिक हम कोई इच्छा नहीं कर रहे थे। अब यह संवाद माया की मा को देना चाहिए।

वह देवी शीघ्र ही वहाँ आ उपस्थित हुई और उन्होंने माया को हृदय से लगा लिया और कहा—हमारी सबसे बड़ी कामना आज पूर्ण हुई। ईश्वर ने माया और शिबू को एक-दूसरे के लिए ही पैदा किया है। अब इस शुभ विवाह में कोई देर नहीं होनी चाहिए।

मैंने एक महीने का समय माँगा। मैंने बालीगंज में एक नया मकान ख़रीदा था और उसकी अन्तिम झाड़-पोंछ हो रही थी। जिस मकान में मैं रहता था उससे मैंने डोरा के समस्त स्मृति-चिह्न, उसका मोटर, आभूषण आदि हटा दिये थे। पर घर तो था ही और उस घर में माया के प्रवेश करने की मैं कल्पना भी सहन नहीं कर सकता था।

माया की मा ने कहा—बहुत अच्छा, दूसरा महीना सही।

मैंने प्रस्ताव किया कि विवाह बड़ी सादगी से होना चाहिए। पर माया की मा ने उत्तेजित होकर कहा—मेरी एक-मात्र लड़की चुपचाप ब्याह दी जाय? हज़ार मित्र तो अकेले उसी के हैं। विवाह बड़ी धूम-धाम से होगा।

भवानीचरण ने मुलायमियत से कहा—तुम शिबू के भावों को नहीं समझती हो क्या?

"समझती हूँ। पर यह उनका प्रथम विवाह है। जो हो चुका वह कुछ नहीं था।"

मुझे कुछ और नहीं कहना था। माया मुझे पहुँचाने बाहर तक आई।

एक खम्भे की आड़ में मैंने उसे बाहों में भर लिया और कहा—प्रियतमे! तुमने मुझे बहुत बड़ा सुख प्रदान किया है।

"उतना नहीं जितना कि स्वयं मुझे मिला है।" उसने उत्तर दिया।

माया मुझे खड़ी देखती रही और मैं मोटर में बैठकर अपने घर लौटा। वह आश्चर्य्य-जनक रूप से मेरे वशीभूत हो गई थी।

[६]

घर में पहुँच कर जब मैंने माया के सम्बन्ध में अपनी सफलता की घोषणा की तब सब लोग बड़े आनन्दित हो

उठे। आनन्द से मेरी माता की आँखों में आँसू छलछला आये। मेरी दादी उत्तेजित होकर पिता जी से बोलीं—विश्वनाथ, पञ्चाङ्ग देखो! कोई शुभ घड़ी निकट है।

मैंने शरमाते हुए कहा—दूसरे महीने की तृतीया बहुत अच्छी है।

दादी ख़ुशी के मारे ताली बजाने लगीं। उन्होंने कहा—इसने अपना दिन भी ठीक कर लिया है। इसे किसी की मदद की ज़रूरत नहीं।

अपने नये मकान का बाक़ी काम मैंने शीघ्रतापूर्वक समाप्त कर डाला। एक दिन तीसरे पहर मैं माया को इसे दिखलाने ले गया। घर देखकर वह बहुत प्रसन्न हुई, पर उसके अपने विचार भी थे। वह बोली—मकान के कुछ भाग का प्रबन्ध विदेशी ढङ्ग पर होगा, आपके लिए। परन्तु शेष सब स्वदेशी ढङ्ग होना चाहिए। उसकी इच्छा के अनुसार कार्य्य होने के लिए मैंने शीघ्र आज्ञा दे दी। मेरा दफ़्तर, ड्राइङ्ग-रूम और दो-एक और कमरों को छोड़कर शेष मकान भारतीय ढङ्ग पर सजाया गया। केवल माया के अध्ययन के कमरे में मेज़ और कुर्सियाँ थीं।

विवाह बड़े प्रभाव-पूर्ण ढङ्ग से सम्पन्न हुआ। चीफ़ जस्टिस के साथ समस्त हाईकोर्ट वहाँ उपस्थित था। वे सब एक विशाल सहभोज में बैठे। इसका ठीका कलकत्ते के एक श्रेष्ठ होटल को दिया गया था। देशी दावत भी बड़ी भव्य रही।

माया आदर्श दुलहिन थी—विनम्र, संकोच-शील और सलज्ज।

दूसरे दिन माया और मैं एक जलूस के साथ अपने पिता के घर गये। मेरी मा चमकदार साड़ी और वैसे ही चमचमाते हुए रत्नाभूषण धारण किये आनन्द में निमग्न माया के बग़ल में थीं। उन्होंने चिल्ला कर कहा—मेरे शिव और दुर्गा को देखो। हर-गौरी का मिलन देखकर अपने नेत्र सफल करो।

दोहरा बिस्तर जो मेरी माता ने अपने पुत्र और पुत्र-वधू के लिए ख़रीदा था उस रात काम आया। उसके बाद सात दिन तक हम उस घर में और रहे। तब माया और हम अपने मकान में रहने चले गये।

नये मकान में जब हम एक कमरे से दूसरे में टहल रहे थे, मैंने पूछा—माया क्या तुम एम० ए० की परीक्षा देना चाहती हो?

उसकी चितवन में पुरानी शरारत फिर नृत्य करती हुई दिखाई पड़ी। उसने कहा—क्यों नहीं? और मैं सोचती हूँ मैं क़ानून की परीक्षा भी पास करूँगी। तब मैं तुम्हारे विद्वान् मित्र के रूप में दूसरे पक्ष की ओर से उपस्थित होऊँगी।

बनावटी ख़तरे की आशंका से मैंने अपने दोनों हाथ उठाकर कहा—तब तो मेरा दिवाला ही निकल जायगा। मेरे सब मुवक्किल तुमको घेरे फिरेंगे—तुम्हारी योग्यता पर नहीं, तुम्हारे सौंदर्य्य पर मुग्ध होकर।

माया ने तुरन्त कहा—बेशक! पर क्या पोर्शिया अपने सौंदर्य्य के कारण विजयिनी हुई थी।

उससे पार पाना मुश्किल था। मैंने विषय बदल कर कहा—तुमने दोहरी प्रतिष्ठा प्राप्त की—कला में और विवाह में भी।

उसने उलटकर उत्तर दिया—और तुमने वैवाहिक डिग्री दो बार प्राप्त की।

"नहीं, पहली बार मैं बुरी तरह फ़ेल हुआ और इस बार मैं हर्गिज़ पास नहीं हो सकता जब तक तुम मुझे नम्बर न दो।"

माया ने मेरे गले में हाथ डाल दिया और कई बार मुझे चूमकर हँसते हुए कहा—यह लो! पाँच सौ नम्बर! तुम अव्वल पास हुए।

चिट्ठी-पत्री

ईसाई-धर्म में तलाक़ नहीं है।

प्रिय सम्पादक जी,

इधर कुछ समय से 'सरस्वती' में तलाक़ के विषय पर कई लेख निकले हैं। ऊँची जाति के कट्टर हिन्दू भी अपने समाज में पाश्चात्य देशों की तलाक़ नामक कुप्रथा के प्रचार का प्रयत्न कर रहे हैं। यह देखकर मेरे आश्चर्य्य की सीमा नहीं रही। अपने पतियों के प्रति प्रेम तथा ईमानदारी के कारण भारतवर्ष की स्त्रियों ने दुनिया भर में ख्याति प्राप्त की है। और आज-कल उन्नति और मानसिक विकास का ढोल बजाकर अनेक तो असली स्त्रीत्व के सद्गुण और शुद्ध दाम्पत्य की ईश-रचित नींव को ही नष्ट-भ्रष्ट करने में व्यस्त देख पड़ते हैं। इस स्वाधीनता के युग में तलाक़ की बात अति मधुर सुन पड़ती है सही, परन्तु पाश्चात्य देशों के इतिहास पर क्षण भर ही दृष्टि दौड़ाने से स्पष्ट हो जाता है कि तलाक़-व्यवस्था उनका एक महाभयानक वैरी प्रमाणित हुई है; असंख्य परिवारों के उन्मूलन के साथ ही साथ तलाक़ का विषमय कीड़ा राष्ट्र के रक्त में पैठकर उसे दिन प्रतिदिन दुर्बल करता जा रहा है। परिवारों ही पर राष्ट्र, समाज निर्भर है। जो कोई परिवार के सूत्र पर हमला करता है वह सारे राष्ट्र के अस्तित्व को ही जोखिम में डालता है।

पण्डित गौरीशंकर मिश्र, बी० ए०, एल-एल० बी०, आधुनिक विचार-धारा में बह चलने से अपने लेख में इनकार करते हैं। उन्हें विवाह तथा परिवार के पतित पुराने आदर्श के उत्थान की अभिरुचि है। इसी लिए मैंने बड़े चाव से उनके लेख को पढ़ा। परन्तु समुद्र में छिपी हुई चट्टानों से अचानक टक्कर खाकर जैसे जहाज़ की गति रुक जाती है और वह डूब जाता है, वैसे ही पण्डित जी के लेख में एक छिपे हुए चट्टान-रूपी वाक्य से टकराकर मेरी मनोगति भी रुक गई।

वे लिखते हैं—"तलाक़ की प्रथा अधिकतर ज़ड़पूजक पश्चिम में पाई जाती है।" खेद की बात, पर सच है। रूस में विशेष करके तलाक़ के भूत ने कितने ही गृहों का सत्यानाश कर दिया है! भारत के बहुत-से लोग पश्चिम को जड़पूजक वा पैसे का पुजारी कहना पसन्द करते हैं तथा बात भी उठाते हैं कि "पूर्वीय देशों में आत्मिक शान्ति का प्राधान्य है, यहाँ का दाम्पत्य-जीवन आत्मिक प्रेम में अस्त-व्यस्त रहता है।" पश्चिम में जन्म लेकर भी मैं पाश्चात्य सभ्यता की व्यर्थ वकालत नहीं करूँगा। आज-कल भी हर एक देश, हर एक शहर और गाँव गाँव भी दो दो दलों में विभक्त हैं—एक भलों का और एक बदमाशों का। भलों के दल में पारस्परिक प्रेम, आत्म-त्याग, ईशभक्ति और आत्मिक शान्ति के सबसे सुन्दर फूल खिलते और विकसते हैं। आँखें न मूँदिए और पश्चिम में भी आपके सामने आध्यात्मिक जीवन के अपूर्व आदर्श दृष्टिगोचर हो जायँगे। तो भी यात्रियों के वृत्तान्तों को पढ़ने से ऐसा मालूम होता है कि उन्होंने बड़ी रुचि के साथ बुरे दृश्यों पर ही आँखें फेरी हैं। पर इस बात को जाने दीजिए...... यदि शौक़ है तो पश्चिम को जड़पूजक कहिए।

छिपी चट्टान का नुकीला शिखर, देखिए, अचानक प्रकट होता है। "वहाँ का उत्पन्न धर्म ईसाईमत तलाक़ का पक्षपाती है।" इसी वाक्य पर टक्कर खाकर मैं आगे बढ़ नहीं सका। जहाज़ की गति रुक गई! यह क्या? ईसाईमत तलाक़ का पक्षपाती! बचपन से ही मैं उल्टी बात सुनता आया हूँ। 'खीस्तानी शिक्षा के प्रश्नोत्तर' में ७, ८ बरस का बालक होकर मैंने सीखा था कि "कोई भी मनुष्यरचित अधिकार शादी की गाँठ नहीं खोल डाल सकता है। खीस्त ने तो कहा: जो परमेश्वर ने जोड़ा है, उसको कोई भी मनुष्य अलग न करे।" (मत्ति, १६, ६)

जैसे अन्य मुख्य बातों में वैसे विवाह के पवित्र संस्कार के बारे में भी कैथलिक मण्डली की शिक्षा में कभी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। खीस्त के प्रेरितों के लिखे हुए सुसमाचार में अखण्ड विवाह-सम्बन्धी शिक्षा के साफ़ प्रमाण पाये जाते हैं। "फरीसियों ने यीशु के पास आकर उसकी परीक्षा करने के लिए उससे पूछा:--क्या अपनी स्त्री को त्यागना मनुष्य को उचित है कि नहीं? उसने उनको उत्तर दिया कि मूसा ने तुम्हें क्या आज्ञा दी। उन्होंने कहा मूसा ने त्यागपत्र लिखने और स्त्री को त्यागने दिया। यीशु ने उन्हें उत्तर दिया कि तुम्हारे मन की कठोरता के कारण उसने यह आज्ञा तुमको लिख दी। परन्तु सृष्टि के आरम्भ से ईश्वर ने नर और नारी करके मनुष्यों को उत्पन्न किया। इस हेतु मनुष्य अपने माता-पिता को छोड़ के अपनी स्त्री से मिला रहेगा और वे दोनों एक तन होंगे। सो वे आगे दो नहीं पर एक तन हैं। इसलिए जो कुछ ईश्वर ने जोड़ा है उसको मनुष्य अलग न करे। घर में उसके शिष्यों ने फिर इस बात के विषय में उससे पूछा। उसने उनसे कहा:--जो कोई अपनी स्त्री को त्याग के दूसरी से विवाह करे सो उसके विरुद्ध परस्त्रीगमन करता है। और यदि स्त्री अपने स्वामी को त्याग के दूसरे से विवाह करे तो वह व्यभिचार करती है।" (मार्क १०, २-१२) सन्त पौल प्रेरित ने करिन्थ के निवासियों को लिखा—"विवाहितों को मैं नहीं परन्तु प्रभु आज्ञा देता है कि स्त्री अपने स्वामी से अलग न होवे। पर यदि वह अलग भी होवे तो अविवाहिता रहे अथवा अपने स्वामी से मिल जाय। और पुरुष अपनी स्त्री को न त्यागे।" (१ करि० ७।१०) सन् १५६० ईसवी में कैथलिक गिर्जा के धर्माध्यक्षों ने ट्रेन्ट की महासभा में इकट्ठे होकर लूथर और प्रोटेस्टेंटों के विरुद्ध प्रभु मसीह की चिरस्थायी शिक्षा की घोषणा की और इन स्पष्ट बातों में धिक्कारा कि "जो कोई जान-बूझ के माने कि विवाह की गाँठ व्यभिचार वा किसी अन्य कारण के सबब खोली जा सकती तथा विवाहित व्यक्तियों के जीते जी पति वा पत्नी ईश्वरीय नियम तोड़े बिना नया विवाह कर सकता है, सो जातिच्युत हो।"

कौन नहीं जानता कि कैथलिक मण्डली के नेता उपर्युक्त सिद्धान्तों पर सदा अटल स्थिर रहे हैं? १६ वीं शताब्दी में इँगलिस्तान के ८ वें हेनरी ने अपनी पहली स्त्री को छोड़कर दूसरी कुमारी से विवाह करना चाहा। सन्त पापा की अनुमति पाने के लिए उसने उनके पास पत्र और प्रतिनिधियों को भेजा। परन्तु सन्त पापा को साफ़ साफ़ इनकार करना ही पड़ा, क्योंकि पृथ्वी के सबसे शक्तिमान राजाओं को भी ईश्वरीय नियमों को तोड़ डालने की आज्ञा कोई मनुष्य कभी नहीं दे सकता।

अब लेखक महोदय कैसे लिख सकते हैं कि "ईसाई-मत तलाक़ का पक्षपाती है"? यदि उन्हें कैथलिक इतिहास और सिद्धान्तों का अध्ययन करें और खीस्तान विवाह के विषय में वर्त्तमान सन्त पापा ११ वें पीऊस के लिखे हुए पत्र को पढ़ें तो उन्हें स्पष्ट हो जायगा कि ईसाई-मत के समान तलाक़ का विपक्षी और कोई मत नहीं। शायद "ईसाई मत" लिखने से पण्डित महोदय का संकेत प्रोटेस्टेंट लोगों से है। अगर उनका मतलब यही हो तो अपने इस मतलब को उन्हें प्रकट करना चाहिए था। प्रोटेस्टेंटों के विवाह-संबंधी सिद्धान्त कैसे हैं, सो मुझे मालूम नहीं...चार शताब्दियों के पूर्व उन्होंने कैथलिक गिरजा से अपने को अलग कर लिया और उसी समय से लेकर उनकी शिक्षा लगातार समय के उलट-फेर के साथ साथ बदलती आई है। आज-कल वे सैकड़ों दलों में विभक्त होकर परस्पर विरोधी सिद्धान्तों की शिक्षा दे रहे हैं। जितने सिर उतने मत हैं। उन्हें खीस्तान का नाम दे सकते हैं, पर यह मत भूल जाइए कि लूथर के समय से प्रभु मसीह की पूरी और शुद्ध शिक्षा उनकी नहीं रही।

पाल व० विंसवर्ग एस० जे०
पी० एच० डी० (करसियाङ्ग)
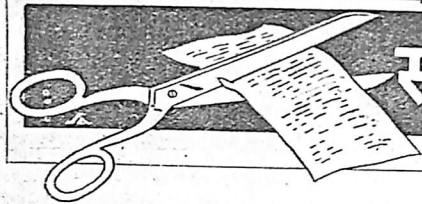
सामयिक साहित्य

ग्राम-सुधार

श्री शिवसिंह एम० ए० प्रिंसिपल जाट-कालेज लखावटी जिला बुलन्दशहर ने ग्राम-सुधार के सम्बन्ध में 'अर्जुन' में एक लेख लिखा है। उसमें उन्होंने ग्रामों की दयनीय दशा का अपनी आँखों देखा हाल इस प्रकार वर्णित किया है—

देश के सम्मुख इस समय ग्राम-सुधार का प्रश्न उठा हुआ है। कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं का और साथ ही साथ सरकार दोनों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है। पिछले कई सप्ताह से हम स्वयं अपने पड़ोस के ग्रामों का दौरा करने में लगे हुए हैं। कैसा कैसा विचित्र और आश्चर्यजनक अनुभव हो रहा है कि कहते नहीं बनता। अब तक कुल ६ ग्रामों का अध्ययन किया है, जिनकी जन-संख्या ३,४१३ है। इस जन-संख्या पर लगभग एक लक्ष रुपया सुरक्षित अथवा असुरक्षित ऋण निकला। न्यून से न्यून १८) प्रतिशत और अधिक से अधिक ८४) प्रतिशत प्रति वर्ष ब्याज की दर निकली। इन ६ ग्रामों में १७ पानी पीने के कुएँ हैं। पाठक सच समझिए कि इतने गन्दे और दुर्गन्धित हैं कि उनका दर्शन-मात्र रोगों का आवाहन करना है। इन ग्रामों में गत वर्ष में ६४ जीवों ने जन्म लिया और ८४ मृत्यु-ग्रस्त हुए, जिनमें से २६ बालक पैदा होते ही मर गये। उस समय यहाँ लगभग ४० मुक़द्दमे चल रहे थे। पशु-संख्या लगभग ७८५ थी और एक वर्ष में अनेक प्रकार के रोगों से लगभग ३२३ पशु मर गये थे। ग्रामों की इस आर्थिक हीनता का, कुरीतियों पर अपव्यय, भिखारियों की झोलियाँ, कार्यकर्त्ताओं के 'हक़' और भूपतियों के भारी कर ने और भी शोकजनक बना रक्खा था। शिक्षा का इतना अभाव कि किन्हीं किन्हीं ग्रामों में तो एक पुरुष भी ऐसा न निकला जिसको किसी प्रकार का अक्षर ज्ञान हो। तिस पर भी भूमि का अद्भुत बँटवारा, आपस के ईर्ष्या-द्वेष व वैमनस्य, कृषि-शास्त्र से अनभिज्ञता, दुर्बल बैल और पुराने कृषि-यन्त्रों ने बेचारे कृषक के भाग्य पर छाप लगा दी है। इस समय हमारी सभी शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए कि इससे हमारे कंगाल ग्रामनिवासियों का किसी प्रकार भाग्योदय हो सके। इनकी संख्या देश में लगभग ९० प्रतिशत है। ९० प्रतिशत को पीछे छोड़कर १० प्रतिशत की उन्नति में देश की उन्नति न होगी। सारांश यह हुआ कि हमारी आधुनिक शिक्षा का विशेष ध्येय 'ग्राम-निवासी सेवक-संघ' उत्पन्न करना होना चाहिए। यह तभी सम्भव हो सकता है जब हम अपनी शिक्षा-शैली में कृषि-शिक्षा को विशेष स्थान देंगे।

कांग्रेस ग्राम-सुधार का कार्य करना चाहती है। सरकार भी चाहती है। परन्तु संस्थायें बिना सुयोग्य कर्मचारियों के कार्य में सफल नहीं हो सकतीं। ग्रामों में काम करने के योग्य कृषि-शिक्षा-प्राप्त युवक ही लाभदायक हो सकते हैं।

——

गौरीशङ्कर-शृङ्ग पर बौद्ध-मठ

'विश्वमित्र' में गौरीशंकर-शृंग के सम्बन्ध में एक रोचक लेख प्रकाशित हुआ है। उसका संक्षेप यह है—

पर्वतराज हिमाचल के सर्वोच्च शिखर गौरीशङ्कर के ढाल प्रदेश में एक तपस्वी-आश्रम है जिसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि ग्यारहवीं शताब्दी से ही वह अपनी वर्तमान स्थिति में अवस्थित है। आश्रम के अन्धकारपूर्ण अन्तर भाग में एक बौद्ध महन्त रहते हैं, जिनका जीवन इस जन-समागम से सर्वथा शून्य एकान्त स्थल में व्यतीत होता है। आश्रम की कुटिया में एक छिद्र है, जिसके अन्दर से होकर प्रतिदिन इन्हें भूना हुआ अन्न और जल पहुँचाया जाता है।

उक्त बौद्ध महन्त न तो किन्हीं जीवित मनुष्यों को देख सकते हैं और न उनसे वार्तालाप कर सकते हैं। वे सदा ध्यानावस्थित रहा करते हैं।

गौरीशङ्कर-शृङ्ग पर एक और भी मठ है यह रंग-बक ग्लेसियर (तुषार-नदी) के तट-प्रदेश पर पर्वत के पार्श्व-भाग में अवस्थित है। यह एशिया महादेश का एक अत्यन्त रहस्य-पूर्ण स्थल है।

रंग-बक मठ बिलकुल जनशून्य एवं सुदूर स्थान में अवस्थित है। यहाँ का प्राकृतिक दृश्य सर्वथा अनुपम एवं मुग्धकारी है।

इस मठ में जो लामा लोग रहते हैं वे रात्रि में तीन बजे शय्या त्याग करते हैं और फिर सूर्योदय होने के साथ ही शय्या ग्रहण करते हैं। यदि कोई यात्री वहाँ पहुँच कर मठ में प्रवेश करता है तो वहाँ रहनेवाले लामा लोग एक पंक्ति में खड़े होकर अपने वाद्य-यन्त्र के साथ उसका स्वागत करते हैं। यात्री की अभ्यर्थना चाय से की जाती है जिसमें पूतिगन्धयुक्त मक्खन मिला हुआ होता है। सोने के लिए एक कोठरी दी जाती है जिसमें कठिन पथरीली चट्टान के सिवा और कोई बिछौना नहीं होता। रात्रि के निविड़ अन्धकार में बौद्ध संन्यासी विचित्र प्रकार का वस्त्र धारण करके अनुष्ठान करते और प्रायः रात-भर जागते हैं।

संन्यासी लोग समस्त प्राणियों को एक समान पवित्र समझते हैं। कृष्णसार मृग तथा और भी कितने ही वन्य-पशु उनके हाथ से भोजन ग्रहण करते हैं। वे किसी भी प्राणी की हत्या करना अधर्म समझते हैं।

गौरीशङ्कर शिखर पर अभियान करने के लिए जो दल गया था उसके सदस्यों ने रंक-बक मठ के प्रधान लामा से साक्षात्कार किया था। उनका कहना है कि उन्हें अपने जीवन में इस प्रकार का अनुपम अनुभव और कभी प्राप्त नहीं हुआ था। लामा उनसे एक भी शब्द नहीं बोले, किन्तु उस मौन अवस्था में भी उसका व्यक्तित्व इतना आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक था कि उन्हें देखकर इन विदेशी यात्रियों को ऐसा प्रतीत हुआ मानो उन्होंने संसार की किसी महान् पूतात्मा का दर्शन किया हो।

इन संन्यासियों की दृष्टि में गौरीशङ्कर-शृङ्ग केवल एक पर्वत ही नहीं है प्रत्युत वह जगत की मातृ-देवी है। उनकी दृष्टि में यह शैल-शृंग एक सचेतन देवता है जिसके अनेक अवतार हुआ करते हैं।

सचमुच गौरीशङ्कर-शृङ्ग की पूजा होती है। निकट और दूर-दूर से यात्री तथा संन्यासी लोग इस पर्वत-शृङ्ग को चाय, दूध, मधु और यव अर्पण करने के लिए आते हैं। वहाँ वे पताकायें आरोपित करते हैं और एकव नस्पति-विशेष को जलाते हैं। उपासना और यज्ञ समाप्त हो जाने के बाद यात्री लोग धनुष-बाण चलाते हैं, गीत गाते हैं और आनन्दोत्सव मनाते हैं।

——

साम्प्रदायिक दृष्टिकोण

पिछले दिनों श्रीयुत जिन्ना तथा भिक्षु उत्तम ने सम्प्रदायवाद को लेकर कुछ स्पष्ट बातें कही हैं। अतएव इस विषय में श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति ने 'अर्जुन' में एक विचारपूर्ण लेख लिखा है। वे लिखते हैं—

मिस्टर जिन्ना ने भारत से विलायत को जाते हुए हिन्दू-सभा के विरुद्ध एक ज़बर्दस्त तीर छोड़ते हुए कहा है कि हिन्दू-सभा भारतवर्ष में हिन्दूराज्य चाहती है। हिन्दू-महासभा के वर्तमान सभापति श्री भिक्षु उत्तम ने उसका उत्तर देते हुए मिस्टर जिन्ना के भ्रम का निवारण किया है। आपने बतलाया है कि हिन्दू-महासभा एक बार नहीं अनेक बार सम्प्रदायवाद के विरुद्ध घोषणा कर चुकी है। आपकी सम्मति है कि हिन्दू-महासभा का उद्देश हिन्दूराज्य की स्थापना नहीं, अपितु यह बता देना है कि मुस्लिम-राज्य एक आदर्श स्वप्न है।

इस उत्तर से स्पष्ट रूप से यह इशारा पाया जाता है कि श्री भिक्षु उत्तम के मत से मुसलमान भारतवर्ष में मुस्लिम राज्य का स्वप्न ले रहे हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दू और मुसलमान दोनों ही एक दूसरे को इतना बुद्धू समझते हैं कि उनकी राय में दूसरे सम्प्रदायवाले भारत में अपना राज्य स्थापित करने की हिमाक़त कर सकते हैं। आश्चर्य यह है कि जहाँ एक ओर वह दूसरे

सम्प्रदाय को इतना बुद्धू समझते हैं, वहाँ दूसरी ओर वह उसे इतना ज़बर्दस्त समझते हैं कि उनकी राय से वह भारत पर अपना क़ब्ज़ा जमा सकता है। यह एक मनोवैज्ञानिक पहेली है, जिस पर दार्शनिकों को गम्भीरता से विचार करना चाहिए।

× × × ×

हिन्दू मुसलमानों से डरते हैं, और मुसलमान हिन्दुओं से। दोनों समझते हैं कि दूसरा मेरे गले में फाँसी डालने को तैयार बैठा है। ऐसे असंगठित और बिखरे हुए राजनैतिक जीवन के होते हुए क्या यह भ्रम भी हो सकता है कि भारतवासी इँग्लैंड के हाथ से भारत का राज्य छीन सकते हैं? एक पागल आदमी भी कल्पना नहीं कर सकता कि अँगरेज़ों के संगठित और हमारे असंगठित होते हुए हमारा देश अँगरेज़ों के हाथ से निकल सकता है। जब कारण वही हैं तब फल कैसे बदलेगा? इँग्लैंड का राजनैतिक जीवन बिगड़ा नहीं, हमारा राजनैतिक जीवन सुधरा नहीं, तब यह कैसे मान सकते हैं कि इँग्लैंड और भारत की आपेक्षिक राजनैतिक स्थिति बदल जायगी?

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस समय भारतवासी समूह-रूप से भी इस योग्य नहीं दिखाई देते कि अपने देश की राजनैतिक पराधीनता को नष्ट कर सकें तब यह कैसे माना जा सकता है कि केवल हिन्दू या केवल मुसलमान उस स्थिति को बदल सकेंगे? एक समय अपने संगठित राजनैतिक जीवन के कारण अँगरेज़ों ने हिन्दू और मुसलमान दोनों के हाथ से भारत की राजसत्ता ले ली थी। आज वह कौन-सी नई बात पैदा हो गई है कि केवल हिन्दू या केवल मुसलमान अँगरेज़ों के हाथ से राजनैतिक सत्ता को छीन लेंगे? अँगरेज़ों से इस समय न केवल हिन्दू भारतवर्ष को ले सकते हैं और न केवल मुसलमान, और अँगरेज़ जाति ने ऐसा संन्यास लिया नहीं कि राजपाट को छोड़कर जंगल का रास्ता ले। तब हिन्दू राज्य और मुस्लिम राज्य के विचार को दो ही व्यक्ति दिमाग़ में ला सकते हैं—या तो एक नम्बर का मूर्ख और या एक नम्बर का शरारती। एक नम्बर का मूर्ख तो इस विचार को दिमाग़ में इसलिए लायगा कि वह घटनाओं के कार्यकारणभाव पर सोचता ही नहीं, और एक नम्बर का शरारती इस विचार को जीभ पर इसलिए लायगा कि वह एक कोरे झूठ के सहारे अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है। जो हिन्दू या मुसलमान आज यह सोचे या कहे कि भारत में हिन्दूराज्य या मुस्लिम-राज्य सम्भव है, या तो पहले दर्जे का मूर्ख है या महान शरारती है।

भारतीय समाचारपत्र

'आज' ने अपने अग्रलेख में भारतीय पत्रों के सम्बन्ध में बड़े काम की बात कही है। उस लेख का एक अंश इस प्रकार है—

भारत दरिद्र देश है। उसके समाचार-पत्र भी उसके अनुरूप हैं। जो देश जितना श्रीमान् होता है उसके पत्र भी वैसे ही अच्छे होते हैं। योरप में ही जैसे सर्वांग सुन्दर पत्र इँग्लैंड में निकलते हैं वैसे अन्य किसी देश में नहीं निकलते। फ्रांस, जर्मनी, रूस, इटली, आदि भी स्वतन्त्र और उन्नतिशील देश हैं। तो भी उन देशों के पत्र इँग्लैंड के पत्रों के जैसे विशाल नहीं होते और न उनका उतना प्रचार ही होता है। जहाँ उद्योगधन्धे अधिक होते हैं वहाँ विज्ञापन देनेवाले भी अधिक होते हैं और विज्ञापन से होनेवाली आय पत्रों की जान है। इँग्लैंड के पत्रों की श्रेष्ठता का यह भी एक कारण है। इँग्लैंड के पत्रों से भी अच्छे पत्र अमरीका के होते हैं और इसका भी यही कारण है। समाचारपत्र बड़े बड़े उद्योगधन्धों से ही पलते हैं। भारत इस विषय में बहुत ही पिछड़ा हुआ है, अतएव उसके समाचारपत्र भी येन-केन प्रकारेण जीवन धारण कर रहे हैं।

समय बदल गया है। अख़बारी दुनिया में प्रतियोगिता बहुत बढ़ गई है। नया पत्र वही चल सकता है जो जन्म से ही पुराने प्रतिष्ठित पत्रों का मुक़ाबला कर सके। इसके लिए अधिक पूँजी की ज़रूरत है। अच्छा पत्र निकालकर भी दो-चार साल तक लगातार घाटा उठाने का सामर्थ्य भी होना चाहिए। पत्र निकालने के लिए केवल अच्छा लेखक होना ही काफ़ी नहीं है। पास काफ़ी पूँजी होनी चाहिए और बुद्धि व्यापार की होनी चाहिए।

पर इसके साथ अन्य कई विचारणीय विषय भी हैं। पहली बात तो यह है कि हम यन्त्रों और बड़े बड़े कारखानों को यदि बुरा समझते हों, ग्राम उद्योग-धन्धों की उन्नति चाहते हों और सादे ग्राम-जीवन को उत्तेजन देना चाहते हों तो इँग्लैंड-अमरीका जैसे पत्रों की आशा करना निरा पागलपन है। वैसे पत्र यांत्रिक और औद्योगिक समाज में ही हो सकते हैं—सादे ग्राम-जीवन में उनके लिए स्थान नहीं है। दूसरी बात यह है कि जिन पत्रों को आज हम आश्चर्य और आदर की दृष्टि से देखते हैं, जिन्हें अपना आदर्श बनाना चाहते हैं, क्या वस्तुतः वे समाज का कोई उपकार कर रहे हैं? एक तो वे विज्ञापन देनेवालों का मुँह जोहते हैं और उसी परिमाण में पराधीन भी होते हैं। विज्ञापन की आमदनी पर जीनेवाले पत्र पूर्णतया स्वतन्त्र हो नहीं सकते। तीसरे, उनका ध्येय अर्थोपार्जन होता है, आदर्श नहीं। इँग्लैंड, अमरीका आदि देशों के बड़े बड़े पत्रों की यही दशा हो गई है। भारतीय पत्रों में अभी आदर्श है।

दरिद्रता की वृद्धि

भारत की आर्थिक दशा कितनी बिगड़ गई है, इस बात को 'दरिद्रता की वृद्धि' के शीर्षक में 'आज' ने अपने अग्रलेख में बहुत ही सरल ढंग से बताया है। उसका एक अंश इस प्रकार है—

प्रतिवर्ष पेंशन आदि के लिए जो रक़म हमें (इँगलैंड) भेजनी पड़ती है उसकी चुकती के लिए यह आवश्यक है कि प्रतिवर्ष यहाँ से कम से कम उतने मूल्य का माल तो अवश्य विदेश जाया करे जितना भारत-सरकार को हर साल लन्दन भेजना पड़ता है। पहले यहाँ से इतना अधिक कच्चा माल विदेश जाया करता था कि यह देना चुकाने पर भी बहुत-सा सोना यहाँ आ जाता था। पर अब माल उतना अधिक नहीं जाता। अब भी हम जितना मँगाते हैं उससे अधिक भेजते हैं, पर यह इतना अधिक नहीं है कि उससे भारत-सरकार की आवश्यकता पूरी हो जाय। इस अभाव की पूर्ति वह सोना करता है जो प्रतिसप्ताह लगातार यहाँ से बाहर चला जा रहा है। इस सोने के बदले में हम वस्तुतः कुछ नहीं पा रहे हैं, बल्कि हमारा धन घट रहा है। जब तक हम ज़्यादा गल्ला भेजते थे और उसका दाम हमें हुण्डियों से चुकाया जाता था तब तक वस्तुतः देश की सम्पत्ति घटती नहीं थी, क्योंकि राष्ट्र का देना वार्षिक उपज से चुकाया जाता था। पर अब हम यह देना वार्षिक उपज से नहीं दे सकते, उसके बदले घर का सोना बेच रहे हैं—विदेश भेज रहे हैं।

इसे समझने के लिए कुछ आँकड़े लीजिए। संवत् १९९० विक्रम में हमने ९१ करोड़ ९६ लाख रुपये का अधिक माल विदेश भेजा था। अर्थात् हमने जितना ख़रीदा उससे ज़्यादा बेचा, जिससे लगभग ९२ करोड़ रुपया हमारा पावना हुआ। पर संवत् १९९१ में हमने केवल ७८ करोड़ १० लाख रुपये का ही अधिक माल विदेश भेजा। अर्थात् एक साल में १३ करोड़ ८६ लाख रुपया घट गया। इसमें भी स्मरण रखने की बात यह है कि यह ७८ करोड़ १० लाख रुपये का जो पावना हुआ वह भी उतना न होता यदि उसी साल हमने ५२ करोड़ ५४ लाख रुपये का सोना विदेश न भेजा होता। यदि यह सोना न जाता तो संवत् ९१ में हमारा विदेश से पावना कुल २५ करोड़ ५६ लाख रुपया होता और इस रक़म से भारत-सरकार की आधी आवश्यकता भी पूरी न होती। उस सरकार को हर साल ५०-६० करोड़ रुपया विदेश भेजना पड़ता है। एक समय था जब हम अपने वार्षिक उपज में से यह रक़म दे देते थे, पर इधर घर की जमा खोने लग गये हैं। हर साल देश अधिकाधिक दरिद्र होता जा रहा है। यदि भारत बाहर से कम माल मँगावे तो यह शोषण बन्द हो सकता है। पर भारत-सरकार की व्यापार-नीति इसमें बाधक हो रही है। हम साम्राज्यान्तर्गत माल ख़रीदने के लिए बाध्य हैं। यह वार्षिक देना चुकाना और साम्राज्यान्तर्गत व्यापार को उत्तेजन भी देना, इन दो चक्कियों के बीच में ग़रीब भारत पिसा जा रहा है।

चाँदी की दर

इस विषय पर 'लोकमान्य' में श्री हनुमानप्रसाद जी पोद्दार एम० एल० सी० ने एक उपयोगी टिप्पणी लिखी है। उसका कुछ अंश इस प्रकार है--

अमेरिका सोने से अपना भाण्डार भर चुका अब चाँदी की तरफ़ उसका ध्यान गया है। संसार के चाँदी के मार्केट पर सोने और चाँदी का इतना अधिक प्रभाव पड़ा है कि गत २५ वर्ष के भीतर लन्दन का फ़्यूचर का मार्केट इतना कभी नहीं चेता था जितना अब चेत रहा है। गत १ मार्च को चाँदी की दर २ शि० १॥ पे० प्रति-औंस थी और ११ अप्रैल को २।५ हो गई। इसके बाद बढ़ती ही गई और १५ दिन के भीतर दर ३ शि० प्रति-औंस हो गई। भारत के सराफ़े के बाज़ार में अप्रेल के अन्त में दर ७३) से बढ़कर ८३) प्रति सौ तोला हो गई।

अमेरिका की चाँदी-सम्बन्धी नीति से अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक उलझन पैदा होने की सम्भावना है। चीन पर इसका बहुत बुरा असर पड़ा है। संयुक्त-राज्य के पड़ोसी मेक्सिको ने चाँदी की विश्वव्यापी चढ़ती दर के कारण अपनी चाँदी की करन्सी (मुद्रा) का चलन ही स्थगित कर दिया है, और काग़ज़ तथा ताँबे की मुद्रा का चलन चलाया है। यदि चाँदी की दर और चढ़ी तो अमेरिका से चाँदी की करेन्सी का भी महत्त्व और मूल्य बहुत बढ़ जायगा। भारत में यदि ४) प्रति औंस दर और बढ़ जाय तो सिक्के के रूप में जितना मूल्य है उसकी अपेक्षा चाँदी के रूप में उसका मूल्य ज़्यादा हो जाय और रुपया मुनाफ़े की वस्तु समझी जाने लगे। उस हालत में बाज़ार में से रुपये का चलन बन्द हो सकता है और देश के सामने बड़ी विषम समस्या उपस्थित हो सकती है।

भारतीय पी० ई० एन० संस्था

'कर्मवीर' में एक साहित्यिक लिखते हैं--

१४ वर्ष पहले लन्दन में एक संस्था क़ायम हुई थी। उसका नाम है पी० ई० एन० इन्स्टीट्यूशन। यह विश्व के कवि, नाटककार, सम्पादक, लेखक और उपन्यासकारों की संस्था है। संसार के भिन्न भिन्न ४० देशों में इस संस्था की शाखायें हैं। पहले इस संस्था के सम्पादक प्रसिद्ध अँगरेज़ उपन्यासकार जान गाल्सवर्दी थे, और उनके बाद इँग्लेंड के विश्व-कीर्ति-लब्ध लेखक मिस्टर एच० जी० वेल्स हुए। इस संस्था के सदस्य अपने अपने राजनैतिक विचार भिन्न रखते हुए भी साहित्य में मेल रखने का व्रत लेते हैं। जो किसी एक शाखा का सदस्य हुआ कि वह व्यक्ति समस्त संस्था का सदस्य हो जाता है। भारतवर्ष में भी इस संस्था की शाखा क़ायम हो गई है। इसका प्रधान कार्यालय बम्बई में है।

भारत की यह शाखा संस्था--

(१) अपने देश के कवियों, नाटककारों, उपन्यासकारों, सम्पादकों और लेखकों का सम्बन्ध दूसरे देशवासियों से क़ायम करेगी।

(२) यह संस्था, संस्कृत, अँगरेज़ी या देशी भाषाओं में लिखनेवाले भारतीय सदस्यों के उद्योग से योरपीय तथा अन्य देशों के साहित्यिकों को परिचित रक्खेगी।

(३) यह संस्था विदेशों से संग्रह कर उपयोगी साहित्य अपने पाठकों के पास पहुँचावेगी; भारतीय साहित्यिक घटनाओं से जगत् की शाखाओं को परिचित करायेगी।

(४) यह संस्था भारत की देशी भाषाओं के प्राचीन साहित्य का तथा वर्तमान साहित्य की प्रगति का विवरण विदेशों में तथा एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में पहुँचाती रहेगी, और भिन्न-भिन्न प्रान्तों तथा देशी राज्यों में स्थापित साहित्यिक संस्थाओं के आदर्शों, उद्योगों और सफलताओं से परिचित होना चाहेगी। इस संस्था के प्रत्येक सदस्य को "दी इण्डियन पी० ई० एन०" नामक पत्र मुफ़्त मिलता रहेगा, जिसमें इस संस्था के साहित्य और इसकी शाखाओं की जानकारी रहेगी।

७ मार्च १९३४ और ७ मार्च १९३५ के इस तरह उक्त पत्र के दो अङ्क निकल चुके हैं। विद्वान् हिन्दी लेखकों को इस संस्था में शामिल होकर इसके उद्देशों से लाभ उठाना चाहिए।

हिन्दी राष्ट्र-भाषा होगी

हिन्दी के राष्ट्र-भाषा होने के पक्ष में रेवरेंड हेंट पाल ने 'दि न्यू रिव्यू' नामक अँगरेज़ी की मासिक पत्रिका में एक महत्त्वपूर्ण लेख लिखा है। 'सरस्वती' के पाठकों को मालूम होगा कि आपने हिन्दी का ख़ासा अध्ययन ही नहीं किया है, किन्तु आप हिन्दी में लेख भी लिखते हैं। उक्त लेख में आप लिखते हैं--

हिन्दी बोलनेवालों की संख्या का यदि विचार किया जाय तो हिन्दी के राष्ट्र-भाषा होने का दावा ठीक निकलता है। परन्तु इतना ही नहीं है। उसकी लिपि भी सरल है, साथ ही दूसरी लिपियों की अपेक्षा उससे अधिक लोग परिचित हैं। इसके सिवा वह जल्दी सीखी भी जा सकती है। यहाँ तक कि विदेशी लोग भी थोड़े ही समय में उसे काफ़ी सीख जाते हैं।

परन्तु हिन्दी के राष्ट्र-भाषा होने के सम्बन्ध में सबसे बड़ी बात यह है कि उसे लाखों लोग असंख्य स्कूलों में सीख रहे हैं। और अब तो कोई भी हिन्दी में बी० ए०, एम० ए० की परीक्षायें पास कर सकता है तथा डाक्टर भी हो सकता है। और इसकी व्यवस्था यहाँ के १८ विश्वविद्यालयों में से १३ विश्वविद्यालयों में हो गई है। उधर साहित्य की वृद्धि के लिए लेखक लोग बड़े बड़े ग्रन्थ लिखे डाल रहे हैं।

हिन्दी में दैनिक, साप्ताहिक, मासिक इत्यादि पत्र-पत्रिकायें संख्या में कोई ८० निकलती होंगी। और इनमें दिन दिन वृद्धि होती जा रही है। साथ ही यह भी सच है कि इनमें से अधिकांश निकलने के बाद ही बन्द हो जाते हैं।

हिन्दी के नाटकों की दशा अच्छी है। हिन्दी के बोलते सिनेमा भी निकल रहे हैं। ग्रामोफोन में बहुसंख्यक गीत भरे जा चुके हैं। उधर राष्ट्रीय महासभा अपने सदस्यों पर हिन्दी का व्यवहार करने के लिए ज़ोर डाल रही है। हिन्दी-भाषी प्रान्तों के बाहर हिन्दी के प्रचार का बड़ा भारी आयोजन किया गया है। हिन्दी के दस दैनिकों में से तीन दैनिक बँगलाभाषी बंगाल के केन्द्रीय नगर कलकत्ते से ही निकल रहे हैं। वहीं से 'विशाल भारत' और 'विश्व मित्र' जैसे उच्च कोटि के दो मासिक निकल रहे हैं। लाहौर और बम्बई भी हिन्दी के केन्द्र हो रहे हैं। आसाम तक हिन्दी के प्रेस हैं तथा मासिक पत्र आदि निकलते हैं और ऐसे चिह्नों का भी अभाव नहीं है कि सुदूर द्रविड़ दक्षिण भी हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के रूप में ग्रहण करने को झुक रहा है।

दक्षिण-हिन्दी-प्रचार-सभा बड़ा काम कर रही है। वहाँ अब तक ३९,१६३ हिन्दी सीखनेवालों ने उसकी परीक्षायें पास की हैं। आन्ध्र और मदरास के विश्वविद्यालयों ने भी हिन्दी में परीक्षा लेना शुरू कर दिया है। मदरास और मैसूर, कोचीन और ट्रावन्कोर में मेट्रीकूलेशन की परीक्षा के विषयों में हिन्दी को भी स्थान दिया गया है।

इस प्रकार हिन्दी का प्रचार बढ़ रहा है। भारत अपने को एक राष्ट्र मान रहा है और उसकी इस भावना को राष्ट्र-भाषा का अभाव खटक रहा है। उसकी अनेक भाषाओं में से केवल हिन्दी के ही राष्ट्र भाषा होने का मौक़ा जान पड़ता है।

रूसी आयोजना की विफलता

रूस की सोवियट सरकार ने अब तक असम्भव सम्भव करने का ही प्रयत्न किया है। अनेक लोगों का यह कहना है कि उसे अपने प्रयत्न में बहुत कुछ सफलता भी मिली है। परन्तु रूस की वास्तविक दशा का पूरा पता ही नहीं मिलता। उसकी नई नई योजनाओं की अख़बारों में बहुत प्रशंसा ही होती रहती है। और लोग उन्हें बड़े चाव से पढ़ते भी रहे हैं। खेद की बात है कि उसकी कृषि-सम्बन्धी पंच वार्षिक योजना नहीं सफल हुई। उक्त योजना के सम्बन्ध में 'भारत' ने लिखा है—

मालूम होता है कि सोवियट रूस की कृषि-सम्बन्धी पंच-वर्षीय आयोजना असफल हो गई। सन् १९१३ में रूस में ८ करोड़ टन अनाज पैदा हुआ था; और आयो-

जना बनानेवालों का ध्येय यह था कि सन् १९३२ से प्रति वर्ष १०॥ करोड़ टन अनाज पैदा हो। लेकिन सन् ३२, ३३ और ३४ की पैदावार के आँकड़ों से मालूम होता है कि इन तीन बरसों में औसत पैदावार केवल ७ करोड़ टन सालाना ही हुई है। आयोजना को कार्यरूप में परिणत करने के लिए करोड़ों रुपये तो मशीनों पर ख़र्च किये गये और किसान स्वतन्त्रतापूर्वक अपना अपना कार्य करने के बजाय मिलकर काम करने को बाध्य किये गये। और परिणाम क्या निकला? पैदावार में पहले से एक करोड़ टन की कमी! उधर सन् १९१३ से जन-संख्या में ३ करोड़ की वृद्धि हो चुकी है। अनाज चाहिए पहले से अधिक और पैदा हो रहा है कम। कम्यूनिस्ट रूस की नई शासन-प्रणाली को लोकप्रिय बनाने की दृष्टि से इस आयोजना की सफलता बड़ी महत्त्वपूर्ण बात होती, क्योंकि इससे रूसी लोगों की रोटी की समस्या हल हो जाती।

——

शिवाबावनी और महात्मा गांधी

पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी ने महात्मा गांधी के इन्दौर-सम्मेलनवाले भाषण की एक विस्तृत प्रतिकूल आलोचना प्रकाशित की है। उस आलोचना का एक अंश इस प्रकार है—

अपने भाषण के अन्त में महात्मा जी "परीक्षाओं की पाठ्य पुस्तकों में से एक पुस्तक के बारे में एक मुसलमान की शिकायत" पेश करते हुए कहते हैं—"इसमें मुग़ल बादशाह के लिए भली बुरी बातें हैं, वे सब ऐतिहासिक भी नहीं हैं। मेरा नम्र निवेदन है कि पाठ्य पुस्तकों का चुनाव सूक्ष्म विवेक के साथ होना चाहिए; और उसमें राष्ट्रीय दृष्टि रखनी चाहिए।"

मुझको विश्वस्त सूत्र से पता चला है कि आपका आक्षेप महाकवि भूषण की "शिवाबावनी" पर है। आपने पुस्तक का नाम अपने भाषण में शायद इसी लिए नहीं लिया है कि आपके भाषण में उसका नाम आ जाने से शायद पुस्तक का प्रचार और भी अधिक न बढ़ जाय। जो हो, यदि आपका ऐसा ही अभिप्राय है, तो मुझे आपकी इस सम्मति पर बहुत दुःख है। भूषण कवि की "शिवाबावनी" के विषय में यह कहना कि "उसमें मुग़ल बादशाह के लिए भली-बुरी बातें हैं, वे सब ऐतिहासिक भी नहीं हैं" क्या मानी रखता है?

भूषण कवि, साक्षात् शिवाजी के समकालीन, ख़ास उन्हीं के दरबार में, रहते थे; और मुग़ल बादशाह औरङ्ग़ज़ेब से उनकी गहरी लागडाँट थी, सो महात्मा जी न जानते हों—ऐसा कहने का साहस मैं नहीं कर सकता। फिर भूषण कवि कोई 'इतिहास' लिखने बैठे नहीं थे; और न सम्मेलन-परीक्षा के ऐतिहासिक पाठ्य-क्रम में यह पुस्तक ही रक्खी गई है। भूषण कवि की यह रचना हिन्दी-साहित्य के वीर काव्य में अद्वितीय है। यह भूषण कवि के वैदग्ध्य और कलापूर्ण रचना-चातुरी का बेजोड़ नमूना है! फिर वीररस का इतना सुन्दर परिपाक इन बावन कवित्तों में हुआ है कि आज भी हमारी इस दुर्भाग्यपूर्ण ग़ुलामी के काल में, जब कि हमारा ख़ून बिलकुल सर्द पड़ गया है—जब कोई ग्रामीण बुड्ढा कड़क कर यह कवित्त पढ़ने लगता है तब पढ़नेवाले और सुननेवालों का ख़ून खौल उठता है, भुजायें फड़कने लगती हैं; और छाती फूल कर सारे शरीर में रोमाञ्च हो आता है। सुननेवाले चाहे मुसलमान ही क्यों न हों, वे भी अपने जातीय भाव को भूलकर एक बार वीररस के प्रखर प्रवाह में बह जाते हैं। साहित्य के क्षेत्र में हिन्दू-मुसलमानों का वैमनस्य कहाँ! फिर भूषण कवि हिन्दी-साहित्य का कोई मामूली कवि नहीं है। यह कवि यदि हिन्दी-भाषा में छत्रपति का यशोगान न करता, तो आज शायद छत्रपति शिवाजी का इतना राष्ट्रीय गौरव भी न होता, क्योंकि हिन्दी-भाषी प्रान्तों के ग्राम-ग्राम में शिवाबावनी के कवित्त कविता-प्रेमी अपढ़ लोगों की भी जिह्वा पर नाच रहे हैं।

१—योरप का भयप्रद स्वरूप

र्मनी ने योरप में एक बार फिर राजनैतिक उथल-पुथल उपस्थित कर दी है। अपने यहाँ अनिवार्य सैनिक शिक्षा जारी करने की घोषणा करके उसने वहाँ के राजनीतिज्ञों के आगे एक नई समस्या उपस्थित कर दी है। यही नहीं, उसके इस काम से वहाँ के सभी राष्ट्र सशंकित हो उठे हैं। विजयी राष्ट्रों का अभी तक यह दृष्टिकोण रहा है कि वे तो समर-सज्जा से पूर्णरूप से सज्जित रहें, पर जर्मनी आदि पराजित राष्ट्र सन्धि की शर्तों के अनुसार ही अपना सैनिक बल परिमित रक्खें। वर्सलीज़ की सन्धि में एक यह भी शर्त थी कि विजयी राष्ट्र भी समय आते ही अपनी फ़ौजी तैयारी इतनी परिमित कर लेंगे कि उनसे किसी को किसी तरह का भय न रह जायगा। परन्तु उन्होंने इस शर्त की ओर जैसा चाहिए वैसा ध्यान नहीं दिया, उलटा अपनी फ़ौजी तैयारी को पहले की अपेक्षा और भी सुदृढ़ करने में ही लीन रहे। 'आज' ने इस सम्बन्ध में जो अंक दिये हैं उनसे इस अवस्था पर पूरा प्रकाश पड़ता है। वह लिखता है—

कतिपय अमेरिकन शेष का कथन है कि महासमर के बाद से अब तक योरप के प्रथम श्रेणी के राष्ट्रों ने नई सेना तैयार करने में १०,००,००,००,००,००,००० रुपया ख़र्च किया है। आज योरप में ३५ लाख सैनिक सेना में भर्ती हैं और १ करोड़ १७ लाख सैनिक 'रिज़र्व' में हैं; इन्हें पूरी सैनिक शिक्षा मिलती है और नोटिस पाते ही लड़ाई में जाने के लिए बाध्य हैं। ब्रिटेन की शक्ति उसके समुद्री बेड़े में है जो संसार में आज भी सबसे बड़ा है। फ़्रांस की स्थल-सेना में ६ लाख सिपाही हैं और २५ लाख सिपाही रिज़र्व में हैं जो तुरन्त युद्ध-क्षेत्र में भेजे जा सकते हैं। इटली की सेना में ७ लाख सिपाही हैं और इससे तिगुने रिज़र्व में हैं। रूस की सेना में भी ७ लाख आदमी हैं और वहाँ प्रतिवर्ष ८ लाख आदमियों को सैनिक शिक्षा दी जाती है। ब्रिटिश सेना में ४॥ लाख आदमी हैं, पर कहा जाता है कि इनके शस्त्रास्त्र सबसे अच्छे हैं।

ऐसी दशा में सजग हिट्लर का जर्मनी राष्ट्र-संघ के भरोसे अपने हाथ-पैर कटाये कैसे बैठा रह सकता था? फलतः उसने वर्सेलीज़ के सन्धिपत्र को उठाकर एक ओर कर दिया और यह घोषित किया है कि अपनी आत्म-रक्षा के लिए वह अपने सैन्य बल को पहले की अपेक्षा सत गुना ही नहीं कर लेगा, किन्तु वह फ़्रांस के बराबर जङ्गी हवाई सेना भी रक्खेगा, साथ ही अपना नौबल भी सुदृढ़ करेगा। इसके साथ ही उसने इस घोषणा के अनुसार क़ार्य भी करना शुरू कर दिया है।

जर्मनी की यह धृष्टता कम से कम फ़्रांस नहीं सहन कर सकता था। उसने उसकी इस धींगाधींगी का तत्क्षण प्रतिवाद किया और उसके प्रतिकार का प्रयत्न भी प्रारम्भ कर दिया। फलतः ग्रेट ब्रिटेन, फ़्रांस और इटली के वर्तमान प्रधान राजकर्मचारियों की इटली के स्ट्रेसा नाम के एक एकान्त स्थान में सभा हुई और उसके बाद इस प्रश्न को राष्ट्र-संघ की एक विशेष बैठक में फ़्रांस ने उपस्थित किया।

इन अवसरों के निर्णयों के अनुसार जर्मनी का यह क़ार्य असंगत ठहराया गया, साथ ही सभी राष्ट्र अपनी फ़ौजी तैयारी भी करने लगे। परन्तु जर्मनी से सन्धि की शर्तों के पालन कराने के लिए कोई कार्रवाई नहीं की गई। तथापि यह प्रकट है कि प्रायः सभी राष्ट्र फ़्रांस के साथ हैं और

जर्मनी अकेला पड़ गया है। उसे ग्रेट ब्रिटेन से कम से कम सहानुभूति की पूरी आशा थी। परन्तु इस समय वह भी फ़्रांस के स्वर में स्वर मिलाकर ही बोल रहा है। इटली भी उसके साथ रहने को मजबूर है, क्योंकि वह नहीं चाहता कि आस्ट्रिया जर्मन-साम्राज्य में मिला लिया जाय। इसके सिवा अभी इसी वर्ष फ़्रांस ने उसे अफ़्रीका में एक बहुत बड़ा भू-भाग सौंप दिया है। इसका भी इटली को खयाल करना ही पड़ेगा। परन्तु सबसे अधिक महत्त्व की बात यह हुई है कि फ़्रांस और रूस परस्पर सहायता करने के लिए एक सन्धिपत्र-द्वारा वचन-बद्ध हो गये हैं। अब रहे मध्य-योरप तथा बाल्कन-प्रायद्वीप के छोटे छोटे तथा बड़े लड़ाकू राज्य सो वे भी फ़्रांस के बहुत पहले से साथ हैं और जो नहीं थे उन्हें इटली अपने साथ लिये है। इस तरह फ़्रांस की स्थिति बहुत दृढ़ है। परन्तु इतना होते हुए भी वह चुप है और जर्मनी सन्धिपत्र को भङ्ग करके स्वेच्छानुसार अपना सामरिक बल बढ़ाता जा रहा है। असल बात यह है कि जर्मनी इतनी तैयारी कर लेने पर भी इतना अधिक शक्तिशाली नहीं हो सकेगा जिससे फ़्रांस के लिए कोई जोखिम की बात हो। दूसरी बात यह भी हो सकती है कि कदाचित् फ़्रांस के साथी केवल आक्रमण होने पर ही उसकी सहायता करने को वचन-बद्ध हों। और जर्मनी तो ख़ुद कह चुका है कि उसकी सामरिक तैयारी केवल आत्म-रक्षा की तैयारी है—पराजय का बदला लेने की तैयारी नहीं है। परन्तु दूध का जला माठा फूँक फूँककर पीता है। इसी से जर्मनी के इस नये रुख़ से योरप के सभी राष्ट्र इतना अधिक चिन्तित हो उठे हैं तथा और भी अधिक अपना सामरिक बल बढ़ाने में जुट गये हैं। और यही जोखिम की बात है। इसी से लोग महायुद्ध के छिड़ जाने की कल्पनायें करने लगे हैं। परन्तु इतना अधीर होने की बात नहीं है। योरप के प्रधान राष्ट्रों की बागडोर इस समय ऐसे कुशल राजनीतिज्ञों के हाथ में है जो शान्ति के मार्ग को अपनी निगाह से नहीं जाने देना चाहते। अन्यथा सन्धि-भङ्ग की बात पर ही योरप में तभी युद्ध छिड़ गया होता।

२—इटली और अबीसीनिया

मुसोलिनी का इटली अपने को योरप का प्रमुख राष्ट्र ही नहीं समझता है, किन्तु वह उस जैसा व्यवहार भी करता है। आस्ट्रिया, हंगरी और ग्रीस को अपने संरक्षण में करके उसने अपनी प्रतिपत्ति का प्रमाण भी दे दिया है। यह भी प्रकट है कि उसके सर्वेसर्वा मुसोलिनी राज्य का विस्तार करना चाहते हैं। उनके सौभाग्य से अफ़्रीका के इटली के अधिकृत भू-भाग के पास ही हबशियों का अबीसीनिया नाम का एक स्वाधीन किन्तु निर्बल राज्य स्थित है। अबीसीनिया के दुर्भाग्य से उसका इटली से हाल में कुछ झगड़ा हो गया था। इस झगड़े का सिलसिला इधर कई महीने से जारी है।

अबीसीनिया ने बहुत चाहा कि यह मामला शान्ति के साथ आपस में तय कर लिया जाय। जब इटली ने अपमानजनक शर्तें उपस्थित कीं तब उसने लाचार होकर राष्ट्र-संघ का द्वार खटखटाया। इस समय उसका मामला राष्ट्र-संघ के विचाराधीन है। परन्तु लक्षणों से जान पड़ता है कि इन दोनों में लड़ाई छिड़े बिना नहीं रहेगी। यह सच है कि कोई ४० वर्ष पहले अबीसीनिया ने इटली को युद्ध में परास्त किया था। परन्तु तब से संसार बहुत आगे बढ़ गया है। अबीसीनिया उतना साधन-सम्पन्न नहीं है। वह इटली जैसे आधुनिक आयुधों से सज्जित राष्ट्र के आगे अब नहीं ठहर सकेगा। यह बात वह जानता भी है, तो भी उसका स्वाभिमान उसे इटली से सब तरह निपटने को बाध्य कर रहा है।

और इटली, सो उसका सर्वेसर्वा मुसोलिनी तो प्रत्येक समय अपनी तलवार खड़खड़ाया करता है। फिर इस समय तो वह जर्मनी के विरुद्ध फ़्रांस का साथ दे रहा है। अतएव अबीसीनिया पर हाथ डालने के लिए उसको इससे अधिक उपयुक्त अवसर नहीं प्राप्त हो सकता। इस मामले में अगर हस्तक्षेप करने का किसी को हक़ है तो केवल ब्रिटेन और फ़्रांस को। जैसा लक्षणों से प्रकट होता है, इनमें से कोई भी इस अवसर पर अबीसीनिया के पीछे इटली को नाराज़ करने की भूल नहीं करेगा। अतएव मुसोलिनी को खुलकर नाचने का मौक़ा मिल गया है। परन्तु

मुसोलिनी साहब, जान पड़ता है, इस अवसर का उपयोग नहीं करना चाहते। योरप की वर्तमान अनिश्चित राजनैतिक अवस्था से वे कम शंकित नहीं हैं। यही कारण है कि अभी धमकियों से ही काम लिया जा रहा है। देखना है कि यह झगड़ा भविष्य में कैसा रूप धारण करता है।*

३—चीन की दुर्बलता

चीन संसार का सबसे बड़ा राष्ट्र है। परन्तु जैसा वह बड़ा राष्ट्र है, वैसी ही बड़ी दुर्दशा को प्राप्त भी है। तिब्बत, मंगोलिया, मंचूरिया और सिनकियांग (चीनी तुर्किस्तान) उसके हाथ से कभी निकल गये थे। मुख्य चीन बचा था, सो वह भी निरन्तर के गृहयुद्ध के कारण अस्त-व्यस्त हो गया है। आज भी वहाँ की राष्ट्रीय सरकार चीनी बोल्शेविकों से लड़ रही है। अभी तक कहा जाता था कि राष्ट्रीय सरकार ने बोल्शेविकों को युद्ध में परास्त कर उनकी शक्ति को तोड़ दिया है। परन्तु हाल की ख़बरों से प्रकट होता है कि अब वे जीत रहे हैं और राष्ट्रीय सरकार की सेनायें बुरी तरह हार रही हैं। चीनी बोल्शेविकों और राष्ट्रीय सरकार का यह द्वन्द्व वर्षों से चल रहा है और दोनों इतने प्रबल हैं कि अभी तक उनमें से एक का भी पराभव नहीं हुआ है। ऐसी दशा में जापान ने कुछ शर्तों के साथ राष्ट्रीय सरकार की सहायता करने के लिए एक प्रस्ताव किया है। यदि राष्ट्रीय सरकार उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेगी तो इस बात से ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त-राज्य के हितों को हानि पहुँचेगी। फलतः ये दोनों राष्ट्र चीन को अपने भरसक जापान के हाथ का खिलौना न होने देंगे। परन्तु कठिनाई तो यह है कि चीन को इन राष्ट्रों से आवश्यक सहायता नहीं मिल रही है। पिछली बार मंचूरिया के मामले में उसकी किसी ने सहायता नहीं की। ऐसी दशा में जब जापान मित्रता का हाथ बढ़ा रहा है तब चीन उसकी उपेक्षा कैसे कर सकेगा? चीन इस समय ऐसी ही असमर्थ अवस्था को प्राप्त हो गया है। जिससे उसका भविष्य अन्धकारमय जान पड़ता है।

* इस नोट के छपते समय पत्रों में यह प्रकाशित हुआ है कि ब्रिटेन और फ़्रांस के समझौता-सम्बन्धी प्रस्ताव को इटली ने स्वीकार कर लिया है जिससे प्रकट होता है कि यह मामला अब शान्ति के साथ तय हो जायगा।

(सम्पादक)

४—प्रवासी भारतीयों की नागरिकता

पश्चिमी आस्ट्रेलिया में वहाँ की सरकार ने प्रवासी भारतीयों को भी वोट देने का अधिकार हाल में प्रदान किया है। यह अधिकार वहाँ के गोरे निवासियों को पिछले कई वर्षों से प्राप्त है, परन्तु भारतीय अभी तक इससे वञ्चित थे। अब वहाँ की सरकार ने भारतीयों को भी यह अधिकार प्रदान करने की उदारता दिखाई है।

अन्य उपनिवेशों में कनाडा में उन भारतीयों को जो वहाँ के निवासी हो गये हैं, यह अधिकार और भी पहले से मिला हुआ है। वहाँ के ९ प्रान्तों में से ८ प्रान्तों में बसने वाले भारतीय वहाँ के निर्वाचनों में मत प्रदान कर सकते हैं।

परन्तु दक्षिण अफ़्रीका में केवल एक प्रान्त को छोड़कर और किसी प्रदेश में भारतीयों को वोट देने का अधिकार नहीं प्राप्त है। वह प्रान्त भी 'केप प्राविंस' है। हाँ, नेटाल में वे म्यूनिसिपल चुनाव में वोट दे सकते हैं। और ट्रांसवाल में उनको यह भी अधिकार नहीं दिया गया है।

आत्मशासन-प्राप्त उपनिवेशों में भारतीयों को नागरिकता के ऐसे ही अधिकार प्राप्त हैं। अन्य उपनिवेशों में उनके साथ कहाँ कैसा व्यवहार होता है, उसके ताज़े उदाहरण केनिया और जंज़ीबार हैं। इन दोनों स्थानों को एक-मात्र भारतीयों ने ही सरसब्ज़ बनाया है और वही भारतीय अब वहाँ अपने नैसर्गिक अधिकारों से भी वञ्चित कर दिये गये हैं। जंज़ीबार का उनका लौंग का व्यापार अब उनके हाथ में नहीं रहने पावेगा। इसी तरह केनिया में वे भूम्यधिकारी नहीं हो सकेंगे। प्रवासी भारतीयों की उपनिवेशों में ऐसी ही छीछालेदर है।

—बदरीनाथ वर्मा
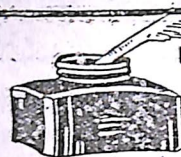
सम्पादकीय नोट

हिन्दी और इन्दौर का सम्मेलन

गत जनवरी की 'सरस्वती' में हमने श्रद्धेय मिश्र-बन्धुओं के विनोद के चौथे भाग की कड़ी आलोचना इसलिए की थी कि उन्होंने उस ग्रन्थ में हिन्दी के गत पचास वर्ष के इतिहास का भ्रान्त और अपूर्ण वर्णन किया है। यह काम हमने अपने हिन्दी-प्रेम के वशीभूत होकर ही नहीं किया था, किन्तु वैसा करना अपना कर्तव्य भी समझा था, क्योंकि हिन्दी के प्रसिद्ध मिश्र-बन्धुओं की रचना होने के कारण उस ग्रन्थ से बहुत अधिक ग़लतफ़हमियों के फैलने का डर था। परन्तु आज जब हम इन्दौर के सम्मेलन के सभापति का भाषण पढ़ते हैं और उसके भूतपूर्व प्रधान मंत्री की रिपोर्ट देखते हैं तब हमें अवाक् रह जाना पड़ता है और यही प्रतीत होता है कि या तो सब गुड़ ही गोबर हो गया है या हमीं भारी भ्रम के शिकार हुए हैं। जब महात्मा गान्धी जैसे महापुरुष हिन्दी को भारतीय भाषाओं के बीच कोई उपयुक्त स्थान निर्दिष्ट करने में हिचकिचाते हैं और इस प्रकार उसे निम्न कोटि की समझने का भाव व्यक्त करते हैं तब हम लोगों का हिन्दी के अभ्युदय के गीत गाना एक प्रकार की ढिटाई ही समझी जायगी। परन्तु जो लोग वर्षों से हिन्दी में काम कर रहे हैं और जो गत १५-२० वर्ष से इस बात को सावधानी से बराबर देखते चले आ रहे हैं कि हिन्दी की उत्तरोत्तर कैसी उन्नति हो रही है वे महात्मा जी या प्रधान मंत्री के उन निराधार आरोपों को ध्रुव-सत्य कैसे मान सकते हैं जो केवल सुनी-सुनाई बातों के आधार पर ही आरोपित किये गये हैं?

महात्मा जी ने अपने भाषण में स्पष्टरूप से स्वीकार किया है कि उन्हें हिन्दी-साहित्य का ज्ञान नहीं है। और इतने पर भी वे केवल पंडित बनारसीदास जी के कहने पर हिन्दी के पत्र-पत्रिकाओं को गन्दगी का प्रचारक समझ बैठे हैं। चतुर्वेदी जी ने शायद रवीन्द्र बाबू तथा रामानन्द बाबू को भी इसी तरह हिन्दी के सम्बन्ध में बरगलाने का पुण्य लूटा है। रामानन्द बाबू कदाचित् इसी कारण प्रवासी बंगालियों के गोरखपुर के वार्षिक सम्मेलन में हिन्दी के दो-एक सम्पादकों पर आक्षेप भी कर बैठे थे। दुःख है कि ऐसे महानुभावों ने ग़लत सूचनाओं के आधार पर हिन्दी के सम्बन्ध में अकारण हो भ्रान्त भाव धारण कर लिया है। उनके इस भाव को दूर करना कष्टसाध्य है, तो भी यदि कोई महानुभाव हिन्दी के सम्बन्ध में अप्रतिष्ठामूलक ग़लत बात कहे तो कम से कम यह तो साध्य ही है कि उनके कथन का ज़ोरों से प्रतिवाद किया जाय। पचास वर्ष से हिन्दी के क्षेत्र में लोग बैठे घास ही नहीं छीलते रहे हैं। उन्होंने उसका अभ्युदय किया है। अपनी उत्कृष्ट रचनाओं से उसके रिक्त भाण्डार को पूर्ण ही नहीं किया है, किन्तु उसे अलंकृत और गौरवान्वित भी किया है। और यह इसी सतत प्रयत्न का सुपरिणाम है कि इस समय हिन्दी में सौ से ऊपर ऊपर उच्च श्रेणी के लेखक, कवि तथा ग्रन्थकार विद्यमान हैं, जो किसी भी उन्नत भाषा के लिए गौरव की बात मानी जा सकती है। परन्तु महात्मा जी इन सबकी उपेक्षा करके सम्मेलन के मंच से यही कहना उचित समझते हैं कि हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं के संचालक 'गन्दगी को पुष्टि देते हैं'। वे हिन्दी का गौरव तभी स्वीकार करेंगे जब उन्हें उसमें रवीन्द्र, वसु आदि के दर्शन होंगे। यों महात्मा जी को सब कुछ कहने का अधिकार है, पर जब वे ऐसी बातें साहित्य-सम्मेलन के सभापति की हैसियत से कहते हैं तब खल जाती हैं। यह सच है कि हिन्दी में रवीन्द्र या वसु नहीं हैं; पर जो हैं किसी भी भारतीय भाषा के लेखकों से किसी भी बात में कम नहीं हैं। इस बात को समय समय पर अन्य भाषाओं के ही विद्वानों ने प्रसन्नता से स्वीकार किया है। परन्तु स्वयं सम्मेलन के सभापति महोदय ही उन्हें ऐसा कोई

गौरव नहीं देना चाहते। हिन्दी के लिए इससे अधिक दुर्भाग्य की बात और क्या हो सकती है।

परन्तु सबसे विचित्र बात तो महात्मा जी ने अपने भाषण में यह कही है कि हिन्दी की एक प्राचीन कविता मुसलमानों के प्रति विद्रोही भाव पैदा करनेवाली है, अतएव सम्मेलन को उसे अपने पाठ्य-क्रम से निकाल देना चाहिए। और यह बात भी उन्हें उनके एक मुसलमान मित्र ने ही बताई है। महात्मा जी ने न अपने उन मुसलमान मित्र, न उस कविता-पुस्तक का ही नाम बताया है। परन्तु यह स्पष्ट है कि उक्त कविता-पुस्तक से उनका मतलब भूषण की 'शिवाबावनी' से है। और यह उन्हीं महाकवि भूषण की रचना है जो 'भाषा' के मर्मज्ञ प्रेमी सम्राट् औरंगज़ेब के प्रजाजन थे और ऐसी रचना करके भी वे उस प्रबल सम्राट् के राज्य के त्रिविक्रमपुर में बड़े वैभव के साथ निवास कर सके थे। जिस रचना के रचयिता का दमन सम्राट् औरंगज़ेब ने नहीं किया, उलटा अपने मुग़ल-साम्राज्य में उसे स्वतन्त्रता-पूर्वक जीवन यापन करने दिया, वही आज तीन सौ वर्ष के बाद मुसलमान द्रोह का प्रचार करनेवाली समझी जा रही है और इसका समर्थन स्वयं महात्मा जी भी कर रहे हैं। किमाश्चर्यमतः परम्!

वास्तव में इस सारी परिस्थिति का मूल कारण उन लोगों की धींगाधींगी है जो मान न मान मैं तेरा मेहमान बन बैठे हैं और साहित्य या साहित्यकारों से रत्ती भर सम्पर्क न रखते हुए भी साहित्यिक संस्थाओं के अपने आपको नेता बनाये हुए हैं। हिन्दी की कैसी दशा है, उसका साहित्य कितना उन्नत है, उसमें कौन कौन उत्कृष्ट लेखक हैं तथा कौन कौन महत्त्वपूर्ण रचनायें निकलती रहती हैं, इन सब बातों से हमारे इन नेताओं का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। ऐसी दशा में ये हिन्दी के सम्बन्ध में लोगों से सुन-सुनाकर जो मन में आया कह भागते हैं। ये यह नहीं देखते कि इनके ऐसा कह डालने से हिन्दी का कितना भारी अहित हो सकता है। इस बार इन्दौर के सम्मेलन में भी हिन्दी के साथ ऐसा ही अन्याय हुआ है। सन्तोष की बात है कि इस अन्याय का ज़ोरों के साथ प्रतिवाद भी किया गया है। किन्तु हिन्दी के प्रेमियों को इस बात की ओर भी ध्यान देना चाहिए कि उनकी हिन्दी के ये कर्णधार अपनी अवाञ्छनीय और अनावश्यक चेष्टाओं तथा आलोचनाओं से बाज़ आयें, साथ ही हिन्दी के वास्तविक रूप से परिचित होकर, उसके अभ्युदय का परिचय प्राप्त कर, उसके गौरव का अनुभव करें। इस सम्बन्ध में हमारा यह सबसे पहला कर्तव्य है।

महाकवि देव का दृष्टिकोण

महाकवि देव हिन्दी के चोटी के कवियों में गिने जाते हैं। उनका जन्म सन् १६७३ में इटावा ज़िले के एक गाँव में हुआ था। वे लड़कपन से ही कविता करने लगे थे और तभी से उन्होंने उसे अपना पेशा बना लिया था। छोटे छोटे ज़मींदारों से लेकर दिल्ली के प्रतापी सम्राट् औरंगज़ेब के दूसरे पुत्र आज़मशाह तक का दरबार किया था। देव कवि ऐसे अनुभवी और सम्मान-प्राप्त व्यक्ति ही नहीं थे, किन्तु अपनी पाण्डित्यपूर्ण रचना के कारण उस काल के प्रतिनिधि कवि माने गये हैं।

परन्तु देव का वह काल भारत की अवनति का प्रारम्भ-काल था। औरंगज़ेब के दीर्घकालीन शासन में संगीत, साहित्य और कला का पूर्ण रूप से तिरस्कार किया गया। इसके परिणाम-स्वरूप उत्कृष्ट कलाविद् शाही आश्रय से वञ्चित हो गये, जिससे उन्हें राजा-रईसों का आश्रय लेना पड़ा। यही नहीं, उस परम्परा तथा आदर्श का क्रम भी उनके समय तक टूट चुका था जो औरंगज़ेब के पहले अकबर, जहाँगीर और शेरशाह के शासन-काल में परिपुष्टता को प्राप्त हो चुका था। परन्तु औरंगज़ेब के बाद जब महाकवि देव मैदान में आये तब उन्हें नये सिरे से अपने लिए अपना मार्ग बनाना पड़ा। मुग़लों के पराभव के आरम्भ-काल में संगीत और कला जिस अवनति को प्राप्त हुई थी उसकी आलोचना विशेषज्ञों-द्वारा काफ़ी हो चुकी है, ऐसे ही समय की कविता का उत्कृष्ट नमूना देव कवि की रचना में प्राप्त होता है।

अपने समय के राजा-रईसों को अपनी टकसाली शब्द-योजना के द्वारा प्रसन्न करने में उन्होंने पूरी सफलता

प्राप्त की थी। और कदाचित् यही उनका उद्देश भी था। रीति-विषय का उन्होंने एक प्रखर विद्वान् की तरह वर्णन किया है, परन्तु एक कवि की तरह उसमें कवित्व का निदर्शन करने में वे सफल नहीं हुए हैं। उनकी रचना में कविता के सब अङ्ग चुस्त-दुरुस्त पाये जाते हैं, पर उसमें प्राणों का सर्वथा अभाव ही दृष्टिगोचर होता है। यही कारण है कि वे बिहारी की तरह लोकप्रिय भी नहीं हो सके और न उनके समान उन्हें आदर ही मिला। आज उनके महत्त्व के प्रतिपादन का जो व्यर्थ प्रयत्न हो रहा है वह इसलिए भी निन्द्य है कि देव कवि ने भारत के पराभव-काल का दृष्टिकोण उपस्थित किया है। अतएव हमें देव कवि की आलोचना करते समय इस बात को बराबर अपने सामने रखना पड़ेगा। और तब देव कवि की कविता हमारे लिए कहाँ तक आदर्श का काम देगी, यह अपने आप प्रकट हो जायगा।

भारतीय प्रान्तों का विभाजन

भारत कई प्रान्तों में विभक्त है। परन्तु उनका यह विभाजन भौगोलिक तथा भाषाओं की दृष्टि से संगत नहीं है। फलतः देश के नेता यह चाहते हैं कि भाषाओं को दृष्टि में रखकर उसका नये सिरे से संगठन हो। सरकार ने भी लोगों की इस सूचना को स्वीकार किया है और यद्यपि वह अभी इस सम्बन्ध में कोई व्यापक योजना कार्य-रूप में परिणत नहीं करना चाहती, तो भी उसने सिन्ध और उड़ीसा के नये प्रान्त बनाने की घोषणा कर दी है। इस सम्बन्ध में हाल में इलाहाबाद-यूनीवर्सिटी के इतिहास के प्रोफ़ेसर डाक्टर शफ़ात अहमद ने अपने हाल के एक भाषण में बहुत संगत बात कही है। उन्होंने कहा है कि भारतीय प्रान्तों की रचना एक-मात्र शासन-सम्बन्धी सुविधा को ही सामने रखकर की गई है। भाषा या जातीयता का विचार उनकी रचना में नहीं किया गया है। परन्तु अब अँगरेज़ी शिक्षा के प्रचार तथा शान्ति एवं व्यवस्था के प्रचलन से लोगों में राष्ट्रीयता तथा मातृभाषा का प्रेम जाग्रत हुआ है। और यद्यपि लोगों की माँग के अनुसार प्रान्तों का नये ढंग से संगठन करने से आर्थिक कठिनाई का प्रश्न उठ खड़ा होता है, तथापि लोगों के मनोभावों की उपेक्षा नहीं की जा सकेगी। इसके साथ जो लोग साम्प्रदायिक दृष्टि-कोण से प्रान्तों का नया संगठन करना चाहते हैं, यह उनकी शासन-सम्बन्धी अनुभव-शून्यता ही है। प्रान्तों का संगठन भाषा तथा जातीयता के आधार पर ही होना चाहिए। इस दृष्टि से बंगाल, बिहार और आसाम को तो जैसे के तैसे ही रहने देना चाहिए। परन्तु संयुक्त-प्रान्त में विभाजन करना पड़ेगा। अवध का नया प्रान्त बनाना पड़ेगा और उसकी आर्थिक अवस्था ठीक रखने के लिए रुहेलखण्ड के ज़िले उसमें जोड़ने पड़ेंगे तब मध्य-प्रान्त के हिन्दी-भाषी ज़िलों के सहित आगरा के ३० ज़िलों का आगरा का एक अलग प्रान्त बन जायगा। और संयुक्त-प्रान्त से मेरठ, सहारनपुर और अलीगढ़ तथा पंजाब से गुड़गाँव, हिसार, रोहतक और करनाल के ज़िले लेकर दिल्ली का अलग एक प्रान्त बनाया जा सकेगा। इस दशा में पंजाब के साथ सीमा-प्रान्त मिलाकर पंजाब का एक प्रान्त आसानी से बन जायगा।

उधर मदरास में आन्ध्र, तामिल, मलाबार और कनारा के नये प्रान्त बनाने पड़ेंगे। बम्बई-प्रान्त के मराठी-भाषी ज़िलों, मध्य-प्रान्त के मराठी-भाषी ज़िलों तथा बरार को लेकर महाराष्ट्र नाम के एक नये प्रान्त की रचना की जायगी। और गुजरात का एक नया प्रान्त होगा। उधर सिन्ध और बिलोचिस्तान मिलकर एक नया प्रान्त हो जायगा।

डाक्टर साहब की यह योजना ध्यान देने योग्य है।

डाक्टर शङ्कर आप्पाजी विसे

डाक्टर विसे का ७ अप्रेल को न्यूयार्क में स्वर्गवास हो गया। अपने लोकोपयोगी महत्त्वपूर्ण आविष्कारों के कारण पाश्चात्य देशों के विज्ञान-विशारद इन्हें 'भारतीय एडीसन' कहकर सम्मानित करते थे। इन्होंने यंत्रों का आविष्कार करके यश का अर्जन किया था।

इनका जन्म सन् १८६७ में बम्बई में हुआ था और इनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा धुलिया में हुई थी। इनके पिता न्याय-विभाग में ऊँचे पद पर थे, तो भी इन्होंने स्वावलम्बी होना ही उचित समझा और इँग्लैंड जाकर ये वहाँ यंत्र-विज्ञान का विशेषरूप से अध्ययन करने लगे। इन्हें वहाँ भारतीय होने के कारण अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, तो भी ये टाइप आदि ढालने के ऐसे यंत्र बनाने में सफल हुए कि ये वहाँ के प्रसिद्ध आविष्कारक माने जाने लगे। युद्ध-काल में ये १९१६ में अमरीका चले गये और तब से आज तक वहीं निवास करते रहे। १९२७ में वहाँ इनकी ६० वर्ष के होने पर स्वर्ण-जयन्ती मनाई गई और वहाँ की 'लाल पुस्तक' में इनका परिचय छापा गया। अपने क्षेत्र में डाक्टर विसे ने भारत का मुखोज्ज्वल किया है और उनके निधन से जो स्थान रिक्त हो गया है उसकी जल्दी पूर्ति न हो सकेगी।

हिन्दी-विश्वविद्यालय

इन्दौर के सम्मेलन के अवसर पर 'हिन्दी-विश्वविद्यालय' स्थापित करने की जो चर्चा हुई थी उसकी स्थापना के लिए वहाँ के धनकुबेर सेठ सर हुकुमचन्द की अध्यक्षता में एक समिति बन गई है। इस समिति में हैदराबाद के 'उर्दू-विश्वविद्यालय' के संस्थापक सर सैयद रास मसऊद भी सदस्य बनाये गये हैं। इस प्रकार विश्वविद्यालय की स्थापना का काम शुरू हो गया है। विश्वविद्यालय के लिए पचास हज़ार रुपये के मूल्य का एक मकान और कुछ द्रव्य पहले से ही प्राप्त हो गया है। इन्दौर के महाराज की सहानुभूति इसके साथ है। सम्मेलन के उद्घाटन के समय इन्दौर-नरेश ने अपने भाषण में कहा था—

स्वागताध्यक्ष के भाषण में 'हिन्दी-विश्वविद्यालय' का ज़िक्र किया गया है। वास्तव में ऐसे एक विश्वविद्यालय से हिन्दी की उन्नति में प्रगति मिलने की सम्भावना है और उसका स्थापित होना एक गौरव की बात होगी। यदि ऐसा कोई विश्वविद्यालय मध्यभारत के शिक्षा-केन्द्र इन्दौर में स्थापित हुआ तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी। किसी भी विश्वविद्यालय की योजना में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उसके द्वारा बेकारी की जटिल समस्या के दूर होने में भी सहायता मिले; क्योंकि आदर्श शिक्षा-पद्धति वही कही जायगी जिससे चरित्र-बल के साथ साथ मनुष्य अपनी आजीविका के प्रश्न को हल कर सके और जिसके परिणामस्वरूप उसमें परिश्रम के महत्त्व को समझने की आदत पैदा हो। मुझे हर्ष है कि इस प्रकार की एक योजना इन्दौर के विद्वानों ने उपस्थित की है, जिस पर होलकर-सरकार सहानुभूति-पूर्ण विचार कर रही है। यह स्वाभाविक है कि हिन्दी-विश्वविद्यालय जैसी विशाल योजना के फलीभूत होने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा, परन्तु वर्तमान त्रुटियों को दूर करनेवाली किसी शिक्षा-पद्धति को सफल बनाने में होलकर-सरकार सदैव सहायक रहेगी। इस अवस्था में इसकी स्थापना में विलम्ब होने का कोई कारण नहीं है।

विश्वविद्यालय का उद्देश हिन्दी-द्वारा उच्च शिक्षा देना है। प्रसन्नता की बात है कि इस विश्वविद्यालय-द्वारा व्यावसायिक और यांत्रिक शिक्षा देने का भी विचार है। यदि यह विश्वविद्यालय इंजीनियरिंग, डाक्टरी की शिक्षा के साथ साथ शिल्प और उच्च औद्योगिक तथा कारीगरी की शिक्षा की व्यवस्था कर सकेगा, तो यह भारत का एक श्रेष्ठ शिक्षणालय गिना जायगा। विश्वविद्यालय की समिति को चाहिए कि वह इस विश्वविद्यालय को ऐसे ही उच्च आदर्श पर स्थापित करे। इसमें एम० ए० तक सब विषयों की शिक्षा हिन्दी में दी जायगी।

वर्नाक्युलर फ़ाइनल परीक्षा के बाद क्रमशः चार अन्य परीक्षायें होंगी। इन कक्षाओं में मेट्रीकुलेशन, इन्टरमिडियेट, बी० ए० और एम० ए० के समान शिक्षा दी जायगी। हर एक ग्रेजुएट को कला अथवा व्यापार की व्यावहारिक शिक्षा भी दी जायगी।

प्रवेशिका परीक्षा के बाद विद्यार्थियों को अपेक्षित विषय चुनने का अधिकार रहेगा। वे व्यापार-सम्बन्धी अथवा कला-सम्बन्धी उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकेंगे। अँगरेज़ी वैकल्पिक विषय रहेगा। मुफस्सिल के केन्द्रों में अध्यापक नियुक्त किये जायँगे जो विश्वविद्यालय की परीक्षाओं के लिए प्राइवेट विद्यार्थियों को तैयार करेंगे।

इस विश्वविद्यालय में शिक्षा की ऐसी ही व्यवस्था होगी। आशा है, इन्दौर के हिन्दी-प्रेमी महानुभाव इस

महत् कार्य को यथा शीघ्र कार्यरूप में परिणत करने के काम से विरत न होंगे।

हरिजनों को सुविधा

हरिजनों की असुविधाओं को दूर करने के लिए अन्त में बम्बई की सरकार का आसन डोल गया। उसने एक आदेशपत्र निकालकर हरिजनों के उद्धार के लिए उपयुक्त कार्रवाही शुरू कर दी है। उसने उस आदेश-पत्र में यह स्पष्ट कह दिया है कि सरकार दलित जातियों के सार्वजनिक सुविधाओं और सरकारी नौकरियों से लाभ उठाने में कोई हस्तक्षेप न होने देगी।

शिक्षा के अधिकारी इस बात का प्रयत्न करेंगे कि सरकारी अथवा अर्द्ध सरकारी स्कूलों में हरिजनों की संतान पर कोई प्रतिबन्ध न लगाया जाय। सरकारी अस्पतालों के सम्बन्ध में सरकार ने सर्जन जनरल से अनुरोध किया है कि वे सिविल सर्जनों और अन्य मेडिकल अफ़सरों को हिदायत कर दें कि जाति और धर्म के आधार पर मरीज़ों के साथ कोई भेद-भाव न किया जाय। सार्वजनिक कुओं और तालाबों के सम्बन्ध में दलित जातियों के साथ समान व्यवहार न किया जायगा तो स्थानीय बोर्डों को वाटर-सप्लाई के लिए जो सहायता दी जाती है वह बन्द कर दी जायगी। सार्वजनिक सवारियों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही व्यवहार होगा।

आशा है, अन्य प्रान्तों की सरकारें भी, कम से कम बम्बई की देखादेखी ही सही, हरिजनों के सम्बन्ध में ऐसी ही उपयुक्त कार्रवाही अवश्य करेंगी।

रेलगाड़ी का तीसरा दर्जा

रेलवे बजट पर असेम्बली में वाद विवाद होते समय लोक-प्रतिनिधियों ने तीसरे दर्जे के यात्रियों के कष्टों का समुचित रूप से वर्णन किया था। इस विषय पर उनका साथ एक योरपीय प्रतिनिधि ने भी दिया था। फलतः तीसरे दर्जे के यात्रियों के लिए समुचित सुविधा कर देने का आश्वासन दिया गया। तदनुसार रेलवे-बोर्ड ने एक योजना तैयार की है।

हाल के तीसरे दर्जे के डिब्बों में कुल ११४ मुसाफ़िरों को जगह रहती है और उनमें चार खाने होते हैं। उनमें से तीन में एक एक और एक में दो पाखाने होते हैं और हर एक में क्रमशः १२, २०, ३० और ५२ मुसाफ़िरों के लिए जगह होती है।

परन्तु नई योजना के अनुसार प्रति डिब्बे में छः खाने रहेंगे और हर एक में सोलह सोलह अर्थात् कुल ९६ मुसाफ़िरों के लिए जगह रहेगी। हर एक खाने में सुधरे हुए ढङ्ग का पाख़ाना रहेगा और उसमें मुसाफ़िरों के लेटने के लिए भी कुछ जगह रहेगी। सामान रखने अथवा खाने के लिए ऊपर भी जगह रहेगी।

जहाँ कुछ नहीं था, वहाँ इतना भी सुभीता बहुत-कुछ सन्तोषप्रद होगा। परन्तु इस आराम से बाधा करने के सिवा तीसरे दर्जे के यात्रियों की ओर भी कई महत्त्वपूर्ण शिकायतें थीं। पर कदाचित् रेलवे बोर्ड ने उनकी ओर ध्यान नहीं दिया है।

सोना तो गया, क्या चाँदी भी जायगी!

संयुक्त-राज्य अमरीका की सरकार ने चाँदी की दर बढ़ा कर एक दूसरी समस्या उपस्थित कर दी है। अर्थशास्त्र के विशेषज्ञों का कहना है कि इस व्यवस्था का प्रभाव चीन और भारत पर अधिक पड़ेगा, क्योंकि इन दोनों देशों में चाँदी का ही चलन है। भारत का सोना बाहर चला ही गया है, और अब चाँदी का नम्बर आया है। लोक-नेताओं और अर्थविशेषज्ञों ने भारत-सरकार से उसकी मुद्रानीति में उपयुक्त परिवर्तन करने का बार बार आवेदन-निवेदन किया, पर उनकी नहीं सुनी गई और सरकार ने सोने को यहाँ से निकल जाने दिया। अब चाँदी के लिए अवसर आया है। देखना है कि इस बार सरकार क्या करती है। मेक्सिको, इटली और चीन की सरकारें इस सम्बन्ध में आवश्यक कार्रवाही कर रही हैं। भारत-सरकार को भी भारत की चाँदी की निकासी रोक देनी चाहिए।

हिन्दुस्तानी एकेडमी

इलाहाबाद की 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' एक प्रकार की सरकारी साहित्यिक संस्था है। यह कदाचित् 'हिन्दुस्तानी' के साहित्य के निर्माण के लिए स्थापित की गई है। परन्तु इसने अभी तक हिन्दी तथा उर्दू के ही साहित्यों के अभ्युदय का कार्य किया है। 'हिन्दुस्तानी' नाम की हिन्दी और उर्दू में यह दो त्रयमासिक पत्रिकायें भी प्रकाशित करती है, जो हमारी समझ में 'हिन्दुस्तानी' का प्रचार नहीं कर रही हैं। इसके साथ ही यह संस्था अधिकारी विद्वानों से उच्च कोटि के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखवाकर या अनुवाद करवाकर प्रकाशित करती है। गत चार-पाँच वर्षों से इसका कार्य-कलाप महत्त्वपूर्ण रहा है। तथापि उससे उसके उद्देश या लक्ष्य का पता नहीं लगता। परन्तु जान पड़ता है कि इस त्रुटि की ओर उसके अधिकारियों का ध्यान गया है और अपने पिछले अनुभव को ध्यान में रखकर उन्होंने कला और विज्ञान की एक पुस्तकमाला प्रकाशित करने की एक नई योजना उपस्थित की है। एकेडमी के इस उद्देश युक्त सत्कार्य से साहित्य और समाज दोनों का लाभ होगा। हम उनके इस प्रयत्न की सफलता के इच्छुक हैं।

हिन्दू-महासभा की प्रगति

हिन्दू महासभा का जो वार्षिक अधिवेशन अभी हाल में कानपुर में हुआ था उसके सभापति ब्रह्मदेश के राष्ट्रीय नेता भिक्षु उत्तम बनाये गये थे। इस समय आप जगह जगह भ्रमण कर महासभा के उद्देशों का प्रचार कर रहे हैं। भिक्षु महोदय बौद्ध-धर्मानुयायी एक प्रसिद्ध साधु ही नहीं हैं, किन्तु कांग्रेस के एक प्रमुख नेता भी हैं; अतएव वे अपने भाषणों में अछूतोद्धार का समर्थन तथा जाँत-पाँत के प्रतिबन्धों का विरोध करते हैं। कदाचित् उनके ऐसे ही स्वतन्त्र विचारों के कारण सनातनी हिन्दू उनका विरोध करने को उतारू हो गये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि भिक्षु उत्तम हिन्दुओं का हृदय से हित चाहते हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या वे अपने तेजस्वी भाषणों से हिन्दुओं का संगठन करने में समर्थ होंगे। असल बात तो यह है कि हिन्दू-महासभा भी देश की अन्य संस्थाओं की तरह कुछ व्यक्ति-विशेषों की संस्था हो गई है। ऐसी दशा में वह यदि अपने प्रयत्न में सफलमनोरथ नहीं हो रही है तो कोई ताज्जुब की बात नहीं है। इधर पिछले दिनों देश में कांग्रेस की विशेष धूमधाम रहने के कारण लोगों का ध्यान इतर लोकोपयोगी संस्थाओं की ओर नहीं जाता था। परन्तु अब वह बात नहीं रही। तब यदि लोग हिन्दू-महासभा जैसी बड़ी संस्थाओं की ओर ध्यान दें तो यह स्वाभाविक ही होगा। इस समय हिन्दू महासभा की ओर लोगों का ध्यान भिक्षु उत्तम ने आकृष्ट किया है और समाचार-पत्रों में उनके सम्बन्ध में टीका-टिप्पणी भी होने लगी है। हिन्दुओं की एकमात्र संस्था हिन्दू महासभा की गौरव-वृद्धि करने की ओर किस हिन्दू का ध्यान नहीं जायगा? अतएव यह आवश्यक है कि उसकी त्रुटियाँ दूर की जायँ और कुछ व्यक्तिविशेषों की संस्था होने के स्थान में वह सारी हिन्दू-जाति की महत्त्वपूर्ण संस्था बनाई जाय। तभी वह कुछ लोक-सेवा कर सकेगी, कोरी व्याख्यानबाज़ी से और सो भी शहरों की व्याख्यानबाज़ी से कुछ भी नहीं होगा।

प्रान्तीय सरकार की एक उपयोगी योजना

संयुक्त-प्रान्त की सरकार अवध के किसानों के अभ्युदय के लिए बराबर यत्नवान् रही है। इस सम्बन्ध में शारदा-नहर का निर्माण उसका सबसे अधिक महत्त्व का कार्य हुआ है। प्रान्त के जिन भागों से यह नहर निकली है वे अवर्षण की विपत्ति से मुक्त हो गये हैं। इधर अब उसने बिजली के प्रचार की एक नई योजना कार्य में परिणत करने का उपक्रम किया है। परन्तु अभी इसका कार्यक्षेत्र परिमित रहेगा और नहरव्यवस्था की तरह यह भी कदाचित् सारे अवध को लाभ नहीं पहुँचा सकेगी। बिजली की इस योजना से केवल अवध के बीच के कुछ ज़िलों के ही निवासी अभी लाभान्वित हो सकेंगे। तथापि यह कम लाभ की बात न होगी क्योंकि जिन अञ्चलों में इस व्यवस्था का प्रचलन होगा वहाँ के निवासी इसका उपयोग कर अपनी स्थिति बहुत कुछ सुधार सकेंगे। परन्तु अवध प्रान्त में ऐसे अनेक बड़े बड़े भूखण्ड भी हैं जो

नहर के लाभों से तो वञ्चित ही हैं और कदाचित् वे इस नई व्यवस्था से भी उतना लाभ नहीं उठा सकेंगे। अधिकारियों को चाहिए कि वे समय समय उन भूभागों के साथ विशेष व्यवहार करें जो उपर्युक्त दो योजनाओं के लाभों से वञ्चित हैं। ग्राम-सुधार के सम्बन्ध की इस योजना की जो बातें पत्रों में प्रकाशित हुई हैं उनसे जान पड़ता है कि सरकार प्रत्येक ज़िले के स्वास्थ्य तथा किसानों की आर्थिक अवस्था की विशेष रूप से देख-रेख करेगी। निस्सन्देह उसका यह काम लोकहितकर ही होगा।

श्रीयुत हरिकेशव घोष

सरस्वती के पाठकों को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि इंडियन प्रेस के स्वामी तथा जनरल मैनेजर श्रीयुत हरिकेशव घोष गत २३ मई को इटालियन जहाज़ से योरप गये

[श्रीयुत हरिकेशव घोष]

हैं। आप वहाँ इटली, आस्ट्रिया, जर्मनी, फ्रांस, इँग्लेंड आदि देशों का भ्रमण कर वहाँ के शकर का कारबार तथा शिक्षा-विभाग-सम्बन्धी पुस्तक-प्रकाशन-कार्य का नि[illegible] करेंगे। आप इसके साथ ही इन देशों की पत्र-सञ्[illegible] प्रणाली तथा आधुनिक छपाई की कला का भी विशे[illegible] से अध्ययन करेंगे। यहाँ यह उल्लेख करना अनु[illegible] न होगा कि पिछले दिनों 'सरस्वती' का जो नूतन सं[illegible] हुआ है उसका सारा श्रेय आपको ही है। अतएव अ[illegible] है, आपकी इस योरप-यात्रा के नये अनुभवों से 'सर[illegible] की और भी अधिक उन्नति होगी। हमारी यह कामना [illegible] आपकी यह यात्रा सफल हो तथा आप वहाँ से आ[illegible] पूर्वक स्वदेश लौटें।

हमारी रुई और ब्रिटेन

गत वर्ष लंकाशायर से तथा जापान के साथ भी [illegible] व्यवसाय के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण समझौते हुए [illegible] उनसे यह आशा दिलाई गई थी कि लंकाशायर भार[illegible] रुई अधिक मात्रा में ख़रीदा करेगा। फलतः इन समझ[illegible] के अनुसार पिछले दिनों हमारे रुई के व्यापार को [illegible] तक सफलता मिली है, इस पर 'आज' ने एक जा[illegible] योग्य टिप्पणी लिखी है। उसका संक्षिप्त रूप [illegible] प्रकार है—

पिछले सात महीनों में अर्थात् रुई के मौसम में [illegible] देश से सिर्फ़ ६,१६,००० गाँठ रुई ब्रिटेन गई। [illegible] पिछले साल से १६ हज़ार गाँठ कम थी। हमें नित्य [illegible] और पत्रों से बताया जा रहा था कि लंकाशायर [illegible] कारख़ानेदार हिन्दुस्तानी रुई ख़रीदने के लिए यह [illegible] रहे हैं और वह कर रहे हैं, पर असल में कुछ नहीं [illegible] रहे हैं। लंकाशायर के बने वस्त्रों को हमसे संर[illegible] दिलाया गया है। जिस अवधि में ब्रिटेन ने हमसे १ ल[illegible] ६६ हज़ार गाँठ रुई ख़रीदी उसी अवधि में जापान [illegible] ६ लाख ४७ हज़ार गाँठ ख़रीदी। जापान हमारी रुई [illegible] सबसे बड़ा और ब्रिटेन सबसे छोटा और अनिच्छुक ख़[illegible] दार है। फिर भी हम जापानी कपड़ों की आमद रोक[illegible] और ब्रिटिश कपड़ों की आमद बढ़ाने का यत्न करने [illegible] बाध्य हैं।

Printed and published by K. Mittra, at The Indian Press, Ltd., Allahabad.